॥ श्री ॥

व्रजजीवन प्राच्यभारती ग्रन्थमाला

४९

श्री आर्थर एण्टनी मैक्डोनल द्वारा प्रणीत

संस्कृत साहित्य का इतिहास

(विस्तृत भूमिका एवं उपयोगी अनुबन्धों सहित)

अनुवादक

डा० रामसागर त्रिपाठी

चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
३८ य. ए, बंगलो रोड, जवाहरनगर
दिल्ली ११०००७

VRAJAJIVAN PRACHYABHARATI GRNTHAMALA

49

A HISTORY OF SANSKRIT LITERATURE

By

A. A. Macdonell

(Along with detailed introduction and important supplements)

Translated into Hindi

By

Dr. Ram Sagar Tripathi

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN
38 U- A. Bungalow Road, Jawaharnagar
DELHI 110007

CHOUKHAMBA SANSKARTI PRATISHTHAN
(Oriental Publishers & Distributors)
38 U.A., Bungalow Road, Jawaharnagar
Post Box No. 2113
DELHi-7
Telephone : 236391

First Edition
1991

Price 200.00 Rs.

Also can be had of
CHOUKHAMBA SURBHARTI PRKASHAN
K. 37/1137, Gopal Mandir Lane
Post Box No. 1129
VARANASI 221001
Telephone : 57214

Sole Distributors
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
CHOWK (Behind Banaras State Bank Building)
VARANASI 221001
Post Box No, 1069
Telephone : 63076

अपनी बात

प्रो० मैक्डानल ने इस कृति के दो उद्देश्य वतलाये हैं—छात्रों के उद्देश्य से संस्कृत साहित्य का सर्वेक्षण और अंग्रेज शासकों को शासन की सुविधा के लिए भारतीय जीवन कला और संस्कृति से परिचित कराना। प्रथम उद्देश्य की पूर्ति के लिए लेखक ने जैन बौद्ध साहित्य को छोड़कर साहित्य के प्राय: सभी विभागों का कमोवेश विवेचन किया है। आज जो भारतीय विदेश या स्वदेश में विदेशियों के सम्पर्क में आते हैं उन्हें उन लोगों की भारतीय संस्कृति विषयक जिज्ञासा शान्त करनी पड़ती है। उन लोगों के लिए भी यह कृति भारतीय संस्कृति और उसके स्रोत का ज्ञान कराने की दिशा में एक उपयोगी साधन है।

इस कृति को साहित्य जगत् ने अत्यधिक मान दिया है। भारत के प्राय: सभी विश्वविद्यालयों एवं उच्च शिक्षा के क्षेत्र में उसे मान्यता प्रदान की गई। अब हिन्दी वैकल्पिक माध्यम बन गई है। अत: इसका हिन्दी भाषान्तरण एक सामयिक आवश्यकता है। कुछ समय पहले पुस्तक के पूर्वार्ध (वैदिक साहित्य) का अनुवाद श्री चारुचन्द्र शास्त्री ने कर दिया था और उसका प्रकाशन चौखंबा विद्याभवन से हो गया था। अत: ग्रन्थ की पूर्ति के लिए प्रतिष्ठा के अधिकारी श्री वल्लभदेव गुप्त के सुझाव पर दूसरे भाग (लौकिक संस्कृत साहित्य) का हिन्दी रूपान्तर तैयार किया गया। किन्तु जब प्रकाशन की स्थिति वन गई तब अनुभव किया गया कि पूरी पुस्तक एक ही जिल्द में आनी चाहिए। दूसरी बात यह भी है कि श्री शास्त्री जी द्वारा किया गया अनुवाद—जैसाकि उन्होंने स्वयं कहा है शब्दानुवाद नहीं है। भावानुवाद में प्रबुद्ध लेखक भी मूल रचना के प्रति न्याय नहीं कर सकता। उक्त अनुवाद में ऐसा हुआ भी है। अत: शब्दानुवाद की आवश्यकता बनी हुई थी। अतएव प्रथम भाग का भी अनुवाद कर ग्रन्थ को परिपूर्णता प्रदान की गई।

प्रस्तुत भाषान्तरण में जहां तक सम्भव हो सका है मूल लेखक के प्रति पूरी सच्चाई का परिपालन किया गया हैं। कोई भी अंश या शब्द छूटने न पाये इसका ध्यान रखा गया है। किन्तु हिन्दी की प्रकृति की उपेक्षा भी नहीं की गई है। जहां कहीं वाक्य पूर्ति या अर्थ के स्पष्टीकरण के लिए शब्द या

वाक्य बढ़ाने पड़े हैं वहां उन्हें कोष्टक में बन्द कर दिया गया है। अनेक उप-वाक्यों वाले जटिल वाक्यों में उपवाक्यों को स्वतन्त्र वाक्य बनाकर उनकी जटिलता दूर की गई है। कहीं-कहीं कर्तृवाच्य का व्यत्यास भी किया गया है। किन्तु इस प्रकार के साधारण परिवर्तनों से मूल लेखक के प्रति ईमानदारी में किसी प्रकार की कमी नहीं आने दी गई है।

मैक्डानल ने यह पुस्तक १९वीं शती के अन्तिम वर्षों में लिखी थी। उस के बाद भी इस दिशा में पर्याप्त खोज की गई और नए-नए ग्रन्थकार प्रकाश में आए। यहां उसका पूरा परिचय देना सम्भव नहीं था। किन्तु अश्वघोष और भास इन दो महाकवियों का अभाव अवश्य खटकता है। इसी प्रकार वैज्ञानिक साहित्य की केवल रूप रेखा (oulines) दे दी गई है। उसका विस्तार नितान्त अपेक्षित है। अतः प्रकाशक के आग्रह पर उक्त दो कवियों और वैज्ञानिक साहित्य का विवरणात्मक परिचय दे दिया गया है। ये विषय अनुबन्ध रूप में ग्रन्थ के अन्तिम भाग में जोड़ दिये गए हैं। ग्रन्थ के ठीक रूप में समझने के लिए प्रारम्भ में एक परिचयात्मक भूमिका भी दे दी गयी है। आशा है कि इस समस्त अतिरिक्त सामग्री के संयोजित कर देने से प्रस्तुत ग्रन्थ अधिक उपयोगी सिद्ध होगा और परिशीलकों को सन्तोष प्राप्त हो सकेगा।

इस उद्योग में लेखक को श्यामलाल कालेज के अंग्रेजी विभाग के वरिष्ठ अध्यापक डा० अशोक गांगुली और दिल्ली विश्वविद्यालय में आधुनिक यूरोपीय भाषा विभाग में रीडर के पद पर कार्यरत श्री के० सी० दत्ता से विशेष सहायता मिली है। श्री दत्ता ने प्रस्तुत अनुवाद को यत्र-तत्र देखा है और उचित सुझाव भी दिये हैं। इसके साथ ही अंग्रेजी से भिन्न यूरोपीय भाषाओं के विभिन्न शब्दों के उच्चारण और उनके अर्थ के स्पष्टीकरण की दिशा में भी लेखक की सहायता की है। डा० गांगुली ने कठिन स्थलों की समीक्षाकर लेखक को कृतार्थ किया है। लेखक इन दोनों मित्रों का अन्तस्तल से आभारी है। श्री विजय कावड़ा ने भी विदेशी शब्दों के हिन्दीकरण में लेखक को उपकृत किया है। अतः लेखक उन्हें धन्यवाद देना अपना कर्त्तव्य समझता है। साथ ही प्रेरणा देने और प्रकाशन में त्वरा के लिए लेखक श्री वल्लभ देव गुप्त का भी आभारी है।

—रा० सा० त्रिपाठी

भूमिका

संस्कृत साहित्य एक महान साहित्य है। साहित्य शब्द से जो कुछ अभिहित किया जाता है वह सब इस साहित्य में विद्यमान है। यह एक ओर धार्मिकता को आवेष्टित करता है और दूसरी ओर भौतिकता के क्षेत्र में भी पूर्ण प्रसार प्राप्त किए हुए हैं। धार्मिक साहित्य के विस्तार की भी कोई सीमा नहीं—इसमें वैदिक सूक्त हैं, स्तोत्र हैं, देवोपाख्यान हैं, यज्ञविधियां हैं, कर्मकाण्ड हैं, पौराणिक उपाख्यान हैं, सदाचार के उपदेश हैं, दार्शनिक विचारधारायें हैं, सैद्धान्तिक विवाद हैं, कर्मकाण्डीय विधिविधान हैं यह सामग्री इतनी विशाल है कि विश्व का कोई भी साहित्य इसकी तुलना नहीं कर सकता। इस सबके साथ ही बौद्धों के त्रिपिटक और तत्सम्बन्धी इतर साहित्य यथा जैन आगम और जैनों के साहित्य की भी इयत्ता नहीं है। भारत में अनेक धार्मिक सम्प्रदाओं का प्रादुर्भाव और प्रसार हुआ, उन सबका अपना अपना साहित्य भी इस सबकी श्री वृद्धि करने में पर्याप्त सक्षम है और विश्वसाहित्य में इस समस्त साहित्य को एक बहुत उच्च भूमिका पर पहुंचा देता है। मूल ग्रन्थ की टीकायें उन टीकाओं की टीकायें और फिर उनकी टीकायें साथ ही स्वतन्त्र चिन्तन और सामान्य परिचयात्मक ग्रन्थ अज्ञात अतीत से अप्रतिहत गति से लिखे जाते रहे हैं और आज भी लिखे जाते हैं।

वेदों में ही धार्मिक सूक्तों के साथ वीर गीतों और लोकवृत्त परक सूक्तों का भी समावेश हुआ है जो लौकिक साहित्य का मूल आधार कहा जा सकता है। इस प्रवृत्ति ने उपाख्यानात्मक साहित्य रचना को प्रेरणा प्रदान की जिसका समाहृत रूप हमें महाभारत और रामायण जैसे महाग्रन्थों में अधिगत होता है। इसमें ललित साहित्य भी है और उपयोगी साहित्य भी। ललित साहित्य के अन्तर्गत महाकाव्य, खण्डकाव्य, एकार्थक काव्य, दृश्यकाव्य नाट्य-साहित्य की अनेक विधायें ललित-गद्य साहित्य गद्य-पद्य मिश्रित चम्पू साहित्य, गीति काव्य इत्यादि सभी कुछ विद्यमान है—दूसरी ओर लोकोपयोगी साहित्य भी कम नहीं है—इसके अन्तर्गत व्याकरण, कोश, छन्दः शास्त्र, शिक्षा शास्त्र, विधि साहित्यः आयुर्वेद, गणित, खगोल शास्त्र, फ़लित ज्योतिष, संगीत, नाट्य

नाट्य शास्त्र, काव्य शास्त्र, विज्ञान, वास्तु; मूर्तिपरक साहित्य इत्यादि सभी प्रकार का लोकोपयोगी साहित्य विद्यमान है। राजशास्त्र और अर्थशास्त्र तो है ही साथ ही कामशास्त्र को भी शास्त्रीयता प्रदान कर दी गई है। सारांश यह है कि ऐसा कोई विभाग छूटा हुआ नहीं है जिसका समावेश इस साहित्य राशि में न हो।

संस्कृत साहित्य का महत्त्व

संस्कृत साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी प्राचीनता। ऋग्वेद केवल भारतीय भाषा परिवार की ही नहीं अपितु समस्त विश्व की तथा मनुष्य मात्र की प्रथम पुस्तक है। यह निर्विवाद रूप में सिद्ध हो चुका है कि विश्व के पुस्तकालय में ऋग्वेद से प्राचीन कोई भी दूसरी पुस्तक नहीं है—"भारत को छोड़कर न तो कोई देश और संस्कृत के अतिरिक्त न कोई दूसरी भाषा प्राचीनतम और प्रतिष्ठितम साहित्य का अधिकारी होने का दावा कर सकता है। हिन्दुओं के अतिरिक्त कोई अन्य राष्ट्र कुल परम्परागत इतनी पवित्र सम्पत्ति का अधिकारी वनकर विश्व के समक्ष उपस्थित नहीं हो सकता; यह साहित्य सम्पत्ति इतनी महत्वपूर्ण है कि उस तक पहुंचना असम्भव है, यह अपनी प्रतिष्ठा में दूसरे साहित्यों की अपेक्षा असीमित रूप में ऊंची है। अपनी एकाकी रमणीयता में केवल वेद ही ऐसे स्थान पर स्थित हैं जहां वे मानवता की प्रगति के लिए स्वर्गीय प्रकाश के आकाशदीप का कार्य करते हैं।"

(हिन्दू सुपीरियारिटी, पृ० १८०)।

ऋग्वेद में हमें मानव मस्तिष्क के सर्वप्रथम उद्‌गार मिलते हैं काव्य की छटा मिलती है और मिलती है प्रकृति की सुन्दरता और रहस्य पर आनन्द की भावना। इन प्राचीन ऋचाओं में जैसाकि डा० मैकानिकल कहते हैं हमें प्रारम्भ मिलता है उन लोगों के साहसी कारनामों का जिन्होंने हमारे विषय के तथा उसमें रहने वाले मनुष्यों के जीवन के महत्त्व का अन्वेषण करने की चेष्टा की। कविवर रवीन्द्रनाथ ने इन ऋचाओं के विषय में कहा है कि जीवन के आश्चर्य और भय की ओर एक जनसमाज की मिली जुली प्रतिक्रिया का यह काव्यमय वसीयतनामा है। सभ्यता के आरम्भ में ही एक जोरदार और अछूती कल्पना वाले लोग जीवन के अपार रहस्य को भेदने के लिए उत्सुक हुए। अपने सरल विश्वास के द्वारा उन्होंने प्रत्येक तत्त्व में तथा प्रकृति की प्रत्येक शक्ति में देवत्व देखा। उनका जीवन आनन्दमय और साहसी था और रहस्य की भावना ने उनके जीवन में एक टोना उत्पन्न कर दिया था। मन में एक जातिगत विश्वास था जिस पर विश्व की द्वन्द्वमयी विविधता के चिन्तन का बोझ नहीं पड़ा था यद्यपि उस पर सहज अनुभव का प्रकाश इस रूप में

पड़ा था कि सत्य एक है यद्यपि विप्र अनेक रूपों में पुकारते हैं। (देखो-डिस्कवरी आफ़ इण्डिया, चौथा अध्याय) कविवर सुमित्रा नन्दन पन्त ने वैदिक साहित्य को सृष्टि का प्रथमोद्गार कहकर पुकारा है। अनेक विद्वानों ने ऋग्वेद को मनुष्य का कहा हुआ पहला शब्द बतलाया है।

अनेक देश अपनी सभ्यता की प्राचीनता का दावा करते हैं। जबकि ऋग्वेद का रचनाकाल ई० पू० २५०० से ३००० वर्ष के पूर्व नहीं माना जाता तब एसीरिया के विद्वान् प्रथम सरगाओं का समय ईशा से ३००० वर्ष पूर्व मानते हैं और तूरानियन सभ्यता को इससे भी पूर्व ले जाते हैं। मिश्र के लोग अपनी सभ्यता को ईशा से ४००० वर्ष पूर्व बतलाते हैं और चीन के लोग अपनी सभ्यता को उतना ही पुराना सिद्ध करते हैं। किन्तु भारतीय साहित्य से उपर्युक्त साहित्यों में एक मौलिक अन्तर है। मिश्र के साहित्य से हम शासकों की नामावली और युद्धों के उल्लेख के अतिरिक्त और कुछ नहीं जान सकते; एसीरिया और बेबीलोन के लेख भी हमसे कुछ ऐसी ही कहानी कहते हैं। प्राचीन चीन के लेख भी सभ्यता और संस्कृति के विकास और प्रसार पर कोई प्रकाश नहीं डालते। किन्तु भारतीय संस्कृति का रूप ही कुछ और है। न तो इसमें राजाओं की वंशावली दी हुई है और न यह युद्धों तथा दूसरी घटनाओं का विवरण ही है। किन्तु इसमें संस्कृति के विकास और प्रसार का स्पष्ट और सुसम्बद्ध चित्र प्राप्त होता है जो हमें किसी अन्य साहित्य में प्राप्त नहीं होता। जहां तक भारतीय साहित्य का सम्बन्ध है उसकी प्राचीनता पर न तो मिश्र के स्मारक साहित्य अथवा भोजपत्र की नामावली के द्वारा विवाद किया जा सकता है और न वह एसीरिया के साहित्य के विवाद का ही विषय हो सकता है जो हाल में ही प्रकाश में आया है।[1]

हम यहां एक वास्तविकता से आंखें मूंद लेते हैं— वैदिक मूल ग्रन्थों को संहिता कहा गया है जिसका अर्थ है संकलन। रचना और संकलन दोनों ही पृथक् तत्त्व हैं। ऋग्वेद में भाषा की विविधता इस बात का पर्याप्त प्रमाण है कि ये रचनायें एक-दूसरे से पर्याप्त अन्तर से लिखी गई हैं। स्वयं ऋग्वेद में प्राचीन और नवीन रचनाकारों का अनेकशः उल्लेख किया गया है और प्राचीन ऋषियों के प्रति श्रद्धा व्यक्त की गई—

(१) यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः।

(२) देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते।

---

१. इस विषय के विशेष विवेचन के लिए देखिए वेवर का 'हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर'।

(३) त्वेह यत्पितरश्चिन्न इन्द्र विश्वावामा जरितारो असन्वन् ७-१८-१ ।

(४) ये च पूर्वेऋषयः ये च नूत्ना इन्द्र ब्रह्माणि जनयन्त विप्राः ७-२२-९ ।

(५) यच्चिद्धि पूर्वे कवयो गृणन्तः ७-५३-१ ।

(६) पुरा देवाअनवद्यास आसन् ७-९१-४ ।

(७) त इद्देवानां सधमाद आसन् ऋतावानः कवयः पूर्व्यासः ७.७६.६४ ।

इसी प्रकार प्राचीन रचनाओं के प्रति आभार प्रदर्शित किया गया है और नवीन मन्त्रों को स्वीकार करने की प्रार्थना की गई है —

(१) भूरिचक्र मरुतः पित्र्याणि उक्थानि ।

(२) प्रवाम् मन्मानि ऋचसे नवानि कृतानि ब्रह्म जुजुषन्निमानि ७.६१.६ ।

(३) शुचि नु स्तोमं नवजातमद्य इन्द्राग्नी वृत्रहणा जुषेथाम् ।

ब्लूमफील्ड ने लिखा है कि ऋग्वेद में लगभग ५००० पंक्तियों में पुनरुक्ति पायी जाती है।[1] इसका अर्थ यह है कि जिस प्रकार आजकल एक ही पंक्ति को लेकर समस्या पूर्ति की जाती है उसी प्रकार उस समय भी अनेक कवियों ने प्रचलित पंक्ति को लेकर समस्या पूर्ति की होगी। इन सब बातों से सिद्ध होता है कि ऋग्वेद अनेक परंपराओं के विकास का फल है। अतः सङ्कलन काल को आधार मानकर ऋग्वेद के रचनाकाल की कल्पना कृतकार्य नहीं कही जा सकती।

ऋग्वेद के सृजन और संकलन के मध्य शताब्दियों का ही नहीं यदि सहस्राब्दियों का व्यवधान स्वीकार किया जाय तो भी अत्युक्ति नहीं होगी। भाषा की परिवर्तनशीलता के कारण समय के सुदीर्घ व्यवधान में ऋग्वेद के मन्त्र इतने असंवेद्य हो गए थे कि महर्षि कौत्स को यह कहने का साहस हुआ कि 'वेद व्याख्या की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि वेद अस्पष्ट, परस्पर विरोधी उक्तियों से परिपूर्ण एवं अनर्थक हैं।' इस पर निरुक्तकार ने उत्तर दिया कि 'यदि स्तम्भ को कोई अन्धा नहीं देख सकता तो यह स्तम्भ का अपराध नहीं होता, यह तो न देख सकने वाले पुरुष का अपराध होता है।'[2] वेद पर बहुत कुछ लिखने वाले ऋषियों, पाणिनि जैसे आचार्यों, यास्क जैसे निरुक्तकारों और सायण जैसे व्याख्याकारों की कृपा से वह स्थिति बदल गई है। अब वेद का बहुत कुछ भाग दुर्विज्ञेय नहीं रहा यद्यपि हम अभी भी यह दावा करने की स्थिति नहीं है कि उसे पूर्ण रूप से समझ ही लिया गया है।

संकलन के पहले ही वेद की धार्मिक सर्वोच्चता और असाधारण पवित्रता

---

१. विण्टरनित्ज—'हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर' खण्ड प्रथम अध्याय १ ।

२. 'नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धो न पश्यति, पुरुषापराधः स भवति' निरुक्त ।

सिद्ध हो चुकी थी। यह मान लिया गया था कि वेद मानवकृत नहीं अपौरुषेय है तथा नित्य है और ईश्वरीय ज्ञान का स्वरूप है प्रलय के साथ उनका तिरोधान हो जाता है और नई सृष्टि रचना होने पर तपःपूत महर्षियों के अन्तःकरण में उनका पुनः प्रादुर्भाव हो जाता है। ऐसी मान्यता प्राप्त करने के लिए किसी कविता को कितनी शताब्दियां लगी होंगी इसकी तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसीलिए प्रायः प्रत्येक विचारक स्वीकार करता है कि वेदों का ठीक रचनाकाल क्या है यह कभी ज्ञात हो सकेगा इसकी तो कोई सम्भावना दृष्टिगत नहीं होती। वेदों की सुरक्षा के लिए तत्कालीन साधक कितने आतुर थे इसका परिचय इसी से मिलता है कि अनेक पाठों में शब्दों और वाक्यों की ही नहीं अक्षरों की संख्या भी नियत कर दी गई है।

ऋग्वेद कलात्मक और रसात्मक कृतियों का भण्डार है; इसकी साहित्यिक प्रौढ़ता और संस्कृति के निखरा हुए स्वरूप देखकर सहज ही अनुमान हो जाता है कि इतना उच्चकोटि का साहित्य सहसा प्रादुर्भूत नहीं हुआ होगा। निश्चय ही इसके सत्ता में आने के पहले साहित्य और संस्कृति की अनेक परम्परायें पनपी होंगी, समाज ने अनेक उत्थान-पतन देखे होंगे। अनेक प्रकार के संघर्षों ने जाति की जीविनी शक्ति को अधिकाधिक दृढ और सक्षम बनाया होगा और उसमें अनेक प्रकार के साहसों का आधान किया होगा जिससे कष्टों और कठिनाइयों को सहते हुए भी आर्य जाति ने विकास की दिशा में अधिकाधिक क्षमता प्राप्त की।

अनेक सहस्राब्दियों के व्यवधान से हमारी मनोवृत्तियां बदली हैं, साहित्यिक प्रवृत्तियों और काव्यगत आलम्बनों में अन्तर आया है, सामाजिक परिवेषों ने नया रूप धारण कर लिया है। परिणाम स्वरूप आज हमें सर्वांश में काव्य का वही रूप दृष्टिगत नहीं होता जो वैदिककाल में था। हम ऋग्वेद से न तो कालिदास के कोमलकान्त प्रगीतात्मक पद्यों की आशा कर सकते हैं, न भवभूति की गम्भीर तथा हृदय विदारक भावनाओं को ही प्राप्त कर सकते हैं, न दण्डी की परिष्कृत सानुप्रास पदावली ही उसमें विद्यमान है, न माघ की उच्च कोटि की दूरारूढ़ कल्पनाओं से भरी हुई रचना शैली के ही उसमें दर्शन होते हैं, न भारवि के अर्थ गाम्भीर्य के दर्शन होते हैं न वाण की भ्रम में डालने वाली जटिल वाक्य रचना ही उसमें प्राप्त हो सकती है फिर भी इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि ऋग्वेद की ये ऋचायें या कम से उनमें कुछ ऐसी आवश्यक है जिन पर कविता की देवी गर्वकर सकती है। यद्यपि काव्य के रूप में ऋग्वेद में परवर्ती उच्चकोटि की रचनाओं की अपेक्षा पर्याप्त अन्तर है तथापि उसमें कुछ ऐसी अनिवर्चनीय सुन्दरता ओत-प्रोत है जिसका

अतिक्रमण नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार यद्यपि हमें उच्चकोटि के दार्शनिक विचारधारा के दर्शन ऋग्वेद में नहीं होते तथापि उसमें ऐसे तत्त्व अवश्य विद्यमान हैं जिनके सामने परवर्ती दर्शनकारों को भी नतमस्तक हो जाना पड़ता है। जब तक ऋग्वेद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि स्वीकार न की जाय तब तक कालिदास की परिष्कृत रचना, कपिल की दार्शनिक शक्ति, जयदेव की आनन्दमयी रहस्यात्मक प्रवृत्ति, व्यास तथा वाल्मीकि की प्रसाद गुणपूर्ण शैली ये सब जो कि अपने में इतने अधिक महत्वपूर्ण हैं रेगिस्तान की हरी-भरी टुकड़ियों में बिखर जायेंगे। सारांश यह है कि भारत की समस्त रीति-नीति, आचार व्यवहार, धर्म-दर्शन, कला और साहित्य सभी का मूल आधार ऋग्वेद ही है और समस्त भारतीय विचारधारा वैदिक रचना का प्रसार मात्र है।[1]

जो बात भारतीयता के विषय में कही जाती है विश्व की विचारधारा के विषय में भी वही लागू होती है। विश्व संस्कृति की दिशा में वैदिक साहित्य का योगदान कम नहीं है। भारत एक विशाल देश है—इतना विशाल कि इसका क्षेत्रफल लगभग यूरोप के बराबर है। यह उत्तर से दक्षिण तक समशीतोष्ण और उष्ण कटिबन्धों को तो आवृत किए हुए ही है शीत कटिबन्ध का भी अनुभव हिमाच्छादित चोटियों पर हो जाता है। आशय यह है कि विशालता के साथ ही अनेक प्रकार के वातावरणों की विभिन्नता इस देश को अनेक दिशाओं में प्रस्फुटित होने का पूरा अवसर प्रदान करती है। विस्तार में भारत के समकक्ष होते हुए भी आज भी यूरोप में एकता के बीजों की खोज तक नहीं की जा सकी है जबकि हजारों वर्ष पहले भारत का एकीकरण सम्पन्न हो चुका था। मेगस्थनीज ने भारतीय समाज, साहित्य और धर्म का वही स्वरूप वर्णित किया है जो आज हमें भारत में उपलब्ध होता है। यहां तक कि सुदूर दक्षिण के कन्याकुमारी में भगवती पार्वती के कन्यारूप की उपासना उस समय भी होती थी। बौद्ध और जैन धर्मों का मेगस्थनीज के समय से कई शताब्दियों पूर्व आविर्भाव हो चुका था। ये धर्म सामान्य वैदिक परम्परा का उसी प्रकार विपरिणाम थे जिस प्रकार परवर्ती पौराणिक धर्म का स्रोत वेद ही था। क्योंकि इन धर्मों में भी भारतीयता का मूलतत्त्व पुनर्जन्म और मोक्ष का सिद्धान्त सिद्ध रूप में स्वीकृत किया जाता था और इनकी विचारधारा पर सांख्य सिद्धान्त का पूरा प्रभाव था।

भारतीय संस्कृति स्वमात्र पर्यवसित नहीं थी। इसकी विदेशी यात्रा हजारों

१. इस विषय में वेबर, विण्टरनित्ज इत्यादि पाश्चात्य अनुसन्धाताओं के लेखों का अध्ययन किया जा सकता है।

मील तक फैली हुई थी। इस संस्कृति ने भारतीय सीमाओं को लांघकर चीन, जापान, कोरिया, तिब्बत इत्यादि उत्तरी देशों, श्रीलंका, मलाया, बरमा इत्यादि दक्षिणी देशों के साथ प्रशान्त महासागर में स्थित जावा सुमात्रा इत्यादि देशों के साथ इण्डोनेशिया में भी पूर्णरूप से प्रसार पाया था। पश्चिम में सुदूर मध्य एशिया से पूर्वी तुर्किस्तान तक इस संस्कृति के चिन्ह प्राप्त होते हैं। वहां मरुस्थल की मरुराशि में दवी भारतीय पाण्डुलिपियों का प्राप्त होना इस संस्कृति के उन प्रदेशों में प्रसार का पर्याप्त प्रमाण है। यह प्रभाव इतना अधिक व्यापक है कि विचारकों ने भारत-ईरानीकाल और भारत यूरोपीय काल की कल्पना को मूर्त रूप दे दिया है। पश्चिम एशिया के माध्यम से तथा किसी सीमा तक उससे निरपेक्ष रूप में यूरोप भी भारतीय संस्कृति के प्रभाव से अछूता नहीं रह सका था। यूरोपीय संस्कृति पर भारतीय प्रभाव के विषय में पाश्चात्य विचारकों के उद्धरण देना अप्रासङ्गिक न होगा—

"संस्कृति तथा भारतीय साहित्य के इतिहास की दृष्टि से इसका चरम महत्त्व तो है ही, परन्तु हमारे लिए भारतीय साहित्य के अध्ययन के लिए इन सब कारणों से अधिक महत्त्वपूर्ण कारण है; वह यह कि जर्मन भाषा तथा अधिकांश यूरोपीय भाषाओं के अध्ययन में भी यह अनिवार्य रूप से आवश्यक है। भारतीय आर्य-भाषायें (तथा ईरानी भाषा भी) भारत यूरोपीय भाषा परिवार का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है। भारतीय साहित्य के परिचय ने यूरोप में संस्कृति के क्षेत्र में एक नए अध्याय का श्रीगणेश किया है; हमें अपनी भाषाओं के स्वरूप का साक्षात्कार कराया है; हमें यह पता चला है कि जर्मन भाषा तथा अन्य यूरोपीय भाषायें संस्कृत भाषा की भगिनी हैं। इनका परस्पर सम्बन्ध प्रागैतिहासिक काल से है, भाषा, मन तथा संस्कृति की दृष्टि से हम एक ही परिवार के हैं जिसे भारत-यूरोपीय (इण्डो यूरोपीय) परिवार कहते हैं। कुछ विवेचकों ने यह कल्पना की है कि "भारत यूरोपीय भाषाओं को बोलने वाले भारतीय, पारसी, ग्रीक, रोमन, जर्मन तथा स्लाव आदि एक ही जाति के हैं; इनके पुरखे एक ही थे जिसे भारत यूरोपीय जाति कहा जा सकता है।" निस्सन्देह ऐसी कल्पना जल्दबाजी में की गई है। यह भले ही सन्देहास्पद है कि इनके पुरखे एक ही थे, किन्तु इसमें सन्देह नहीं है कि भारत-यूरोपीय भाषाओं की मूलभाषा एक ही थी, इस प्रकार इनके मन और संस्कृति का ऐक्य निर्विवाद है। भले ही भारतीयों से हमारा रक्त का सम्बन्ध न हो परन्तु मनःसम्बन्ध तो है ही और हमारे लिए अपनी संस्कृति और चिन्तन की धारा के उद्गम की खोज के लिए भारतीय विचारधारा और साहित्य का अवगाहन अनिवार्य है। हमारे मन संस्कृति और विचारधारा का

तो साम्य है ही। यदि हमने केवल यूरोपीय साहित्य ही पढ़ा है तो हमारा ज्ञान एकांगी है, इसकी समग्रता के लिए हमें सुदूर पूर्व में जाना होगा। अभी तक हम प्राचीन ग्रीस और रोम के साहित्य को ही पढ़ते आए हैं और उसमें ही अपना उद्गम खोजते आए हैं। पर यह खोज अधूरी है। भारतीय साहित्य इन साहित्यों का पूरक है यदि हम अपनी संस्कृति के मूल उद्गम से परिचय प्राप्त करना चाहते हैं; × × × यदि हम प्राचीनतम भारत यूरोपीय संस्कृति को समझना चाहते हैं तो हमें भारत की शरण लेनी होगी जहां भारत-यूरोपीय भाषाओं का प्राचीनतम साहित्य सुरक्षित है। भारतीय साहित्य की अति प्राचीनता के विषय में किसी का कितना ही मतभेद क्यों न हो इस तथ्य में विवाद का कोई अवकाश नहीं है कि भारतीय साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ ही भारत यूरोपीय साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ है।[1]

मैकडानल ने अनेकशः भारत ईरानी और भारत यूरोपीय सभ्यता की एकरूपता प्रतिपादित की है। निदर्शन के रूप में निम्नलिखित दो उद्धरण इस दिशा में अधिक प्रकाश डाल सकेंगे—

'तुलनात्मक अध्ययन ने यह बात प्रकट की है कि अनेक यज्ञविधियां पीछे उस काल की ओर तक पहुंचती हैं जब भारतीय और फारस के लोग एक ही जनजाति के थे। इस प्रकार उस समय भी विकसित धार्मिक कार्यों का केन्द्र यज्ञ ही था। वैदिक यज्ञविधि के अनेक पारिभाषिक शब्द उस समय भी पहले से ही सत्ता में आ गए थे—विशेष रूप से सोम जिसे पीसा जाता था, चालनी से छानकर साफ किया जाता था, दूध में मिलाया जाता था और मुख्य रूप से देवविषयक आहुति या तर्पणोदक के रूप में ढाला जाता था। पवित्र सूत्र (यज्ञोपवीत) के साथ उपनयन संस्कार भी जैसा कि हम देख चुके हैं (उस समय भी) ज्ञात था और अपने समय में उससे भी अधिक पुरानी एक संस्कार पद्धति पर आधारित था जो संस्कार जवानी में प्रवेश के अवसर पर प्रवर्तन (दीक्षा एव समावर्तन) के लिए किया जाता था। देवताओं के प्रति प्रदान के लिए आहुति देना भारत यूरोपीय पद्धति है। जैसाकि यूनानी, रोमवासी और भारतीयों की इस विषय में समरूपता से प्रकट होता है। विवाह पद्धति का वह भाग भी भारोपीय है जिसमें नवविवाहित दम्पति वैवाहिक अग्नि के चारों ओर घूमते हैं (भांवरें डालते हैं) वर अग्नि में भुनी हुई भेंट (वधू को) और वधू चावल या अन्न के दाने (वर को) देती है। क्योंकि रोम के लोगों में भी नवदम्पति वेदी के चारों ओर बायें से दाहिनी ओर घूमते हैं; यह कार्य अग्नि

---

१. विंटरनित्ज—भारतीय साहित्य का इतिहास प्रथम खण्ड भूमिका भाग।

में रोटी (जिसे for कहते हैं) डालने से पहले होता है । चावलों या अन्न कणों का (उत्पादकता के संकेत के रूप में) वर वधू पर बिखेरा जाना भी जैसाकि सूत्रों में विहित है भारोपीय ही होना चाहिए, क्योंकि यह जन समाज में विस्तृत क्षेत्र में इतना रच-बस गया है जो जन समाज द्वारा दूसरों से लिया हुआ नहीं कहा जा सकता । लकड़ी के दो टुकड़ों को रगड़कर यज्ञाग्नि उत्पन्न करने की विधि और भी पुरानी है, इसी प्रकार अग्नि शाला के निर्माण में दीवालों को ऊपर उठाने के लिए सबसे निचले ईंटों के फलक में विभिन्न पलियों के ५ यज्ञपशुओं के सरों को दबाना एक पुराने विश्वास की ओर जाता है कि कोई भवन निर्माण तभी मजबूती से बनाया जा सकता है जब नींव में एक मनुष्य या पशु गाड़ा जाय ।[1] दे० प्रस्तुत पुस्तक पृ० २४८-४९ ।

× × × पैथागोरस की भारतीय दर्शन और विज्ञान पर निर्भरता से निश्चय ही उच्चकोटि की सम्भावना दृष्टिगत होती है जिनका श्रेय उन्हें दिया जाता है उनमें लगभग सभी धार्मिक, दार्शनिक और गणित सम्बन्धी सिद्धान्त भारत में ई० पू० छठी शताब्दी में ज्ञात थे । एकरूपताओं के संयोग संख्या में इतने अधिक हैं कि उनकी एकीकृत (सञ्चित) शक्ति बहुत अधिक हो जाती है । पुनर्जन्म का सिद्धान्त, ५ तत्त्वों की स्वीकृति, रेखागणित के पैथागोरस प्रमेय, कतिपय फलियों (लहसुन इत्यादि) के खाने का निषेध, पैथागोरियन बन्धुता के विषय में धार्मिक दार्शनिक स्वरूप और पैथागोरियन सम्प्रदाय के रहस्यात्मक लक्षण इन सबकी भारत में निकटतावर्ती समानता पाई जाती है । पैथागोरस के विषय में देहान्तर प्राप्ति (पुनर्जन्म) का सिद्धान्त किसी सम्बन्ध या व्याख्येय पृष्ठभूमि के बिना ही प्रतीत होता है और यूनानी लोगों द्वारा विदेशी उद्भव के रूप में स्वीकार किया जाता है । उसने यह मिश्र से तो लिया नहीं होगा क्योंकि इसका ज्ञान प्राचीन मिश्रवासियों को नहीं था । बाद की परम्परा के होते हुए भी यह असम्भव मालूम पड़ता है कि इतने आदिमकाल में पैथागोरस ने भारत की यात्रा की हो । किन्तु यह बहुत सम्भव है कि वह पर्शिया में भारतीयों से मिला हो ।[2] (पृ० ४०५-६)

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट हो जाता है कि सामान्य भारतीय और विशेष रूप से ऋग्वेद का विश्व की समस्त संस्कृतियों से निकट का

---

१. भारत में अब इस प्रथा के दर्शन नहीं होते ।

२. इस विषय का विशेष अध्ययन करने के लिए देखिए प्रस्तुत ग्रन्थ के पृष्ठ—४७-४९, ५३, ६०, ६६, ७२-७३, ८०, १०५, ११०, १३७, १४४, १५६-१५८, २३८ और १६वां अध्याय ।

सम्बन्ध है। भारत के ही नहीं समस्त विश्व के समाज, धर्म. दर्शन, साहित्य इत्यादि अनेक क्षेत्रों का जो भी इतिहास लिखा जायेगा उसमें भारतीय साहित्य की उपेक्षा विषय को पूर्णता तक पहुंचाने में कभी भी कृतकार्य नहीं हो सकेगी और किसी भी विचारक के लिए भारतीय साहित्य का अवलोकन अनिवार्य हो जायेगा। "वेद का दुहरा प्रयोजन है— इसका सम्बन्ध विश्व के इतिहास से भी है और भारतीय इतिहास से भी। विश्व के इतिहास में जो बीच की कड़ियां छूटी हुई हैं उन्हें वेद के अतिरिक्त किसी अन्य भाषा का कोई अन्य ग्रन्थ भर सकने में समर्थ नहीं है। यह हमें उतना पीछे तक ले जाता है जिस समय का कोई भी अभिलेख अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होता। वेद के माध्यम से हम केवल सांस्कृतिक इतिहास की झलक ही नहीं पाते अपितु तत्कालीन व्यक्तियों की वाणी भी सुनते हैं। यदि हमारे पास वैदिक साहित्य न होता तो हमें अपनी कल्पना और अनुमान के बल पर बहुत ही धुंधले स्वरूप के आधार पर उस काल का मूल्यांकन करना पड़ता। जब तक मनुष्य अपने जातीय इतिहास में रुचि लेता रहेगा और जब तक हम पुस्तकालयों तथा संग्रहालयों में पुराने युगों के अवशेषों का संग्रह करते रहेंगे तब तक मानवता के मध्य आर्यजाति की शाखा के जिन अवशेषों का हम चयन करेंगे उनमें सर्वदा ऋग्वेद का पहला स्थान बना रहेगा। वेद का संसार अपना स्वतन्त्र संसार है और उत्तरवर्ती समस्त भारतीय साहित्य से उसका ऐसा ही सम्बन्ध हैं कि वेद कहीं से कुछ प्राप्त करने का आभारी नहीं है किन्तु भारतीय मस्तिष्क के विकास सम्बन्धी समस्त इतिहास पर उसका प्रभाव लक्षित किया जा सकता है।"

साहित्यिक भाषायें

ऊपर भारत ईरानी, भारत यूरोपीय साहित्यों में देवों की नामावली, यज्ञ विधि धार्मिक, दार्शनिक और सामाजिक रूढ़ियों की सम्पन्न एकता का दिग्दर्शन कराया गया। यह एकता भाषा के क्षेत्र में और अधिक घनिष्ठ रूप में पाई जाती है। परिवर्तनशीलता भाषाओं की एक सामान्य प्रकृति है। पिता और पुत्र की भाषा सर्वांश में एक रूप नहीं होती, उच्चारण में कुछ न कुछ अन्तर पड़ जाता है। यह अन्तर पीढ़ियों के व्यवधान से १००-२०० वर्ष में इतना अधिक बढ़ जाता है भाषा का स्वरूप ही बदल जाता है और तब पूर्ववर्ती और परवर्ती दोनों भाषाओं को एक मानना असंगत प्रतीत होने लगता है। जो कालकृत व्यवधान के विषय में कही जाती हैं वही बात स्थानकृत दूरी के विषय में भी कही जा सकती है। एक ही भाषा थोड़ी-थोड़ी दूर में बदलती

जाती है और पर्याप्त दूरी तक बढ़कर अपना नाम रूप खो देती है। यह तो लोकभाषा की बात हुई साहित्य भाषा का उपादान लोकभाषा से ही होता है। जहां लोकभाषा व्यवहार में बदलती है वहां साहित्य भाषा सुन्दरीकरण की प्रवृत्ति में बदलती जाती है। इस प्रकार समय के व्यवधान में भाषा तो असंवेद्य हो ही जाती है उसके साथ उसमें लिखा साहित्य भी असंवेद्य होकर धीरे-धीरे लुप्त हो जाता है। भारतीय मनीषी भाषा की परिवर्तनशीलता के इस दोष से परिचित थे और इसे दूर करने के लिए उन लोगों ने भाषा संस्कार का कार्य अपने हाथ में लिया जो पहले मन्द गति से आगे बढ़ा किन्तु धीरे-धीरे पाणिनि के सिद्धहस्त हाथों में पड़कर प्रकृति प्रत्यय के माध्यम से पूर्ण परिनिष्ठित हो गया तथा उसमें परिवर्तनशीलता का दोष पूर्ण रूप से जाता रहा। यह सारा कार्य भाषा संस्कार के द्वारा सम्पन्न हुआ था, अतः इस भाषा का नाम संस्कृत भाषा पड़ गया। यह समझना भारी भूल होगी कि संस्कृत कभी भी जन साधारण की भाषा थी। जन साधारण की भाषा वही भाषा हो सकती है जिसमें बोलने वालों को अपने ढंग से परिवर्तन कर लेने की स्वतन्त्रता प्राप्त हो। बालक जब बोलना प्रारम्भ करता है तब तोतली बोली में मनमाना परिवर्तन क्षम्य होता है। प्रकृति प्रत्ययों एवं परिनिष्ठित नियमों से जकड़ी हुई भाषा का प्रयोग सर्वसाधारण के वश की बात नहीं। अतः यह निश्चित है कि इस भाषा का प्रवर्तन स्थायी साहित्य लिखने के मन्तव्य से ही हुआ था। यह दूसरी बात है कि पढ़े-लिखे लोग व्यवहार में भी इस भाषा का प्रयोग करते थे और शिक्षितों में इस भाषा का प्रयोग इतना प्रायिक था कि कम शिक्षित लोग इसे बोल तो नहीं सकते थे किन्तु समझ लेते थे। नाटकों में भाषा प्रयोग के नियमों का यही आधार है। व्याहारिक भाषा की दृष्टि से विचार करने पर संस्कृत निश्चय ही मृत भाषा सिद्ध होती है, क्योंकि यह किसी प्रदेश की बोलचाल की भाषा नहीं है। किन्तु साहित्य सर्जना की दृष्टि से विचार मरने पर यही एक भाषा अमर भाषा कही जाने की अधिकारिणी है। विश्व में जो भाषायें आज बोलचाल के लिए प्रयुक्त हो रही हैं उनमें शायद ही किसी भाषा का जीवन पांच-सात सौ वर्ष पुराना हो। हजार वर्ष पहले लिखी हुई पुस्तकें अब अपनी संवेद्यता खोती जा रही हैं जबकि हजारों वर्ष पहले लिखी वाल्मीकि रामायण को हम आज उसी सरलता से समझ सकते हैं जैसे तत्कालीन विद्वान उसे पढ़ते और समझते रहे होंगे।

साहित्यिक भाषाओं का सर्वेक्षण[1]

ऋग्वेद जिस भाषा में लिखा गया है वह उस समय की साहित्य-भाषा थी, उस समय की लोकभाषा क्या थी इसका कोई भी लेखा-जोखा साहित्य जगत् के पास नहीं है। ऋग्वेद-भाषा की अनेकरूपता से यह अनायास ही सिद्ध हो जाता है कि इस भाषा का परिणाह कई शताब्दियों को या हो सकता है कई सहस्राब्दियों को घेरे हुए हो। एक बहुत बड़े आश्चर्य की बात है कि पश्चिम एशिया के अनेक देशों और यूरोपीय उपविभागों की भाषाओं के साथ इस भाषा का इतना साम्य है कि ऐसा ज्ञात होता है कि किसी समय ये भाषायें एक ही रही होंगी तथा इनका व्यवहार करने वाली एक ही जाति होगी और आजीविका की खोज में या किसी दूसरे कारण से उस जाति के लोग जब इधर-उधर विखर गये तब लम्बे समय के व्यवधान के कारण उनका परस्पर सम्बन्ध छूट गया और धीरे-धीरे उस एकता की स्मृति भी नामशेष हो गई। यह भाषा साम्य पुरानी फारसी अवेस्ता की भाषा से इतना अधिक है कि अवेस्ता के कतिपय शब्दों और कभी-कभी कतिपय अक्षरों को बदल देने से पूरा ऋग्वेद का मन्त्र बन जाता है। इसी प्रकार रूसी, जर्मन, फ्रेंच, अंग्रेजी, इटालियन, स्पैनिश, पुर्तगाली डच आदि भाषाओं के साथ भी साम्य के तत्त्व खोजे जा सकते हैं।

आज हमारे लिए इन विदेशी भाषाओं में सर्वाधिक परिचित भाषा अंग्रेजी है। इस भाषा के साथ साम्य का दिग्दर्शन साम्य के स्वरूप पर प्रकाश डाल सकेगा। यहां यह ध्यान रखना चाहिए कि परिस्थितियों के बदलने और नये-नये सम्पर्कों से संज्ञा और विशेषण शब्दों में अन्तर आता जाता है। किन्तु संख्याओं और सर्वनामों में बहुत कम अन्तर आता है। सम्बन्ध वाचक शब्दों में भी बहुत कम अन्तर आता है क्योंकि इनमें परिवर्तन का अधिक अवसर नहीं होता। किसी भाषा परिवार में सम्मिलित होने के लिए मुख्य रूप से इन तत्वों में सामञ्जस्य पर विचार किया जाता है।

संख्यावाचक शब्द		सर्वनाम शब्द	
अंग्रेजी	संस्कृत	अंग्रेजी	संस्कृत
A	एक	he	सः (स के लिए ह)
two	द्वि	she	सा

---

१. विस्तार के लिए देखिए—' ए कम्परेटिक ग्रामर आफ संस्कृत, ग्रीक एण्ड लैटिन, लन्दन १८६९ और मैक्समूलर के लेक्चर्स आन दि साइंस आफ लंग्वेज सीरीज लन्दन १८६४।

three	त्रि	it	इदम्
four	चतुर्	they	ते
five	पञ्च	we	वयम्
six	षट्	you	यूयम्
Seven	सप्तन्	I	अहम्
eight	अष्ट	thou	त्वम्
nine	नवम्	me	मा या माम्
decy	दश	my	मे
decime	दशम	us	अस्(जिसमें विभक्ति
decimal	दशमलव		लगाकर अस्मान्, अस्मा- कम् इत्यादि बन जाते हैं)

इसी प्रकार सम्बन्धियों के वाचक शब्द father, mother, brother, sister, son, daughter' शब्दों के वाचक शब्द हैं क्रमशः पितर्, मातर्, भ्रातर्, स्वसर्, सुनु, दुहितर इत्यादि।

भाषायें सामान्यतः विस्तार से संक्षेप की ओर चलती हैं। यह बात वैदिक संस्कृत के साथ लौकिक संस्कृत की तुलना करने से अधिक स्पष्ट हो जाती है।[1] प्राचीन भाषाओं में प्रत्येक अर्थ के लिए विस्तार की प्रवृत्ति रहती है जिसको हृदयंगम करना कुछ दुष्कर होता है। अतः सुविधा के लिए संक्षिप्तीकरण की प्रक्रिया अपनाई जाती है। संस्कृत इत्यादि भारतीय भाषाओं में माता, पिता, भाई, बहन, पुत्र इत्यादि के सम्बन्धियों के लिए अलग-अलग शब्द हैं जबकि अंग्रेजी में या तो एक ही शब्द का अनेक सम्बन्धियों के लिए प्रयोग कर दिया जाता है या 'in law' शब्द जोड़कर काम चलाया जाता है जिससे सम्बन्धियों के वाचक शब्द संख्या में बहुत कम रह जाते हैं।

यह संक्षिप्तीकरण की प्रक्रिया प्रत्ययों में सबसे अधिक दिखलाई देती है। अंग्रेजी में एक प्रत्यय है 'ing' इसको धातु से लगाकर present participle, gerendial infinitive, verbal noun, verbal adjective, तीनों कालों के continuous tense तथा इसी प्रकार के कई काम चला लिए जाते हैं। लिङ्ग भेद और वाच्य भेद (active' passive voice) में भी काम चल जाता है—केवल कुछ शब्दों के जोड़ने या प्रयोग के स्थान से भेद का बोध हो जाता है। यही दशा past participle की भी है। जबकि संस्कृत में प्रत्येक कार्य के लिए पृथक् पृथक् प्रत्यय ही नहीं एक-एक कार्य के लिए कई-कई प्रत्ययों का प्रयोग

१. देखिये प्रस्तुत पुस्तक पृष्ठ १८

किया जाता है। संस्कृत में धातु से लगने वाले प्रत्यय कृदन्त कहलाते हैं और शब्दों से लगने वाले प्रत्यय तद्धित कहे जाते हैं। ऐसा विभेद अंग्रेजी में नहीं माना जाता और विभक्तियों के पृथक् प्रयोग के कारण शब्द रूपों और धातु रूपों की जटिलता उसमें नहीं है।

उक्त संक्षिप्त परिचय से स्पष्ट हो जाता है कि भारत ईरानी तथा भारत यूरोपीय भाषायें एक ही परिवार की हैं और संक्षिप्तीककण की प्रक्रिया में पुरानी और नई भाषाओं में पर्याप्त अन्तर आ गया है।

भाषाओं की इस एकरूपता की ओर विलियम जोंस और हीगेल जैसे विद्वानों ने विचारकों का ध्यान आकर्षित किया। यह अब से लगभग डेढ़-पौने दो सौ वर्ष पुरानी बात है। उनका निष्कर्ष था कि संस्कृत उन सबमें अधिक सम्पन्न और विकासोन्मुखी भाषा थी, इस समय प्रयुक्त होने वाली भारतीय एवं यूरोपीय भाषाओं का स्रोत एक ही था और ये एक ही परिवार की भाषायें थीं। इसके बाद अनेक विचारकों ने इस विषय में विचार किया और अपने-अपने निष्कर्ष निकाले। मैक्समूलर का कहना है कि ग्रीक, लैटिन, गाथ ऐंग्लोसेक्शन, केण्ट, स्लाव आदि सभी प्राचीन भाषाओं में संस्कृत सबसे पुरानी है, सर्वाधिक सम्पन्न है और उसके संरक्षण की व्यवस्था भी सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण है। मैक्समूलर के अनुसार संस्कृत इन सब भाषाओं की बड़ी बहन है। टेलर महोदय तो संस्कृत को उन समस्त भाषाओं की जननी मानते हैं जिन्हें यूरोप शौक से श्रेष्ठ भाषाओं की श्रेणी में रखता है। कर्जन महोदय ने भी जेन्द, ग्रीक, लैटिन गाथ इत्यादि भाषाओं का संस्कृत से निकलना स्वीकार किया है। यूरोप, एशिया, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, अमेरिका आदि देशों की जितनी भी भाषायें और बोलियां हैं उन सबमें भारतीय आर्य भाषा का प्रमुख स्थान है। जैसा इस भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण किया गया वैसा और किसी भाषा का नहीं हुआ। इसी भाषा के अध्ययन ने भाषा विज्ञान को जन्म दिया और इसी भाषा में पिछले कई सहस्र वर्ष का इतिहास सुरक्षित रह सका। मुद्रण कला इत्यादि साधनों के अभाव में तथा अनेक ऐतिहासिक उत्थान पतनों का सामना करते हुए भी यह साहित्य सुरक्षित रह सका यह एक अत्यन्त आश्चर्यजनक सत्य है।

भारतीय साहित्यिक भाषाओं का विकास

साहित्य क्षेत्र में प्रयुक्त होने वाली भारतीय भाषाओं को स्थूल रूप में ५ भागों में विभाजित किया जा सकता है– (१) वैदिक भाषा (२) प्रयोग काल की संस्कृत, (३) शास्त्रीय परिनिष्ठित संस्कृत, (४) धार्मिक लोक-

भाषायें – पालि तथा प्राकृत और (५) आधुनिक भारतीय भाषायें ।

(१) वैदिक भाषा और साहित्य

जैसा कि बतलाया जा चुका है वैदिक साहित्य संसार का प्राचीन उपलब्ध कलात्मक साहित्य है और इसीलिए भावात्मक क्षेत्र में प्रयुक्त होने वाली सर्व-प्राचीन उपलब्ध भाषा वैदिक भाषा ही है । इस प्राचीन वैदिक साहित्य को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—एक तो वह साहित्य जो पवित्र धर्मग्रंथ माना जाता है और जिसे अपौरुषेय या ईश्वरकृत होने का गौरव प्राप्त है और दूसरा वह साहित्य जो वैदिक व्याख्या के लिए लिखा गया है—जो पौरुषेय है और जिसमें लोकवृत्त की उपेक्षा नहीं की गई है । इस साहित्य को वेदाङ्ग कहा जाता है और यह शास्त्रीय साहित्य है जिसमें प्रधानता सूत्र साहित्य की है । प्रथम प्रकार का साहित्य वास्तविक वैदिक साहित्य है और दूसरे प्रकार का साहित्य वेदाङ्ग कहा जाता है । प्रथम प्रकार में तीन प्रकार का साहित्य सम्मिलित किया जाता है— संहिता साहित्य जिसमें तत्कालीन कवियों के पद्यमय भावात्मक उद्‌गार हैं, ब्राह्मण ग्रंथ जिनमें संहितासाहित्यगत मन्त्रों के कर्मकाण्डपरक विनियोजन के अतिरिक्त वेदों की आवश्यकतानुसार व्याख्या भी की गई है और आरण्यक तथा उपनिषद् जिनमें आध्यात्मिकता परक प्रवृत्ति है और संसार से निवृत्त वृद्ध लोगों द्वारा बन में जाकर जिनका परिशीलन करने का विधान है । उपनिषदों के साथ वैदिक अपौरुषेय साहित्य का अन्त हो जाता है अतः इस साहित्य को वेदान्त साहित्य कहा जाता है ।

वैदिक भाषा को वैदिक संस्कृत भाषा भी कहा जाता है । किन्तु यह नाम विण्टरनित्ज को पसन्द नहीं क्योंकि उस समय तक भाषा का संस्कार तो किया ही नहीं गया था । अतः इस भाषा को वे प्राचीन उच्च भारतीय भाषा कहना अधिक उचित मानते हैं । यह भाषा उस समय की जन समाज की बोली ही थी जो कविता के क्षेत्र में आकर कुछ परिष्कृत हो गई थी और धार्मिक प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेने के कारण परिशीलकों द्वारा सुरक्षित रक्खी गई ।

भाषा के प्रश्न के साथ ही देश और काल का भी सम्बन्ध जुड़ा हुआ है । इस विषय में पर्याप्त मतभेद है और प्रायः पक्षपात से भी काम लिया जाता है । जबकि भारतीय इस भाषा को लाखों वर्ष पुराना मानते हैं तब पाश्चात्त्य विद्वान इसे ईशा पूर्व १००० वर्ष तक खींचकर ले आते हैं । इसमें सन्देह नहीं कि ये दोनों प्रकार के विचारक अतिवादी हैं । जहां तक देश का प्रश्न है इसमें सन्देह नहीं कि प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य ऋग्वेद के अधिकांश भागों की रचना सिन्धु नदी के आस-पास के प्रदेशों पंजाब और सिन्ध में हुई है । यदि इसमें कुछ ऐसा भी भाग प्राप्त होता हो जिसका सम्बन्ध प्राचीन भारत ईरानी

युग से माना जाय तो भी कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए क्योंकि वेद में कुछ ऐसे भाग अवश्य मिलते हैं जिन पर भारत ईरानी युग की छाप दिखलाई पड़ती है। ऋग्वेद और अवेस्ता की भाषा में अत्यधिक साम्य है उसमें भी अधिक साम्य जितना वैदिक और पालि भाषाओं में है। अवेस्ता के पद्यों के कुछ शब्द और कहीं-कहीं तो कुछ अक्षर ही बदल देने से ऋग्वेद की भाषा बन जाती है।

मुख्य मतभेद तो काल के विषय में है। ऋग्वेद के साहित्य को सर्वप्राचीन मानते हुए भी बहुत से पाश्चात्य विद्वान ईशा पूर्व १००० या १२०० से पूर्व इसकी रचना नहीं मानते; कुछ दूसरे लोग इस कालावधि को ई० पू० १५०० या २००० वर्ष पूर्व भी ले जाते हैं। इस काल को स्वीकार करने का उनके पास कोई प्रामाणिक कारण नहीं है। केवल एक बात कही जाती है कि भारतियों की जैसी भावुक, कलानुरागी, कल्पना प्रवण जाति इतने मध्यवर्ती काल में मौन किस प्रकार रही—यदि मध्यकाल में रचनायें होती रहीं तो अब वे उपलब्ध क्यों नहीं होतीं। किन्तु इस तर्क में कोई विशेष शक्ति नहीं है। एक तो अच्छे कलाकार युगों में जन्म लेते हैं साथ ही कुछ विरले कलाकारों को ही युगान्तव्यापी साहित्य रचना की मान्यता प्राप्त कर लेने का सौभाग्य प्राप्त होता है।

विदेशी विद्वानों पर बहुत समय तक मैक्समूलर की गणना का जादू छाया रहा जिसमें कल्पना के अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं था। विचारक बिना प्रमाण के एक स्वर से कह देते थे कि मैक्समूलर ने प्रबल प्रमाणों के आधार पर सिद्ध कर दिया है कि ऋग्वेद की रचना ईशा से १२०० वर्ष पूर्व हुई थी जबकि मैक्समूलर ने स्वयं कहा था कि 'वैदिक सूक्तों की रचना १००० या १५०० या २००० या ३००० वर्ष ई० पू० हुई इसका निर्णय इस संसार में कभी भी कोई भी नहीं कर सकेगा।' महात्मा तिलक ने वेदों के रचनाकाल पर गणित ज्योतिष के आधार पर प्रकाश डाला। ब्राह्मण और सूत्र ग्रन्थों में गणित ज्योतिष एवं तिथिक्रम सम्बन्धी प्रचुर सामग्री मिलती है। इन अभिलेखों के आधार पर तिलक महोदय ने निष्कर्ष निकाला कि आर्यों का आदिदेश उत्तरी ध्रुव प्रदेश है। मेष और तुला इन दो सौर मासों में आजकल विषुवक्रान्ति होती है जब रात दिन बराबर होते हैं। आजकल अश्विनी नक्षत्र में वसन्त काल में विषुवक्रान्ति होती है इसीलिए नक्षत्र गणना में अश्विनी नक्षत्र पहले आता है। ऐसा उल्लेख प्राप्त होता है कि उस समय मृगशिर में यह क्रान्ति होती थी जो समय ज्योतिष गणना के अनुसार ईशा से लगभग ४५०० पूर्व पड़ेगा। इस प्रकार तिलक ने प्राचीन वैदिक काल को तीन भागों में विभाजित किया—(१) आदि-

काल या पूर्वमृगशिर युग जोकि ई० पू० ६००० वर्ष से ई० पू० ४००० वर्ष तक विद्यमान रहा। (२) मृगशिर युग जोकि ४००० ई० पू० से २५०० ई० पू० तक रहा और (३) वसन्तसंपात युग (कृत्तिका युग) जो कि २५०० ई० पू० से १४०० ई० पू० पर्यन्त रहा। तिलक के अनुसार प्रथम युग में वैदिक रचनायें नहीं के बराबर हुई। द्वितीय युग वैदिक संस्कृति का प्रधान युग है। अधिकांश ऋग्वेद सूक्तों की रचना इसी काल में हुई। तीसरा युग ब्राह्मण और सूत्रग्रन्थों की रचनाओं का काल है।

तिलक के अनुसन्धानों से अपरिचित जैकोबी ने गणित के आधार पर इसी से मिलते-जुलते निष्कर्ष निकाले और सिद्ध किया कि ब्राह्मण-ग्रन्थों का रचना-काल ई० पू० २५०० वर्ष है जबकि वासन्तिक विषुव का प्रारम्भ कृत्तिकाओं से होता था। इससे स्वभावत: तिलक के इस निष्कर्ष की पुष्टि हो जाती है कि संहिताओं का रचनाकाल ई० पू० ४००० से ३००० वर्ष पूर्व रहा होगा। हो सकता है इससे दो हजार वर्ष पूर्व वेदों की रचना का प्रारम्भ हो गया हो। इसके अतिरिक्त भी इन विद्वानों ने वैदिक रचनाकाल की प्राचीनता सिद्ध की है।

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट है कि ऋग्वेद के सूक्तों की रचना सैकड़ों नहीं सहस्रों वर्षों के अन्तराल में फैली हुई है जिनका संकलन अनेक शताब्दियों बाद किया गया। समय के लम्बे व्यवधान के कारण इन सूक्तों को इस सीमा तक पवित्र धर्मग्रन्थ होने की प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई कि इन्हें अमानवीयकृत 'अपौरुषेय' ईश्वर कृत माना जाने लगा। इतने लम्बे समय में पृथक्-पृथक् कालों में रचित होने के कारण इनमें भाषा भेद भी अत्यधिक है और यद्यपि अनेकशः इनकी व्याख्या करने की चेष्टा की गई फिर भी इनमें ऐसा तत्त्व अब भी विद्यमान है जिसकी असन्दिग्ध व्याख्या की नहीं जा सकी है। बीच-बीच में अनेक आचार्यों ने व्याकरण विद्या पर विचार किया जिनमें गार्ग्य, शाकटायन, आपिशलि, शाकल्य स्फोटायन इत्यादि अनेक आचार्यों का उल्लेख पाणिनि ने भी किया है और उनके अतिरिक्त बृहस्पति, इन्द्र, भागुरि पौष्कर सादि इत्यादि अनेक आचार्यों का उल्लेख अन्यत्र भी पाया जाता है। ऋग्वेद का कुछ भाग अत्यन्त प्राचीन है जिसको केवल पाणिनि व्याकरण के आधार पर नहीं समझा जा सकता। इसीलिए इतने प्राचीन आचार्य कौत्स को यह कहने का साहस हुआ कि वेद का कोई अर्थ ही नहीं होता। किन्तु ऋग्वेद में ही कुछ भाग ऐसे हैं जो पाणिनि के निकटवर्ती प्रतीत होते हैं। सामान्यत: पारिवारिक मण्डलों में प्राचीनतम भाषा के तत्त्व पाये जाते है। प्रथम अष्टम और नवम मण्डलों की भाषा कुछ परवर्ती है जबकि दशम मण्डल और सामवेद, यजुर्वेद एवं

अथर्ववेद की भाषा परवर्ती संस्कृत के अत्यधिक निकट है। वैदिक भाषा में रूपों की विभिन्नता भी अत्यधिक है, बाद में संक्षेपण की प्रक्रिया अपनाई गई और संस्कृत में जहां एक दो प्रत्ययों से काम चलाया गया वहां वेदों में प्रत्यय बाहुल्य और रूप बाहुल्य भाषा में जटिलता उत्पन्न कर देते हैं।[1]

वैदिक गद्य ग्रन्थों की भाषा परवर्ती संस्कृत भाषा की ओर अधिक झुकी हुई है। इनमें वैदिक भाषा के चिह्न बहुत कम हो गये हैं। ब्राह्मण साहित्य भी बहुत विस्तृत और बहुकाल व्यापी है, अतः उसमें भी भाषाभेद अत्यधिक मात्रा में पाया जाता है। फिर भी अपने व्यापक रूप में उसमें परवर्ती संस्कृत का स्वरूप अधिक पाया जाता है। सूत्रग्रन्थों में तो वैदिक भाषा में चिह्न नाममात्र को ही शेष रह जाते हैं।

वैदिक उच्चभाषा के बाद संस्कृत या लौकिक संस्कृत का अवसर आता है। पाणिनि ने प्रकृति प्रत्ययों, विभक्तियों इत्यादि के माध्यम से भाषा को इतना स्थायी बना दिया कि उसमें परिवर्तन का कोई अवसर ही नहीं रह गया' विस्तृत भाषा को केवल ४००० सूत्रों में मर्यादित कर देना एक ऐसा चमत्कार पूर्ण कार्य था जिसकी तुलना विश्व में कहीं नहीं मिलती। पाणिनि ने अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणों को भी उचित सम्मान प्रदान किया और उनकी विधियों को वैकल्पिक विधि की मान्यता प्रदान की। उनकी दृष्टि वैदिक विधियों की ओर भी थी और जो विधियां अब तक यत्र-तत्र अपनाई जा रही थीं उनका उल्लेख कर व्यवस्था दे दी कि उनका प्रयोग केवल वेद में ही होता है लोक में नहीं। पाणिनि की व्यवस्था में दो-चार संशोधन कात्यायन ने प्रस्तुत किये, पाणिनि के सबसे बड़े व्याख्याता पतञ्जलि ने उन संशोधनों में कुछ को स्वीकार कर लिया और कुछ को सूत्रों से ही गतार्थ बतलाकर उनका खण्डन कर दिया। इस प्रकार लौकिक सस्कृत को परिपूर्णता प्रदान करने वाले ये तीन मुनि थे—पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि। इन मुनियों का और विशेष रूप से पाणिनि का इतना प्रभाव पड़ा कि उनके आदेश का अतिक्रमण करने का साहस किसी ऋषि, मुनि या महान लेखक में नहीं था। उनके आदेशों के विरुद्ध जो भी प्रयोग किया जाता था उसे अशुद्ध मान लिया गया। रामायण, महाभारत, पुराण इत्यादि महाग्रन्थों में कतिपय अतिक्रमण देखे जाते हैं जिन्हें या तो 'आर्ष' कहकर कुछ रियायत दे दी जाती है या पाणिनि पूर्ववर्ती कहकर उनका समाधान किया जाता है। इस प्रकार के अतिक्रमण अंगुलियों पर गिने जाने योग्य ही हैं। इस प्रकार भाषा को नियमबद्ध कर देने का एक दुष्परिणाम

१. संक्षिप्तीकरण प्रक्रिया के विषय में देखिये - प्रस्तुत पुस्तक पृ० १७-१८।

यह हुआ कि यह सर्वसाधारण की भाषा नहीं रही, किन्तु उसका सुपरिणाम यह हुआ कि स्थायी साहित्य के लिए एक दुर्लभ साधन प्राप्त हो गया। हम जानते हैं कि गुणाढ्य की बृहत्कथा भी रामायण, महाभारत जैसी विशाल रचना ही थी, किन्तु लोकभाषा (पैशाची) में लिखी होने के कारण वह लुप्त हो गई जबकि संस्कृत में लिखे हजारों वर्ष पुराने ग्रन्थों को हम उसी सुविधा के साथ पढ़ते हैं।

पालि और प्राकृत

भगवान् बुद्ध ने जनसमाज में धर्म प्रचार के लिए शिष्टों की भाषा के स्थान पर जनसमाज की लोकप्रचलित भाषा को अधिक उपयोगी समझा। ब्राह्मण धर्म अभिजात एवं सम्पन्न वर्ग से सम्बन्धित था जबकि बौद्ध और जैनधर्म लोककल्याण की भावना को लेकर चले थे। इनकी दृष्टि में समस्त मानवजाति थी और ये अपने धर्म को लौकिक (Secular) धर्म बनाना चाहते थे। अत: इनके लिए लौकिक भाषा का चुनाव भी एक अनिवार्य आवश्यकता थी। बुद्ध ने इस कार्य के लिए पालि भाषा को चुना और महावीर स्वामी ने जैनधर्म के प्रचार के लिए प्राकृत भाषा को अपनाया।

पालि भाषा के नामकरण पर अनेक विद्वानों ने अनेक प्रकार के अभिमत व्यक्त किये हैं—किसी ने पालि को पङ्क्ति परक बतलाया, डा० मैक्सवेलेसर इसे पाटलिपुत्र की पाडलि से उद्भूत मानते हैं, किसी अन्य विद्वान ने प्राकृत के पाअल रूप से पालि नाम की उत्पत्ति मानी है। किन्तु इसका सर्वाधिक तर्कसंगत नामकरण 'पल्ली' के आधार पर माना जाना चाहिए। पल्ली शब्द का अर्थ है छोटा गांव। बुद्ध ने ग्रामों में सामान्य रूप से प्रचलित भाषा में ही उपदेश देना उचित समझा और उसे पल्ली या पालिभाषा का नाम दिया। किंतु अपने उपदेशों को बहुप्रदेशव्यापी बनाने के लिए मागधी, शौरसेनी, पैशाची इत्यादि भाषाओं के शब्दों का स्वच्छन्दता पूर्वक प्रयोग किया। बौद्ध त्रिपिटकों की भाषा होने के कारण भारत के सुदूर प्रदेशों और विदेशों तक इसका प्रसार हुआ।

पालि भाषा जनसाधारण की भाषा (प्राकृत) की ही एक कड़ी है। पालि प्राकृत बुद्ध के आविर्भाव के पहले से आ रही थी जिसे भगवान् ने धर्म-प्रचार के लिए अपनाया और जो वास्तव में मागधी प्राकृत का ही साहित्य रूप थी। जैन आगमों के लिए जो प्राकृत अपनाई गई वह अर्धमागधी थी जबकि जैन-ग्रन्थों की टीकाओं के लिए महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग किया गया। इसी प्राकृत में जैन काव्यों की भी रचना हुई। संस्कृत नाटकों में भी गीतों के लिए इस भाषा का प्रयोग किया जाता रहा है। प्राकृतों में महाराष्ट्री प्राकृत सर्वो-

त्तम है। मथुरा के आस-पास बोली जाने वाली प्राकृत भाषा भी महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। इसका प्रयोग उच्च घराने की सम्भ्रान्त स्त्रियां करती हैं। मागधी प्रयोग नाटकों में निम्न श्रेणी के लोगों द्वारा किया जाता है। यह मगध की भाषा है। पैशाची और भी निकृष्ट भाषा है जो समाज के सबसे छोटे-तबके के लोगों के व्यवहार के लिए नाटकों में काम में लाई जाती है।

प्राकृतों का साहित्य में बहुल प्रयोग ई० की ५वीं शताब्दी तक होता रहा। बाद में प्राकृतों का ही जो विगड़ा रूप साहित्य में प्रविष्ट हुआ उसे अपभ्रंश (या बिगड़ी हुई) भाषा का अभिधान प्रदान किया गया। इसका थोड़ा बहुत नाटकों में भी प्रयोग हुआ है किन्तु प्रधान रूप से जैन प्रेम कथाओं में इसका व्यवहार किया गया।

अपभ्रंश भाषाओं के प्रयोग बाहुल्य का काल भी लगभग ५०० वर्ष का है। १००० ई० के आस-पास आधुनिक भारतीय भाषाओं का साहित्य क्षेत्र में समावेश हो गया और उनमें साहित्य रचना की जाने लगी। इन आधुनिक भाषाओं में हिन्दी का क्षेत्र सर्वाधिक विस्तीर्ण है और यह भाषा न्यूनाधिक रूप में प्राय: समस्त भारत में समझी जाती है, इसीलिए भारतीय संविधान में इसे राष्ट्रभाषा का पद दिया गया है। यह सुविधा पूर्वक सम्पर्क भाषा के रूप में स्वीकरणीय हो सकती है। इसकी उपभाषायें भी अनेक हैं राजस्थानी, भोज-पुरी, ब्रज, अवधी कन्नौजी इत्यादि अनेक भाषा-भाषी स्वयं को हिन्दी भाषी ही मानते हैं। वस्तुत: मेरठ और दिल्ली संभागों में प्रयुक्त होने वाली खड़ी बोली संस्कृत शब्दों के सम्मिश्रण से हिन्दी बनी है और अरबी फारसी के संमिश्रण से उर्दू कही जाती है जोकि मुसलमानी काल में राजभाषा रही और अंग्रेजी राज्य में भी जिसका राजकीय कार्यालयों में प्रयोग होता रहा। हिन्दी-उर्दू के अतिरिक्त बंगला, तमिल, मलयालम, मराठी, गुजराती इत्यादि प्रादे-शिक भाषाओं का साहित्य भी महत्त्वपूर्ण है। ये भाषायें भी कलात्मक सम्पन्नता में कम नहीं हैं। इन भाषाओं में भी अनेक गौरवग्रन्थों का निर्माण हुआ है।

ऋग्वेद का संकलन

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है ऋग्वेद की रचना अनेक शताब्दियों की साहित्य-साधना का परिणाम है। इन बिखरे हुए सूक्तों का संकलन भी अनेक शताब्दियों बाद किया गया। यद्यपि इसका उद्देश्य यज्ञविधि के लिए उपयुक्त मन्त्रों का संकलन करना ही था तथापि शुद्ध कलात्मक दृष्टि से लिखे हुए सूक्तों की भी कमी नहीं है। विण्टरनित्ज के शब्दों से 'बहुत से सूक्त न तो सूर्यदेव को अर्पित किए गए हैं, न अग्निदेव को, न आकाशदेव को, न वायुदेवों

तथा जलदेवों को, न उषा देवी को ये सूक्त अर्पित किए गए हैं, किन्तु स्वयं प्रकाशमान सूर्य, रात्रि के आकाश में चमकता हुआ चन्द्र, वेदी या चूल्हे से उठती हुई अग्नि की लपटें अथवा मेघों के मध्य से फूटने वाली बिजली की दीप्ति, दिन का निर्मल आकाश या रात्रि का नक्षत्रों से भरा हुआ आकाश, गरजता हुआ वायु, मेघों अथवा नदियों से प्रवाहित होने वाला जल, प्रकाशमयी उषा और विस्तीर्ण फलवती भूमि इन समस्त प्राकृतिक दृश्यों का कवित्वमय वर्णन किया गया है, पूजा की गई है और प्रार्थनायें की गई हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य के अतिरिक्त आख्यानमूलक एवं संवाद सूक्त इत्यादि दूसरे साहित्यिक महत्त्वपूर्ण विषयों का भी इस संकलन में समावेश किया गया है।

महर्षि पतञ्जलि ने लिखा है कि ऋग्वेद के २१ संकलन विद्यमान हैं! शौनकीय प्रातिशाख्य में ५ शाखाओं का उल्लेख मिलता है—शाकल, वाष्कल, आश्वालायन, शाङ्खायन और मण्डूक। शाकल इत्यादि ऋग्वेद के रचयिता नहीं किन्तु संकलनकर्ता हैं। इसीलिए ऋग्वेद में इन्हें ऋषि न मानकर आचार्य माना गया है। कहीं-कहीं ऐतरेयी और कौशीतकी इत्यादि दूसरी शाखाओं का भी उल्लेख पाया जाता है और विष्णु पुराण में भी कतिपय शाखा भेद प्रवर्तकों के नाम गिनाए गए हैं। किन्तु इस समय केवल शाकल संहिता ही उपलब्ध होती है। आजकल जब हम ऋग्वेद का नाम लेते हैं तो उसका अभिप्राय इसी शाकल संहिता से होता है। कहीं-कहीं दूसरी संहिताओं के कतिपय सूक्तों अथवा मन्त्रों को परिशिष्ट के रूप में शाकल संहिता में जोड़ दिया गया है। अष्टम मण्डल में वालखिल्य के ११ सूक्त तथा ८० मन्त्र परिशिष्ट रूप में जुड़े हुए हैं और वाष्कल संहिता के लगभग ३६ सूक्त स्थान-स्थान पर बिखरे हुए हैं। यहां प्रश्न उपस्थित होता है कि वालखिल्य के ये ८० मन्त्र और वाष्कल संहिता के ये छोटे-छोटे मन्त्र खण्ड शाकल संहिता में क्यों जुड़ गये। कारण स्पष्ट है—जब हम परवर्ती वैदिक साहित्य पर दृष्टिपात करते हैं और उसमें यज्ञविधि पर विचार करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि भिन्न-भिन्न वर्गों मे यज्ञ की भिन्न-भिन्न विधियां प्रचलित थीं तथा उन वर्गों में भी परिवारों के अनुसार ही यज्ञों की व्यवस्था होती थी। बाद में जब एक सामान्य विधि प्रवर्तित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई तब शाकल सम्प्रदाय में जो त्रुटियां ज्ञात होती थीं उनको पूरा करने के लिए वालखिल्य और वाष्कल शाखाओं से कुछ मन्त्र ले लिये गये। जब हम इतना मान लेते हैं कि बालखिल्य तथा वाष्कल संहिताओं के वे ही मन्त्र शाकल संहिता में समाविष्ट हो सके हैं जो शाकल शाखा में भी प्रतिष्ठित थे तब उस शाखा के यज्ञों में भी काम आते थे तब यह बात भी स्वभावतः सिद्ध हो जाती है कि शाकल संहिता भी केवल

इसीलिए जीवित रह सकी कि वह वर्ग-विशेष में सम्मानित थी। दूसरे वर्ग की विधियां और तत्सम्बद्ध साहित्य लुप्त हो गया। इससे सिद्ध होता है कि वर्तमान समय में ऋग्वेद के नाम पर जो साहित्य उपलब्ध होता है केवल उतना ही ऋग्वेद नहीं है किन्तु अनेक संहितायें कालकवलित हो गई है और विशाल साहित्य राशि का हमें केवल एक अंश अधिगत हो सका है। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि धार्मिक तथा पौरोहित्य साहित्य के अतिरिक्त दूसरे विषयों से संबद्ध भी कुछ न कुछ साहित्य अवश्य विद्यमान था। धार्मिक तथा पौरोहित्य साहित्य एक सम्प्रदाय के द्वारा सुरक्षित रखा जा सका और दूसरे प्रकार का साहित्य अकालकवलित हो गया।

वर्तमान ऋग्वेद का अर्थ शाकल संहिता ही है। इन शाकल का शाकल्य से निकटवर्ती सम्बन्ध है। शाकल्य का उल्लेख ब्राह्मण ग्रंथों तथा सूत्र ग्रंथों में अनेकशः किया गया है। महाभाष्यकार ने शाकल्य को वाहिकवंश वालों में गिनाया है। किन्तु शतपथ ब्राह्मण में शाकल्य को विदेहराज का गुरु और यालवल्क्य का प्रतिद्वन्द्वी बतलाया है। यास्क ने लिखा है कि शाकल्य ने ऋग्वेद के पदपाठ की रचना की। क्रम पाठ के रचयिता के रूप में पाञ्चाल बाभ्रव्य का उल्लेख मिलता है। इससे सिद्ध होता है कि ऋग्वेद का संकलन पदपाठ इत्यादि कार्य कुरु-पाञ्चाल तथा कोशल-विदेह के समृद्ध राज्यों में हुआ होगा। ऋक्प्रातिशाख्य में पाञ्चालों का उल्लेख किया गया है और उनको प्राच्य कहा गया है। इससे सिद्ध होता है कि मन्त्रों की रचना के बहुत बाद कुरु पाञ्चाल तथा कौशल विदेह राज्यों के समृद्ध हो जाने पर ही उनका संकलन किया गया होगा। ऋग्वेद के अनेक सूक्तों में आर्यों के पूर्व की ओर प्रसार का स्पष्ट वर्णन किया गया है। विश्वामित्र का शतलज और विपाशा से संवाद और उनको पार करने की चेष्टा का वर्णन इसी बात का परिचायक है। अनेक स्थानों पर आर्यों और अनार्यों के संघर्ष का वर्णन किया गया है। इस प्रकार ऋग्वेद के सूक्त ऐसे संघर्ष काल की रचना हैं जब आर्य लोग पंच-नद से पूव की ओर बढ़ने की चेष्टा कर रहे थे और उन्हें प्रतिद्वन्द्वियों के प्रतिरोध का सामना करना पड़ता था। इस प्रकार ऋग्वेद में एक ओर तो वीर भावों की बड़ी सुन्दर अभिव्यञ्जना हुई है और दूसरी ओर पारिवारिक जीवन का भी मनोमोहक चित्र उपस्थित किया गया है। यही कारण है कि हमें वैदिक साहित्य में कविता स्वच्छंद गति से प्रवाहित होती हुई दिखलाई देती है। इस काव्य का क्षेत्र बहुत ही व्यापक है तथा रसों, अलंकारों और छन्दों की विविधता एक अभूतपूर्व चमत्कार उत्पन्न करता है।

ऋग्वेद की काव्यकला

जातीय संघर्ष का प्रतिफलन होने के कारण ऋग्वेद में वीररस की प्रधानता एवं अन्य रसों की अपेक्षकृत न्यूनता है। वीररस का आश्रय इन्द्र हैं और आलम्बन अनेक असुर जो इन्द्र पर असफल बल प्रयोग की चेष्टा करते हैं और इन्द्र अनायास ही उनपर विजय प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं। स्पष्ट ही है कि हमारे ऋषियों ने आर्यों की विजय का श्रेय लौकिक साम्राटों को देना उचित नहीं समझा किन्तु इस विजय को इन्द्रदेव का प्रसाद ही माना है। (यद्यपि सम्राट का उल्लेख अनेक बार आया है) इस प्रकार एक ओर वे योद्धाओं के अवलेय की शान्ति करते थे और दूसरी ओर उन्हें रक्षक का ध्यान दिलाकर आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित करते थे। वीररस के परिपाक के लिए विरोधियों की वीरता को अधिक प्रसार नहीं दिया गया है किन्तु अनायास ही विजय लाभ दिखलाया गया है। युद्धवीर के साथ ही रौद्र, बीभत्स और भयानक का भी समावेश हो जाता है और धर्म वीरता भी स्थान-स्थान पर अधिगत होती है, किन्तु अपेक्षाकृत उसका प्रसार कम ही है।

शृङ्गार रस के क्षेत्र में भावनाओं का आरोप प्राकृतिक दृश्यों पर और विशेषकर उषा के प्रसंग में किया गया है। इस दिशा में आलम्बन का वैसा विस्तार दृष्टिगत नहीं होता जैसा कि परवर्ती साहित्य में उपलब्ध होता है। नखशिख तथा अंग-प्रत्यंग का वर्णन नहीं किया गया है किन्तु सामूहिक प्रभाव कोमलता, सुकुमारता, कामुकता का ही चित्रण दिखलाई देता है। कहीं-कहीं विशेष अवस्था का भी वर्णन किया गया है जैसे सद्यःस्नाता इत्यादि के प्रसंग में। अभिसार के दोनों रूप इसमें विद्यमान है—एक ओर तो नायिका-नायक को अभिसार कराती है और दूसरी नायिका स्वयं अभिसार करती है। वासकसज्जा का भी चित्रण उषा के प्रसंग में दिखलाई देता है। सञ्चारी भावों में लज्जा अवहित्था इत्यादि प्रमुख सञ्चारियों का ही चित्रण किया गया है, अन्य भावों की उपेक्षा की गई हैं। प्रेम के प्रत्याख्यान का भी अच्छा चित्रण है। एक ओर स्त्री के प्रणय की अवहेलना पुरुष की ओर से दिखलाई गई है और दूसरी ओर पुरुष के प्रणय की अवहेलना स्त्री की ओर से दिखलाई गई है। इस दिशा में मानसिक सन्ताप और भावना की तीव्रता का वर्णन प्रशंसनीय है। शृङ्गार रस में स्वकीया और परकीया दोनों प्रकार की नायिकाओं का चित्रण है। रस और रसाभास दोनों के उदाहरण विद्यमान है। ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य दोनों रूपों में शृङ्गार रस का उपादान हुआ है। इस प्रकार शृङ्गार रस का चित्रण बहुमुखी है और उसमें माधुर्य गुण का नितान्त बाहुल्य है; कहीं-कहीं अश्लील शब्दों का भी प्रयोग किया गया है जो कि भरत के

अनुसार हास्यरस की सीमा में सन्निविष्ट हो जाते हैं। मृत व्यक्तियों और आहत सैनिक के प्रसंग में करुण रस की हल्की-सी छाया दिखलाई देती है किन्तु इसका अत्यधिक समावेश नहीं किया गया है। यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय में जो कि ईशावास्योपनिषद के नाम से प्रसिद्ध है शान्तरस अधिगत होता है।

ऋग्वेद में उपमाओं की भरमार है। ये उपमायें अधिकतर अनायास ही आई हैं और रस की परिपोषक हैं। औपम्यमूलक दूसरे भी अलंकार यथा-स्थान आ गए हैं जिनमें मालोपमा; रूपक:रूपकातिशयोक्ति इत्यादि प्रमुख हैं। कहीं-कहीं कार्य कारण भावमूलक अलंकार भी विद्यमान हैं और विरोध मूलक अलंकार भी अधिक चमत्कार कारक हैं। शब्दालंकार भी अपना पृथक् महत्त्व रखते हैं। अनुप्रास प्रयोग तो एक साधारण सी बात है -- यमक, पुनरुक्तवदाभास[1] जैसे प्रौढकलात्मक उदाहरण भी उपस्थित हैं संकर और संसृष्टि की भी कमी नहीं है। जहां अर्थशक्ति मूलक ध्वनियों में वस्तु और अलंकार दोनों की ध्वनि पाई जाती है वहां शब्द शक्ति मूलक ध्वनि के भेद यत्र-तत्र विद्यमान हैं। ऋग्वेद वस्तुत: मुक्तक प्रगीतों का संग्रह है जिसमें धार्मिक दृष्टिकोण काव्य सौन्दर्य के आवरण में प्रस्तुत किया गया है। काव्य की परवर्ती सैद्धान्तिक रूढ़ियों का बहुल्य तो इसमें नहीं है फिर भी काव्य जगत की शास्त्रीय पराधीनता भी इसमें नहीं है। भावों का अप्रतिबद्ध, स्वच्छन्द उच्छलन इनकी विशेषता है। ध्वनिकार के अनुसार वही अलंकार रस पोषक होता है जो आश्चर्यभूत हो अर्थात् जिसके प्रयोग में कवि को आश्चर्य हो जाय कि इस अलंकार का प्रयोग तो मैंने किया ही नहीं था यह अलंकार आ कैसे गया। अलंकार के मन्तव्य से अलंकारों का प्रयोग कविता को बिगाड़ देता है। ऋग्वेद के मन्त्रों में अलंकारों के प्रयोग में स्वच्छन्द प्रवाह है जो इस काव्य को कला का चरमोत्कर्ष प्रदान कर देता है।

वेद की दूसरी संहितायें सामवेद, यजुर्वेद और अर्थर्ववेद क्रमश: संगीत यज्ञ और अभिचार के मन्तव्य से लिखे गए हैं। इनमें प्रथम दो में ऋग्वेद से अधिकांश मन्त्रों का उपादान हुआ है। जो मौलिक मन्त्र है उनमें भी प्रवृत्ति ऋग्वेद की हैं। अथर्ववेद का भी कुछ भाग ऋग्वेद से मेल खाता है। ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञीय विधि पर विचार करने वाले गद्य ग्रन्थ हैं और आरण्यक एवं उप-

---

१. 'यत्र वाणा सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव' यहां 'वाणा' और 'विशिखा' में पुनरुक्तवदाभास है।

निषद् निगूढ़ सिद्धान्त विषयक निवृत्तिवादी ग्रन्थ हैं। वैदिक साहित्य की यहीं समाप्ति हो जाती है।

अन्तरालवर्ती साहित्य

जब हम वैदिक साहित्य की ड्योढ़ी को पारकर बाहर आते हैं तब हमें एक नये साहित्य के दर्शन होते हैं जिसे सामान्य रूप से लौकिक संस्कृत के समान लौकिक साहित्य की संज्ञा दी जाती है। किन्तु भाषा और साहित्य का कोई भी परिवर्तन अकस्मात् कभी नहीं होता; धीरे धीरे नई प्रवृत्तियां पनपती रहती हैं, उनमें दृढ़ता आती जाती है और फिर नई प्रवृति अपना स्थायी स्वरूप धारण कर सजधज के साथ साहित्य के रंगमञ्च पर अवतीर्ण हो जाती है। मध्यवर्ती रचनायें पृष्ठभूमि का कार्य करती हैं और उन्हीं को आधार शिला बनाकर नए साहित्य भवन का निर्माण किया जाता है।

जिसे हम वास्तविक लौकिक साहित्य कहते हैं और जिसमें लौकिक भावना का भी निर्वाह किया गया है उसका प्रवर्तन ईसवी सन् के प्रारम्भ के आस-पास होता है—ललित कला के क्षेत्र में जिसे शास्त्रीय साहित्य, दरबारी काव्य इत्यादि नामों से अभिहित किया जाता है। वैदिककाल के उपरान्त यहां तक पहुंचते-पहुंचते कई शताब्दियां व्यतीत हो गई थीं। निसन्देह इस बीच में कई स्फुट रचनायें प्रकाश में आई होंगी जो आगे चलकर शास्त्रीय साहित्य के विकास में कारण बनीं। किन्तु वे कृतियां काल कवलित हो गई; अब उनका कोई भी अभिज्ञान अधिगत नहीं होता। उस काल की या तो बौद्ध जैन सूक्तियां प्राप्त होती हैं या फिर बौद्ध जैन तथा तदितर साहित्य के कुछ कथानक प्राप्त होते हैं जिनमें कुछ का आधार वैदिक साहित्य भी है।

इतिहास ने एक बार पुनः स्वयं को दोहराया। जिस प्रकार अनेक शताब्दियों में बिखरे हुए सूक्तों को ऋग्वेद के रूप में संकलित किया गया उसी प्रकार पहले से चले आ रहे ८००० श्लोकों के जय नामक इतिहास में समस्त बिखरे हुए साहित्य का समावेश कर महाभारत के नाम से एक महान ग्रन्थ की रचना कर दी गई जो वास्तव में एक महाकाव्य नहीं एक महाग्रन्थ है। वैदिककाल में भी अनेक कथा काव्यों का जाल बिछा हुआ था। यज्ञों के अवसर पर उपस्थित जन-समूह के अनुरञ्जन के लिए इन कथाओं का उपयोग किया जाता था—कथाओं का वाचन होता है, छोटे छोटे अभिनय होते थे, वाद्ययन्त्रों के साथ गाथाओं को प्रस्तुत किया जाता था, एक ओर यज्ञ चलता रहता था और दूसरी ओर उपस्थित जनता के मनोरन्जन के लिए इस प्रकार के साहित्यिक आयोजन चलते रहते थे जिनका यत्किश्चिद्दर्शन हमें वैदिक साहित्य में यत्र तत्र हो जाता है। इस प्रकार के कथानकों की छाया

संहिताओं में तो मिलती ही है ब्राह्मण ग्रन्थों, गृह्य सूत्रों, उपनिषदों इत्यादि में कुछ आगे वढ़ा हुआ वर्णन पाया जाता है। महाभारत में यद्यपि भरतवंशियों (कुरुओं) के कथानक को सर्वत्र प्रमुखता प्रदान की गई है तथापि विखरे हुए प्रायः सभी कथानकों को समेट लेना भी उसका लक्ष्य प्रतीत होता है। इन प्रचीन आख्यानों को कहीं विस्तार के साथ, कहीं संक्षेप में, कहीं विशुद्ध रूप में कहीं परिवर्तित रूप में महा भारत में स्थान दिया गया है। इसमें प्राचीन वीर कविता है, ब्राह्मण कथायें और स्फुट आख्यान है, पशुकथायें हैं, उदाहरण कथायें हैं, नीति संवाद है, राजनीति, सामान्य नीति, धर्म नीति इत्यादि अनेक क्षेत्रों से सम्बन्धित सूक्ति साहित्य है, आपद्धर्म और मोक्ष धर्म के प्रकरण है, दार्शनिक विवेचन हैं, गीता जैसा लोकोत्तर ग्रन्थ इसी महाग्रन्थ में सन्निविष्ट किया गया है, साथ ही काम शास्त्र की छाप भी इसमें पाई जाती है। यह अपने वर्तमान रूप में इतिहास है, पुराण है, सूक्ति साहित्य है, राजाशास्त्र है, धर्म शास्त्र है, कामशास्त्र है; संक्षेप में तत्कालीन साहित्य शब्द से अभिहित किया जाने वाला प्रायः प्रत्येक तत्व इसमें विद्यमान है। इसका यह दावा सही प्रमाणित होता है कि जो इसमें है वह अन्यत्र है और जो इसमें नहीं है वह अन्यत्र भी नहीं है।

रामायण का स्वरूप महाभारत से भिन्न है। रामायण का मूलरूप अयोध्या काण्ड से लंका काण्ड तक ५ काण्डों में ही सीमित सिद्ध होता है। यह एक व्यवस्थित रूप वाला महाकाव्य है जिसमें एक कथानक है जिसमें सन्धि-सन्ध्यङ्गों अर्थप्रकृतियों इत्यादि की सुविधापूर्वक व्याख्या की जा सकती है। इसमें तत्कालीन समाज का चित्रण किया गया है; साथ ही ललित कला के क्षेत्र में आने वाले प्राकृतिक सौन्दर्य परक काव्य को भी यत्र-तत्र प्रमुखता प्रदान की गई है। इसमें रसात्मकता भरपूर है जो इसे महाकाव्य की प्रतिष्ठा प्रदान करने में सर्वथा समर्थ है। महाभारत की अपेक्षा रामायण का पारवारिक जीवन हमें अपने निकट अधिक प्रतीत होता है। इस प्रकार रामायण एक महाकाव्य है और सच्चे अर्थ में आदिकाव्य भी है यद्यपि वालकाण्ड और उत्तरकाण्ड जोड़कर इसे पौराणिकता का स्वरूप प्रदान करने की चेष्टा की गई है।

उक्त महाग्रन्थों की श्रेणी में १८ पुराण भी आते हैं। महाभारत तो स्वयं को पुराण कहता भी है और पुराणों की अभिशंसा भी करता है। काव्य रूप में लिखी वाल्मीकि रामायण में भी पहले और अन्तिम सर्ग जोड़कर उसे पुराण रूपता प्रदान कर दी गई है। पुराणों की एक विशिष्ट शैली है जिसमें वक्ता और श्रोता के संवाद के रूप में पुराने कथानकों (पुराणम् आख्यानम्) का प्रकथन किया जाता है। वस्तुतः पुराण बहुत पुरानी कृतियां हैं। वैदिक

साहित्य में अनेकशः पुराण शब्द पाया जाता है। पता नहीं उस समय पुराण नाम से किन्हीं कृतियों का अभिधान किया जाता था या परम्परागत किसी पुरानी घटना को पुराण कह दिया जाता था। पुराण कोई कृतियां हैं इसका परिचय हमें सूत्रकाल से मिलने लगता है। धर्म सूत्रों में कहीं कहीं पुराणों के उद्धरण भी दिए गए हैं। यद्यपि वे उद्धरण वर्तमान पुराणों में मिलते नहीं हैं फिर भी उनके उल्लेख जैसी परिस्थितियां उनमें अवश्य विद्यमान हैं। हो सकता है प्राचीन पुराण किसी अन्य रूप में हो और वर्तमान पुराण उन्हीं के परिवर्तित परिवर्धित रूप हों। कुछ लोगों का विचार है कि प्राचीन पुराण केवल एक था, बाद में उसी के १८ विभाग कर दिए गए।

ये पवित्र ग्रन्थ हैं और समाज में इनकी धर्मरूपता स्वीकार की जाती है। इनके अनुष्ठान किए जाते हैं. पारायण किए जाते हैं और व्यासासन से इनकी कथायें कही सुनी जाती हैं तथा उनके श्रवण और कभी-कभी पाठ में पुण्यलाभ माना जाता है। धार्मिक दृष्टि से इन्हें वेदों की अपेक्षा कुछ घटकर माना जाता है किन्तु सरल एवं सर्वजनसंवेद्य तथा सार्ववर्णिक होने के कारण वेदों की अपेक्षा इनका परिशीलन अधिक किया जाता है।

पुराणों के साथ एक विचित्र समस्या यह है कि महाभारत और उसके परिशिष्ट हरिवंश पुराण में १८ पुराणों का उल्लेख किया गया हैं और सभी १८ पुराणों में महाभारत का नाम आता है। केवल इतना ही नहीं किन्तु सभी पुराणों में सभी पुराणों का नाम पाया जाता है। देखने में यह विरोध मालूम पड़ता है किन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं। सभी पुराणों में निरन्तर परिवर्तन होता रहा है और बाद की घटनाओं को पुराण रूप में उनमें जोड़ा जाता रहा है। यह परिवर्तन और परिवर्धन १३वीं शताब्दी तक तो हुआ ही है कतिपय विचारकों का कहना है कि यह परिवर्धन दो एक शताब्दी पूर्व तक भी होता रहा है। अतः किसी पुराण को पूर्ववर्ती या परिवर्ती कहना संगत ही नहीं हो सकता।

पुराणों का अधिकांश भाग वर्तमान सम्मिश्रण ही है। साथ ही उनमें वैदिक काल के प्राचीनतम कथानक भी विद्यमान हैं और उनका तत्कालीन स्वरूप भी प्राप्त हो जाता है। अतएव विद्वानों ने निष्कर्ष निकाला है कि पुरानी बोतलों में नई शराब भरी हुई है। इस परिवर्धन से भारतीय साहित्य और समाज का एक बहुत बड़ा उपकार हुआ है—इसमें राजघरानों की वंशावलियां जोड़ी गई हैं, शासकों के नाम दिए गए हैं। इसमें शुंग, नाग, नन्द, मौर्य, गुप्त इत्यादि की सूची दी गई है बिम्बिसार, अजात शत्रु इत्यादि राजाओं का उल्लेख भी किया गया है। राजघरानों की शासन व्यवस्था का भी इसमें वर्णन मिलता है। यह कोई व्यवस्थित इतिहास नहीं है। और न प्रामाणिक

ही है किन्तु विवेक के साथ अध्ययन करने में इससे इतिहास के क्षेत्र में बहुमूल्य सहायता प्राप्त होती है। इस समस्त साहित्य को भारतीय समाज में धार्मिक साहित्य की मान्यता मिली हुई है। भारतीय परम्परा पुराणों को व्यासकृत मानती है जो कि विष्णु के अवतार थे। इस प्रकार इनकी दैवी उत्पति सिद्ध हो जाती है। शङ्कराचार्य और रामानुज प्रमाण रूप में इनके उद्धरण देते हैं। शंकराचार्य का कहना है कि पुराण केवल वेदों पर ही आधारित नहीं है, किन्तु व्यास इत्यादि साधकों ने देवताओं का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर इनकी रचना की थी और वस्तुतत्व की अन्तरात्मा को उन्होंने पहिचाना था। अतः उनका ज्ञान निर्भ्रान्त था और वह प्रामाणिक कोटि में आता है।

दरबारी-साहित्य

ईसासन् के आरम्भ के आसपास कविता का नवोत्थान दृष्टिगत होता है। भाषा, शैली, वस्तु योजना इत्यादि प्रत्येक दृष्टि से नवीन नेपथ्य में सजकर कविता रंगमन्च पर अवतीर्ण होती है। अभी तक कविता में कथ्य की प्रधानता रहती थी अब कथ्य के स्थान पर शैली ने प्रमुखता प्राप्त कर ली जिसके निर्देशन के लिये काव्य शास्त्र की अनेक कृतियां और अनेक सम्प्रदाय तैयार हो गए। कवि लोग जहां भाषा के क्षेत्र में पाणिनि के निर्देशों को नतमस्तक होकर स्वीकार करने के लिए बाध्य थे वहां काव्यशास्त्र की मर्यादाओं का पालन करने के लिए भी पराधीन थे और अनेक कवि शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया ही कविता करने में सफलता मानते थे। अतः इस प्रकार की कविता को शास्त्रीय कविता का अभिधान प्राप्त हो गया। यह कविता प्रायः राजदरबारों के आश्रय में पनपी थी। कहीं-कहीं स्वयं राजा भी कवि होते थे और कभी-कभी राजदरबारी कवि राजा को अपनी रचना समर्पित कर देते थे और वह कविता उस राजा के नाम पर प्रसिद्ध हो जाती थी। कविता के अतिरिक्त दूसरे प्रकार के साहित्य भी दरबारी आश्रय में ही तैयार किये जाते थे अतः उस काल के साहित्य को दरबारी साहित्य तथा दरबारी काव्य कहा जाता है। इस साहित्य पर दरबारी वातावरण का प्रभाव है। अतः जिस प्रकार पुराणों के ऐतिहासिक निर्देशों को समझने के लिए तत्कालीन राजनैतिक और सामाजिक परिवेष का अध्ययन उपयोगी है उसी प्रकार दरबारी शास्त्रीय साहित्य के लिए भी उसका अध्ययन अपेक्षित है। अतः निम्न पंक्तियों में तत्कालीन राजनीति और समाज का संक्षिप्त परिचय दिया जा जा रहा है

तत्कालीन राजनैतिक स्थिति

विशाल भारत देश छोटे बड़े अनेक राज्यों में विभाजित रहा है। इनका परस्पर संघर्ष और एकच्छत्र राज्य का प्रभुत्व प्राप्त करने की चेष्टा भारत का

इतिहास रहा है। दूसरी ओर सम्पन्न भारत भूमि पर अधिकार की लालसा के साथ विदेशियों के आक्रमण और उनके प्रतिरोध की चेष्टा भी भारतीय इतिहास का महत्त्वपूर्ण अंग है। इन सब संघर्षों से भारत का जन-जीवन निरन्तर व्यस्त रहा है। किन्तु ईसासन् के प्रारम्भ के आसपास जन-जीवन अपेक्षाकृत शान्त और सुस्थिर दृष्टिगत होता है। इस काल में किसी महत्त्व-पूर्ण संघर्ष के दर्शन नहीं होते। शक कुषाण और यूनान के आक्रमण अतीत की घटना बन गए थे और हूण लोगों का आक्रमण लगभग ४०० वर्ष बाद होने को था। शक इत्यादि विदेशी आक्रान्ता छोटे-छोटे भूखण्डों में राज्य स्थापित कर पूर्ण सन्तोष का जीवन बिता रहे थे और हूण लोग भारत की सीमा तक आकर रुक गये थे। वे उस समय भारत प्रवेश के लिये प्रयत्नशील नहीं थे।

कहा जाता है शक लोगों के चार सत्रप मथुरा, तक्ष शिला और काठिया-वाड़ और मालवा में रहते थे। इनमें मथुरा और तक्षशिला इन दोनों प्रदेशों का कोई क्रमबद्ध इतिहास नहीं मिलता और न कोई नामावली ही प्राप्त होती है। किन्तु पश्चिम के मालवा और काठियावाड़ इन दो सत्रपों का विस्तृत इतिहास प्राप्त होता है जिससे पता चलता है कि इन स्थानों पर शक लोगों का लगभग ३०० वर्ष पर्यन्त अखण्ड साम्राज्य बना रहा। ये लोग स्वयं को सत्रप (वाइसराय) ही कहते थे किन्तु इस बात का पता नहीं चलता कि ये किसके सत्रप थे। वास्तव में ये लोग स्वयं शासक थे और भारत में ये पूर्ण सन्तुष्ट थे। इनका विदेशों से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं था। इन शक-शत्रपों में क्षहरातवंश का भूमक अधिक प्रसिद्ध था। इसके बाद नहपान का शासन हुआ जिसे आन्ध्र के गौतिमी पुत्र शातकर्णी से एक भीषण पराजय का सामना करना पड़ा। रुद्रदामन ने शक साम्राज्य का अत्यधिक विस्तार कर दिया था। विदेशियों में दूसरी जाति कुषाण लोगों की थी। ये लोग हूणों से अक्रान्त होकर भारत में आए थे। इन लोगों ने शकों को पराजित कर हिन्दू-कुश के दोनों ओर अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया था। इन शासकों में सर्वाधिक प्रसिद्ध कनिष्क था जिसने मगध साम्राज्य के कुछ भाग और काश्मीर पर विजय प्राप्त कर अपना राज्य काशी तक विस्तारित कर लिया था। हाल में मथुरा की खुदाई में भी कनिष्क की मूर्ति मिली थी। इससे ज्ञात होता है कि शकों के उत्तरी सत्रपों पर भी कुषाण लोगों का आधिपत्य हो गया था। कनिष्क का यश विजय और राज्य के विस्तार में उतना अधिक नहीं जितना कि कला और साहित्य के आश्रयदाता के रूप में है। शक और कुषाण लोगों के अतिरिक्त यूनानी और पर्दियन लोगों ने भी अपने छोटे छोटे राज्य स्थापित कर लिये थे। इन लोगों के छोटे-छोटे प्रदेश पंजाब और सीमाप्रान्त

के आस-पास स्थापित थे जहां इन्होंने लगभग २०० वर्ष पर्यन्त राज्य किया। इनमें यूनान का मिनेण्डर अत्यन्त प्रसिद्ध था। उन दिनों भारत में विदेशियों के ये ही उपनिवेश थे। परवर्ती मुस्लिम आक्रान्ताओं के असमान ये जातियां अपने साथ न तो कोई विशेष उद्देश्य लेकर आई थीं और न विदेशों से इनका सम्बन्ध ही शेष रहा। ये पूर्णरूप से भारतीयता में ढल गए थे। अपने पुत्रों का रुद्रदामन इत्यादि भारतीय नामकरण, रुद्रदामन की पुत्री का आन्ध्र नरेश शातकर्णी से विवाह, मिनेण्डर का मिलिन्द बन जाना, कनिष्क का भारतीयकला, साहित्य और संस्कृति को आश्रय देना तथा बौद्ध धर्म की चतुर्थ संगीति का आयोजन और बौद्ध धर्म का प्रचार कतिपय ऐसी विशेषतायें हैं जो इनकी भारतानुराग की मनोवृत्ति को पूर्णरूप से प्रकट करती हैं। अब भारत उनका अपनादेश बन गया था।

विदेशी शासक शान्त और संघर्षहीन शासन चला ही रहे थे, भारतीय नरेशों में भी कोई विशेष संघर्ष नहीं था। मगध का विस्तृत समृद्ध साम्राज्य नामशेष हो चुका था, आन्ध्र राज्य नाममात्र को ही मौर्यों के आधिपत्य में था वैसे उसे आन्तरिक स्वतन्त्रता पूर्णरूप से प्राप्त थी। अशोक महान् की मृत्यु के बाद आन्ध्र पूर्णरूप से स्वाधीन हो गया था। मौर्यों का मगध साम्राज्य जो एक दिन गंगा के मुहाने से काबुल कन्दहार तक फैला था अशोक के मरते ही छिन्न-भिन्न हो गया। मौर्यों के राज्य का पश्चिमी भाग कुषाण वंश वालों के हाथ में चला गया, पूर्वी भाग पर कलिंग के खारवेल ने विजय प्राप्त कर ली, यद्यपि अशोक की मृत्यु के कुछ समय बाद शुंगवंशीय सेनापति पुष्यमित्र तथा उसके अनुवंश्यों ने तथा बाद में कण्व वंश वालों ने मगध की प्रतिष्ठा स्थापित करने की चेष्टा की किन्तु बचे-खुचे भाग को आन्ध्रनरेश सिमुक ने कण्ववंशीय अन्तिम नरेश की हत्या कर आन्ध्र राज्य में मिला लिया। इस समय आन्ध्र राज्य सर्वाधिक महत्त्वशाली था यहां शातवाहन या शालिवाहन का शासन था। इसकी एक राजधानी प्रतिष्ठान वर्तमान पैठान में और दूसरी कृष्णा नदी के तट पर धान्यकण्टक में स्थित थी। इस समय आन्ध्र का प्रभुत्व समस्त दक्षिणापथ पर था और सर्वाधिक शक्तिशाली राज्य था। इनका प्रतिष्ठित शासक शालिवाहन कलाकारों और कवियों का आश्रयदाता था और स्वयं भी कवि था जिसने हाल के नाम पर गाथासप्तशती की रचना की थी। वृहत्कथा का लेखक गुणाढ्य जैसा कलाकार और कलाप व्याकरण का लेखक शर्ववर्मा जैसा विद्वान् इन्हीं के सभारत्न थे।

संक्षेप में उस समय चार प्रमुख राज्य स्थापित थे कुषाण लोगों का हिन्दूकुश से काशी तक का राज्य, पश्चिम में काठियाबाड़ तथा मालवा में

शक सत्रप राज्य कर रहे थे, दक्षिण भारत में आन्ध्र के शातवाहनों का राज्य था। इनके अतिरिक्त पंजाब के छोटे-छोटे भू-भागों पर यूनानी और पर्दियन लोग भी राज्य कर रहे थे। छोटे-छोटे राज्यों में प्राचीन पञ्चाल, वत्स और कौशल के राज्यों के ध्वंसावशेष भी विद्यमान थे जहां कुछ तो पुष्यमित्र के वंशज शुंगवंशीय थे और कुछ कण्ववंशीय। विदिशा (भेलसा), कान्तिपुरी; मथुरा और पद्मावती में नागवंशीय लोगों का तथा राजस्थान में मालववंश वालों का प्रभुत्व था। पश्चिम में कहीं-कहीं गणतन्त्र भी स्थापित थे। कृष्णा तथा तुंगभद्रा के दक्षिणी प्रदेश में पाण्डय, चोल तथा चेल वंशवालों का आधिपत्य था किन्तु इनमें किसी राज्य का क्रमबद्ध इतिहास नहीं मिलता है। इस काल में जनजीवन को आक्रान्त करने वाला कोई विशिष्ट संघर्ष दृष्टिगत नहीं होता है।

आन्ध्र की केन्द्रीय शक्ति के छिन्न-भिन्न हो जाने पर वाकाटक वंश वालों का प्राधान्य दक्षिण भारत में बढ़ता गया। उत्तर भारत में मगध की पताका एक बार फिर फहराने लगी। समुद्रगुप्त का लगभग समस्त भारत पर प्रभुत्व स्थापित हो गया। ब्रह्मपुत्र से लेकर यमुना और चम्बल तक और हिमालय से लेकर भेलसा तथा जबलपुर तक गुप्त सम्राटों का प्रत्यक्ष शासन था। इस सीमा के इधर-उधर करद राजा राज्य करते थे। दूसरे राजा शक और कुषाण करद न होकर भी गुप्त सम्राटों के नियन्त्रण में रहने में ही भलाई समझते थे। दक्षिण भारत की १२ रियासतें जीत कर पुनः स्थापित कर दी गई थीं और यद्यपि वे कर नहीं देते थे तथापि किसी न किसी रूप में भेंटें देते ही रहते थे। इसके उपरान्त चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने शकों का भी अन्त कर शकारि की उपाधि धारण की। यद्यपि हूणों के आक्रमणों से भारतीय जन जीवन में सामयिक विभीषिका उत्पन्न हो गई थी तथापि पहले तो स्कन्दगुप्त ने उनका सफलता पूर्वक दमन कर दिया और बाद में मालवा के यशोधर्मा तथा गुप्तवंशीय नरसिंह गुप्त बालादित्य के द्वारा अन्तिम हूण आक्रान्ता मिहिरकुल का अन्त कर दिया गया और रहे-सहे हूण भी भारतीय समाज में विलीन हो गये। इस प्रकार लगभग सप्तम शताब्दी (महाराज हर्ष के समय) तक भारत राजनैतिक दृष्टि से सर्वथा प्रशस्त पद का अधिकारी बना रहा। बीच-बीच के छोटे-मोटे उपद्रव सामयिक ही रहे और कला तथा साहित्य पर उनका अधिक प्रभाव नहीं पड़ा। महाराज हर्ष के बाद भारत का इतिहास अन्तःकलह और उपद्रवों का इतिहास है। यद्यपि इस समय में भी कुछ राजा लोग अधिक शक्तिशाली हो गये और किसी किसी ने अधिक विस्तृत क्षेत्र में शासन स्थापित कर लिया तथापि जिस अन्तःकलह के कारण भारत में विदेशी सत्ता की

स्थापना हुई उसके कुछ चिह्न महाराज हर्ष के बाद ही दृष्टिगत होने लगे थे। किन्तु इस काल में भी कला तथा साहित्य को राजाश्रय अवाध गति से प्राप्त होता रहा। फिर भी हम इस युग को कला तथा साहित्य का ह्रास युग ही कहेंगे। यद्यपि इस काल में भी भोज जैसे राजा लोगों का प्रश्रय प्राप्त होता रहा तथापि कला के क्षेत्र में लोकातिशायी किसी कृति के दर्शन हमें प्राप्त नहीं हुए।

आर्थिक स्थिति

जिस प्रकार उस समय की राजनीति पूर्ण शान्त थी उसी प्रकार आर्थिक स्थिति भी सन्तोषजनक थी। व्यवसाय और उद्योग का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था और जनजीवन चिन्ता से सर्वथा मुक्त था। यों तो भारतीय पोतविद्या तथा वैदेशिक व्यापार का उल्लेख भारत के प्राचीनतम साहित्य में समुपलब्ध होता है। पुरातत्त्ववेत्ता विद्वान् इस बात से सहमत हैं कि ई० पू० ८वीं शताब्दी में भारत का जल-स्थल दोनों मार्गों से व्यापार वहुत अधिक वढ़ गया था। भारतीय व्यापारिक पोत अनेक वस्तुओं को लेकर मैसोपोटमियां, अरव, फोनेशिया और मिश्र इत्यादि देशों में जाया करते थे। चीन और फारस से भी भारतीय व्यापार अत्यन्त प्राचीन काल से होता रहा था। किन्तु मौर्य काल में सामुद्रिक यात्रा और वैदेशिक व्यापार के पृथक्-पृथक् विभाग बना दिए गए और इस प्रकार भारत में असंख्य धन राशि इन व्यापारों के वल पर आती थी। हमें प्राचीन लेखों से अवगत होता है कि फिलाडेल्फिया के समारोहों में भारतीयता का समावेश अत्यधिक हुआ करता था और वहां पर भवनों की पंक्ति में भारतीय रत्नों की सजावट देखने योग्य होती थी। अलेक्जेण्ड्रिया के साथ भारतीय व्यापारियों का एक प्रधान गढ़ था और नील नदी के आसपास के प्रदेश भारत के साथ व्यापार करने की सर्वदा चेष्टा किया करते थे। पाश्चात्य देशों से सांस्कृतिक आदान-प्रदान व्यापार के ही कारण हुआ था। अनेक ईसाई ईसा के जन्म काल में ही भारत में आ गये थे और भारत ने अनेक देशों में सभ्यता और संस्कृति का प्रसार किया था। यूनान और मिश्र के एक व्यापारी की प्रथम शताब्दी की लिखी हुई एक पुस्तक में भारत के उस समय के व्यापार का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। उसने लिखा है उस समय भारत का समुद्रतट पूर्ण रूप से बन्दरगाहों तथा जहाजों के ठहरने के स्थानों से जड़ा हुआ था। इन बन्दरगाहों से मसाले, सुगन्धित द्रव्य, औषधियां, जवाहरात, सूती वस्त्र इत्यदि विदेशों को जाते थे। भारतीय व्यापार की महत्ता और विस्तार का इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि प्लिनी के अनुसार रोम राज्य की ५० लाख स्वर्ण मुद्रायें भारत में प्रतिवर्ष

आया करती थीं। इस कथन की पुष्टि इस बात से भी होती है कि दक्षिण भारत में खोज करने पर रोम राज्य की बहुत सी स्वर्ण मुद्रायें प्राप्त हुई हैं। जोकि यथासम्भव व्यापार में ही प्राप्त हुई होंगी। रोम के साथ यह व्यापार ईसा की तीसरी शताब्दी तक चलता रहा। इन तीन सौ वर्षों में भारत के ९ राज दूतावासों का उल्लेख मिलता है जिनकी नियुक्ति रोम राज्य में की गई थी।

अनन्त विस्तृत वैदेशिक व्यापार ने भारत के आन्तरिक व्यापार को भी अभिवृद्ध बनाने का असीमित क्षेत्र उत्पन्न कर दिया था। उस समय के साहित्य को देखने से अवगत होता है कि व्यापार के लिए राज्य की ओर से अनेक विधान बने हुए थे और व्यापार निश्चित गतिविधि के अनुसार सञ्चालित होता था। कतिपय प्रमुख व्यापारों पर राज्य का एकाधिकार था और दूसरे व्यापार व्यक्तिगत हाथों में थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में आकराध्यक्ष (खनिज अधिकारी) का उल्लेख किया गया है जिसे अपने विषय का पूरा ज्ञान होता था और जो छोटे-छोटे अधिकारियों की सहायता से खनिज पदार्थों पर नियन्त्रण करता था। इसी प्रकार धातु अधिकारी, समुद्री सम्पदा अधिकारी इत्यादि अनेक विभाग बने हुए थे जो व्यक्तिगत व्यापार पर नियन्त्रण का कार्य करते थे। कहीं-कहीं सामुदायिक व्यापार और उद्योग की व्यवस्था भी थी। कृषि स्वतन्त्र व्यवसाय था जिसे मुख्य उद्योगों में स्थान दिया गया था।

उक्त संक्षिप्त परिचय से स्पष्ट हो जाता है कि एक ओर राजनैतिक सुस्थिरता और दूसरी ओर आर्थिक सम्पन्नता ने मिलकर जनजीवन में एक विचित्र प्रकार की चमक-दमक, एक अद्वितीय विलास-वैभव और एक अभूतपूर्व उत्कर्ष उत्पन्न कर दिया था। सबसे बड़ी बात यह थी कि उस समय तक पूंजीवाद की भीषणता सामने नहीं आई थी। कुटीर उद्योगों का बोलबाला था और लक्ष्मी का वास गिने-चुने हाथों में सीमित नहीं था अपितु समाज के प्राय: सभी व्यक्ति सुखी तथा सम्पन्न थे। मृच्छकटिक जैसे एक-आध प्रकरणों को छोड़कर हमें दरिद्रता के चित्रण भारतीय साहित्य में बहुत कम उपलब्ध होते हैं। कामसूत्रों में सामान्य जनता के लिए भी रहन-सहन में सम्पन्नता के जो चित्र खींचे गये हैं उसका कारण सम्भवत: यही है और इसीलिए पाश्चात्यों को भारतीय साहित्य पर यह आक्षेप करने का अवसर मिला है कि 'भारत में श्रीमानों को ही साहित्य का विषय बनाया गया है, दरिद्र जनजीवन की ओर उपेक्षा भाव ही रहा है।

सामाजिक जीवन

मेगस्थनीज ने भारतीय जीवन के विषय में लिखा है—भारतीय सौन्दर्य

तथा आभूषणों के प्रेमी होते हैं। उनके वस्त्र सोने के काम और रत्नों से जड़े रहते हैं। ये लोग भड़कीले वस्त्र पहनते हैं। यहां के निवासियों के पास जीवन यापन के साधन आवश्यकता से अधिक हैं जिसके परिणाम स्वरूप ये लोग जीवनयापन की सर्व साधारण सीमा का अतिक्रमण कर गये हैं और उनके व्यवहार में स्वाभिमान की एक झलक दिखलाई देती है।' मेगस्थनीज के इस कथन की पुष्टि भारतीय साहित्य के अनेक उल्लेखों से भी होती है—भरत-मुनि ने स्वर्ण एवं रत्नों के आभूषणों का वर्णन किया है। कई मंजिली इमारतों का वर्णन किया गया है जिनमें आमोद-प्रमोद के सभी साधन सन्निहित रहते थे। वात्स्यायन सूत्रों में आमोद-प्रमोदमय जीवन पद्धति का रोचक वर्णन किया गया है। सारा वर्ष उत्सवों और त्यौहारों से भरा था। ऋतुओं के अनु-सार जीवन पद्धति अपनाने का भी शास्त्रों में वर्णन पाया जाता है। बृहन्नार-दीय पुराण में वर्ष के प्रत्येक दिन के त्यौहारों का वर्णन किया गया है। मृच्छ-कटिक में वसन्त सेना के भवन का जैसा वर्णन किया गया है उससे ज्ञात होता है कि वेश्यायें बहुत ही सम्पन्न जीवन बिताती थीं। राजकुमारियों और उच्च घराने की रमणियों के साथ उनका स्मरण किया गया है। राजशेखर ने लिखा है कि उस समय वेश्याओं का समाज में प्रमुख स्थान था और वे कलापूर्ण जीवन बिताती थीं। श्रृंगार में अंग राग का अधिक प्रयोग किया जाता था और स्त्रियां ओठ रंगने की कला में निपुण थीं। संगीत गोष्ठी का नित्य आयोजन किया जाता था। मदिरापान नित्य प्रति किया जाता था और कभी कभी पानगोष्ठियों का विशेष आयोजन होता था जिसमें मित्र मण्डल के लोग तथा अभ्यागत व्यक्ति भाग लेते थे। इस काल की जितनी स्त्री मूर्तियां प्राप्त हुई हैं वे सब प्राय: नग्न ही हैं और अनेक स्थानों पर मदिरापान प्रवृत्त स्त्री पुरुष युग्म दिखलाये गये हैं। साहित्यिक आयोजन भी होते थे जिनमें अनेकानेक प्रसिद्ध संगीतज्ञ, गायक, कवि इत्यादि आमन्त्रित किए जाते थे। ये गोष्ठियां कई-कई दिन चलती थीं और अभ्यागत कलाकारों को पुरस्कार भी दिए जाते थे।

राजशेखर ने कवि सम्मेलनों का भी वर्णन किया है जिनकी अध्यक्षता अधिकतर राजा लोग ही करते थे। इन सम्मेलनों के लिए विशिष्ट प्रकार के भवन बनवाए जाते थे जिनमें मध्य में अध्यक्ष का आसन होता था और चारों ओर प्रतिष्ठा और हैसियत के हिसाब से विभिन्न कलाकारों और दर्शकों को स्थान दिया जाता था। कविता के पाठ के साथ आलोचना भी चलती थी और दूसरे कलाकारों को अपनी-अपनी कला प्रदर्शित करने का भी अवसर

दिया जाता था । इस प्रकार के भवनों के निर्माण के लिए जो व्यवस्था राजशेखर ने बतलाई है उससे मिलते-जुलते भवन अब भी यत्र तत्र मिल जाते हैं । वर्तमान कन्नौज में भी इस प्रकार के प्राचीन दो भवन बने हुए विद्यमान हैं ।

कन्याओं और बालकों की शिक्षा पृथक्-पृथक् थी । कन्याओं की शिक्षा में कलाओं का विशिष्ट महत्त्व था । उन्हें जिन कलाओं की शिक्षा दी जाती थी उनकी संख्या ६४ थी जिनमें नृत्य, गीत, जलक्रीड़ा, सौन्दर्य वर्धक योग, पाक शास्त्र, आसव इत्यादि बनाने की विधि इत्यदि अनेक बातें थीं । इन कलाओं का उल्लेख वात्स्यायन ने कामसूत्र में किया है । वात्स्यायन ने इनकी शिक्षा में काव्यकला, जादूगरी, सिलाई, कढ़ाई, बढ़ईगीरी, चटाई बुनना इत्यादि को को भी सम्मिलित किया है । इनके अतिरिक्त इन्हें घर पर ही कामकला की शिक्षा भी दी जाती थी जिसमें धात्रीपुत्री, विश्वसनीय सहचरी, समवयस्का मौसी, वृद्धा विश्वसनीया दासी, भिक्षुकी, बड़ी-बहन इत्यादि इनका आचार्यत्व, किया करती थी ।

ऊपर जो कुछ कहा गया उसका यह अर्थ नहीं कि इस काल में विलासिता ही जीवन का लक्ष्य बन गया था । सैनिक दृष्टि से भी भारत शक्तिशाली था और समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, स्कन्दगुप्त जैसे दिग्विजयी सम्राट भी इस काल में हुए थे । किन्तु यह सत्य है कि सांस्कृतिक क्षेत्र में भारत का यह समय सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था । इसी काल में साहित्य रचना भी पर्याप्त मात्रा में हुई—इस काल में अर्थशास्त्र का ठीक रूप में संस्करण प्रस्तुत किया गया, रामायण और महाभारत ने इसी काल में अन्तिम रूप प्राप्त किया. पुराणों का परिवर्धन इसी काल में सम्पन्न हुआ । बौद्ध और जैन साहित्य के सिद्धान्त ग्रन्थों को अन्तिम रूप इसी काल में दिया गया, छोटी कहानी, मुक्तक काव्य प्रबन्ध काव्य; नाटचकला इत्यादि प्रत्येक दृष्टि से यह काल महत्त्वपूर्ण है । वस्तुतः अनन्त विस्तृत साहित्य राशि का समाहार इसी काल में किया गया । इस समय विलासिता का अर्थ कलापूर्ण जीवन था ऐन्द्रिय भोगविलास नहीं ।

उपर्युक्त संक्षिप्त परिचय से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

(१) ईसा की प्रथम शताब्दी के आसपास भारत में राजनैतिक दृष्टि से सुख शान्ति थी । अन्तर्बाह्य दोनों प्रकार के उपद्रवों से निश्चिन्त जनजीवन सृजन के अनुकूल था । ईसा की प्रथम सहस्राब्दी में कमोवेश यही स्थिति बनी रही ।

(२) इस समय आन्ध्र राज्य सर्वाधिक सम्पन्न था जिसमें शातवाहनों का शासन विलासिता और आमोद-प्रमोद का प्रधान क्षेत्र बन गया था तथा वहां के शासक कला, कविता और संस्कृति को आश्रय देने के उदाहरण बन गए थे ।

(३) विदेशी व्यापार और आन्तरिक सुख सुविधा की एक लहर सी दौड़ी हुई थी किन्तु पूँजी का केन्द्रीकरण नहीं हुआ था। सर्वसाधारण में पूँजी के उचित विभाजन और कुटीर उद्योग के विस्तार से आजीविका दुर्लभ नहीं थी।

(४) सम्पत्ति के साथ विलासिता की अनिवार्यता जनजीवन को आमोद प्रमोदमय वना रही थी जिसमें आमोद-प्रमोद, उत्सव-त्यौहार, उद्यान-क्रीड़ा, जलक्रीड़ा इत्यादि का प्रमुख स्थान था। विशेष रूप से रमणियों का जीवन और उनकी शिक्षा में कला की प्रमुखता थी।

(५) समाज का वातावरण साहित्य और विज्ञान के अनुकूल था और उस दिशा में साहित्य रचना का प्राधान्य था।

(६) कवियों के जीवन में सम्पन्नता थी। वे एकान्त साधना में निरत थे जिसमें प्रकृति का अंचल बिल्कुल छूट गया था। कवित्व के लिए उपयुक्त वातावरण वे अपने परिवेश में ही तैयार कर लेते थे। प्रकृति से प्रत्यक्ष सम्पर्क तो कालिदास इत्यादि दो-चार कवियों को ही प्राप्त था। अन्य कवि अपने निवास स्थान के आसपास ही प्राकृतिक सौन्दर्य के दर्शन कर लेते थे।

(७) जन्मजात कवियों की संख्या कम थी। कवि प्रयत्नपूर्वक गढकर वनाये जाते थे जिससे भावात्मकता के स्थान पर कल्पनाशीलता को प्रधानता मिल जाती थी।

तत्कालीन साहित्य की सामान्य विशेषतायें

साहित्य को स्थूल रूप में दो भागों में विभाजित किया जा सकता है— उपयोगी साहित्य और ललित साहित्य। विद्वानों ने इन्हें ज्ञान का साहित्य (literature of knowedge) और शक्ति का साहित्य (literature of power) भी कहा है। प्रथम प्रकार का साहित्य मस्तिष्क की भूख मिटाता है और द्वितीय प्रकार का साहित्य हृदय में तृप्ति उत्पन्न करता है। प्रथम प्रकार के साहित्य को वैज्ञानिक साहित्य या शास्त्रीय साहित्य कह सकते हैं जिसमें शिल्प का भी समावेश होता है और दूसरे प्रकार का साहित्य, काव्य, नाट्य कथा साहित्य इत्यादि अनेक विधाओं में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम प्रकार का मूलतत्त्व प्रतीति है जवकि दूसरे प्रकार का मूलतत्त्व सौन्दर्य है। भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार सभी प्रकार के साहित्यों का उद्‌गम वैदिक साहित्य से ही हुआ है। ऋग्वेद के आनन्द प्रवाही सूक्त ललित कला के दिशा निर्देशक हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों, कल्पसूत्रों और वेदाङ्गों से अनेक प्रकार के शास्त्रों का प्रवर्तन हुआ है। वेदों के अशुद्ध उच्चारण में पाप लगता है अतः शुद्ध उच्चारण के लिये वर्णोच्चारण शिक्षा का जन्म हुआ। संगीत की गति को ठीक बनाए रखने के लिए छन्दःशास्त्र काप्रादुर्भाव हुआ। व्याकरण और निरुक्त अर्थ

प्रतीति के साधन थे। उपनिषदों के ज्ञान से दार्शनिक विभागों की उत्पत्ति हुई। वैदिक विधियों का ठीक रूप में निर्वाह करने के लिए समयज्ञान की अपेक्षा थी जिसमें सौरमण्डल का अध्ययन आवश्यक था। अतएव ज्योतिर्विद्या प्रादुर्भूत हुई और उसकी गणना के उद्देश्य से अंकगणित, वेदियों के निर्माण के लिए रेखागणित और गणना के क्षेत्र में आने वाली जटिलताओं को दूर करने के लिए बीजगणित की उद्भावना की गई। अथर्ववेद के अभिचार मन्त्रों और उनकी व्याख्या से आयुर्विज्ञान तथा औषध शास्त्र का प्रादुर्भाव हुआ।

जब वेदों पर आधारित साहित्य परिमाण में अत्यधिक बढ़ गया और उनको वैदिक साहित्य के कलेवर में सीमित रखना असम्भव हो गया तथा लोक जीवन के निर्वाह के लिए विधि विधानों की आवश्यकता हुई तब लौकिक साहित्यों की स्वतन्त्र सत्ता स्थापित हो गई और वैदिक साहित्य के प्रति श्रद्धा और आस्था रखते हुए भी लौकिक साहित्य को वैदिक साहित्य से पृथक् माना जाने लगा जिससे विधि शास्त्र, अर्थशास्त्र, वार्ताशास्त्र इत्यादि अनेक शास्त्रों पर कार्य होने लगा। ललित साहित्य के क्षेत्र में भी काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र पर रचनायें होने लगीं। यद्यपि इनका भी मूल वेद में ही था तथा नवीन विचारधाराओं के समावेश ने इन्हें वैदिक साहित्य से सर्वथा निरपेक्ष क्षेत्र प्रदान कर दिया। कामशास्त्र भी एक स्वतन्त्र साहित्य है। यद्यपि वैदिक काल में इसे शास्त्ररूपता प्रदान की हुई दृष्टिगत नहीं होती फिर भी अनेक मन्त्रों में यौन भावना की छाया ही दृष्टिगत होती है। अतः इस शास्त्र का भी वैदिक आधार स्वीकार करना सत्य से अधिक व्यवहित नहीं कहा जा सकता।

शास्त्रीय साहित्य की सामान्य विशेषतायें

शास्त्रीय विचारधारा और उसके लिए साहित्य रचना का व्यवस्थित कार्य सूत्रकाल से प्रारम्भ हुआ। यह शैली जिन विषयों में अपनाई गई उन्हें वेदाङ्ग कहा गया। इस शैली का सबसे बड़ा लाभ था विस्तृत विषयों को थोड़े शब्दों में समेट लेना जिससे छात्रों को समस्त विषय कण्ठस्थ करने में सुविधा हो गई। संक्षिप्तीकरण के लिए सूत्रों में क्रिया का सर्वथा बहिष्कार कर दिया जाता है; जिन विषयों में समान नियम लागू होते हैं उनके वाचक शब्दों को समास में एकत्र कर दिया जाता है; सूत्र जिस प्रकरण में लिखा जाता है उसका निर्देश सभी सूत्रों में नहीं किया जाता किन्तु उसका अर्थ समझने के लिए बहुत कुछ प्रकरण पर छोड़ दिया जाता है। यह संक्षिप्तीकरण की प्रक्रिया इस सीमा तक अपनाई जाती है कि वैयाकरणों का दावा है कि व्याकरण के सूत्रों में यदि

एक अक्षर भी कम किया जा सके तो वैयाकरण को इतना आनन्द आता है मानों उसके घर पर पुत्र जन्म हुआ हो।

यह संक्षिप्तीकरण प्रक्रिया इतनी जटिल थी कि बिना व्याख्या के प्रबुद्ध से प्रबुद्ध भी छात्र समझ नहीं सकता था। अतः कभी-कभी तो स्वयं सूत्रकारों ने व्याख्यायें लिखीं या अपने छात्रों से लिखवाईं या किसी विशिष्ट व्यक्ति ने वे व्याख्यायें लिखीं। उन व्याख्याओं को भाष्य की संज्ञा दी गई। सूत्र जितने ही संक्षिप्त थे भाष्य उतने ही विस्तृत। भाष्यों में दो प्रकार की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है—या तो संवादात्मक प्रवृत्ति अपनाई गई या शास्त्रार्थ की पद्धति। संवाद पद्धति से ऐसा प्रतीत होने लगता है जैसे यह उस समय की शिक्षापद्धति हो। जैसे आजकल विश्वविद्यालयों में व्याख्यान पद्धति अपनाई जाती है उस समय संवाद पद्धति अपनाई जाती थी और उसी के अनुसार ग्रन्थ लिखे जाते थे। गुरु और शिष्य निस्सङ्कोच भाव से किसी विषय पर विचार करते थे। वाद-विवाद को मनोरंजक बनाने के लिए एक-दूसरे पर आरोप प्रत्यारोप भी किये जाते थे और उसे बुरा नहीं माना जाता था।

संवाद को रोचक बनाने के लिए लौकिक व्यवहार के उदाहरण भी दिये जाते थे जो बाद में अनेक न्याय बन गये। उदाहरण के लिए यदि अध्यापक एक सूत्र से दो कार्य करने का उपदेश देता है और शिष्य पूछता है कि यह सम्भव कैसे है कि एक सूत्र से दो कार्य हों, इस पर आचार्य का उत्तर है मान लो कोई व्यक्ति अपने ही रोपे हुए आम के पौधे के पास तर्पण करता है तो उसके उस तर्पण जल से आम भी सिंच जाता है और पितर भी तृप्त हो जाते हैं। एक ही उद्यम से दो कार्यों का बनना असम्भव नहीं है। इसी प्रकार यदि शिष्य पूछता है कि अनुनासिक वर्ण (ञ. म. ङ. ण. न.) मुख और नासिका दोनों से बोले जाते हैं उनको केवल एक स्थानीय कैसे बतलाया जा सकता है। इस पर आचार्य का उत्तर है—किसी दुमंजिले मकान में ऊपर और नीचे की मंजिलों में दो अलग-अलग परिवार रहते हैं; जब नीचे की मंजिल के लोग बुलाये जाते हैं तब नीचे वाले आते हैं और ऊपर वालों को बुलाये जाने पर ऊपर वाले आते हैं। अब मान लो एक व्यक्ति ऊपर भी रहता है और नीचे भी तो वह ऊपर वालों के साथ भी जायेगा और नीचे वालों के साथ भी। ये तो सामान्य विषय है। लौकिक उदाहरणों से बड़े से बड़े और जटिल से जटिल प्रश्न हल कर दिए गए हैं। इस प्रकार के उदाहरण वैयाकरण महाभाष्य में भरे पड़े हैं जिनसे सैकड़ों न्याय बन गए हैं। आज हम अध्यापक एक लेक्चर देकर किनारा कस लेते हैं, किन्तु संवाद शैली में अध्यापक को पूर्ण ज्ञान होना

चाहिए। नहीं तो वह छात्रों की जिज्ञासा शान्त नहीं कर सकता। इतने अधिक ज्ञान पर आश्चर्य हो जाता है। मान लीजिए कोई छात्र पूछता है कि अमुक सूत्र से जहां बहुत से शब्द सिद्ध हो जाते हैं वहां बहुत से शब्दों के सिद्ध करने में बिगाड़ भी आ जाता है, तब इस सूत्र का बनाना कहां तक उचित है ? इस पर आचार्य का उत्तर है- जानवर खेत को चर जायेंगे यह मानकर कोई खेत बोना छोड़ तो नहीं देता। कार्य भी किया जाता है और उसके दोषों के प्रतीकार का प्रबन्ध भी किया जाता है। यहां प्रतीकार यही है कि जितने शब्दों पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा उनको मैं गिनाये देता हूं। व्यापक भाषा के विशिष्ट प्रकार के शब्दों को गिना देना कितना कठिन कार्य है ? क्या यह आज की अध्यापन प्रक्रिया में सम्भव है ?

शास्त्र रचना की दूसरी शैली शास्त्रार्थ शैली है। यह भी व्यवहार पर ही निर्भर है। उस समय राजघरानों में तथा सामान्य आयोजनों में शास्त्रार्थ होते थे और उन्हीं के आधार पर ग्रन्थ रचना की जाती थी। लेखक किसी सिद्धांत की स्थापना के पहले विरोधी पक्ष का पूरी सच्चाई के साथ प्रतिपादन करता था और तब उसका खण्डन कर सिद्धान्त पक्ष की स्थापना करता था। विरोधी पक्ष को या तो विरोधी व्यक्ति का नाम लेकर या किसी सम्प्रदाय अथवा वर्ग विशेष का नाम लेकर स्थापना की जाती थी। किन्तु अधिकांश रूप में लेखक अपनी ओर से ही विरोधी पक्ष को भी उपन्यस्त करता है, तब वह विरोधी पक्ष को 'ननु' शब्द से प्रारम्भ करता है और 'इतिचेन्न' शब्द पर समाप्त कर उस पक्ष की समीक्षा कर अपने पक्ष की स्थापना करता है। भाष्यों में मूल का केवल शब्दार्थ और भावार्थ ही नहीं होता किन्तु उसकी पूरी समीक्षा होती है और उसी प्रसंग में भाष्यकार अपने मत का भी उल्लेख करता है। इस प्रकार ये भाष्य मूल ग्रन्थ जैसे ही हैं जिनमें भाष्यकार के स्वतन्त्रमत का समर्थन प्राप्त होता है।

शास्त्रीय ग्रन्थ दोनों प्रकार के प्राप्त होते हैं—स्वतन्त्र रचना के रूप में भी और दूसरे प्रामाणिक ग्रन्थ की व्याख्या के रूप में भी स्वतन्त्र शास्त्रीय ग्रन्थ अधिकतर पद्यात्मक है। जिनमें अनुष्टुप छन्द का प्रयोग किया गया है। धर्मशास्त्रीय स्मृति ग्रन्थ पद्यात्मक ही हैं। कुछ ग्रन्थ गद्य में भी लिखे गए हैं जिनमें शास्त्रार्थ की पद्धति अपनाई गई हैं। कहीं-कहीं पद्य और गद्य दोनों की मिली हुई पद्धतियां हैं। सूत्र के प्रति गौरव दृष्टि के कारण कई आचार्य कारिकाओं (श्लोकों) को भी सूत्र कहते हैं; यद्यपि उनमें सूत्र के लक्षण नहीं हैं।

ललित साहित्य की सामान्य विशेषतायें[1]

ललित साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता है वस्तु की अपेक्षा शैली को अधिक महत्त्व देना। उपयोगी साहित्य में वस्तु की प्रधानता रहती है और यदि उसको पद्य (श्लोक) के माध्यम से भी समर्पित किया जाता है तो भी पद्य प्रयोग का मंशा यही होता है कि पद्य आसानी से याद हो जाते हैं, चमत्कार उनका उद्देश्य नहीं होता है। आदिकाव्य वाल्मीकि रामायण में सर्वप्रथम यह प्रवृत्ति दृष्टिगत हुई। किन्तु उसमें वस्तु और कला को समान महत्त्व दिया गया था। रामकथा के लिए तो उसमें अनुष्टुप छन्द का ही प्रयोग किया गया था किन्तु प्राकृतिक सौन्दर्य चित्रण परक काव्य के भी कई प्रकरण हैं जिनमें अनुष्टुप के साथ बड़े छन्दों का भी प्रयोग किया गया है, फिर भी उनमें छन्दों की विविधता अधिक नहीं है।

ईसा की प्रथम शताब्दी के आस-पास हमें अश्वघोष के महाकाव्यों के दर्शन होते हैं जिनमें उत्तरवर्ती काव्यविधा की प्रविधि का पूर्ण रूप से निर्वाह किया गया है। विण्टरनित्ज के अनुसार यह बात सर्वथा असम्भव प्रतीत होती है कि इतनी परिपूर्ण काव्यपद्धति एक बौद्ध कवि की काव्यसाधना में एकदम उद्भूत हो गई हो। इसके प्रतिकूल इस बात की सम्भावना अधिक है कि धीरे-धीरे शताब्दियों में इस पद्धति का विकास हुआ हो और उस विकसित पद्धति को अश्वघोष ने अपना लिया हो। एकाकी अश्वघोष ही इस पद्धति पर रचना करने वाले बौद्ध कवि नहीं हैं—मातृचेता और आर्यसूर जैसे कवियों ने भी इस पद्धति को अपनाया। ये कवि भी अश्वघोष से बहुत अधिक परवर्ती नहीं हैं। कला और शृंगार से परहेज करने वाले बौद्धों से इस प्रकार के काव्य का प्रवर्तन करने की तो सम्भावना ही नहीं की जा सकती। अतः ज्ञात होता

---

१. ललित साहित्य का उद्देश्य कोई बात बतलाना नहीं किन्तु शब्दों या चेष्टा द्वारा सौन्दर्य सृष्टि कर परिशीलकों के अन्तःकरण में आनन्द का संचार करना होता है। जिन शब्दों और अर्थों को लोक व्यवहार में सामान्य रूप से काम में लाया जाता है उन्हीं शब्दों अर्थों से सौन्दर्य सृष्टि कर जगत् को आनन्दमय बना दिया जाता है। विचारणीय विषय यह है कि वे कौन सी विशेषतायें हैं जिनसे नित्य प्रति प्रयोग में आने वाले शब्दों और अर्थों में सौन्दर्य का सञ्चार कर उन्हें रसास्वादन की अर्हता प्रदान कर देती हैं। इसी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए काव्य शास्त्र का जन्म हुआ जो किसी शास्त्र की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। वस्तुतः यह शास्त्र ही ललित साहित्य की विशेषताओं का परिचायक है।

होता है कि इनसे पहले भी इस पद्धति का कई रचनाओं के द्वारा विकास हुआ होगा जो कालक्रम से नष्ट हो गई। परवर्ती काल में इन रचनाओं का विकास अधिकतर राजाओं के संरक्षण में हुआ। अतः इन्हें दरबारी कविता कहा जाता है। सर्वप्रथम इन रचनाओं की सामान्य विशेषताओं का अनुसन्धान करने से ही काव्यशास्त्र का जन्म हुआ होगा। किन्तु बाद में काव्यशास्त्र इस प्रकार की रचनाओं का दिशा-निर्देशक बन गया और कवि लोग शास्त्रीय स्थिति सम्पादनेच्छा से कविता करने लगे। अतः इन कविताओं को शास्त्रीय कविता की संज्ञा भी दी जाती है।

इन काव्यों की एक प्रमुख विशेषता है—छन्दों का बाहुल्य। अभी तक लौकिक ललित काव्य के लिए अनुष्टुप छन्द का ही प्रयोग किया जाता था—केवल प्राकृतिक सौन्दर्य वर्णन में एक आध स्थानों पर इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा से बनी उपजाति का प्रयोग भी अधिगत होता है। किन्तु इस नई पद्धति में सैकड़ों नये छन्दों का आविर्भाव हो गया – यह दूसरी बात है कि इन छन्दों पर ऋग्वेद के बहुविध छन्दों का भी प्रभाव पड़ा था। इन छन्दों के प्रयोग के भी नियम बने हुए थे। उदाहरण के लिए महाकाव्य में एक सर्ग में केवल एक छन्द का प्रयोग किया जाता था, किन्तु सर्ग का अन्तिम छन्द बदल दिया जाता था जो एक बड़ा छन्द होता था। इस अन्तिम छन्द में अग्रिम सर्ग की कथा की ओर संकेत किया जाता था। क्षेमेन्द्र ने विषय के अनुसार छन्दःप्रयोग के नियम बनाये हैं जैसे वियोगवर्णन के लिए मन्दाक्रान्ता, प्रार्थना के लिए शिखरिणी, विलाप के लिए वियोगिनी छन्द अधिक उपयुक्त रहते हैं।

छन्दों के समान काव्यरूपों की अनेकता भी इन काव्यों की विशेपता है। एक पद्य में अर्थ समाप्त होने पर मुक्तक, दो में संदानितक, तीन में विशेषक, चार में कलापक और पांच या अधिक में कुलक कहलाता है। वसन्त इत्यादि किसी विषय के वर्णन में अनेक वाक्य होने पर पर्यायबन्ध। परिकथा उसे कहते हैं जिसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों में किसी एक को लेकर अनेक प्रकारों के द्वारा अनेक वृत्तान्तों का वर्णन किया जाय। कथा के एक भाग का वर्णन खण्डकथा या खण्डकाव्य, फलपर्यन्त दौड़ने वाले अनेक इतिवृत्तों के वर्णन में सकलकथा और किसी पुरुषार्थ को लेकर सम्पूर्ण जीवन वृत्त के वर्णन में सर्गबन्ध या महाकाव्य कहा जाता है। महाकाव्य ही सर्वोत्तम काव्य होता है जिसकी अनेक विशेषतायें शास्त्रों में दी हुई हैं। दृश्य काव्य अभिनय के लिए लिखे जाते हैं जिनमें अभिनेता पर रूप का आरोप किया जाता है अतः उसे रूपक की संज्ञा दी जाती है। साहित्यदर्पण में १० रूपकों और १८ उपरूपकों का परिचय दिया गया है। गद्य काव्य भी आख्यायिका,

कथा, लघुकथा इत्यादि अनेक प्रकारों में विभाजित किया जाता है। अग्नि-पुराण में ५ प्रकार का गद्य काव्य माना गया है — आख्यायिका, कथा, खण्ड कथा, परिकथा और कथानिका। जिस काव्य में गद्य और पद्य दोनों का मिश्रण होता है उसे चम्पू कहा जाता है।

आचार्यों ने भाषा विभेद पर भी विचार किया है। दण्डी ने भाषा के मूल रूप में चार भेद माने हैं — संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्र। फिर प्राकृत के महाराष्ट्री, शौरसेनी, गौडी, लाटी इत्यादि भेद किए हैं। नाटयशास्त्र में ७ प्रकार की प्राकृत वतलाई गई है जिनका साहित्य में प्रयोग होता है—मागधी, आवन्ती, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, वाह्लीका और दाक्षिणात्मा। प्राकृत के समान अपभ्रंश के भी आभीरी, शावरी इत्यादि वहुत से भेद हैं। साहित्य-दर्पण में प्रयोग के भी नियम वनाए गए हैं उच्चकोटि के (अनीच) व्यक्तियों की भाषा संस्कृत होती है, अनीच (उच्च) स्त्रियां शौरसेनी का प्रयोग करती हैं। उनके गाने महाराष्ट्री में होते हैं। राजा के अन्तःपुर में जाने आने वालों की भाषा मागधी होती है। राजपुत्रों और सेठ लोगों के नौकरों की भाषा अर्धमागधी होती है। विदूषकों और धूर्तों की पूर्वी भाषा, सैनिक नागरिक और सर्पों का खेल दिखलाने वालों की भाषा दाक्षिणात्या, राजा के साले और शकों की भाषा शावरी होती है। उत्तर के लोग वाह्लीक भाषा और द्रविड इत्यादि देशवासी द्राविडी भाषा बोलते हैं। इसी प्रकार आभीरी, पैशाची, चाण्डाली इत्यादि बोलने वालों के लिए भी नियम बनाये गये हैं। नीच पात्रों के लिए सामान्य नियम बनाया गया है कि वह जिस देश का रहने वाला हो उसी देश की भाषा बोले। यदि आवश्यकता हो तो भाषाविपर्यय भी किया जा सकता है। इसी प्रकार विभिन्न व्यक्तियों के सम्बोधन के नियम भी बनाए गये हैं।

ललित साहित्य रचना का प्रधान उद्देश्य रसनिष्पत्ति है और परिशीलन का उद्देश्य रसास्वादन है। दृश्य काव्य में नृत्यगीत वाद्य के साथ रसोपकरणों (विभावादि) की उचित संयोजना के साथ काव्यतत्त्वों का सन्निवेश भी स्पृहणीय होता है। दृश्य और श्रव्य दोनों प्रकार के काव्यों में लक्षण, अलंकार, रीति, वृत्ति प्रवृत्ति का उचित सामञ्जस्य रसनिष्पत्ति में कारण होता है। कथानक संरचना के लिए अर्थप्रकृतियों. कार्यावस्थाओं, सन्धियों. अर्थोपक्षेपकों, पताकास्थानकों इत्यादि का भी विवेचन किया गया है। भरत के नाटयशास्त्र में चारी, मण्डल, करण, अंगहार इत्यादि के रूप में अभिनय प्रक्रिया पर भी यथेष्ट प्रकाश डाला गयाहै। ये सब साधन हैं—साध्य रस है। इन सब साधनों से भाव रसरूपता धारण कर लेता है। यहां यह ध्यान रखना चाहिए कि कोई

भी भाव या रस कह देने मात्र से अस्वादन प्रवर्तक नहीं हो जाता, उसके लिए परिस्थिति बनाकर और किसी व्यक्ति पर अभिनय या वर्णन के द्वारा उसका प्रभाव दिखलाकर उसे आस्वादन योग्य बनाया जाता है । इसीलिए वाच्य रूप में नहीं व्यंग्य रूप में प्रस्तुतीकरण रस प्रवर्तक होता है । व्यञ्जना के साथ जब रीति, वृत्ति, अलंकार इत्यादि उक्त तत्व सम्मिलित होकर रस प्रवर्तन में सहायक होते हैं तब उस व्यञ्जना को ध्वनि की संज्ञा प्राप्त हो जाती है । कभी-कभी ध्वनि रसपर्यवसायी नहीं होती—उक्ति तक ही सीमित रहती है तब भी काव्य चमत्कृत करने वाला हो जाता है । अतएव रसध्वनि पूरे काव्य क्षेत्र को गतार्थ नहीं करती । इसीलिए विवेचकों ने ध्वनि को काव्यात्मा के रूप में स्वीकार किया है । इसीलिए कतिपय विचारकों ने विशिष्ट भङ्गिमा के साथ कथन (वक्रोक्ति) को काव्य की आतमा कहा है । किन्तु कोई उक्ति जब तक आस्वादन प्रवर्तक नहीं होती वह कभी भी काव्य का उद्देश्य पूरा नहीं कर सकती । वक्रोक्ति साधन है और रसध्वनि साध्य । ध्वनि में रसेतर तत्त्व वस्तु और अलंकार का भी समावेश हो जाता है । अत: ध्वनि को ही काव्य की आत्मा कहना ठीक है । यह पूरा काव्य-शास्त्र परवर्ती काव्य का दिशा-निर्देशक भी है और लक्ष्य परीक्षा से उद्भूत होने के कारण काव्य की सामान्य विशेषताओं का दिग्दर्शक भी है । काव्य विशेषताओं का ठीक रूप में अध्ययन करने के लिए काव्य शास्त्रीय ग्रन्थ सहायक हो सकते हैं ।

भारतीय साहित्य का एक दुर्बल बिन्दु

भारतीय साहित्य और विशेषरूप में संस्कृत साहित्य का एक दुर्बल बिन्दु है इतिहास लेखन का अभाव । वस्तुत: भारतीय साधकों में लोकेषणा का अभाव ही इस कमी का एकमात्र कारण था । वे अपने विषय में निस्पृह थे और भौतिकता को हेय दृष्टि से देखते थे, यशोलिप्सा भी उनमें नहीं के बराबर थी, अत: उन्होंने अपने विषय में कुछ अधिक बतलाने का प्रयत्न ही नहीं किया; अपने सहयोगियों की जीवनचर्या पर भी विशेष प्रकाश नहीं डाला । फलत: साहित्य का यह अध्याय लगभग छूटता ही गया । इस विषय में मैक्स-मूलर का कहना है 'आर्य परम्परा के दो विरोधी ध्रुव हैं—यूनान और भारत । यूनानियों के लिए सत्ता का अर्थ है जीवन की परिपूर्णता और वास्तविकता, जबकि भारतीय के लिए यह एक स्वप्न, एक माया (भ्रम) है ।' भारतीय का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष होता है, अत: भौतिक सत्ता और उसके उत्थान पतन को वह कोई महत्त्व नहीं देता जो इतिहास लेखन के लिए परम आवश्यक तत्त्व है ।

किन्तु ऐसा भी नहीं है कि इतिहास की ओर भारतीय विचारक का ध्यान ही न हो। हमारे शास्त्रकारों ने इतिहास-पुराणों से वेदों के उपबृंहण का आदेश दिया है[1] और इतिहासदर्शी होना समीक्षक का गुण बतलाया है।[2] ए० स्टीन के अनुसार यह सच है कि भारतीय साहित्य इतिहास पर लिखी हुई गद्य की मोटी-मोटी पुस्तकें नहीं हैं, किन्तु जहां तक ऐतिहासिक विकास और ऐतिहासिक अध्ययन की पर्याप्त सामग्री का प्रश्न है यह कहना ठीक नहीं होगा कि भारत में इतिहास नहीं है। प्रो० एच० एच० विल्सन ने विष्णुपुराण के तृतीय भाग के अनुवाद के विषय में लिखा है कि इस ग्रन्थ के तृतीय भाग का प्रारम्भ ऐतिहासिक अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। चतुर्थ भाग के विषय में प्रो० का कहना है कि प्राचीन इतिहास के विषय में सभी कुछ इस (विष्णु-पुराण के चौथे भाग) में सुरक्षित है। यह वंशावली और व्यक्तियों की पूरी सूची है और घटनाओं का शुष्क लेखा-जोखा है। यह सच है कि इसके विव-रणों में अत्युक्तियां बहुत हैं फिर भी व्यक्तियों की परम्परा और सातत्य को जिस कृत्रिम साधारणता के साथ प्रस्तुत किया गया है उनमें कुछ विवरणों में सम्भावना मूलक सत्यता को स्वीकार किया जा सकता है। आशय यह है कि पौराणिक विवरण किसी सीमा तक ऐतिहासिक अभाव की पूर्ति अवश्य कर देते हैं।

भारतीय साहित्य के इतिहास के विषय में अनुसन्धान की गुञ्जाइश बहुत है।[3] प्रामाणिक रूप में सर्वप्रथम हमारे सामने विदेशियों के अभिलेख आते हैं। भारत के ऐतिहासिक युग का प्रारम्भ बुद्धकाल (ई० पू० ५००) से होता है। ई० पू० ३२६ में सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया था, तभी से भारतीय और ग्रीक साहित्यों का परस्पर प्रभाव लक्षित किया जा सकता है। इसके बाद मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त का समय आता है जिसने पाटलिपुत्र पर मौर्य साम्राज्य की स्थापना की। यूनानियों को पराजित किया और सेल्यूकस की पुत्री कर्णेलिया से विवाह किया। सेल्यूकस ने मेगस्थनीज को राजदूत के रूप में चन्द्रगुप्त के दरबार में रख दिया था जिसके लेखों से भारतीय इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। यूनानियों के अतिरिक्त चीनी यात्रियों द्वारा प्रस्तुत विवरणों से भी साहित्य के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

---

१. इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
　विभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति ॥

२. दे० क्षेमेन्द्र का कविकण्ठाभरण

३. इस विषय में देखिये प्रस्तुत पु० पृ० ७ से २४ तक

प्रमुख चीनी यात्री हैं फाह्यान (३९९ ई०) ह्यूयेनसांग (६३० से ६४५ ई०) और इत्सिंग (६७१ से ६९५ ई०) इन यात्रियों के अतिरिक्त बौद्ध साहित्य के अनेक अनुवाद चीन, तिब्बत और मध्य एशिया में पाये जाते हैं जिनसे भी भारतीय साहित्य के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। अरबी यात्री अल्बरूनी ने भी भारत के विषय में १०३० ई० में बहुत कुछ लिखा था जिससे भारतीय इतिहास, साहित्य और संस्कृति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

उक्त विदेशी साधनों के अतिरिक्त भारतीय साधन भी इस दिशा में पर्याप्त सहायता प्रदान करते हैं। किन्तु इन साधनों के संयोजन तथा उनसे किसी परिणाम पर पहुंचने में अत्यधिक सावधानता की आवश्यकता है। इन साधनों में शिलालेख और प्राप्य सिक्के निश्चयात्मक सूचना देते ही हैं, पुरातत्त्व अवशेषों से भी कुछ सहायता अवश्य मिलती है, किन्तु उनसे निष्कर्ष निकालने में सावधानी अपेक्षित है। पुराण साहित्य का ऊपर उल्लेख किया ही जा चुका है। पुराणों की अत्युक्तियों को बचाकर यदि निर्णय किया जाय तो वंशावलियां और राजा महाराजाओं के क्रमिक इतिहास भी सहायक होते हैं।

शास्त्रीय ग्रन्थों में साहित्यकारों की सम्मतियां उद्धृत की जाती हैं और या तो उनकी समीक्षा की जाती है या उन्हें प्रमाण रूप में उद्धृत किया जाता है। उन उल्लेखों से केवल इतना पता चल जाता है कि अमुक लेखक ग्रन्थकार से पूर्ववर्ती है। इस प्रकार लेखकों के पौर्वापर्य के निश्चय करने में सहायता मिलती है और यह निश्चय हो जाता है कि किसी विशिष्ट लेखक की पूर्ववर्ती और परवर्ती समय सीमायें क्या हैं। उनसे इतना तो पता नहीं चलता कि अमुक लेखक उद्धरण देने वाले से कितना पहले हुआ था अथवा यदि किसी उत्तरवर्ती लेखक ने इस ग्रन्थकार का परिचय दिया है तो वह कितने बाद का है। इन उद्धरणों से निर्णय करने में कतिपय अन्य विप्रतिपत्तियां सामने आती हैं—भारतीय साहित्यकारों को स्वयं की अपेक्षा अपनी रचनाओं से विशेष प्रेम था। वे प्रयत्नपूर्वक किसी ऋषि या किसी महान लेखक की शैली का अनुकरणकर कविता बनाते थे और यह समझकर कि उस ऋषि या महान् लेखक के नाम पर यदि कविता प्रसिद्ध हो गई तो उस कविता को अधिक सम्मान मिल जायेगा वे अपने नाम को छिपाकर रचना को पूर्ववर्ती विशिष्ट व्यक्तित्व की कृति के रूप में प्रचारित कर देते हैं। अतः किसी कृति में उल्लेख के आधार पर पौर्वापर्य का निर्णय असन्दिग्ध नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह निर्णय करना ही कठिन हो जाता है कि कोई कृति मौलिक लेखक की है या बाद में जोड़ी गई है। दूसरी बात यह है प्रायः लेखक की व्यास इत्यादि उपाधि ही प्रसिद्ध होती है। तब पता नहीं चल पाता कि अमुक रचना किन

व्यास की है। कहा जाता है कालिदास इत्यादि परीक्षायें भी प्रचलित की गई थीं। कालिदास के नाम पर कई रचनायें प्रसिद्ध हैं। तब सन्देह हो जाता है कि अमुक रचना किस कालिदास की या किस समय की है! इन सब आधारों पर निर्णय करने में समय के निर्धारण में कई-कई सौ वर्षों का अन्तर पड़ जाता है। भारत के सबसे कवि कालिदास का समय ही ईसा की प्रथम शताब्दी से ५वीं शताब्दी तक ५०० वर्षों के बीच में घूमता है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है वह लौकिक संस्कृत के साहित्य के विषय में लागू होता है। प्रागैतिहासिक युग (बुद्ध पूर्व) के विषय में और भी अनिश्चितता है। मैक्समूलर ने शुद्ध काल्पनिक आधार पर ऋग्वेद का रचना-काल १२०० ई० पू० निश्चित कर दिया और प्रायः सभी पाश्चात्य विद्वान् बहुत समय तक उस काल को प्रामाणिक मानते रहे जबकि मैक्समूलर ने स्वयं कहा था कि वेदों के रचनाकाल का कभी भी पता चल सकेगा इसकी तो सम्भावना ही नहीं। बाद में महात्मा तिलक, जैकोबी प्रभृति विद्वानों ने गणित और फलित ज्योतिष के आधार सिद्ध किया कि वेदों का रचनाकाल ई० पू० ४५०० वर्ष से ई० पू० २५०० वर्ष के मध्य में होना चाहिए। इसी प्रकार महाभारत के विषय में भी ज्योतिष गणना के अनुसार किसी ने ३१०२ ई०, पू०, एक दूसरे विद्वान ने ४४४९ ई० पू० और एक अन्य विद्वान ने १४१३ ई० पू० महाभारत युद्ध का समय निश्चित किया। भारतीय परम्परा लाखों वर्ष से कम की बात नहीं करती जबकि पाश्चात्य विद्वान् समय को अधिक से अधिक परवर्ती सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं ऐसी स्थिति में भर्तृहरि के शब्दों में कहा जा सकता है कि अनुमान और तर्क का सहारा लेकर चलने वाले निश्चित रूप से गिरते हैं। उनको प्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय साहित्य का समय निश्चित हो या न हो भारतीय साहित्यकार धन्य हैं और हम भी उसका सेवन करने के कारण कृतार्थ हो गये हैं इस विषय में कभी भी दो सम्मतियां नहीं हो सकतीं।

—राम सागर त्रिपाठी

विषय सूची

अध्याय-६

ऋग्वेद युग

अध्याय-७

परवर्ती वेद

अध्याय-८

ब्राह्मण ग्रंथ

अध्याय-६

अध्याय-१०

अध्याय-११

ग्रन्थकार की भूमिका

नि:सन्देह यह एक आश्चर्यजनक वास्तविकता है कि अभी तक संस्कृत साहित्य का कोई सम्पूर्ण इतिहास अंग्रेजी में नहीं लिखा गया। क्योंकि केवल यही बात नहीं है कि उस साहित्य में अपना ओजस्वी सहज गुण प्रभूत मात्रा में विद्यमान है अपितु हमारे भारतीय साम्राज्य के जन-समूह के जीवन और विचारों पर इससे जो प्रकाश पड़ता है उसमें अंग्रेजी राष्ट्र को असाधारण अभिरुचि लेनी चाहिए। तरुणों में भी प्रतिवर्ष जो लोग उसके भावी शासक बनने के लिए (इंगलिश चैनल के) इन तटों को छोड़ते हैं, उनमें किसी को भी प्रधान रूप से उस विषय के पर्याप्त विवरण के अभाव के कारण उस साहित्य के विषय में किसी प्रकार का सम्बन्धित ज्ञान नहीं होता जिनसे वर्तमान भारतीय सभ्यता का मार्ग खोजा जा सकता है और उस ज्ञान के अभाव में वह सभ्यता पूर्ण रूप से समझी ही नहीं जा सकती। इसलिए जब मि० गॉस ने विश्व साहित्य की इस शृंङ्खला में एक पुस्तक के अंशदान का आमन्त्रण दिया तब मैंने उसे अत्यधिक प्रसन्नता के साथ स्वीकार कर लिया क्योंकि मुझे उस विषय पर अपने ज्ञान को संक्रान्त करने का यह सुअवसर प्रतीत हुआ जिसमें बीस वर्ष से अधिक समय तक निरन्तर अध्ययन अध्यापन ने मेरे अन्दर सदा गहराने वाली एक अभिरुचि निक्षिप्त कर दी थी।

प्रो० मैक्समूलर का बहुमूल्य संस्कृत साहित्य का इतिहास वैदिक युग के अपने क्षेत्र में सीमित है। वह भी बहुत समय से पुनर्मुद्रण से वंचित रहा है और उसके प्रकाशन के बाद जो ४० वर्ष व्यतीत हो चुके हैं उनमें वैदिक अनुसन्धान ने अनिवार्य रूप से लम्बे डग भरे हैं।

इस समय तक सामान्य रूप से संस्कृत साहित्य के इतिहास पर अंग्रेज पाठकों के लिए भारतीय साहित्य पर केवल प्रो० वेबर के अकादमिक भाषणों के अनुवाद ही उपलब्ध हैं जो कि उन्होंने वर्लिन में आधी शताब्दी पूर्व दिए थे। इस रचना (व्याख्यान माला) पर बहुसंख्यक और प्रायः बहुत लम्बी टिप्पणियां उसकी रचना के बाद के २५ वर्षों में हुए अनुसंधान के परिणामों को प्रस्तुत करती हैं। किन्तु १८५२ के मूल व्याख्यानों में आये हुए

वक्तव्यों को ये टिप्पणियां प्रायः संशोधित कर देती हैं या उन्हें रद्द भी कर देती है। परिणाम यह होता है कि छात्र उलझन में पड़ जाते हैं। इस व्याख्यान माला पर अन्तिम टिप्पणी सन् १९७८ में जोड़ी गई जिसके बाद से लेकर संस्कृत साहित्य की विभिन्न शाखाओं पर बहुत अधिक नया प्रकाश पड़ा है। दूसरी बात यह है कि १९७८ की सहित्यिक व्याख्यानमाला भी सामान्य पाठक की आवश्यकताओं के अनुरूप बिल्कुल स्वीकृत नहीं की गई है। स्वर्गीय सर-मोनियर विलियम्स की एक ही कृति 'इण्डियन विज़डम' है जो इस विषय में सामान्य पाठक को आकर्षित कर सकती है, यद्यपि यह सच है कि वह पुस्तक अनूदित नमूनों के साथ संस्कृत साहित्य के मुख्य विभागों का कुछ विवरण प्रदान करती है फिर भी यह इतिहास नहीं है। इस प्रकार इस देश में संस्कृत साहित्य के इतिहास के लिए स्पष्ट रूप में दोहरी मांग है। छात्र को एक पथ प्रदर्शक की आवश्यकता है जो वर्तमान समय तक सम्पन्न हुए अनुसंधान के परिणामों को स्पष्ट और विश्वसनीय ढ़ंग से प्रस्तुत कर दे और प्रबुद्ध अंग्रेज पाठक एक ऐसी पुस्तक की तलाश में है जो समझ में आने योग्य आकर्षक स्वरूप में ऐसी सूचनायें दे दे जो भारत के साथ हमारे निकट सम्बन्ध के कारण हमारे लिए विशेष आवश्यकता की पूर्ति करने वाली हों।

विधि (कानून) विज्ञान और कला के पारिभाषिक साहित्य में ऐसा बहुत कुछ है जिसमें सामान्य पाठक भी रुचि ले सकता है, किन्तु एक तो (विश्व-साहित्य की) इस शृंखला का क्षेत्र बहुत ही सीमित है दूसरे (प्रस्तुत कृति में) स्थान की कमी भी कम कारण नहीं है जिससे उक्त परिभाषिक साहित्य को इस कृति में छोड़ दिया गया है। किन्तु मुझे विश्वास है कि परिशिष्ट में जो संक्षिप्त रूप रेखा दी गई है वह उच्चकोटि के समस्त ग्रन्थकारों के विषय में छात्र को दिशा निर्देश देने के लिए पर्याप्त होगा।

ग्रन्थ सूची विषयक टिप्पणियों के विषय में मुझे विश्वास है कि यद्यपि आवश्यकतानुसार इन्हें विस्तार में सीमित कर दिया गया है (ये सूचियां बहुत संक्षेप में दी गई हैं) फिर भी वे छात्र को इस योग्य बना देंगी कि उसे विस्तार के जिन विषयों की आवश्यकता हो उनमें और आगे सूचनायें प्राप्त कर ले। उदाहरण के लिए पाठ्य (मूलग्रन्थ) में भी मोटे अनुमान के अनुसार तिथियों के जो प्रमाण स्थान-स्थान पर सारांश रूप में पुस्तक के मूल कलेवर में दे दिये गये हैं।

संस्कृत साहित्य के इस इतिहास के लिखने में मैंने प्राचीन भारत के जीवन और विचारों का अधिक विस्तार के साथ वर्णन किया है जैसे—(जीवन और

विचार) उस साहित्य ने अपने कलेवर में समाविष्ट कर लिए हैं (यह उसकी अपेक्षा अधिक है) जैसाकि सम्भवत: यूरोपियन साहित्य के विषय में आवश्यक प्रतीत हुआ हो। यह मैंने कुछ तो इसलिए किया है क्योंकि संस्कृत साहित्य बिल्कुल स्वतन्त्र सभ्यता का प्रतिनिधित्व करता है जो पश्चिम की सभ्यता से पूर्णरूप से भिन्न है। अत: उस सभ्यता के विवेचन की आवश्यकता औरों की अपेक्षा अधिक है। (विस्तार में जाने का) आंशिक (दूसरा) कारण यह है कि क्योंकि भारतीय सभ्यता की निरन्तरता के कारण वर्तमान भारत की धार्मिक और सामाजिक संस्थायें अतीत की उन संस्थाओं द्वारा निरन्तर की हुई दृष्टांत स्वरूप व्याख्यायें ही हैं।

प्रोफेसर मैक्समूलर और वेवर की उपर्युल्लिखित पुस्तकों के अतिरिक्त मैंने एल० वान् श्योडर की उच्चकोटि की 'इण्डियेन लिटलेचर उण्ड कल्चर' १८८७ का भी अत्यधिक उपयोग किया है। और आगे बढ़कर मैंने एक रूप में या दूसरे रूप में ग्रन्थ सूची परक टिप्पणियों में उल्लिखित लगभग सभी पुस्तकों अथवा एक शाखापरक विवरणों को देखा है। जो कुछ मैंने लिखा है उसका बहुत बड़ा भाग संस्कृत साहित्य के मेरे अपने अध्ययन पर आधारित है।

उदाहरण के रूप में जो उद्धरण मैंने दिए हैं उन सबको मैंने स्वयं ध्यान पूर्वक मौलिक रचनाओं से चुना है। ३३३ पृष्ठ (अनुवाद में पृ०३१४-१५) पर हर्ष चरित के कोडवेल और टामस के उच्चकोटि के अनुवाद से छोटे से उद्धरण को छोड़कर इन सबके अनुवाद मेरे अपने हैं। यह सच है कि ऋग्वेद के पद्यों के अपने अनुवाद में समय-समय पर मैंने ग्रिफिथ से एक पंक्ति या एक मुहावरा ले लिया है। पद्यों के मेरे सभी अनुवाद (मूल के) इतने निकट हैं जितना कि छन्द का प्रयोग मुझे अनुमति देता है। जहां तक संभव हो सका है मैंने मूल के ताललय बद्ध छन्द के परिमाण को पुनरुत्पादित करने का पूरा प्रयत्न किया है। किन्तु नाटकों से लिए गए उद्धरण इसका अपवाद हैं जिनमें मैंने सर्वदा मुक्तच्छन्द का प्रयोग किया है। पूरी पुस्तक में सर्वत्र मैंने संगीत को बचाने की चेष्टा की है क्योंकि उससे संस्कृत के मूल में मिथ्या प्रतिनिधित्व (गलत-बयानों या भ्रान्ति) की सम्भावना हो सकती थी।

संस्कृत शब्दों के अनुवाद में मेरा पथ प्रदर्शन ऐसे अक्षरों को बचाने की इच्छा ने किया जो कि उन लोगों को गलत दिशा में डाल सकते थे जो लोग संस्कृत नहीं जानते। इसीलिए मैंने उस व्यवस्था से प्राप्त कतिपय विशेषताओं से स्वयं को अलग रखा है जिन पर आजकल संस्कृत के सभी विद्वान लगभग

एक मत है और दूसरे स्थानों पर जिनका अनुसरण मैं स्वयं करता हूं। इस लिए c और ch (च और छ) के स्थान पर मैंने क्रमशः ch और chh का प्रयोग किया है, यद्यपि कुछ स्थानों में जहां ये दोनों मिलते हैं (च्छ) वहां पर मैंने cch को ही (chchh के स्थान पर) अवशिष्ट रहने दिया है। और भी आगे मैंने मुर्धन्य (ष) के लिए s के स्थान पर sh और तालव्य (श) के लिए ś के स्थान पर Ç का प्रयोग किया। मैंने कण्ठ्य (ङ) n और तालव्य (ञ) n में विभेद का परिचय देने की आवश्यकता नहीं समझी। छापे में सामान्य रूप से (n) का प्रयोग किया है उदाहरण के लिए अङ्ग और पञ्च (का एक ही रूप में प्रयोग किया है।) जो पाठक सस्कृत से अपरिचित हैं वह इस प्रकार सभी व्यञ्जनों का अंग्रेजी के समान सामान्य प्रयोग करते हुए सभी शब्दों का ठीक उच्चारण करेगा। केवल यह स्मरण रखना है कि इटैलियन के समान स्वरों का प्रयोग होना चाहिए और e (ए) तथा o (ओ) सर्वदा दीर्घ होते हैं।

मैं अपने मित्र एवं कार्पस क्रिष्टी कालेज के संयुक्त सदस्य तथा प्राध्यापक श्री एफ० एस० सी० एस० स्किलर का कतिपय सुझाव देने के लिए अभारी हूं जिन्होंने दर्शन पर अध्याय के अन्तिम प्रूफ को पूर्ण रूप से देखा। मैं अपने शिष्य बोडेन संस्कृत स्कालर और वेलियल शास्त्रीय विद्वान ए० बी० कीथ का भी आभारी हूं जिन्होंने बड़े ध्यान से सभी अन्तिम प्रूफ पढ़े। मैं उनका केवल इसलिए अभारी नहीं हूं कि उन्होंने मुद्रण की कुछ संख्यक अशुद्धियां दूर कीं; किन्तु इसलिये भी कि विषय वस्तु के क्षेत्र में भी कतिपय बहुमूल्य समीक्षायें कीं।

१०७ बनवरी रोड आक्सफोर्ड **ए० ए० मैक्डोनल**

२ दिसम्बर १८९९

संस्कृत साहित्य का इतिहास

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वरा ।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम् ।।

\+ + +

यावद्भारतवर्षं स्याद्यावद्विन्ध्यहिमालयौ ।
यावद्गङ्गा च गोदा च तावदेव हि संस्कृतम् ।।

\+ + +

न जाने विद्यते किंतन्माधुर्यमिह संस्कृते ।
सर्वदैव समुन्मत्ता येन वैदेशिका वयम् ।।

\+ + +

जयन्ति ते पञ्चमनादमित्र,
चित्रोक्तिसन्दर्भविभूषणेषु ।
सरस्वती यद्वदनेषु नित्य-
माभाति वीणामिव वादयन्ती ।।

\+

प्रथम अध्याय:

विषय-प्रवेश

पूर्ववृत्त

पुनर्जागरण के समय से लेकर संस्कृति के इतिहास में ऐसी कोई विश्वव्यापी महत्त्व की घटना सम्पन्न नहीं हुई जैसी कि १८वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में संस्कृत साहित्य की खोज। सिकन्दर के आक्रमण के बाद यूनानी लोग किसी सीमा तक भारतीय शिक्षा से परिचित हो गए थे। मध्ययुग में अरब के लोगों ने पश्चिम को भारतीय विज्ञान विद्या से परिचित करा दिया था। यूरोप के कतिपय धर्म प्रचारक १६वीं शताब्दी से ही प्रारम्भ कर बाद के वर्षों में भारत की प्राचीन विद्या की सत्ता से केवल परिचित ही नहीं हो गए थे अपितु उन लोगों ने उसका कुछ ज्ञान भी प्राप्त कर लिया था और १६५१ जैसे प्रारंभिक चरण में ही अब्राहीम रोगर ने डच भाषा में संस्कृत के कवि भर्तृहरि का अनुवाद भी प्रस्तुत कर दिया था। फिर भी अब से लगभग १२० वर्ष पहले तक संस्कृत साहित्य के अस्तित्व के विषय में यूरोप में कोई प्रामाणिक सूचना नहीं थी केवल अस्पष्ट तर्क वितर्क चलता था जिसमें कहानियों के माध्यम से भारतीयों की विद्वत्ता का काल्पनिक विवरण प्रसार पा रहा था। वाल्टेयर ने Essai surles Mocurs etc Esprit des Nations' शीर्षक निबन्ध लिखा था जिसमें भारतवर्ष से लाए हुए एक ग्रन्थ 'एजूरवेदम' की उसने जिस उत्साह के साथ प्रशस्ति गाई थी वह अपरिपक्व था, उसे इस पुस्तक की सूचना पिछली शताब्दी के मध्य में प्राप्त हुई थी। क्योंकि बाद में यह रचना १७वीं शताब्दी में एक जेसूट पादरी द्वारा की हुई एक जाली रचना सिद्ध हुई। इस गढ़ी हुई कूट रचना के द्वारा जिस अन्धविश्वास और अयथार्थ ज्ञान का समर्थन और प्रचलन हुआ था, जब वास्तविक संस्कृत साहित्य के अनुसन्धान की घोषणा कर दी गई तब भी वह अविश्वास दूर तक वर्तमान शताब्दी तक जीवित रहा। परिणाम स्वरूप दार्शनिक डुगाल्ड स्टीवर्ट ने एक निबन्ध लिखा जिसमें उसने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि केवल संस्कृत साहित्य ही नहीं संस्कृत भाषा भी एक वह छल है जो धूर्त और कुटिल ब्राह्मणों ने सिकन्दर की विजय के बाद

यूनानियों के आदर्श पर किया है। वास्तविकता यह है कि १८५८ जैसे उत्तर-वर्ती काल में भी डब्लिन के एक प्रोफेसर ने विस्तार पूर्वक इस दृष्टिकोण का समर्थन किया है।

१८वीं शताब्दी का अन्तिम चरण और उसके बाद

संस्कृत के अध्ययन के लिए पहली प्रेरणा हमारे अधिकार क्षेत्र के भारतीय प्रदेशों कीं प्रशासन व्यवस्था की व्यावहारिक आवश्यकताओ ने प्रदान की। उस समय लार्ड वारेन हेष्टिग्ज गवर्नर जमरल थे, उन्हें हिदुन्ओं पर जहां तक सम्भव हो उन्हीं के कानून और रीति-रिवाजों से शासन करने में स्पष्ट रूप से लाभ दिखलाई दिए। अतएव उन्होंने कतिपय ब्राह्मणों से प्राचीन भारत के सर्वोत्तम अधिकारी धर्मशास्त्रों की सार संग्रहपरक एक निबन्ध रचना करवाई। इस संस्कृत सार संग्रह के फारसी अनुवाद के माध्यम से एक अंग्रेजी संस्करण सन् १७७६ में प्रकाशित किया गया। इस ग्रन्थ की प्रस्तावना में संस्कृत लिपि के नमूने देने के अतिरिक्त पहली बार भारतीय भाषा और साहित्य के विषय में विश्वसनीय सूचनायें प्रदान की गईं। वास्तविक संस्कृत लेखों से यूरोप को परिचित कराने की दिशा में सचमुच पहला कदम चार्ल्स विल्किस ने उठाया। उन्होंने वारेन हेष्टिग्ज के प्रोत्साहन से वनारस में संस्कृत का पर्याप्त ज्ञान प्राप्त किया और १७८५ मेंभगवद्गीता या 'एक आराध्य के गीत' का प्रकाशन किया और दो वर्ष बाद हितोपदेश या 'मैत्रीपूर्ण परामर्श' नामक अत्यन्त प्रसिद्ध लघुकथाओं के संग्रह का संस्करण प्रकाशित किया।

वस्तुतः सर विलियम जोंस (१७४६-९४) पश्चिम में संस्कृत शिक्षा के मार्ग दर्शक थे। ये ही प्रतिभाशाली बहुमुखी प्राच्य विद्या विशारद थे जिन्होंने भारतवर्ष में ११ वर्ष की अपनी लघु जीवनयात्रा में भारतीय प्राचीनता के अध्ययन की दिशा में तीव्र अनुराग जागृत किया, यह कार्य उन्होंने अपने अथक साहित्यिक अध्यवसाय और १७८४ में बंगाल की एशियाटिक सोसायटी की स्थापना द्वारा सम्पन्न किया। अतिशीघ्र संस्कृत का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त कर उन्होंने १७८९ में संस्कृत के सर्वोत्तम नाटक शकुन्तला का अनुवाद प्रकाशित किया जिसका हर्डर और गेटे जैसे निर्णायकों द्वारा उत्साह के साथ स्वागत किया गया। इसके अनुपद मनु के धर्मग्रन्थ का अनुवाद सामने आया जो कि संस्कृत की कानूनी पुस्तकों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। सर विलियम जोंस को इस बात का भी श्रेय दिया जा सकता है कि वे उन लोगों में प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने कभी भी संस्कृत मूलग्रन्थ के संस्करण को छापने का कार्य किया।

हम इसके बाद हेनरी टामस कोलब्रुक (ई० सन् १७६५-१८३७) के महान नाम की ओर आते हैं जो असाधारण उद्यमशील व्यक्ति थे और जिनमें प्रतिभा की दुर्लभ स्वच्छता के साथ समीक्षा की संयत गम्भीरता का समन्वय विद्यमान था। वे ही प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने संस्कृत भाषा और साहित्य को वैज्ञानिक पद्धति के साथ हाथ में लिया और बहुत से मूलग्रन्थों, अनुवादों और निबंधों का प्रकाशन किया जिनमें संस्कृत शिक्षा की लगभग सभी शाखा प्रशाखाओं का प्रतिनिधित्व किया गया था और इस प्रकार उन्होंने दृढ़ आधार-भूमिका का निर्माण किया जिस पर बाद के विद्वानों ने निर्माण कार्य किया।

भाषा विज्ञान का सूत्रपात

इस शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में जब कोलब्रुक अपनी साहित्यिक गति-विधि का सूत्रपात कर रहे थे, महायुद्ध की अद्भुत वीर कथाओं ने संस्कृत के प्रायोगिक ज्ञान की ओर जनमानस को उन्मुख किया जिसका प्रवर्तन उन दिनों यूरोप महाद्वीप में हो रहा था। एक अंग्रेज अलैग्जैण्डर हैमिल्टन (१७६५-१८२४) जिसने भारत में संस्कृत का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया था १८०२ में संयोगवश अपने घर के मार्ग में फ्रांस से होकर गुजर रहा था। ठीक उसी समय अभिनव शत्रुता फूट पड़ी और देश में सभी अंग्रेजों के प्रतिकूल नैपोलियन के शासनपत्र ने पैरिस में हैमिल्टन को बन्दी बना लिया। उस शहर में अपनी लम्बी अनैच्छिक स्थिति की अवधि में उन्होंने कतिपय फ्रांसीसी विद्वानों और विशेष रूप से जर्मन के रोमैण्टिक कवि फ्रीडेरिक श्लेगल को संस्कृत की शिक्षा दी। इस अध्ययन अध्यापन के जो अनेक परिणाम निकले जिनमें श्लैगल द्वारा 'भारतीयों की भाषा और उनके विवेक' पर पुस्तक का १८०८ में प्रकाशन अन्यतम परिणाम था। इस पुस्तक ने भाषा विज्ञान के क्षेत्र में तुलनात्मक और ऐतिहासिक पद्धति का प्रवर्तन कर क्रांति उत्पन्न करने की तुलना में कम कार्य नहीं किया। इस ग्रन्थ ने तुलनात्मक भाषा विज्ञान की आधार शिला रक्खी जिस पर फ्रांज बाप ने १८१६ में ग्रीक, लैटिन, फारसी और जर्मन भाषाओं से तुलना करते हुए संस्कृति की रूप पद्धति पर एक निबंध लिखा। इसके अतिरिक्त श्लेगल की रचना ने संस्कृत के अध्ययन के क्षेत्र में जर्मनी में इतना अधिक उत्साह जागृत कर दिया था कि उनके समय से लेकर शिक्षा के इस क्षेत्र में जो बढ़ी-चढ़ी प्रगति हुई उसका श्रेय उनके देश के लोगों के अध्यवसाय को ही प्रमुख रूप से हो जाता है।

वेदों पर कार्य

संस्कृत के अध्ययन के प्रारम्भिक दिनों में यूरोप के लोग भारत की

प्राचीन भाषा के केवल उस बाद वाले स्तर से परिचित हुए थे जिससे पण्डित लोग परिचित हैं और जो सामान्य रूप से शास्त्रीय संस्कृत कही जाती है। परिणाम यह हुआ कि विद्वानों का ध्यान केवल इसी भाषा (लौकिक संस्कृत) में लिखे हुए साहित्य में ही बंधा रहा और लगभग एकमात्र यह स्थिति इस शताब्दी के मध्य तक बनी रही। यह सच है कि कोलबुक ने १८०५ जैसे प्रारम्भिक काल में ही अपने निबंध 'वेदों पर' (On the Vedas) में पुराने समय के साहिंत्य के बारे मे बहुमूल्य सूचनायें दे दी थीं। लगभग एक चौथाई शताब्दी बाद में एक जर्मन विद्वान एफ. रोजेन ने प्राच्य भारत भवन में विद्य-मान बहुमूल्य पाण्डुलिपियों के संकलन की सहायता से यूरोप को इस अधिक प्राचीन साहित्य से परिचित कराने की योजना बनाई और उनके असामयिक निधन के कुछ ही समय बाद सन १८३८ में ऋग्वेद के वस्तुतः उनके द्वारा सम्पादित प्रथम अष्टक का संस्करण प्रकाशित किया गया। किन्तु यह कार्य तब तक सम्पन्न नहीं हो सका जब तक वैदिक भाषा विज्ञान के जन्मदाता रूडाल्फ राथ (१८२१-६५) ने वेद के साहित्य और इतिहास पर सन् १८४६ में अपनी युग प्रवर्तक लघु पुस्तक का प्रकाशन नहीं कर दिया और तब संस्कृतज्ञों के अध्य-यन ने वेदों के अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन और अधिक महत्त्वपूर्ण साहित्य में स्थायी उत्कट प्रेरणा प्राप्त की। उस समय से ये अध्ययम इतने उत्साह के साथ सतत संचालित रक्खे गए कि वेद के लगभग सभी बहुमूल्य ग्रन्थ और साथ ही साथ परवर्ती युग के भी ग्रन्थ पूर्णरूप से विश्वसनीय संस्करणों के साथ पिछले ५० वर्षों के अन्तराल में उपलब्ध करा दिए गए।

संस्कृत साहित्य का महत्व और विश्वकोष

इस प्रकार पूरा किए हुए कार्य कलाप का मूल्यांकन करने में मस्तिष्क में यह ध्यान रखना चाहिए कि इस दिशा में कार्य करने वालों की संख्या दूसरे समकक्ष क्षेत्र में कार्य करने वालों की अपेक्षा बहुत कम रही है जबकि दवे का साहित्य यूनान के शेष बचे हुए साहित्य के परिमाण में कम से कम बराबर अवश्य है। इस प्रकार एक शताब्दी के कार्यकाल में संस्कृत का वह समस्त क्षेत्र छान डाला गया है जो परिमाण में रोम और यूनान दोनों के सम्मिलित साहित्य को पार कर जाता है। इसकी बहुत बड़ी राशि का सम्पादन हो चुका है और इसकी मूल्यवान् रचनाओं का योग्य अधिकारी विद्वानों द्वारा अनुवाद कर दिया गया है। बहुत समय से इन विद्वानों के उपयोग के लिए एक महाकोष विद्यमान है जो ऐसे किसी शब्दकोष की तुलना में अधिक विशाल भी है और अधिक वैज्ञानिक भी जो कि अब तक किसी शास्त्रीय भाषा को प्राप्त हुआ

है। संस्कृत साहित्य के प्रत्येक विभाग में विस्तृत अनुसन्धान संख्या में इतने अधिक हो गए हैं कि इन सब अनुसन्धानों को अपने कलेवर में समाहित करते हुए एक परिपूर्ण विस्तृत ग्रन्थ की रचना एक आवश्यकता बन गई हैं। इसी आवश्यकता का अनुसरण करते हुए भारतीय आर्यों की प्राचीनता के समस्त क्षेत्र को आत्मसात् करने वाले एक विश्वकोष की रचना की योजना बनाई गई जो उसी प्रकार की किसी दूसरी कार्ययोजना की अपेक्षा अधिक विस्तृत है और इस समय ष्ट्रॅस वर्ग से पृथक् पृथक् खण्डों में प्रकाशित हो रही है। इसमें लग॰ भग ३० विशेषज्ञ विद्वान अपना योगदान कर रहे हैं। इन विद्वानों की राष्ट्रीयता पृथक् पृथक् है। इसके लब्ध प्रतिष्ठ सम्पादक वियना के निवासी प्रोफेसर बुलहर की अप्रैल १९९९ में करुण मृत्यु से संस्कृत विद्वत्समाज को अपूरणीय क्षति का आघात सहन करना पड़ा है। उनके द्वारा प्रारम्भ किए हुए कार्य को भारतीयता के एक-दूसरे विश्रुत विशेषज्ञ गेटिंगेन निवासी प्रोफेसर कीलहोर्न द्वारा पूरा किया जा रहा है।

यद्यपि संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में अब तक इतना अधिक प्रकाशित किया जा चुका है फिर भी संस्कृत पाण्डुलिपिओं की जो बहुत बड़ी संख्या यूरोप और भारत के पुस्तकालयों में सुरक्षित है उनका परीक्षण सिद्ध करता है कि वहां अब भी छोटी-छोटी कृतियां प्रतीक्षा कर रही हैं और इस बात की संभावना है कि वे किसी सम्पादक के परिश्रम का प्रतिदान कर सकें।

संस्कृत साहित्य के अध्ययन पर इस देश में अब तक जितना ध्यान दिया गया है उससे कहीं अधिक का यह अधिकारी है, क्योंकि हिन्दुओं के इस प्राचीन दायभाग में उनकी भाषा उनके धार्मिक और बौद्धिक जीवन एवं विचार-संक्षेप में समस्त संस्कृति का मूल विद्यमान है, उन हिंदुओं का जो हमारे भारतीय साम्राज्य के निवासियों का एक बहुत बड़ा बहुमत बनाते हैं। दूसरी बात यह है कि समस्त प्राचीन साहित्यों में आन्तरिक मूल्य एवं सौंदर्य की दृष्टि से भारतीय साहित्य केवल यूनानी साहित्य की अपेक्षा दूसरे दरजे का कहा जा सकता है। मानव विकास के स्रोत की दृष्टि से यह उससे (ग्रीक साहित्य से) अधिक अच्छा भी है। इसका प्रारम्भिक काल ग्रीक साहित्य की किसी भी रचना से अधिक पुराना होने के कारण श्रद्धा-विश्वास के अधिक आदिम स्वरूप का परिचय देता है। इसलिए यह विश्व के किसी साहित्यिक स्मारक की अपेक्षा धार्मिक विचारों के विकास का अधिक स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जिस प्रकार संस्कृत भाषा की खोज ने तुलनात्मक भाषा विज्ञान की आधारशिला रखी ठीक उसी प्रकार वैदिक साहित्य

का परिचय एडलबर्ट कुहन और मैक्समूलर द्वारा तुलनात्मक पुराण विज्ञान के प्रवर्तन में फलित हुआ।

यद्यपि अपनी अधिकांश शाखाओं में इसने उत्कर्ष प्राप्त किया तथापि संस्कृत साहित्य ने धर्म और दर्शन में प्रमुख रूप में महत्ता प्राप्त की। यारोपीय परिवार के अन्तर्गत भारतीयों का ही एक ऐसा अनुभाग है जिसने महान राष्ट्रीयधर्म ब्राह्मणधर्म को जन्म दिया और साथ ही विश्वधर्म बौद्ध धर्म को भी उत्पन्न किया जबकि अन्य समस्त अनुभागों में इस क्षेत्र में मौलिकता दिखलाने से बहुत दूर रहकर बहुत लम्बे समय से केवल विदेशी विश्वास को ही अपनाया। भारतीयों का बौद्धिक जीवन किसी दूसरी जाति के बौद्धिक जीवन की अपेक्षा, वास्तव में, सर्वदा धार्मिक विचारों से नियन्त्रित रहा। इसके अतिरिक्त भारतीयों ने निरपेक्ष रहकर (स्वतन्त्ररूप से) दर्शन की कई पद्धतियों का विकास किया जो उनकी बढ़ी-चढ़ी मानसिक मौलिक कल्पना और विचार शक्ति का प्रमाण देता है। निश्चय ही ये दोनों विषय हम लोगों के लिए जो बहुत बड़ी अभिरुचि का कारण हैं वह इस बात में उतना अधिक नहीं हैं कि उन्होंने इनके परिणाम (सिद्धान्त) प्राप्त कर लिए हैं जितना कि इस बात में हैं कि संस्कृत साहित्य में धर्म और दर्शन के विकास के प्रत्येक कदम का अनुसंधान किया जा सकता है।

संस्कृत साहित्य की मौलिकता—

समग्र रूप में प्राचीन संस्कृत साहित्य की महत्ता अधिकांश रूप में उसकी मौलिकता में है। प्राकृतिक दृष्टि से उत्तर में अपनी विशाल महापर्वत श्रृङ्खला के अवरोध के कारण अलग-थलग किये हुए भारतीय प्रायद्वीप ने आर्यों के आक्रमण के समय से लेकर अपना एक पृथक् विश्व बना लिया जिस पर अद्वितीय (विचित्र) स्वरूप की आर्य सभ्यता शीघ्रता के साथ फैल गई और तब से लेकर सर्वदा अपना अधिकार जमाए रही। जब ई० पू० चौथी शताब्दी की समाप्ति के निकट ग्रीक लोगों ने उत्तर-पश्चिम प्रदेश पर आक्रमण किया भारतीयों ने तब तक पहले ही अपनी राष्ट्रीय संस्कृति का परिश्रम के साथ निर्माण कर लिया था जो विदेशी प्रभावों से सर्वथा निर्मुक्त रही थी। और फारस वालों 'यूनानियों' शकों, मुसलमानों द्वारा लहर के समान निरन्तर आक्रमण-प्रवाहों के होते हुए भी भारतीय आर्य जाति का राष्ट्रीय जीवन विकास और साहित्य व्यावहारिक रूप में बिना रुकावट के उस समय तक अपरिवर्तित बना रहा जब अंग्रेजी अधिकार युग प्रारम्भ हुआ। यारोपीय मूल की किसी भी दूसरी शाखा ने इनके जैसे स्वतन्त्र एकाकी विकास का सौभाग्य नहीं प्राप्त

किया। चीन को छोड़कर कोई भी दूसरा देश अपनी भाषा, अपने साहित्य, धार्मिक विश्वासों, रीतिरिवाजों और अपनी घरेलू तथा सामाजिक रूढ़ियों का तीन हजार से भी अधिक वर्षों का अप्रतिहत लेखा जोखा प्रस्तुत नहीं कर सकता।

भारतीय सभ्यता की इस ध्यान देने योग्य निरन्तरता को प्रमाणित करने के लिए कतिपय उदाहरण सहायक होंगे। संस्कृत अब भी सहस्त्रों शिक्षित ब्राह्मणों द्वारा उसी प्रकार बोली जाती है जैसे यह हमारे ई० सन् प्रारम्भ होने से कतिपय शताब्दी पूर्व बोली जाती थी। साहित्यिक उद्देश्यों के लिए इसका प्रयुक्त किया जाना अब तक समाप्त नहीं हुआ है क्योंकि अब भी इस प्राचीन भाषा में लिखी हुई अनेक पुस्तकें और पत्रिकायें निर्मित की जाती हैं। वर्तमान शताब्दी में मुद्रण पद्धति के प्रवर्तित हो जाने पर भी भारत में सैकड़ों पुस्तकालयों में संस्कृत पाण्डुलिपियों की हस्तलेखन प्रथा अब तक अविच्छिन्न रूप में प्रचलित है। वेद अब भी उसी प्रकार कण्ठस्थ किए जाते हैं जिस प्रकार सिकन्दर के आक्रमण के बहुत पहले किए जाते थे और यदि सभी पाण्डुलिपियां या उनकी मुद्रित पुस्तकें नष्ट कर दी जायें तो भी धार्मिक गुरुओं के ओंठों से उन्हें पुनरुत्पन्न किया जा सकता है। स्मरणातीत प्राचीनकाल से लेकर सावित्री (गायत्री) नामक एक वेदमन्त्र जो सूर्यदेव को सम्बोधित किया गया है अब तक हिन्दुओं की दैनिक पूजा में सुनाया जाता है। तीन हजार से भी अधिक वर्ष व्यतीत हो गए हैं जब से वर्तमान समय में भी संख्यातीत उपासक विष्णुदेव की उपासना करते हैं। इससे भी अधिक दूरवर्ती युगों पूर्व जो पद्धति प्रचलित थी उसी के अनुसार अब तक यज्ञयागादि के उद्देश्य से दो अरणियों (लकड़ियों) के साधन से उनको मथकर आग उत्पन्न की जाती है। सामाजिक रूढ़ियों में एक को पृथक कर उदाहरण देना पर्याप्त होगा कि आधुनिक हिन्दुओं की विवाह पद्धति अनिवार्य रूप से वही है जो ईसवी शताब्दी के प्रारम्भ के बहुत पहले प्रचलित थी।

साहित्य के दो युग—

प्राचीन भारतीय साहित्य का इतिहास दो प्रधान युगों में विभाजित किया जा सकता है - पहला है वैदिक युग जो सम्भवतः ई० पू० १५०० वर्ष जैसे आदिम युग से प्रारम्भ होकर अपने सबसे बाद के स्तर सम्भवतः २०० ई० तक फैला हुआ है। वैदिक काल के पूर्वार्ध में इसके साहित्य का स्वरूप रचनात्मक और काव्यात्मक था जबकि इसकी सभ्यता का केन्द्र सिन्धु नदी और उसकी सहायक नदियों का क्षेत्र वर्तमान पंजाब प्रान्त था। उत्तरार्ध में साहित्य

का विषय ईश्वर वाद की दृष्टि से विचारात्मक बौद्धिक और स्वरूप की दृष्टि से गद्यात्मक हो गया। जबकि आध्यात्मिक जीवन का केन्द्र गंगाघाटी में स्थानान्तरित हो गया। इस प्रकार वैदिक युग के प्रचलनकाल में ही वैदिक सभ्यता भारत के सम्पूर्ण प्रमुख क्षेत्र में फल गई जो कि विस्तृत क्षेत्र सिन्धु के मुहाने से गङ्गा के मैदानों तक विस्तीर्ण था और उत्तर में हिमालय एवं दक्षिण में विन्ध्याचल की श्रेणियों से घिरा हुआ था। दूसरा युग वैदिक साहित्य की अन्तिम उपशाखाओं का समवर्ती है और १००० ई० में मुसलमानों की विजय के साथ समाप्त हो जाता है। दृढ यथार्थता के साथ स्वीकार करें तो यही काल 'संस्कृत युग' कहलाता है। किसी एक निश्चित बिचार से यह युग वर्तमान काल तक आता हुआ समझा जा सकता है क्योंकि इसमें संस्कृत का साहित्यिक प्रयोग अब तक प्रचलित है प्रधानतया इसका प्रयोग टीकायें लिखने में होता है। इस दूसरे युग के मध्य में ब्राह्मण संस्कृति का प्रवर्तन हुआ और इसका प्रसार महाद्वीप के दक्षिण में चारों-ओर फैल गया जिसे दक्षिण या साउथ कहा जाता है। इन दोनों युगों को एक साथ लेने पर इनकी कालावधि में संस्कृत साहित्य ने लगभग सभी विभागों में ध्यान देने योग्य परिणाम दिखलाए। यूनान के प्रारम्भिक युग के असमान वैदिक युग ने केवल धार्मिककृतियों को ही जन्म दिया, प्रगीत काव्य के क्षेत्र में गुणों के उच्चस्तर को प्राप्त कर लिया और बाद में गद्यशैली के निर्माण की दिया में कुछ प्रगति प्राप्त की।

संस्कृत युग सामान्य रूप से लौकिक विषयों को आवेष्टित किये हुए है। इसने साहित्य की अनेक शाखाओं में प्रकर्ष प्राप्त किया—राष्ट्रीय क्षेत्र में भी और दरबारी महाकाव्यों में भी, प्रगीत काव्य में भी जिसमें नीति काव्य की प्रमुखता है, नाटकों में भी, परीकथाओं में भी, लघु कथाओं में भी और काल्पनिक आख्यानकों में भी। हमें सर्वत्र अत्यधिक मात्रा में सच्ची कविता के दर्शन होते हैं; हां यह अवश्य है कि शैली की दुरूहता और सतत परिवर्धमान कृत्रिमता के दोष से इसकी सुन्दरता उपहत हो जाती है। किन्तु इस काल ने कतिपय ऐसी रचनाओं को जन्म दिया जो सब मिलाकर सामञ्जस्य और सन्तुलन की भावना से अनुशासित हैं। इस प्रकार के विचारों का भारतीय सौन्दर्य शास्त्र के सिद्धान्तों पर बिल्कुल प्रभाव नहीं पड़ा है। अधिक सच बात तो यह है कि प्रवृत्ति अत्युक्ति की ओर रही है जिसने सभी दिशाओं में अपना स्वरूप प्रकट किया है। कर्मकाण्ड के परिपालन के क्षेत्र में छोटी-छोटी विधियों का लगभग अविश्वनीय विस्तार, तपश्चर्या का असाधारण मर्यातिक्रमण, ललितकला के क्षेत्र में पौराणिकता का हास्यजनक नीरस प्रतिनिधित्व, वर्णन में अत्यन्त बढ़ी-चढ़ी संख्याओं का अनेकशः उल्लेख, पौराणिक रचनाओं की अप-

रिमित राशि, गद्य के स्वरूपों में एक में (सूत्र रचना में) अतुलनीय संक्षिप्ती-करण, बाद की शैली में स्वभाव से ही विशाल समासों का प्रयोग ये कुछ ऐसे तत्त्व हैं जो भारतीय मस्तिष्क के इस दोष के चित्ताकर्षक रूप में निदर्शन हैं।

वैज्ञानिक साहित्य की विभिन्न शाखाओं–ध्वनिविज्ञान, व्याकरण, गणित, गणित ज्योतिष, औषधविज्ञान और विधि शास्त्र में भी भारतीयों ने ध्यान देने योग्य परिणाम प्राप्त किये हैं। इनमें कतिपय विषयों के अन्तर्गत ग्रीक लोगों ने जो सफलता प्राप्त की है उससे भारतीयों की उपलब्धियां निस्सन्देह कहीं अधिक आगे हैं।

इतिहास का अभाव

इतिहास भारतीय साहित्य का एक दुर्बल बिन्दु है। वस्तुतः इसकी सत्ता ही विद्यमान नहीं है। ऐतिहासिक बुद्धि का अत्यन्ताभाव इसका एक ऐसा लक्षण है कि संस्कृत साहित्य का सम्पूर्ण मार्ग इस दोष की छाया से आक्रान्त होकर अन्धकाराच्छन्न हो गया है। ठीक तिथि निर्धारण की पूर्ण अनुपस्थिति से यह साहित्य पीड़ित है और इसकी पीड़ा भोग रहा है। यह इस सीमा तक सच है कि भारतीय कवियों में सबसे बड़े कवि कालिदास का समय बहुत समय तक एक हजार वर्ष की सीमाओं के अन्तर्गत विवादग्रस्त बना रहा और अब भी एक या दो शताब्दियों की सीमा के बीच सन्देह से भरा हुआ है। इस प्रकार संस्कृत लेखकों की तिथियां अत्यधिक संख्यक विषयों में सन्निकटता के मोटे अनुमान पर आधारित हैं। पारस्परिक निर्भरता के अप्रत्यक्ष प्रमाण, उद्धरण या सन्दर्भ संकेत, भाषा के विकास या शैली के द्वारा इन तिथियों का अनुमान लगाया जाता है। जहां तक उनके जीवन की घटनाओं का सम्बन्ध है हम समान्यतः कुछ नहीं जानते और केवल कुछ ही विषयों में एक या दो सामान्य तथ्यों का हमें ज्ञान है। इस ध्यान देने योग्य परिणाम पर पहुंचने के विषय में दो कारण सम्मिलित हो गये ज्ञात होते हैं—पहली बात तो यह है कि प्राचीन भारत ने कोई इतिहास नहीं लिखा क्योंकि इसने कभी कोई इति-हास बनाया ही नहीं। प्राचीन भारतवासी कभी भी उस प्रकार के संघर्ष में होकर नहीं निकले जिस प्रकार ग्रीक लोगों को फारस में और रोमवासियों को प्यूनिक युद्धों में संघर्ष करना पड़ा। ऐसे किसी संघर्ष में होकर जो उनकी जाति को राष्ट्र के रूप में संयोजित कर देता और उनका विकास राजनैतिक महत्ता के रूप में हो जाता। दूसरी बात यह है कि महान कार्यों के अभिलेखों का सुरक्षित रखना स्वभावतः ब्राह्मणों का कर्तव्य था, उन ब्राह्मणों ने प्रारम्भ से ही इस सिद्धान्त को आत्मसात् कर लिया था कि सभी कार्य और सभी सत्तायें

व्यक्त बुराइयां हैं और इसलिये पुरानी घटनाओं के अभिलेखन और इतिहास के संरक्षण की ओर झुकाव का अनुभव उन्होंने कभी नहीं किया।

जबकि यह मामला इस प्रकार का था भारतीय साहित्य के इतिहास की तिथियां लगभग ५०० ई० तक दिखलाई पड़ना प्रारम्भ नहीं करतीं। वैदिक युग की तैथिकी सर्वथा अनुमानिक है जो पूर्ण रूप से आन्तरिक प्रमाणों पर आधारित है। भाषा और शैली में विभेद और उसी प्रकार धार्मिक और सामाजिक दृष्टिकोणों में अन्तर के द्वारा स्पष्टरूप में तीन मुख्य स्तर पहिचाने जा सकते हैं। इन स्तरों में प्रत्येक के विकास के लिए समय का युक्तियुक्त व्यवधान स्वीकृत किया जाना चाहिए, किन्तु यहां हम जो कुछ करने की आशा कर सकते हैं वह केवल इतना है कि हम शताब्दियों के अन्तर से सत्य के निकट पहुंच जायें। जो भी हो द्वितीय वैदिक स्तर की निचली सीमा ५०० ई० पूर्व के बाद की निश्चित नहीं की जा सकती क्योंकि इसके सबसे बाद के सिद्धान्तों को बौद्ध धर्म में पहले से ही मानकर चला जाता है और उच्चकोटि की सम्भावना के साथ विभिन्न बौद्ध परिषदों की अभिलिखित तिथियों के अनुसार गणना करने पर बुद्ध का परिनिर्वाण ४८० ई० पू० निश्चित किया गया है। वैदिक युग के प्रारम्भ के विषय में संस्कृत विद्वानों में निश्चित रूप से उस तिथि को बहुत ऊंचा उठाने (अति प्राचीन सिद्ध करने) की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। इसका प्रारम्भ बिन्दु २००० ई० पू० सामान्य रूप से प्रस्तुत किया जाता है। इसको सही मानने पर १५०० वर्ष के वास्तविक विस्तृत समय का भाषा और विचारों के विकास की दृष्टि से लेखा-जोखा देना आवश्यक हो जाता है जोकि होमर और यूनान के एटिक युग के अन्तराल से अधिक नहीं है। ४० वर्ष पूर्व प्रो० मैक्समूलर के द्वारा पहले ही १२०० वर्ष ई० पू० का अनुमान लगाया था जो अभीष्ट लक्ष्य से अपेक्षाकृत अधिक निकट प्रतीत होता है। ई० पू० १३०० से लेकर ई० पू० १००० तक के ३०० वर्ष के समय का व्यतीत होना वेदों की सर्वप्राचीन स्तुतिगानपरक कविताओं और सर्वाधिक नवीन रचनाओं के अन्तर को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। जब इस बात पर विचार किया जाता है कि अवेस्ता की भाषा का सबसे पुराना स्वरूप वेद की भाषा से इतना अधिक निकट है ही कि ध्वनि के कुछ सिद्धान्तों को लागू कर देने से ही अवेस्ता के पद्यों का प्रत्येक शब्द वैदिक रचना में परिणत किया जा सकता है कि वेदमन्त्रों की रचना ठीक रूप में केवल स्वरूप में ही नहीं किन्तु कवि भावना में भी अनूदित हो जाती है और आगे बढ़कर जब विचार किया जाता हैं कि जिस प्रकार हम वैदिक भाषा को जानते हैं उसी प्रकार यदि हम अवेस्ता भाषा को भी प्रारम्भिक स्तर पर जानते तो अवेस्ता भाषा

निश्चित रूप से संस्कृत से एक रूप सिद्ध हो जाती तब इस निष्कर्ष को बचाना असम्भव हो जाता है कि वैदिक साहित्य के रचनाकाल के प्रारम्भ के समय भारतीय शाखा ईरानी शाखा से बहुत कम समय पूर्व पृथक् हुई होगी और उत्तर पश्चिम भारत में १५०० ई० पू० जैसे प्रारम्भिक काल में भी कठिनाई से प्रविष्ट हुई होगी। वेदों की प्राचीनता के विषय में सभी पुरानी मान्यतायें वान निवासी प्रो० जैकोवी के हाल के सिद्धान्त द्वारा पीछे छोड़ दी गई जो यह मानते हैं कि यह समय कम से कम ४००० ई० पू० तक पीछे चला जाता है। यह सिद्धान्त गणित ज्योतिष की गणना पर आधारित है जिसका सम्बन्ध ऋतुओं के प्रारम्भ के विषय में परिवर्तन से है। प्रो० जैकोवी का विचार है कि ऋतुचक्र का यह परिवर्तन ऋग्वेद के समय से ही प्रारम्भ हो गया था। यह समस्त काल्पनिक गणना वेद के एक शब्द के अर्थ पर आधारित है जोकि इस सिद्धान्त के बिल्कुल प्रारम्भ बिन्दु का ही निर्माण करता है। यह स्वीकार कर लेनें पर कि उस शब्द का वह अर्थ केवल सन्देहास्पद ही नहीं है असम्भव भी है यह सिद्धान्त निश्चय ही अप्रमाणिक सिद्ध हो जाता है।

वेदोत्तरकाल

वेदोत्तर काल के विषय में आन्तरिक प्रमाणों के परिणामों के अतिरिक्त विदेशियों के आगमन के रूपमें कालनिरूपणविषयक महत्त्व के कतिपय सामान्य सीमा स्तम्भ भी विद्यमान हैं। इस प्रकार की सबसे पुरानी तिथि ई० पू० ३२६ में भारत पर सिकन्दर का आक्रमण है इसके बाद विभिन्न ग्रीक लोगों का भारत में निवास प्रारम्भ हो जाता है जिनमें सर्वाधिक ध्यान देने योग्य मेगस्थनीज है। ये लगभग ३०० ई० पू० के आसपास के वर्षों में पाटलिपुत्र (वर्तमन पटना) के दरबार में रहे थे और इन्होंने तत्कालीन भारतीय सामाजिक दशा का महत्त्वपूर्ण यद्यपि खण्डित अपूर्ण विवरण छोड़ा है। अनेक शताब्दियों बाद तीन चीनी बौद्धतीर्थ यात्रियों ने भारतदर्शन किया—फाह्यान (३९९ ई०) हुयेनसांग (६३०-६४५ ई०) और इत्सिंग (६७१-६९५ ई०) उनके यात्रा विवरण सुरक्षित रक्खे गये हैं और उन सभी का अब अंग्रेजी में अनुवाद हो चुका है। ये विवरण उनके समय की भारतीय सामाजिकदशा, धार्मिक विचार और बौद्धों के प्राचीन इतिहास पर बहुत अधिक प्रकाश डालते हैं। उनसे भारतीय साहित्य के विषय में भी कुछ सामान्य और कुछ विशिष्ट वास्तविकतायें संकलित की जा सकती हैं। विशेष रूप से हुयेन सांग तत्कालीन संस्कृत कवियों के विषय में कतिपय महत्त्वपूर्ण वक्तव्य प्रदान करता है। उनके समय से पहले यह सम्भव नहीं है कि हम किसी संस्कृत लेखक के विषय

में यह कह सकें कि अमुक लेखक किसी विशिष्ट वर्ष में जीवित था, इस विषय में भारत के तीन गणित ज्योतिषी अपवाद हैं जिन्होंने स्वयं ही ५वीं और ६ठी शताब्दियों में अपनी ठीक तिथियों का उल्लेख किया है। केवल पहले के दो चीनी लेखकों के द्वारा प्रदान की हुई सूचना से ही भारत में वर्तमान शताब्दी की बड़ी से बड़ी पुरातत्व विभाग की खोज सम्भव हो सकी है जिससे बुद्ध के जन्मस्थान के क्षेत्र कपिलवस्तु की पहिचान दिसम्बर १८९६ में सम्भव हुई है। हमारे (विचारणीय) काल की समाप्ति पर मुसलमानी विजय के समय देश का अत्यन्त बहुमूल्य विवरण हमें अरबी लेखक अल्वेरूनी से प्राप्त होता है जिसने सन् १०३० ई० में अपनी 'हिन्दुस्तान' नामक पुस्तक की रचना की।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि संस्कृत युग में भी ५०० ई० से पहले साहित्यक तिथिक्रम लगभग पूर्ण रूप से (दूसरे ग्रन्थों का) सापेक्ष ही था जिसमें पौर्वापर्य का निर्णय इस प्रकार के निर्णायक साधनों और लक्षणों से होता है जैसे शैली अथवा विचारों का विकास, नाम लेकर किन्हीं पूर्ववर्ती लेखकों का उल्लेख, यूनानी या किसी लब्धप्रतिष्ठ वंश परम्परा के साथ संबंध जैसे बिखरे हुए राजनैनिकता के उद्धरण- और गणित सम्बन्धी ऐसी वास्तविकता का वर्णन जो किसी निश्चित कालावधि से पहले जानी हुई नहीं हो सकती थी। बढ़ी-चढ़ी कल्पनाशीलता के कारण आधुनिक अनुसन्धानों ने तिथिक्रम की निश्चयात्मकता की दिशा में अत्यधिक प्रगति की है। अब सिक्कों, ताम्रपत्र के अनुदानों और शिला या स्तम्भ लेखों के प्रमाणों के आधार पर विभिन्न ख्यातनामा विद्वानों द्वारा महान अध्यवसाय और योग्यता के साथ भारतीय राजनैतिक इतिहास का जो नवनिर्माण किया जा रहा है उससे आने वाले वर्षों में इस दिशा में अधिक प्रकाश पड़ेगा इसमें सन्देह नहीं है। 'कार्पस इंस्क्रिप्सनम् इंडिकारम्, 'एपीग्राफिया इंडिया' तथा भारतीय पुरातत्व का अध्ययन करने में संलग्न अन्य अनेक पत्रिकाओं में इन (अनुसन्धानों) का प्रकाशन हो चुका है और हो रहा है। पिछले २० वर्षों के मध्य में शिलालेखों के अध्ययन के विस्तार ने भारतीय साहित्य और धर्म के इतिहास में निस्सन्देह महत्व की कुछ सीधी सूचनायें दे ही दी हैं। यह कार्य बाद के कुछ कवियों के समय निर्धारण और उसी प्रकार धार्मिक पद्धतियों और साहित्य के सभी वर्गों पर प्रकाश डालने के द्वारा सम्पन्न हुआ है। इस प्रकार हमारी काल (संवत्) गणना की प्रथम शताब्दी से लेकर बाद के वर्षों की संस्कृत एवं बोलचाल की प्राकृत भाषाओं में अत्यधिक लम्बाई की कतिपय उत्कीर्ण छन्दोबद्ध रचनाओं का पता चला है जो दरबारी कविता की सत्ता को प्रमाणित करती हैं। इससे पहले इस वास्तविकता का कोई सीधा प्रमाण ज्ञात नहीं था।

लिपि का विकास

संस्कृत साहित्य के सम्बन्ध में अपेक्षाकृत पुराने शिलालेख इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं कि वे भारतीय लेखन कला और उस समय की भाषा की स्थिति दोनों का चित्रण करते हैं। उनमें सबसे पुराना तीसरी शताब्दी ईशापूर्व का शिला एवं स्तम्भलेख महान् बौद्ध सम्राट अशोक का है जिसने उत्तर भारत पर २५९ से २२२ ई० पूर्व तक शासन किया और जिसके शासनकाल में तीसरी बौद्ध महासभा का आयोजन किया गया जिसमें सम्भवतः बौद्ध ग्रंथों के सिद्धान्त स्थिर किए गए। उस युग की राजनैतिक, धार्मिक और भाषा सम्बन्धी जो सूचनायें निष्कृष्ट रूप से प्राप्त होती हैं उनके मूल्य के विषय में इन शिलालेखों की महत्ता की बड़ी से बड़ी अत्युक्ति को कठिनाई से ही बढ़ा-चढ़ा हुआ कहा जा सकता है। कठियावाड़ में गिरनार (गिरि नगर) से उड़ीसा में धौली तक काबुल नदी के उत्तर में कपूरगिरि से खासी तक ये शिलालेख समस्त भारत में बिखरे पाए जाते हैं, इनका पुनर्लेखन किया गया है, इन्हें पढ़ा गया है और इनका अनुवाद किया गया है। इनमें बुद्ध के वास्तविक जन्म स्थान की स्मृति को चिरस्थाई बनाने के लिए अशोक द्वारा उत्कीर्ण किया गया एक शिलालेख केवल १८९६ के अन्त में ही प्राप्त किया जा सका है।

अशोक के ये शिलालेख भारतीय लेखन कला के सर्व प्राचीन संग्रह हैं। भारत में लिपि के प्रारम्भ और उसकी आयु के विषय में बहुत समय तक सन्देह और विवाद बने रहे जो हाल के प्रो० बुलहर के पुरा लिपि विषयक अनुसन्धानों से साफ हो गए हैं। उस महान् विद्वान् ने दिखलाया है कि प्राचीन भारत में दो प्रकार की लिपि ज्ञात थी एक खरोष्ठी कहलाती थी जो गांधार, (पूर्वी पाकिस्तान)और उत्तर पंजाब में चौथी शताब्दी ईसा पूर्व से २०० ईशवी तक प्रयुक्त होती थी, और जो सेमेटिक लिपि की आरमाइक शाखा से अधि-गृहीत की गई थी जिसका प्रयोग ५वीं शताब्दी ईशापूर्व होता था। यह अपनी मूल प्रवर्तक लिपि के समान सर्वदा दाहिनी ओर से बाईं ओर को लिखी जाती थी। दूसरी प्राचीन भारतीय लिपि ब्राह्मी लिपि कहलाती है, जैसा कि बुलहर दिखलाते हैं यही लिपि भारत की सच्ची राष्ट्रीय लिपि है; क्योंकि बाद की समस्त भारतीय वर्णमालाएं इसी से उत्पन्न हुई हैं। हां यह हो सकता है कि उनमें बहुत सी आज के समय में असमान प्रतीत हों। यह निश्चित रूप से बाईं ओर से दाहिनी ओर को लिखी जाती है। किन्तु यह इसकी मूलभूत दिशा नहीं थी यह बात चौथी शताब्दी ईशापूर्व की प्राप्त हुई एक मुद्रा से लक्षित की जाती है जिस पर खुदाई दाहिनी ओर से बाईं ओर को चलती है। प्रो०

बुलहर ने दिखलाया है कि यह लिपि सर्वप्राचीन उत्तरी सेमेटिक या फोने-शियन पद्धति पर आधारित है और एसीरिया के वटखरी और मोबाबा के पाषाणों पर इनका प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है जिनका समय ८९० ई० पू० के आसपास है। उन्होने (प्रो० बुलहर ने) तर्क दिया है जिसको स्वीकार करने की अधिक सम्भावना है कि भारत में इस लिपि का प्रवर्तन ८०० ई० पूर्व मैसो-पोटामियां की ओर से आने वाले व्यापारियों द्वारा किया गया था।

यह बात सच है कि प्राचीन भारतीय साहित्य में लिपि सम्बन्धी उद्धरण बहुत कम और बहुत परिवर्ती हैं। सम्भवतः किसी भी स्थिति में ईशापूर्व चौथी शताब्दी से पहले के नहीं हैं। अथवा अशोक के शिलालेखों की तिथि से बहुत लम्बे समय पहले के नहीं हैं। किन्तु इस विषय में यह सच है कि मौन के तर्क को (इस तर्क को कि इस विषय में लेखक मौन हैं और इस दिशा में कोई उल्लेख नहीं पाया जाता) बिल्कुल महत्त्व नहीं दिया जा सकता। क्योंकि यद्यपि लेखन पद्धति इस समय अत्यन्त विस्तीर्ण रूप में बहुत समय से प्रयोग में आ रही है वर्तमान भारतीय का राष्ट्रीय अध्ययन, अध्यापन अब तक मौखिक परम्परा पर ही आधारित है। पवित्र अभिलेख और उसी प्रकार वैज्ञानिक विषय भी हस्तलिखित प्रतियों से नहीं केवल गुरुमुख से ही प्राप्त किए जा सकते हैं और चूंकि केवल स्मृतिजन्य ज्ञान ही बहुमूल्य माना जाता है लेखन और हस्तलिखित प्रतियों का बहुत ही कम उल्लेख पाया जाता है। यहां तक कि आजकल के कवि भी पढे जाने की इच्छा नहीं करते किन्तु एक आशा संजोये रहते हैं कि उनकी रचनायें (कविसम्मेलनों में) सुनाई जायें। यह अज्ञात काल से चली आती हुई अभ्यास परम्परा वास्तव में प्रकट करती है कि भार-तीय कविता और विज्ञान का प्रारम्भ इतने समय पीछे तक जाता है जब लेखन कला अज्ञात थी और, जैसाकि ऋग्वेद में कहा गया है, मौखिक परम्परा की प्रथा लेखन कला के प्रवर्तन के पहले विकसित हो गई होगी। इसलिए जब लिपिज्ञान का उल्लेख होने लगा उससे बहुत पहले लिपि प्रयोग में आ गई होगी। किसी भी दृष्टि से देखें अशोक के शिलालेखों का लिपिज्ञान सम्बन्धी प्रमाण यह स्पष्ट रूप में प्रकट करता है कि ईशापूर्व तीसरी शताब्दी में लिखने की पद्धति कोई नया आविष्कार नहीं थी क्योंकि अधिकांश अक्षरों के कई-कई स्वरूप हैं और वे स्वरूप एक दूसरे से प्रायः अत्यधिक विविध रूप हैं, कभी-कभी उन स्वरूपों की संख्या ९ या १० तक पहुंच जाती है। दूसरी बात यह है कि सेमेटिक वर्णमाला से जो २२ वर्ण लिए गए थे उन्हें ४६ वर्णों की ब्राह्मी लिपि की वर्णमाला में अत्यन्त परिश्रम के साथ परिवर्तित करने में अत्यन्त लम्बे समय की आवश्यकता पड़ी होगी। प्रबुद्ध विद्वान बुलहर ने जो तर्क उप-

न्यस्त किए हैं उनके अनुसार जिस वर्णमाला का विद्वान ब्राह्मणों ने ध्वनि सिद्धान्तों के अधार पर परिश्रम पूर्वक निर्माण किया था वह पूर्ण वर्णमाला ई० पू० ५०० में अवश्य विद्यमान रही होगी। यह वह वर्णमाला है जो पाणिनि के महान संस्कृत व्याकरण में लगभग ईशापूर्व ४०० शताब्दी में स्वीकृत की गई थी और तब से लेकर अपरिवर्तित बनी रही। यह संस्कृत भाषा की सभी ध्वनियों का प्रतिनिधित्व ही नहीं करती किन्तु पूर्णरूप से वैज्ञानिक पद्धति पर क्रमबद्ध भी की गई है। पहले मूलस्वर (ह्रस्व और दीर्घ) आते हैं, उसके बाद दो स्वरों को मिलाकर संयुक्त स्वर और अन्त में समरूप वर्गों में व्यञ्जन उच्चारणोपकरणों के अनुसार आते हैं जिन स्थानों से वे बोले जाते हैं। इस प्रकार दन्त्य व्यजंन त, थ, द, ध, न एक साथ आते हैं, इसी प्रकार ओष्ठ वर्ण प, फ, ब, भ, म भी एक साथ आते हैं। दूसरी ओर हम यूरोप वासी २५०० वर्ष बाद भी और इस वैज्ञानिक युग में भी अब भी एक ऐसी वर्णमाला को काम में ला रहे हैं जो न केवल हमारी भाषा की समस्त वर्णध्वनियों का प्रतिनिधित्व करने में अपर्याप्त हैं अपितु उसमें असंबद्ध मनमाना क्रम भी है जिसमें स्वर और व्यजंन एक-दूसरे से इस प्रकार घुले मिले हैं जिस क्रम से वे ३००० वर्ष पहले सेमेटिक की आदिकालीन क्रम व्यवस्था से यूनानी भाषा में अपनाये गये थे।

तीसरी शताब्दी ई० पू० की उत्कीर्ण वर्णमाला में ब्राह्मी लिपि में दो प्रकार दृष्टिगत किए जा सकते हैं उत्तरी और दक्षिणी। पहली (उत्तरी) से उत्तरी वर्णमाला का समूह उत्पन्न हुआ है जो कि भारत की समस्त आर्य भाषाओं पर छा गया है। इन सबमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है नागरी (जिसको देवनागरी भी कहा जाता है) जिसमें प्रायः संस्कृत पाण्डुलिपियां लिखी जाती हैं और जिसमें संस्कृत तथा उसके समान ही मराठी और हिन्दी पुस्तकें भी नियमितरूप से छाई जाती हैं। यह अपने -लक्षण वर्णों के ऊपर समशीर्ष रेखा-से पहिचानी जा सकती है। इसमें सबसे पुराना उत्कीर्ण शिलालेख ८वीं शताब्दी का प्राप्त होता है और सबसे पुरानी लिखी हुई पाण्डुलिपि ११वीं शताब्दी की मिलती है। ब्राह्मी लिपि के दक्षिणी प्रभाग से ५ प्रकार की लिपि उत्पन्न हुई है जिन सबका प्रयोग विन्ध्य पर्वतमाला के दक्षिण में होता है। इनमें वे लक्षण भी हैं जो कर्णाटी और तैलङ्ग भाषाओं में प्रयुक्त होते हैं।

जिस लेखन सामग्री पर वे लिखे जाते हैं उनकी विनश्वरता के कारण चौदहवीं शताब्दी से पहले की कोई भी पाण्डुलिपि बहुत ही कठिनाई से मिलती है। भारत में प्रयोग किये जाने वाले दो लेखन उपकरण हैं—भोजपत्र की छाल और ताडपत्र। भोजपत्र का उपयोग भारत के उत्तर पश्चिम भाग से

प्रारम्भ हुआ जहां हिमालय के विस्तृत ढलान भोजपत्र के जंगलों से पूर्णरूप से आच्छादित हैं। धीरे-धीरे उनका उपयोग मध्य पूर्व और पश्चिम भारत में फैल गया। भोजपत्र पर लिखी सबसे प्राचीन जानी हुई पाण्डुलिपि ५वीं शताब्दी की प्राप्त होती है और खरोष्ठी में लिखी पाली की पाण्डुलिपि जो १८९७ में ज्ञात हुई थी उससे भी पुरानी है। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इस वस्तु का उपयोग कहीं अधिक पुराने समय तक जाता है। इस प्रकार हमारे पास कौंटस कर्टिपस का वक्तव्य विद्यमान है कि भारतीय लोग सिकन्दर के समय में लेखन पद्धति का उपयोग करते थे। शास्त्रीय संस्कृत लेखकों के प्रमाण और उसी प्रकार अल्वरुनी का कथन प्रकट करता है कि भोजपत्र के पर्णों का प्रयोग मध्य कालीन भारत में नियमित रूप से पत्र लेखन के लिए होता था।

संस्कृत पाण्डुलिपि में प्रयुक्त प्रथम भोजपत्र का उदाहरण ६वीं शताब्दी ईशवी से सम्बंध रखता है। यह जापान में सुरक्षित है; किन्तु इसका आलिखित प्रतिरूप बोडलियन पुस्तकालय में भी है। चीनी तीर्थयात्री ह्वेनसांग के अनुसार सातवीं शताब्दी में समस्त भारत में ताडपत्र का प्रयोग सामान्यतः प्रचलित था। किन्तु यह अनेक शताब्दियों पूर्व विज्ञात था यह बात इस वास्तविकता से सिद्ध होती है कि कम से कम पहली शताब्दी का ही एक ताम्रपत्र आकृति में ताडपत्र का अनुकरण करता है।

मुसलमानी विजय के साथ कागज का प्रवर्तन हुआ और उसी समय से पाण्डुलिपियों को लिखने के लिए इसका अत्यधिक व्यापक रूप में प्रयोग होने लगा। भारत में कागज पर लिखी सबसे पुरानी ज्ञात संस्कृत पाण्डुलिपि गुजरात से प्राप्त हुई है जिसका सम्बन्ध १३वीं शताब्दी के प्रारम्भिक भाग से है। उत्तरी भारत में जहां लिखने के लिए रोशनाई काम में आती थी कागज के प्राप्त हो जाने के बाद ताड़पत्र प्रयोग से बाहर हो गए। किन्तु दक्षिण भारत में जहां वर्णों के उत्कीर्ण करने के लिए शलाका का सर्वदा प्रयोग होता रहा है पाण्डुलिपि और पत्र दोनों के लिखने के लिए ताडपत्रों का प्रयोग अब तक सामान्य रूप से प्रचलित है। भोजपत्र और ताम्रपत्र की पाण्डुलिपियां एक साथ मिलाकर बीच में केवल छेद में डोरी डालकर या कुछ दूरी पर दो अलग अलग सूराखों में डोरी डालकर जोड़ दिया जाता है। इससे यह व्याख्या हो जाती है कि संस्कृत का सूराख वाचक ग्रन्थ शब्द किस प्रकार एक पुस्तक का अर्थ देने लगा।

जीवों से प्राप्त पदार्थों की शास्त्रोक्त अपवित्रता के कारण चमड़े या चर्मयन्त्र का भारत में पाण्डुलिपि तैयार करने में कभी प्रयोग नहीं हुआ। लेखों

को उत्कीर्ण करने के लिए ताम्रपत्रों का प्रयोग प्रारम्भिक काल से और प्रायिक रूप में होता रहा। ये नियमित रूप से या तो ताम्रपत्रों या भोजपत्र छालों के स्वरूप का अनुकरण करते रहे।

रोशनाई का वास्तविक प्रयोग (जिसका कि प्राचीनतम भारतीय नाम मसि है) ई० पू० दूसरी शताब्दी में होता था जैसा कि बौद्ध स्तूप की खुदाई से सिद्ध होता है और नेअरकोस तथा क्वींटस कर्टियस के वक्तव्यों से यह मानना भी बहुत अधिक सम्भव हो जाता है कि चौथी शताब्दी ई० पू० में इसका प्रचलन विद्यमान था।

संस्कृत के सभी पुराने हस्तलिखित ग्रन्थ, ताडपत्र, भोजपत्र या कागज पर स्याही और सिरकण्डे की लेखनी से लिखे जाते थे, 'लेखनी को प्राय: कलम' कहा जाता है (जो ग्रीक कलमोस शब्द से लिया गया है।) दूसरी ओर दक्षिण भारत में शलाका से ताम्रपत्र पर खुरच कर लिखने की प्रथा सर्वदा रही है। बाद में अक्षरों पर काजल या कोयला मलकर उन्हें कालाकर दिया जाता था।

संस्कृत की प्रत्येक प्रकार की हस्तलिखित प्रतियों को प्राय: लकड़ी की पतली पट्टियों के मध्य में रखकर उनके चारों ओर डोरी लपेट दी जाती थी और रंगीन वस्त्रों तथा कभी-कभी गोटे किनारी की पट्टियों से लपेट दिया जाता था। वे मन्दिरों के पुस्तकालयों विहारों, मठों, आश्रमों, महाविद्यालयों, राजदरबारों और उसी प्रकार व्यक्तिगत भवनों में सुरक्षित रखी जा रही हैं और अब भी रखी जाती है। ११वीं शताब्दी में धाराधिपति भोज के स्वाभित्व में एक प्रसिद्ध ग्रन्थागार था। अत्यधिक संख्या में व्यक्तिगत पुस्तकालय पर्याप्त प्राचीन काल में विद्यमान थे यह बात इस वास्तविकता से प्रकट होती है कि संस्कृत के लेखक बाण यह (लगभग ६०० ई०) ने हस्तलिखित पुस्तकों को पढ़ने के लिए एक पाठक को नियुक्त कर रखा था। अब भी समस्त भारत में ब्राह्मणों के अधिकार में हस्तलिखित संस्कृत पुस्तकों के उच्चकोटि के पुस्तकालय विद्यमान हैं।

भाषा के दो युग

साहित्य के समान वह प्राचीन भारतीय भाषा भी जिसमें यह साहित्य लिखा गया है दो मुख्य विभागों में विभाजित की जा सकती है — वैदिक और संस्कृत। समग्रदृष्टि से वैदिक भाषा संस्कृत भाषा से लगभग उतनी ही भिन्न है जितनी होमर की भाषा शास्त्रीय ग्रीक भाषा से या सैलिक सूक्तों की

लैटिन भाषा वर्रो की भाषा से भिन्न है। वैदिक भाषा में—जिसमें भारत का पवित्र साहित्य लिखा गया है—कई स्तरों को पहचाना जा सकता है। एक स्तर से दूसरे स्तर में संक्रमणों के अन्तर्गत यह क्रमशः तब तक आधुनिक होती जाती है जब तक परिणाम स्वरूप यह संस्कृत में विलीन नहीं हो जाती। अपने प्राचीनतम स्तर में भी वैदिक भाषा एक लोक भाषा नहीं समझी जा सकती, किन्तु यह समझना अधिक ठीक होगा कि यह गढ़ी हुई आर्य भाषा है जो पुरोहित गायकों के वर्ग में एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में सञ्चरित हुई है। इस विषय में स्वयं भाषा ही कई संकेत देती है। इनमें एक यह है कि इसमें साथ ही साथ विभिन्न भाषा कालों के स्वरूपों का भी प्रयोग किया जाता है। हां यह सच है कि वैदिक ऋषि इस अभ्यास में इतनी दूर नहीं जाता जितनी दूर तक होमर की लोकभाषा जाती है। वैदिक पुरोहित की बोलचाल की भाषा इन सूक्तों की भाषा से सम्भवतः इसी दृष्टि से भिन्न थी कि इसमें काव्यमय विन्यास और आर्ष भाषा का पुट नहीं होता था। वास्तविकता यह है कि प्रारम्भिक वैदिक युग में भी एक जाति-भाषा थी जैसा कि न्यूनाधिक रूप में उन सब भाषाओं में पाया जाता है जहाँ कहीं साहित्य की अभिवृद्धि हुई है। किन्तु भारत में किसी दूसरे देश की अपेक्षा अधिक स्पष्टता के साथ लक्षित किया गया है।

जब सचमुच वैदिक भाषा हीं अब अधिक स्वाभाविक भाषा नहीं थी किन्तु वर्ग विशेष की पाण्डित्यपूर्ण भाषा हो ही चुकी थी तब बाद के साहित्य की भाषा के विषय में तो अपेक्षाकृत यह कितना अधिक सत्य है। संस्कृत वैदिक भाषा से भिन्न है किन्तु उस स्वाभाविक विकास की अनुरूपता में नहीं जो कि जीवित भाषाओं में दृष्टिगत होती है। संस्कृत भाषा की ध्वन्यात्मक दशा अब तक ठीक वैसी ही विद्यमान है जैसी सर्व प्राचीन वैदिक युग में रही थी। व्याकरण सम्बन्धी रूप के विषय में भी भाषा स्वयं को लगभग स्थिर प्रकट करती है। क्योंकि शायद ही किन्ही नई रचनाओं या नए रूपों ने दर्शन दिया हो। फिर भी व्याकरण की दृष्टि से भी बाद की भाषा प्रारम्भिक भाषा से बिल्कुल भिन्न हो गई है। इसलिए यह परिवर्तन किन्हीं नई रचानाओं से नहीं लाया गया किन्तु निरन्तर होने वाले परित्यागों से लाया गया। सर्वाधिक ध्यान देने योग्य परित्याग हेतु हेतुमद्भाव परक लकार (लेट् लकार (subjuncxive mood) का पूर्ण रूप से और लगभग एक दर्जन क्रियार्थक क्रिया (infinitive mood) के रूप में केवल एक (तुमुन्प्रत्यय) का शेष रहना। शब्द रूपों में यह परिवर्तन प्रधान रूप से कुछ संख्यक पर्यायवाचक रूपान्तरों के परित्याग के रूप में हुआ। यह सम्भव है कि बोलचाल की वैदिक भाषा ने जो वैदिक सूक्तों की

अपेक्षा आधुनिक और कम जटिल थी, किसी सीमा तक बाद की साहित्य भाषा को सरलीकरण की दिशा में प्रभावित किया हो। किन्तु भाषा में परिवर्तन प्रधानतया वैयाकरणों के नियमन के प्रयत्न के कारण हुआ, जो प्रयत्न और दूसरे देशों की अपेक्षा भारत में अधिक शक्तिशाली थे। इसका कारण यह था कि इस देश में व्याकरण के अध्ययन की दिशा में प्रारम्भिक अतिरिक्त विकास हुआ था। संस्कृत वाक्यों में शब्दों के अन्तिम और प्रथम अक्षरों को मिलाने से जो ध्वन्यात्मकपरिवर्तन होते हैं जिन्हें सन्धि कहा जाता है उनकी व्याख्या केवल व्याकरण के अध्ययन के प्रति इतने अधिक लगाव से ही हो सकती है।

निश्चय ही यह भाषा का शब्दकोश है जिसमें सर्वाधिक परिवर्तन हुए हैं जैसा कि वास्तव में सभी साहित्यिक भाषाओं के साथ होता है क्योंकि इस दिशा में परिवर्तन पर नियन्त्रण करना वैयाकरणों की शक्ति के बाहर है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्ययों से बने शब्दों और स्वीकृत पद्धति के अनुसार रचना के कारण शब्दकोश अत्यधिक बढ़ गया है। साथ हीं ऐसे असंख्य शब्द हैं जो यद्यपि हैं तो पुराने किन्तु नए मालूम पड़ते हैं क्योंकि संयोगवश वे वैदिक साहित्य में विद्यमान नहीं है। सच बात तो यह है कि बहुत से वास्तविक नए शब्द निरन्तर ग्रहण करने की प्रक्रिया में निम्नस्तर से आए हैं जबकि जो शब्द भाषा में पहले से विद्यमान थे उनके अर्थों में परिवर्तन हो गया है।

संस्कृत और प्राकृत —

भारत की प्राचीन भाषा के इस परवर्ती स्तर को चौथी शताब्दी ई० पू० की समाप्ति के लगभग महान वैयाकरन पाणिनि ने रूढिबद्ध कर दिया। यह संस्कृत अर्थात् सुधारी हुई या प्रयत्नपूर्वक संगठित की हुई (संस्कृत अर्थात् एक साथ जोड़ी हुई) कही जाने लगी। यह एक ऐसा शब्द है जो पुराने वैयाकरणों में नहीं पाया जाता किन्तु सर्वप्राचीन महाकाव्य रामायण में विद्यमान है। इस नाम का अभिप्राय है उस लोकभाषा का विलोम या बिरोध जिसे प्राकृत कहा जाता है और इस प्रकार के विरोध का वर्णन किया भी गया है—उदाहरण के लिए छठी शताब्दी की एक रचना काव्यादर्श या 'काव्य का शीशा' नामक ग्रन्थ में अधिक पुराने—यास्क (५वीं शताब्दी ई० पू०) से प्रारम्भ कर बाद के वैयाकरण स्वयं इस शास्त्रीय भाषा को 'भाषा' अर्थात् वैदिक भाषा से पृथक रूप में बातचीत की बोली नाम से पुकारते थे।

इस विषय में उन्होंने जो टिप्पणियां दी हैं वे बोलचाल की लोकभाषा की ओर संकेत करती हैं। उनमें एक आचार्य पतञ्जलि इसका हवाला देता है

जैसा कि उसने 'लोके' (लोकव्यवहार में) कहकर इसका उल्लेख किया है और संस्कृत नाम ऐसी भाषा को दिया है जिसमें लोक प्रचलित शब्दों का प्रयोग होता है। स्वयं पाणिनि ने ऐसे बहुत से नियम बनाए हैं जिनका जीवित भाषा (जनभाषा)के साथ सम्बन्ध के अतिरिक्तऔर कोई महत्व नहीं है। जैसा कि वे उच्चारणया स्वरों के प्लुत होने का वर्णन करते हैं जिनका उपयोग दूर से बुलाने, अभिवादन करने या प्रश्नोत्तर में होता है। दूसरी बात यह है कि संस्कृत केवल एक साहित्यिक या स्कूली भाषा नहीं हो सकती क्योंकि बोलचाल की विभिन्न भाषाओं में प्रचलित शब्दों के उसमें होने के चिह्न पाये जाते हैं। इस प्रकार यास्क और पाणिनि पूर्ववालों (प्राच्यों) और उत्तरी लोगों (औदीच्यों) की विशेषताओं का उल्लेख करते हैं, कात्यायन ने स्थानीय विभिन्न विशेषताएं बतलाई हैं और पतञ्जलि ने ऐसे शब्दों का विशेष रूप से प्रकथन किया है जिनका प्रयोग केवल एक जनपद में होता है। वास्तव में इसमें कोई सन्देह नहीं कि ई० पू० दूसरी शताब्दी में संस्कृत उस समस्त प्रदेश में बोली जाती थी जिसे संस्कृत के लेखक आर्यावर्त या आर्यों का देश कहा करते थे और जो हिमालय और विन्ध्याचल के मध्य में स्थित है किन्तु वहां इसको कौन लोग बोलते थे ? इसको ब्राह्मण लोग निश्चित रूप से बोला करते थे क्योंकि पतञ्जलि उन्हें शिक्षित (शिष्ट) कहते हैं जो कि भाषा का ठीक रूप में प्रयोग करने वाले हैं। यह भी सच है कि इसका प्रयोग ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य लोगों में भी प्रचलित था क्योंकि हम पतञ्जलि की रचना में पढ़ते हैं कि एक क्षौर कर्म करने वाले ने एक वैयाकरण ने (सारथी वाचक) सूत शब्द की व्युत्पत्ति को लेकर विवाद किया था। इससे संस्कृत नाटक में (पात्रानुसार) भाषाओं का विभाजन मेल खा जाता है। यह विभाजन निस्सन्देह स्वयं नाटकों की अपेक्षा भी बहुत पुरानी परम्परा पर आधारित है। यहां राजा और उच्च श्रेणी के लोग संस्कृत बोलते हैं जबकि जन भाषा में विभिन्न रूप स्त्रियों और जन साधारण के लिए निर्धारित कर दिए गए हैं। नाटक यह भी प्रकट कर देते हैं कि जो लोग संस्कृत नहीं बोल सकते थे वे भी किसी न किसी प्रकार उसे समझ जाते थे। क्योंकि वहां प्राकृत बोलने वालों से बातचीत में संस्कृत प्रयुक्त हुई है। प्रेक्षाग्रहों में अभिनय कला का आनन्द लेने वाली जनता और जैसा कि हम विभिन्न प्रायिक उद्धरणों से जानते हैं, वह जनता जिनके सामने महाकाव्य (वाल्मीकि रामायण इत्यादि) का गान किया जाता था निश्चित रूप से समझते रहे होंगे। इस प्रकार संस्कृत यद्यपि एक शास्त्रीय भाषा थी और प्रारम्भ से ही एक साहित्यिक तथा एक अर्थ में कृत्रिम भाषा थी। फिर भी उसे लोक व्यवहार की भाषा के स्वरूप से सर्वथा वञ्चित करना एक

भ्रान्त धारणा होगी। जैसा कि पहले बतलाया ही जा चुका है कि वास्तव में यह अब भी भारत में शिक्षित ब्राह्मणों द्वारा बोली जाने वाली भाषा है और साथ ही साथ वह उन लोगों द्वारा नित्यप्रति के कार्यों में लिखी भी जाती है। संक्षेप में संस्कृत की स्थिति सर्वदा ऐसी ही रही है और अब भी है। अधिकांश रूप में उसी प्रकार की जैसी यहूदियों में हिब्रू भाषा की और मध्य युग में लैटिन भाषा की।

जो भी व्यक्ति संस्कृत से परिचत था वह साथ ही साथ एक या अधिक जनभाषा भी बोलता था। जन भाषाओं से संस्कृत के सम्बन्ध का विषय इस प्रश्न से सामने आ जाता है कि वे जनभाषायें कौन थी। वर्तमान भारत के लिए प्राचीन साहित्य भाषा का भाषवैज्ञानिक महत्त्व तब प्रकट हो जाएगा जब यह निर्दिष्ट कर दिया जाय कि इधर-उधर बिखरी हुई कतिपय पहाड़ी आदिवासियों की बोलियों को छोड़कर शेष सभी भारतीय भाषायें संस्कृत के प्राचीनतम रूप से ही निकलीं हैं। ये भाषायें सिन्धु के मुहाने से गंगा के मुहाने तक, हिमालय और विन्ध्य पर्वत श्रृंखलाओं के मध्य, पुर्तगाली उपनिवेश गोआ पर्यन्त बाम्बे प्रेसीडेंसी के समस्त विस्तृत भूभाग में बोली जाती है। उत्तर पश्चिम में अपने पुराने मूलस्रोत से निकलकर अधिकाधिक विभिन्न धाराओं में प्रवाहित होते हुए (भाषाओं के) ये प्रवाह धुर दक्षिणपूर्व के छोटे से भाग को छोड़कर समस्त प्रायद्वीप में व्याप्त हो गए। इन प्रचलित जन-भाषाओं के प्रारम्भ अत्यधिक प्राचीन काल तक पीछे की ओर जाते हैं। उस समय भी जब वैदिक मन्त्रों की रचना हो रही थी एक प्रचलित जनभाषा की सत्ता अवश्य रही होगी जो तब भी अपने ध्वन्यात्मक तत्त्व में विस्तीर्णरूप में साहित्य भाषा से पृथक् हो रही होगी। कारण यह है कि वैदिक मन्त्रों में कुछ ऐसे ध्वन्यात्मक ढंग से शब्द आ गए हैं—इसकी (इन शब्दों के समावेश की) व्याख्या इसके निर्माताओं की ओर से प्रचलित जन भाषा से उपादान के द्वारा ही की जा सकती है।

पाली भाषा

हम और भी जानते हैं कि छठी शताब्दी ई० पू० में बुद्ध ने अपनी दिव्य-वार्ता जनभाषा में ही प्रदान की थी जो विद्वानों की भाषा के विरुद्ध थी। उद्देश्य यह था कि उसे सभी लोग समझ सकें। इस प्रकार सर्वप्राचीन बौद्ध साहित्य जो चौथी-पांचवीं शताब्दी ई० पू० का था लोक भाषा में ही रचा गया था। इसमें सन्देह नहीं कि प्रारम्भ में इसकी रचना बुद्ध के जन्म स्थान मगध (वर्तमान बिहार) की भाषा में ही हुई थी। लैटिन की तुलना में इटैलियन की

भांति इस प्रारम्भिक लोक भाषा का लक्षण है संयुक्त व्यंजनों को बचाना और पदान्त में स्वर प्रयोग के प्रति अभिरुचि । इस प्रकार संस्कृत का 'डोरा' वाचक सूत्र और 'कर्तव्य' वाचक धर्म क्रमशः सुत्त और धम्म बन जाते हैं जबकि 'बिजली' वाचक विद्युत् शब्द विज्जु के रूप में परिणत हो जाता है । इस जन भाषा का एक विशेष स्वरूप जो दाक्षिणात्य बौद्धों के लिए पवित्र मुहावरा बन गया, पाली नाम से जाना जाता है । इसका प्रारम्भिक जन्म स्थान अब तक अनिश्चित है किन्तु अशोक को संख्यातीत शिला और स्तम्भो पर उत्कीर्ण लेखों से इसकी सत्ता ई० पू० तीसरी शताब्दी जैसे सुदूरवर्ती प्रारम्भिक काल में सन्देह की सीमा से बाहर प्रमाणित होती है । तीसरी शताब्दी ई० पू० इस भाषा का प्रवेश श्रीलंका में हुआ और यह सिंहली भाषा का आधार बन गई जो कि द्वीप की वर्तमान भाषा है । यह बात बौद्ध धर्म के प्रभाव से हुई कि अशोक के समय से लेकर बाद के राजकीय शासन पत्र और अभिलेख' जो उत्कीर्ण लेखों में सुरक्षित हैं शताब्दियों तक भारत की एक मात्र मध्ययुगीन भाषा (प्राकृत) में ही लिखे गये । उच्च अभिलेखागारों और उच्च सरकारी कार्यालयों में संस्कृत जानी हुई भाषा नहीं थी, यद्यपि प्राकृत शिलालेखों में संस्कृत पद्यों का प्रवेश प्रकट करता है कि इस काल में संस्कृत जीवित थी और सिद्ध करता है कि साहित्यिक कार्यों के लिए इसका प्रयोग जारी था । बौद्ध और जैन दोनों की अपेक्षाकृत पुरानी परम्परा सभी कार्यों के लिए केवल प्रचलित भाषा का प्रयोग कर संस्कृत की पूर्ण अपेक्षा करती थी ।

किन्तु कुछ समय पश्चात् बौद्ध और जैन दोनों ने संस्कृत का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न किया यह प्रयत्न ऐसी एक वाग्धारा के निर्माण की ओर ले गया जिसमें प्रधानता तो प्राकृत की थी किन्तु उसमें संस्कृत प्रत्यय स्वीकार किए गए थे तथा दूसरे नियोजनों (रूपों) को स्वीकार कर लिया गया था जिस से प्राकृत भाषा पुरानी भाषा (संस्कृत) के समान बन गई । अतः यह समझना निश्चय ही गलत है कि यह कृत्रिम भाषा संस्कृत और पाली की मध्यवर्तिनी है यह विचित्र प्रकार की भाषा अधिकांशतः बौद्ध काव्य खण्डों में व्यवहृत होती है जिन्हें गाथा या 'गीत' कहा जाता है । ये गाथायें उत्तरी बौद्धों के धर्म ग्रंथों विशेषतः बुद्ध के जीवन पर लिखे गए ललित विस्तर में विद्यमान हैं । इसीलिए प्राचीनकाल में इन्हें गाथा (पद्यात्यक) वचन कहा जाता है । वास्तव में यह संज्ञा यथार्थ नहीं है क्योंकि इस मिली जुली भाषा में बौद्ध-ग्रन्थ भी लिखे गए हैं।

शिलालेखों का प्रमाण यह दिखलाने की शिक्षा देता है कि दो अब्राह्मण धर्मों (बौद्ध और जैन) द्वारा प्रयोग की जाने वाली प्रचलित जन भाषा में

संस्कृत का क्रमिक पदाक्षेप वढ़ता जा रहा था। इस प्रकार मथुरा (अब मुट्रा) के जैन शिलालेख में प्राकृत का एक शुद्ध स्वरूप प्रथम शताब्दी तक हावी रहा। इसके बाद संस्कृतरूपता अधिकाधिक प्रायिक होती गई, यहां तक कि अन्त में सरल संस्कृत लिखी जाने लगी। इसी प्रकार बौद्ध शिलालेखों में भी शुद्ध प्राकृत को मिश्रित भाषा ने अवकाश प्रदान कर दिया और बाद की उस भाषा का स्थान संस्कृत ने ले लिया। इस प्रकार पश्चिम भारत में नासिक के शिलालेख में तीसरी शताब्दी तक मिश्रित भाषा का प्रसार है जबकि दूसरी शताब्दी में पहले पहल संस्कृत का प्रयोग प्रारम्भ हो गया। छठी शताब्दी ई० से बाद में (केवल जैनियों के मध्य को छोड़कर) शिलालेखों में एक मात्र संस्कृत हावी हो गई यद्यपि प्राय: उनमें प्राकृत की ओर प्रवृत्ति भी दृष्टिगत होती रही। बौद्ध साहित्य में भी मिश्रित भाषा पर संस्कृत धीरे-धीरे छाती गई। इसीलिए उत्तरी बौद्ध मूल पुस्तकों का अधिकांश भाग हम तक संस्कृत में ही आया है जो कि निश्चय ही शब्दावली में ब्राह्मणों के धार्मिक मूल ग्रन्थों से अत्यधिक भिन्न हो गई है और साथ ही शास्त्रीय संस्कृत से भी भिन्न हो गई है क्योंकि यह प्राकृत शब्दों से भरी हुई है। सातवीं शताब्दी में चीनी यात्री ह्वेनसांग ने प्रमाणित किया है कि मौखिक धार्मिक संवादों और विवादों में भी बौद्ध लोग संस्कृत का प्रयोग करते थे। अन्त में जैनों ने भी वही किया यद्यपि उन लोगों ने प्रकृत का पूर्ण परित्याग नहीं किया। इस प्रकार मुसलमानों की विजय के समय संस्कृत भारत की लगभग एकाकी लिखित भाषा थी। किन्तु जबकि संस्कृत अपनी पुरानी महत्ता प्राप्त करती जा रही थी प्राकृत ने दो दृष्टियों से उस पर अपना अन्तिम प्रभाव जमाया। उन्होंने शब्दावली को कुछ संख्यक नए शब्द प्रदान किए और पाणिनि के समय के बाद से जो संगीतात्मक स्वराधात अब तक प्रचलित था उसको परवलाघात में बदल दिया।

अपभ्रंश भाषा

प्राकृत के सर्वप्राचीन काल में अशोक शिलालेख के पाली युग में और बौद्ध तथा जैन साहित्य के प्रारम्भिक चरण में दो मुख्य विभाषाएं पहिचानी जा सकती हैं—पश्चिमी और पूर्वी। हमारे ईशा-सन के प्रारम्भ और लगभग १००० ई० के बीच में मध्ययुगीन प्राकृत जो कि अब तक स्वरूप में संश्लेषी (मिलने के स्वभाव वाली) भाषा है, चार प्रमुख भाषाओं में विजाजित हो गई है—पश्चिम में सिन्धु घाटी में हमें अपभ्रंश (क्षयोन्मुख) और मथुरा को केन्द्र मानकर दोआब में शौरसेनी के रूप में मिलती है। बादवाली (शौरसेनी) के

उपविभाग थे—गौर्जरी (गुजराती) आवन्ती (पश्चिम राजपूतानी) और महाराष्ट्री (पूर्वी राजपूतानी) पूर्वी प्राकृत मगध, अब बिहार, की भाषा मागधी के और अर्धमागधी (आधी मागधी) केन्द्र बनारस के साथ दृष्टिगत होती है। संस्कृत के सम्बन्ध में ये प्राकृत भाषायें महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि संस्कृत नाटकों में अशिक्षित वर्ग के पात्रों द्वारा प्रयुक्त होने वाली जन भाषायें हैं।

ये भाषायें वर्तमान भारत की समस्त आर्य भाषाओं की जननी है। अपभ्रंश से सिन्धी, पश्चिमी पंजाबी और काश्मीरी निकली हैं। शौरसेनी से पूर्वी पंजाबी और हिन्दी (पुरानी आवन्ती) और उसी प्रकार गुजराती का जन्म हुआ है। जबकि मागधी के दोनों रूपों से एक ओर मराठी और दूसरी ओर बंगाल की अनेक भाषायें उद्भूत हुई हैं। ये वर्तमान भाषायें लगभग १००० ई० के आस-पास विकास करने लगी थीं, ये प्रत्यय प्रधान नहीं हैं (जिनमें विभक्ति संयुक्त रहती है और उनके रूप चलाने की आवश्यकता पड़ती है) किन्तु अङ्ग्रेजी के समान वियोगी (पृथक् कारक चिन्हों को ग्रहण करने वाली) भाषाएं हैं जो अपनी विकास परम्परा में एक मनोरंजक समानता प्रस्तुत करती हैं कि जिस प्रकार लैटिन से रोमैण्टिक भाषाओं का विकास हुआ उसी प्रकार प्राचीन संस्कृत से ये भाषायें विकसित हुईं। इन भाषाओं ने अपना स्वतन्त्र साहित्य विकसित कर लिया जो पूर्ण रूप से संस्कृत साहित्य पर आधारित हैं। दक्षिण की अनार्य भाषायें द्रविडवर्ग की हैं जिनमें तेलगू, कन्नड़ मलयालम और तमिल सम्मिलित हैं उनको आर्य भाषाएं अपदस्थ नहीं कर सकीं किन्तु उनमें संस्कृत से लिए हुये शब्द भरे पड़े हैं जबकि उनका साहित्य संस्कृत प्रतिमानों से अनुशासित है।

द्वितीय अध्याय

वैदिक-काल

तीन हजार वर्ष से भी अधिक समय व्यतीत हो चुका भारतीय साहित्य की बिल्कुल ड्योढी पर हमारा सामना गीतिकाव्य के एक ऐसे कलेवर से होता है जोकि यद्यपि भारोपीय भाषा परिवार की किसी भी शाखा के किसी भी कीर्तिस्तम्भ रूप रचना से कहीं अधिक पुराना है फिर भी विचारों के परिष्कार और सौन्दर्य के लिए और साथ ही साथ भाषा और छन्द के नियोजन की निपुणता के लिए विशेष रूप से जाना जाता है। इस बिन्दु से एक हजार वर्ष से अधिक समय के लिए भारतीय साहित्य एकमात्र धार्मिक मुद्रा को धारण करता है। वैदिक युग की सबसे बाद की जिन रचनाओं को धार्मिक नहीं कहा जा सकता उनका मन्तव्य भी धार्मिक लक्ष्य को आगे बढ़ाना ही है। यह बात निस्सन्देह 'वैदिक' इस शब्द से भी प्रकट होती है। क्योंकि वेद प्रधान रूप से 'ज्ञान' को व्यक्त करता है (विद् ज्ञाने धातु से) यह साहित्य के एक विभाग के रूप में पवित्र संगीत की संज्ञा बनाता है। यह शब्द पवित्र पुस्तक के अर्थ में नियन्त्रित है।

वैदिक युग में भलीभांति परिभाषित तीन साहित्यिक स्तर पहिचाने जाते हैं। पहला स्तर है चार वेदों का जोकि सृजनात्मक और काव्यात्मक युग का परिणाम है जिसमें प्रधानरूप से सूक्त और प्रार्थनायें रची जाती थीं जो दबा-कर सोमलता से रस निकालने और देवताओं को सोमरस या तपाए हुए मक्खन (घी)को प्रदान करने में साथ देता था(गाया जाता था) चारों वेद संग्रह हैं जिन्हें यज्ञ के विभिन्न उद्देश्यों के लिए सूक्तों और प्रार्थनाओं की संहिता कहा जाता है। उनकी आयु और उनका महत्व पृथक्-पृथक् है। समस्त वैदिक साहित्य में अत्यधिक परिमाण में महत्वपूर्ण और साथ ही साथ प्राचीनतम ऋग्वेद या पद्यों का वेद (ऋक या प्रशंसापरक पद्य) है। क्योंकि यह वैदिक साहित्य की बिल्कुल नींव रखने वाला है जिसमें पूर्ण रूप से ऐसे गीति काव्य ही है जो प्रधान रूप से विभिन्न देवताओं की स्तुति में लिखे गए हैं। इसलिए इसका वर्णन स्तुतियों

था प्रशंसा वचनों की पुस्तक के रूप में किया जा सकता है। सामवेद का व्यावहारिक दृष्टि से कोई स्वतन्त्रमूल्य नहीं है क्योंकि (केवल ७५ को छोड़कर) इसमें सभी सूक्त ऋग्वेद से ही लिए गए हैं और सोमयाग में एकमात्र विनियोग की दृष्टि से ही इन्हें क्रमबद्ध किया गया है। इनका प्रयोजन है कतिपय निश्चित स्वरानुक्रमों का लय और ताल में गायन करना। इसलिए इसको संगीत (साम) मी पुस्तक कहा जा सकता है। यजुर्वेद एक विशेष दृष्टि से सामवेद से भिन्न हो जाता है। इसमें अधिकांश रूप से ऋग्वेद के लिए हुए केवल मन्त्र ही नहीं हैं अपितु मौलिक गद्य विधियों का भी इसमें समावेश है यह ठीक है कि यह सामवेद से इस अर्थ में मेल खाता है कि इसकी विषयवस्तु (मन्त्रों) को इस प्रकार क्रमबद्ध किया गया है जिस प्रकार इनका नियोजन विभिन्न यज्ञों में होता है। इसलिए यह पुस्तक यज्ञ सम्बन्धी प्रार्थनाओं की है (यजुष)। इस पुस्तक की वस्तु दो रूपों में प्रदान की गई है—एक में केवल यज्ञ सम्बन्धी विधि दी गई है, दूसरे में किसी सीमा तक उनकी व्याख्यायें भी अन्तर्मिश्रित हैं। सर्वप्रथम केवल ये संहितायें ही नियमानुसारी मूलधर्मग्रन्थ के रूप में स्वीकृत की जाती थी और समष्टिरूप से वैदिक साहित्य में बाद में तीन ओर फैला ज्ञान (त्रयी विद्या) कहीं जाने लगीं।

चौथी संहिता अथर्व वेद ने यह गौरवपूर्ण पद बहुत लम्बे समय बाद प्राप्त किया। इसकी भाषा और इसकी उस भाग की विषय वस्तु के साथ जो ऋग्वेद की विषय वस्तु के समरूप है जब तुलनात्मक निर्णय किया जाता है तब ज्ञात होता है कि अथर्व वेद ऋग्वेद के बहुत अधिक समय बाद सत्ता में आया। यह अपने स्वरूप में ऋग्वेद के समान है जिसमें अधिकांश भाग में छन्दोबद्ध प्रार्थनायें (सूक्त) हैं जो पुरानी संहिता की अन्तिम पुस्तक(दशम मंडल) से लिये गए हैं। वस्तुतः भावना से यह ऋग्वेद से पूर्ण रूप से केवल भिन्न ही नहीं है अपितु यह समाज के कहीं अधिक प्रारम्भिक स्तर के विचारों का प्रतिनिधित्व करता है। जबकि ऋग्वेद लगभग एकमात्र उन उच्चकोटि के देवताओं का वर्णन करता है जिनकी कल्पना अपेक्षाकृत अधिक उच्चकोटि के बढ़े-चढ़े और परिष्कृत पुरोहित वर्ग ने कर ली थी अथर्व वेद मुख्य रूप से आसुर जगत को तुष्ट करने वाले वशीकरण और अभिचार मन्त्रों की पुस्तक है और जादू विषयक सिद्धान्तों से भरी हुई है जो (जादू) निम्न श्रेणी के जन समाज में फैले हुए थे और स्मरणातीत प्राचीनता से लिए गए हैं। इस प्रकार ये दोनों बिषयवस्तु में एक दूसरे के पूरक हैं और स्पष्ट रूप में चारों वेदों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। प्राचीन विश्व की किसी भी अन्य साहित्यिक स्मारक रचना की अपेक्षा

पहले स्तर की धार्मिक विचार धारा का वे प्रतिनिधित्व करते हैं अत: जो लोग धार्मिक विकासक्रम का अध्ययन करना चाहते हैं उनके लिए ये रचनायें (ऋग्वेद और अथर्ववेद) इतने अधिक मूल्य की हैं कि उसका अनुमान लगाना भी शक्ति के बाहर है।

अन्त में वेदों का सृजनात्मक काल समाप्त हो गया। इसके बाद एक ऐसा युग आया जिसमें देवताओं को नई प्रार्थनायें प्रदान करने की अब और अधिक आवश्यकता नहीं समझी गई किन्तु पवित्र सन्तों द्वारा व्यतीत हुई पीढ़ियों में रची गई उन प्रार्थनाओं को दोहराना (याद करना) अधिक गुणात्मक समझा गया जो विभिन्न पुरोहित परिवारों में पिता से पुत्र को प्रदान की जाती थीं। इस प्रकार पुराने सूक्त आनुपूर्वी परम्परा से उन वैदिक संहिताओं में एक साथ संकलित हो गये जिनका वर्णन अभी किया जा चुका है और इस स्वरूप में उनको सदा बढ़ने वाली पापनाशक पवित्रता प्राप्त हो गई। कविता बनाने का कार्य समाप्त कर पुरोहितवर्ग ने अपनी रचनात्मक प्रतिभा को यज्ञ सम्बन्धी श्रमसाध्य विधिविधान के व्यवस्थापन में लगा दिया। परिणाम यह हुआ कि शास्त्रोक्त विधिविधान पद्धति के विस्तार की संकुलता उन सबका कहीं अधिक अतिक्रमण कर गई जो विश्व में कहीं अन्यत्र ज्ञात थी। वैदिक सूक्तों और सिद्धान्तों का मुख्य महत्व अब यज्ञों की असंख्य विस्तीर्ण विधियों में उनके नियोजन में रह गया। पवित्र सूक्तों और विनियोजनों के सम्मिलित रूप के चारों ओर पौरोहित्य परम्परा में एक नये विधान का उद्भव हुआ जिसने अन्त में स्पष्ट धार्मिक रचनाओं के रूप में निश्चित स्वरूप प्राप्त कर लिया जिन्तु ब्राह्मण अर्थात् 'उपासना और प्रार्थना (ब्रह्म) का वर्णन करने वाली पुस्तकें' कहा जाता है। प्रकट रूप से सत्ता में वे उस समय तक नहीं आईं जब तक कि ऐसा समय नहीं आ गया जबकि सूक्त साहित्य प्राचीन और परमात्मा का पवित्र उन्मेष नहीं माना जाने लगा जबकि परिरक्षक ब्राह्मण लोग भाषा में आये हुये परिवर्तन के कारण उनका अर्थ नहीं समझ पाते थे। वे आद्योपान्त गद्य मेंलिखे हुए हैं और कहीं-कहीं स्वयं वेदों के समान उनमें स्वर चिह्न लगे हुए हैं। इस प्रकार वे भारोपीय भाषा परिवार के सर्वप्राचीन गद्य लेखों के प्रतीक रूप में ध्यान देने योग्य पुस्तकें हैं। उनकी शैली वास्तव में भाररूप कष्टकारक, बिखरी हुई और संघटना रहित है, किन्तु इस साहित्यिक काल में अधिक हस्तलाघव की ओर स्पष्ट प्रगति दृष्टिगत होती है।

ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रधान लक्ष्य है पवित्र मूलग्रन्थों (मन्त्रागमों) और वैधिक व्यवस्थाओं (विनियोगों) के पारस्परिक सम्बन्धों की व्याख्या करना

और साथ ही एक दूसरे के सन्दर्भ में लाक्षणिक और सांकेतिक अर्थ बतलाना। उनमें जो सामयिक एवं अवसर प्राप्त आख्यायिकायें तथा प्रभावशाली विचार दिए हुए हैं उन्हें छोड़कर वे बिल्कुल ही आकर्षक साहित्यिक रचनायें नहीं मानी जा सकतीं। याज्ञिक विधियों की अपनी व्याख्याओं के समर्थन में शब्दार्थ-निर्णय परक, भाषा सम्बन्धी तथा व्युत्पत्तिपरक निरीक्षणों को वे अन्तर्गुम्फित कर देते हैं और जगत् की उत्पत्ति एवं ईश्वरीय ज्ञान विषयक अपने सिद्धान्तों के समर्थन में वे पौराणिक घटनायें तथा दार्शनिक वितर्क प्रस्तुत करते हैं, उनमें पाण्डित्य के अभिमान से परिपूर्ण हलके (निस्सार) विवाद सामूहिक रूप में विद्यमान रहते हैं जिनमें पुरोहितों के ढंग के छल, काल्पनिक तथा बुद्धिशून्य असंगत परिचय भरे रहते हैं। निस्सन्देह इन सबकी तुलना विश्व में कहीं नहीं मिलती। फिर भी विश्वसाहित्य में कहीं भी उपलब्ध होने वाली याज्ञिक विधि की प्राचीनतम कृति होने के नाते सामान्य रूप से धार्मिक इतिहास के छात्र के लिये ये अत्यन्त अभिरुचि की कृतियां हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय पुरातत्व के अध्येता छात्र के लिए ये अत्यधिक आवश्यक सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वैदिक साहित्य के दो पुराने स्तरों के मध्य में विभेद दृढ़ता के साथ लक्षित कर लिए गए हैं। वस्तु और स्वरूप की दृष्टि से वेद (संहिता भाग) कवित्वमय हैं, ब्राह्मण ग्रन्थ नीरस हैं तथा गद्य में लिखे हुए हैं। समग्र रूप में वेदों के विचार स्वाभाविक और मूर्त एवं ठोस हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों के विचार कृत्रिम और अमूर्त हैं। वेदों का प्रधान महत्व इतिहास-पुराण (देवोपाख्यान) में हैं, ब्राह्मणों का महत्व उनकी यज्ञविधि में है।

ब्राह्मण ग्रन्थ विभिन्न वेदों से संबद्ध हैं और प्रत्येक वेद से सम्बन्धित जिस प्रकार के पुरोहित जिस प्रकार के विभिन्न कर्तव्यों का पालन करते हैं उसी के अनुसार ब्राह्मण ग्रन्थों की विषयवस्तु भी बदल जाती है। ऋग्वेद का ब्राह्मण ग्रन्थ जब यज्ञविधि की व्याख्या करता है तब वह होता कहलाने वाले (मन्त्र-पाठ करने वाले) पुरोहित के कर्तव्यों तक स्वयं को सीमित रखता है। होता पर प्रत्येक विशिष्ट यज्ञ के लिए शास्त्र का निर्णय आश्रित रहता है। इसके लिए वह सूक्तों से उन मन्त्रों को चुनता है जो उस (विशिष्ट यज्ञ) के लिए लागू होते हैं। सामगान के ब्राह्मणग्रंथ केवल उद्गाता के कर्तव्यों तक ही अपना सम्बन्ध रखते हैं जिनका काम सामवेद का गान करना ही होता है। यजुर्वेद के ब्राह्मण ग्रन्थ अध्वर्यु कहलाने वाने ऋत्विक के कर्तव्यों का विवरण देने तक सीमित रहते हैं। अध्वर्यु एक ऐसा पुरोहित होता है जो वास्तव में यज्ञ का

कार्य करने वाला होता है। और भी ऋग्वेद के ब्राह्मण ग्रंथ न्यूनाधिक रूप में यज्ञ के क्रम का अनुसरण करते हैं और स्वयं वेद के सूक्तों की परम्परा की ओर विल्कुल ध्यान नहीं देते। इसके प्रतिकूल दूसरी ओर सामवेद और यजुर्वेद के ब्राह्मण ग्रन्थ अपने अपने वेदों के क्रम का अनुसरण करते हैं जिनकी क्रम योजना पहले से ही यज्ञ के लिए आवश्यक क्रम के अनुसार कर दी गई है। वस्तुत: सामवेद के ब्राह्मण व्यक्तिश: (अलग-अलग) मन्त्रों की व्याख्या बहुत कम करते हैं जबकि यजुर्वेद के ब्राह्मण मूलपाठ के सभी मन्त्रों पर लगभग निरंतर चलने वाली समीक्षा प्रस्तुत करते हैं।

भारतीय समाज के इतिहास में ब्राह्मण युग एक अत्यन्त महत्वपूर्ण युग है, क्योंकि इसी में चारों वर्णों ने अपना निश्चितस्वरूप प्राप्त कर लिया था। जिसने वह ढांचा प्रदान किया, जिसके अंतर्गत आज की जातियों का जटिल जाल विकसित हुआ उस पौरोहित्य पद्धति ने जिसने प्रथम वैदिक युग में ही प्रभाव शाली प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली थी (इस युग में) अपने लिए प्रभावशाली शक्ति प्राप्त करली जिसको वे तभी से सर्वदा स्थिर रखते आये हैं। विश्व में किसी अन्य वर्ग की जनता का जीवन पौरोहित्य प्रभाव से इतना परिपूर्ण नहीं रहा जितना हिन्दुओं का जीवन रहा है जिन लोगों में पवित्र शिक्षा पर अब तक परम्परा गत रूप में पुरोहित जाति का एकाधिकार बना हुआ है। जबकि दूसरे आदिकालीन समाजों में प्रधान शक्ति राजकुमारों और योद्धा अभिजात वर्ग के हाथों में केन्द्रित रही भारत में पौरोहित्य का नियन्त्रण इसलिए सम्भव हो सका कि प्रारम्भिक वैदिक काल में उत्तर पश्चिम में जैसे ही विजय का शक्तिशाली जीवन समाप्त हुआ उसका पदानुसरण मैदानों के शारीरिक अकर्मण्य आलसी जीवन ने किया। इस प्रकार को परिवर्तित परिस्थिति ने सुसंस्कृत समाज को केवल जिनके ही पास सर्वशक्ति सम्पन्न यज्ञों का रहस्य था, इस योग्य बना दिया कि उन्होंने शारीरिक शक्ति पर बुद्धिशक्ति की वरिष्ठता प्राप्त कर ली।

समयानुसार स्वयं ब्राह्मण ग्रन्थों ने पवित्र चरित्र प्राप्त कर लिया और आने वाले वर्षों में सूक्तों के साथ उनको श्रुति या 'श्रवण' में वर्गीकृत कर दिया गया जिसका अर्थ है पहले से ही सुनी हुई अथवा जैसा कि हमें कहना चाहिए प्राचीनकाल के पवित्र संतों के अंत:करण में आविर्भूत (परमात्मा की कृति)। आविर्भूत ज्ञान के क्षेत्र में ही ब्राह्मण ग्रन्थों के परवर्ती काल के भाग, जो विशेष रूप से आध्यात्मिक तत्व के ग्रन्थ कहलाते हैं और जिनका उद्देश्य है एकांत जंगलों में पढ़ाया जाना या पढ़ा जाना। अतएव उन्हें आरण्यक कहा जाता है

जिसका अर्थ है 'जंगल के लिए पुस्तकें'। और भी आगे इन (आरण्यकों) के अन्तिम भाग सर्वथा दार्शनिक हैं और उन्हें उपनिषद् का नाम दिया जाता है जिनका सम्बन्ध ब्राह्मण साहित्य की चरमावस्था से है। उनके (उपनिषदों के) सिद्धान्तों पर आधारित सर्वदेववाद (या विश्वेदेववाद) वेदान्त पद्धति में विकसित हुआ जोकि अब तक वर्तमान हिन्दुओं का प्रिय दर्शन है।

वैदिक आविर्भाव की रचनायें (श्रुति) सन्देहास्पद अवसरों पर बाद वाली धार्मिक रचनाओं और सामाजिक रूढियों की अपेक्षा अधिक अधिकार पूर्ण रचनायें मानी गयीं। इन बाद की धार्मिक कृतियों को स्मृति अर्थात् 'स्मरण से रचित' कहा जाता है क्योंकि उनमें पुराने ऋषियों से प्राप्त की हुई परम्परा का ही समावेश रहता है।

अब हम वैदिक साहित्य के तीसरे अथवा अन्तिम स्तर पर पहुंच गए हैं जो कि सूत्रों का युग है। ये सारभूत अतिसंक्षिप्त रचनाएं हैं जो कि एक ओर वैदिक कर्मकाण्ड और दूसरी ओर व्यावहारिक सामाजिक नियमों का विवरण प्रदान करते हैं। लेखों की इस विधा का उदय इसलिए हुआ था कि ब्राह्मण ग्रन्थों और प्रवहमान परम्परा के अन्तर्गत याज्ञिक विधिविधानों और परम्पराओं के विस्तृत विवरणों का जो राशि राशिसाहित्य सुरक्षित हो गया था उस विस्तृत तथा बढ़ने वाले विवरणों के ढेर को संक्षिप्त करने और व्यवस्थित रूप देने तथा संकुचित कर ऐसी परिधि में लाने की आवश्यकता का अनुभव किया गया जो स्मृति पर अत्यधिक भार न डाले, यह स्मृति ही समस्त अध्यापनों और शिक्षाओं का भारवाहक यान है। इसलिए सूत्रों का मुख्य उद्देश्य है इन बिखरे हुए विवरणों के समूह का सर्वेक्षण प्रस्तुत करना। उनका सम्बन्ध विधिविधानों ओर व्यवहारों की अर्थ निर्णयपरक व्याख्या से नहीं है किन्तु जिन विधियों या अभ्यासों के विवेचन वे हाथ में लेते हैं उनके सम्पूर्ण क्षेत्र का साफ-सुथरा व्यवस्थित निरूपण करना ही उनका लक्ष्य है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सर्वाधिक संक्षेपण प्रक्रिया की आवश्यकता होती है। यह ऐसी आवश्यकता है जिसकी निश्चय ही पूर्ति इस प्रकार की गई है कि उसकी तुलना विश्व में अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। इस साहित्य विधा का नाम ही सूत्र है जिसका अर्थ है 'तागा' या 'मार्गदर्शन' (यह शब्द 'सिव्' धातु से बना है जिसका अर्थ है सिलना) यह शब्द अपने मुख्य लक्षण और प्रधान उद्देश्य 'सम्मिलित संक्षेप' की ओर इंगित करता है। इनका गद्य, जिसमें इनकी रचना की जाती है, इतना संक्षिप्त होता है कि सर्वाधिक संक्षिप्त सांकेतिक तार में प्रयुक्त शब्दों से यदि इसकी तुलना की जाय तो अभिव्यंजन के क्षेत्र में वे तार के शब्द अत्यन्त

विस्तृत प्रतीत होंगे। सूत्रों में कुछ तो बीजगणित की पद्धति प्राप्त कर लेते हैं जिनके सिद्धान्त निर्देशक सूत्रों को बिना विस्तृत भाष्य के समझा नहीं जा सकता। एक लक्षण निर्देशक सूत्रात्मक कथन सुरक्षित रखा गया है जो संक्षिप्तता के पीछे भागने के प्रयत्न का चित्रण करता है। उसके अनुसार व्याकरण के सूत्रों को बनाने वाले विद्वान् एक छोटे स्वर की कमी करने में इतना आनन्दित होते हैं मानो उनके घर पुत्र का जन्म हुआ हो। इस कथन की पूरी शक्ति को तभी समझा जा सकता है जब यह याद रखा जाए न कि जब तक अन्त्येष्टि क्रिया करने के लिए एक पुत्र नहीं होता तब तक एक ब्राह्मण स्वर्ग में जाने के अयोग्य माना जाता है।

यद्यपि सूक्त वर्ग में आने वाली सभी रचनायें निश्चित रूप से स्वरूप में एक जैसी हैं फिर भी यह समझना स्वाभाविक ही है कि उनकी रचनायें समय की किसी लम्बी अवधि में फैली हों। और यह समझना भी स्वाभाविक है कि जो रचना जितनी अधिक संक्षिप्त और जितनी अधिक परिशुद्ध एवं यथार्थ से परिच्छिन्न है वह उतनी अधिक अर्वाचीन है। कारण यह है कि उनकी शैली के विकास के लिए उस दिशा में (अभ्यास करने की) आवश्यकता थी और अति संक्षिप्तता(उत्तरोत्तरअभ्यास की अपेक्षा के कारण)परवर्तिता की द्योतक है, यह सच है कि अब तक के अनुसन्धान उनके रचनाकाल के किसी निश्चित परिणाम पर पहुंचने में असफल रहे हैं। हां भाषा सम्बन्धी खोजें यह दिखलाने के लिए अग्रसर होती हैं कि सूत्र घनिष्ठता के साथ पाणिनि युग से संबद्ध हैं, उनमें से कतिपय उनकी (पाणिनि की) अपेक्षा कहीं अधिक प्राचीन मालूम पड़ते हैं। इसलिए काल गणना की सीमाओं को जिसके अन्दर सूत्र साहित्य का विकास हो रहा था यदि हम ५०० बी. सी. से २०० बी. सी. तक का समय निर्धारित करें तो सम्भवतः गलत होने की दिशा में हम बहुत अधिक आगे बढ़े हुए नहीं होंगे।

वैदिक यज्ञ विधि की परम्परा दो रूपों में प्रदान की गई – एक वर्ग जो श्रौत सूत्र कहलाता था श्रुति अथवा अपौरुषेय या ईश्वरीय ज्ञान कहलाता है। (जिसका इस प्रसंग में प्रधानरूप से अर्थ है ब्राह्मणग्रन्थ)। यह अपेक्षाकृत बड़े बड़े यज्ञों का विवरण देता है जिसके सम्पादन के लिए तीन अथवा उसके अधिक पवित्र अग्नियां और उसी प्रकार पुरोहितों की (तीन) परामर्श समितियां आवश्यक होती हैं। उनमें एक में भी यज्ञ का परिपूर्ण चित्र प्रस्तुत नहीं किया गया है क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थों के समान उनमें प्रत्येक तीन प्रकार के पुरोहितों में एक या दूसरे इस प्रकार के पुरोहित के कर्तव्यों का वर्णन करता है जो उससे सम्बन्धित वेद से संलग्न होता है। इसलिए प्रत्येक याजिक विधिविधान का

पूरा विवरण प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि एक श्रौत सूत्र द्वारा दिए हुए विवरण की पूर्ति उससे की जाय जो दूसरे श्रौत सूत्र में दिया गया है।

याज्ञिक विधियों का दूसरा विभाग स्मृतियों या परम्परा पर आधारित है। ये गृह्यसूत्र हैं या 'गृहस्थविषयक सारसंग्रह बचन' हैं जो घरेलू विधियों अथवा उन विधियों का वर्णन करते हैं जो दैनिक जीवन में घरेलू अग्नि के साथ पूरी की जाती हैं। नियमानुसार ये विधियां पुरोहित द्वारा पूरी नहीं की जातीं किन्तु अपनी पत्नी को साथ लेकर स्वयं गृहस्थ द्वारा पूरी की जाती हैं। इस कारण प्रबन्ध व्यवस्था, कुछ कथनों, कुछ छोड़ने या कुछ जोड़ने में अन्तर के अतिरिक्त विभिन्न गृह्यसूत्रों में एक दूसरे से कोई महत्वपूर्ण अन्तर नहीं है। हां जो मन्त्र उनमें हैं और जो बोले जाते हैं वे उसी वेद से लिए लिए हुए होते हैं जिसके वे गृह्यसूत्र हैं। प्रत्येक गृह्यसूत्र उसी समुदाय के किसी श्रौत सूत्र से सम्बद्ध होने और उसके सन्दर्भ का निर्देश करने के अतिरिक्त यह मानकर चलता है कि (उस श्रौतसूत्र का) याजक को पहले से ही ज्ञान है। किन्तु इस प्रकार सम्बद्ध होते हुए भी वे एक एकरूपता धारण नहीं करते।

सूत्रों का एक दूसरा वर्ग, जो सामाजिक और दण्डनीति सम्बन्धी विषयों का वर्णन करता है, गृह्यसूत्रों के समान स्मृतियों या परम्पराओं पर आधारित हैं। ये धर्मसूत्र हैं जो भारयीय विधि व्यवस्था के सामान्यत: सबसे प्राचीन स्रोत हैं। जैसा कि 'धर्म, इस शब्द से व्यक्त होता है इसका अर्थ है धार्मिकता और नैतिकता'। उनका दृष्टिकोण प्रधान रूप से धार्मिकता परक है। उनका वेद से निकट का सम्बन्ध है और वे वेदों के उद्धरण देते हैं और जिनको बाद की विधि पुस्तकें धर्म का प्रथम और सर्वोत्कृष्ट स्रोत मानते हैं।

उनकी शैली की अत्यधिक परुष और दुर्विज्ञेय प्रकृति के कारण और जान-बूझकर प्रयत्नपूर्वक रची हुई अलंकार हीनता से जिस रूप में वे विषय को प्रस्तुत करते हैं उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि साहित्यिक रचना के रूप में वे ब्राह्मणग्रन्थों से भी निम्न कोटि के हैं। हां यह सच है कि यदि विषयवस्तु की दृष्टि से उनका निर्णय किया जाता है तो साहित्य का यह विचित्र स्तर अत्यधिक मूल्यवाला सिद्ध होता है। सभी अन्य पुराने साहित्यों में याज्ञिक विधियों का ज्ञान केवल बिखरे हुए सन्दर्भों के संकलन करने से ही प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु यज्ञसूत्रों में हमारे पास प्राचीन पुस्तिकायें हैं जिनको पुरोहित लोग अपने यज्ञ सम्बन्धी ज्ञान के आधार के रूप में प्रयोग करते थे। उनके वक्तव्य इतने व्यवस्थित और विस्तृत हैं कि यज्ञों के अनुष्ठान को देखे बिना उनका पुनर्निर्माण किया जा सकना सम्भव है। इस प्रकार वे धार्मिक संस्थाओं

के इतिहास के लिए बहुत अधिक मूल्य की रचनाएं हैं। क्योंकि वैदिक काल में भी एक हिन्दू का जोवन किसी भी अन्य राष्ट्रीय के जीवन की अपेक्षा धार्मिक स्वरूपों के जाल से अधिक घिरा हुआ था। यह बात उसकी दैनिक जीवन पद्धति में भी थी और उसके सामाजिक जीवन में भी जो अधिक महत्त्व-पूर्ण है। प्राचीन भारत के सामाजिक जीवन का अध्ययन करने के लिए घरेलू यज्ञ विधि और उसी प्रकार वैधानिक सूत्र हमारे लिए सर्वाधिक उपयोगी साधन हैं। आचार व्यवहार के क्षेत्र में जो कुछ भी सम्मिलित किया जाता है ये सूत्र ग्रन्थ उस सबका सर्व-प्राचीन भारतीय लेखा-जोखा है।

इन श्रौत सूत्र और धर्म सूत्रों के सार संग्रह के अतिरिक्त सूत्र काल ने पुस्तकों के कई वर्ग उत्पन्न किए जो इस शैली में रचे गए थे और जो यद्यपि अपने स्वरूप में धार्मिक नहीं थे किन्तु उनका उद्भव धर्म से ही हुआ था। उनका उद्भव वेदों के अध्ययन से हुआ था और उनको इस बात से प्रेरणा प्राप्त हुई थी कि मन्त्रों को समझने में और भाषा में उत्पन्न हुए परिवर्तन के के कारण उनको ठीक-ठींक सुनाने में निरन्तर कठिनाई बढती जा रही थी। उनका मुख्य लक्ष्य था काव्य पाठ में ठीक उच्चारण को सुनिश्चित करना और पवित्र मूल पाठ की ठीक रूप में व्याख्या करना। इस सहायक साहित्य में जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण श्रेणियां सम्मिलित हैं उममें एक है प्रातिशाख्य सूत्र जिसमें स्वरोच्चारण, सामान्य उच्चारण, छन्द तथा दूसरे ऐसे विषय आते हैं जिनका प्रमुख सम्बन्ध वैदिक शब्दों के ध्वनि परिवर्तन से है, जब उनका प्रयोग वाक्यों में होता है। उनके सूक्ष्म निरीक्षणों की एक संख्या विद्यमान है। वह सूक्ष्म निरी-क्षण उसी प्रकार का है जैसा केवल आज के यूरोप के ध्वनि वैज्ञानिकों द्वारा उसके बाद दूसरी बार किया गया। इस आनुषंगिक साहित्य की इससे भी अधिक महत्त्व-पूर्ण शाखा है व्याकरण, जिसमें भाषा के व्यवस्थापूर्ण विश्लेषणों में भारतीयों ने जो परिणाम प्राप्त किए हैं वे किसी भी अन्य राष्ट्र द्वारा प्राप्त परिणामों का अतिक्रमण कर जाते हैं। इस दिशा में प्रारम्भिक युग में जितने भी प्रयत्न किए गए थे उनका बहुत थोड़ा भाग सुरक्षित रह सका है क्योंकि इसमें जो महान कार्य किया गया था उसको पाणिनि की महान सूत्रकृति ने विलुप्त कर दिया। यद्यपि पाणिनि का समय संभवतः सूत्रकाल का मध्य भाग है फिर भी पाणिनि संस्कृत युग की प्रवृत्ति के प्रवर्तक बिन्दु कहे जा सकते हैं। संस्कृत युग का साहित्य भाषा के उस स्तर से लगभग पूर्णरूप से शासित है जो उन (पाणिनि) के द्वारा अपरिवर्तनीय बना दी गई।

सूत्र काल में रचनाओं की एक ऐसी श्रेणी का भी उदय हुआ जिसका विशेष मन्तव्य था वेदों के मूल पाठ को हानि या परिवर्तन से बचाना। ये

अनुक्रमणी या 'सूचियां' हैं जिनमें प्रत्येक सूक्त के पहले शब्द, उसके ऋषि, उसके देवता जिनका उसमें अभिनन्दन किया गया है, मन्त्रों की संख्या जो उनमें है और छन्द जिसमें उसकी रचना हुई है ये सब विवरण दिए गए हैं। उनमें से एक में ऋग्वेद के सूक्तों की पूरी संख्या, मन्त्र, शब्द और यहां तक कि अक्षरों की संख्या तक उनमें दी हुई है। इसके अतिरिक्त और भी विषय दिए हुए हैं।

वैदिक काल के इस सामान्य सर्वेक्षण से अब हम उसके द्वारा रचे गए साहित्य के विभिन्न स्तरों का अधिक विस्तार के साथ विचार करने की दिशा में मुड़ रहे हैं।

तृतीय अध्यायः

ऋग्वेद

भारतीय साहित्य की उषा कालीन धूमिल चमक में हमारी ऐतिहासिक कल्पना आर्य योद्धाओं के स्वरूपों का अवलोकन कर सकती है। ये आर्य योद्धा है भारत के पश्चिम के प्रथम विजेता। वे उत्तर पश्चिम के उन दरों से निकल कर आ रहे थे जिन से होकर परवर्ती युगों में आक्रमणों की लहर ने भारत के मैदानों को आप्लावित करने के लिए प्रसार प्राप्त किया। इस आक्रान्ता जाति की सबसे पहली कविता उस समय रची गई थी जब उनके कबीले उस समय तक सिन्धु नदी के दोनों ओर के क्षेत्रों पर अपना अधिकार जमाए थे। यह वह प्रदेश था जिसे आजकल काबुलिस्तान और पंजाब कहा जाता है। इसी कबीले की भाषा और संस्कृति आगे चलकर समस्त महाद्वीप (प्रायद्वीप) में छा गई। वह प्राचीन कविता सूक्तों के संकलन के रूप में जिसे ऋग्वेद कहा जाता है हम तक आई है। इसमें जो कवितायें थीं उनका एक ही पुस्तक में जिस कारण से संकलन किया गया था वह कोई व्यावहारिक कारण नहीं था जैसा कि साम वेद और यजुर्वेद के विषय में था। किन्तु वह वैज्ञानिक और ऐतिहासिक अवश्य था। क्योंकि इसके पुराने संकलन एवं सम्पादनकर्ता इस पुराने समय की पैत्रिक सम्पत्ति (दायभाग) को परिवर्तन और विनाश से बचाने की भावना से प्रेरित अवश्य थे। ऋग्वेद का समीक्षापूर्वक तैयार किया हुआ केवल यही संस्करण सुरक्षित रखा जा सका है जिसे शाकल शाखा की संज्ञा दी जाती है, उसमें जो सूक्त संकलित किए गए हैं उनकी संख्या १०१७ है, अथवा यदि उसमें ११ परिशिष्ट सूक्तों की (जिन्हें बालखिल्य कहा जाता है) अष्टममंडल के मध्य में जोड़ दिया जाय तो यह संख्या १०२८ हो जाती है। ये सूक्त १० खण्डों में संकलित किए गए हैं जिन्हें मण्डल या 'चक्र' कहा जाता है। आयाम की दृष्टि से वे सब एक दूसरे से भिन्न हो जाते हैं सिवाय इसके कि १०वें मण्डल में उतने ही सूक्त हैं जितने प्रथम मण्डल में। यह गणना की गई है कि ऋग्वेद के सूक्तों की विपुलता उतनी ही है जितनी शेष बची होमर की कविताओं की।

ऋग्वेद का विन्यास

दस मण्डलों का सामान्य स्वरूप सभी मामलों में एक जैसा नहीं है। उनमें ६ (दूसरे से सातवें तक) समरूप एवं सजातीय हैं। पहली बात तो यह है कि इनमें प्रत्येक एक भिन्न ऋषि या उसके सगोत्रों की रचना है जैसा कि प्राचीन परम्परा में प्रसिद्ध है; यह बात अन्त:साक्ष्य से भी प्रमाणित होती है। इसमें सन्देह नहीं कि ये सूक्त जिन परिवारों में सत्ता में आए थे उनमें बहुत समय तक वे पृथक् पृथक् हस्तान्तरित होते रहे। इन मण्डलों को अधिकतर पारिवारिक मण्डल कहा जाता है। उनमें जो सूक्त संकलित किए गए हैं उनके संकलन की क्रमव्यवस्था समरूप योजना के अनुसार हुई है जो बात दूसरे मण्डलों में नहीं पाई जाती। पहला, आठवां और दसवां मण्डल क्रमशः एक ऋषि परिवार की रचना नहीं है किन्तु कुछ संख्यक श्रेणियों में विभाजित हैं जिनका परिचय रचनाकार के आधार पर किया जाता है। नवें मण्डल की क्रमव्यवस्था का सम्बन्ध रचनाकारों से बिल्कुल नहीं है। इसकी एकरूपता इस बात पर निर्भर है कि इसमें सभी सूक्त एकाकी देवता सोम को ही सम्बोधित किए गए हैं जबकि इसकी श्रेणियां छन्दों की एकरूपता पर आश्रित हैं। पारिवारिक मण्डल भी श्रेणियों में विभक्त हैं, किन्तु उनमें प्रत्येक का निर्माण एक और उसी देवता को सम्बोधित किये गए सूक्तों से हुआ है।

जिन सिद्धान्तों पर ऋग्वेद के सभी मण्डल एक दूसरे के सम्बन्ध में क्रमबद्ध किए गए हैं उन सिद्धान्तों की ओर मुड़ने पर हमें ज्ञात होता है कि यदि यह स्वीकार करने का अधिकार दिया जाय कि इसमें बाद में भी परिवर्तन हुआ है, (तो हम देखते हैं कि) दूसरे से सातवें तक मण्डलों में संकलन की ऐसी श्रेणियां हैं जिनमें उत्तरोत्तर बढ़ती हुई संख्या वाले सूक्त संकलित किए गए हैं। इस वास्तविकता के साथ जब सामान्य स्वरूप और आन्तरिक क्रमव्यवस्था में इन मण्डलों की एकरूपता का तत्त्व भी जुड़ जाता है तब इस मान्यता की सम्भावना हो जाती है कि ये (पारिवारिक मण्डल) ऋग्वेद का केन्द्रीय भाग हैं जिसके साथ दूसरे मण्डल क्रमशः जुड़ते गए हैं। इसके आगे यह भी सम्भव मालूम पड़ता है कि छोटे छोटे ९ संकलन जोकि प्रथम मण्डल के द्वितीय भाग का निर्माण करते हैं चूंकि उसी प्रकार रचनाकार के परिचय पर ही आधारित हैं बाद में पारिवारिक मण्डलों के जोड़ दिए गए जो कि उनकी आन्तरिक क्रमव्यवस्था के नमूने का कार्य करते थे।

आठवें मण्डल के सूक्त सामान्यत: पारस्परिक समरूपता प्रदर्शित करते हैं जो पारिवारिक सूक्तों में पाई जाने वाली समरूपता की अपेक्षा कठिनाई से कम कही जा सकती है। क्योंकि वे बहुसंख्यक वाक्यांशों और समस्त मण्डल में

बिखरी हुई पंक्तियों की पुनरुक्तियों से परस्पर सम्बद्ध हैं। यह सच है कि अष्टम मण्डल पारिवारिक सूक्तों का समानुपाती नहीं है क्योंकि यद्यपि कम से कम कण्व का एकाकी परिवार इसके रचनाकारों के मध्य सर्वातिशायी है तथापि इस में रचना के अन्तर्गत यूनान के नाटकों के समान प्रश्नोत्तर रूप सङ्गीत में विभिन्न व्यक्तियों द्वारा संगति के स्वरूप की जो प्रवृत्ति पाई जाती है वह इसको अपना स्वतन्त्र स्वरूप प्रदान कर देती है। दूसरी बात यह है कि यह वास्तविकता कि अष्टम मण्डल में सप्तम मण्डल की अपेक्षा कम सूक्त हैं स्वयं ही प्रकट कर देता है कि अष्टम मण्डल पारिवारिक मण्डलों की श्रेणी में नहीं आता।

प्रथम मण्डल का पहला भाग (सूक्त १-५०) ८वें मण्डल के साथ अत्यधिक समरूपता धारण करता है क्योंकि इसके आधे से अधिक सूक्त कण्व परिवार के सदस्यों के नाम पर अध्यारोपित किए गए हैं जबकि इन कण्व परिवार के कतिपय सदस्यों द्वारा रचित सूक्तों में आठवें मण्डल में अपनाए गए प्रश्नोत्तर परक संगीत छन्द के प्रयोग की प्रिय शैली अपनाई गई पुनः दृष्टिगत होती है। इसके अतिरिक्त इन दोनों संकलनों में बहुसंख्यक सवादी और सीधे एकरूप अनुच्छेद विद्यमान हैं। सचमुच इस समय यह निर्णय करना असम्भव है कि दोनों में कौन पहले का है अथवा यह निर्णय करना (भी असम्भव है) कि यद्यपि ये दोनो इतने अधिक निकटवर्ती रूप में परस्पर सम्बद्ध हैं फिर भी ये दोनो इतना अधिक पृथक् (दूरवर्ती) कैसे हो गए। सच बात यह है कि यह निश्चित है कि पहले से विद्यमान संकलन में वे क्रमशः आदि और अन्त में जोड़ दिए गए। (वे पृथक् पृथक् जोड़े गए इसका कारण क्या था ?) क्या वे रचना-काल के ऐतिहासिक दृष्टिकोण से पृथक् किए गए या इसलिए ऐसा किया गया कि वे कण्व परिवार की विभिन्न शाखाओं द्वारा रचे गए थे (यह ज्ञात नहीं है।)

नवें मण्डल के विषय में इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि जब पहले के ८ मण्डल समस्त पुस्तक में जोड़ दिए गए तब यह सत्ता में आया। इसकी रचना सीधे उस संकलन का परिणाम थी। सोम पवमान (स्पष्ट ही प्रवहमान) देवता के प्रति प्रार्थना के सूक्त उन्हीं पारिवारिक ऋषियों ने रचे थे जिन्होंने दूसरे से सातवें मण्डल तक की रचना की थी। अन्य प्रमाणों के अतिरिक्त यह वास्तविकता भी इस तथ्य की ओर पर्याप्त संकेत करती है कि उनमें (नवम मण्डल में) उन परिवारों की स्थायी टेक[1] (ध्रुवा) पाई जाती है। पवमान देवता विषयक

---

१. जब किसी लम्बे पद्य समूह में एक ही अन्तिम पंक्ति दोहराई जाती है तब उसे टेक, ध्रुवा (Ugrain) कहा जाता है। इस प्रकार की पारिवारिक सूक्तों की पंक्तियां नवममंडल में मिलती हैं।

सूक्तों की समरूपता प्रथम और अष्टम मण्डल में भी पाई जाती है। मण्डलों के सभी पवमान देवता विषयक सूक्त निकाल लिए गए और उन्हें एक सङ्कलन में एकत्र कर दिया गया। यह कार्य उस समय तक नहीं हुआ जब ऋषि परिवारों के सूक्त मण्डलों में सङ्कलित किए गए। यह बात निश्चय ही ऐसा सूचित नहीं करती कि पवमान देवता विषयक सूक्त स्वयं ही हाल की रचना हैं। इसके प्रतिकूल यह समझने का बहुत अच्छा कारण विद्यमान है कि सोम सूक्तों का काव्य वैदिक रचनाकारों के मध्य उनके प्रारम्भिक चरण में पूर्णरूप से उपसंहार की स्थिति में पहुंच गया था जिस सोमकाव्य में अवेस्ता के साथ अनेक सामान्य लक्षण मिलते हैं और जो उस शास्त्रीय विधि का वर्णन करता है जो भारतीय ईरानियन युग तक पीछे की ओर जाती है, सम्भव है उनमें कुछ सूक्त उस काल के लिखे हुए हों जब दशम मण्डल सत्ता में आ गया था। नवम मण्डल के सूक्तों में काल भेद लगभग पूर्णरूप से लुप्त हो चुका है। जो भी हो, इस संकलन के रचनाकाल विषयक स्तरों का ज्ञान प्राप्त करने में अनुसन्धान अभी तक कृतकार्य नहीं हो सका है।

१०वें मण्डल के विषय में कोई सन्देह नहीं हो सकता कि यह सत्ता में उस समय आया जब प्रथम ९ मण्डल पहले विद्यमान हो ही चुके थे। इसके रचयिता पुराने मण्डलों के ज्ञान में बढ़ गये थे जिसके साथ वे अपना परिचय प्रत्येक अवसर पर बतलाते हैं। इसके वर्गों में एक (२० से २६) का रचयिता (अग्निमीले) शब्द से प्रारम्भ करता है जो ऋग्वेद के पहले मन्त्र का शब्द है यह वास्तविकता सम्भवतः इस बात की सूचक है कि उसके समय में मिले-जुले संग्रह के रूप में भी १ से ९ तक मंडल उसके समय में विद्यमान थे। दशम मण्डल वस्तुतः परिशिष्ट सूक्तों का संग्रह है यह बात इससे सिद्ध होती है कि सोममण्डल के बाद उसकी स्थिति है और सूक्तों की उसी की संख्या प्रथममंडल (१९१) में बतलाई हुई संख्या की पूर्ति करती है। जो एकरूपता इसकी कविता को जोड़ती है वह है सामयिकता,[1] क्योंकि यह हाल के वर्गों और हाल के एकाकी सूक्तों का मण्डल है। फिर भी जो परिशिष्टि इसमें संकलित किए गए हैं वे अधिकांश भाग में उनसे अधिक पुराने ज्ञात होते हैं जो सूक्त पूर्ववर्ती मण्डलों में जोड़े गए हैं।

दशममंडल की विषयवस्तु और इसके स्वरूप से निष्कृष्ट अनेक कसौटियां हैं जो दशममण्डल के प्रारम्भ को परवर्ती प्रकट करती हैं। देवतावाद के विषय में हमें पूर्ववर्ती देवता इन बाद के गायकों की कल्पना पर अपना अधिकार कम

१. इन सबका साधर्म्य यही है कि ये एक समय में लिखे गए हैं।

करना प्रारम्भ करते हुए दिखलाई पड़ते हैं। कतिपय तो उषः देवी के समान अदृश्य होते हुए प्रतीत होते हैं जबकि जो देवता स्वयं को अत्यन्त विस्तार में प्रतिष्ठापित कर चुके थे जैसे इन्द्र और अग्नि वे ही अपनी प्रतिष्ठा कायम रक्खे हुए हैं। केवल विश्वेदेव या 'सभी देवता' का बहुव्यापी वर्ग अपनी प्रमुखता में आगे बढ़ा है। दूसरी ओर सर्वथा नया प्रकार शुद्धरूप में अमूर्तभावों जैसे 'क्रोध' और 'विश्वास' का देवीकरण अव पहली बार दिखलाई पड़ता है। यहां हमें सूक्तों की ऐसी संख्या भी मिलती है जो प्राग्वर्ती मंडलों के लिए सर्वथा अपरिचित विषयों का वर्णन करते हैं। उदाहरण के लिए वे विषय हैं—विश्वोत्पत्ति और दार्शनिक परिकल्पनायें, वैवाहिक और और्ध्वदैहिक विधियां, जादू टोना और अभिचार मन्त्र, ये विषय इस मण्डल के परवर्ती प्रारम्भ को सिद्ध करने के अतिरिक्त इसको एक निश्चित स्वरूप भी प्रदान करते हैं।

भाषा की दृष्टि से भी दशम मंडल स्पष्ट रूप में अन्य मण्डलों से परवर्ती रूप में पहिचाना जा सकता है जोकि अनेक दृष्टियों से दूसरे वेदों के लिए मध्यवर्ती सन्धिस्थल मालूम पड़ता है। इस बात को दिखलाने के लिए कतिपय उदाहरण पर्याप्त होंगे—स्वरलोप कहीं अधिक प्रायिक हो गया जबकि प्रकृति भाव और अवग्रह[1] का प्रयोग कम हो गया, 'लृ' अक्षर का प्रयोग 'ऋ' की तुलना में बाद की संस्कृत के अनुसार आकर्षक रूप में वढ़ गया। शब्द रूपों में वैदिक कर्ताकारक वहुवचन का 'आसः'[2] घटने लगा। शब्दावली की दृष्टि से बहुत से पुराने शब्द प्रयोग से वाह्य होते जा रहे हैं जबकि दूसरे शब्द अधिक सामान्य हो रहे हैं। 'सिम' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद के दूसरे मण्डलों में ५० बार हुआ है जवकि १०वें मंडल में केवल एक वार हुआ है। शब्द की कुछ संख्या जो बाद की भाषा में सामान्य हो गई, हमें केवल इसी मंडल में मिलती है। उदाहरण के लिए लभ् धातु जिसका अर्थ है प्राप्त करना, काल अर्थात् 'समय' लक्ष्मी अर्थात् 'भाग्य', एवम् अर्थात् 'इस प्रकार'। यहां भी हम आर्ष प्रयोगों की ओर संकेत कर सकते हैं जिनका जान-बूझकर प्रयोग किया गया है।

इस प्रकार ऋग्वेद का दशम मंडल निश्चित रूप से रचना के परवर्ती स्तर का प्रतिनिधित्व करता है। पूर्वकालीन मण्डलों में विभिन्न स्वीकृत मान-दण्डों के अनुसार पृथक् पृथक् कतिपय सूक्तों को भी दूसरों की अपेक्षा परवर्ती सिद्ध किया जा चुका है और उन्हें तीन या पांच तक भी साहित्यिक युग प्रदान करने की दिशा में कुछ प्रगति की जा चुकी है। वास्तविकता यह है कि पूर्व-

---

१. जैसे देवोऽयम् का 'ऽ' यह चिन्ह

२. जैसे 'देवाः' के स्थान पर 'देवासः'

कालिक मण्डलों के समस्त वर्गों की आयु सिद्ध करने के लिए किया गया अनुसन्धान अब तक किसी निश्चित परिणाम पर नहीं पहुंचा है। क्योंकि यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि संग्रह का परवर्ती होना और उसका सम्मिलित किया जाना निश्चित रूप से यह सिद्ध नहीं करता कि रचना की तिथि भी परवर्ती है।

समस्त सूक्तों को ऋग्वेद में आकर सत्ता प्राप्त करने में निश्चय ही कुछ सौ वर्षों का समय आवश्यक रहा होगा। निस्सन्देह ईरानियों से भारतीयों के अलग होने के बाद एक मध्यवर्ती कालावधि भी रही होगी यद्यपि सम्भवत: यह बहुत लम्बी नहीं होगी। इस मध्यवर्ती युग में और अधिक पुरानी कविताएं रची गई होंगी और उसमें अधिक कौशल के साथ पहले ही रचे गये प्राचीनतम सुरक्षित सूक्तों की शैली का विकास किया गया होगा। ऋग्वेद के पुराने भाग के कवि स्वयं ही पूर्वजों का उल्लेख करते है जिनके मार्ग का अनुसरण कर वे गीत गाते है, जिनके गीतों को वे नया रूप देना चाहते हैं और पूर्वजों के सूक्तों के विषय में कहते हैं कि वे प्राचीनकाल में लिखे गए थे। जहां तक भाषा सम्बन्धी प्रमाण का सम्बन्ध है यह ऋग्वेद के अन्तर्गत दशम मण्डल के विषय को छोड़कर कालावधि को पृथक् पृथक् रूप में निर्णय करने की दिशा में सहायता नहीं करती। क्योंकि सूक्तों में रचनाकारों की कुछ संख्या होते हुए भी प्रधान रूप से एक ही प्रकार की भाषा छाई रहती है, विचार, शैली और कविप्रतिभा के क्षेत्र में विभेद को लक्षित कर सकना सर्वथा सम्भव है किन्तु भाषा में कठिनाई से किसी अन्तर को लक्षित किया जा सकता है। फिर भी भाषाविन्यास, छन्द और विषयवस्तु से निष्कर्ष रूप में प्राप्त संकेतों के साथ मिलाकर धैर्यपूर्वक किए गए भाषा सम्बन्धी अनुसन्धान ने अब प्रमाण प्रस्तुत करना प्रारम्भ कर दिया है जो ऋग्वेद के प्राचीन मण्डलों में कालक्रम सम्बन्धी स्तरों को पहिचानने की ओर ले जा सकेगा।

यद्यपि इस प्रारम्भिक काल का निर्णय करने में सहायता देने की दिशा में पाण्डुलिपियां सर्वथा असफल हो जाती हैं फिर भी हमें प्रसन्नता है कि ऋग्वेद के लिए हमारे पास २००० वर्ष से अधिक पुराने विभिन्न प्रकार के पाठों की एक बहुत बड़ी राशि विद्यमान है। ये पाठ दूसरे वेदों में सम्मिलित है जोकि ऋग्वेद से लिए गए सूक्तों, मन्त्रों और पंक्तियों से अत्यधिक संख्या में बनाए गए हैं। वास्तव में दूसरे वेद ऋग्वेद की समीक्षा में वही कार्य करते हैं जोकि दूसरे साहित्यिक स्मारकों के लिए पाण्डुलिपियां करती है। इस प्रकार ऋग्वेद का जो मूलपाठ सीधे परम्परागत रूप में हमें प्राप्त हुआ है उसके साथ उन

विभिन्न पाठों की तुलनात्मक समीक्षा करने की शक्ति हमारे पास है जो पाठ यास्क और प्रातिशाख्यों की अपेक्षा भी कहीं अधिक पुराने हैं।

बाद के वेदों ने जो विभिन्न पाठ हमें प्रदान किए हैं उनसे उनकी तुलना हमें इस निष्कर्ष पर पहुंचाती है कि तुलनात्मक दृष्टि से बहुत कम अपवादों को छोड़कर ऋग्वेद का मूलपाठ उस समय भी अपने वर्तमान रूप में ही विद्यमान था जब सामवेद का पाठ्य, यजुर्वेद का प्राचीनतम रूप और अथर्व वेद की रचना हुई थी और सम्भवतः किसी अन्य समीक्षात्मक संस्करण के रूप में विद्यमान नहीं था। ऋग्वेद के ऐसे पाठ-भ्रंश हो जाने के उदाहरणों की संख्या नगण्य है जो दूसरों में नहीं पाए जाते। इस प्रकार ज्ञात होता है कि वैदिक परम्परा के जिस सारतत्त्व का ऋग्वेद के द्वारा प्रतिनिधित्व किया गया है वह हम तक निश्चय की उच्चकोटि और शब्दों की ध्यान देने योग्य सत्य-निष्ठा के लिए परवा के साथ ऐसे समय से हम तक आया है जो ई० पू० १००० से भी कम दूरी का मुश्किल से ही होगा।

कविता का एक ऐसा पवित्र संकलन जिसका उद्भव ऐतिहासिक रहा हो और जो दूसरे वेदों की रचना एवं बाद की यज्ञविधि के विस्तृत विवरण को निश्चित कर देने के पहले मौखिक परम्परा की पैतृक सम्पत्ति बना रहा हो स्वाभाविक है कि वह उस मूलपाठ की अपेक्षा अधिक शुद्ध एवं यथार्थ बना रहा जो प्रमुख रूप से उससे लेकर बनाये गये थे, जो सूक्त स्वेच्छापूर्वक काट दिए गए थे और मन्त्रों के वर्ग बना दिए गए थे, या उन एकाकी मन्त्रों की अपेक्षा जिनको नई प्रार्थना पद्धति की आवश्यकता को पूरा करने के लिए मूल पुस्तक से काटकर निकाला गया था। कारण यह है कि जिन लोगों ने ऋग्वेद के मन्त्रों को प्रकरण से निकाल लिया और उनको अपनी नई रचना में मिला दिया वे इस प्रकार के मन्त्रों को परिवर्तन से बचाने के लिए उतनी कठोरता के साथ स्वयं को बाध्य नहीं मानते थे जितना कि वे लोग मानते थे जिन्होंने इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं किया कि बिना तोड़-फोड़ के उसके मूलपाठ को उसके अपने सम्बन्धित रूप में हस्तान्तरित करने के लिए निरन्तरता बनाए रक्खी। परम्परा का नियन्त्रण उस समय समाप्त हो जाता है जब नई परम्परा डाली जाती है।

ऋग्वेद के मूलपाठ की समीक्षा स्वयं ही दो युगों से सम्बन्धित है। पहला युग वह है जिसमें वह उसके पहले एकाकी विद्यमान था जब दूसरे वेद सत्ता में आए। दूसरा युग वह है जिसमें ऐसा प्रतीत होता है कि वैयाकरण सम्पादकों के परिश्रम के कारण ध्वन्यात्मक दृष्टि से उसमें संशोधन कर दिया गया और वह संहिता पाठ कहलाता है। पुराने युग में एकमात्र मौखिक परम्परा द्वारा

हस्तान्तरित होने के कारण उसके अन्तिम संस्करण के समय तक यह सर्वथा प्रामाणिक रूप में सुरक्षित नहीं रहा। यह उस भाग्य से पीड़ित होने से स्वयं को पूर्णरूप से नही बचा सका जो उन सभी रचनाओं के विषय में होता है जो चिर अतीत से परवर्ती युग की ओर आते हुए भाषा विषयक परिर्वातित परिस्थिति के युग में जीवित रहते हैं। यद्यपि पुराने युग से सम्बन्धित अनेक ऐसे दोष आ गए हैं जिनको अस्वीकृत नहीं किया जा सकता तथापि मूलपाठ ने उस समय तक ध्यान देने योग्य प्रामाणिकता सुरक्षित रक्खी जब तक ऐसे परिवर्तन जो उसमें हो रहे थे संहिता पाठ में अपने निष्कर्ष पर पहुंच गए। यह मूलपाठ सूक्तों के निर्माताओं के पाठ से सैकड़ों स्थानों पर भिन्न हो गया है, किन्तु इसके वास्तविक शब्द सर्वदा लगभग वही हैं जैसे कि पुराने ऋषियों के शब्द थे। इस प्रकार इस विषय में कोई अनिश्चितता नहीं रह जायेगी कि उदाहरण के लिए ठीक शब्द 'सुभ्रम्' था कि च्युभ्रम् था। अन्तर तो लगभग पूर्णरूप से ध्वनि परिवर्तन में है जोकि शास्त्रीय संस्कृत में सन्धि के प्रभावी हो रहे नियमों के के कारण शब्दों के अन्दर आ गए थे। इस प्रकार पहले जो उच्चारण 'त्वं हि अग्ने' इस रूप में किया जाता था अब 'त्वं ह्यग्ने' इस रूप में दिखलाई पड़ता है। उसके द्वारा उत्पन्न हुआ आधुनिकीकरण सचमुच केवल आंशिक है और प्राय: असंबद्ध रूप में लागू किया जाता है। सहिता में सुस्वरता के सम्मिश्रण ने मूलपाठ के छन्द के साथ हस्तक्षेप किया है। इसलिए बाद के (संहिता पाठ के) अनुसार पढ़ने से पुराना पाठ पुनरुज्जीवित किया जा सकता है। इसके साथ ही संहिता पाठ ने विवरण के उन छोटे से छोटे सूक्ष्मतम तत्त्वों को जो त्रुटि उत्पन्न करने में सर्वाधिक उत्तरदायी होते हैं, और उच्चारण के विषय में छोटे से छोटे अन्तर को तथा वैकल्पिक रूपों को सुरक्षित रक्खा जिनको अत्यधिक आसानी से दूर किया जा सकता था। इस प्रकार के चिह्न इस बात का अतिरिक्त प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि जिस सीमातीत मनोयोग के साथ मूलपाठ की शाब्दिक परिपूर्णता सुरक्षित रक्खी गई वह स्वयं अपेक्षाकृत अधिक प्रारम्भिक काल पीछे तक जाता है। ऋग्वेद का पुराना पाठ स्वयं ही प्रकट करता है कि प्रथम युग की परम्परागत एकाकी त्रुटियों और द्वितीय युग की वैयाकरण नियमों के कारण उत्पन्न हुई भूलों को छोड़कर बिल्कुल दूरवर्ती प्राचीनकाल से लेकर ही आश्चर्यजनक पूर्ण यथार्थता के साथ छोटे से छोटे विवरण में भी उस पाठ को सुरक्षित रक्खा गया है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में ऋग्वेद के सम्बन्ध में व्याख्यात्मक विवेचन से यह परिणाम निकलता है कि उनके समय में ऋग्वेद का मूलपाठ निश्चित रूप में तत्त्वत: निश्चित कर दिया गया और वह भी उदाहरण के लिए यजुर्वेद के

गद्य सिद्धान्तों की अपेक्षा भी अधिक विशेष सावधानी से यह सुरक्षा की गई। क्योंकि शतपथ ब्राह्मण में जबकि इनमें से कुछ सिद्धान्तों में परिवर्तन की सम्भावना का प्रकथन किया जा रहा था तब ऋग्वेद के कुछ मन्त्रों के मूलपाठ में परिवर्तन के सिद्धान्त का खण्डन कर दिया और कहा कि इस विषय में जैसा कि कुछ आचार्य प्रस्ताव करते हैं यह (ऋग्वेद में परिवर्तन) एक ऐसी बात है जिस विषय मे सोचना भी नहीं चाहिए। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रायः इस वास्तविकता का भी उल्लेख किया गया है कि अमुक सूक्त या प्रयोग कल्प में मन्त्रों की एक विशेष संख्या है। इस प्रकार के सभी संख्यात्मक वक्तव्य ऋग्वेद के यथार्थ मूलपाठ से मेल खाते हुए मालूम पड़ते हैं। दूसरी ओर ऋग्वेद के मन्त्रों में क्रमविपर्यय (पौर्वापर्य में हेर फेर, और छूट जाना भी ब्राह्मणग्रन्थों में पाया जाता है। किन्तु यह (परित्याग और क्रमविपर्यय) निश्चय ही इन मन्त्रों के यज्ञ विधिपरक स्वरूप से सम्बन्ध रखता है और किसी भी रूप में यह प्रकट नहीं करता कि जिस पाठ से इन्हें लिया गया है वह हमारे (ब्राह्मणग्रन्थ के) पाठ से भिन्न थे।

सूत्रों में भी ऋग्वेद के मन्त्रो का बदला हुआ स्वरूप पाया जाता है किन्तु जैसा ब्राह्मण ग्रन्थों में है वैसा ही यहां भी है कि उसकी व्याख्या पाठ का प्राचीनतर संस्करण बतलाकर नहीं की जा सकती किन्तु यज्ञ की नई पारिभाषिकता के अनुसार उनके परिवर्तन की आवश्यकता बतलाकर ही की जा सकती है। दूसरी ओर उनमें बहुत से ऐसे वक्तव्य हैं जो हमारे वर्तमान मूल पाठ को पुष्ट करते हैं। इस प्रकार शाङ्खायन सूत्रों में मन्त्रों द्वारा प्राप्त की गई स्थिति या सूक्तों के समूह में आये हुए मन्त्रों की पूर्ण संख्या के विषय मे जो कुछ कहा गया है वह निश्चित रूप से हमारे मूलपाठ से मेल खाता हुआ मालूम पड़ता है।

संहिता पाठ का काल

अब भी हमें इस प्रश्न का उत्तर देना है कि ऋग्वेद का संहिता पाठ कब निर्धारित किया गया था जिसने अन्तिम रूप से हमारे धर्मग्रन्थ के स्वरूप को स्थिर कर दिया। अब विचारणीय यह है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में कुछ संख्यक सीधे वक्तव्य मिलते हैं जिनमें शब्द या शब्द समूह के ऐसे अक्षरों की संख्या बतलाई गई है जो संहिता में बाद के स्वर सन्धि नियमों के कारण न्यून होकर भिन्न हो जाती है। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थों के पुराने भाग में वैदिक पाठ विषयक ध्वन्यात्मक प्रश्नों पर विचार विमर्श की दिशा में शायद ही कोई उल्लेख प्राप्त होता हो। इसलिए इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि

ब्राह्मण ग्रन्थों की पूर्ति के बाद के समय तक संहिता पाठ सत्ता में नहीं आया था। आरण्यक और उपनिषदों के विषय में जो कि ब्राह्मण ग्रन्थो के परिपूरक ग्रन्थ हैं, वास्तविकता भिन्न है। ये रचनायें कतिपय वर्ण समूहों के लिए व्याख्या के व्याकरण सम्बन्ध पारिभाषिक नियमों का केवल उल्लेख ही नहीं करते किन्तु वैदिक पाठ के ध्वन्यात्मक विवेचन के विषय में विस्तृत सिद्धान्त भी उनमें विद्यमान हैं। यहां भी पहली बार कतिपय सिद्धान्त वादी वैय्याकरणों के नाम विद्यमान हैं जिनके प्रतिनिधि हैं शाकल्य और माण्डूकेय जिनको अधिकारी विद्वान के रूप में प्रतिशाख्यों में स्वीकार किया गया है। इसके अनुसार आरण्यक और उपनिषद् व्याख्या सम्बन्धी प्रश्नों के निर्वचन के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों की आयु और यास्क तथा प्रतिशाख्यों की आयु का मध्यवर्ती युग निर्मित करते हैं। संहिता पाठ निश्चय ही इस मध्यवर्ती युग में, कहना न होगा कि, ६०० ई० पू० में निर्मित किया गया होगा।

जब यह ग्रन्थ पूरा हो गया तब इस प्रकार धर्मग्रन्थ के पाठ को जो निश्चित रूप दिया गया था उसमें परिवर्तन या विनाश की सम्भावना से उसकी रक्षा करने के लिए असाधारण अहेतियात बरती गई, परिणाम यह हुआ कि ऐसी सच्चाई के साथ इसे सुरक्षित रखा गया जो साहित्य के इतिहास में अभूतपूर्व है। इस दिशा में जो पहला कदम उठाया गया वह था पदपाठ या शब्दों का मूलरूप तैयार करना जो कि संहिता (सन्धि के) विश्लेषण होने के कारण प्रत्येक पृथक् शब्द को स्वतन्त्र रूप प्रदान करता है और इस प्रकार अत्यधिक दूरी तक संहिता पाठ को एक अधिक पुराने स्तर तक पुनः स्थापित कर देता है। पद पाठ सर्वथा अपने मौलिक रूप में संहिता पाठ का समसायिक नहीं था यह बात उसमें आई हुई कतिपय (असन्दिग्ध) गलत व्याख्याओं और भ्रान्तियों से प्रकट होती है। फिर भी यह सच है कि इसकी रचना संहिता पाठ की रचना से बहुत थोड़े मध्यवर्ती काल के द्वारा पृथक् की जा सकती है क्योंकि ऐसा ज्ञात होता है कि ऐतरेय आरण्यक के लेखक को भी इसका ज्ञान था जबकि रचनाकार शाकल्य इन दोनों से पूर्ववर्ती है—यास्क से जो शाकल्य को उद्धृत करते हैं और शौनक से जो ऋक् प्रातिशाख्य के रचनाकार है। ऋक् प्रातिशाख्य पद पाठ पर आधारित है।

ऋग्वेद के मन्त्रों की प्रामाणिकता के लिए पद पाठ के मापदण्ड का महत्त्व निम्नलिखित वास्तविकता से सिद्ध होता है—ऋग्वेद में छः मन्त्र[1] हैं जिनका पद पाठ में विश्लेषण नहीं किया गया है किन्तु उनको संहिता पाठ रूप में ही

---

१. vii. 59, 12, x, 20, 121, 10, 190, 1-3

वहां पर दोबारा दे दिया गया है। यह प्रकट करता है कि शाकल्य उन मन्त्रों को वास्तविक ऋग्वेद के मन्त्र नहीं मानते थे, यह दृष्टिकोण आन्तरिक प्रमाण से भी सही ठहरता है। छः मन्त्रों का यह समूह, जो निसन्देह स्वयं में पूर्ण है, पुराने परिवर्धनों ऐसे जिन्हें शाकल्य ने धर्मग्रन्थ के रूप में मान्यता दी और ऐसे नए खिलों अर्थात् परिशिष्टों के मध्य में स्थित है जो कभी किसी रूप में पद पाठ में प्रवेश नहीं पा सका।

क्रम पाठ

पवित्र पाठ को परिवर्तन से सुरक्षित रखने के लिए शीघ्र ही इससे भी अधिक निश्चय के साथ क्रमपाठ या 'विन्यास पाठ' के स्वरूप में अगला कदम उठाया गया। यह पुराना है क्योंकि ऐतरेय आरण्यक के लेखक को अब तक इसका ज्ञान हो ही चुका है। यहां पद पाठ का प्रत्येक शब्द दो बार आता है, क्योंकि इसका दोनों ओर सम्बन्ध होता है—उससे भी जो उसके पहले आता है और उससे भी जो उसके बाद आता है। इस प्रकार यदि पहले चार शब्दों का प्रतिनिधित्व अ, ब, स, द के द्वारा किया जाय तो इस प्रकार पढ़ा जाएगा अब, बस, सद। जटा पाठ या बुना हुआ पाठ अपने अवसर पर क्रम पाठ पर आधारित होता है प्रत्येक मेल का तीन वार कथन करता है, दूसरी वार इसमें विपरीत क्रम होता है (अब, बअ, बस, सब, बस)। इस शृङ्खला पद्धति की सीमा घन पाठ में प्राप्त होती है जिसमें क्रम इस प्रकार होता है—अ ब, ब अ, अ ब स, स ब अ, अ ब स, ब स, स ब, ब स द तथा इसी प्रकार और भी।

प्रातिशाख्य भी पाठ का सुरक्षा कवच माना जा सकता है क्योंकि संहिता पाठ में पद की ओर उन्मुख होकर ठीक रूप से उन सभी परिवर्तनों को दिखलाने के मन्तव्य से इनकी रचना की गई है जिनकी आवश्यकता पद पाठ को संहिता पाठ में बदलने के लिए होती है।

अन्त में आनुषङ्गिक रचनाओ का वर्ग आता है जो कि अनुक्रमणी या सूची कहलाती है जिसका उद्देश्य है विभिन्न दृष्टिकोणों से ऋग्वेद की विषय वस्तु के पञ्जीकरण के द्वारा तथा इसके अतिरिक्त इस पवित्र संग्रह में आए हुए सूक्तों, मन्त्रों, शब्दों और यहां तक कि अक्षरों की संख्या की गणना कर ऋग्वेद को सुरक्षित रखना।

ऋग्वेद का पाठ्य केवल एक ही समीक्षात्मक संकरण के द्वारा हम तक आया है, किन्तु पुराने समय में इस प्रकार के इसके दूसरे संस्करण विद्यमान थे क्या इसका हमारे पास कोई प्रमाण विद्यमान है ?

चारायण व्यूह अथवा 'सम्प्रदायों का प्रकाशन' जो कि सूत्रकाल की एक

अनुपूरक रचना है ऋग्वेद की शाखाओ या 'संस्करणों' का उल्लेख करता है —शाकल, वाष्कल, आश्वालायन, शाङ्खायन और माण्डूकेय । इन शाखाओं में तीसरी और चौथी शाखा वास्तव में पाठ्य के किसी भिन्न संस्करण की ओर संकेत नहीं करती उनमें परस्पर और शाकल संहिता में एकमात्र यही अन्तर है कि आश्वालायन एक धर्मग्रन्थ के रूप में ११ बालखिल्य या परिशिष्ट मन्त्रों को स्वीकृति प्रदान करता है और शाङ्खायन उसी समूह को मानता है किन्तु उसमें कुछ मन्त्रों को कम कर देता है। इसीलिए पुराणों की परम्परा और दूसरी पौराणिक रचनायें केवल तीन शाखाओं का उल्लेख करती हैं— शाकल, वाष्कल और माण्डूकेय। यदि अन्तिम शाखा का कभी कोई स्वतन्त्र रूप का' संस्करण विद्यमान था तो प्राचीन भारत के प्रारम्भिक चरणों में किए गए खोज के उसके सभी प्रयत्न व्यर्थ हो गए। क्योंकि उसके विषय में किसी प्रकार की कोई सूचना सुरक्षित नहीं रही। इस प्रकार केवल दो शाखायें शाकल और वाष्कल विचार के क्षेत्र में आती हैं। वैदिक साहित्य के सहायक लेखों में यह दिखलाने के पर्याप्त प्रमाण विद्यमान हैं कि शाकल संहिता से वाष्कल संहिता केवल इस बात में भिन्न है कि इसमें आठ अतिरिक्त मन्त्रों को स्वीकृति प्रदान की गई है और प्रथम मण्डल के एक समूह को दूसरे प्रकार का स्थान दे दिया गया है। किन्तु इन दृष्टियों से वर्तमान पाठ्य के साथ इसकी तुलना अनुकूल नहीं पड़ती। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शाकल को पाठ्य की केवल सर्वोत्तम परम्परा ही प्राप्त नहीं है किन्तु ऋग्वेद का केवल यही संस्करण सच्चे अर्थों में हम तक आया है जो कि जहां तक हम कह सकते हैं यही एक संस्करण है जो कभी भी विद्यमान था।

वैदिक स्वर

वेद की दूसरी शाखायें और उसी प्रकार दो ब्राह्मण ग्रन्थ (शतपथ और तैत्तिरीय साथ ही आरण्यक) इन सबके समान ऋग्वेद का पाठ्य भी सस्वर रूप में हम तक आया है, पाठ्य की पवित्रता का जो विशिष्ट स्वरूप है उसने ठीक और सफल काव्यपाठ के लिए स्वर को अत्यन्त आवश्यक बना दिया है। सादृश्य के रूप में (कहा जा सकता है कि) यूनानी लोगों ने केवल विद्वत्तापूर्ण एवं नमूने के संस्करणों में ही स्वरो का निर्देश किया है। वैदिक स्वरों का स्वरूप संगीतात्मक था और प्राचीन यूनानी लोगों के समान उच्चारण के स्वरमान पर निर्भर था। संस्कृत स्वर प्रक्रिया का यही स्वरूप पाणिनि के समय के बाद तक बना रहा। किन्तु जिस प्रकार हमारी ईशवी सन् की गणना के प्रारम्भ के बाद में यूनानी संगीतात्मक स्वर बलाघात के रूप में पर्वितित हो गया ठीक उसी प्रकार सातवीं शताब्दी तक आते आते (या सम्भवतः उससे बहुत पहले)

संस्कृत स्वर प्रयोग ने भी उसी प्रकार का परिवर्तन स्वीकार किया। जबकि वस्तुतः वर्तमान ग्रीक भाषा में बलाघात स्वर अब तक बना हुआ है, तीव्र स्वर के आरोह क्रम से स्वर उसी वर्ण पर लगाया जाता है जिस पर प्राचीन भाषा में संगीत स्वर का प्रयोग होता था। (किन्तु) वर्तमान संस्कृत उच्चारण में वैदिक स्वरों का कोई सम्बन्ध नहीं है, किन्तु यह अन्तिम दो या तीन वर्णों के परिमाण पर आधारित है, यह बहुत कुछ वैसा ही है जैसा लैटिन में है। इस प्रकार उपान्त्य (अन्तिम से पहले वाला अक्षर) यदि दीर्घ है तो उस पर स्वर का बल दिया जाता है जैसे 'कालिदास', अथवा यदि उपान्त्य से पहले दीर्घ स्वर हो और उसके बाद ह्रस्व वर्ण आते हैं जैसे 'ब्राह्मण' या 'हिमालय' (बर्फ का घर) तो उस पर स्वराघात दिया जाता है। संस्कृत स्वर प्रयोग में यह परिवर्तन प्राकृत के प्रभाव के कारण लाया गया जिसमें यह दिखलाने का प्रमाण विद्यमान है कि स्वराघात की प्रवृत्ति हमारे ईशा सन् के प्रारम्भ के कई शताब्दियों पहले तक जाती है।

ऋग्वेद और उसी प्रकार दूसरे धर्मग्रन्थों में तीन स्वर होते हैं। इनमें सबसे अधिक आवश्यक है आरोह का स्वर जिसे उदात्त (उठाया हुआ) कहा जाता है जो ग्रीक एक्यूट (आरोही) स्वर का समकक्ष होता है। तुलनात्मक भाषा विज्ञान बतलाता है कि संस्कृत में यह उसी वर्ण पर लगता है जिस पर मूल आर्य भाषाओं में लगता था। ग्रीक भाषा में यह उसी वर्ण पर लगता है जिस पर संस्कृत में लगाया जाता है, केवल ऐसे अवसर अपवाद हैं जब अन्तिम तीन वर्णों में एक पर स्वर लगाने के प्रतिबन्ध का ग्रीक भाषा का विशेष नियम उसमें हस्तक्षेप कर देता है। इस प्रकार ग्रीक हेप्टा वैदिक सप्त (सात) के अनुरूप होता है। अवरोही स्वर जो आरोही स्वर के पहले आता है अनुदात्त (उठाया हुआ नहीं) कहा जाता है। तीसरा अवपतन का स्वर होता है जो आरोही के बाद आता है और स्वरित (ध्वनिपूर्ण) कहा जाता है।

वैदिक साहित्य की चार विभिन्न पद्धतियों में ऋग्वेद की पद्धति सर्वाधिक सामान्य रूप से अपनाई जाती है। इसमें उदात्त पर बिल्कुल ही कोई भी स्वर नहीं लगाया जाता। जबकि नीची ध्वनि (अवरोही) अर्थात अनुदात्त का संकेत जिसमें यह स्वर होता है उस अक्षर के नीचे दिगन्तसम एक सीधी रेखा के द्वारा दिया जाता है और स्वरित वर्ण के ऊपर, ऊपर को उठी हुई एक रेखा लगा देने से (संकेतित हो जाती है) इस प्रकार यज्ञस्य' (यज्ञ का) का अर्थ होगा कि दूसरा वर्ण उदात्त है और तीसरा स्वरित है (यज्ञस्यं) उदात्त को

चिह्नित न करने का कारण यह है क्योंकि यह शेष दो का मध्यवर्ती स्वर माना जाता है।[1]

वैदिक छन्द

ऋग्वेद के सूक्तों में मन्त्रों की संख्या ३ से ५८ तक है। किन्तु सामान्यत: १० या १२ से अधिक प्रयुक्त नहीं होते। ये मन्त्र (जो ढीलेपन से छन्द कहे जाते हैं :) कतिपय विभिन्न १५ छन्दों में रचे गए हैं। वस्तुतः किसी भी रूप में उनमें प्राय: ७ आते हैं। उनमे तीन कहीं अधिक सर्वाधिक सामान्य हैं। जो सब मिलाकर ऋग्वेद के मन्त्रों की संख्या के लगभग ४/५ पर दावा करते हैं।

ग्रीक और वैदिक छन्द शास्त्र के मध्य में एक सारभूत विभेद है—जबकि ग्रीक छन्द शास्त्र में छन्द की इकाई एक चरण है, संस्कृत में यह एक पंक्ति (या छन्द) है। इसमें चरण को पृथक् करके नहीं देखा जाता। यह सचमुच एक पर्याप्त कौतुक की बात है कि वैदिक छन्द की इकाई को भी पाद या 'चरण' कहा जाता है।

किन्तु उसका कारण बिल्कुल भिन्न है — यह शब्द यहां चौथाई का आलंकारिक अर्थ रखता है (यह अर्थ चार पैरों वाले जानवर के एक पैर से लिया गया है) क्योंकि सर्वाधिक प्रचलित प्रकार के छन्द में चार पंक्तियां ही होती हैं। साधारण रूप से पाद में ८, ११, या १२ वर्ण होते हैं। एक पद्य ऋक् सामान्य रूप से एक ही प्रकार के तीन या चार पंक्तियों का होता है। हाँ चार या पांच विरल प्रकार के छन्द विभिन्न प्रकार की पंक्तियों का योग होते हैं।

यह ध्यान देने की बात है कि वैदिक छन्द में कोई एक प्रकार का लचीलापन रहता है जिससे हम ग्रीक साहित्य में अनभ्यस्त है और जो लैटिन की उस सैटर्नियन छन्दों की अनियमितता की याद दिलाते हैं जिसमें लैटिन की प्राचीनतम कवितायें लिखी जाती थीं। अन्तिम चार या पांच वर्णों की लय का निश्चय किया जाता है, पंक्ति का पहला भाग नियम का विषय नहीं होता।

---

१. दूसरी तीन पद्धतियां हैं – (१) मैत्रायणी और काठक संहिता की (ये दो कृष्ण यजुर्वेद के संकलन हैं) इसमें उदात्त को ऊपर खड़ी रेखा चिह्नित कर दिखलाया जाता है। (२) शतपथ ब्राह्मण का जिसमें उदात्त को नीचे पड़ी रेखा से चिह्नित किया जाता है। (३) सामवेद का जो स्वरों को १, २, ३ इन संख्याओं से प्रकट करते हैं इसमें उदात्त सबसे बड़ा (१) होता है।

ऐतिहासिक सम्बन्ध की दृष्टि से वैदिक छन्द परवर्ती साहित्य के सम्पूर्ण छन्दः शास्त्र की नींव है, वे भारत ईरानी काल और शास्त्रीय संस्कृत काल की मध्यवर्ती स्थिति लिए हुए हैं। यदि अवेस्ता का प्रमाण लें जिसमें ८ और ११ अक्षरों की पंक्तियां होती हैं, जो मात्रा की उपेक्षा कर देते हैं किन्तु पद्यों में संयुक्त हो जाते हैं, जिसमें और बातों में उसी प्रकार की पद्धति है जैसी ऋग्वेद में पाई जाती है। यह तत्त्व इस बात को सूचित करता है कि जब फारस के लोग और भारतीय एक ही लोग थे उन लोगों का छन्द विषयक अभ्यास किसी अन्य तत्त्व पर नहीं केवल मात्राओं की गणनाओं के सिद्धान्त पर आधारित था। दूसरी ओर संस्कृत युग में सभी छन्दों में पंक्ति के प्रत्येक अक्षर की मात्रा निश्चित की जाती थी। इसमें अपवाद ढीली माप है (जिसे श्लोक कहा जाता है) जो महाग्रन्थ, महाकाव्य की कविता में प्रयुक्त किया जाता है। छन्दों का पंक्ति में नियमन पंक्ति के अन्त से प्रारम्भ हुआ था और इस प्रकार समस्त छन्द के विषय में छा गया। वैदिक पंक्ति के अन्त में निश्चित लय वृत्त-मूल शब्दानुसार मोड़ (वृतत् धातु से लैटिन वर्टेरे) कहा जाता है व्युत्पत्ति के अनुसार लैटिन के वर्सस से मेल खाता है।

आठ अक्षरों की पंक्ति प्राय: दो वर्ण लघु के बाद गुरु से समाप्त होती है, पहले चार वर्णों का यद्यपि ठीक रूप में निश्चय नहीं किया जाता तथापि उनमें भी प्रवृत्ति लघु के बाद गुरु के प्रयोग की ओर रहती है। इस प्रकार यह छन्द ठीक रूप में ग्रीक लघु गुरु परक दो परिमाणों वाले छन्द के सर्वथा समकक्ष है।

इस प्रकार की तीन पंक्तियां मिलकर गायत्री छन्द बनाती हैं जिसमें ऋग्वेद के समस्त पद्यों की लगभग एक चौथाई संख्या रची गई है। इसका एक उदाहरण ऋग्वेद का पहला मन्त्र है जो इस प्रकार है—

> अग्निमीले पुरोहितम्
> यज्ञस्य देवमृत्विजम्
> होतारं रत्न धातमम्।

मूल की लयबद्धता का अनुकरण करने पर इसको निकटतम रूप में इस प्रकार अनूदित किया जा सकता है—

> I praise Agni, domestic priest
> god, minister of sacrifice
> Herald, most prodigal of wealth.

हिन्दी में—

अग्नि की स्तुति जो घर का पुरोहित
देव, और यज्ञ का विमर्शक
अग्रदूत, धन का उच्चतम मुक्तहस्त

अनुष्टुभ् पद्य को बनाने के लिए आठ अक्षरों की ४ पंक्तियां जुड़ जाती हैं जिससे पहली दो और अन्तिम दो निकट रूप में संबद्ध रहती है। ऋग्वेद में इस परिमाण के पद्यों की संख्या गात्रयी छन्दों की संख्या के लगभग एक तिहाई के बराबर पहुंचती है। यह सम्बन्ध धीरे-धीरे विपरीत दिशा में चलता जाता है जबकि हम वेदोत्तर काल में पहुंच जाते हैं जबकि गायत्री अदृश्य हो गई मिलती है और अनुष्टुभ् (जो अब प्राय श्लोक कहलाता है) संस्कृत कविता का सर्वातिशायी छन्द हो जाता है। इस छन्द के स्वरूप का विकास स्वयं ऋग्वेद के अन्दर ही देखा जा सकता है। प्राचीनतम सूक्तों में इसके सभी मन्त्र एक ही प्रकार के हैं जो लय में लघु के बाद गुरु के रूप में हैं। बाद के सूक्तों में वस्तुतः प्रथम और तृतीय पंक्तियों में दूसरी और चौथी पंक्तियों से भिन्न लघु के बाद गुरु के विरुद्ध (गुरु के बाद गुरु की) प्रवृत्ति स्वयं को प्रदर्शित करने लगती है। अन्त में दशममण्डल के सबसे बाद के सूक्तों में विषम (पहले और तीसरे) चरणों में लघु के बाद गुरु की प्रवृत्ति का प्रसार सर्वथा लुप्त हो जाता है। यहां अन्तिम चार अक्षरों में परिमाण का हर एक सम्भव जोड़ प्राप्त होता है, किन्तु सर्वाधिक सामान्य रूप से प्रचलित परिवर्तन लघु गुरु की बारम्बारता लगभग समान ही है, वह है ।SS। (लघु गुरु, गुरु लघु) वेदोत्तर श्लोक में पहली और तीसरी पंक्ति में बाद वाला स्वरूप नियमित समाप्ति वाला है।

बारह अक्षरों की पंक्ति इस प्रकार समाप्त होती है ।S।S (लघु गुरु लघु गुरु) इनके चार मिलकर जगती छन्द बनाते हैं। त्रिष्टुम छन्द में ११ अक्षरों की चार पंक्तियां होती हैं जो प्रायोगिक रूप में उत्प्रेरित जगती छन्द है। क्योंकि उनका अन्त इस प्रकार होता है ।S।S (लघु गुरु लघु गुरु) ये दोनों छन्द परस्पर इतने निकट रूप में संबद्ध हैं और इनमें एकस्वरता इतनी अधिक है कि वे एक ही पद्य में मिले जुले पाए जाते हैं। ऋग्वेद में त्रिष्टुम छन्द कहीं अधिक बहु-प्रयुक्त है क्योंकि ऋग्वेद का लगभग २/५ भाग इसमें रचा गया है।

सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि ऋग्वेद के सूक्तों में पूर्णरूप से एक ही छन्द में रचे गए मन्त्र होते हैं। इस नियम से नियमित और आदर्शभूत अपवाद सूक्त की समाप्ति में होता है जिसमें केवल एक अन्तिम मन्त्र दूसरे

मन्त्रों की अपेक्षा भिन्न छन्द में लिखा जाता है। स्पष्ट रूप में समाप्ति को सूचित करने वाली यह एक स्वाभाविक पद्धति है।

ऋग्वेद के सूक्तों की कोई एक संख्या ऐसी है जिसमें एकमात्र एक ही पद्य की श्रेणी नहीं पाई जाती। किन्तु समसंख्यक पद्यों के समान समूह पाए जाते हैं। ऐसे वर्ग में या तो उसी साधारण छन्द में प्राय: तीन मन्त्र होते हैं जो अधिकतर गायत्री मन्त्र के समूह होते है। या विभिन्न चरणों के छन्दों में दो मन्त्रों का मिला-जुला योग होता है। बाद वाला प्रकार संगीत में प्रश्नोत्तर करने की पद्धति पर प्रगाथ नाम से प्रसिद्ध है और प्रमुख रूप में ऋग्वेद के अष्टम मण्डल में पाया जाता है।

चतुर्थ अध्याय

ऋग्वेद की कविता

इसके पहले कि हम ऋग्वेद के सूक्तों द्वारा व्यक्त किए गए विचार जगत् का वर्णन करने की ओर उन्मुख हों एक स्वाभाविक प्रश्न पूछा जा सकता है कि भारतीय साहित्य में युग परम्परा की दृष्टि से सर्वाधिक दूरवर्ती इतनी पृथग्भूत एकान्त स्थिति में पड़ी हुई पुस्तक का ठीक अर्थ समझ सकना किस सीमा तक सम्भव है। इस प्रश्न का उत्तर कविता के उस प्राचीन कलेवर के विषय में लागू होने वाली व्याख्यापद्धति के ठीक रूप में चुनाव और स्वीकार करने पर निर्भर है। जब हम लोगों को ऋग्वेद का पहले-पहले ज्ञान हुआ उस समय यूरोप के विद्वान् अब तक केवल शास्त्रीय संस्कृत भाषा और साहित्य से परिचित थे। उस समय उन्हें ऐसा मालूम पड़ा कि वैदिक सूक्त किसी प्राचीन भाषा में रचे गए हैं और ऐसे विचार जगत् को अपने कलेवर में समाए हुए हैं जो उससे अत्यधिक दूर हटा हुआ है जिससे उन लोगों ने स्वयं को परिचित बनाया था। अतएव प्रारम्भ में इन सूक्तों की व्याख्या करना ऐसी कठिनाइयों से प्रतिहत हो गया जिनके पार जाया ही नहीं जा सकता था। हां सौभाग्य से ऋग्वेद की एक विशाल आकार की टीका के विद्यमान होने का पता चल गया जो उसके सूक्तों के प्रत्येक शब्द की व्याख्या करता है या उन (शब्दों) का भाषान्तर कर विस्तृत परिचय देता है। यह वेद के महान् विद्वान् सायण की रचना थी जो चौदहवीं शताब्दी ए० डी० के उत्तरार्ध के विजय नगर (विजय का शहर) में रहते थे जिसका ध्वंसावशेष दक्षिण भारत के वेल्लारी के नजदीक पड़ा हुआ है। चूंकि उनकी टीका में निरन्तर पुराने अधिकारी विद्वानों का उल्लेख किया गया है अतः यह सोचा गया कि इसमें परम्परागत ऐसी व्याख्याओं में ऋग्वेद का वास्तविक अर्थ सुरक्षित है जिन (व्याख्याओं) का समय बहुत दूर पीछे की ओर चिर अतीत में चला जाता है। इसके आगे और कुछ आवश्यक नहीं माना गया कि मौलिक पाठ्य का अर्थ सुनिश्चित कर लिया जाय जैसा यह भारत में ५०० वर्ष पहले समझा जाता था और सायण

की रचना में प्रतिपादित किया गया है। इस दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व आक्सफोर्ड में संस्कृत के पहले प्रोफेसर एच० एच० विल्सन के अनुवाद में किया गया है जिसका प्रारम्भ सन् १८५० में हुआ था।

संस्कृत भाषा विज्ञान के प्रवर्तक स्वर्गीय प्रो० राथ ने दूसरी ही दिशा अपनाई। इस महान् विद्वान ने यह दृष्टिकोण उपन्यस्त किया कि वैदिक व्याख्या का लक्ष्य यह नहीं है कि यह निश्चय किया जाय कि सायण वैदिक सूक्तों को क्या अर्थ देते थे या यास्क भी क्या समझते थे जो १८ शताब्दी पहले निवास करते थे। किन्तु लक्ष्य है कि उस अर्थ को समझना जो प्राचीन ऋषियों (कवियों) का स्वयं मन्तव्य था। इस प्रकार के परिणाम की प्राप्ति केवल टीका कारों के नेतृत्व का अनुसरण करने से ही नहीं हो सकती। कारण यह है कि यद्यपि परवर्ती धार्मिक और याज्ञिक साहित्य समझने की दिशा में जिसके सिद्धान्तों और प्रयोगों से वे परिचित थे उनका(टीकाकारों का)पथप्रदर्शन बहुमूल्य था, फिर भी वे कवियों के समय से चली आती हुई परम्परा की निरन्तरता को प्रकट नहीं करते। क्योंकि उनके द्वारा जो परम्परा प्रदान की गई वह केवल वही थी जो व्याख्याकारों के मध्य हस्तान्तरित की गई थी और केवल तभी प्रारम्भ हुई जबकि पूर्ण रूप से सूक्तों के अर्थ अब अधिक नहीं समझे जाते थे। वास्तव में कोई दूसरी परम्परा नहीं हो सकती थी। अर्थनिर्वचन का प्रश्न केवल तभी उत्पन्न हुआ जब सूक्त तमसावृत (अस्पष्ट) हो गये। अतः टीकाकारों ने दुरूह भागों के समाधान की ओर अपना प्रयत्न सुरक्षित रक्खा जबकि उन्होंने स्पष्टरूप से भाषा और साथ ही साथ धार्मिक, पौराणिक और जगत् की उत्पत्ति के विषय में विचारों के अपनिर्वचन (व्याख्यान में गड़बड़झाला) की ओर प्रवृत्ति दिखलाई, उन विचारों की ओर जो समाप्त हुए युग में प्रतिष्ठित थे, उनकी व्याख्या अपने समय में प्रचलित टीकाकारों के सिद्धान्त के अनुसार की गई।

यास्क के कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि प्राचीनतर व्याख्याकारों के मध्य में सम्मतिविषयक कतिपय विरोध (मतभेद) प्रसार पा रहे थे और मतभेदों की कतिपय शाखायें प्रतिष्ठित थीं जो उनके समय के पहले पनप रही थीं। वे अपने पूर्ववर्ती व्याख्याकारों के नाम देते हैं जिनकी वेद विषयक व्याख्यायें परस्पर विरोधी हैं। ऐसे व्याख्याकारों की संख्या १७ से कम नहीं है। इस प्रकार उनमें एक आचार्य ने नासत्यो का, जोकि वैदिक डाओस्कोराई[1]

---

१. डाओस्कोराई प्रथम शताब्दी के एक ग्रीक वैद्य हैं। यहां पर 'नासत्यो' की यह उपाधि बतलाई गई है जिसका अर्थ है वैदिक वैद्यअश्वनी कुमार।

की उपाधि है, अर्थ किया है –'सत्य, असत्य नहीं' दूसरा आचार्य इसे इस अर्थ में लेता है —'सत्य के नेता' जबकि स्वयं यास्क विचार करते हैं कि इसका अर्थ हो सकता है 'नाक से उत्पन्न'। कवियों (ऋषियों) और प्रारम्भिक व्याख्याकारों में वास्तव में इतना बड़ा व्यवधान है कि कौत्स नामक यास्क-पूर्ववर्ती एक मुनि में इतनी धृष्टता थी कि वह यह कह सका कि वैदिक व्याख्या का विज्ञान व्यर्थ है क्योंकि वैदिक सूक्त और सिद्धान्त अस्पष्ट हैं, निरर्थक हैं या परस्पर विरोधी हैं। इस प्रकार की आलोचना का उत्तर यास्क यह कहकर देते हैं कि यदि अन्धा नहीं देखता तो यह छत के शहतीर का दोष नहीं होता। स्वयं यास्क ने ऋग्वेद के सूक्तों में एक बहुत ही छोटे भाग का निर्वचन किया है। जितने कुछ भाग की व्याख्या करने का उन्होंने प्रयत्न किया है उसका जो आशय वह देता है उसके लिए वह शब्दव्युत्पत्ति या यौगिक अर्थ पर ही निर्भर रहता है। वह एक ही शब्द के दो या अधिक वैकल्पिक या स्वैच्छिक अर्थ दे देता है। यह वास्तविकता कि वह अर्थों के लिए चुनाव का अधिकार दे देता है इस बात को सिद्ध करता है कि उसके पथ-प्रदर्शन के लिए कोई पूर्ववर्ती अधिकारी रचना नहीं थी। और यह उनका अर्थ करना सर्वथा काल्पनिक था। क्योंकि यह कोई नहीं मान सकता कि कवि के मस्तिष्क में ऐसे अधिक अर्थ रहे होंगे।

वस्तुतः यह बहुत अधिक सम्भव है कि अपने अधिकार में जो था उस सबका उपयोग करते हुए वह बहुत से शब्दों का अर्थ निश्चित करने में समर्थ हो गया जोकि सायण जैसे विद्वान जो उनसे दो हजार वर्ष बाद हुए इस प्रकार के अनुसन्धान करने के साधन प्राप्त नहीं कर सके। फिर भी कभी-कभी सायण यास्क से भिन्न विचार करते हुए मिलते हैं। इस प्रकार हम इस विकल्प की स्थिति में पहुंच जाते हैं कि या तो पुराने व्याख्याकार गलत थे या बाद वालों ने परम्परा का अनुसरण नहीं कर पाया। इस प्रकार के बहुत से उदाहरण हैं जिनमें यास्क से निरपेक्ष होकर सायण ने एक शब्द के असम्बद्ध अर्थों की विविधता प्रदान की है। यह बात दोनों अवसरों पर की गई है—एकाकी अनुच्छेद की व्याख्या करने में या विभिन्न अनुच्छेदों पर टिप्पणी लिखने में। शरद् ऋतु वाचक 'शारद' शब्द का वे एक स्थान पर अर्थ करते हैं 'एक वर्ष के लिए अवरुद्ध' दूसरे स्नान पर 'नया या एक वर्ष के लिए अवरुद्ध' और तीसरे स्थान पर 'शरद् कहलाने वाले एक राक्षस से सम्बन्धित'। सायण के दोषों में एक यह है कि वह अनेक विषयों में अपने दृष्टिकोण को केवल उस एक मन्त्र तक सीमित रखता है जो उसके सामने होता है। उनकी व्याख्याओं की विस्तृत परीक्षा ने और उसी प्रकार यास्क की व्याख्याओं की परीक्षा ने

यह प्रकट किया है कि ऋग्वेद में अत्यन्त कठिन शब्दों की संख्या बहुत अधिक है जिसके ठीक अर्थ के विषय में किसी भी विद्वान को न तो परम्परा की दृष्टि से और न शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से कोई निश्चित सूचना थी। अतः उनके विषय में यह कहने में हम न्याय संगत हैं कि सूक्तों के मूलपाठ में कोई भी असाधारण, कठिन या अस्पष्ट शब्द नहीं है जिसके विषय में व्याख्याकारों की कोई अधिकृत व्याख्या तब तक अन्तिम मानी जा सके जब तक उसका समर्थन सम्भावना द्वारा, प्रकरण द्वारा या समान अनुच्छेदों द्वारा न हो जाय। इस प्रकार ऋग्वेद का एकमात्र सायण की टीका पर आधारित कोई भी अनुवाद सम्भवतः सन्तोषजनक नहीं हो सकता। वस्तुतः उन्हें अपना एकमात्र पथ-प्रदर्शक स्वीकार करना उतना ही तर्कहीन होगा जितना कि हेब्र्यू भाषा में लिखित बाइबिल को तल्मूद और रैबिस के ऊपर निर्भर रहकर समझने की चेष्टा करना। वास्तव में यह स्वीकार कर लिया जाना चाहिए कि सायण भाष्य के बहुत बड़े भाग से विषय सम्बन्धी अत्यधिक सहायता ली जा सकती है और यह कि वेद के समझने को सुकर बनाने और त्वरित समझ सकने की दिशा में सायण ने सबसे बड़ी सेवा प्रदान की है। किन्तु उनसे ऐसी कोई मूल्यवान सूचना प्राप्त नहीं की जा सकती जो बाद के हमारे संस्कृत ज्ञान, भारतीय साहित्य के दूसरे प्राचीन अवशेष और हमारे विभिन्न भाषा वैज्ञानिक उपकरणों से हम शीघ्र या देर में अपने आप ही प्राप्त नहीं कर सकते थे।

तब राथ ने ऋग्वेद का भाषान्तर करने में प्रधान पथ प्रदर्शक के रूप में सभी टीकाकारों की उपेक्षा कर दी, उस ऋग्वेद के भाषान्तरण में जोकि भारतीयों और वास्तव में समस्त आर्यजाति का सर्वप्राचीन साहित्यिक कीर्ति-स्तम्भ है। अतएव जहां तक अधिक विचित्र और कठिन भागों का प्रश्न है उसकी व्याख्या प्रधान रूप से उसी के द्वारा की जानी चाहिए, अथवा एक भारतीय टीकाकार के शब्दों को यदि अन्य अर्थ में लगाया जाय तो (कहा जा सकता है कि) वेद अपने प्रकाश से स्वयं प्रकाशित होने वाला है, यह स्वयं ही अपने को प्रकट करने वाला होना चाहिए। राथ ने आगे यह दृष्टिकोण व्यक्त किया कि योग्यता प्राप्त एक यूरोपीय ऋग्वेद के ठीक अर्थ तक पहुंचने में ब्राह्मण व्याख्याकार की अपेक्षा अधिक सक्षम है। एक यूरोपियन का निर्णय धार्मिक पक्षपात की बेड़ियों से अनियन्त्रित रहता है। उसके अन्दर एक इतिहास सम्बन्धी योग्यता होती है और उसके सामने कहीं अधिक विस्तृत क्षितिज है जोकि वैज्ञानिक विद्वत्ता से ओतप्रोत है जैसा कि साधन उसके पास विधमान है। इसलिए राथ ने स्वयं को इस कार्य में प्रवृत्त कर दिया। उसने मनोयोग के साथ उन सब अनुच्छेदों की तुलना की जो स्वरूप और वस्तुतत्त्व में समान थे,

उसने सन्दर्भ, व्याकरण और शब्दशास्त्र के विचारों को भी उचित महत्त्व प्रदान किया, साथ ही उसने परम्परागत व्याख्याकारों का भी परामर्श लिया यद्यपि यह कार्य उसने सम्भवत: पर्याप्त ध्यान देकर नहीं किया। इस प्रकार उसने ऐतिहासिक निर्वचन का विषय स्वयं संस्कृत के ही क्षेत्र के अन्तर्गत बनाया। इसके आगे उसने बाहर से दी हुई सहायता को आमन्त्रित किया इसके लिए उसने तुलनात्मक पद्धति अपनाई। जिसमें उसने केवल अवेस्ता द्वारा दी हुई सहायता का ही उपयोग नहीं किया जोकि ऋग्वेद की भाषा और विषयवस्तु से इतनी निकटता के साथ जुड़ी हुई है किन्तु तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के निष्कर्षों का भी सहारा लिया जो साधन परम्परागत विद्वानों को ज्ञात नहीं था।

इस प्रकार एकाकी शब्दों के अर्थों के निश्चय के द्वारा वेदों की वैज्ञानिक व्याख्या की आधारशिला संस्कृत कोष के ७ खण्डों में रख दी गई जो बोहलिङ्क के सहकार में १८५२ और १८७५ के मध्य राथ ने प्रकाशित किया। राथ की पद्धति को वेद का वैज्ञानिक अध्ययन करने वाला प्रत्येक छात्र स्वीकार करता है। हां यह सच है कि भारत की स्वदेशी परम्परा का उसकी अपेक्षा पूर्णरूप से दृढ़ उपयोग हो रहा है जैसा राथ ने स्वयं किया था। क्योंकि अब यह अधिक स्पष्टता के साथ स्वीकृत किया जा रहा है कि भारतीय विद्वत्ता से जो भी सहायता उपलब्ध है उसमें किसी की भी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। इस प्रकार के सिद्धान्तों के पथप्रदर्शन में वैदिक साहित्य द्वारा प्रस्तुत की गई बहुत सी महत्त्वपूर्ण समस्याओं के समाधान की दिशा में अब तक जो भी प्रगति की गई है वह तब आश्चर्यजनक लगती है जब हम समय की अल्पता और कार्य करने वालों की न्यूनता पर ध्यान देते हैं जिन कार्यकर्ताओं में इस देश के स्वदेशी विद्वान केवल दो ही तीन रहे हैं। इसका सामान्य परिणाम यह हुआ है कि उस ऐतिहासिक मनोवृत्ति को सफलता मिली है जो भारतीय पुरातनता को पकड़ने में स्वदेशी उल्टी सीधी व्याख्याओं के कारण लम्बे समय से निष्प्रभ रही हैं। सचमुच विद्वानों को भावी पीढ़ी के द्वारा अब भी बहुत कुछ करने को शेष पड़ा है विशेष रूप से विस्तृत और सूक्ष्म अनुसन्धान के क्षेत्र में कार्य करना है। यह(कार्य शेष रहना) कुछ और नहीं हो सकता था क्योंकि जब हम याद करते हैं कि वैदिक खोज पिछले केवल ५० वर्ष की उपज है और हम देखते हैं कि पिछली अनेक शताब्दियों से हिब्रू विद्वानों की बहुत बड़ी संख्या के कार्यरत होते हुए भी बाइबिल की पूजन गीतियों और पैगम्बर की पुस्तकों में अनेक अनुच्छेद अब तक अस्पष्ट और विवादास्पद बने हुए हैं। (तब यह बात स्वत: सिद्ध हो जाती है) इस बात में सन्देह नहीं हो सकता कि वर्तमान समय

में जिन समस्याओं का हल असम्भव प्रतीत होता है वर्तमान विद्वता उसे हल कर लेगी—वह विद्वता जिसने फारस के कीलाकार लेखों और उसी प्रकार भारत के शिलालेखों को पढ़ने में सफलता प्राप्त कर ली है और उस भाषा को खोज निकाला है जो इन रहस्यमय विशेषताओं के नीचे दबी पड़ी थी।

ऋग्वेद का सामान्य परिचय

इस प्रकार वैदिक विचार जगत् की ड्योढी पर पहुंचकर अब हम विद्वत्ता की सुनहली कुन्जी द्वारा खोले हुए दरवाजे से अन्दर घुसें। ऋग्वेद की कविता के कहीं अधिक बड़े भाग में धार्मिक सूक्त संकलित किए गए हैं—केवल दशम मंडल में थोड़ी-सी धर्मनिरपेक्ष कविता विद्यमान है। इसके सूक्त मुख्य रूप से वैदिक विश्वदेव समूह के विभिन्न देवताओं को सम्बोधित किए गए है जिनमें उनके शक्तिशाली कार्यों की प्रशंसा की गई है। उनकी महत्ता उनकी परोपकारशीलता अथवा पशुसम्पत्ति, अनेक संख्यक संतानें, सम्पन्नता, लम्बे जीवन और विजय की प्रार्थनायें उनका विषय हैं। ऋग्वेद आदिम युग की लोकप्रिय कविता का एक संकलन नहीं है जैसा कि संस्कृत अध्ययन के प्रारम्भिक काल में वर्णन करना स्वभाव बन गया था, किन्तु अधिक ठीक यह है निपुणतापूर्वक रचे गए सूक्तों का यह एक कलेवर है जो पुरोहित वर्ग के द्वारा सोमयज्ञ या घी द्वारा अग्नि के यज्ञ में साथ-साथ पढ़े जाने के मन्तव्य से रचे गये थे। घी द्वारा अग्नि में यज्ञविधि के अनुसार आहुति दी जाती थी जो विधि इतनी साधारण नहीं थी जैसी कि एक समय समझी जाती थी यद्यपि असन्दिग्ध रूप से ब्राह्मणकाल की श्रमसाध्य विधि की अपेक्षा अधिक साधारण थी। परिणामस्वरूप इसकी कविता यज्ञ के बार-बार के उल्लेख से अपना सौन्दर्य खो देती है। विशेषरूप से तब जबकि दो महान यज्ञ देवता अग्नि और सोम स्तुति का विषय बनते हैं। साथ ही साथ सब बातों पर विचार करते हुए यह उसकी अपेक्षा कहीं अधिक स्वाभाविक है जैसी इन परिस्थितियों में सम्भावना की जा सकती है। क्योंकि जिन देवताओं को अभिमन्त्रित किया जाता है वे लगभग सभी प्राकृतिक दृश्यों के मानवीकृत रूप हैं और इस प्रकार अत्यधिक सुन्दर और शानदार कल्पना के नियोजन का अवसर प्रदान करते हैं। सूक्तों की भाषा यदि सामान्य रूप से कहें तो बहुत ही साधारण और अनलंकृत स्वाभाविक है, समासगर्भित शब्द अल्पतम रूप में प्रयुक्त किए गए हैं और केवल दो शब्दों तक सीमित हैं—इनका वैषम्य शास्त्रीय संस्कृत में समासों की बारम्बारता और लम्बाई से लक्षित किया जा सकता है। विचार भी प्रायः कलाविहीन और सीधे हैं, केवल यज्ञ देवों के सूक्त उसके अपवाद हैं जहां वे दूरारूढ़ कल्पना

और रहस्यात्मक अस्पष्टता से संलग्न हो जाते हैं। इन विषयों में प्रतिपाद्य वस्तु की सीमित प्रकृति ने ही पुरोहित गायकों के मस्तिष्कों पर विविधता के लिए प्रयत्न करने और उसी विचार को (एक ही बात को) गूढ़ार्थपरक वाक्य-रचना द्वारा व्यक्त करने के लिए जोर डाला होगा।

तब हमें यहां वैदग्ध्य और अभिव्यक्ति की दुरूह रीति के प्रति अभिरुचि का प्रारम्भ हो ही गया मिलता है जो बाद के साहित्य में इतना अधिक परिमाण में परिव्याप्त है और जो पूर्ववर्ती काल में भी, तत्कालीन परम्परा का अतिक्रमण कर, प्रकट कर दिया गया है। यह कार्य ब्राह्मण ग्रन्थ के एक कथन द्वारा किया गया है कि देवता लोग रहस्य को पसन्द करते हैं। कतिपय सूक्तों में शब्दों के साथ खिलवाड़ की प्रवृत्ति पाई जाती है जो परवर्ती संस्कृत में कविताओं और कल्पित आख्यायिकाओं में अत्यधिक रूप में बढ़ा दी गई। यह सच है कि ऋग्वेद के सूक्त साहित्यिक गुणों से भरपूर हैं। ऐसी आशा करना स्वाभाविक ही है कि अनेक कवियों (ऋषियों) की रचनायें अनेक शताब्दियों तक फैली हुई हों। अनेक (सूक्त) कवित्वमय उच्चता की उच्चकोटि की व्यवस्था प्रदर्शित करते हैं जबकि दूसरों में साधारणता के साथ मशीनी (सीधी-सादी) प्रवृत्ति है। रचना में निपुणता की कोटि सामान्यतः ध्यान देने योग्य ऊंची है। विशेष रूप से जब हम विचार करते हैं कि यहां हमारे पास आर्य जाति की सबसे पुरानी कहीं अधिक दूरवर्ती समय की कविता है। ये आदिम-काल के सन्त देवताओं को स्वीकरणीय सूक्त की रचना के लिए जिस कला की आवश्यकता समझते हैं उसको वे प्रायः इंगित कर देते हैं और ऐसा अधिकतर समाप्तिपरक पद्य में किया जाता है। कवि प्रायः अपनी कला की तुलना एक रथ से करता है जो कुशल रथकार द्वारा गढ़ा गया और संयोजित किया गया है। एक ऋषि अपनी प्रार्थना की तुलना सुन्दर तथा भलीभांति बुने हुए वस्त्र से भी करता है। दूसरा अपने गीत को इस प्रकार सजाने की बात कहता है जैसे एक वधू अपने प्रियतम के लिए सजती है। कवि अपने ज्ञान और योग्यता के अनुसार (६.२१.६) देवताओं की श्लाघा करते हैं और अपने हृदय की भावनाओं को वाणी प्रदान करते हैं (१०.३६.१५)। यह सच है सामान्यरूप से कहा गया है कि व्यक्तिगत देवताओं ने सन्तों को संगीत का प्रसाद प्रदान किया है किन्तु वेद मन्त्रों के स्वयं प्रकाशित होने के बाद के सिद्धान्त के विषय में ऋषियों को कुछ नहीं मालूम है।

प्रायः यह चर्चा की जाती है कि ऋग्वेद के सूक्तों में एकरूपता छाई हुई है – इस कथन में सच्चाई है किन्तु यह प्रभाव उन सूक्तों के कारण पड़ा है जो प्रत्येक मण्डल में एक ही देवता के विषय में एक साथ संकलित कर दिए गए

हैं। यदि आज की सर्वोत्तम कविता के संग्रह में भी वसन्त के विषय में बीस या तीस संगीतात्मक कवितायें एक ही बार निरन्तर क्रम में पढ़ी जायें तो सम्भवत: यही प्रभाव पड़ेगा। जब हम विचार करते हैं कि ऋग्वेद में केवल दो देवताओं को लगभग ५०० सूक्त संबोधित किए गए हैं तब आश्चर्य होता है कि किस प्रकार एक ही विषय पर इतनी अधिक विभिन्नतायें सम्भव हो सकीं।

ऋग्वेद के सूक्त प्रधानतया देवताओं के लिए आमन्त्रण हैं, अत: उनके विषय अत्यधिक मात्रा में पौराणिक आख्यान परक हैं। इस पौराणिकता में विशेष रुचि ली गई है क्योंकि यह विचार के पूर्ववर्ती स्तर को अधिक व्यक्त करती हैं, उसकी अपेक्षा अधिक जो किसी भी अन्य साहित्य में पाया जाता है। यह पर्याप्त मात्रा में आदिकालीन है जो हमें इस योग्य बना देती है कि हम मानवीकरण की पारम्परिक प्रणाली को स्पष्ट रूप से देख सकें जिसके द्वारा प्राकृतिक दृश्य-जगत का देवताओं के रूप में विकास हो गया। वैदिक भारतीय ने अपने सामान्य जीवन में कभी कोई ऐसा कार्य या ऐसी गतिशीलता नहीं देखी जो किसी क्रियाशील या गतिशील व्यक्ति के द्वारा संचालित न होती हो। वैदिक भारतीय कहीं अधिक कम विकसित अवस्था में विद्यमान एक मानव के समान अब तक प्रकृति में होने वाले उन कार्यों का कर्तृत्व किसी व्यक्तिगत प्रतिनिधि पर आरोपित कर देता है जो प्रतिनिधि प्रकृति के उसी दृश्य में अन्तर्निहित रहता है। वह अब तक एक बच्चे जैसे आश्चर्य से प्रकृति के कार्यकलाप को ध्यानपूर्वक देखता है। एक कवि पूछता है कि सूर्य आकाश से गिर क्यों नहीं पड़ता, दूसरा आश्चर्य करता है कि दिन में नक्षत्र कहां चले जाते हैं, जबकि तीसरा आश्चर्य से अभिभूत हो जाता है कि सब नदियो का पानी निरन्तर समुद्र में बहता रहता है किन्तु उसे भरता कभी नहीं। सूर्य और चन्द्रमा की परिवर्तित न होने वाली नियम बद्धता, उषा का कभी न चूकने वाला प्रत्यावर्तन इन सब बातों ने निश्चय ही इन प्राचीन गायकों को उस अपरिवर्तित व्यवस्था का विचार दिया जो प्रकृति में छाई हुई है। इस सामान्य विधि का सिद्धान्त ऋत नाम से स्वीकार किया गया (जिसका अर्थ है ठीक रूप में वस्तुओं की गतिविधि व्यवस्था)यह शब्द ऋग्वेद में हमें पहले पहल यज्ञ के निश्चित नियमों (विधिविधान) की ओर बढ़ा हुआ मिलता है, तब बाद में इसे सदाचार (सत्य आचरण) की ओर बढ़ा दिया गया। यद्यपि ऋग्वेद द्वारा प्रस्तुत पौराणिक आख्यानों का स्तर तुलनात्मक रूप में आदिमयुग का है फिर भी इसमें प्राग्वर्ती युगों से वंशानुक्रम से प्राप्त अनेक विचार भी विद्यमान हैं। अवेस्ता की समानता प्रकट करती है कि अनेक वैदिक देवता पीछे उस समय तक जाते हैं जबकि

फारस वालों और भारतीयों के पूर्वज अब तक एक ही लोग थे। इनमें कुछ इस प्रकार हैं—यम् मृत्यु के देवता जो 'यिम' से एक प्रतिरूप हैं जोकि स्वर्ग का शासक है और विशेष रूप से मित्र जिसका पारसी धार्मिक सम्प्रदाय में प्रतिरूप मिथ्र है जिस (मिथ्र) ने २०० से ४०० ए० डी० के मध्य में विश्व-व्यापी प्रसार प्राप्त कर लिया था और एकेश्वर बाद के इतना निकट आ गया था जितना देवाराधन के क्षेत्र में किसी अन्य देवता का कोई सम्प्रदाय नहीं पहुंच सका।

विभिन्न धार्मिक अनुष्ठानों का भी उस प्राथमिक युग में अनुसन्धान किया जा सकता है जैसे अग्नि पूजा और सोमलता (अवेस्ता का हओमा) का धार्मिक सम्प्रदाय। गाय के प्रति पूज्य भाव भी उसी युग से चला आ रहा है। धार्मिक सूक्त काव्य निश्चय ही उस समय भी विद्यमान रहा होगा क्योंकि चार पंक्तियों के ११ वर्णों का (वैदिक त्रिष्टुभ) और चार या तीन पंक्तियों वाले ८ वर्णों के (अनुष्टुम और गायत्री) उस समय तक ज्ञात हो चुके थे जैसा कि ऋग्वेद के साथ अवेस्ता के सामञ्जस्य से अवगत होता है।

इससे भी पहले भारोपीय (भारतयूरोपीय) काल से देव की सामान्य अवधारणा (देवा-स् लैटिन द्यो-S) और स्वर्ग की भावना स्वर्ग के पिता के रूप में प्राप्त हुई। (द्योस पिता ग्रीक ज्योस पिटर, लैटिन जुपिटर) सम्भवत: उससे भी पहले अधिक दूरवर्ती प्राचीनता से समस्त विश्व के आद्य माता-पिता के रूप में आकाश और पृथ्वी का सिद्धान्त लिया गया और साथ ही बहुत से जादुई (मन्त्र तन्त्र सम्बन्धी)विचार प्राप्त किए गए।

ऋग्वेद के देवता

ऋग्वेद के कवि के लिए विश्व तीन प्रदेशों में विभाजित दृष्टिगत हुआ—पृथ्वी, पवन और स्वर्ग। यह एक ऐसा विभाजन है जो सम्भवतः ग्रीक लोगों को भी ज्ञात था। यह त्रिक ऋग्वेद का प्रिय विषय है और निरन्तर या तो वर्णन के रूप में या संकेत रूप में इसका उल्लेख किया जाता है। सौर मण्डल का उल्लेख स्वर्ग के रूप में किया जाता है। जबकि विद्युत, वर्षा और वायु का संबन्ध पवन से है। तीनों लोकों में विभिन्न देवता अपने कार्य करते हैं यद्यपि वे रहते केवल तीसरे-प्रकाश के भवन-स्वर्ग में ही हैं। वायु को प्राय: समुद्र कहा गया है क्योंकि वायु स्वर्गीय जल (मेघ) का निवास स्थान है जबकि विशाल जलहीन बादलों को कभी कभी चट्टान या पर्वत के रूप में समझा जाता है और कभी कभी दैत्यों के किले के रूप में माना जाता है जहां वे देवताओं से युद्ध करते हैं। गरजते जलपूर्ण बादल रंभाती गायें बन जाती हैं जिनका दूध पृथ्वी पर बहता है और पृथ्वी को परिपुष्टता प्रदान करता है।

ऋग्वेद के महान् देवता लगभग पूर्णरूप से सभी ही प्राकृतिक वातावरण मानवीकृत रूप है जैसे सूर्य, उषा, अग्नि, वायु। प्राचीनतर युग के अवशिष्ट कतिपय देवताओं को छोड़कर देवगण अधिकांश भाग में न्यूनाधिक रूप में अपने प्राकृतिक आधार से संबन्ध बनाए हुए हैं। इसलिए मानवीकरण बहुत ही अल्परूप में विकसित हो पाया है, इसकी रूपरेखा और चरित्रगत व्यक्तित्व में निश्चयरूपता की कमी है। इसके अतिरिक्त जो प्राकृतिक तत्त्व उस मानवीकरण की पृष्ठभूमि में विद्यमान हैं उनमें स्वयं ही विभेदक धर्म बहुत कम पाए जाते हैं। जबकि वे अपने ही वर्ग से संबद्ध दूसरे प्राकृतिक वातावरण के कतिपय गुणों का संविभाग कर उन्हें स्वीकार कर लेते हैं। इस प्रकार उषा, सूर्य और अग्नि में सामान्य गुण हैं—प्रकाशित होना, अन्धकार का नाश करना, प्रातःकाल में प्रकट होना। इसलिए प्रत्येक देवता का चरित्र केवल कुछ अत्यावश्यक (व्यक्तिगत) गुणों के साथ और बहुत से दूसरे ऐसे गुणों को जोड़कर कल्पित कर लिया जाता है जो कि सब देवताओं के लिए सामान्य हैं जैसे तेजस्विता, शक्ति, परोपकार और बुद्धिमत्ता। ये सामान्य विशेषतायें उन गुणों को आच्छादित करने में प्रवृत्त होती हैं जो अधिक स्पष्ट होते हैं क्योंकि प्रार्थना और प्रशंसा के सूक्तों में प्रथम प्रकार के (सर्व सामान्य) गुण स्वभावतः विशेष महत्ता प्राप्त कर लेते हैं। और भी जो देवता प्रकृति के विभिन्न विभागों से सम्बन्ध रखते हैं उस अवस्था में एक दूसरे के अधिक निकट हो जाते हैं जबकि उनमें सामान्य गुण विद्यमान होते हैं। इस प्रकार का संयोजन वैदिक कवि के एक विशेष प्रकार के अभ्यास से और अधिक प्रोत्साहित किया जाता है, वह अभ्यास है जोड़े में देवताओं को मिलाकर आमन्त्रित करना। इस प्रकार के संयोजन का परिणाम यह होता है कि एक देवता के विशिष्ट गुण दूसरे में उस समय भी जुड़ जाते हैं जब उनका पृथक् वर्णन किया जाता है। इस प्रकार अग्निदेव का जब एकाकी रूप में वर्णन किया गया तब उन्हें वृत्रहन्ता कहा गया—उनको वह विशेषता प्राप्त हुई जो वज्रधारी देव इन्द्र का विशेष गुण है जिनके साथ अग्निदेव प्रायः युग्म रूप में आते हैं। प्रायः प्रत्येक शक्ति प्रत्येक देवता को प्रदान करने की सम्भावना ने एक देवता की दूसरे देवता के साथ एकरूपता स्थापित करना एक मामूली विषय बना दिया। इस प्रकारकी एकरूपतायें ऋग्वेद में पर्याप्त प्राथिक हैं। उदाहरण के लिए कवि अग्निदेव को संबोधित करते हुए पुकार उठता है – 'हे अग्नि जन्म के समय तुम वरुण हो, जब जलाये जाते हो तब मित्र हो जाते हो, हे शक्ति के पुत्र !

तुम्हारे अन्दर सब देवता केन्द्रित हैं, पूजन के लिए तुम इन्द्र हो[1]। ५-३-७

इसके अतिरिक्त अग्निदेव की प्रकृति के विषय में पौराणिक रहस्यात्मक परिकल्पनाओं में (यह बात देखी जा सकती है)। अग्निदेव अग्निसम्प्रदाय में दृढ़भक्ति रखने वाले एक पुरोहित वर्ग की दृष्टि में इतने अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। अग्निदेव की अनेक अभिव्यक्तियां हैं—पृथ्वी पर अनेक प्रकार की व्यक्तिगत अग्नियां और उसकी दूसरे प्रकार की आकृतियों में बिजली की चमक के रूप में आकाशी अग्नि और स्वर्गीय अग्नि के रूप में सूर्य—ये सब इस प्रकार के स्वरूप हैं जिन्हें वैदिक कवि पहेलियों में लक्ष्य बनाने का शौकीन है—इनकी रहस्यात्मक अभिव्यक्ति इस विचार को व्यक्त कर सकेगी कि विभिन्न देवता एकमात्र स्वर्गीय तत्त्व के केवल विभिन्न स्वरूप मात्र है। ऋग्वेद के बाद के सूक्तों के एक से अधिक अनुच्छेदों में यह विचार प्राप्त होता है। प्रथम मण्डल के परवर्ती सूक्त (१६४) का रचयिता कहता है—'एक तत्त्व को पुरोहित अनेक प्रकार से कह सकते हैं, वे उसे अग्नि, यम और मातरिश्वा कह कर पुकारते हैं।'[2] उसी प्रकार अन्तिम मण्डल (१०-११४) का एक ऋषि इस प्रकार टिप्पणी करता है—'पुरोहित और कवि शब्दों के सहारे पक्षी (वह है गगनचारी सूर्य) को अनेक प्रकार का बना देते हैं जो वास्तव में एक है।, इस प्रकार के कथन व्यक्त करते हैं कि ऋग्वेदकाल के समाप्त होते होते ऋषियों के बहुदेववाद ने एकेश्वर वाद की छाया प्राप्त कर ली थी।

बहुदेववाद और एकेश्वरवाद की मध्यवर्ती स्थिति

समय समय पर एक देवता का विश्वदेववाद परक विचार हमें इस विचार से भी आच्छादित प्राप्त होता है कि वह केवल सभी देवों का ही प्रतिनिधित्व नहीं करता अपितु साथ ही प्रकृति का भी प्रतिनिधि है। इस प्रकार देवी अदिति की एकरूपता देवताओं से, मनुष्यों से, उस सबसे जो हो चुका है, जो उत्पन्न होगा, वायु से, स्वर्ग से (१-८९) बतलाई गई है और विश्वोत्पत्ति विषयक (नांसदीय) सूक्त (१०-१२१) में उत्पादक केवल सब देवों के ऊपर एक देवता नहीं किन्तु सब वस्तुओं को अपने में समेटने वाला बतलाया गया है।[3] यह विश्वोत्पत्ति का बीज परवर्ती वैदिक साहित्य के द्वारा तब तक विकसित होता रहा जब तक कि इसने वेदान्त दर्शन के रूप में अपना अन्तिम लक्ष्य प्राप्त कर लिया जो कि हिन्दुओं की अब तक की सर्वाधिक जनप्रिय पद्धति है।

---

१. त्वमग्ने वरुणो जायसे यत्त्वं मित्रो भवसि यत्समिद्धः।
त्वं विश्वे सहस्पुत्र देवास्त्वमिन्द्रो दाशुषे मर्त्याय ॥ ५।३।१

२. एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः (१।१६४।४६)

३. दशवें मन्त्र में, जो कि बाद का परिवर्धन है। दे० पृ० ८८ की पादटिप्पणी

ऋग्वेद के प्राचीनतर भागों में भी विभिन्न देवताओं के आमन्त्रण में कवियों की प्रवृत्ति प्रत्येक देवता को सभी दूसरे देवताओं का स्वामी दिखलाने की रही है। इस प्रवृत्ति ने ही मैक्समूलर के हीनोथीज्म या कैथनोथीज्म सिद्धान्तों को जन्म दिया। (हीनोथीज्म के अनुसार देवता तो बहुत होते हैं किन्तु उनमें कोई एक सबका अधिपति होता है।) कैथनोथीज्म के अनुसार जैसा कि ऋषियों का विचार था 'व्यक्तिगत अनेक देवताओं पर विश्वास जो एक के बाद दूसरे इस क्रम से सभी सबसे बड़े माने जाते हैं।' और जिस क्षण वे जिस देवता को सम्बोधित करते हैं तब वे उसका इस रूप में चित्रण करते हैं मानों मस्तिष्क में वर्तमान वही एक देवता पूर्णरूप से स्वतन्त्र और सबका अधीश्वर देवता है। जो हो, वास्तव में ऋग्वेद के कवि का अभ्यास अत्युक्ति के आगे बहुत कम प्रसार पाता है—यही बात होमर की कविता में भी पाई जाती है। वेद का गायक जिस देवता का आमन्त्रण करता है उस विशेष देवता को इसी अत्युक्ति के सहारे स्वभावतः बहुत अधिक बढ़ा देता है। क्योंकि ऋषि लोग सोमयाग में प्रत्येक देवता की ठीक स्थिति को भलीभांति जानता है जिसमें विश्वेदेवगणों में प्रत्येक सदस्य (देवता) एक स्थान पा गया।

वैदिक कवि की दृष्टि में देवताओं का एक प्रारम्भ होता है, क्योंकि उनको स्वर्ग और पृथ्वी (द्यावापृथिवी) की और कभी कभी किसी अन्य देवता की सन्तान के रूप में दिखलाया जाता है। यह स्वयं में ही विभिन्न पीढ़ियों का होना व्यक्त करता है। किन्तु पूर्ववर्ती देवताओं का भी अनेक अनुच्छेदों में कण्ठरव से उल्लेख किया गया है। नहीं ही देवता मूल रूप में अमर माने जाते थे क्योकि इस बात का कथन किया जाता है कि अमरता उन्हें व्यक्तिगत देवताओं जैसे अग्नि और सावित्री द्वारा प्रदान की गई है या उन्होंने सोमपान के द्वारा प्राप्त कर ली है। इन्द्र तथा दूसरे देवताओं पर आयु का प्रभाव नहीं पड़ता अर्थात् वे अजर (जरा रहित) होते हैं यह बतलाया जाता है। किन्तु इस विषय में दिखलाने के लिए कोई प्रमाण नहीं है कि क्या देवताओं की अमरता निश्चित और स्वाधीन है। वैदिक युग के बाद के युग का दृष्टिकोण यह है कि यह अमरता सम्बन्ध की अपेक्षा से होती है, क्योंकि यह ब्रह्माण्ड की आयु तक सीमित है।

वैदिक देवताओं के भौतिक स्वरूप में नृतत्त्व द्वारा प्रतिनिधित्व रूढिबद्ध रूप में किया जाता है। इस प्रकार सर, चेहरा, आंखें, भुजायें, हाथ, पैर तथा मानव ढांचे के और भाग उन पर आरोपित कर दिए जाते है। किन्तु उनके स्वरूप छायात्मक हैं और उनके अङ्गों या शरीर के भागों का मन्तव्य

आलङ्कारिक रूप होता है जिससे उन पर मानव के क्रिया-कलाप आरोपित किए जा सकें। इस प्रकार अग्नि देव की जवान और उनके अंग उनकी लपटें हैं। सूर्य देव की भुजायें सामान्य रूप से उनकी किरणें हैं जबकि उनकी आंख सूर्य के गोले का प्रतिनिधित्व करती हैं। चूंकि देवताओं का वाह्य स्वरूप इस प्रकार धुंधले रूप में कल्पित कर लिया गया, जबकि प्राकृतिक गोचर वस्तु से अनेक दृष्टियों से उनका सम्वन्ध अब तक प्रकट है इसलिए यह समझना आसान है कि ऋग्वेद में देवताओं की मूर्तियों का उल्लेख क्यों नहीं किया गया तथा और भी कम उल्लेख मन्दिरों का जो कि मूर्तियों की सत्ता को प्रकट करते हैं। सबसे पहले मूर्तियों का उल्लेख सूत्र साहित्य में प्रारम्भ हो जाता है।

कतिपय देवता योद्धाओं के समान सजे धजे प्रतीत होते हैं। वे कवच का आवरण और शिरस्त्राण पहनते हैं और भाले, फरसे तथा धनुष वाण उनके पास होते हैं। वे चमचमाते रथों में बैठकर आकाशमार्ग से यात्रा करते हैं। उनके रथ प्राय: घोड़ों के द्वारा खीचे जाते हैं, किन्तु किसी किसी विषय में बैल, बकरे और हिरणों द्वारा भी खींचे जाते हैं। अपने रथों पर देवता यज्ञों में आसन ग्रहण करने स्वयं आते हैं। किन्तु फिर भी अग्निदेव द्वारा उनका भाग स्वर्ग में ही पहुंचा दिया जाता है। सब मिलाकर वे एक सामञ्जस्य और सह-योग में रहने वाले समझे जाते हैं, अपवाद केवल एक का है जो सर्वदा असह-मति के एक स्वर का प्रारम्भ कर देता है क्योंकि वह एक योद्धा गर्वित देवता है और वह है इन्द्र।

एक सफल और इसलिए एक आशावादी वेदकालीन भारतीय के लिए देवता लगभग एकमात्र उपकारक एवं दीर्घ जीवन और सम्पन्नता प्रदान करने वाले ही मालूम पड़ते थे। वास्तव में केवल एक देवता जिसमें हानिकारक विशेषतायें सर्वथा विद्यमान है वह है रुद्र। अपेक्षाकृत छोटी विपत्तियां जो मानव जीवन से घने रूप में संबद्ध है जैसे रोग इत्यादि ये छोटे दैत्यों से प्रस-रित होती हैं और प्रकृति में दृष्टिगत होने वाली बड़ी विपत्तियां जैसे सूखा और अन्धकार ये शक्तिशाली दानव वृत्र के द्वारा उत्पन्न की जाती हैं। इन दानवों पर विजय अधिक आश्चर्यजनक रूप में देवताओं की उपकारक प्रकृति को व्यक्त करता है।

वैदिक देवताओं का चरित्र भी नैतिक है। वे 'सच्च' और निश्छल है क्योंकि वे हर समय सच्चाई और गुणों के मित्र एवं संरक्षक हैं। किन्तु देव-ताओं की नैतिकता केवल आदिकालीन नीतिशास्त्रीय स्तर को प्रतिफलित करती है। इस प्रकार देवताओं में सर्वाधिक नैतिक वरुण देव का भी न्याय-

शीलता के साथ सम्पर्क ऐसा नहीं है कि उन्हें विरोधी और धोखेबाज मनुष्य के प्रतिकूल धूर्तता का प्रयोग करने से रोक सके। सब मिलाकर देवताओं की नैतिक उच्चता उनकी महत्ता और शक्ति की तुलना में कम प्रकट विशेषता है।

देवता और पूजक का सम्बन्ध

ऋग्वेद में एक पूजक का देवताओं के साथ सम्बन्ध सामान्यतः एक ऐसे प्रकार का है जो उनकी इच्छा पर आश्रित का सम्बन्ध कहा जा सकता है। प्रार्थना और यज्ञ उन्हें इसलिए प्रदान किए जाते हैं कि उनको कृपा और उनकी क्षमा प्राप्त की जा सके। प्रदान करने के एवज में कुछ प्राप्त करने की आशा जब तब प्रकट भी हो जाती है और अनेक सूक्तों का प्रतिनिधि स्वर है —"मैं तुम्हें (यह) दे रहा हूं जिससे कि तुम मुझे वह दे सको।" प्रायः यह भाव भी व्यक्त किया जाता है कि देवताओं का बल और पराक्रम सूक्तों, यज्ञों और विशेष रूप से सोमप्रदान करने से उत्पन्न किया जाता है। यहां हमें पौरोहित्य के अभिमान का बीज प्राप्त होता है जो वैदिक युग में बढता ही गया। इस प्रकार शुक्ल यजुर्वेद में ऐसे वक्तव्य विद्यमान हैं कि जो ब्राह्मण (वेद का) सच्चा ज्ञान रखता है देवता उसके वश में रहते हैं ब्राह्मण भी कहने में एक कदम आगे बढ़ जाते हैं कि दो प्रकार के देवता होते हैं—देवता और ब्राह्मण; दूसरे प्रकार के (ब्राह्मण) देवता मानवों में रहने वाले देवता समझे जाने चाहिए। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी यज्ञ को सर्वशक्तिमान बतलाया गया है जो केवल देवताओं पर ही नियन्त्रण नहीं रखता अपितु प्रकृति की सभी व्यवस्था उनसे नियन्त्रित रहती है।

देवताओं की संख्या

स्वयं ऋग्वेद में देवताओं की संख्या ३३ बतलाई गई है। अनेक बार ११ के तिगुने कहा गया है जबकि सम्पूर्ण विश्व के तीन प्रकार के विभाजनों के मेल में प्रत्येक वर्ग के देवता (११) माने गए हैं।[1] किन्तु देवताओं के समूह का यह योग सर्वदा परिपूर्ण नहीं समझा जा सकता, क्योंकि कभी-कभी इन तैंतीस के आगे जोड़ में कतिपय अन्य देवताओं का भी उल्लेख किया गया है। निश्चय ही यह संख्या विभिन्न (अनेकों) वर्गों को सम्मलित नहीं कर सकती जैसे वायुदेवों के अनेक प्रकार।

फिर भी ऋग्वेद में बीस व्यक्तिगत देवता पर्याप्त महत्त्व के हैं जिनको कम से कम तीन पूरे-पूरे सूक्त संबोधित किए गए हैं। इनमें सर्वाधिक प्रमुख हैं

---

१. लोकों की संख्या तीन है, अतः प्रत्येक लोक के ११ देवता मानकर देवताओं की संख्या ३३ हो जाती है।

विद्युद्देवता इन्द्र जिनके पास कम से कम २५० सूक्त हैं, अग्नि के पास २००, सोम के पास १०० से अधिक जबकि वर्षा के देवता पर्जन्य और मृतकों के देवता यम प्रत्येक को केवल तीन के द्वारा अभिमन्त्रित किया गया है। अन्य देवताओं की इन दोनों सीमाओं की मध्यवर्ती विभिन्न स्थितियां हैं। यह कुछ ध्यान देने योग्य स्थिति है कि वर्तमान भारत के दो बहुत बड़े देवता विष्णु और शिव जिनका महत्त्व उतना ही है और जिन्हें उसी स्तर पर रक्खा जाना चाहिए था, तीन हजार वर्ष पहले प्रमुख देवताओं से बहुत ही नीचे स्थान पर रखे गए। यहां उनका रूप विष्णु और रुद्र (शिव का पूर्ववर्ती रूप) है। उस समय भी उनका वही आज का जैसा सामान्य स्वरूप है—विष्णु विशेष रूप से कृपा करने वाले और रुद्र भयानक देवता।

द्यौः और वरुण

स्वर्ग के प्राचीनतम देवताओं में 'द्यौः' देवता का नाम है (जिउस ग्रीक देवता जिसके साथ एकरूप हैं) आकाश का देवता के रूप में यह मानवीकरण ऋग्वेद में अपने मौलिक रूप के कभी आगे नहीं बढ़ पाया; वह लगभग पूर्णरूप से पितृत्व की भावना तक सीमित रहा। द्यौः सामान्य रूप से पृथ्वी के साथ जोड़ा बनाता है। यह जोड़ा छः सूक्तों में विश्व के माता-पिता के रूप में अभिनन्दित किया गया है। कतिपय अनुच्छेदों में चमकीले लाल रंग का नीचे को मुंह करके रंभाने वाला एक बैल कहा गया है, यह उपमा वर्षा की उत्पादन शक्ति के प्रसंग में दी गई है, साथ ही विजली की चमक और मेघों की कडक को भी उपमा के लिए दृष्टिगत रखना कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। एक वार उसकी तुलना काले रंग की मोतियों से सजी घोड़ी से की गई है, स्पष्ट ही यह संकेत रात्रि के नक्षत्रों से जड़े आकाश की ओर किया गया है। एक कवि ने इस देवता को वज्र से सजा हुआ वतलाया है जबकि दूसरा उसके लिए कहता है कि 'द्यौः देवता बादलों के मध्य से मुस्कुरा रहा है।' उसका अर्थ है आकाश में बिजली की चमक। ऋग्वेद के कई दूसरे अनुच्छेदों में (स्मि धातु से बना स्मित) मुस्कुराने के लिए बिजली की चमक को लक्षित किया गया है जैसा कि शास्त्रीय संस्कृत में मुस्कुराहट की समता चकाचौंध वाली सफेदी से की गई है।

आकाश का कहीं अधिक महत्वपूर्ण एक देवता वरुण है जिसमें मानवीकरण इतनी अधिक दूरी तक आगे बढ़ा हुआ है कि जिस प्राकृतिक दृश्य को वह अपने अन्दर समेटे हुए है उसका केवल चरित्र की विशेषताओं के आधार पर अनुमान लगाना पड़ता है। उसके मूलरूप पर छाया यह अन्धकार कुछ तो इस कारण उत्पन्न होता है कि यह भारतीय पुराण साहित्य की एक रचना नहीं

है किन्तु अपेक्षाकृत पूर्ववर्ती युग का एक दायभाग है और कुज इस कारण कि उसके नाम से तत्काल किसी प्राकृतिक दृश्य का बोध नहीं होता जैसा कि द्यौ: से होता है। वरुण-स् (वरुण:) शब्द मूलरूप से 'परिव्याप्त' आकाश का बोधक प्रतीत होता है और सम्भवत: यह वही शब्द है जोकि ग्रीक औनरस है, यद्यपि इनकी एक रूपता ध्वनि(शब्दोच्चारण)परक कुछ कठिनाई उत्पन्न करती है, इन्द्र अग्नि और सोम की अपेक्षा वरुण कहीं अधिक न्यून सूक्तों द्वारा अभिमन्त्रित किए गए हैं, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि वे वैदिक देवों में इन्द्र के समकक्ष सबसे बड़े देवता हैं। जबकि इन्द्र एक महान् योद्धा है वरुण भौतिक और नैतिक व्यवस्था(ऋत)के महान उन्नायक हैं। जो सूक्त उनको संबोधित कर लिखे गए हैं वे अपने स्वर में अन्यों की अपेक्षा अधिक नैतिक और धार्मिक हैं। वे वेद का अत्यन्त उत्कृष्ट भाग निर्मित करते हैं, वे प्राय: हिब्रू के स्तोत्र साहित्य की समता धारण कर लेते हैं। वरुण के प्रशान्त साम्राज्य की व्याख्या उनके स्वर्गीय दृश्यों के साथ नियमित रूप में होने वाले सम्बन्ध के द्वारा की जा सकती है जो दृश्यावली आकाश में स्वर्गीय (ग्रह नक्षत्रों) का विचरण स्थल है और इन्द्र की युद्ध जैसी और कभी कभी उच्छृङ्खल प्रकृति का कारण यह बतलाया जाता है कि बिजली की कड़क के साथ तूफानी वातावरण परिवर्तन-शील एवं अनिश्चित संघर्ष से भरा रहता है। वरुण की शक्ति और चरित्र का खाका जहां तक सम्भव है स्वयं वैदिक कवि के शब्दों में निम्नलिखित रूप में खींचा जा सकता है—

वरुण के बनाए कानून से स्वर्ग(आकाश) और पृथ्वी दोनों अलग बनेरहते हैं। उसने सोने का झूला (सूर्य) बनाया है जो स्वर्ग में प्रकाशमान रहता है। उसने सूर्य के लिए चौड़ा मार्ग बनाया है। वायुमण्डल में जो पवन शब्द करते हुए बहता है वह वरुण का श्वास प्रश्वास है। उसकी ही शासन व्यवस्था से चन्द्रदेव उज्ज्वलता के साथ चमकते हुए रात्रि में विचरण करते हैं और नक्षत्र जोकि ऊंचे पर स्थापित किए गए हैं, रात्रि में दिखलाई पड़ते हैं किन्तु दिन में अदृश्य हो जाते हैं। वह नदियों को प्रवाहित करने में कारण बनता है। उसके आदेश पर ही नदियां बिना रुके निरन्तर बहती रहती हैं। उसकी निगूढ़ शक्ति से नदियां तेजी से समुद्र को भरती रहती हैं किन्तु जल से भर नहीं पातीं। वह अधोमुख पात्र द्वारा जल को ढलवाता है और जबकि पर्वत मेघों से आच्छन्न हो जाते हैं तब पृथ्वी को सरस बनवाता रहता है। प्रधानरूप से उन स्वर्गिक जलों से ही यह होता है कि वह समुद्र से बहुत कम सम्बन्ध रखता है।

अधिकतर वरुण की सर्वज्ञता का वर्णन किया गया है। वह आकाश में पक्षियों की उड़ान को जानता है, समुद्र में जलयानों का मार्ग और दूरतक विचरण करने

के लिए वायु के मार्ग को जानता है। वह उन समस्त रहस्यात्मक वस्तुओं को देखता है जो हो चुकी हैं या की जायेंगी। वह मानव की सच्चाइयों और उसके झूठों को साक्षी रूप में देखता है। कोई भी जीव उसके बिना पलक भी नहीं झपका सकता। नैतिकता के प्रशासक के रूप में वरुण सभी अन्य देवताओं के ऊपर स्थित होता है। पाप के द्वारा उसका क्रोध उभाड़ दिया जाता है जोकि (पाप) उसके शासन का उल्लङ्घन है और जिसका वह बहुत कठोर दण्ड देता है। जिन हथकड़ी वेड़ियों में वह पापियों को बांधता है उनका प्रायः वर्णन किया गया है। झूठ का उच्छेद करने वाला, उससे घृणा करने वाला और उसका दण्ड देने वाला वह (पाप के लिए) पश्चात्ताप करने वाले पर कृपालु होता है। वह केवल ऐसे व्यक्तियों के (जो पाप करके पश्चात्ताप करते हैं) पापों को ही क्षमा नहीं कर देता किन्तु उनके पूर्वजों द्वारा किए गए पापों को भी क्षमा कर देता है। वह ऐसे भी शरणागतों को छुटकारा दे देता है जो नित्य प्रति उसकी व्यवस्थाओं का अतिक्रमण करते हैं और ऐसे लोगों पर कृपालु हो जाता है जिन लोगों ने विचारहीनता के कारण उसके नियम तोड़े हैं। वास्तव में वरुण के विषय में ऐसा एक भी सूक्त नहीं है जिसमें पाप के लिए क्षमा प्रार्थना विद्यमान नहीं है जैसी कि अन्य देवता विषयक सूक्तों में भौतिक लाभ की प्रार्थना की गई है।

सर्वश्रेष्ठ देवता के रूप में उत्पादक प्रजापति के सिद्धान्त के बढ़ जाने पर सर्वोत्कृष्ट देवता के रूप में वरुण की चारित्रिक विशेषतायें स्वभावतः धुंधली पड़ गईं और केवल जलों पर उसका साम्राज्य शेष रह गया जो प्रारम्भ में उसके क्षेत्र का केवल एक भाग था। (केवल जल देवता की) यह स्थिति आंशिक रूप में अथर्व वेद में विद्यमान है ही और वेदोत्तर पौराणिक गाथाओं में वे केवल भारतीय नेप्चून अर्थात समुद्र के देवता के रूप में शेष रह जाते हैं।

वरुण के सूक्त से निम्नलिखित मन्त्र (७-८९) उनको संबोधित किये गये मन्त्रों की अन्तरात्मा का चित्रण करेंगे—

(क) मो षु वरुण मृण्मयम् गृहं राजन्नहं गमम्।
मृळा सुक्षत्र मृळय ॥

(ख) अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविदञ्जरितारम्।
मृळा सुक्षत्र मृळय ॥

(ग) यत्किञ्चेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्या३श्चरामसि।
अचित्ती यत्तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः,

(हे सम्राट वरुण अब नीचे स्तर के मिट्टी से बने मकान में न जाऊं। हे शक्तिशाली स्वामी, दया करो, मुझे बचा दो।

यद्यपि जलों के मध्य में स्थित है[1] फिर भी तुम्हारे पूजक को प्यास सता रही है। मेरे स्वामी मेरे ऊपर दया करो, मुझे बचा दो।

हे वरुण! हमारा कोई भी अपराध हो जो हम मानव रूप मेंस्वर्गीय व्यक्तियों (देवगणों) के प्रति करते हैं, जब हम अपनी विचारहीनता के मध्य तुम्हारी व्यवस्था का अतिक्रमण करते हैं, हे भगवान् हमें उस अन्याय के लिए दण्ड मत दो।)

वरुण, मित्र, सूर्य

ऋग्वेद में सौरमण्डल के ५ देवता माने गए हैं, सूर्य के कार्यकलापों की विभिन्न अवस्थाओं के प्रतिनिधित्व के अनुसार उनमें एक-दूसरे से भेद किया जाता है; उनमें सबसे पुराना है मित्र "सखा", सूर्य शक्ति के लाभकारी पक्ष पर विचार करने से इस रूप का उद्‌भाव मालूम पड़ता है। भारत ईरानी काल की ओर जाने पर (ज्ञात होता है कि) ऋग्वेद में उसने लगभग पूर्णरूप से अपना व्यक्तित्व खो दिया था जोकि प्रायोगिक रूप में वरुण में समा गया। उसका अभिनन्दन निरन्तर वरुण के साथ ही किया जाता है जबकि केवल एक सूक्त (३-५९) एकाकी रूप में उन्हें समर्पित किया गया है।

सूर्य (नाम में ग्रीक देवता हेलिओ॑स का सजातीय) सौर परिवार के देवों में सर्वाधिक मूर्त देवता है। क्योंकि जैसाकि उसका नाम स्वयं भी प्रकाशरूपता को निर्दिष्ट करता है प्रकाश से उसका सम्बन्ध कभी दृष्टि से ओझल नहीं होता। सूर्य की आंख का प्रायः वर्णन किया जाता है और उषा देवताओं की आंख को (अपनी ओर) लाने वाली कही जाती है। सब कुछ देखने वाला वह समस्त विश्व का गुप्तचर बतलाया जाता है, क्योंकि वह सब जीवों को और मरण धर्मा व्यक्तियों के अच्छे और बुरे कामों को देखता रहता है। सूर्य द्वारा प्रोत्साहित किए हुए मनुष्य अपने लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते हैं और अपने काम को पूरा करते हैं। वह सभी वस्तुओं की आत्मा और अभिभावक है चाहे वे चर हों या अचर हों। वह रथ पर चढ़ता है जो प्रायः सात घोड़ों द्वारा खींचा जाता हुआ वर्णन किया जाता है। इन (घोड़ों) को वह सूर्यास्त के समय खोलता है—

> यदेतदयुक्त हरितः सधस्थाद्
> आद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै ॥(ऋ० १०.११५-४आ)

---

१. यह संकेत जलोदर की ओर है जिससे वरुण पापियों को दण्ड देने वाले समझे जाते हैं।

(जब वह अपने तेज घोड़ों को अपने विराम स्थान पर खोलता है रात्रि सीधे ही सभी के ऊपर अपना आवरण फैला देती है।)

बाह्य आवरण की भांति अन्धकार को सूर्य लपेट लेता है और नक्षत्र चोरों की भांति छिपकर भाग जाते हैं। उषा की गोद से उठकर वह प्रकाश विकीर्ण करने लगता है। वह उषा का पति भी बतलाया गया है। देवताओं ने स्वर्ग में उसे अग्नि के रूप में स्थापित कर दिया है। वह प्रायः एक पक्षी या गरुड की भांति अन्तरिक्ष को पार करता हुआ वर्णित किया जाता है। वह दिनों को नापता है और जीवन को बढ़ाता है, वह रोगों और बुरे स्वप्नों को भगा देता है। जब वह उदित होता है तब मित्र और वरुण के सामने मनुष्य को निष्पाप घोषित करने के लिए उससे प्रार्थना की जाती है। सभी प्राणी सूर्य पर निर्भर करते हैं, अतः वह 'सभी का उत्पादक' कहा जाता है।

साविता और पूषा

११ सूक्त सौर परिवार के एक अन्य देव साविता को संबोधित किये गये है। यह संख्या लगभग वही है जो सूर्या को समर्पित किए गए सूक्तों की है। साविता का अर्थ है प्रोत्साहित करने वाला। यह सूर्य की कार्य की पद्धति को त्वरा देने का प्रतिनिधित्व करता है। यह प्रमुख रूप में सोने का देवता सोने के हाथ पैरों वाला और सोने के रथ वाला है। यह ऊपर को अपने बलिष्ठ सुनहले हाथ उठाता है जिसके द्वारा वह सभी प्राणियों को आशीर्वाद देता है और प्रोत्साहित करता है जोकि पृथ्वी के अन्त तक पहुंच जाते हैं। वह अपनी सुनहली गाड़ी में ऊपर और नीचे के मार्ग से जाता है और सभी प्राणियों को देखता है। वह उषा के बाद में मार्ग में प्रकाशित होता है। सूर्य की किरणों से प्रकाशित होता हुआ पीताभ केशों वाला अपने प्रकाश को सर्वदा पूर्व से उठाता है। वह दुस्वप्नों को दूर करता है और दानवों तथा मायावियों को दूर भगा देता है। वह देवताओं को अमरता और उसी प्रकार मानवों को दीर्घ जीवन प्रदान करता है। वह मृतात्माओं को वहां ले जाता है जहां सच्चरित्र लोग निवास करते हैं। दूसरे देवता सविता देव के नेतृत्व का पदानुसरण करते हैं। कोई जीव यहां तक कि सर्वाधिक शक्तिशाली देवता इन्द्र और वरुण भी उसकी इच्छा को और उसके स्वतन्त्र शासन को टाल नहीं सकते। सविता का सम्बन्ध सायम् के साथ बहुत विरल रूप में स्थापित नहीं किया जाता। एक सूक्त (२-८३)में अस्त होने वाले सूर्य के रूप में उसकी स्तुति की गई है—

(क) आशुभिश्चिद्यान्वि मुचाति नूनमरीरमदतमानं चिदेतोः।
अह्यर्षूणां चिन्न्ययाँ अविष्यामनु व्रतं सवितुर्मोक्यागात् ॥

(ख) पुनः समव्यद्वितत‌ं बयन्ती मध्या कर्तोर्न्यधाच्छक्म धीरः ।
(ग) विश्वो मार्तण्डो व्रजमा पशुर्गात्स्थशो जन्मानि सविता व्याकः ॥

(तीव्र वेग वाले घोड़ों से ले जाया जाता हुआ अब वह उन्हें खोल देगा। वेगशाली रथ को उसने जाने से रोक दिया। यह उनकी गति को रोक देता है जो सर्प के समान रेंगते हैं। सविता की आज्ञा से रात्रि उपस्थित हो गई है। (ख) बुनकर रमणी अपने फैलाये हुए तानेवाने को एक साथ समेटती है। कार्य में दक्षता पाए हुए लोग अपने परिश्रम के मध्य में ही अपने उद्योगधन्धे को समेटते हैं। (ग) सभी पक्षी घोंसलों को तलाश करते हैं, जानवर अपनी शालाओं को तलाश करते हैं। सविता सभी को अपने घरों में जाने के लिए अवकाश प्रदान कर देता है।)

इस देवता को ऋग्वेद का सबसे अधिक प्रसिद्ध मन्त्र सम्बोधित किया गया है जिससे प्राचीनकाल में वेदों के अध्ययन प्रारम्भ करने के पहले प्रोत्साहन देने वाले के रूप में उसको आमन्त्रित किया जाता था और जो आज भी प्रत्येक रूढ़िवादी हिन्दू द्वारा प्रात:कालीन प्रार्थना में दुहराया जाता है। देवता के नाम पर इसे साविता कहते हैं किन्तु जिस छन्द में इसकी रचना की गई है उसके अनुसार इसका उल्लेख गायत्री के नाम से भी किया जाता है—

तत्सवितुर्वरेण्यं, भर्गोदेवस्य धीमहि
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

{सविता देवता की उच्चकोटि की उस कीर्ति को हम प्राप्त कर सकें जो हमारे विचारों को प्रोत्साहित करे।)

सविता देवता के सूक्तों की विलक्षणता है कि 'सू' धातु से बने इसके नाम परक शब्द पर (क्रीडन) श्लेषगर्भित अर्थ करना। 'सू' धातु का अर्थ है 'प्रोत्तेजित करना' उसी धातु से यह शब्द बना है।

ऋग्वेद के कुछ ८ सूक्तों में पूषा को अभिनन्दित किया गया है। उसके नाम का अर्थ है—'सपन्नता देने वाला' और उसके चरित्र में जो सिद्धान्त अन्तर्निहित है वह सूर्य की लाभ कारक शक्ति के रूप में प्रतीत होता है जो शक्ति प्रधान रूप से पशुपालक देवता के रूप में अभिव्यक्त होती है। उसका रथ बकरों द्वारा ले जाया जाता है और वह एक अंकुश धारण किये रहता है। वह स्वर्ग का मार्ग जानता है और मृतकों को बहुत दूर मार्ग से पि..रों के पास ले जाता है। वह सड़कों का भी संरक्षक है और पशुओं की रक्षा करता है तथा उन्हें अपने अंकुश से मार्ग दिखलाता है। जो कल्याण वह प्रदान करता है वह उस रक्षा का परिणाम होता है जो वह पृथ्वी पर मनुष्यों और पशुओं के लिए विस्तारित करता है और मानवजाति के पथ प्रदर्शन का परिणाम होता

है जो वह दूसरे जन्म में अपवर्ग प्रदान करने के लिए करता है।

विष्णु

सांख्यकी के स्तर के दृष्टिकोण से विचार करने पर विष्णु ही एकमात्र देवता हैं जो चतुर्थ श्रेणी में आते हैं जोकि ऋग्वेद में सूर्य, सविता और पूषा की अपेक्षाकृत कम बारम्बारता से अभिवन्दित किये जाते हैं। किन्तु ऐतिहासिकता की दृष्टि से सौर देवताओं में वे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। क्योंकि वे वर्तमान हिन्दुत्व के दो महान देवताओं में एक हैं। उनके चरित्र की प्रमुख विशेषता यह है कि वे तीन कदम रखते हैं—इसमें सन्देह नहीं कि इसका अभिप्राय है विश्व के तीन भागों से होते हुए सूर्य के यात्रा मार्ग का प्रतिनिधित्व करना। उनका सबसे बड़ा कदम स्वर्ग है जहां देवता और पितर निवास करते हैं। इस निवास स्थान के लिए उनकी अभिलाषा को कवि निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त करता है—

तदेस्य पियमभि पाथो अश्यां
नरो यत्र देवयवो मदन्ति।
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था
विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः॥ (ऋ. १.१५४-५)

(मैं उसके परम प्रिय उस निवास को प्राप्त कर सकूं जहां देवताओं के भक्त मानव आनन्द प्राप्त करते हैं। विष्णु के सबसे बड़े कदम में अमृत का स्रोत है; शक्तिशाली कदम वाले वे हमारे बान्धव हैं।)

ज्ञात होता है सूर्य ही मौलिक रूप में विष्णु समझे जाते रहे हैं—उनके सामान्य चरित्र में नहीं किन्तु तीव्र गति वाले प्रकाश पिण्ड के मानवीकरण रूप में जो तीनों विश्वों की परिक्रमा करता है। कई अनुच्छेदों में कहा गया है कि उसने मानव कल्याण के लिए विश्व की परिक्रमा की है।

इस स्वरूप के लिए ब्राह्मणों की पौराणिक कथा का अनुसन्धान किया जा सकता है जिसमें विष्णु एक बौने (वामन) के रूप में दिखलाई पड़ते हैं जोकि 'इस समय' दैत्यों के अधिकार में पड़ी पृथ्वी को तीन कदम रखकर प्राप्त करने के लिए छद्मरूप धारण किया गया है। वेदोत्तर पौराणिक काल में उनका त्याग, उदारता और परोपकार का स्वरूप अवतारों के सिद्धान्त में विकसित हुआ (अवतार अर्थात् पृथ्वी पर उतरकर आना) या शरीरों को धारण करना जोकि मानवता के हित के लिए स्वीकार किया जाता है।

उषस्

अरुणोदय की देवी उषा लगभग अकेली महिला देवी है जिसको पूरे सूक्त सम्बोधित किए गए हैं और केवल ऐसी एक ही है जिसकी अभ्यर्थना की बारं-

बारता जैसी चाहो वैसी है। तो भी वह लगभग बीस के आस-पास सूक्तों से अभिनन्दित की गई है। नाम का अर्थ है 'एक प्रकाशमान तत्व'— यह लैटिन शब्द 'औरोरा' (Aurora) और ग्रीक 'एओस' (EOS) का एक जातीय है। जब देवी को सम्बोधित किया जाता है तब प्रभात का भौतिक दृश्य कभी भी कवि के मस्तिष्क से ओझल नहीं होता। जिस आसक्ति के साथ इन पुरोहित गायकों के विचार देवियों के मध्य में केवल उसी एक की ओर प्रवृत्त हुए— यद्यपि अन्य देवताओं के समान उसे सोम पान में भाग प्रदान नहीं किया गया —यह आसक्ति यह बात दिखलाती हुई मालूम पड़ती है कि प्रातःकाल की शोभा जितनी शानदार उत्तर भारत में होती है वह उसकी अपेक्षा अधिक है जिसको देखने के हम (यूरोपीय) आदी हैं। इस शोभा ने गहराई के साथ प्रारम्भिक कवियों के मस्तिष्कों को प्रभावित किया। किसी भी दृष्टि से देखें वह उनकी सर्वोत्कृष्ट रमणीय रचना है जिसके सम्मोहन का किसी भी दूसरे साहित्य के वर्णनात्मक धार्मिक सूक्त अतिक्रमण नहीं कर सकते। पुरोहितों की चतुरता उसके स्वरूप सौन्दर्य को आच्छादित नहीं कर सकी और यज्ञ के कतिपय निर्देश कल्पना की स्वाभाविक सुन्दरता को नष्ट नहीं कर सके।

पाठक को इस कविता के गुणों का मूल्याङ्कन करने योग्य बनाने के लिए हम देवी उषा के विषय में विभिन्न सूक्तों से निकालकर और रचनाकारों के शब्दों के उतना अधिक निकट शब्दों से जितना सम्भव है व्याख्या के साथ कतिपय कथनों को एक साथ नत्थी करूंगा। उषा एक चमकीली कन्या है जो आकाश में द्यौः से उत्पन्न हुई है वह काली रात्रि की प्रभाशालिनी बहन है। वह अपने प्रेमी के प्रकाश से प्रकाशित रहती है; वह सूर्य के प्रकाश से (प्रकाशित रहती है) जो (सूर्य) उसके पीछे से उसके मार्ग पर प्रकाश रश्मियां विकीर्ण करता है और उसके पीछे इसी प्रकार चलता है जैसे एक तरुण पुरुष किसी तरुणी के पीछे उसका पदानुसरण करता है। वह देदीप्यमान रथ पर ले जाई जाती है जिसे युद्ध के लाल रंग के घोड़े या गायें खींचती हैं। मनोहर वस्त्रों में स्वयं को अलंकृत कर वह एक नर्तकी के समान अपने स्तन प्रदर्शित करती है। प्रकाशपुंज के वस्त्र पहने हुए वह रमणी पूर्व में प्रकट होती है और अपना सौन्दर्य अनावृत कर देती है। चमकीली वह मानो स्नान से उठ रही हो अपने स्वरूप को दिखला देती है। अनुपम सुन्दरता में प्रभापूर्ण वह अपनी चमक न छोटे लोगों की ओर से समेट लेती है, न बड़े लोगों की ओर से। वह स्वर्ग के फाटकों को पूर्ण रूप से खोल देती है। जैसे ही गायें गोशाला से निकलती हैं वह अन्धकार के दरवाजे खोल देती है। उसकी प्रकाशमान किरणें पशुओं के झुंड जैसी मालूम पड़ती हैं। वह रात्रि के काले आवरण को अलग

कर देती है जिससे दूषित आत्माओं और घृणा किये हुए अन्धकार से बचा देती है। जिनके पैर होते हैं उन जीवों को जगा देती है और पक्षियों को ऊपर उड़ाती है। वह प्रत्येक का श्वास और जीवन है। जब उषा चमकती है पक्षी अपने घोंसले से ऊपर को उड़ जाते हैं और मनुष्य शक्तिवर्धक नाश्ता लेते हैं। वह मधुर स्वरों की देदीप्यमान प्रेरक है और आनन्ददायक स्वरों के संमोहन की नेता। प्रतिदिन अपने नियत स्थान पर दर्शन देकर वह कभी भी व्यवस्था के नियमों और देवताओं के नियमों को तोड़ती नहीं। वह सीधी व्यवस्था के मार्ग पर चली जाती है। वह मार्ग को जानती है इसलिए दिशा को कभी खो नहीं देती। पिछले दिनों जैसी वह चमकती थी उसी प्रकार वह आज भी चमक रही है और भविष्य में भी चमकेगी। वह कभी बूढ़ी नहीं होती, वह अमर है।

तड़के प्रातःकाल की एकान्तता और शान्ति कभी कभी उषा की कभी समाप्त न होने वाली पुनरावृत्ति की तुलना में मानव जीवन रेखा की भागने वाली (विनश्वर) प्रवृत्ति के विषय में खेदपूर्ण विचारों की व्यञ्जना करती थी। इस प्रकार एक कवि कहता है—

ईयुष्टे ये पूर्वतरामपश्यन्व्युच्छन्तीमुषसं मर्त्यासः।
अस्माभिरू नु प्रतिचक्ष्याभूदो ते यन्ति ये अपरीषु पश्यन्॥
(१.११३.११)

(मरणधर्मा (मानव) चले गए जो बीते हुए युगों में प्रातः के पूर्वतन काल में तेज से चमकती उषा के दर्शन करते थे। अब हम जीवित मानव उस प्रकाशमयी को देखते हैं। वे आ रहे है जो भविष्य में उसे देखेंगे। (वह अमर है)।) ?

उसी स्वर में एक अन्य ऋषि गाता है—

पुनः पुनर्जायमाना पुराणी समानं वर्णमभि शुम्भमाना।
श्वघ्नीव कृत्नुर्विज आमिनाना मर्तस्य देवी जरयन्त्यायुः॥
(१.९२.१०)

(यद्यपि चिरत्तन फिर भी बार-बार नया जन्म लेने वाली अपने अनुकूल रंगों से अपने सौन्दर्य को सजाती हुई देवी उसी प्रकार मरणधर्मा व्यक्तियों के जीवन को क्षपित करती है जैसे द्यूतरसिक निपुण खिलाड़ी धन को नष्ट करता जाता है।)

उषा के विषय में सर्वोत्तम सूक्तों में एक (१.११३) के निम्नलिखित कतिपय पद्य (मन्त्र) वैदिक कविता की इस सर्वोत्तम रचना के विषय में अधिक सामान्य चित्र प्रस्तुत करते हैं—

इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरगाञ्चित्रः प्रकेतो अजनिष्ट विभ्वा ।
यथा प्रसूता सवितुः सवायँ एवा रात्र्युषसे योनिमारैक ॥
(१.११३.१)

(सब प्रकाशों में यह सर्वोत्तम प्रकाश आ गया है, देदीप्यमान प्रभा उत्पन्न हो गई है जो दूर तक प्रकाशपुञ्ज बिखेर रही है। यह सविता देव के उदय के आगे प्रसार को सोत्साह प्रेरणा दे रही है। अब रात्रि ने अपना स्थान प्रातः-काल (उषा) को समर्पित कर दिया है।

समानो अध्वा स्वस्रोरनन्तस्तमन्यान्या चरतो देवशिष्टे ।
न मथेते न तस्थतुः सुमेके नक्तोषासा समनसा विरूपे ॥३॥

(दोनों बहनों का यात्रा मार्ग एक ही है जो कभी समाप्त नहीं होता। देवताओं द्वारा प्रशिक्षित वे दोनों एक दूसरे के बाद उस मार्ग पर चलती हैं। उनकी आकृति उत्तम रूप वाली है, उनके स्वरूप भिन्न भिन्न हैं फिर भी उनके मस्तिष्क एक ही हैं, रात्रि और उषा आपस में लड़ती नहीं और न देर करती हैं।)

भास्वती नेत्री सूनृतानामचेति चित्रा वि दूरो न आवः ।
प्रार्प्या जगद्व्यु नो रायो अख्यदुषा अजीगर्भुवनानि विश्वा ॥४॥

(सुखकर स्वरों का नेतृत्व करने वाली वह प्रकाशमान देवी उषा परिपूर्ण-धारा में प्रवाहित होने वाले प्रकाश पुञ्ज के साथ चमकती है। उसने अपने सदर दरवाजे हम लोगों के लिए चौड़े रूप में खोल दिए हैं। अखिल विश्व को जागरूक करते हुए वह सम्पन्नता के दर्शन कराती है। उषा ने समस्त जीवित प्राणियों को जगा दिया है।)

एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि व्युच्छन्ती युवतिः शुक्रवासाः ।
विश्वस्येशाना पार्थिवस्य वस्व उषो अद्येह सुभगे व्युच्छ ॥७॥

(वहां स्वर्ग की (यह) पुत्री हमारे सामने दिखलाई पड़ी है। यह तरुणी कुमारी अपने भड़कीले वस्त्रों में चमचमा रही है। तू समस्त भौतिक सम्पत्तियों की स्वर्ण सुन्दरी कल्याणकारिणी ऊषा आज यहां हमारे ऊपर प्रकाश रश्मि विकीर्ण कर।)

व्यञ्जिभिर्दिव आतास्वद्यौदप कृष्णां निर्णिजं देव्यावः ।
प्रबोधयन्त्यरुणेभिरश्वैरोषा याति सुयुजा रथेन ॥१४॥

(आकाश के कलेवर में वह वैभव के साथ प्रकाशित हुई है। देवी ने अपना अन्धकार परिधान उतार फेंका है। अपने रक्ताभ अश्वों से भलीभांति जुते हुए रथ पर विश्व को जगाती हुई ऊषा आ रही है।)

आवहन्ती पोष्या वार्याणि चित्रं केतुं कृणुते चेकिताना ।
ईयुषीणायुपमा शाश्वतीनां विभातीनां प्रथमयोषा व्यश्वैत ।।१५।।

(उस पर अनेक वदान्य आशीर्वचन लाती हुई, कान्ति के साथ चमकती हुई वह अपना चमकीला प्रकाश विकीर्ण कर देती है । संख्यातीत उन प्रातः-कालों में खोई हुई जो व्यतीत हो चुके हैं । आने वाले (भावी) प्रातःकालों में प्रथम उषा ऊपर को उठ आई है ।)

उदीर्ध्वं जीवो असुर्न आगादप प्रागात्तम आ ज्योतिरेति ।
आरैक्पन्थां यातवे सूर्यायागन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः ।।१६।।

(उठो ! स्वास, जीवन ने हमें पुनः प्राप्त कर लिया है । अन्धकार दूर चला गया है और प्रकाश आ रहा है । वह (उषा) सूर्य के लिए यात्रा के निमित्त मार्ग छोड़ देती है । हम वहां पहुंच गये है जहां मानव अपनी सत्ता में वृद्धि प्राप्त कर लेता है ।)

अश्विनीकुमार

स्वर्गिक प्रकाश के सर्वाधिक रूप में बारंबार अभिनन्दित किये जाने वाले देवताओं में प्रातःकाल की देवताओं की जोड़ी है जिन्हें अश्विन कहते हैं । वे द्यौः के पुत्र हैं, सर्वदा युवा बने रहते है और सुन्दर हैं । वे रथ पर चढ़ते हैं जिस पर उनका साथ सूर्यकुमारी सूर्या के साथ रहता है । रथ प्रकाशमय सूर्य जैसा है और उसके सभी भाग सोने के बने हैं । जिस समय ये देवगण दिखलाई पड़ते हैं वह प्रातः का प्रारम्भिक काल होता है जबकि रक्ताभ गायों के मध्य अन्धकार अब तक शेष है । अपने रथ को जब वे जोत देते हैं (चालू कर देते हैं) तब उषा उत्पन्न होती है ।

संरक्षक देवता के रूप में अश्विन् के विषय में अनेक काल्पनिक पुरावृत्ता-ख्यान कहे जाते हैं । सामान्य रूप से वे कष्टों से छुटकारा दिलाते हैं, विशेष रूप से जहाज पर या जहाजों पर सामुद्रिक विपत्ति में रक्षा करते हैं । चारित्रिक दृष्टि से वे स्वर्गीय वैद्य हैं जो अन्धों को दृष्टि देते हैं और लंगड़ों को चलने योग्य बना देते हैं । एक बड़ी कौतूहलपूर्ण कथा है कि रमणी विष्पला की एक टांग किसी झगड़े में काट दी गई थी, तत्काल ही अश्विन् ने लोहे का एक (वही) अंग लगा दिया था । अनेक दृष्टियों से ग्रीक पुराण साहित्य के ज्यूज के पुत्र और हेलेन के भाई दो प्रसिद्ध अश्वपुरुषों डिओस्कौराई से ये (अश्विनी कुमार देवता) मेल खाते हैं । इन दो युग्म देवों के उद्भव के विषय में दो सर्वा-धिक सम्भावित सिद्धान्त हैं कि या तो वे (रात और दिन के) सन्धिकालीन प्रकाश का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसमें आधा अन्धकार और आधा प्रकाश

रहता है या प्रातःकालीन और सायंकालीन नक्षत्र का युग्म बतलाया गया है।

इन्द्र

वायु के साम्राज्य (क्षेत्र) में इन्द्र अधिशासी देवता है। वैदिक भारतीयों का वह वास्तव में प्रिय एवं राष्ट्रीय देवता है। उसका महत्व इस वास्तविकता से पर्याप्त रूप में प्रकट हो जाता है कि ऋग्वेद के एक चौथाई से भी अधिक सूक्त उसकी प्रशंसा में व्यय किए गए हैं। एक व्यतीत हुए युग के द्वारा (परवर्ती युग के लिए) प्रदान किया हुआ इन्द्र किसी भी अन्य वैदिक देवता की अपेक्षा मानव स्वरूप का अधिक प्रतिनिधि बन गया है और पौराणिक कल्पना से अधिक आवृत हो गया है। फिर भी उसके चरित्र की महत्ता पर्याप्त रूप में स्पष्ट है। मौलिक रूप में वह एक पर्जन्य देव है। उसकी उस सूखा या अन्धकार पर विजय जिसे वृत्र या "प्रतिबन्धक" का नाम दिया गया है और परिणाम स्वरूप जलों की निर्मुक्ति अथवा प्रकाश की प्राप्ति उसके पौराणिक सारतत्त्व का निर्माण करते हैं। यह कल्पना ऋषियों को निरन्तर प्रत्यावर्ती विषय प्रदान कर देती है। वज्र का अस्त्र धारण किए हुए, सोमरस प्रचुर मात्रा में पान करने से हर्षोन्मत्त होकर मरुत् देवों द्वारा ले जाए जाकर इन्द्र युद्ध भूमि में पदार्पण करते हैं। युद्ध भयानक होता है। जब इन्द्र एक वृक्ष के समान वृत्र को आघातित करता है तब पृथ्वी और आकाश भय से कांप उठते हैं। निरन्तर युद्ध को दोहराते रहने वाले के रूप में उनका वर्णन किया गया है। इस कल्पना के पीछे प्राकृतिक दृश्यावली की जो भावना अन्तर्निहित है उससे स्पष्ट ही इन्द्र का निरन्तर नवीन रूप में आना मेल खा जाता है। इन्द्र के पराक्रम पूर्ण कार्यों के वर्णन में आंधी तूफान में सन्निहित भौतिक तत्त्वों का कवियों द्वारा सीधे रूप में शायद ही कभी वर्णन किया गया हो। उनको वर्षाजल गिराने वाला बहुत ही कम कहा गया है किन्तु निरन्तर अवरुद्ध किए हुए जलों या नदियों को छुड़ाने वाला कहा गया है। विद्युत् नियमित रूप से वज्र बतलाया गया है जबकि गर्जन गायों का रंभाना या अजगरों (असुरों) का दहाड़ना है। बादलों को विभिन्न संज्ञायें दी गई हैं – जैसे गाय, थनों का अयन, झरने, भाण्ड या जल का दूसरा विशाल वर्तन। वे चट्टानें (अद्रि) भी हैं जो इन्द्र द्वारा छुड़ाई हुई गायों को घेरे रहती हैं। इसके अतिरिक्त वे पर्वत भी हैं जिन पर रहने वाले दानवों को इन्द्र नीचे फेंक देते हैं। इस प्रकार वे प्रायः दैत्यों के निवास के दुर्ग (पुर) भी बन जाते हैं जिनकी संख्या नव्वे, निन्यानवे या सौ है और जिनका विभिन्न प्रकार से कहीं 'गतिशील', 'शारदीय', या 'लोहे अथवा पत्थर के बने हुए' इत्यादि रूपों में वर्णन किया गया है। एक पद्य (१०-८९-७) इस कल्पना की विभिन्न विशेषताओं को एक साथ इस प्रकार लाता है—

'इन्द्र ने वृत्र को मारा, दुर्ग तोड़ दिए, नदियों के लिए एक धारा का निर्माण कर दिया, पर्वतों को भेद दिया और अपने मित्रों को गायों का दान दिया। वृत्र आख्यान की महत्ता के कारण इन्द्र का नाम वृत्रहन् "वृत्र को मारने वाला" रक्खा गया। निम्नलिखित पद्य सर्वाधिक सुचित्रित सूक्तों में एक (१-३२) से लिए गए हैं जो उस दानव के साथ इन्द्र के संघर्ष का अभिनन्दन करते हैं—

इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणो अभिनत्पर्वतानाम् ॥१॥

(मैं इन्द्र के शक्तिशाली साहसिक कार्यों की उद्घोषणा करूंगा जो कार्य वज्रधारी इन्द्र ने सबसे पहले किए थे। उसने दानव वृत्र का वध किया। फिर जलों को मुक्त किया और विशाल पर्वतों के विवरों को विदीर्ण किया।)

वृषायमाणोऽवृणीत् सोमं त्रिकद्रुकेष्वपिबत्सुतस्य।
आ सायकं मघवादत्त वज्रयहन्नेनं प्रथमजामहीनाम् ॥३॥

(बैल के समान वेगवान उस (इन्द्र) ने सोम को पसन्द किया और उसके रस से भरे हुए तिगुने प्यालों का पान कर गया। वदान्य देव ने अपने अस्त्र के रूप में वज्र को ग्रहण किया और दानवों में प्रथम उत्पन्न उस (वृत्र) को मार कर गिरा दिया।)

नास्मै विद्युन्न तन्यतुः सिषेध न यां मिहमकिरद्धादुनिं च ॥
इन्द्रश्च यद्युयुधाते अहिश्चोता परीभ्यो मघवा वि जिग्ये ॥१॥

(तब उस (इन्द्र) पर बिजली कुछ भी लाभ न उठा सकी। न बिजली की कड़क ही' न कोहरा ही और न ओलों की बौछार ही जो उस (वृत्र) ने अपने चारों ओर फैला रक्खे थे (इन्द्र को रोकने में कुछ भी प्रभाव दिखला सके।) जब इन्द्र और दानव युद्धभूमि में (विजय के लिए) प्रयत्न करने लगे। उदार देव ने सर्वदा के लिए विजय प्राप्त कर ली।)

अहेर्यातारं कमपश्य इन्द्र हृदि यन्ते जघ्नुषो भीरगच्छत्।
नव च यन्नवतिं च स्रवन्तीः श्येनो नो भीतो अतरो रजांसि ॥१४॥

(कभी न रुकने वाली धाराओं की मार डालने वाली वायु में डूबा हुआ (वृत्र) उस धारा में जो रुकती नहीं किन्तु सर्वदा तेजी से आगे की ओर ही बढ़ती जाती है—जल वृत्र के छिपे हुए शरीर को बहाये हुए लिए जा रहे हैं। इन्द्र का भयानक शत्रु सदा रहने वाले अन्धकार में डूब गया है।)

पानी की निर्मुक्ति के साथ प्रकाश और सूर्य की प्राप्ति भी संबद्ध है। इस प्रकार हम पढ़ते हैं कि जब इन्द्र ने दानव वृत्र का अपने वज्र से वध कर दिया

जलों को मानवों के लिए छुड़ाया, उसने सूर्य को आकाश में दृश्यरूप में स्थापित किया अथवा जब इन्द्र ने वायु से दानव को उड़ा दिया तब सूर्य चमकने लगा।

इन्द्र स्वभावतः युद्ध के देवता बन गये और सांसारिक शत्रुओं के साथ युद्ध में सहायक के रूप में अन्य देवताओं की अपेक्षा उनका अभिनन्दन अधिक किया जाता है। एक कवि के शब्दों में वह आर्य जाति के(गोरे) रंग (वर्ण) की रक्षा करता है और काले चमड़े को (अनार्यों को) अपना लक्ष्य बनाता है जबकि दूसरा कवि उनकी इस बात की श्लाघा करता है कि उन्होंने काले रंग की जातियों के ५०००० व्यक्तियों को खदेड़ दिया और उनके दुर्गों के टुकड़े-टुकड़े कर दिये। उनके युद्धों को प्रायः 'गविष्टि' कहा जाता है जिसका अर्थ है गायों को प्राप्त करने की इच्छा—उनको प्राप्त होने वाली (गायों) की भेंटें उनके विजय का परिणाम मानी जाती हैं।

निम्नलिखित मन्त्र (II १२, २ और ३) उस पद्धति का नमूना प्रस्तुत करने का कार्य करेंगे जिसके द्वारा इन्द्र की महत्ता गायन किया जाता है—

यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद्यः पर्वतान् प्रकुपिताँ अरम्णात्।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात्स जनास इन्द्रः॥

(२-१२-२)

(जिसने विस्तार में फैली हुई पृथ्वी को जब वह कांप रही थी स्थिर (अचला) बना दिया, जिसने उत्तेजनापूर्ण तथा उपद्रव करने वाले पर्वतों को शान्त कर दिया जिसने वायु के अन्तर्वर्ती कदमों को नाप डाला, जिसने आकाश को सहारा दिया, मनुष्यो ! वह इन्द्र है।)

द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते शु माच्चिदस्य पर्वता भयन्ते।
यः सोमपा निचितो वज्रबाहुर्यो वज्रहस्तः स जनास इन्द्रः॥

(२-१२-१३)

(स्वर्ग और पृथ्वी स्वयं जिसके सामने झुक जाते हैं, जिसकी शक्ति के सामने स्वयं पर्वत भी कांपने लगते हैं, जो सोमपायी के रूप में माना जाता है जो वज्र का अस्त्र धारण करता है, मनुष्यों वह इन्द्र है।)

इन्द्र की प्रकृति में मानवरूपता को अधिक बढ़े-चढ़े रूप में दिखलाने के लिए सामयिक अनैतिक चरित्रगत विशेषताओं का दिखलाना उचित है जो उनके चरित्र में दिखलाई गई हैं। वे विशेष रूप से सोमरस पान के आदी हो गए हैं; इस प्रकार वे स्वच्छन्दचारी हैं; बलात्कार में रुचि लेते हैं—जैसे अपने पिता की हत्या और उषा के रथ का विनाश। युद्ध जैसे पराक्रम के कार्यों के

सम्पादन के लिए स्वयं को उत्तेजित करने के निमित्त वे अत्यधिक मदिरा पान करते हैं। एक पूरे सूक्त (१०-११९) में एकालाप है जिसमें सोमरस से मदोन्मत्त होकर अपनी महत्ता और शक्ति की डींग हांकते हैं। यद्यपि इस काव्य खण्ड में काव्य गुणों का अभाव है फिर भी यह विशेष अभिरूचि का सूक्त है क्योंकि मानसिक प्रभाव का यह कहीं अधिक पुराना आदिम काव्यमय चित्रण है। विशेष रूप से शराब के नशे से उत्पन्न की हुई डींग हांकने की यह (विश्व साहित्य की) पहली कविता है। इन्द्र के अतिचारों की नैतिकता का मूल्यांकन करने में यह बात भुला नहीं देनी चाहिए कि वैदिक कवि की दृष्टि में सोमपाम में आनन्द लेने ने धार्मिक रूपता स्वीकार कर ली थी।

अवेस्ता में इन्द्र का नाम दानव के रूप में आता है। उनकी पृथग्भूत विशिष्ट उपाधि वृत्रहन भी वहां पर वेरेथ्रग्घ रूप में मिलती है जो कि विजय के देवता के स्वरूप की परिचायक है। इसलिए भारत ईरानी काल में सम्भवत: एक देवता था जो वृत्र के मारे जाने और विजयी इन्द्र के वैदिक स्वरूप के निकट पहुंचता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से वरुण और इन्द्र की तुलना करने में ऋग्वेद के प्रारम्भिक युग में दोनों का महत्व लगभग समान था; यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारत ईरानी युग में इन्द्र की अपेक्षा वरुण अधिक बड़े देवता थे किन्तु बाद के वैदिक काल में वे इन्द्र की अपेक्षा निम्नस्तर पर पहुंच गए। दूसरी ओर इन्द्र ब्राह्मण ग्रन्थों और पुराणों में भारतीय स्वर्ग के प्रमुख (राजा) बन गए और पौराणिक देवता त्रयवाद—ब्रह्मा, विष्णु और शिव के अन्तर्गत भी अपनी प्रतिष्ठा बनाये रक्खी, हाँ यह स्थिति उनसे निम्नस्तर की अवश्य थी।

अन्तरिक्ष के निम्नस्तर के देवता

अन्तरिक्ष के देवताओं में कम-से-कम तीन निम्नस्तर के देवताओं का संबंध बिजली से है। इनमें कुछ कुछ अज्ञात एक देवता त्रित हैं जिसका ऋग्वेद के फुटकर पद्यों में ही उल्लेख किया गया है। यह नाम अग्नि के तीसरे स्वरूप (आकाशीय बिजली की चमक) की ओर संकेत करता प्रतीत होता है (जोकि ग्रीक ट्रिटोस के समान है।) उसका प्रायिक विशेषण आप्त्य 'जलीय' का अर्थ देता मालूम पड़ता है। यह देवता भारत ईरानी युग पीछे तक जाता है क्योंकि उसका नाम और उपाधि दोनों ही अवेस्ता में प्राप्त होते हैं। किन्तु वह धीरे धीरे इन्द्र द्वारा स्थान च्युत कर दिया गया क्योंकि प्रारम्भ में इन्द्र के ही समकक्ष चरित्र उसमें विद्यमान थे। ऋग्वेद में बहुत कम उल्लेखवाला और

भारत ईरानियन युग से चला आता हुआ एक दूसरा देवता अपांनपात् अर्थात् जलों का पुत्र है। उसका वर्णन बिजली के वस्त्र धारण करने वाले और बिना ही ईंधन के जल में प्रकाशमान के रूप में किया गया है। इसलिए इस विषय में कुछ भी संदेह नहीं हो सकता है कि वह बादलों से बिजली के रूप में उत्पन्न हुई अग्नि का प्रतिनिधित्व करता है। मातरिश्वन् का ऋग्वेद में कहीं-कहीं उल्लेख है वह एक स्वर्गीय तत्त्व है जिसका वर्णन ग्रीक प्रोमेथियस के समान छिपी हुई अग्नि को स्वर्ग से पृथ्वी पर लाने वाले के रूप में किया गया है। बहुत सम्भव है कि वह अग्नि के स्वर्गीय स्वरूप अग्निदेव के मानवीकरण रूप का प्रतिनिधित्व करता हो जिसके साथ किन्हीं-किन्हीं अनुच्छेदों में उसका वस्तुतः एकीकरण किया गया है। बाद के वेदों, ब्राह्मणों और परवर्ती साहित्य में यह नाम वायु की एक सामान्य उपाधि बन गया।

रूद्र और शिव

ऋग्वेद में रुद्रदेव ने जो पदवी प्राप्त की वह परवर्ती युग के उनके ऐतिहासिक उत्तराधिकारी की पदवी से अत्यन्त भिन्न है। उनका प्रतिष्ठापन केवल तीन या चार सूक्तों में किया गया है जबकि उनका नाम विष्णु के नाम की अपेक्षा थोड़ा सा कम लिया गया है। उन्हें प्रायः धनुषबाण का अस्त्र धारण करने वाला बतलाया गया है, किन्तु कभी कभी उन्हें बिजली का बाण और वज्र भी प्रदान किया गया है। उनका एक जंगली जीव के समान भयानक और विनाशक रूप में वर्णन किया गया है और कहा गया है कि वह 'स्वर्ग का एक रक्ताभ बाराह' है। जो सूक्त उनको समर्पित किए गए हैं उनमें प्रधान रूप में उनके भयानक बाण का भय दिखलाया गया है और उनके क्रोध से छुटकारे की प्रार्थना की गई है। उनकी द्रोह बुद्धि (विनाशक रूप) अब तक परवर्ती वैदिक साहित्य में अधिक स्पष्ट है। उनका मांगलिक अभिधान शिव 'कल्याणकारक' ऋग्वेद में प्रयुक्त किया ही जा चुका है यद्यपि एक मात्र नहीं—किन्तु अधिक बहु लता के साथ परवर्ती वेदों में प्रयुक्त किया गया है यह वेदोत्तरकाल में नियमित नाम बन गया। रुद्र निश्चय ही एक दानव के समान शुद्धरूप में हानिकारिक नहीं है। उनसे केवल विनाश से सुरक्षित रखने की ही प्रार्थना नहीं की गई है किन्तु शुभाशीस (वरदान) देने और मानव तथा पशुओं का कल्याण उत्पन्न करने की प्रार्थना की गई है। उनकी रोगनाशक शक्ति का विशेष बाहुल्य के साथ वर्णन किया गया है और उन्हें वैद्यों में सर्वोत्कृष्ट (वैद्यनाथ) रूप में प्रशंसित किया गया है।

मरुत्

ऋग्वेद के सुव्यक्त प्रमुख देवताओं में मरुत् या चण्डवात देव हैं। जो सात के तीन गुने (२१) या साठ के तीन गुने (१८०) की संख्या के समूह बनाते हैं। वे रुद्र के पुत्र हैं और रंगबिरंगी जलदधेनु प्रश्नि से उत्पन्न हुए हैं। जन्म के समय उनकी तुलना अग्नियों से की जाती है और एक बार उनको बिजली के हास्य से उत्पन्न हुए रूप में संबोधित किया गया है। वे तरुण योद्धाओं की सेना हैं और भाले तथा फरसे धारण किए रहते हैं तथा सर पर शिरस्त्राण पहनते हैं। वे स्वर्णाभूषणों से सजे रहते हैं प्रधान रूप में बांहों और पैरों के आभूषण (केयूर और नूपुर) धारण करते हैं:—

द्यावो न स्तृभिश्चितयन्त खादिनो व्य भ्रिया न द्युतयन्त वृष्टयः।
रुद्रो यद्वो मरुतो रुक्मवक्षसो वृषाजनि पृश्न्याः शुक्र ऊधनि॥
(२.३४-२)

(वे बाहुभूषणों के (केयूरों) से उसी प्रकार चमकते हैं जैसे नक्षत्रों से जड़ा आकाश चमकता है और बादलों से उत्पन्न विद्युन्माला के समान वर्षा की उनकी जलधारायें चमकती हैं।)

वे सोने के रथों पर बैठते हैं जो कि बिजली से चमकते हैं जब वे भयानक बिजली को अपने हाथ में पकड़ते हैं:—

अव स्मयन्त विद्युतः पृथिव्यां यदी घृतं मरुतः प्रष्णुवन्ति।
(१.१६८-८)

विजलियां अपने नीचे स्थित पृथ्वी पर मुस्कराती हैं और उसी समय मरुत् स्थूलता (घृत) छिड़कते हैं।

वे अपने घोड़ों को हांकते हैं जिनको प्रायः चित्तीदार रंगबिरंगे रूप में वर्णित किया गया है और कहा गया है एक बार उन्होंने अपनी धुरी में वायु को घोड़ों के समान जोत लिया था।

मरुत् सिंहों और जंगली शूकरों के समान उग्र एवं भयानक हैं। अपने रथ की वृत्ताकार नेमि से वे पर्वत को विदीर्ण कर देते हैं:—

वपंन्ति मरुतो मिहं प्र वेपयन्ति पर्वतान्।
यद्यामं यान्ति वायुभिः। (५.६०-२)

(मरुत् आकाशवाष्प को चारों ओर प्रसारित कर देते हैं और पर्वतों को हिला देते हैं और अपने स्थान से विचलित कर देते हैं जबकि वायु के साथ वे अपने मार्ग पर चले जाते हैं।)

वे महान् जंगलों को तोड़-फोड़ डालते हैं और जंगली हाथियों के समान

जंगलों को खा जाते हैं:—

वना चिदुग्रा जिहते नि वो भिया।
पृथिवी चिद्रेजते पर्वतश्चित्॥ (५.६०-२)

(हे भयानक देव तुम्हारे सामने जंगल भी भय से झुक जाते हैं, स्वयं पृथ्वी भी और पर्वत भी कांपते है।)

उनके प्रधान कार्यों में एक है वर्षा गिरना। वे वर्षा के वस्त्रों को धारण किए रहते हैं और जलधाराओं की वर्षा से सूर्य की आंखें ढक देते हैं, पृथ्वी को दूध से तर कर देते हैं, वे स्थूलता और पुष्टता (घी) को प्रवाहित करते, हैं, वे गरजने वाले और कभी न चूकने वाले (बादलों से) जल प्रवाहों को दुह लेते हैं, वे पृथ्वी को मधु से आर्द्र करते हैं, वे आकाशी पात्र को भर देते हैं:—

प्रतिष्टोभन्ति सिन्धवः पविभ्यो यदभ्रियां वाचमुदीरयन्ति।
(१.१६८-८)

(नदियां उनके रथों की नेमि के शब्द की प्रतिध्वनि करती हैं जिस समय वे वर्षा के बादलों के स्वर का उच्चारण करते हैं।)

वायु के शब्द के निदर्शन से मरुद्गण प्रायः गायक बतलाये गए हैं और इस प्रकार दानवों से युद्ध करने में वे इन्द्र की सहायता करते हैं। वे वस्तुतः उनके स्वर्गीय संघर्षों में निरन्तर सहयोगी बने रहते हैं।

वायु या वात

पवन का देवता, जो वायु या वात कहलाता है, ऋग्वेद का कोई प्रमुख देवता नहीं है क्योंकि उसके विषय में पूरे केवल तीन सूक्त हैं जो उसे संबोधित कर लिखे गए हैं, वायु के नाम से मानवीकरण का विशेष विकास हुआ है जिसका अधिकांशरूप में इन्द्र का साथ है जब कि वात का सम्बन्ध युग्मरूप में वर्षा के पर्जन्य देव के साथ है जिसके चित्रण में नृतत्त्व का कम प्रयोग किया गया है। वायुदेव शीघ्रगामी हैं जैसा कि समझा गया है उनमें एक दहाड़ने वाला वेग है उनके पास एक चमकदार गाड़ी है जो लाल घोड़ों के समूह या युग्म द्वारा खींची जाती है। इस गाड़ी पर जिसका आसन सोने का है और जो आकाश का स्पर्श करती है इन्द्र उनके साथी बनते हैं। वात का भी जैसा कि यह पवन का भी सामान्य अभिधान है अधिक स्थूल पद्धति पर अभिनन्दन किया गया है। उसके नाम का प्रायिक सम्बन्ध प्रवाहित होने के अर्थ वाली 'वा' धातु से है जिससे इसकी निष्पत्ति हुई है। रुद्र के समान ये रोग निवारण को विकीर्ण करते हैं और जीवन को बढ़ाते हैं। क्योंकि उनके घर में अमरता का खजाना है। उनकी

प्रशंसा में रचे गए एक छोटे सूक्त (१०.१६८) का कवि उनका वर्णन इस प्रकार करता है—

वातस्य नु महिमानं रथस्य रुजन्नेति स्तनयन्नस्य घोषः।
दिविस्पृग्यात्यरुणानि कृण्वन्नुतो एति पृथिव्या रेणुमस्यन् ।।
(१०.१६८-१)

(वात के रथ की महानता का अब मैं वर्णन करूंगा। यह महाशब्द करते हुए तेजी से आगे को बढ़ता है, उसका शोर बिजली की गर्जन है, आकाश का स्पर्श करते हुए बिजली की चमक का कारण बनते हुए यह बढ़ता जाता है, पृथ्वी की धूल को उड़ाते और बिखेरते हुए यह शीघ्रता से आगे बढ़ता है।)

अन्तरिक्षे पथिभिरीयमानो न निविशते कतमच्च नाहः।
अपां सखा प्रथमजा ऋता वा क्व स्विज्जातः कुत आबभूव ।।
(१०.१६८-३)

(अन्तरिक्ष में अपने मार्गों पर आगे की ओर शीघ्रता के साथ बढ़ते हुए किसी भी दिन कभी भी वह आराम करते हुए रुकता नहीं है। पहले उत्पन्न हुआ, व्यवस्था का प्रेमी, जलों का मित्र ! कृपया बतलाइये कहां वह उत्पन्न हुआ ? कहो कहां से वह यहां आया ?)

आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः।
घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपं तस्मै वाताय हविषा विधेम ।।
(१०.११८-४)

(देवताओं की आत्मा और विश्व की सन्तान यह देव अपनी रुचि की अनुसार भ्रमण करता है, उसका शब्द सुनाई देता है किन्तु उसकी आकृति कभी दिखलाई नहीं देती। इस समय अब हमें इस वात देव की छवि द्वारा पूजा करनी है।)

पर्जन्य

अन्तरिक्ष का पर्जन्य नामक एक अन्य वर्षा का देवता है, जिनका अभिमन्त्रण केवल तीन सूक्तों में किया गया है और ऋग्वेद में जिनका उल्लेख लगभग ३० बार आया है। कतिपय अनुच्छेदों में अब तक नाम का सामान्य अर्थ है बर्साती बादल। इसलिए मानवीकरण का सम्बन्ध सर्वदा बर्साती झंझावात से हो जाता है जिसमें बर्साती बादल स्वयं मोटे स्तनों के ऐन, दोहनपात्र, मसक बन जाते हैं। प्रायः एक बल से इसकी तुलना की जाती है और पर्जन्य चारित्रिक रूप में वर्षा प्रवाहित करने वाला बन जाता है। उसकी कार्यशीलता का वर्णन बहुत ही स्पष्ट रूप में प्रयत्न पूर्वक किया गया है (सू. ५.८३)।

वि वृक्षान् हन्त्युत हन्ति रक्षसो
विश्वं बिभाय भुवनं महावधात् ।
उतानागा ईषते वृष्ण्यावतो
यत्पर्जन्यः स्तनयन् हन्ति दुष्कृतः ।। (५.८३-२)

(वह वृक्षों पर प्रहार कर पृथ्वी पर गिरा देता है, दानव नाविकों का विनाश करता है । शक्तिशाली कड़कन युक्त वज्र को अपने हाथ में धारण करने वाले उस पर्जन्य से समस्त संसार डरता है । निर्दोष व्यक्ति स्वयं ही उस प्रबल देव के सामने से भाग जाता है जिस समय पर्जन्य देव दहाड़ते हुए दुराचारी व्यक्तियों का विनाश करते हैं ।)

रथीव कशयाश्वाँ अभिक्षिपन्
नार्विदूतान् कृणुते वर्ष्याँअह ।
दूरात् सिंहस्य स्तनथा उदीरते
यत्पर्जन्यः कृणुते वर्ष्यं नभः ।। (५.८३-३)

(कोड़ों से अपने घोड़ों को हांकने वाले रथवाहक (सारथी) के समान वह वर्षा के सन्देशवाहकों को नियन्त्रित करने में कारण बनता है । बहुत दूर से सिंहनाद प्रतिध्वनित होता है जबकि पर्जन्य वातावरण को वर्षा से भर देता है ।)

प्र वाता वान्ति पतयन्ति विद्युत
उदोषधी जिह्‌ते पिन्वते स्वः ।
इरा विश्वस्मै भुवनाय जायते
यत्पर्जन्यः पृथिवीं रेतसावति ।। (५.८३-४)

(वायु तीव्रता के साथ बहने लगती है, पृथ्वी पर बिजली की चमक पूर्ण रूप से भर जाती है । औषधियों से अंकुर फूटकर ऊपर को बढ़ने लगते हैं । प्रकाश का क्षेत्र (व्योम तल) नमी के प्रवाह से भर जाता है । समस्त संसार के लिए पोषक तत्त्व बाहुल्य के साथ उद्‌भूत हो जाते हैं । जब पर्जन्य पृथ्वी के अन्दर बीज के उद्भव और वृद्धि में शीघ्रता करता है ।)

अभि क्रन्द स्तनय गर्भमा धा
उदन्वता परि दीया रथेन ।
हतिं सु कर्ष विषितं यञ्चं
समा भवन्तूद्वतो निपादाः ।। ५-८३-७

(गर्जो और दहाड़ो ! प्राणधारक बीजों को स्थापित करो । जल का वहन करने वाले रथ से हमारे चारों ओर उड़ो । तुम्हारे ढीले किए हुए जल चर्म

(मशक) का मुख पृथ्वी की ओर नीचे को झुका दो। अपनी सजलता से ऊंचाइयों और गहराइयों को एक कर दो।)

जल देवता (आपो देवपा)

ऋग्वेद के चार सूक्तों में जलों की देवियों के रूप में स्तुति की गई है। हां मानवीकरण उनकी माताओं, युवती पत्नियों और ऐसी देवियों के प्रतिनिधित्व करने के आगे बिल्कुल नहीं जाती जो यज्ञ में आती हैं और अनुग्रह वस्तुयें प्रदान करती हैं। माताओं के रूप में वे अग्नि को जन्म देती हैं जिसका प्रकाशमय स्वरूप जैसा कि हम देख चुके हैं 'अपांनपात्' अथवा जलों का पुत्र कहलाता है। दिव्यजल अपवित्रताओं को दूर करते हैं और नैतिक अपराधों, अत्याचार जन्य पापों, अभिशापों और मिथ्या भाषणों से शुद्धिकरण के लिए भी उनसे प्रार्थना की जाती है। वे (जल) औषधियों, रोगों से निर्मुक्ति लम्बे जीवन और अमरता को भी प्रदान करते हैं। सोम जलदेवियों के मध्य उसी प्रकार आनन्दित होते हैं जैसे तरुण पुरुष रमणीय रमणियों में आनन्द लेता है। वह उनके पास एक आशिक के समान जाता है। जलदेवियाँ ऐसी सुन्दरियां हैं जो तरुण के सामने स्वयं झुक जाती हैं।

नदी देवता

ऋग्वेद में कतिपय नदियों का मानवीकरण किया गया है और उनकी प्रार्थना की गई है। एक सूक्त (१०-७५) सिन्धु नदी की सविधि अभ्यर्थना करता है जबकि दूसरा (३-३३) विपाश और शतद्रु (व्यास और शतलज) की प्रशंसा में गीत गाता है। जो हो सरस्वती सर्वाधिक महत्वपूर्ण नदी देवी है जिसकी तीन पूरे-पूरे सूक्तों में और साथ ही बहुत से फुटकर मन्त्रों में श्लाघा की गई है। यहाँ मानवीकरण उसकी अपेक्षा बहुत आगे तक जाता है जैसा अन्य धाराओं के विषय में प्रयुक्त हुआ है। किन्तु कवि कहीं भी देवीरूप से नदी के सम्बन्ध को दृष्टि से ओझल नहीं होने देता। वह माताओं में नदियों में और देवियों में सर्वोत्तम है। उसका कभी न चूकने वाला वक्ष (स्तन) हर प्रकार की सम्पन्नता उत्पन्न करता और प्रदान करता है और वह सम्पत्ति, वृद्धि(प्राचुर्य) पोषण और सन्तति प्रदान करता है। एक कवि प्रार्थना करता है कि 'मैं कभी भी उससे दूर अपरिचित क्षेत्रों न जा पड़ूं। आकाश और विशाल पर्वत से यज्ञ की दिशा में उतरने की उससे प्रार्थना की जाती है। इस प्रकार के बर्णन ने ही वेदोत्तर काल को पौराणिक रचनाओं में प्रसिद्ध गंगा की स्वर्गीय उत्पत्ति और अवतरण के सिद्धान्त का सुझाव दिया होगा। यद्यपि ऋग्वेद में सरस्वती एक साधारण नदी देवी है किन्तु ब्राह्मणों में उसका वाणी से एकीकरण कर दिया गया है जो कि बाणी की देवी है और वेदोत्तर पुराणों में वाक् शक्ति और

बुद्धिमत्ता की देवी बन गई और विद्या की अधिष्ठात्री देवी के रूप में पूजी जाती है तथा ब्रह्मा की पत्नी मानी जाती है।

पृथ्वी

पृथु अर्थात् विशाल रूप वाली पृथ्वी शायद ही कहीं द्यौः से पृथक् हुई हो, केवल एक छोटे से तीन मन्त्रों वाले सूक्त (५.८४) में उसकी प्रतिष्ठा एकाकी रूप में की गई है। यहां भी कवि उसके स्वर्गाधिपति की पत्नी के स्वरूप का विवरण देने में चूक नहीं पाता क्योंकि कवि यहां पर देवी को इस प्रकार सम्बोधित करता है—

दृह्लाचिद्या वनस्पतीन् क्ष्मया दर्धष्योजसा।
यत्ते अभ्रस्य विद्युतो दिवो वर्षन्ति वृष्टयः॥

(जो दृढ़ता पूर्वक स्थित है और उगे वन वृक्षों को अपनी शक्ति से सहारा भूमि में देती है (धारण करती है) जबकि तुम्हारे बादलों की बिजली की चमक से आकाश की वर्षा की बाढ़ तुम्हारे ऊपर गिरती है।)

यह मानवीकरण केवल उपक्रम रूप है—क्योंकि देवी की विशेषतायें प्रधानतया भौतिक पृथ्वी पर लागू होती है।

अग्नि

अन्तरिक्ष देवों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण अग्नि देव 'आग के देवता' हैं। वैदिक देवताओं में इन्द्र के बाद दूसरे नम्बर पर ये सर्वाधिक प्रतिष्ठित देवता है जिनकी अभ्यर्थना २०० से अधिक सूक्तों में की गई है। यह केवल स्वाभाविक ही है कि यज्ञीय अग्नि का मानवीकरण ऋषियों का ध्यान अपनी ओर इतना अधिक केन्द्रित कर लेता जो एक ऐसा केन्द्र था जिसके चारों ओर वैदिक कविता घूम रही थी। क्योंकि अग्नि एक प्राकृतिक तत्त्व का नियमित नाम है (लैटिन इग्नि-स) अतएव देवता पर नृतत्व की विशेषताओं का आरोप बहुत ही अल्प है। देवता के शारीरिक अंग भौमिक दृग्गोचर तत्त्व से स्पष्ट सम्बन्ध रखते हैं विशेष रूप से उसके यज्ञीय तत्त्व के विषय में। अग्नि में डाले गए घी के वर्णन में अग्निदेव की पीठ घी की है, उनका मुख घी का है और उनके केश घी के हैं। वे लपटों के केश वाले भी हैं और उनकी पीले रंग की एक दाढ़ी भी है। उसके तीक्ष्ण, चमकीले, सुनहले या लोहे के दांत है और उसके जबड़े जलते हुए हैं। प्रायः उसकी जिह्वा या जिह्वाओं का भी वर्णन किया गया है। प्रायः उसकी तुलना अश्व से की जाती है और कहीं-कहीं सीधे-सीधे उसे अश्व कहा ही गया है क्योंकि देवताओं तक हवि ले जाने के लिए यज्ञ विधि की रथ की धुरी में उसे जोत दिया जाता है। उसकी तुलना प्रायः पक्षी से भी की

जाती है जो कि पंखों वाला है और तेज उड़ान के साथ देवताओं तक सहसा पहुंच जाता है। वह जंगल को अपने तेज दांतों से खा जाता है और चबा जाता है। उसकी चमक उषा या सूर्य की किरणों जैसी है और बरसाती बादलों की बिजली की चमक से उसकी तुलना की जाती है। किन्तु उसका मार्ग और उसके नेमिवृत्त काले रंग के हैं और उसके घोड़े काली रेखायें बनाते हैं। वायु के द्वारा ले जाये जाते हुए वे तेजी से जंगलों में होते हुए दौड़ जाते हैं। वे जंगलों पर आक्रमण करते हैं और पृथिवी के केश कतर देते हैं उसको उसी प्रकार मूँड़ देते है जैसे एक नाई दाढ़ी बना देता है। उसकी लपटें समुद्र की शोर मचाती लहरों जैसी होती हैं। जब वह जंगली वृक्षों पर आक्रमण करता है तब बैल के समान दहाड़ता है। उस समय पक्षी उसके शब्द पर डर जाते हैं। जब घास को निगल जाने वाली उसकी चिन्गारियां उठने लगती हैं। खम्भे को बनाने वाले एक व्यक्ति के समान वह अपने धुयें से आकाश को सहारा देता है और उसकी एक प्रकट उपाधि है—धूमकेतु। वे ऐसे चमकीले रथ में ले जाये जाते हैं जो दो या अधिक घोड़ों द्वारा खींचा जाता है जो या तो लाल या पीले होते हैं और वायु द्वारा हांके जाते हैं। वह देवताओं को बुलाने के लिए उन्हें जोतता है क्योंकि वह यज्ञ का सारथी है।

अग्निदेव की त्रिरूपता

कवि लोग उनके तीन जन्मों, तीन स्वरूपों और तीन आवासों का वर्णन करना पसन्द करते है। वे प्राय: दो अग्निकाष्ठों को रगड़कर अग्नि की दैनिक उत्पत्ति का उल्लेख करते है। ये (अग्नि काष्ठ) उनके माता-पिता हैं जो उसे नवजात शिशु के समान जन्म देते हैं जो पकड़ने में दुष्कर होता है। सूखे काठ से जीवित अग्नि का जन्म होता है। बच्चे का जैसे ही जन्म होता है वह मां बाप को खा जाता है। उसको जन्म देने वाली दस औरतें अंगुलियां हैं जो उन्नत अग्नि उत्पादन के अभ्यास में अरणियों के त्वरित संचालन में प्रयुक्त की जाती है। अग्नि शक्ति का पुत्र कहलाती है क्योंकि ज्वाला प्रज्ज्वलित करने में शक्तिशाली घर्षण आवश्यक होता है। क्योंकि अग्नि प्रत्येक प्रात:काल प्रज्ज्वलित की जाती है अत: उसे प्रात:काल जागने वाला कहा जाता है। इसलिए भी वह देवताओं में सबसे कम आयु का है। किन्तु वह वयोवृद्ध भी है क्योंकि पहला यज्ञ उसने ही सम्पन्न किया था। इसलिए एक ही पद्य में परस्पर विरोधी रूप में वह दोनों रूप में कहा जाता है—प्राचीन भी और अत्यन्त युवा भी।

अग्नि का उद्भव आकाशीय जलों से भी होता है और प्राय: स्वर्ग से लाया हुआ कहा जाता है। पृथ्वी पर, अन्तरिक्ष में और स्वर्ग में उत्पन्न हुआ अग्नि जब तब तीन चरित्रों वाला समझा जाता है। देवों ने उसे तीन प्रकार

का बनाया है, उसके जन्म तीन प्रकार के हैं और उसके तीन आवास या निवास स्थान हैं। सबसे पहले अग्नि स्वर्ग में उत्पन्न हुई, दूसरी बार हम लोगों (मानवों) से और तीसरी बार जलों में उत्पन्न हुई। यह सर्व प्राचीन भारतीय त्रिमूर्ति वैदिक युग की रहस्यात्मक परिकल्पनाओं के आधार के रूप में महत्वपूर्ण है। यह आदर्श मूल रूप सम्भवतः केवल ऋग्वेद के परवर्ती त्रिक सूर्य, वायु और अग्नि का ही नही था जिसे तीनों विश्वों में बांटे गए तीन तत्त्वों के रूप में कहा गया है किन्तु उस त्रिक—सूर्य, इन्द्र और अग्नि का भी मूलरूप है जो यद्यपि ऋग्वेदीय नहीं है फिर भी प्राचीन है। यह भी अत्यधिक सम्भव है कि बाद के हिन्दू त्रिदेव ब्रह्मा, विष्णु, महेश का भी ऐतिहासिक पूर्वज है। अग्नियों के इस त्रिक ने सुझाव दिया होगा और उस विभाजन की व्याख्या भी इससे हो सकती है जिस प्रकार यज्ञ की एकाकी अग्नि को तीन भागों में विभाजित कर दिया गया जोकि ब्राह्मण सम्प्रदाय का आवश्यक लक्षण है।

अग्नि की अनेकता में एकता

भौमिक अग्नियों की प्रचुरता होने से अग्नि के बहुत से जन्म होना भी बतलाया गया है, क्योंकि वह प्रत्येक परिवार में, घर में या आवास में रहता है। अनेक स्थलों पर जलाया हुआ वह केवल एक है। अनेक स्थानों पर बिखरा हुआ वह एक और वही सम्राट् है। और अग्नियां उससे उसी प्रकार जुड़ जाती हैं, जैसे एक वृक्ष से शाखायें। वह विभिन्न दैवी स्वरूप प्राप्त कर लेता है और उसके अनेक नाम हैं। किन्तु उसमें सभी देवता विद्यमान समझे जाते हैं जिनको वह इसी प्रकार घेरे रहता है जिस प्रकार रथ के अरों को चक्रमण्डल घेरे रहता है। इस प्रकार हमें अग्नि के विभिन्न स्वरूपों के विषय में परिकल्पनायें मिलती हैं जो हमें अद्वैत दर्शन की ओर ले जाती हैं—उस एकता के सिद्धान्त की ओर जो दैवी तत्त्व के अनेक रूपों में प्रकटीकरण के सिद्धान्त को आवृत किये हुए है।

अग्नि की अनेक उपाधियां और कार्य

अग्नि एक अमर है जिसने मरणधर्माओं के मध्य निवास ले रखा है। वह निरन्तर मानव आवासों में एक अतिथि कहा गया है और वही एक देवता है जिस पर अनेकशः गृहपति 'घर का स्वामी' की उपाधि लागू की गई है।

यज्ञ का संचालक होने के कारण अग्नि बार-बार दोनों रूपों में कही गई है—एक दूत के रूप में जो स्वर्ग और पृथ्वी के मध्य घूमता रहता है और एक पुरोहित के रूप से। वह वास्तव में बहुत बड़ा पुरोहित है जिस प्रकार इन्द्र महान् योद्धा हैं।

इसके अतिरिक्त अग्नि अपने पूजक का एक शक्तिशाली उपकारक है, जो व्यक्ति उसे बलि प्रदान करता है उसकी देख-रेख वह हजार नेत्रों से करता है। किंतु पूजक के शत्रुओं को सूखी झाड़ियों के समान खा जाता है और द्रोहबुद्धि रखने वालों को प्रहार से उसी प्रकार गिरा देता है जैसे बिजली वृक्षों को नष्ट कर देती है। सभी प्रकार के वरदान उसी से निकलते हैं जैसे शाखायें वृक्ष से निकलती हैं। जब वह सम्पत्ति का द्वार खोलता है सभी सम्पत्तियां उसी में सङ्कुलित हो जाती हैं। वह स्वर्ग से वर्षा देता है और रेगिस्तान में बसन्त बन जाता है। फिर भी जो अनुग्रह वह प्रदान करता है वे प्रमुखरूप में होते हैं—घरेलू कल्याण, सन्तति और सामान्य सम्पन्नता जबकि इन्द्र अधिकतर प्रदान करता है विजय, लूट (विजय का उपहार), शक्ति और यश।

अपने सम्प्रदाय की दृष्टि से अग्नि का सम्भवतः सबसे पुराना कार्य है बुरी आत्माओं और विरोधी जादू टोना को जला देना और समाप्त कर देना। ऋग्वेद में प्रारम्भिक युग से यह विचार अब तक बचा हुआ है कि अग्नि के विषय में कहा जाता है कि वह भूत पिशाचों राक्षसों को अपने प्रकाश से भगा देता है और रक्षोहन् 'राक्षसों का नाशक' की उपाधि प्राप्त करता है। यह कार्य किसी भी मूल्य पर किसी अन्य देवता की अपेक्षा अग्नि के चरित्र में अधिक है। यह बात वैदिक सूक्तों और यज्ञों दोनों से प्रकट होती है।

सोम देवता

क्योंकि अग्नि सम्प्रदाय के अतिरिक्त सोमयाग ऋग्वेद की शास्त्रीय विधि में मुख्य विचारणीय विषय है सोम देवता स्वभावतः प्रधान देवताओं में एक है। सम्पूर्ण नवम मण्डल और उसके अतिरिक्त इधर उधर बिखरे हुए कतिपय अन्य सूक्त उसकी प्रशंसा में संलग्न किए गए हैं। इस प्रकार प्रायिक उल्लेख के स्तर से निर्णय करने में वैदिक देवताओं में महत्व के क्रम में सोम तीसरे नम्बर पर आता है। जो कवि सोम के मानवीकरण का वर्णन करते हैं उनकी दृष्टि के सामने निरन्तर सोमलता और उसका रस वर्तमान रहता है जो कवि कल्पना की एक सीमा बना देता है। इसलिए सोम के मानव रूप और उसके क्रियाकलाप के विषय में बहुत कम या कुछ नहीं कहा गया है। नवम मंडल में प्रधान रूप से सोम के विषय में उस समय गाये जाने वाले संमोहन गीतों का वर्णन है जब पत्थर से सोमलता दबाई जाती है और ऊनी चलनी से होकर (छनकर) लकड़ी के बर्तन में गिरती है जिसमें कि अन्तिम रूप से घास के बिछौने पर पेयरूप में प्रदान की जाती है। कवियों का सम्बन्ध मुख्य रूप से

इन व्यवस्थाओं और पद्धतियों से है। उनको वे अस्त-व्यस्त संकीर्ण कल्पनाओं और लगभग असीमित प्रकार के रहस्यात्मक विचारों के बाह्य आवरणों से आवृत कर देते हैं। जब सोम के विषय में वर्णन किया जाता है कि दस महिलायें जो बहनें है या विवश्वत् (उदीयमान सूर्य) की पुत्रियां उसे शुद्ध तथा पवित्र करती हैं तब उसका मन्तव्य दस अंगुलियों से होता है। चमड़े पर टहनियों को पीसने में प्रयुक्त होने वाला पत्थर "गाय के के चमड़े पर उसे चबाता है।"[1] भेड़ की ऊन की चलनी से होकर जाने वाले बहने वाले घड़े या वर्तन में गिरने वाले रस का वर्णन अनेक प्रकार से किया गया है। वर्तनों के जंगल में दौड़ती सोम की धारा को जंगलों में दौड़ती भैंसों जैसा बतलाया गया है। सोम भाण्डों पर स्थायी निवास प्राप्त करने के लिए देवता किसी पक्षी की भांति उड़कर आता है। पीले भूरे देव प्यालों पर ऐसे बैठ जाते हैं जैसे पक्षी वृक्ष पर बैठते हैं। रस जब पानी के साथ वर्तन में मिलाया जाता है तब सोम दौड़कर जलों की गोद में ऐसे ही गिरता है जैसे दहाड़ता हुआ बैल अपने झुंड में मिल जाता है। गायकों द्वारा उत्तेजित किया हुआ वह स्वयं को जल के कपड़ों में ढककर भांड के चारों ओर दौड़ लगाने लगता है। जंगल में खेलते हुए उसे १० महिलायें साफ करती हैं। वह जलों का भ्रूण या बालक है जो (जल) उसकी मातायें कही जाती है। जब पुरोहित सोम में दूध मिलाते हैं तब वे उसे गाय के वस्त्र पहना देते हैं।

भाण्ड या कटोरे में प्रवाहित करने पर सोम रस के द्वारा उत्पन्न किये हुए शब्द का उल्लेख अत्युक्ति पूर्ण भाषा में किया जाता है। एक कवि इस प्रकार कहता है—चलनी पर जो मधुर बिन्दु प्रवाहित होता है वह योद्धाओं के शोर के समान होता है। इस शब्द का वर्णन निरन्तर दहाड़ने, रंभाने या समयानुसार बिजली के गरजने के रूप में किया गया है। इस प्रकार के अनुच्छेदों में सोम की बैल से या तो तुलना की गई है या उसी रूप में बतलाया गया है और दूध के साथ या उससे रहित जलों को गाय कहा गया गया है।

सोम का रंग पीला होने के कारण कवियों द्वारा उसके शारीरिक गुणों का प्रधानयता चमकदार रूप में वर्णन किया गया है। उसकी किरणों का प्रायः उल्लेख किया गया है और उसे सूर्य के साथ मिला दिया गया है।

सोम के आनन्ददायक और शक्तिवर्धक कार्य (प्रभाव) ने उसे स्वर्गीय पेय समझे जाने की ओर प्रवृत्त किया है—वह स्वर्गीय, पेय सदा रहने वाला जीवन (अमरता) प्रदान करता है इसलिए इसे अमृत या अमरतादायक एक घूंट कहा जाता है (जो ग्रीक एम्ब्रोसिया से मिलता जुलता है।) सोम उत्तेजक है जिसने देवों को अमरता प्रदान की। सोम अपने पूजक को उस अनश्वर जगत् में भी

---

१. पत्थर टहनियों को पीसता है मानो वह उन्हें चबाता है।

स्थापित करता है जहां सम्राट् यम निवास करते हैं। जहां सार्वकालिक प्रकाश और कीर्ति है और जो उसे अमरबना देता है। इस प्रकार सोम में स्वभावतः औषधि की शक्ति भी है। एक बीमार व्यक्ति के लिए यह औषधि है और सोमदेव उन सभी को अच्छा कर देता है जो रोगी होते हैं। वह अन्धों को देखने वाला और लंगड़ों को चलने वाला बनाता है।

जब सोम अन्तर्निविष्ट (मनोगत) हो जाता है तब वह वाणी को उत्तेजित करता है जिसको वह इसी तरह प्रेरित करता है जैसे नाविक नाव को। सोम उत्सुक विचारों को भी जागृत करता है और परमात्मा का पूजक कह उठता है—'हमने सोमपान किया है, हम अमर हो गये हैं, हमने प्रकाश में प्रवेश किया है, हमने परमात्मा को जान लिया है।' सोम की मादक शक्ति प्रधानतया और अत्यधिक प्रायिक रूप में इन्द्र के सम्बन्ध में वर्णित की गई है। जिसको वह विरोधी वायव्य दानवों के साथ युद्ध में उत्तेजित करता है।

सर्वाधिक महत्वपूर्ण वनौषधि होने के कारण सोम पौदों का स्वामी या उनका बादशाह कहा जाता है, उसे वनस्पत्ति या 'वन का स्वामी' की उपाधि भी मिलती है।

अवेस्ता हओम विषयक वक्तव्यों की भांति सोम अनेक बार पर्वतों पर उगने वाला वर्णित किया जाता है। इसका वास्तविक मूल उद्गम स्वर्ग समझा जाता है जहां से यह पृथ्वी पर लाया गया है। यह विश्वास सर्वाधिक प्रायिक रूप में सोम लाने वाले श्येन के पौराणिक उपाख्यान में वर्णित किया गया है जो सम्भवतः उस सामान्य वातावरण का पौराणिक उपाख्यान है जोकि बिजली की चमक के पृथ्वी पर उतरने और साथ ही वर्षा के गिरने से बन जाता है।

ऋग्वेद के सबसे बाद के सूक्तों में किसी सीमा तक अस्पष्ट रूप में सोम का चन्द्रमा के साथ एकीकृत रूप में दिखलाया जाना प्रारम्भ हो जाता है। अथर्ववेद में सोम का अनेक बार अर्थ है चन्द्रमा और यजुर्वेद में सोम के विषय में कहा गया है कि सोम की पत्नियों के लिए रहने का स्थान चन्द्रमा में है। ब्राह्मण ग्रन्थों में तादात्म्य सर्व सामान्य है जिसमें व्याख्या की गई है कि चन्द्रमा के क्षीण होने का कारण यह है कि देवता और पितर इसके अमृततुल्य तत्त्व को खा जाते हैं जिससे यह (चन्द्रमा) बना है। इसके अतिरिक्त उपनिषदों में में एक में यह वक्तव्य विद्यमान है कि चन्द्रमा सोम का राजा है जो देवताओं का भोजन है जिसे वे पी जाते हैं। अन्त में वेदोत्तर साहित्य में सोम नियमित रूप से चन्द्रमा का नाम बन गया और जिसके लिए समझा जाता है कि वह देवताओं द्वारा खा डाला जाता है और परिणाम स्वरूप तब तक क्षीण रहता है जब तक कि वह सूर्य द्वारा दुबारा नहीं भर दिया जाता। किसी सीमा तक

ध्यान देने योग्य सोम का चन्द्रमा से सम्मिलन निस्सन्देह अत्युक्तिपूर्ण अभिधान से उद्भूत हुआ जिसमें ऋग्वेद के कवि ने सोम को स्वर्गीय प्रकृति का और प्रकाशमान बतलाया जिसके लिए वे वर्णन करते हैं कि यह अन्धकार को दूर करता है। उसके विषय में वे कभी कहते हैं कि वह जल में फूल जाता है और प्रायः उसके रस का बिन्दु के रूप में वर्णन करते हैं इसलिए उसे इन्दु कहा जाता है। इस प्रकार चन्द्रमा के साथ तुलना सरलता से स्वयं को प्रकट कर देगी। उदाहरण के लिए ऋग्वेद के एक अनुच्छेद में प्यालों में सोम इस प्रकार का दिखलाई पड़ने वाला बतलाया गया है जैसे चन्द्रमा जल में दिखलाई पड़ता है। जिन रहस्यात्मक परिकल्पनाओं के द्वारा सोम काव्य व्याप्त है वे कल्पनायें ही प्रतीकात्मकता को पूरा कर देंगी।

अवेस्ता और ऋग्वेद की तुलना स्पष्ट रूप में प्रकट करती है कि भारत ईरानी युग में पौराणिक और धार्मिक सम्प्रदायों में सोम एक महत्वपूर्ण लाक्षणिक तत्त्व बन चुका था। दोनों में (वेद और अवेस्ता में) इसके पर्वत पर उत्पन्न होने का वर्णन किया गया है जहां से यह पक्षियों द्वारा लाया गया। दोनों में यह पौधों का राजा है। दोनों में यह लम्बा जीवन देने वाला और मृत्यु को हटाने वाला है। दोनों में दबाकर रस निकाला जाता था और दूध के साथ मिलाया जाता था। दोनों में इसका काल्पनिक (पौराणिक) घर स्वर्ग है जहां से यह नीचे पृथ्वी पर लाया गया। दोनों में इसका प्रवाह एक शक्तिशाली देवता बन जाता है। दोनों में स्वर्गीय सोम भौमिक सोम से अर्थात् पेय से देवता पृथक् पहिचान रखता है।[1] समानता इस सीमा तक बढ़ जाती है कि सोम और हओम में कतिपय व्यक्तिगत विशेषतायें भी समान हैं।

भावात्मक देवता

ऋग्वेद काल में विचारों का उद्भव और विकास मूर्त से अमूर्त की ओर बढ़ने की प्रवृत्ति दिखलाता है। इस प्रवृत्ति का एक परिणाम यह हुआ है कि इसमें अमूर्त भावात्मक देवताओं की रचना हुई है यह अवश्य है कि यह प्रवृत्ति अब तक (ऋग्वेद काल तक) विरल है जिसका अधिकांश भाग केवल अन्तिम मण्डल में मिलता है। इनमें कुछ ऐसे हैं जिनमें भाववाचक संज्ञाओं को देवता बना दिया गया है जैसे श्रद्धा अर्थात् विश्वास की अभ्यर्थना एक सूक्त में और मन्यु अर्थात् क्रोध की दो सूक्तों में की गई है। ये भावात्मकतायें परवर्ती वेदों में अधिक बढ़ जाती हैं। इस प्रकार काम अर्थात् 'इच्छा का देवत्व' सबसे पहले अथर्व वेद में दृष्टिगत होता है जिसमें उन बाणों का भी उल्लेख किया गया है जिनसे वह हृदयों को विदीर्ण कर देता है। प्रेम के पुष्प बाण देवता का वह पूर्ववर्ती आगन्ता है जिसका परिचय शास्त्रीय संस्कृत साहित्य में मिलता है। भावात्मकता वर्ग

१. स्वर्गीय सोम देवता (चन्द्रदेव) है और भौमिक सोम पेय है।

अधिक संख्या वाला है जिसमें ऐसे देवता आते हैं जिसका नाम किसी प्रतिनिधि को प्रकट करता है जैसे धातृ अर्थात् उत्पादक या किसी गुण को जैसे प्रजापति या 'जीवों का स्वामी'। वे सीधे भावात्मक प्रतीत नहीं होते किसी-किसी विशिष्ट कार्य या चरित्र के स्वरूप को प्रकट करने वाले विशेषणों से लिये गये मालूम पड़ते हैं जोकि पहले तो एक या अधिक पुराने देवताओं के लिए लागू किए गए थे, अन्त में उन्होंने स्वतन्त्र मूल्य प्राप्त कर लिया। इस प्रकार प्रजापति मूल रूप में सवितृ और सोम जैसे देवताओं का विशेषण था दशम मण्डल के एक परवर्ती पद्य में एक प्रकट देवता बन जाता है जिसमें उत्पादक की विशेषतायें विद्यमान हैं। यह देवता अथर्व वेद और वाजसनेयी संहिता में प्रायः ब्राह्मण ग्रन्थों में नियमित रूप से प्रमुख देवता स्वीकृत किया गया है जो देवताओं का पिता है। सूत्रों में प्रजापति का तादत्म्य ब्रह्मा से स्थापित किया गया है जो वेदोत्तर काल में उनके उत्तराधिकारी हैं।

दशम मण्डल का एक सूक्त उस अद्भुत पद्धति का एक मनोरंजक निदर्शन प्रस्तुत करता है जिससे इस प्रकार के भावात्मक तत्व कभी कभी मूर्त व्यक्ति बन जाते हैं। यहां उनमें एक पद्य है—

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृह्ला येन स्वः स्तभितं येन नाकः।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

(जिसके द्वारा शक्तिशाली आकाश, इतनी दृढ़ पृथिवी प्रकाश का क्षेत्र और स्वर्ग मण्डल स्थिर किये गये, जो अन्तरिक्ष में सीमातीत क्षेत्र को पार करता है ऐसे किस देवता की हम यज्ञ द्वारा पूजा करें।)

यहां चौथी पंक्ति निरन्तर आने वाले नौ पद्यों का ध्रुव पद है—जिसमें उत्पादक देवता अज्ञात के समान उद्धृत किया गया है और उसके लिए 'क' अर्थात् 'कौन' इस प्रश्नवाचक सर्वनाम का प्रयोग किया गया है। यह 'क' बाद के वैदिक साहित्य में उत्पादक प्रजापति के केवल एक विशेषण के रूप में ही प्रयुक्त नहीं किया गया किन्तु प्रधान पुरुष (परमात्मा) का स्वतन्त्र नाम भी बन गया।

भावात्मक चरित्र का एक देवता बृहस्पति या 'प्रार्थनाओं का स्वामी' है जो ऋग्वेद के प्राचीनतम और उसी प्रकार परवर्ती भागों में भी विद्यमान है। राथ तथा दूसरे प्रतिष्ठित वैदिक विद्वान उन्हें उपासना (प्रेम) का सीधा मानवीकरण मानते हैं। जो भी हो वर्तमान लेखक की सम्मति में वह अग्नि के यज्ञात्मक क्रियाकलापों का अप्रत्यक्ष देवीकरण है। अग्नि एक ऐसा देवता है जिसके साथ उसकी अनेक समानतायें हैं। इस प्रकार उसके चरित्र की सर्वाधिक प्रकट विशेषता है उसका पौरोहित्य। अग्नि के समान वे इन्द्र के उपाख्यान में लाए

गए और वहां उन्होंने एक सुदृढ़ स्थान प्राप्त कर लिया। इस प्रकार उनका प्राय: इस रूप में वर्णन किया जाता है कि बल नामक राक्षस को नष्ट करने के बाद गायों को हांकते हुए दिखलाये जाते हैं। ब्रह्मा नामक स्वर्गीय पुरोहित के रूप में (कार्य करने के कारण) बृहस्पति देव ब्रह्मा का पूर्व रूप रहे हैं ऐसा ज्ञात होता है ये ही ब्रह्मा बाद की त्रिमूर्ति में प्रधान हैं। किन्तु वेदोत्तर पुराणों में स्वयं बृहस्पति का नाम भी जीवित रहा है जो कि एक मुनि हैं, देवताओं के गुरु हैं और बृहस्पति नामक ग्रह के अधिष्ठाता हैं।

अदिति

एक अन्य भावात्मक और वह भी अत्यन्त विचित्र प्रकार का देवता है देवी अदिति। यद्यपि वह किसी पृथक् सूक्त का विषय नहीं है उसकी प्रतिष्ठा प्राय: सांयोगिक रूप में की जाती है। उसकी दो और केवल दो प्रकट चरित्र-गत विशेषतायें हैं। प्रथमत: वह देवों के एक छोटे वर्ग की मां हैं जिन्हें आदित्य कहा जाता है जिनका प्रधान वरुण है। दूसरी विशेषता है वह अपने पुत्र वरुण की भांति शारीरिक यन्त्रणाओं और नैतिक अपराधों के बन्धनों से छुटकारा दिलाने की शक्ति रखती है। बाद की (दूसरी) विशेषता के साथ उसका नाम भी स्पष्ट रूप में सम्बन्धित है जिसका अर्थ है बन्धन से निर्मुक्ति या स्व-तन्त्रता। ऋग्वेद के कतिपय अनुच्छेदों में अमूर्तीकृत भाव भी अब तक बना रहा प्रतीत होता है। इस प्रकार एक कवि 'सुरक्षा और अदिति के असीमित उपहारों' के लिए प्रार्थना करता है। अमूर्तीभाव के प्रारम्भ की सम्भवत: निम्नलिखित प्रकार से व्याख्या की जा सकती है। आदित्यों के लिए जो अनेक बार 'अदिति के पुत्र' शब्द का प्रकथन किया गया है जब पहली बार प्रयोग किया गया था बहुत अधिक सम्भव है कि उनकी प्रमुख विशेषता प्रकट करने के लिए उसका अर्थ 'निर्मुक्ति के पुत्र' रहा हो, यह भाषागत परिवर्तन के अनुसार ही है जैसी कि ऋग्वेद की पद्धति है। इस सम्बन्ध में प्रयुक्त स्त्रीलिंग शब्द निर्मुक्ति (अदिति) उस पद्धति के अनुसार व्यक्ति परक हो गया होगा जिसकी समता एक से अधिक बार संस्कृत साहित्य में मिलती है। इस प्रकार अदिति जो भारतीय मूल की देवी है कम से कम अपने कतिपय पुत्रों से ऐतिहासिक दृष्टि से कम उमर की है जिनका अनुसन्धान भारत पूर्व युग में पीछे की ओर किया जा सकता है।

देवियां

सब बातों पर विचार करते हुए वैदिक विश्वास के अनुसार देवियां गौण (परापेक्षी) स्थान प्राप्त किये हैं। वे विश्व के शासन में शासक के रूप में शायद

ही कोई भाग लेती हैं। किसी परिणाम को दिखलाने वाली केवल एक देवी उषा है। महत्त्व में दूसरे नम्बर पर सरस्वती है जिसकी श्रणी पुरुष देवताओं में सबसे कम महत्त्व के देवताओं के साथ रखी गई है। पृथ्वी के अतिरिक्त थोड़ी सी देवियों में जिन्हें पूरा सूक्त संबोधित किया गया है एक है रात्रि अर्थात् 'निशा'। वह प्रायः अपनी बहन उषा के साथ युग्म बनाती है वह द्यौः की पुत्री के रूप में सम्बोधित की गई है। वह अन्धकार के रूप में नहीं समझी गई है किन्तु नक्षत्रों से चमकती प्रकाशमती के रूप में मानी गई है। इस प्रकार युग्म देवियों का विभेद बतलाते हुए एक कवि कहता है—'एक स्वयं को नक्षत्रों से सजाती है दूसरी सूर्य के प्रकाश द्वारा सजती है। निम्नलिखित पद्य रात्रि को सम्बोधित किये गए रात्रि सूक्त (१०.१२७) से लिये गये हैं—

रात्री व्यख्यदायती पुरुत्रा देव्य १ क्षभिः।
विश्वा अधिश्रियोऽधित ॥१॥

(रात्रि आ रही हैं, देवी अपनी आंखों से अनेक स्थलों पर चमकती है। सर्वत्र कान्तिमती उस देवी ने अपना शृङ्गार कर लिया है।)

ओर्वप्रा अमर्त्यानिवातो देव्यु१द्वतः।
ज्योतिषा बाधते तमः ॥२॥

(वह अमर देवी दूर दूर विस्तार में घाटियों और ऊंचाइयों को भर देती है। वह प्रकाश से अन्धकार पर अधिकार कर लेती है।)

निरु स्वसारमस्कृतोषसं देव्यायती।
अपेदु हासते तमः ॥३॥

(और अब देवी आ रही है, उसने अपनी बहन उषा को भगा दिया है, दूर दूर तक शीघ्रता के साथ अन्धकार व्याप्त हो गया है।)

सा नो अद्य यस्या वयं नि ते यामन्नविक्ष्महि।
वृक्षे न वसतिं वयः ॥४॥

(इस प्रकार आज देवी हमारे पास आ गई जिसके आने पर हम अपने घरों को तलाश करते हैं जैसे वृक्ष पर पक्षी अपने घोंसले तलाश करते हैं।)

नि ग्रामासो अविक्षत नि पद्वन्तो नि पक्षिणः।
निःश्येनासश्चिदर्थिनः ॥५॥

(ग्रामीण लोग आराम करने चले गए, पशु भी पैरों और पक्षी डैनो से (आराम करने चले गए), भूखा बाज स्वयं शान्त है।)

यावया वृक्यं १ वृकं यवये स्तेनमूर्म्ये।
अथा नः सुतरा भव ॥

(मांदा भेड़िया से बचाकर हमारी रक्षा करो और नर भेड़िया से रक्षा करो, डाकुओं को दूर कर हमारी रक्षा करो। हे देवी रात्रि! अन्धकार के मध्य से होकर हमें सुरक्षित निकाल ले चलो।)

जो देवियां महान् देवताओं की पत्नियां हैं वे और भी अधिक महत्त्वहीन भाग लेती हैं क्योंकि वे स्वतन्त्रचरित्र से सर्वथा रहित होती हैं। निस्सन्देह नाम के अतिरिक्त उनके विषय में शायद ही किसी बात का वर्णन किया गया हो। उनका नाम भी उनके पुरुष सहयोगी के नाम में स्त्री लिंग का प्रत्यय जोड़कर बना लिया जाता है।

युग्मदेवता

वैदिक देवोपाख्यान की विचित्र विशेषता है कुछ सख्यक देवताओं के युग्मों का अभिमन्त्रण जिनके नाम द्वन्द्व समास से जुड़कर स्वरूप प्राप्त करते हैं। इस प्रकार के लगभव एक दर्जन युग्म सम्पूर्ण सूक्त में अभिनन्दित किये गये हैं और कतिपय आधे दर्जन युग्मों का अभिनन्दन फुटकर पद्यों में किया गया है। कहीं अधिक अन्तर के साथ इस प्रकार के सूक्तों की सर्वाधिक संख्या मित्रावरुण को संबोधित की गई है, किन्तु इस प्रकार जुड़े हुए सर्वाधिक प्रायिक रूप में मिलने वाले नाम आकाश और पृथ्वी (द्यावापृथ्वी) के हैं। इसमें बिल्कुल संदेह नहीं हो सकता कि बाद के युग्म (द्यावापृथ्वी) ने इस प्रिय रचना की तुलना प्रस्तुत की। इस युग्म के संयोजन का अनुसन्धान बहुत पीछे भारोपीय काल में किया जा सकता है, इसका संयोजन प्रारम्भिक विचार के लिए इतनी सुपरिचित प्रकृति का प्रतीत हुआ कि वैवाहिक युग्म की पौराणिक कल्पना उसमें रच बस गई जो अब तक आदिवासी जातियों में पाई जाती है।

सामूहिक देवता

इन देव युग्मों के अतिरिक्त एक निश्चित संख्या कमोवेश ऐसे निश्चित देव समूहों की पाई जाती है जो सामान्य रूप से किसी विशिष्ट देवता से सम्बन्धित है। इनमें सबसे अधिक विस्तृत और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मरुत् या 'तूफानी वायु के देवता' हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं यह देवता इन्द्र को उनके युद्ध सम्बन्धी साहसिक अद्भुत कार्यों में निरन्तर साथ देते हैं। यही समूह रुद्रों के नाम से प्रायः उनके पिता रुद्र से सम्बन्धित हो जाता है। आदित्यों का एक छोटा समूह निरन्तर अपनी मां अदिति या अपने प्रधान वरुण के साथ वर्णित किया जाता है। ऋग्वेद के दो अनुच्छेदों में उनकी संख्या

७ या ८ बतलाई गई है जबकि ब्राह्मण ग्रन्थों में और बाद के साहित्य में वह नियमित रूप से १२ है। ऋग्वेद के लगभग ८ या १० सूक्त उनको सामूहिक रूप में संबोधित किए गए हैं। निम्न पंक्तियां एक सूक्त (८.४७) से ली गई हैं जिनमें उनकी सहायता और रक्षा की विशेष प्रार्थना की गई है—

पक्षावयो वथोपरि व्यस्मे शर्म यच्छत ॥१॥ (८.४७.२)

(जिस प्रकार पक्षी अपने रक्षक पंखों को विस्तारित करते हैं उसी प्रकार अपनी रक्षा हमारे ऊपर फैलाओ।)

परिणो वृणजन्नघा दुर्गाणि रथ्यो यथा ॥२॥ (८.४७.५)

(जिस प्रकार सारथि टूटी फूटी सड़क को बचाते हैं उसी प्रकार विपत्तियां सर्वदा हमें बचाती चली जायें।)

युग्मे देवा अपिष्मसि युध्यन्त इव वर्मसु ॥३॥ (८.४७.८)

(हे देवताओ ! आप में आराम से स्थित होते हुए (आपका विश्वास करते हुए) हम उन मनुष्यों की भांति हैं जो कवच के आवरण में लड़ते हैं।)

आदित्या अवहि ख्याताधिकूलादिव स्पशः।
सुतीर्थमर्वतो यथानुनेषथा सुगमनेह ॥४॥ (८.४७.११)

(आदित्यो ! नीचे निगाह कर हमारी ओर देखो उन गुप्तचरों की भांति जो तट की ओर से ध्यानपूर्वक देखते हैं। हमें आनन्ददायक मार्गों पर उसी प्रकार ले चलो जिस प्रकार घोड़े सुगम दुर्गों में ले जाते हैं।)

वसु

एक तीसरा और कहीं अधिक कम महत्त्व का समूह वसुओं का है जो ऋग्वेद में अधिकांश रूप में इन्द्र से सम्बन्धित हैं यद्यपि बाद के वेदों के मूल पाठ में उनका नेता अग्नि बन जाता है। वे एक धुंधले समूह हैं क्योंकि उनकी चरित्रगत विशेषतायें नहीं बतलाई गई हैं, न तो उनके नाम और न उनकी निश्चित संख्या बतलाई गई है। हां ब्राह्मण ग्रन्थों में उनकी संख्या ८ बतलाई गई है। अन्तिम वर्ग में विश्वेदेव या सभी देवता हैं जिनके विषय में साठ सूक्त संबोधित किये गए है। यह यज्ञ सम्बन्धी एक कल्पित समूह है जिसका उद्देश्य है विश्वेदेवों के समस्त क्षेत्र को स्वयं में समेट लेना जिससे जो सूक्त सभी के लिए संबोधित करने के मन्तव्य से लिखे गए हैं उनमें कोई छूट न जाय। कहने में विचित्र मालूम पड़ता है कि कभी कभी सभी देवताओं का एक छोटा समूह माना जाना है जिनकी अभ्यर्थना वसुओं और आदित्यों जैसे दूसरे देवताओं के साथ की जाती है।

निम्न स्तर के देवता

उच्चकोटि के देवताओं के अतिरिक्त ऋग्वेद में एक संख्या ऐतिहासिक

पौराणिक व्यक्तियों की भी है जो अपने पूरे विस्तार में देवत्व प्रकृति को धारण करने वाले नहीं समझे जाते हैं और प्रारम्भ से देवता नहीं है। इनमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ऋभु हैं जो तीन देवताओं का एक समूह बनाते हैं और उनको ११ सूक्तों में संबोधित किया गया है। चारित्रिक दृष्टि से उनमें हस्तकौशल है, प्राय कहा जाता है कि उन्होंने देवत्व की श्रेणी उपार्जित कर ली है और यह उन्होंने अपनी आश्चर्यजनक प्रवीणता के बल पर किया है। उनकी पटुता के ५ अद्भुत कार्य हैं जिनके द्वारा उन्होंने देवत्व प्राप्त किया, उनमें सबसे बड़ा कार्य इस बात में सन्निहित है कि उन्होंने देवताओं के शराब पीने के पान पात्र (उनके पानपात्र) को चार चमकदार प्यालों में बदल दिया। इस विषय में वे देवताओं के शिल्पी त्वष्टा के सफल प्रतिद्वन्दी प्रतीत होते हैं। यह पात्र सम्भवतः चन्द्रमा का प्रतिनिधित्व करता है और चार प्याले उसके स्तर हैं। इसकी योजना वर्ष के रूप में भी की गई है जिसका विभाजन ऋतुओं में होता है। आगे ऋभुओं के विषय में यह भी कहा गया है कि उन्होंने अपने माता-पिता की जवानी नई कर दी जिनका अभिप्राय ज्ञात होता है कि वे द्यावापृथिवी हैं। उनके चमत्कारपूर्ण कार्यों के साथ उनके विषय में यह एक और कल्पित उपाख्यान कहा जाता है जो विशेष रूप से सम्बन्धित प्रतीत होता है। उन्होंने १२ दिन सूर्य के घर में अगोह्य ('जिनको छिपाया नहीं जा सकता') निवास किया। ऋभु के इस सूर्य के घर में निवास का उद्देश्य समस्त सम्भावना के साथ शीतकाल का अयनांश है। १२ दिन का अभिप्राय है बढ़े हुए दिन जोकि ३५४ दिन के चान्द्रवर्ष को लगभग ३६६ दिन के सौरवर्ष की अनुरूपता में लाने के लिए आवश्यक हैं और जब प्रत्यक्ष रूप में दिन बढ़ना प्रारम्भ हो जाता है उसके पहले अधिक दिवसों के रूप में मध्य में रख दिए गए हैं। सब बातों पर विचार करते हुए यह सम्भव मालूम पड़ता है कि ऋभु प्रारम्भ में भौमिक या वायव्य (वेतालादि) अपदेवता थे जिनकी कार्य कुशलता ने उनकी ओर विभिन्न ऐतिहासिक पौराणिक उपाख्यानों को आकर्षित कर दिया जो उनकी चमत्कारिक शक्ति के परिचायक थे।

अप्सरा

ऋग्वेद के कतिपय उपखण्डों में स्वर्गीय जलपरियों का उल्लेख किया गया है जिन्हें अप्सरा (जल में विचरण करने वाली) कहा जाता है जो अनुरूप पुरुषों की पत्नियां हैं जिन्हें अपदेवता[1] गन्धर्व कहा जाता है। कवि के शब्दों

---

१. यह भूत पिशाच बेताल इत्यदि वर्ग का होता है।

में अप्सरायें सर्वोच्च स्वर्ग में अपने प्रेमियों के सामने मुस्कराती हैं। एक की अपेक्षा अनेक अप्सराओं का प्रकरणानुसार कथन किया गया है। परवर्ती वेदों में उनका आवास पृथ्वी तक बढ़ा दिया गया है जहां वे विशेष रूप से पुनः-पुनः वृक्षों पर आती हैं जो (वृक्ष) उनकी वीणा के संगीत और चिह्नों को प्रतिध्वनित करते हैं। ब्राह्मणग्रन्थ उनका वर्णन करते हैं कि वे अत्यधिक सुन्दरता, नृत्य के लिए समर्पण, संगीत और अभिनय के द्वारा पहिचानी जाती हैं। वेदोत्तरकाल में वे इन्द्र के स्वर्ग की वेश्यायें बन जाती है। अप्सरायें केवल गन्धर्वों द्वारा ही नहीं प्यार की जाती हैं किन्तु अवसर के अनुसार मानवों द्वारा भी चाही जाती हैं। ऐसी एक उर्वशी है उसके और उसके भूमिनिवासी पति पुरूरवा के बीच संवाद ऋग्वेद (१०.९५) के कुछ कुछ अज्ञात सूक्त में विद्यमान है। परी से यह कहलाया गया है—

यद्विरूपाचरं मर्त्येष्ववसं रात्रीः शरदश्चतस्रः ॥ (१०.९५.११)

(मानवों के मध्य में मैं अपने दूसरे स्वरूप में घूमती रही और चार शरदों (वर्षों में) पूरे पूरे समय अनेक रात्रियों में निवास किया।)

उसका प्रेमी उससे लौटने की प्रार्थना करता है, किन्तु यद्यपि उसकी प्रार्थना ठुकरा दी जाती है फिर भी वह (टिटोनस के समान) अमरता का वादा प्राप्त करता है। शतपथ ब्राह्मण इस कहानी को अधिक सम्बन्धित और विस्तृत स्वरूप में कहता है। उर्वशी मैत्री सम्बन्ध से प्ररूरवा से जुड़ जाती है जिसका स्थायित्व एक शर्त पर निर्भर करता है। जब यह शर्त गन्धर्वों के कपटोपाय के द्वारा तोड़ दी जाती है, परी तत्काल अपने प्रेमी की दृष्टि से ओझल हो जाती है। पुरूरवा व्याकुल होकर इधर-उधर घूमने लगते हैं जब तक कि अन्त में वह उसे कमलों से भरे एक सरोवर में जलपक्षियों के रूप में अन्य अप्सराओं के साथ देखता है। उर्वशी उसके सामने स्वयं को प्रकट कर देती है और उसकी प्रार्थनाओं के उत्तर में एक वर्ष बीत जाने के बाद एक बार फिर लौटने के लिए राजी हो जाती है। इस पौराणिक घटना ने वेदोत्तर युग में कालिदास के नाटक विक्रमोर्वशी को कथानक प्रदान किया।

गन्धर्व

ज्ञात होता है प्रारम्भ में गन्धर्व एकाकी व्यक्ति समझे गए थे। क्योंकि ऋग्वेद में लगभग सर्वदा ही यह नाम एकवचन में आता है और अवेस्ता में जहां यह कुछ अवसरों पर मिलता है और इसका स्वरूप होता है गण्डरेवा उसमें भी इसका प्रयोग एकवचन में ही होता है। ऋग्वेद के अनुसार यह जल परियों (अप्सराओं) का प्रेमी अपदेवता वायु के अगाध क्षेत्र में निवास करता

है तथा आकाश के गुंवज में सीधा खड़ा होता है। वह स्वर्गीय सोम का भी पितृस्थानीय रक्षक है। और जैसा कि अवेस्ता में उसी प्रकार कभी कभी उसका सम्बन्ध जल से हो जाता है। परवर्ती वेदों में गन्धर्व की एक जाति बन जाती है। उनका अप्सराओं से सम्बन्ध इतना प्रायिक हो जाता है कि वह एक अविच्छेद्य मुहावरा की सीमा तक पहुंच जाता है। वेदोत्तर युग में वे स्वर्गीय गायक बन गए और उनके आवास का सिद्धान्त वायु क्षेत्र में हो गया जो कि 'गन्धर्व नगर' इस कथन में जीवित है जोकि मृगमरीचिका के संस्कृत नामों में एक है।

मनु

प्राचीन अधिसंख्य पुरोहितों और ऋग्वेद के प्रमुख नायकों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं मनु जो प्रथम यज्ञकर्ता और मानवजाति के प्रथमपूर्वज हैं। कवि उनका उल्लेख 'हमारे पिता' के रूप में करते हैं और यज्ञकर्ताओं के लिए 'मनु के व्यक्ति' शब्द का प्रयोग करते हैं। शतपथ ब्राह्मण मानवसन्तति के इतिहास में उन्हें नोह का कार्य करते हुए दिखलाता है।

दूसरे पुरोहित

प्राचीन पुरोहितों का एक वर्ग आंगिरसों का है जो गायों को पकड़ने के उपाख्यान में इन्द्र से निकटता से सम्वद्ध हैं। दूसरी पुराणोपाख्यान की प्राचीन पुरोहितों की जाति भृगुओं की है, जिनको भारतीय प्रोमेथियस मातरिश्वा ने छिपी अग्नि स्वर्ग से लाकर दी और जिनका कार्य था यज्ञ सम्बन्धी अग्नि की पृथ्वी पर स्थापना और उसका प्रसार।

पूर्वज पुरोहितों का संख्या की दृष्टि से निश्चित वर्ग ऋषियों या माहात्माओं का है जिनका ऋग्वेद में विरल रूप में उल्लेख किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में वे बड़े नक्षत्रमण्डल (Great bear) के सात नक्षत्र समझे जाने लगे और कहा गया कि प्रारम्भ में रीछ या भालू थे। यह विचित्र एकरूपता कुछ तो निःसंदेह दोनों विषयों में संख्या की समानता पर लाई गई और कुछ उच्चारण की समानता ऋषि और ऋक्ष के कारण आई जिसके (ऋक्ष के) ऋग्वेद में दोनों अर्थ हैं नक्षत्र और रीछ या भालू।

पशुओं का देवरूप

वेद के पुराणोपाख्यानों और धार्मिक विचारों में पशु अत्यधिक भाग लेते हैं। उनमें देवताओं के रथ खींचने में घोड़ा अत्यधिक सुस्पष्ट है और विशेष रूप से विभिन्न नामों से सूर्य का प्रतिनिधित्व करता है। वैदिक यज्ञों में

घोड़ा सूर्य और अग्नि का प्रतीक समझा जाता था। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद के दो सूक्त (१.१६२-१६३) जिनमें इस विषय का वर्णन है यह भी दिखलाते हैं कि भारतीय प्राचीनता के सर्वाधिक प्रारम्भिक काल में अश्वमेध यज्ञ प्रचलित था।

जो भी हो गाय ऋग्वेद में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इसमें सन्देह नहीं कि इसका कारण उसकी महत्वपूर्ण स्थिति है जो कि इस जीव के सर्वोत्कृष्ट उपयोग का परिणाम है। यह उपयोग भारतीय जीवन के सर्वाधिक दूरवर्ती प्राचीनता से ही बना रहा। सूर्य की किरणें और मेघ गायें हैं। बर्साती बादलों की व्यक्तित्व रचना पृश्नि के नाम पर हुई है जो कि एक गाय है और झंझावात देवता की मां है। रमणीय बादल जिन पर समस्त भारतीय सम्पत्ति निर्भर थी निःसंदेह अनेक रंगवाली गायों का आदिरूप थे जो आनन्द के स्वर्ग में समस्त इच्छाओं को पूरा करते हैं जैसा कि अथर्ववेद में वर्णन किया गया है और जो कि 'प्रचुरता की गाय' (कामदुह) की पूर्ववर्ती हैं। यह (कामदुह) वेदोत्तर कविता में इतना अधिक परिचित है। स्वयं पृथ्वी भी ऋग्वेद के कवि के द्वारा प्रायः गाय के रूप में कही जाती है। यह पशु पहले से ही पवित्रता की विशेषता प्राप्त कर चुका था यह बात इस वास्तविकता से सिद्ध होती है कि ऋषि गाय को अदिति रूप में संबोधित करता है, उसे देवी बतलाता है और सुनने वालों पर प्रभाव जमाता है कि वह मारी नहीं जानी चाहिए। अघ्न्या (न मारी जाने वाली) यह ऋग्वेद में गाय का प्राथिक अभिधान इसी दिशा की ओर संकेत करता है। अवश्य ही अवेस्ता का प्रमाण सिद्ध करता है कि इस जानवर की पवित्रता भारत ईरानी काल तक भी पीछे की ओर जाती है। अथर्ववेद में गाय की पूजा पूर्णरूप से स्वीकृत है जबकि शतपथ ब्राह्मण गोमांस खाने के दुष्परिणामों पर बल देता है। गायविषयक पवित्रता की भावना भारत में आज दिन तक केवल सुरक्षित ही नहीं रही अपितु समय के व्यतीत होने के साथ उसमें अधिक शक्ति आ गई। भारतीय गदर में चर्बी लगे कारतूसों ने जो कार्य किया वह इस व्यक्तव्य को सिद्ध करने का पर्याप्त प्रमाण है। मानव जाति किसी अन्य जीव के प्रति इतनी अभारी नहीं है और यह ऋण सम्पन्न रीति से भारत में पूजा के साथ जैसा चुकाया गया है वह अन्य देशों के लिए अपरिचित है। भारतीय जीवन और विचारधारा में गाय इतनी महत्वपूर्ण वास्तविकता सिद्ध हुई है कि प्रारम्भिक समय से लेकर उसके प्रभाव का पूरा विवरण सभ्यता के इतिहास में एक ध्यान देने योग्य अध्याय बन जायेगा.

ऋग्वेद के हिंस्र जीवों में सर्प सर्वाधिक प्रतिष्ठित है। यह एक ऐसा स्वरूप है जो विश्वास किया जाता है कि इन्द्र के शत्रु शक्तिशाली दैत्य के अन्दर विद्यमान था। सर्प देवजाति का भी एक जीव ज्ञात होता है। इस रूप में इसका स्वरूप अहिबुध्न्य 'गहराई का विशाल सर्प' है जिसका विरल वर्णन किया गया है। समझा जाता है कि यह वायु के महासागर की अतल गहराई में निवास करता है और सम्भवतः सर्प वृत्र के चरित्र के लाभकर पक्ष का प्रतिनिधित्व करता है। बाद के वेदों में सर्पों का वर्णन अर्ध दैवी जाति के जीव के रूप में गन्धर्वों तथा दूसरों के साथ किया गया है और सूक्तों में उनको हवि प्रदान करने का विधान किया गया है। बाद की रचनाओं में हम पहली बार नागों से मिलते हैं जो वास्तव में सर्प हैं और केवल स्वरूप में मानव हैं। वेदोत्तर काल में समस्त भारत में सर्प पूजा प्राप्त होती है। चूंकि ऋग्वेद में इसका कोई चिह्न प्राप्त नहीं होता जबकि यह अनार्य भारतीयों के मध्य विस्तार में फैली हुई है यह विश्वास करने का कारण है कि जब सम्पूर्ण भारत में आर्य लोग फैले जो सर्पों का प्रदेश था। तब उन्हें आदिवासियों में यह सम्प्रदाय घुला मिला प्राप्त हुआ और उन्होंने उनसे इसे ग्रहण कर लिया।

वनस्पतियों की देवरूपता

पेड़ पौधे देवताओं के रूप में अनेकशः पूजे जाते हैं—प्रधान रूप से उस समय जब उनका परिगणन जलों, नदियों, पर्वतों, स्वर्ग और पृथिवी के साथ किया जाता है। एक पूरा सूक्त (१०-९७) भी केवल पौधों (औषधि) की प्रशंसा में व्यय किया गया है। प्रधान रूप से उनकी रोग निवारक शक्ति के विषय में लिखा गया है। बाद के वैदिक मूल पाठों में पौधों को पूजा प्रदान करने का भी उल्लेख है और विवाह के जुलूसों (बारातों) के बीच में पड़ने वाले विशाल वृक्षों की पूजा की जाती थी। ऋग्वेद का एक सूक्त (१०-१४६) जंगल को एक इकाई मानकर उसकी पूजा करता है—उसका व्यक्तीकृत तत्त्व अरण्यानी है जोकि जंगलों का कल्पित अनुकरणरूप अपदेवता है। यहां प्रकृति के मनोरम दृश्य के साथ सायंकालीन अतिमानवीय भयानक दृश्यों और शब्दों का जंगल के अन्धकारमय एकान्त के मध्य वर्णन किया गया है—

उत गाव इवादन्ति उत वेश्मेव दृश्यते।
उतो अरण्यानिः सायं शकटीरिव सर्जति ॥३॥

(चरने वाली गायों के जैसे शब्द सुनाई पड़ रहे है, निवास के घर धुंधले से दृष्टिगत हो रहे हैं और जंगल की परी अरण्यानी सायंकालीन गाड़ी की जैसी कठोर आवाज निकल रही है।)

गामङ्गैष आ ह्वयति दार्वङ्गैषो अपावधीत् ।
वसन्नरण्यान्यां सायमक्रुक्षदिति मन्यते ।।४।।

(कोई व्यक्ति यहां गाय को अपने पास बुला रहा है, दूसरी ओर जंगल के टूटकर गिरने जैसा (भयानक) शब्द हो रहा है । जंगल के घनघोर वृक्षों और झाड़ियों से घिरे मार्ग में जो भी व्यक्ति देर तक रुका रह जाता है वह स्वयं में सोचने लगता है—'मैंने एक आवाज सुनी है ।)

न वा अरण्यानिर्हन्त्यन्यश्चेन्नाभिगच्छति ।
स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय यथकामं नि पद्यते ।।५।।

(अरण्यानी कभी भी किसी को हानि नहीं पहुंचाती जब तक कोई उसके बहुत निकट तक नहीं पहुंच जाता । जब वह जितना चाहती है उतनेमधुर फल खा चुकती है तब वह अपनी इच्छा से विश्राम करने चली जाती है ।)

आञ्जनगन्धिं सुरभिं बह्वन्नामकृषीवलाम् ।
प्राह मृगाणां मातरमरण्यानिमशंसिषम् ।।

(यह अरण्यानी मधुर गन्ध वाली है, सुगन्धित गोंद (आदि औषधियों) से युक्त है, इसमें खाद्य पदार्थ अत्यधिक मात्रा में भरे पड़े हैं फिर भी इसे जोता बोया नहीं गया है, यह जंगली पशुओं की मां है, मैंने प्रशंसा के द्वारा इसका अभिवर्धन किया है ।)

सब बातों पर विचार करते हुए पौधों और वृक्षों के द्वारा तथा जंगल की देवियों के द्वारा ऋग्वेद में जो भाग लिया गया है वह सामान्यतः एक अत्यन्त महत्वहीन (प्रकरण) है ।

स्वरचित वस्तुओं में पूज्यभाव

एक विचित्र धार्मिक स्वरूपचित्रण जो दूरवर्ती प्राचीनता की ओर इङ्गित करता है, वह है समयानुसार उन तत्वों में देवत्व स्थापित करना और उनकी पूजा करना जिनका निर्माण मानव हाथ ने किया जबकि उसके लिए वे आवश्यक माने गये । वे प्रधानतः याज्ञिक उपकरण हैं । इस प्रकार (३.८) सूक्त में याज्ञिक स्तूप की अभ्यर्थना की की गई है (उसे 'वन का स्वामी') बतलाया गया है जबकि दशम मण्डल के तीन सूक्त सोम को तैयार करने में प्रयुक्त होने वाले पीसने वाले पत्थरों का अनुष्ठान विषयक उपगायन करते हैं । हल की कतिपय पद्यों में प्रार्थना की गई है और (६.७५) संख्या का पूरा सूक्त युद्ध के विभिन्न उपकरणों की प्रशंसा में व्यय किया गया है जबकि अथर्व वेद का एक सूक्त (५.२०) ढोल को महत्वपूर्ण बनाता है ।

असुर

ऋग्वेद में इतनी अधिक प्रायिकता से जिन दानवों का वर्णन किया गया है वे दो वर्गों के हैं। एक में देवताओं के नभचर विरोधी हैं। एक देवता के एक दानव से प्रारम्भ किये गये संघर्ष की मान्यता का पुराना दृष्टिकोण है। धीरे-धीरे इसका विकास सामान्य देवताओं और दानवों के एक-दूसरे के प्रतिकूल विरोधी सेनाओं के रूप में संघर्ष के सिद्धान्त में हो गया। ब्राह्मण इस प्रकार नियमित रूप से इस विरोधी पक्ष का प्रतिनिधित्व करते हैं। देवताओं के स्वर्गीय शत्रुओं का एक सामान्य नाम असुर है। इस शब्द का इतिहास विचित्र एवं स्मरणीय है। ऋग्वेद में यह शब्द प्रमुखत: देवताओं की उपाधि है और अवेस्ता में अहुर के रूप में यह जरथोस्त मत में सर्वोच्च देवता को व्यक्त करता है। हां ऋग्वेद के परवर्ती भागों में जबकि यह अकेला प्रयुक्त किया गया है यह दानव का भी अर्थ देता है और अथर्व वेद में तो इस शब्द का केवल यही अर्थ है। 'ईश्वर' का अर्थ प्रकट करने वाला शब्द किस प्रकार 'दानव' का का अर्थ देंने लगा इस बात की व्याख्या करने के लिए लगभग एक असफल प्रयास किया गया है कि जातीय संघर्ष के परिणाम स्वरूप वेदबाह्य जातियों का असुर या देवता वैदिक आर्य के लिए दानव बन जाता है ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार वेद का देव या देवता अवेस्ता का दानव है। इस दृष्टिकोण का समर्थन करने वाला कोई भी परम्परागत प्रमाण नहीं है और इस बात का विरोध इस तथ्य से हो जाता है कि ऋग्वेदीय भारतीय के लिए असुर शब्द सामान्य रूप से केवल स्वर्गीय व्यक्तियों (देवों) के लिए ही लागू नहीं होता था किन्तु देवताओं में सर्वाधिक उत्कृष्ट देव वरुण के लिए विशेष रूप से उपयोजित किया गया है। इसलिए इस शब्द ने स्वयं वेद के ही समय के अन्तराल में अपना अर्थ निश्चित रूप से बदल दिया होगा। यहां यह प्रतीत होता है कि प्रारम्भ से ही इस शब्द में 'निगूढ गहन शक्ति का अधिकारी' यह आशाय विद्यमान रहा होगा और इसलिए तर्कसंगत रूप में विरोधी तत्त्वों के लिए यह लागू किया जाता होगा। इस प्रकार ऋग्वेद के एक सूक्त (१०.१२४) में दोनों (देव और दानव) अर्थ विद्यमान मालूम पड़ते हैं। ऋग्वेदिक काल के अन्त के निकट देवताओं के लिए इस शब्द का प्रयोग प्रसुप्तावस्था में गिरना प्रारम्भ हो गया। इस बात की सभी प्रकार की सम्भावना है कि इस प्रवृति को एक शब्द की आवश्यता ने त्वरित कर दिया होगा ऐसे— शब्द की आवश्यकता ने जो सामान्य रूप से दानवीय विरोधी शक्ति को प्रगट करे। साथ ही साथ लोक प्रतिष्ठित व्युत्पक्ति शास्त्र का नवीन आविष्कार हो चुका था जिसने शब्द

में निषेधार्थक तत्त्व (अ-सुर) देखा और देवतावाचक 'सुर' शब्द के आविष्कार की ओर बढ़ गया जिसका पहला प्रयोग उपनिषदों में मिलता है ।

स्वर्गीय दानवों का एक समूह पणियों का है, जो प्रारम्भिक रूप से इन्द्र के विरोधी हैं । जिसका ठीक अर्थ है 'कृपण' विशेष रूप से याज्ञिक विधि में भेंट देने के विषय में 'कृपण' । शब्द की इस सार्थकता से दानवों का पुराणोपाख्यान परक अर्थ विकसित हो गया जो उन अर्थों से समानता रखता था जो प्रारम्भ में स्वर्ग के कोश का अवरोध परक समझे जाते थे । 'दास' या 'दस्यु' यह शब्द ठीक रूप में कृष्णवर्ण के भारतीय आदिवासियों के लिए लागू था जो सुन्दर वर्ण वाले विजेताओं का विलोम था । इसका प्रायः प्रयोग दानव या पिशाच के अर्थ में होता है ।

कहीं अधिक अन्तर वाला ऋग्वेद के स्वर्गीय दानव का सर्वाधिक प्रकट एकाकी व्यक्तित्व वृत्र का है जिसका स्वरूप सर्प का है और जिसके नाम का अर्थ है 'परिवेष्टन करने वाला' या घेरा डालने वाला । दूसरा दानव, जिसका भी कुछ प्रायिकता से वर्णन किया गया है, बल है । यह पुराणोपाख्यान की गुफा का मानवीकरण है जिसमें गायों को अवरुद्ध रखा गया था । वेदोत्तरसाहित्य में इन दोनों दानवों का एक साथ उल्लेख किया जाता है और वे इन्द्र द्वारा मारे गये भाई माने जाते हैं । इन्द्र के शेष विरोधियों में शुष्णा अर्थात् 'फुसकारने वाला' या 'दाहक' का प्रायः नाम लिया जाता है । कम उल्लेख वाला दानव है स्वर्भानु जिसके द्वारा सूर्य को अंधेरे के द्वारा काटा जाता है । उसका उत्तरवर्ती प्रतिनिधि राहु है जो कि सूर्य और चन्द्रमा को निगलकर ग्रहण लगाने वाला माना जाता है ।

भौमदानव

दानवों के दूसरे वर्ग में भूत, पिशाच, वेताल आदि आते हैं जिनके लिए समझा जाता है कि वे भूमि को घेरे रहते हैं और मानव जाति के वैसे ही विरोधी हैं जैसे असुर देवताओं के । बहुत दूरी तक इस वर्ग का सर्वाधिक सामान्य जातिगत नाम राक्षस है । उनका इसके अतिरिक्त कहीं भी उल्लेख नहीं है, केवल किसी देवता के प्रसंग में उनका उल्लेख किया गया है जिसमें या तो उनको नष्ट करने की प्रार्थना की गई है या उनको नष्ट कर देने की प्रशंसा की गई है । राक्षसों (भूतों इत्यदि) के विषय में विचार है कि वे विभिन्न जानवरों का और उसी प्रकार मनुष्यों का रूप ले लेते है । अथर्ववेद में उनके स्वरूप का अधिक पूर्णता के साथ वर्णन किया गया है जिसमें उन्हें विकृत आकृति वाला अथवा नीले, पीले या हरे रंग का बतलाया गया है । ऋग्वेद के

अनुसार वे मनुष्य और घोड़े के मांस के शोकीन होते हैं जिनमें वे अपने लोभ को सन्तुष्ट करने के लिए उनमें प्रवेश के द्वारा आक्रमण करते हैं। वे रात्रि में चारों ओर घूमने वाले और यज्ञों को अपने आक्रमणों का मुख्य लक्ष्य बनाने वाले समझे जाते हैं। यह विश्वास कि राक्षस यज्ञीय विधि की कार्यावली में हस्तक्षेप करते हैं वेदोत्तरकाल में परिचित बना हुआ है। राक्षसों की एक श्रेणी पिशाचों की है जिसका ऋग्वेद में बहुत कम विवरण दिया गया है किन्तु परवर्ती वेदों में प्रायः उल्लेख है। उनके विषय में वर्णन किया जाता है कि वे मुर्दों को खाते हैं और मरे हुओं से उनका विशेष सम्बन्ध है।

मृत्यु के बाद

ऋग्वेद के सूक्तों में मृत्यु और भावी जीवन के विषय में कम विवरण मिलता है, क्योंकि आशावादी एवं कर्तव्य परायण वैदिक भारतीय वाद की शताब्दियों की अपनी सन्तति परम्परा के असमान दूसरे संसार (स्वर्गादि) के विषय में बहुत कम विचार करता प्रतीत होता है। दूसरे जीवन के विषय में उनके दृष्टिकोण की अधिकांश सूचना अन्तिम मण्डल के और्ध्वदेहिक सूक्तों में मिलती है। वहां जो विश्वास व्यक्त किया गया है वह यह है कि अग्नि या समाधि केवल मनुष्य के शरीर को नष्ट करती है जबकि मृत का वास्तविक व्यक्तित्व अनश्वर है। आत्मा शरीर से पृथक् होती हुई केवल मरण में ही नहीं अपितु मूर्छा में भी समझी गई है (१०.५८)। यहां या परवर्ती वेदों में आत्मा के पुनर्जन्म के सिद्धान्त का कोई निर्देश नहीं है यद्यपि यह छठी शताब्दी ईशापूर्व में दृढ़ रूप में स्थिर हो चुका था जब बौद्ध धर्म का उत्थान हुआ। हां ऋग्वेद का एक अनुच्छेद इस सिद्धान्त का बीज रखता हुआ माना जा सकता है जिसमें आत्मा जल में या पौधों में समविष्ट होती हुई कहीं गई है।

पञ्चम अध्यायः

ऋग्वेद का दर्शन

प्रेतात्मा, पितर एवं यम

वैदिक दृष्टिकोण के अनुसार मृत व्यक्ति की आत्मा पितरों द्वारा चले हुए मार्ग पर शाश्वत प्रकाश के क्षेत्र की ओर बढ़ती है जहां वह सर्वोच्च स्वर्ग में मृत व्यक्तियों के राजा यम के साथ पान गोष्ठी सुख का अनुभव करने वाले और देवताओं के साथ सहभोज का आनन्द लेने वाले पितरों को प्राप्त करता है।

और्ध्वदैहिक सूक्त (१०.१४.७) के एक पद्य में मृत व्यक्ति को इस प्रकार संबोधित किया गया है:—

> प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुः।
> उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं च देवम्॥

(उन प्राचीन मार्गों पर आगे बढ़ो, आगे बढ़ो, उस स्थान को जहां हमारे पूर्वज देहोत्सर्ग के बाद गए हैं। तू वहां तर्पणजल में आनन्द लेने वाले दो देवताओं वरुण देवता और यम को देखेगा।)

यहां एक वृक्ष अपनी शाखायें फैलाये हुए है, जिसकी छाया में यम देवताओं के साथ सोमपान करता है और वीणा तथा संगीत का स्वर सुनाई पड़ता है। स्वर्ग में जीवन अपूर्णताओं या शारीरिक क्षण-भङ्गुरताओं से मुक्त है और सर्वथा आमोद प्रमोदमय है। यह उन भौतिक आनन्दों से भरा हुआ एक जीवन है जिनको कल्पना द्वारा सोचा जा सकता है। यह योद्धाओं का नहीं पुरोहितों का जीवन है। जो योद्धा युद्धभूमि में अपने जीवनदान की विपत्ति स्वीकार कर लेते हैं उनको स्वर्ग की प्राप्ति होती है और सबसे ऊपर उनको जो यज्ञों में उदारतापूर्वक पुरोहितों को दान देते हैं।

यद्यपि अथर्ववेद असन्दिग्ध रूप में भविष्य दण्ड प्राप्ति के स्थान के विषय में विश्वास प्रकट करता है किन्तु ऋग्वेद के विषय में जो प्रारम्भिक थोड़ा-सा प्रमाण हमारे पास है उससे अधिक-से-अधिक इस सिद्धान्त का अनुमान

लगाया जा सकता है कि विश्वास न करने वाले नास्तिक व्यक्ति मृत्यु के बाद भूमितल से नीचे (पाताल में) अन्धकार में डाल दिए जाते हैं। वस्तुत: इस विषय पर ऋषि लोग इतना कम कहते हैं और जो कुछ वे कहते हैं वह थोड़ा भी इतना अस्पष्ट है कि राथ का मत है कि उनका विश्वास था कि मृत्यु के द्वारा दुष्टों की पूर्ण समाप्ति हो जाती है। भविष्य के दण्ड के विषय में प्रारम्भिक भारतीय सिद्धांत धीरे-धीरे यहां तक विकसित हो गया जबकि वेदोत्तर-काल में नरकों की जटिल पद्धति परिश्रम पूर्वक निर्मित कर ली गई।

ऋग्वेद के कतिपय अनुच्छेद पितरों या मृत पूर्वजों के मार्ग का देवताओं के मार्ग से पृथक् रूप में परिचय देते हैं। निःसंदेह इसका कारण यह है कि अन्त्येष्टि की पद्धति यज्ञ की पद्धति से भिन्न दिखलाई देती है। ब्राह्मण ग्रन्थों में पितर और देवता व्यतिरिक्त निवासों में रहने वाले समझे जाते हैं। क्योंकि स्वर्गीय जगत् पितृलोक से विरोधी गुणों वाला है।

जिन पितरों को लाभ की स्थिति प्राप्त हो गई है उनमें प्रमुख यम हैं जिनको तीन पूरे सूक्त सम्बोधित किए गए हैं। उनके विषय में कहा गया है कि वे परलोक को गए हुए पर शासन करते हैं और लोगों को एकत्र करने वाले के रूप में मरे हुए व्यक्तियों को आराम का स्थान देते हैं तथा उसके लिए घर तैयार करते हैं। यम वह व्यक्ति है जिसने दूसरे जगत् के मार्ग की सबसे पहले खोज की—

परेयिवासं प्रवतो महीरनु वहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम्।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषो दुवस्व॥

(१०.१४.१)

(उसके लिए जो शक्तिशाली ऊंचाइयों से होकर चला गया, उसके लिए जिसने गुप्तचर के रूप में बहुतों के लिए मार्ग खोज निकाला, विवश्वत् के पुत्र, लोगों को एकत्र करने वाले राजा यम की यज्ञों द्वारा पूजा करो।)

यद्यपि यम का मार्ग मृत्यु है और परिणाम स्वरूप उन्हें भय की किसी सीमा तक देखा जाना चाहिए फिर भी ऋग्वेद के समय तक वे मृत्यु के देवता नहीं है जैसे कि अथर्ववेद या बाद के पुराणों में हैं। उल्लू और कबूतर समयानुसार यम के रूप में दूत वर्णित किए गए हैं किन्तु उनके नियमित संदेश वाहक दो कुत्ते हैं जो उस मार्ग की रक्षा करते हैं जिस पर मृत लोग दूसरे विश्व की यात्रा में चले हैं।

अन्त्येष्टि के एक सूक्त (१०.१४) में उनके (कुक्कुरों के) सम्बन्ध में मृत व्यक्ति इस प्रकार संबोधित किया गया है:—

अतिद्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शवलौ साधुना पथा ।
अथो पितॄन्त्सुविदत्राँ उपेहि यमेन ये संधमादं मदन्ति ॥१०॥

(अपने सीधे मार्ग पर आगे बढ़ते हुए दौड़ते हुए चले जाओ, दो कुत्तों को पार कर जाओ जो सरमा (देवताओं की कुतिया) के पुत्र हैं, चार आंख वाले हैं चितकबरे हैं । इसके बाद उन वदान्य पितरों के निकट पहुंच जाओ जो यम के साथ संसर्ग में पानगोष्ठी सुख का आनन्द ले रहे हैं ।)

उरूणसावसुतृपा उदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतौ जनाँ अनु ।
तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम् ॥१२॥

(विशाल नाक वाले और भूरे यम के दूत प्राणों के लोभी प्रेतात्माओं के बीच में घूम रहे हैं। वे हमें पवित्र प्राण यहां आज लौटा दें । जिससे हम सूर्य के प्रकाश को देख सकें ।)

संवाद सूक्त

यम शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में कभी-कभी मौलिक 'युग्म' अर्थ में हुआ है और मृतों का स्वामी यम वास्तव में इस चरित्र में सम्पूर्ण (१०.१०) सूक्त में विद्यमान है जिसमें अधिक काव्य सौन्दर्य है, जिसमें उसके और उसकी बहन यमी के बीच संवाद होता है । वह उसके प्रेम को प्राप्त करने का प्रयत्न करती हैं, किन्तु वह उसके आगे बढ़ने को इन शब्दों से रोक देता है—

न तिष्ठन्ति न निमिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति ।
अन्यम् त्वं यम्यन्य उ त्वां परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् ॥
(१०.१०.८)

(देवताओं द्वारा भेजे गए गुप्तचर यहीं सर्वदा घूमते रहते हैं। वे रुककर नहीं बैठते और न तन्द्रा में अपने नेत्र बन्द करते हैं। हे यमी तुम्हारी बांहें किसी और पुरुष का कसकर आलिंगन करें । जिस प्रकार लतायें वृक्ष के चारों ओर (उसी प्रकार) दोनों एक-दूसरे से गुंथ जाते हैं ।)

यह व्यभिचार परक जोड़ा जो कि इस कविता का मुख्य विषय बनाता है यद्यपि ऋग्वेद के उच्चतर नैतिक स्तर का विरोधी होने से अस्वीकृत कर दिया गया फिर भी यह आदिकालीन युग्मों से मानवजाति की उत्पत्ति विषयक पहले से ही प्रतिष्ठित पौराणिक कल्पना का अतिजीवन (परम्परा का अवशेष) अवश्य था इसमें सन्देह नहीं । यह कल्पना निस्सन्देह भारत ईरानी काल से प्रदान की हुई प्रतीत होती है क्योंकि उत्तरवर्ती अवेस्ता साहित्य यिम की बहन के रूप में यिमेह का वर्णन करता है । यम के पिता का नाम भी उस युग पीछे तक जाता है क्योंकि यम अवेस्ता में विवन्ह्वन्त का पुत्र है जैसे कि ऋग्वेद में यम विवस्वत् का पुत्र है ।

जैसा कि पिछले पृष्ठों में वर्णन किया गया है ऋग्वेद की कविताओं के बृहत् कलेवर में देवों और देवीकृत वस्तुओं की प्रार्थनायें विद्यमान हैं। उनके मध्य बिखरे हुए विशेषतः दशम मण्डल में लगभग एक दर्जन पौराणिक खण्ड भी मिल जाते हैं जिनमें अधिकतर संवाद हैं जो अस्पष्ट एवं खण्डित रूप में अभिनय की विधि व्यवस्था की ओर इंगित करते हैं और विगत घटनाओं का विवरण देते हैं। सभी प्रकार की सम्भावनाओं से (कहा जा सकता है कि) मौलिक रूप में उनके साथ वर्णनात्मक गद्य का विन्यास संलग्न था जो दर्शकों के सामने अधिक स्पष्टता से परिस्थिति की व्याख्या करता था। किन्तु जब इन कविताओं को ऋग्वेद के संकलित सूक्तों में सन्निविष्ट कर दिया गया तब वे गद्य भाग लुप्त हो गए। इस वर्ग के सूक्तों में एक (४.४२) में इन्द्र और वरुण के बीच परस्पर संवाद है जिसमें इन मूर्धन्य देवताओं में प्रत्येक अपनी प्रमुखता का दावा प्रस्तुत करता है। दूसरा सूक्त (१०.५१) एक के बाद दूसरे अलग-अलग पद्यों में क्रमशः वरुण और अग्नि का संवाद है। इसमें काव्य गुण अत्यधिक मात्रा में है और परिस्थिति का चित्रण स्पष्ट रूप में हुआ है। इसके बाद ही दूसरा सूक्त (१०.५२) आता है जिसमें देवताओं और अग्नि का संवाद है। अग्नि यज्ञ का अधिकार लेने के कारण श्रान्त हो चुका है किन्तु अन्त में अपने कर्तव्यों का परिपालन जारी रखने के लिए राजी हो जाता है।

एक अद्भुत किन्तु नीरस और अस्पष्ट सूक्त (१०-८६) में इन्द्र और उसकी पत्नी इन्द्राणी के मध्य इस विषय पर संवाद है कि एक बन्दर ने इन्द्राणी के क्रोध को उत्पन्न किया है। एक अधिक सौंदर्य वाले सूक्त (१०-१०८) में परिस्थिति की प्रस्तुति अधिक स्पष्टता से की गई है जिसमें इन्द्र की सन्देशवाहिका सरमा चुराई हुई गायों के मार्ग को पार कर पणियों से गायों को लौटाने के लिए दावा प्रस्तुत करती है। एक दूसरा सूक्त जिसका पहले उल्लेख किया ही जा चुका है, उर्वशी और पुरुरवा के पुराणोपाख्यान को लेकर लिखा गया है। संवाद उस क्षण होता है जब अप्सरा अपने मानव प्रेमी को सर्वदा के लिए छोड़ जाने ही वाली है। इस उपाख्यान में अभिरुचि लिए जाने की एक अच्छी मात्रा संलग्न है—केवल इसलिए नहीं कि भारत यूरोपीय प्रेम कथाओं में यह सबसे पुरानी है किन्तु इसलिए भी यह एक ऐसा उपाख्यान है जिसका भारतीय साहित्य में लम्बा इतिहास है। यम और यमी का संवाद जैसा कि हम देख चुके हैं इससे भी पुराने आख्यान पर आधारित है। ये पुराणोपाख्यान परक गीत यदि हमें इनके लिए इस शब्द के प्रयोग करने का अधिकार है, ये परवर्ती युग के नाटकीय और महाकाव्यात्मक कविता का पूर्वाभास हैं।

दूसरे विषय—मन्त्र तन्त्र

सूक्तों की बहुत थोड़ी संख्या, सब मिलाकर कठिनाई से तीस से अधिक सूक्त ऋग्वेद में देवों को या देवत्व प्राप्त वस्तुओं को सम्बोधित नहीं किए गए हैं। लगभग एक दर्जन कवितायें जो अधिकांश रूप में एकमात्र १०वें मण्डल में ही विद्यमान हैं जादूगरी के सिद्धान्तों से सम्बन्धित हैं और इसलिए यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि वे अथर्व वेद के विषय क्षेत्र में आते हैं। दो छोटे-छोटे सूक्त (२-४२, ४३) शकुन विज्ञान के क्षेत्र में आते हैं। शकुन विज्ञान विषयक दो पक्षियो से मंगल कारक शब्द उच्चारण करने की प्रार्थना की गई है। दूसरे दो में अभिचार मन्त्र आए हैं जो विषैले कीड़ों के प्रतिकूल(१.१९१) और यक्ष्मा के प्रतिकूल (१०.१६३) प्रेरित किए गए हैं। आसंन मृत्यु की गोद में पड़े हुए एक व्यक्ति की जीवन रक्षा के लिए दो रक्षा सूक्त (१०.५८ और ६०.७ से १२) हैं। बाद वाले सूक्त से पद्यों का एक जोड़ा एक नमूने का कार्य करेगा–

यथा युगं वरत्रया नह्यन्ति धरणाय कम्।
एवा दाधार ते मनो जीवातवे न मृत्युवेऽथो अरिष्टतातये ॥
(१०.६०.८)

(ठीक उसी प्रकार जैसे जुऐ को वे चमड़े के पटटे से कसकर बांध देते हैं जिससे वह उसे रोके रहे, इसी प्रकार मैंने अब तुम्हारी आत्मा को मजबूती से जकड़ दिया है जिससे तुम जीवित रहो, मरो नहीं, शीघ्र ही पीड़ा रहित अच्छे हो जाओ।)

न्यग्वातोऽव वाति न्यक्तपति सूर्यः।
नीचीनमघ्न्या दुहे न्यग्भवतु ते रपः ॥(१०.६०.११)

(वायु के झोंके नीचे की ओर को बहते हैं, जलती हुई सूर्य की किरणें नीचे की ओर को निकलती हैं, गाय से दूध की धारायें नीचे को गिरती हैं, इसी प्रकार तुम्हारा रोग नीचे की ओर को चले।)

यहां एक कविता से एक पद्य है जिसका मन्तव्य संमोहन मन्त्र द्वारा निद्रा को प्रोत्साहित करना है—

य आस्ते यश्च चरति यश्च पश्यति नो जनः।
तेषां सं हन्मो अक्षाणि यथेदं हर्म्यं तथा ॥ (७.५५.६)

(पुरुष जो बैठता है जो चलता है और वह पुरुष जो घूरकर हमारी ओर देखता है अब हम उन सबकी आंखें उसी प्रकार बन्द करते हैं जिस प्रकार हम अपने निवास स्थान के घर को बन्द करते हैं।)

इस निद्रा गीत के प्रथम तीन पद्यों की समाप्ति इस ध्रुव से होती है—("नि षु स्वप" अर्थात् तुम गहरी नींद सो जाओ।)

एक तान्त्रिक मन्त्र (१० १८३) का उद्देश्य है सन्तान प्राप्त करना जबकि दूसरे (१०.१६२) सन्तान को नष्ट करने वाले राक्षस के प्रतिकूल प्रेरित किया गया है। जादू का एक मन्त्र (१०.१६६) का उद्देश्य शत्रुओं का विनाश है हम आगे बढ़कर ऐसा तांत्रिक मन्त्र (१०-१४५) प्राप्त करते है जो एक स्त्री के विषय में हैं जो अपनी सौतों को अपने पति के प्रेम से दूर हटाना चाहती है। उसी के परिशिष्ट रूप में एक स्त्री का विजय गीत (१०.१५९) बनाया गया है जो अपने उद्देश्य में सफल हो गई है—

उदसौ सूर्यो अगादुदयं मामको भगः।
अहं तद्विद्वला पतिमभ्यसाक्षि विषा सहिः ॥११॥

(सूर्य उधर ऊपर को उठ रहा है, उसी प्रकार हमारा भाग्य भी अब बढ़ रहा है अब विजयनी कला से हमने अपने पति पर विजय प्राप्त कर ली है।)

मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्।
उताहमस्मि संजया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः ॥३॥

(मेरे पुत्र इस समय शक्तिशाली योद्धा हैं, अब मेरी पुत्री राजकुमारी है और मैंने स्वयं आज की विजय प्राप्त कर ली है, मेरे पति के हृदय में मेरा नाम सबसे ऊपर है।)

समजैषमिमा अहं सपत्नीरभिभूवरी।
यथाहमस्य वीरस्य विराजानि जनस्य च ॥५॥

(मैंने इन सौतों को पराजित कर दिया है, उन सबकी अपेक्षा में अधिक उत्तम बनकर बढ़ गई हूं कि मैं इस वीर पुरुष पर और उससे सम्बन्धित सभी लोगों पर शासन कर सकती हूं।)

मण्डूक सूक्त

बाद के एक सूक्त (७.१०३) के विषय में जो कि पूर्ण रूप से धर्मनिरपेक्ष शैली का है, उसके प्रारम्भिक उद्देश्य के विषय में कुछ सन्देह है। वर्षाकाल के प्रारम्भ में मेंढकों के जगाने का वर्णन सार्थक शक्ति के साथ किया गया है जो कि निस्सन्देह उन लोगों के द्वारा अत्यधिक पसन्द किया जाएगा जो भारत में रह चुके हैं। कवि मेंढकों के रटने की कलकल की तुलना सोम के द्वारा आनन्दित हुए ब्राह्मणों के मन्त्रगान और विद्यालय में अध्यापक के शब्दों को दुहराने वाले शिष्यों के शोर-शराबे से करता है—

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः ।
वाचं पर्जन्य जिन्वतां प्र मण्डूका अवादिषुः ।।२।।

(एक वर्ष तक मौन होकर आराम करते हुए जैसे मानो व्रत धारण करने वाले ब्राह्मण हों। मेंढकों ने अपनी आवाज को ऊंचा उठाया, जब वादल आ गया तब वे उत्तेजित हो गये ।)

यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः।
सर्वं तदेषां समृधेव पर्वं यत्सुवाचो वदथनाध्यप्सु ।।५।।

(जब एक किसी अन्य की आवाज को दोहराता है जैसे वे शिष्य जो अपने अध्यापक का पाठ पढ़ते हैं तब तुम्हारा प्रत्येक अंग फूलता हुआ मालूम पड़ता है जैसे ही तुम जल के ऊपर अपने रटने से वाचाल बन जाते हो ।)

ब्राह्मणासो अतिरात्रे न सोमे सरो न पूर्णमभितो वदन्तः ।
संवत्सरस्य तदहः परिष्ठ यन्मण्डूका प्रावृषीणं बभूव ।।

(जिस प्रकार ब्राह्मण लोग एक विशाल सोम पानोत्सव में एक बहुत बड़े ऊपर तक भरे हुए सोमपात्र के चारों ओर बैठते हैं और वार्तालाप करते हैं इसी प्रकार तुम लोग पूरे वर्ष में इस दिन को पवित्र करने और इसका महोत्सव मनाने के लिए सरोवर में चारों ओर एकत्र हो जाते हो जब वर्ष का यह दिन वर्षाकाल को ले आता है।)

ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्म कण्वन्तः परिवत्सरीणम् ।
अध्वर्यवो घर्मिणः सिष्विदाना आविर्भवन्ति गुह्या न केचित् ।।८।।

(ये ब्राह्मण अपने सोम के साथ अपनी आवाज ऊंची करते हैं। ये अपनी वार्षिक पूजा नियमित समय पर कर रहे हैं और ये अध्वर्यु पानपात्र लिए हुए पसीने से तर हो रहे हैं, ये पुरोहित इस दृश्य को देखने आते हैं और कोई छिपा नहीं है।)

देवहितिं जुगुपुर्द्वादशस्य ऋतुं नरो न प्रमितन्त्येते ।
संवत्सरे प्रावृष्यागतायां तप्ता घर्मा अश्नुवते विसर्गम् ।।९।।

(उन्होंने देवताओं के भेजे हुए १२ महीने के आदेश की रक्षा की और ये लोग ऋतुओं की कभी उपेक्षा नहीं करते। वर्ष में जब वर्षाकाल का प्रारम्भ होता है वे धर्म के वर्तन जो तप चुके थे अब छुटकारे का आनन्द ले रहे हैं।)

यह कविता की व्याख्या प्रायः ब्राह्मणों के उपहास उड़ाने के लिए लिखी हुई मानकर की गई है। यदि वास्तव में इसका अभिप्राय यही है तो हमें यह विचार करने में कठिनाई हो रही है कि ऋग्वेद जैसे संकलन में यह किस प्रकार प्रवेश पा सकी। यदि ऋग्वेद पूरा का पूरा पुरोहितों द्वारा नहीं भी लिखा गया

तो भी निश्चितरूप से इसका संकलन पुरोहितवर्ग द्वारा ही किया गया। ब्राह्मण लोग इस काव्य के वास्तविक अभिधेय से अपरिचित नहीं होंगे। दूसरी ओर वैदिक भारतीय के लिए ब्राह्मणों से मेंढकों की तुलना परिहास को ही अभिव्यक्त करे यह आवश्यक नहीं है। ऋग्वेद की शैली से जो विद्यार्थी परिचित हैं वे जानते हैं कि बहुत सी उपमायें ऐसी हैं कि यदि हम उनका प्रयोग करें तो उनसे घृणा या उपहास की ध्वनि निकलेगी, किन्तु प्राचीन भारतीय कवियों द्वारा उनका प्रयोग चित्रण की स्पष्टता और सुन्दरता के लिए किया गया है। क्योंकि अन्तिम पद्य में मेंढकों से सम्पत्ति और दिनों की लम्बाई प्रदान करने की प्रार्थना की गई है यह अधिक सम्भावित है कि यहां हमें मेंढकों की श्लाघा और स्तुति मिलती है जिनके विषय में विश्वास किया जाता था कि उनमें वर्षा लाने की जादुई शक्ति है।

व्यवहारिक-सूक्त

अब लगभग २० सूक्त शेष रह जाते हैं जिनका विषय कमोवेश ऐहलौकिक स्वभाव का है। उनके वर्णनीय विषय हैं—सामाजिक रीतिरिवाज, आश्रयदाताओं की उदारता, नैतिक प्रश्न, पहेलियां और समस्यायें तथा विश्वोत्पत्ति विषयक विचार। उनमें कुछ भारतीय विचार धारा और सभ्यता के इतिहास की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। क्योंकि सामाजिक व्यवहार भारत में सर्वदा धर्म द्वारा अनुशासित रहा है यह स्वाभाविक ही है कि उनके विषय में लिखी हुई कविताओं में धार्मिक और पौराणिक रंग विद्यमान हों।

विवाह सूक्त

इस विषय की सर्वाधिक ध्यान देने योग्य लम्बी कविता विवाह सूक्त (१०-८५) है जिसमें ४७ मन्त्र हैं। इसमें कविता की एक रूपता की कमी है, यह पद्यों के वर्गों में विवाह विधिओं का वर्णन करता है जो ढीले रूप में एक में जोड़ दिये गये हैं। प्रारम्भिक ५ पद्यों (१ से ५) में स्वर्गीय सोम की चन्द्रमा से एकरूपता व्यञ्जना वृत्ति में (ढके रूप में) बतलाई गई है। इसके बाद दूसरे (६ से १७ तक) पद्यों में सोम अर्थात् चन्द्रमा का सूर्यरमणी सूर्या के साथ विवाह विषयक कल्पितोपाख्यान का वर्णन है। दूसरे स्थान पर उसके परिणेता (पति) अश्विन् यहां निम्न स्तर की योग्यता वाले पुरुष प्रतीत होते हैं जो वर (सोम) की ओर से पिता सूर्यदेव से उनकी पुत्री सूर्या का हाथ सविनय मांगते हैं। सविता स्वीकृति दे देते हैं, अपनी पुत्री को जो स्वयं इच्छुक वधू है उसके पति के घर को दो पहिओं वाले ऐसे रथ पर भेज देते हैं जो सेमर या रेशमी रुई के वृक्ष की लकड़ी से बनाया गया है, किंशुक के लाल फूलों से

सजा हुआ है और दो सफेद बैलों द्वारा खींचा जाता है ।

तब सूर्य और चन्द्रमा का जो मानव विवाह के आदर्श है अपृथक्करणीय जोड़ी के रूप में वर्णन किया गया है (१८, १६)

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीळन्तो परियातोऽध्वरम् ।
विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायते पुनः ।।१८।।

(वे अपनी रहस्यमयी शक्ति के द्वारा क्रम से (एक दूसरे के बाद) घूमते हैं । खेलने वाले बच्चों के समान वे यज्ञ के चारों ओर घूमते हैं । दो में एक सभी जीवित प्राणियों को देखता है और दूसरा ऋतुओं को व्यवस्थित करते हुये पुनः उत्पन्न होता है ।)

नवो नवो भवति जायमानोऽह्नां केतूरुषसामेत्यग्रम् ।
भागं देवेभ्यो विदधात्यायन् प्रचन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः ।।१६।।

(सर्वदा नया नया ही, पुन उत्पन्न होकर वह बढ़ता है । वह उषाकाल के सामने चलता है जैसे दिवसप्रकाश का एक सूचक चिन्ह हो । वह देवताओं की ओर आते हुए उनके भाग का बटवारा कर देता है । चन्द्रमा मनुष्य की सत्ता को विस्तारित कर देता है ।)

तब वरयात्रा पर आशीर्वादों की आशंसा की जाती है और यह आकांक्षा व्यक्त की जाती है कि नवविवाहित दम्पत्ति बहुत अधिक सन्तान प्राप्त करें और सम्पन्नता, दीर्घजीवन और रोगों से निर्मुक्ति का आनन्द लें । (२०-३३)

बाद के दो पद्य (३४-३५) में वधू वस्त्रों का कुछ अस्पष्ट विवरण विद्यमान है, उसके बाद दूसरे ६ पद्य (३६-४१) विवाह विधिओं के विषय में पकथन है जो कि फिर सूर्या से विवाह का सम्बन्ध सामने ले आता है । यहां वर वधू को इस प्रकार संबोधित करता है –

गृम्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः ।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ।।३६।।

(हम तुम्हारा हाथ पकड़ रहे हैं कि जिससे हमें अच्छा सौभान्य प्राप्त हो, कि मुझ पति के साथ तुम वृद्धावस्था प्राप्त करो । भग अर्यमा, सविता, पुरन्धि इन देवताओं के द्वारा मेरे घर में भाग लेने के लिए मुझको तुम प्रदान की गई हो ।)

इसी समय अग्निदेव को भी आमन्त्रण किया जाता है—

तुभ्यमग्ने पर्यवहत्सूर्यां वहतुना सह ।
पुनः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह ।।

(हे अग्नि ! प्रकाशमान सूर्या को पहले उन लोगों ने वधूसमूह के साथ तुम्हारे समक्ष उपस्थित किया, इसलिये अब अपनी बारी में पतिओं को पत्नी प्रदान करो और साथ ही उन्हें सन्तति परम्परा का आशीर्वाद दो ।)

उपसंहारात्मक पद्य (४२ से ४७) नवविवाहित जोड़े के लिए कहे जाने वाले आशीर्वाद है जो उस समय दिये जाते हैं जब वधू अपने भावी घर में आती है—

इहैव स्तं मा वियोष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ॥४२॥

(यहीं रहो, वियुक्तमत हो, विस्तार को अपने पुत्र और पौत्रों के साथ खेलते हुए और अपने ही घर में आनन्द भोगते हुए जीवन के लिए दिए हुए पूरे विस्तार को पूरा करो।)

पूरे सूक्त का अन्तिम पद्य वर द्वारा कहा जाता है—

समञ्जन्तु विश्वे देवा समापो हृदयानि नौ।
सम्मातरिश्वा सन्धाता समुदेष्ट्री दधातु नौ ॥४७॥

(सभी देवता हम दोनों को एक दूसरे के साथ मिलायें। अब जल हमारे हृदयों को जोड़ दें। मातरिश्वा और सर्वस्व प्रदान करने वाली धात्री हमें एक साथ मिला दें।)

और्ध्वदेहिक सूक्त

५ सूक्त हैं जो सभी अंतिम मंडल (१०.१४.१८) में हैं और जो कमोवेश और्ध्वदैहिक क्रिया से संबंध रखते हैं। हां उनमें एक को छोड़ अन्य सभी में प्रधान-रूप से भावी जीवन से सवद्ध देवों की अभ्यर्थना की गई है। पहला (१४वां) यम को संबोधित किया गया है, दूसरा पितरों को, तीसरा अग्नि को और चौथा पूषन् को तथा उसी प्रकार सरस्वती को संबोधित है। केवल अन्तिम (१८वां) वास्तविक अर्थ में और्ध्वदैहिक सूक्त है। यह शैली में और उसी प्रकार विषय वस्तु में लौकिक है क्योंकि यह किसी भी देवता के उल्लेख से लगभग मुक्त है। स्वरों में गम्भीर और उत्कृष्ट यह बढ़ा-चढ़ा सूक्त भाषा सौन्दर्य के द्वारा अलग से पहिचाना जा सकता है। यह दूसरे सूक्तों की अपेक्षा उन प्रारम्भिक दिनों की प्रेत क्रिया के विषय में अधिक सूचना प्रदान करते हैं।

इस सूक्त समूह में ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक भारतीयों द्वारा गाड़ने का प्रयोग भी उसी प्रकार किया जाता था जिस प्रकार जलाने का। एक सूक्त के रचनाकार ने ७वें मण्डल में वरुण देव को संबोधित किया है और मृतक के विषय में 'मिट्टी के घर' का उल्लेख किया है। फिर भी मृतक के विसर्जन की सामान्य पद्धति दाह कर्म थी और बाद की वैदिक शास्त्रीय विधि लगभग केवल इसी पद्धति को जानती थी, केवल सन्यासियों और दो वर्ष से कम के बच्चों को गाड़ने की ही अनुमति देती थी। जलाने की विधि के साथ भी भविष्य

जीवन के विषय में विशेष रूप से पुराणोपाख्यान सम्बन्धित थे। इस प्रकार अग्नि मृतक को दूसरे जगत् में ले जाता है जहां देवता और पितर रहते हैं। जब लाश को जलाया जाता था तब एक बकरे की बलि दी जाती थी और यह बकरा अथर्ववेद के अनुसार (६-५.१-३) पहले जाता था और मृत के विषय में पितरों के सामने घोषणा करता था ठीक उसी प्रकार जैसे ऋग्वेद में यज्ञीय अश्व के साथ मारा हुआ बकरा देवताओं के सामने उनको यज्ञ में बलिकर्म की सूचना देने के लिएपहले जाता था। (१-१६२,१६३) बाद की वैदिक विधि में जब दाह कर्म किया जाता था तब गाय या बकरे की बलि दी जाती थी।

सर्वाधिक दूरवर्ती प्राचीनता की इस पद्धति की अनुरूपता में अब तक भारत में यह प्रथा जीवित है कि मृत व्यक्ति को भविष्य जीवन में प्रयोग करने के लिए जेवर और कपड़े दिए जाते हैं। ऋग्वेद के प्रेत कर्म की अन्तिम क्रिया के रूप में विधवा अपने मृत पति के शरीर के पास लेटती है और मरे हुए व्यक्ति के हाथ से उसका धनुष अलग कर दिया जाता है। यह वास्तविकता प्रकट करती है कि उन प्रारम्भिक दिनों में उसके शरीर के साथ दोनों जला दिए जाते थे जिससे दूसरे जगत में साथ हो और अथर्ववेद में एक पद्य कहता है कि विधवा का अपने पति के साथ मरण एक पुरानी रीति थी। नृतत्त्व विज्ञान का प्रमाण प्रकट करता है कि यह एक बहुत आदिकालीन अभ्यास था जो सैनिक अध्यक्षों के साथ दाह कर्म के समय की विधि विस्तृत क्षेत्र में फैली थी और भारत यूरोपीय युग तक पीछे जाने पर भी इसका होना सिद्ध किया जा सकता है।

प्रेत सूक्त (१०-१८ का यह ८वां पद्य) एक विधवा को संबोधित किया गया है जिसको चिता से उठने के लिए पुकारा ज़ा रहा है और अपने नये पति का हाथ पकड़ने के लिए कहा जा रहा है जो निस्सन्देह प्राचीन विवाह पद्धति के अनुसार उसका (पति का) भाई है—

उदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकं गतासुमेतमुपशेष एहि।
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभिसंबभूथ ॥८॥

(हे स्त्री! उठो, जीवन जगत् में आओ, तुम उसके पास लेटी हो जिसको आत्मा छोड़ गई, आओ—अब तुम अपने इस पति के पत्नीत्व भाव में प्रविष्ट हुई हो जो तुम्हारा हाथ पकड़ता है और तुमसे प्रेम करता है।)

तब वक्ता मृत व्यक्ति की ओर घूमकर पुकार कर कहता है—

धनुर्हस्तादाददानो मृतस्यास्मे क्षत्राय वर्चसे बलाय।
अत्रैव त्वमिह वयं सुवीरा विश्वास्पृधो अभिमातीर्जयेम ॥६॥

(मृत के हाथ से मैं धनुष ले रहा हूं जिसका उपयोग वह हमारे लिए राज्य, शक्ति और यश प्राप्त करने के लिए किया करता था। तुम वहां और हम यहां योद्धा सन्तति से सम्पन्न होकर प्रत्येक शत्रु के प्रत्येक आक्रमण को निरस्त कर देंगे।)

उपसर्प मातरं भूमिमेतामुरुव्यचसं पृथिवीं सुशेवाम्।
ऊर्णम्रदा युवतिर्दक्षिणावत एषा त्वा पातु निर्ऋतेरुपस्थात् ॥११॥

(पृथ्वी की छाती के अन्दर पहुंचो जो माता है, यह पृथ्वी दूर तक फैली है और अत्यधिक दयावती है। यह युवती है और दक्षिणा देने वालों के प्रति ऊन के समान कोमल है, प्रलय की गोद से यह तुम्हारी रक्षा करे।)

उच्छ्वञ्चस्व पृथिवि मा निवाधथाः सूपायनास्मै भव सूपवञ्चना।
माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥११॥

(हे पृथिवी ! चौड़ाई में फैल जाओ (उच्छ्वसित होकर स्थान बना दो) इसके ऊपर अधिक दवाव मत डालो, पहुंचने में आसान वन जाओ, दयापूर्ण सहायता के साथ इसका अभिनन्दन करो। जिस प्रकार एक वस्त्र से मां बच्चे को ढकती है हे पृथ्वी इस मनुष्य को आच्छादित करो।)

निकट खड़े हुए लोगों को उद्दिष्ट कर वह कहता है—

इमे जीवा विमृतैरावबृत्रन्नभूद्भद्रा देवहूतिर्नो अद्य।
प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः ॥३॥

(जीवित लोग मृत पूर्वजों से विभाजित हो गए हैं। अब देवताओं के प्रति हमारी पुकार कल्याणकारिणी हो गई है। हम नाचने और हंसने के लिए उस समय तक के लिए तैयार होकर आये हैं जब तक भविष्य के दिन हमारी सत्ता को बढ़ाते रहेंगे।)

यथाहान्यनुपूर्वं भवन्तो यथा ऋतव ऋतुभिर्यान्ति साधु।
यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूंसि कल्पयैषाम् ॥५॥

(जैसे दिन क्रम से एक दूसरे का अनुसरण करते हैं, जैसे ऋतुयें (दूसरी) ऋतुओं के साथ ठीक क्रम बना लेती हैं, जैसे बाद का कभी भी पहले वाले का अतिक्रमण नहीं करता, हे व्ययस्थापक उसी प्रकार इनके जीवनों की व्यवस्था कर दो। (जिस क्रम से जन्मते हैं उसी क्रम से मरें)।)

दान स्तुति

धर्म निरपेक्ष लौकिक कविताओं में कुछ के अन्दर विभिन्न ऐतिहासिक विवरण विद्यमान हैं। ये तथाकथित दान स्तुतियां या 'दानों की प्रशंसा' है जिनमें स्वयं उनके द्वारा नियुक्त किए हुए पुरोहित गायकों के प्रति राजकुमारों

की दानशीलता को चिर स्थायी बनाया गया है। उनमें काव्य गुण बिल्कुल नहीं है और ये बाद की रचनायें हैं जो प्रधानतया पहले और दशवें मण्डलों में मिलती हैं या ८वें मण्डल के (परिशिष्ट) बालखिल्य में मिलती हैं। इस प्रकार की प्रशंसा परक कविता की एक संख्या जिनमें केवल दो या तीन पद्य होते हैं सामान्यतया ८वें मण्डल के सामान्य सूक्तों में जोड़ दिए गये हैं और उससे बहुत कम सामान्य रूप में अधिकांश दूसरे मण्डलों में जोड़े गये हैं। इन प्रशस्ति परक कविताओं के लेखकों का प्रधान सम्बन्ध उस वस्तु और उस राशि के वर्णन करने से है जो भेंट रूप में उन्हें दी जाती है। उसके साथ प्रासङ्गिक रूप में वे अपने और अपने आश्रयदाताओं के परिवारों, तथा वंशावलियों का परिचय भी प्रदान करते हैं साथ ही साथ वैदिक वर्ग के नामों और घरों के विषय में भी वर्णन रहता है। भेंट में जो राशि प्रदान की जाती है—उदाहरण के लिए ६००० गायें—वह कभी कभी अत्यधिक रूप में अत्युक्तिपूर्ण होता है। जो भी हो हम सुविधापूर्वक यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि भेंटों की राशि काफी अधिक होती थी और वैदिक प्रधानों के पास पशुओं के बहुत अधिक झुंड थे।

सदुपदेश सूक्त

लौकिक कविताओं में चार अपने स्वरूप में उपदेश परक हैं। इनमें एक (१०-३४) 'द्यूतकार का विलाप' शोकपूर्ण स्वर से प्रभावित करता है। इस बात पर विचार करते हुए कि यह कविता इस ढंग की वर्तमान कविताओं में अपने प्रकार की सबसे पुरानी रचना है हम इसे सर्वोत्कृष्ट साहित्यिक रचना के सम्मान के अतिरिक्त और कुछ नहीं समझ सकते। द्यूतकार इस बात का पश्चाताप कर रहा है कि जुए के पाशों के प्रति आकर्षण को दूर फेंक देने की शक्ति उसमें नहीं है यद्यपि वह उस पर और उसके परिवार पर उनके द्वारा लाये जाने वाले विनाश से परिचित है—

नीचा वर्त्तन्त उपरि स्फुरन्त्यहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते।
दिव्या अङ्गारा इरिणे न्युप्ताः शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति ॥९॥

(वे नीचे की ओर को गिरते हैं तब चपलता के साथ ऊपर को उछलते हैं, यद्यपि उनके हाथ नहीं हैं फिर भी वे हाथ वाले मनुष्यों को पराजित कर देते हैं। कोयले के जादू भरे टुकड़ों की भांति जब वे द्यूत फलक पर फेंके जाते हैं तब यद्यपि स्वयं तो शीतल होते हैं किन्तु हृदय को जलाकर राख कर देते हैं।)

स्त्रियं दृष्ट्वाय कितवं ततापान्येषां जायां सुकृतञ्च योनिम्।
पूर्वाह्ने अश्वान् युयुजे हि बभ्रून्त्सो अग्नेरन्ते वृषलः पपाद ॥११॥

(जुआरी को यह दुःख देता है जब वह दूसरे की पत्नी किसी स्त्री को और उसके भलीभांति व्यवस्थित घर को देखता है। वह इन भूरे रंग के घोड़ों को (पाशों को) प्रातः तड़के जोत देता है और जब आग नीचे हो जाती है। (सूर्यास्त के समय) तिरस्कृत होकर पड़ा रहता है।)

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः ॥१३॥

(द्यूत फलक के साथ मत खेलो, किन्तु अपने अन्न के खेतों पर खेती करो। अपनी सम्पत्ति को बहुत अधिक मानते हुए उसका आनन्द लो। अरे जुआरी वहां तुम्हारी गायें हैं, वहां तुम्हारी पत्नी है यह परामर्श सविता देव ने कृपा कर हमें दिया है।)

यहां हम पढ़ते हैं कि पासे (अक्ष) बहेड़े के काष्ठ फलों से बनाये जाते थे (जिनका वनस्पति शास्त्रीय नाम है—टर्मिनालिया वेलेरिका) जो कि भारत में अब तक इस उद्देश्य से काम में लाया जाता है।

इस वर्ग की दूसरी तीन कवितायें सूत्र रूप (संक्षिप्त कथनरूप) कविताओं की पूर्वगामी मानी जा सकती हैं जो प्रवृत्ति संस्कृत साहित्य में इतनी अधिक समृद्धि के साथ लोकप्रिय सिद्ध हुई। उनमें से एक (९-११२) में केवल चार पद्य हैं जो कोमल परिहास के साथ नैतिक स्वर में बतलाते हैं कि मानव किस प्रकार विभिन्न उपायों से लाभ प्राप्त करने के पीछे पड़ा रहता है—

नानानं वा उनो धियो वि व्रतानि जनानाम्।
तक्षा रिष्टं रुतं भिषग्ब्रह्मा सुन्वन्तमिच्छतीन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥१॥

(मनुष्य के विचार अनेक प्रकार के होते हैं, उनके व्यवसाय विभिन्न प्रकारों के होते हैं, बढ़ई लकड़ी में फाड़ (दरार या चीरा) चाहता है, वैद्य अच्छा करने के लिए अस्थि भंग चाहता है (ब्राह्मण सोमरस निकालने वाले को चाहते हैं, हे सोम ! तुम इन्द्र के लिए रस प्रवाहित करो।)

कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।
नानाधियो वसूयवोऽनु गाइव तस्थिमेन्द्रायेन्द्रो परिस्रव ॥३॥

(मैं एक कवि हूं, मेरे पिता वैद्य हैं, मां चक्की के ऊपरी पत्थर को चलाकर (गल्ला) पीसती है, विभिन्न प्रकार के मस्तिष्कों (विचारों) के साथ हम धन के लिए प्रयत्न करते हैं, सर्वदा की भांति हम गायों को तलाश करते फिरते हैं। इस प्रकार हे सोम इन्द्र के लिए तुम रस प्रवाहित करो।)

इन कविताओं के अन्तर्गत एक दूसरी कविता (१०-११७) में भलीभांति कार्य करने और दान के लिए कर्तव्यों को मन में प्रविष्ट कर देने के निमित्त सूत्ररूप कथन विद्यमान है—

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयासमनु पश्येत पन्थाम् ।
ओहि वर्तन्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः ॥५॥

(जिसके अन्दर (दान की) शक्ति हो वह उसे दान दे जिसे आवश्यकता है, यहां (इस लोक) के बाद जीवन के मार्ग को भलीभांति समझकर (दान देना चाहिए) । भाग्य रथ के दो पहिओं के समान घूमता रहता है—इस समय एक व्यक्ति के निकट आता है इस समय दूसरे व्यक्ति के पास ।)

कृषन्नित्फाल आशितं कृणोति यन्नध्वानमपवृङ्क्ते चरित्रैः ।
वदन् ब्रह्मा वदतो वनीयान् पृणन्नापिरपृणन्तमभि ष्यात ॥७॥

(भूमि को जोतने पर बनी हुई हलकी रेखायें भोज्य पदार्थ को उत्पन्न करती हैं । वह व्यक्ति जो पैरों को संचालित करता है वह अपनी यात्रा पूरी कर लेता है । एक पुरोहित जो प्रवचन करता है एक मौनी की अपेक्षा अधिक आमदनी कर लेता है । एक मित्र जो दान देता है एक कृपण की अपेक्षा अधिक अच्छा है ।)

इनमें चौथी कविता (१०-७१) वक्तृता की प्रशंसा में लिखी गई है । इसके ११ पद्यों में चार निम्नलिखित हैं—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि ॥२॥

(जहां बुद्धिमान लोग शब्दों का उच्चारण बुद्धिमानी से करते हैं और जिस प्रकार चलनी से अन्न (सत्तू) छाँट लिए जाते हैं उसी प्रकार शब्दों को छांट लेते हैं । वहां मित्र लोग एक दूसरे की मित्रता को स्वीकृति प्रदान करते हैं । उनकी वाणी पर अच्छाई की एक मोहर लगी हुई है ।)

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति ।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम् ॥६॥

जो भी कोई अपने सधर्मा हितकारी मित्र (स्वाध्याय) का परित्याग कर देता है उस मनुष्य की वाणी में किसी प्रकार का हितसाधक तत्त्व नहीं होता । क्योंकि जो कुछ वह सुनता है वह विना लाभ के सुनता है—उसे गुणों के मार्ग का कोई ज्ञान नहीं होता ।)

हृदा तुष्टेषु मनसो जवेषु यद् ब्राह्मणा संयजन्ते सखायः ।
अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोह ब्रह्माणो विचरन्त्युत त्वे ॥८॥

(जब ब्राह्मण मित्रगण पूजा प्रदान करने के लिए एकत्र होते हैं तब प्रार्थनाओं (सूक्तों) में हृदय की प्रेरणा से शीघ्रतापूर्वक रचना होती है तब विद्वता में कम व्यक्ति (भी) पीछे नहीं छूट जाते जबकि दूसरे लोग प्रकृति के उच्च गुणों से सम्पन्न ब्राह्मणों का मार्ग प्राप्त कर लेते हैं ।)

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उत्त्वः ॥११॥

(एक (ऋषि) पद्यों की बहुमूल्य कलियों को प्रस्तुत करते हुए बैठता है, दूसरा विद्वत्तापूर्ण संख्याओं में गीतों को गाता है, तीसरा शिक्षक के रूप में रचना के नियमों का उपदेश देता है और चौथा यज्ञ सम्बन्धी क्रियाकलाप का परिमाण निश्चित करता है।)

सामान्य सूक्तों मे भी कतिपय नैतिक टिप्पणियां धन और स्त्री के कुटिल स्वभाव के विषय में मिलती हैं। ये उसी प्रकार की है जैसी वेदोत्तर युग के नीति साहित्य में विद्यमान हैं। एक कवि इस प्रकार कह उठता है—"कितनी ही स्त्रियां प्रेम करने की याचना करने वालों के प्रेम का विषय अपनी प्रशंसनीय सम्पत्ति के कारण बनती हैं।" (१०.२७.१२) जबकि एक दूसरा कवि जिन गायों को वह चाहता है उन्हें सम्बोधित कर कहता है—"तुम (गायें) दुबले पतले आदमी को मोटा बना देती हो, कुरूप लगने वाले मनुष्य को भी तुम सुन्दर स्वरूप वाला बना देती हो।" (६.२८.६) एक तीसरा प्रेक्षक—"इन्द्र ने स्वयं यह कहा है 'स्त्री के मस्तिष्क को शिक्षा देना कठिन है उनकी समझ बहुत कम होती है।" (८.३३.३७) और एक चौथा शिकायत करता है—"स्त्री के साथ मित्रता हो ही नहीं सकती, उनका हृदय मांसाहारी लकड़-बग्घा होता है।" (१०.९५.१५) हां एक अवश्य स्वीकार करता है कि—"बहुत सी स्त्रियां नास्तिक और क्षुद्र पुरुषों से अच्छी होती हैं।" (५-६१-६)

पहेलियां

नीति सूक्तियों के मेल में ही पहेली परक कवितायें है जिनके ऋग्वेद में कम से कम दो संग्रह हैं। अष्टम मंडल की (२९वीं) कविता में उसका सरलतम रूप मिलता है। इसके सभी १० पद्यों में प्रत्येक में विभिन्न देवताओं का उनके चारित्रिक चिह्न द्वारा वर्णन किया गया है किन्तु उनका नामोल्लेखन नहीं किया गया है। उसके नाम का अनुमान लगाना पाठक पर छोड़ दिया गया है। उदाहरण के लिए विष्णु को इस प्रकार लक्षित किया गया है—

त्रीण्येक उरुगायो विचक्रमे। यत्र देवासो मदन्ति ॥७॥

(एक अन्य ने अपने शक्तिशाली पैरों से तीन कदम रखे जहां के लिए देवगण परम हर्ष को प्राप्त कर आनन्दित होते हैं।)

कहीं अधिक कठिन संग्रह जिसमें ५२ पद्य हैं प्रथम मंडल (१६४ सूक्त) में विद्यमान है। यहां कुछ भी प्रत्यक्ष वर्णन नहीं किया गया है। भाषा सर्वत्र प्रतीकात्मक और कल्पितोपाख्यानात्मक है। कई विषयों में संकेत इतने अस्पष्ट

रूप में वर्णन किए गये हैं कि इस समय उनके अर्थ निकालना असम्भव है। कभी कभी पहेली प्रश्न के रूप में प्रस्तुत की जाती है और एक विषय में उत्तर भी साथ ही दे दिया गया है। अवसर के अनुसार कवि एक ऐसी पहेली को उपेक्षित करता है जिसका वह प्रकट रूप में स्वयं समाधान नहीं जानता। सामान्य रूप से इन समस्याओं को गूढ़ प्रश्न कहा गया है। इनमें लगभग एक चौथाई का विषय सूर्य है, छः या सात बादलों बिजली और वर्षा आने का वर्णन करती हैं। तीन या चार अग्नि और उसके विभिन्न रूपों का, लगभग उतनी ही संख्या वर्ष और उसके विभागों का, दो सृष्टि के प्रारम्भ और एक परमतत्त्व का वर्णन करती हैं। उषा, स्वर्ग और पृथिवी, छन्द देवता, वाणी तथा कतिपय अन्य विषय ऐसे हैं जो सोचे भी नहीं जा सकते, उनका वर्णन क्रमशः एक या दो पद्यों में किया गया है। इनमें अधिक स्पष्टता से कही हुई निम्नलिखित पहेली है जो वर्ष चक्रका उसके १२ महीनों और ३६० दिनों का वर्णन करती है—

द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परिद्यामृतस्थ।
आपुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्तशतानि विंशतिश्च तस्थुः॥
(१.१६४.११)

(१२ अरों से सनाथीकृत और कभी नष्ट न होने वाला व्यवस्थित नियम का चक्र आकाश में चारों ओर निरन्तर घूमता रहता है। हे अग्नि! इसके अन्दर जोड़ी में (स्त्री पुरुष रूप में) जुड़े हुये एक साथ ७२० सन्तानें स्थित हैं।)[1]

१३वां या अन्तर्निवेशित मलमास दूसरे १२ महीनों के विपरीत माना जाता है जो जोड़े में समझे जाते हैं। उस मलमास का तमसाकृत रूप में इस प्रकार वर्णन किया गया है—"साथ में उत्पन्न हुए के विषय में वे कहते हैं कि सातवां एकाकी उत्पन्न हुआ, ऋषि लोग युग्म उत्पन्न ६ जोड़ों को देवताओं से उत्पन्न हुआ कहते हैं।"[2] बाद का वर्णन सम्भवतः अन्तर्निविष्ट मलमास का वर्णन करता है जोकि एक कृत्रिम मानव रचना है। बाद के वैदिक युग में इस प्रकार के गूढ़ प्रश्नों को उपन्यस्त करने का एक अभ्यास बन गया जिसको आध्यात्मिक समस्या (ब्रह्मोद्य) का नाम दिया जाता था। जब राजा लोग

---

१. बारह अर बारह महीने हैं, शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष स्त्री पुरुषों की जोड़ी है, ३६० दिन और ३६० रातें ये ७२० सन्तानें हैं, १२ महीने जोड़ी में हैं जबकि मलमास एकाकी और बीच में घुसा हुआ है।

२. १२ महीने देवताओं के बनाये हैं जबकि मलमास मानव कल्पना है।

बड़े बड़े यज्ञ किया करते थे या दूसरे प्रकार से ब्राह्मण लोग एकत्र होते थे तब बौद्धिक उत्कर्ष की प्रतियोगिता में ये पहेलियां प्रस्तुत की जाती थीं।

जगदुत्पत्तिविषयक सूक्त

इस काव्यात्मक पहेलियों से निकट रूप में जुड़ी हुई दार्शनिक कविता है जो जगदुत्पक्ति के विषय में ऋग्वेद में छ: या सात सूक्तों में आई है। यहां संसार के प्रारम्भ का प्रश्न निश्चय ही अत्यधिक रूप में पुराणोपाख्यान और आध्यात्मिक सिद्धान्तों से मिले जुले रूप में निरूपित किया गया है। यद्यपि इनमें विचारों की भ्रान्ति अधिक रूप में प्रकट होती है फिर भी ये प्रारम्भिक कल्पनायें स्रोत के रूप में अधिक महत्त्व की हैं जिनसे परवर्ती विचारों की विभिग्न धारायें प्रवाहित होती है। इनमें अधिकांश सूक्त विश्व की उत्पत्ति के विषय को ईश्वरवाद के रूप में हाथ में लेते हैं और केवल एक में शुद्धरूप में दार्शनिक भावना पाई जाती है। पुराने ऋषियों के दृष्टिकोण के अनुसार सामान्यतया सभी देवताओं ने मिलकर या विभिन्न व्यक्तिगत देवताओं ने संसार को उत्पन्न किया। यह दृष्टिकोण प्राय: वर्णित इस सिद्धान्त का विरोधी है कि आकाश और पृथ्वी देवताओं के माता पिता हैं। इस प्रकार कवि स्वयं ही इस विरोधाभास को जन्म देते हैं कि बच्चा स्वयं अपने माता पिता को जन्म देता है। उदाहरण के लिए इन्द्र के विषय में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि उन्होंने अपने माता पिता को अपने ही शरीर से जन्म दिया (१०.५४.३) इस प्रकार का छल स्पष्ट ही पुरोहितों के विचारों को आनन्द देता था जो दूरा-रूढ़ कल्पनाओं के लिए अधिकाधिक आदी हो रहे थे, क्योंकि जगदुत्पत्तिविषयक सूक्तों में हमें अनेक बार पारस्परिक उत्पत्ति का वर्णव मिलता है जिनका परिचय रचना के स्तरों में दिया गया है। इस प्रकार दक्ष को अदिति से उत्पन्न हुआ बतलाया गया है और अदिति को दक्ष से। (१०.७२.४)

पुरुषसूक्त

ऋग्वेद में धार्मिक विचारधारा का विकास एक सृष्टि रचयिता के सिद्धान्त की ओर ले गया जोकि प्रमुख देवताओं में किसी से भी पृथक और सभी देवताओं से उत्कृष्ट है। वह विभिन्न नामों से प्रतीत होता है—वे नाम पुरुष, विश्वकर्मा, हिरण्य गर्भ या प्रजापति विश्वोत्पत्ति सूक्तों में आये हैं। जबकि प्राचीन प्रारम्भिक दृष्टिकोण के अनुसार सृष्टि के विषय में प्राय: उल्लेख किया गया है कि यह एक स्वाभाविक जनन प्रक्रिया का कार्य है और इसका उल्लेख जन् धातु के किसी रूप के द्वारा किया जाता है जिसका अर्थ है प्रादुर्भूत होना ये जगदुत्पत्ति विषयक कवितायें इसके विषय में कहती हैं कि इसकी उत्पत्ति

किसी मूलभूत भौतिक द्रव्य से हुई है या निर्माण या विकास हुआ है। उनमें एक बहुत प्रसिद्ध सूक्त पुरुष विषयक (पुरुष सूक्त) है जिसमें देवता अब भी साधन हैं[1] किन्तु जिस भौतिक तत्त्व से जगत् की रचना हुई है वह भीमकाय आदिम पुरुष में विद्यमान है जिसके हजार सर हैं, हजार पैर है, जो पृथ्वी को घेरे हुए है और उसके बाहर भी विस्तृत है।[2] संसार महामानव के शरीर से बनाया गया है यह मौलिक विचार वस्तुतः बहुत पुराना है क्योंकि यह कई आदिम पुराणोपाख्यानों में मिल जाता है, किन्तु यहां जिस रूप में अत्यन्त श्रम के साथ इसे विकसित किया गया है वह पर्याप्त बाद का है। बिल्कुल ब्राह्मण ग्रन्थों की भावना के अनुसार जिसमें विष्णु की यज्ञ से एकरूपता बतलाई गई है सृष्टि रचना का कार्य एक याज्ञिक प्रक्रिया है जिसमें प्रारम्भिक महामानव यज्ञ का बलिपशु माना गया है।[3] जब उसके अंग काटे जाते हैं तब वे ब्रह्माण्ड के भाग बन जाते हैं। हमसे कहा जाता है कि उसका सर आकाश बन गया, नाभि वायु (अन्तरिक्ष) और पैर पृथ्वी बन गये[4] जबकि उसके मस्तिष्क से चन्द्रमा, उसकी आंख से सूर्य[5] और उसकी श्वांस से पवन का जन्म हुआ। "इस प्रकार देवताओं ने लोकों का स्वरूप निर्मित कर दिया।" इस सूक्त के परवर्ती होने का दूसरा चिन्ह है इसमें विश्व देवतावाद का रंग चढ़ाया जाना। क्योंकि यहां यह कहा गया है कि "पुरुष ही यह सारा विश्व है जो हो चुका है और जो होगा"[6] और "उसका एक चौथाई भाग सभी प्राणी हैं और तीन चौथाई स्वर्ग में अमरों का संसार है।"[7] ब्राह्मण ग्रन्थों में वही निर्माता प्रजापति है और उपनिषदों में उसकी विश्व से एकात्मता बतलाई गई है। इसके भी बाद द्वैतवादी सांख्यदर्शन में पुरुष यह आत्मा का नाम पड़ जाता है जोकि प्रकृति का विरोधी है। पुरुष सूक्त में एक तत्त्व 'विराज्' पुरुष से उत्पन्न

---

१. तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषञ्जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥ १०.९०.७

२. सहस्र शीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो कृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥ १०.९०.१

३. देवा यद्यज्ञं तन्वाना अवध्नन् पुरुषं पशुम्॥ १०.९०.१५

४. नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथालोकाँ अकल्पयन्॥ १०.९०.१४

५. चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षवोः सूर्योऽअजायत

६. पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्। १०.९०.२

७. पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥ १०.९०.३

हुआ[1] बतलाया गया है। बाद के वेदान्त दर्शन में यह नाम विश्व के व्यक्तिगत रचयिता का है जो विश्वात्मा ब्रह्म से भिन्न है। तब पुरुषसूक्त भारतीय विश्व देवतावाद की सर्वप्राचीन रचना समझी जानी चाहिए। साथ ही यह ऋग्वेद काल की बहुत बाद की कविताओं में एक है। क्योंकि यह सर्वप्राचीन तीन वेदों के ज्ञान की पूर्वभावना को मानकर चला है जिनका कि वह एकसाथ नामोल्लेख करता है।[2] यह ऋग्वेद में पहली बार और केवल इसी स्थान पर चार वर्णों का उल्लेख करता है। क्योंकि यहां यह कहा गया है कि पुरुष का मुख ब्राह्मण बन गया, उसकी भुजायें राजन्य (क्षत्रिय) उसकी जांघें वैश्य (कृपिकार्यकर्ता) और उसके पैर शूद्र (दास) हो गये।[3]

जगत की उत्पत्ति का वर्णन करने वाले लगभग सभी दूसरे काव्यों में सामूहिक रूप में देवता नहीं केवल एक व्यक्तिगत रचयिता कार्य करने वाला है। दूसरे सूक्तों में विभिन्न अनुच्छेद यह दिखलाते हैं कि ऋषियों द्वारा सृष्टि रचना के विषय में सूर्य को एक महत्त्वपूर्ण कर्ता माना गया था। इस प्रकार उसका वर्णन "चर और अचर सभी की आत्मा" के रूप में (१.११५.१) किया गया है[4] और कहा गया है कि "वह है तो एक किन्तु अनेक नामों से पुकारा जाता है"[5] (१-१६४-४६) इस प्रकार के वक्तव्य प्रकट करते हैं कि सूर्य सृष्टिकर्ता के चरित्र की ओर भावनात्मक अमूर्त रूप धारण करने की प्रक्रिया के अन्तर्गत आ गया था। यह सम्भवत: विश्वकर्मा (सभी का उत्पादक) का मूल उद्भव था जिनके लिए जगदुत्पक्ति विषयक दो सूक्त (१०-८१, ८२) सम्बोधित किए गए हैं। प्रथम के सात में तीन पद्य उद्धृत किए जाने के अधिकारी हैं—

> किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित्कथासीत्।
> यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा विद्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः॥
> (१०.८१.२)

---

१. तस्माद्विराळजायत विराजो अधिपूरुषः॥ १०.९०.५

२. तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥ १०.९०.९

३. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥ १०.९०.१२

४. सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥ १.११५.१

५. इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ १.१६४.४६

(वह कौन स्थान था जिस पर उसने (ईश्वर ने) पैर रखने का स्थान प्राप्त किया ? कहां उसने कोई वस्तु प्राप्त की ? या रचना के निमित्त पकड़ने के लिए क्या प्रकार था ? पृथ्वी को वनाने के लिए समय क्या था ? क्या सभी कुछ देखने वाले विश्वकर्मा ने अपनी शक्ति से स्वर्ग (आकाश) को प्रकट कर दिया ?

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।
संबाहुभ्यां धमति सं पतत्रै द्यांवाभूमी जनयन् देव एकः ॥

(१०.८१.३)

(जिसकी आंखें और मुख हर स्थान पर हैं, जिसके हाथ और पैर हर दिशा में घूमे हैं, जब पृथ्वी और आकाश को बना रहा होता है तब एक देवता (ईश्वर) अपने दोनों हाथों और दोनों पंखों से एक साथ उन्हें संघटित कर देता है ।)

किंस्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन् ॥

(१०.८१.४)

(मैं प्रार्थना करता हूं मुझे बतलाइए कौन सा वह वन था और कौन सा वह वृक्ष था जिससे उन्होंने पृथ्वी और आकाश की रचना की ! हे महर्षियो ! मैं प्रार्थना करता हूं अपने मन में विचार (जांच पड़ताल) कीजिए कि जब उसने संसार को सहारा दिया तब वह किस पर खड़ा था ।)

यह एक रोचक संयोग है कि यहां (उपकरणों के लिए) जिन वन और वृक्ष शब्दों का प्रयोग हुआ उनका (हूले Hule का) ग्रीक दर्शन में मूलतत्त्व (हूले) के प्रकट करने के लिए नियमित प्रयोग किया गया हैं ।

दूसरे सूक्त (१०-८२) में एक सिद्धान्त प्रस्तुत किया गया है कि जल ने वस्तुओं के प्रथम बीज को उत्पन्न किया जोकि जगत् का और देवताओं का मूल है—

यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा ।
यो देवानां नामधा एक एव तं सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या ॥

(१०.८२.३)

(जो हमारा पिता है, जन्मदाता है, जो हमारी रचना करने वाला है, जो सभी निवासस्थानों (आलयों) को और सभी प्राणियों को जानता है, जो अकेला ही सभी देवताओं और उनके नामों, विभेदों तथा विभागों को जानता है—सभी दूसरे प्राणी उसकी ओर उसको जानने के लिए उन्मुख होते हैं ।)

परो दिवा पर एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्यदस्ति ।
कं स्विद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे ।।
(१०.८२.५)

(किस आदिम बीज को जलों ने पुष्ट किया ? किसमें सभी देवताओं ने एक साथ स्वयं को देखा ? पृथिवी से परे क्या है ? स्वर्ग से परे क्या है ? शक्तिशाली देवों के रहस्यमय निवास स्थानों से परे क्या है ?[1]

तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे ।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः ।।
(१०.८२.६)

(वह आदिम बीच जलों ने अपने अन्दर धारण किया जिसमें देवता एक साथ एकत्र हुए । वह जो बकरे[2] की योनि[3] (उद्गम स्थल) में स्थित हुआ, जिसके अन्दर सभी जगत् उपलब्ध होते हैं ।)

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युस्माकमन्तरं बभूव ।

(तुम उसे प्राप्त नहीं कर सकते—उसे जिसने इन संसारों को बनाया है । वह जो तुम्हारे अधिक निकट आता है वह कोई और है ।)

और आगे बढ़कर अत्यधिक रमणीयता से भरी जगदुत्पत्ति विषयक एक दूसरी कविता (१० १२१) में जगत्कर्ता हिरण्यगर्भ अर्थात् 'स्वर्ण बीज' नाम से दिखलाई पड़ता है—एक ऐसा सिद्धान्त जो निस्सन्देह उगते हुए सूर्य के द्वारा संकेतित है । यहां भी अग्नि को उत्पन्न करने में जल समस्त जीवन का बीज धारण करने वाले समझे जाते हैं—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।
(१०.१२१.१)

(स्वर्ण का बीज (हिरण्यगर्भ) सबसे पहले सत्ता में आया । वह जब उत्पन्न हुआ समस्त सत्ताधारियों का एकमात्र स्वामी था । उसने पृथ्वी को सहारा दिया (धारण किया) और इस आकाश को भी धारण किया । वह कौन है ? हम यज्ञ के द्वारा ऐसे किस देवता की पूजा करें ।)

---

१. मन्त्र में 'असुरों से परे क्या है ?' यह अधिक है ।
२. सम्भवतः सूर्य का प्रतीक है ।
३. मूलमन्त्र के अनुसार 'नाभि में' ।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।२।।

(जो जीवन की श्वास प्रदान करता है और प्राणमयी शक्ति देता है। जिसकी आज्ञा से सभी देवता जिसकी पूजा करते हैं, जिसकी छाया मृत्यु है और जीवन अमृत है, वह कौन देवता है ? ऐसे किस देवता की हम यज्ञ द्वारा पूजा करें ।)

आपो ह यद् बृहतीर्विश्वयायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम् ।
ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मैः देवाय हविषा विधेम ।।७।।

(उसी समय शक्तिशाली जल देवता जीवन के समस्त बीजों को धारण करते हुए और अग्नि को उत्पन्न किरते हुए आया, तब देवताओं की प्राणमयी एक शक्ति का उदय हुआ (जिसने यह सब किया) वह देव कौन है ? ऐसे किस देवता की हम यज्ञ द्वारा पूजा करें ।)

यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद्दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम् ।
यो देवेष्वधिदेव एक आसीत्कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

(जिसने अपनी ऊर्जस्वल शक्ति से जल का पूर्ण निरीक्षण कर डाला, जिसने प्रज्ञा और यज्ञ को जन्म दिया, वह एक देवता जो सब देवताओं पर ऊंचा पद प्राप्त किये हुये हैं, वह कौन है ? ऐसे किस देवता की हम यज्ञ द्वारा पूजा करें ।)

इन पद्यों में ध्रुवा (कस्मै देवाय हविषा विधेय) अपना उत्तर दसवें पद्य में प्राप्त करता है (जोकि कविता में परवर्ती काल में जोड़ी गयी है) जो घोषित करती है कि अपरिचित देवता प्रजापति है ।

जगदुत्पत्तिविषयक दूसरी दो कवितायें दार्शनिक दृष्टि से जगत् की उत्पत्ति इस रूप में बतलाती है कि विद्यमान (सत्) का विकास अविद्यमान (असत्) से हुआ । उनमें एक में दिये हुए कुछ कुछ उलझे विवरण में रचना के तीन स्तरों को पहिचाना जा सकता है । पहले ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति हुई, तब देवताओं की और अन्त में सूर्य की । यहां अब तक विकासवाद का सिद्धान्त सृष्टि रचना के सिद्धान्त से जुड़ा हुआ है ।

ब्रह्मणस्पति रेता सं कर्मार इवाधमत् ।
देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत ।।

(प्रार्थनाओं के स्वामी ने लुहार की भांति भी इस सब सामग्री को एक साथ तपाकर सृष्टि की रचना की । देवताओं के सर्वप्राचीनयुगों में जो नहीं था उससे जो कुछ है वह उत्पन्न हुआ ।)

इसकी अपेक्षा सृष्टिगीत (१०-१२९) कहीं अधिक सुन्दर है—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्‌गहनं गभीरम् ॥१॥

(१०.१२९)

((सृष्टि से पहले) असत् नहीं था, सत् भी नहीं था, वहां वायु नहीं था स्वर्ग नहीं था जो उससे परे है । वहां गति (क्रियाशीलता) क्या थी ? कहां थी ? किसके द्वारा निर्देश दिया जाता था ? क्या वहां जल था ? और क्या वहां अतल स्पर्शी गहरे गर्त थे ?)

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः ।
अनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास ॥२॥

(उस समय मृत्यु वर्तमान नहीं थी, न अमर जीवन था, न तो रात्रि का और न दिन का ही किसी प्रकार का आभास था । वही एक अन्तश्चेतना की प्रेरणा से निर्वात एवं शान्त स्वरूप में श्वांस ले रहा था । उससे वाहर (उसके अतिरिक्त) कोई दूसरी वस्तु नहीं थी ।)

तम आसीत्तमसा गूढहमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्यपिहितं यदासीत्तपंसस्तन्महिनाऽजायतैकम् ॥३॥

(सर्वप्रथम अन्धकार अन्धकार से ढका हुआ था । यह विश्व अव्यक्त एवं प्रवरूप था । खाली स्थान था जो शून्य से आवृत था । गरमी की शक्ति से केवल उस एक की उत्पत्ति हुई थी ।)

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसोरेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥४॥

(तब उसके अन्दर प्रथमवार काम (इच्छा) उत्पन्न हुआ । काम जोकि सबसे पहला (मन के अन्दर) प्राणिजगत् का वीज (वीर्य) था । ऋषियों ने अपने हृदयों में बुद्धि से विचार करते हुए असत् में सत् के बन्धन का अनुसन्धान किया ।)

को अद्धा वेदक इह प्र वोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आवभूव ॥५॥

(इसकी वास्तविकता कौन जानता है ? यहां इसका कौन प्रकथन कर सकता है ? इसकी उत्पत्ति कहां से हुई ? यह सृष्टि कहां से निर्गत हुई ? और क्या देवता इसकी उत्पत्ति के साथ ही प्रकट हुये ? किन्तु तव कौन जानता है यह कहां से उद्‌भूत हुआ ?)

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ।।६।।

(यह जगत् की रचना ? कहां से यह उठकर सामने आई ? अथवा क्या यह उत्पन्न हुई या नहीं हुई ? जो सर्वोच्च आकाश में इसका पूर्णरूप से अवलोकन और निरीक्षण कर रहा है केवल वह इसे जानता है या वह भी इसे नहीं जानता ?)

बढ़े चढ़े साहित्यिक गुणों के अतिरिक्त यह कविता साहसिक विचारों के लिए ध्यान देने योग्य है, जो विचार इतने दूरवर्ती प्रारम्भिक युग में भी विवेचन प्राप्त कर सके। किन्तु यहां भी भारतीय दर्शन के प्रमुख दोषों में कतिपय की खोज की जा सकती है जैसे स्पष्टता तथा एकरूपता की कमी, साथ ही तर्क को केवल शब्दों पर आधारित करने की प्रवृत्ति। ऋग्वेद में प्राणभूत विचारधारा का एकमात्र खण्ड होने के कारण, प्रकृति दर्शन का यह एक प्रारम्भ बिन्दु है जिसने प्रसरणशील विकासवादी सांख्यदर्शन में स्वरूप प्राप्त कर लिया। इसके अतिरिक्त आर्यों की दार्शनिक विचारधारा के सबसे प्राचीन नमूना के रूप में यह सर्वदा सामान्य अभिरुचि को बनाये रखेगा। सृष्टि गीत के इस सिद्धान्त के साथ कि असत् वस्तु की परिणति सत् वस्तु के रूप में हुई, सबसे पहले जल उत्पन्न हुआ, फिर उष्णता के कारण उससे बुद्धि तत्त्व (महत्तत्त्व) की उत्पत्ति हुई ब्राह्मण ग्रन्थों का जगदुत्पत्ति विपयक विवरण पर्याप्त रूप में इससे मेल खा जाता है। यहां भी असत् की परिणति सत् में हो जाती है जिसका पहला स्वरूप जल है। इन जलों पर हिरण्य गर्भ तैरता रहा जोकि सोने का जगदुत्पत्ति प्रवण अण्डा है जहां से उस ऊर्जा का उद्भव हुआ जो इच्छा करती है और विश्व की रचना करती है। प्रारम्भिक या परवर्ती स्तर में निर्माता प्रजापति के नियोजकत्व की सतत आवश्यकता का अनुभव करते हुए ब्राह्मण ग्रन्थों में किन्हीं विवरणों में उसे (प्रजापति को) पहले रखा गया है तथा दूसरों में जल को(वह स्थान दिया गया है । यह मौलिक परस्पर विरोध इस कारण उत्पन्न हुआ है कि सृष्टि रचना के सिद्धान्त को विकासवाद के सिद्धान्त से मिला दिया गया है। साख्य दर्शन में इस विरोध का प्रशमन इस प्रकार हुआ है कि इसमें पुरुष या आत्मा को निष्क्रिय दर्शक मात्र की भूमिका प्रदान की जबकि प्रकृति या वीजभूत कारण विकास के निरन्तर प्रवहमान क्रमवद्ध स्तरों से गुजरता रहता है। इस प्रकार ऋग्वेद के जगदुत्पत्ति विषयक सूक्त केवल भारतीय दर्शन के पुरोगामी ही नहीं हैं किन्तु पुराणों के भी पुरोवर्ती है जिनके मुख्य उद्देश्यों में जगत् की उत्पत्ति का वर्णन करना भी एक है।

अध्याय ६

ऋग्वेद युग

पिछले पृष्ठों में ऋग्वेद की कविता का जो सर्वेक्षण प्रस्तुत किया गया है वह सम्भवतः यह दिखलाने के लिए पर्याप्त होगा कि बहुत पहले व्यतीत हुए युग के इस स्मारक में ऐतिहासिक अभिरुचि के तत्त्व तो वर्तमान हैं ही उनके अतिरिक्त बहुत कुछ सौन्दर्यानुभूतिविषयक तत्त्व भी विद्यमान है तथा यह प्रत्येक साहित्य प्रेमी द्वारा अध्ययन किए जाने का पूरा अधिकारी है यदि पूरा नहीं तो कम से कम संग्रहों में इसे पढ़ा ही जाना चाहिए। यह ग्रन्थ प्रारम्भिक धार्मिक विचारधारा का जो चित्र प्रस्तुत करता है उसकी परिपूर्णता की तुलना नहीं मिलती। उसके अतिरिक्त यद्यपि शुद्ध लौकिक कवितायें इसमें इतनी कम हैं फिर भी समस्त संकलन में जो सांयोगिक विवरण दिए गए है उनकी संख्या ऐसी सामग्री प्रदान करने की दिशा में पर्याप्त अधिक है जिनसे भारत के प्राचीनतम आर्यों की सामाजिक दशा के चित्रण की सामग्री सहनीय विस्तार के साथ मिलती है। यहां हमारे पास सभ्यता के इतिहास के क्षेत्र में ऋग्वेद को महत्त्व देने का अतिरिक्त कारण है।

ऋग्वेद की नदियाँ

पहली बात तो यह है कि वैदिक जाति का मूल निवास हमारे सामने प्रस्तुत भौगोलिक सामग्री से प्रकट किया जाता है जिसको सूक्तों ने प्रदान किया है। इनमें निश्चयपूर्वक हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि आर्य आक्रान्ता जब मैदानों में उतर गए थे, सभी प्रकार से यह सम्भावित हैं कि वे हिन्दुकुश के पश्चिमी दर्रों से होकर आए थे और भारत के उत्तर पश्चिमी किनारे पर अब तक अधिकर कर ही चुके थे। यह वह भाग है जिसे आजकल पंजाब या 'पाँच नदियों का देश' यह फारसी नाम दिया जाता है।[1] सूक्तों में लगभग २५ धाराओं का उल्लेख किया गया है जिनमें दो या तीन को छोड़कर सभी सिन्धु नदी समूह से संबन्धित हैं। इनमें वे ५ हैं जो पंजाब प्रदेश को सींचती

---

१. इसके घटक भाग हैं पञ्ज—पाँच और आब्—जल।

हैं और एक धारा में संयुक्त होकर सिन्धु में बहती है। वे हैं—वितस्ता [अब झेलम], असिक्नी [चिनाव], परुष्णी [बाद में इरावती या 'ताजगी देने वाली' नाम पड़ा जिससे इसका वर्तमान नाम रावी हो गया।] विपाश् [व्यास] और सबसे बड़ी तथा सबसे अधिक पूर्व में स्थित शुतुद्रु [शतलज]। हाँ वैदिक सम्प्रदाय की कुछ जातियाँ अब तक सिन्धु नदी की ओर सुदूर प्रदेशों में बनी रहीं थीं जो कि सिन्धु की पश्चिमी सहायक नदियों की घाटियों को अधिकार में लिए हुए थे। ये सहायक नदियों की घाटियों में रहने वाली जातियाँ कुभा [काबुल] और उसकी उत्तर की ओर प्रमुख सहायिका सुवास्तु अर्थात् "अच्छे आवास" [अब स्वात्] से लेकर दूरवर्ती दक्षिण की क्रुमु [कुरुम] और गोमती अर्थात् 'गायों की बहुतायत से युक्त" आजकल [गोमल] नदी तक फैली हुई थीं।

ऋग्वेद की कुछ नदियों का सूक्तों में दो या तीन से अधिक बार वर्णन किया गया है और उनमें कई का एक बार से अधिक वर्णन नहीं है। प्रायः उल्लेख किये जाने वाले नाम केवल सिन्धु और सरस्वती के हैं। एक पूरा सूक्त [१०.७५] इसकी प्रशंसा में व्यय किया गया है; किन्तु १८ दूसरी नदियाँ जिनमें अधिकांश उसकी सहायिकायें हैं दो पद्यों में उसकी प्रशंसा की भागीदार बनती हैं। इस शक्तिशाली विशाल नदी ने ज्ञात होवा है कवि के मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव डाला था। वह (कवि) उसके विषय में कहता है कि वह (नदी) तेज धारा वाली नदियों में सर्वाधिक तेज धारा वाली है और उसकी जलधारा का विस्तार सभी दूसरी धाराओं का अतिक्रमण कर जाता है। दूसरी नदियाँ उसकी ओर इस प्रकार दौड़ती हैं जैसे रंभाती हुई गायें शीघ्रता करती हुई अपने बछड़ों के पास दौड़ती चली आती हैं। इसके जलों के गर्जन और प्रवाह का वर्णन उत्साही स्वर में किया गया है—

दिवि स्वप्नो यतते भूम्योपर्यनन्तं शुष्ममुदियर्ति भानुना।
अभ्रादिव प्रस्तनयन्ति वृष्टयः सिन्धुर्यदेति वृषभो न रोरुवत्॥

[प्रक्षुब्ध गर्जन पृथिवी से उठकर विस्तारित होता हुआ ऊपर आकाश को पहुंचता है। (सूर्य से) चमकती हुई फुहार के साथ वह ऊपर को कभी न समाप्त होने वाली कल्लोलों में तेजी से बढ़ती जाती है। उसी प्रकार जैसे बादलों से वर्षा की गरजती हुई धारायें गिरती हैं। सिन्धु दहाड़ते हुए बैल के समान आगे को दौड़ती चली जाती हैं।

सिन्धु (अब सिन्धु, जो संस्कृत में सामान्य रूप से नदी का अर्थ देता है आर्यों के निवास स्थान की पश्चिमी सीमा बनाता है । उसने उन प्राचीन राष्ट्रों को जो सर्वप्रथम उस प्रदेश में उनके सम्पर्क में आये पूरे प्रायद्वीप के लिए एक नाम का सुझाव दिया । यह शब्द 'इण्डोस' के रूप में स्वीकृत हुआ और इसने ग्रीक अभिधान इण्डिया को इण्ड्यूस के देश के रूप में ऊपर उछाला इसको पुराने फारस वालों ने हिन्दू के रूप में ग्रहण किया जो कि अवेस्ता में स्वयं देश के लिए प्रयुक्त किया गया है । वर्तमान फारसी नाम हिन्दुस्तान अर्थात् 'इण्ड्यूस' का देश एक अधिक उचित नाम है जो प्रायद्वीप के केवल उस भाग के लिए प्रयुक्त किया जाता है जो कि हिमालय और विन्ध्याचल की पर्वतश्रेणियों के मध्य में स्थित है ।

ऋग्वेद में सप्तसिन्धवः या 'सात नदियों' का प्रायः उल्लेख किया गया है जो कि कम से कम एक प्रकरण में उस प्रदेश का पर्यायवाचक है जिसमें आर्य भारतीय रहते थे । इस पर ध्यान देना मनोरंजक है कि वही कथन 'हफ्त हिन्दु' अवेस्ता में विद्यमान है यद्यपि वहाँ उसका अर्थ है भारतीय प्रदेश का केवल वह भाग जो पूर्वी काबुलिस्तान में स्थित है—वहाँ इस अर्थ में यह शब्द नियन्त्रित कर दिया गया है । यदि यहाँ सात का मन्तव्य निश्चित संख्या से है तो मौलिक रूप में निश्चय ही 'सात नदियों' का अर्थ काबुल, सिन्धु और पंजाब की ५ नदियाँ हैं यद्यपि बाद में सरस्वती नदी काबुल की स्थानापन्न हो मई होगी । क्योंकि सरस्वती ऋग्वेद की एक पवित्र नदी है; अधिक प्राथिकता के साथ उसका उल्लेख किया गया है, प्रायः यह उल्लेख देवी के रूप में किया गया है और किसी भी अन्य धारा की अपेक्षा अधिक उत्साह के साथ उसकी प्रशंसा की गई है । कवि के वर्णन किसी विशाल नदी के लिए लागू होते हैं । इसलिए राथ तथा दूसरे प्रतिष्ठित विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि सामान्य रूप से ऋग्वेद के कवियों द्वारा सरस्वती का प्रयोग सिन्धु की संज्ञा या विशेषण के रूप में किया गया है । दूसरी ओर कतिपय अन्य प्रकरणों में इस नाम का अर्थ निस्सन्देह शतलज और जमुना की मध्यवर्ती एक छोटी नदी है । जिसने परवर्ती काल में उस दृषद्वती से मिलकर ब्रह्मावर्त के पवित्र प्रदेश की पूर्वी सीमा बना ली जिस प्रदेश का नाम ब्रह्मावर्त है । यह प्रदेश अम्बाला के दक्षिण में शिमला से लगभग ६० मील दक्षिण से प्रारम्भ होता है ।

यह छोटी नदी इस समय स्वयं को रेगिस्तान के रेत में छिपा देती है । किन्तु नदी की पुरानी धारा के परिसर के प्रमाणभूत चिह्न इस निष्कर्ष का

समर्थन करते हुए मालूम पड़ते हैं कि प्रारम्भिक रूप से यह शुतुद्रु [शतलज] की सहायक थी। इसलिए यह असम्भव नहीं है कि वैदिककाल में यह समुद्र तक जाती थी और जैसी यह आज है उससे कहीं अधिक विशाल थी। सरस्वती जैसी छोटी नदी की सिन्धु नदी की विशालता, महत्ता और कान्तिमत्ता की स्पर्धा के साथ जो प्रशंसा की गई है वह सम्भवतः उस समय अधिक अत्युक्तिपूर्ण नहीं मालूम पड़ी होगी जब उस विशिष्ट पवित्रता पर भी विचार किया जाता है जो कि उसने उस समय तक प्राप्त कर ही ली थी। यह ध्यान देने वाली बात है कि ऋग्वेद में एक ही पद्यखण्ड है जिसमें हृषद्वती अर्थात् पथरीली नदी [आजकल की घोग्रा या घग्घर] का नाम आता है और सरस्वती के साथ मिलकर आया है। अग्नि से प्रार्थना की गई है कि तुम इन नदियों के किनारों पर प्रज्वलित हो जाओ। यह सम्भवतः एक संकेत है कि ऋग्वेद युग में भी सिन्धु नदी समूह की सबसे पूर्वी सीमा ने तब तक किसी एक प्रकार की पवित्रता प्राप्त कर ही ली थी क्योंकि यह वह प्रदेश था जहाँ यज्ञ सम्बन्धी विधि के क्रियाकलाप और पवित्र काव्य-रचना का सर्वाधिक परिपूर्णता के साथ अभ्यास किया जा रहा था। कुछ इस प्रकार के संकेत मिलते हैं कि कम से कम ऋग्वेद युग के अन्त तक आर्य आक्रान्ताओं में कुछ लोग इस क्षेत्र की सीमा पार गए थे और गंगा के नदी समूह की पश्चिमी सीमा तक पहुंच गये थे क्योंकि यमुना [अब जमुना] जो कि उत्तर में गङ्गा नदी समूह की सर्वाधिक पश्चिमी सहायक नदी है ऋग्वेद के तीन पद्यखण्डों में वर्णित की गई है जिनमें दो यह सिद्ध करते हैं कि इसके किनारे आर्य उपनिवेश विस्तारित हो हो चुकी थे। स्वयं गंगा परिचित ही हो चुकी थी क्योंकि ऋग्वेद के एक पद्य खण्ड में सीधा उसका नामोल्लेख किया गया है और दूसरे में अप्रत्यक्ष रूप में इसका उल्लेख है। हाँ यह ध्यान देने योग्य वास्तविकता है कि गंगा का नाम किसी अन्य वेद में नहीं पाया जाता।

नदी और समुद्र

उस समय जबकि ऋग्वेद के सूक्त रचे गए थे आर्य आक्रान्ताओं का दक्षिण की ओर प्रसार उस बिन्दु से अधिक आगे बढ़ा हुआ प्रतीत नहीं होता जहाँ पर पंजाब के सम्मिलित जल सिन्धु नदी में प्रवाहित होते हैं। सम्भवतः समुद्र का ज्ञान सुनी सुनाई बातों के रूप में ही था क्योंकि सिन्धु नदी के बहुसंख्यक मुहानों का उल्लेख नहीं किया गया है और सिन्धु नदी के निचले भागों के तटों पर आजकल मछली मारने का जो महत्त्वपूर्ण व्यवसायों में एक व्यवसाय है उसकी

पूर्ण रूप से उपेक्षा कर दी गई है। वस्तुतः मछली के लिए शब्द [मत्स्य] केवल एक बार आया है यद्यपि विभिन्न प्रकार के पशुओं-पक्षिओं और कीड़ों का इतनी अधिकता के साथ वर्णन किया गया है। यह उपेक्षा पंजाब और पूर्वी काबुलिस्तना की नदियों की प्रकृति से मेल खा जाती हैं जिनमें मछलियां बहुत कम है किन्तु यजुर्वेद ने मछली मारने का जो प्रगाढ़ परिचय प्रदर्शित किया है उससे इसकी भिन्नरूपता सिद्ध होती है। यजुर्वेद उस समय लिखा गया था जब आर्य लोग पूर्व की ओर कहीं अधिक आगे बढ गये थे और निस्सन्देह दक्षिण की ओर भी बढ़ गए थे। इसलिए शब्द जो कि नियमित रूप से सागर का नाम बन गया (सम-उद्र) शब्द व्युत्पत्ति विद्या जन्य भाव (जलों का संग्रह) से मेल खाता हुआ मालूम पड़ता है जिसका ऋग्वेद में केवल 'सिन्धु नदी का निचला भाग' यह अर्थ है। जो (सिन्धु नदी का निचला भाग) पंजाब के जलों को प्राप्त करने के बाद इतना चौड़ा हो जाता है कि बीच धार में बहने वाली नाव तट से दिखलाई नहीं पड़ती। इस बात पर ध्यान दिया गया है कि इस क्षेत्र के निवासी वर्तमान समय में इस नदी को 'सिन्ध प्रदेश का सागर' कहते हैं और वास्तव में (नदी वाचक) स्वयं सिन्धु शब्द ऋग्वेद के अनेक प्रकरणों में व्यावहारिक रूप में समुद्र का अर्थ देता है। समुद्र से परिचित व्यक्ति जिस प्रकार के रूपक का प्रयोग करेंगे उनका ऋग्वेद में अभाव है। नाव खेने के जितने भी विवरण दिए गए हैं वे केवल चम्पू (डांडों) द्वारों चलाई गई नौकाओं से नदी को पार करने की ओर संकेत करते हैं— उनका मुख्य उद्देश्य होता है नदी के दूसरे किनारे पर [पार] पहुंच जाना। इस कार्य (पार गमन) ने एक प्रिय अलंकार (रूपक) का सुझाव दिया है जो समस्त संस्कृत साहित्य में सर्वत्र परिचित रहा हैं। इस प्रकार ऋग्वेद का एक कवि इन शब्दों में अग्नि से प्रार्थना करता है—'दुःख और शोक तथा विपत्तियों के पार हमें उसी प्रकार ले चलो जिस प्रकार नाव में नदी (सिन्धु) के पार ले जाया जाता है 'और बाद के साहित्य में उस व्यक्ति का जिसने अपना उद्देश्य पूरा कर लिया है या अपने विषय पर अधिकार कर लिया है इस प्रकार वर्णन किया जाता है कि 'वह दूसरे किनारे पर पहुंच गया है' (पारग)। दूसरी ओर अथर्ववेद में कतिपय ऐसे अनुच्छेद हैं जो प्रकट करते हैं कि उनके रचनाकार समुद्र से परिचित थे।

नदी और पर्वत

ऋग्वेद में पर्वतों का निरन्तर वर्णन किया जाता है और नदियों का वर्णन किया जाता है कि वे उनसे निकलती हैं। हिमालय (बर्फ का घर)

पर्वत श्रेणियाँ सामान्य रूप से स्पष्ट ही बर्फीले पर्वत [हिमवन्त] का अर्थ देती हैं वे पर्वत श्रेणियाँ सृष्टिकर्ता को अपने अन्दर धारण किए हैं। किन्तु मूजवत् को छोड़कर किसी व्यक्तिगत शिखर का उल्लेख नहीं किया गया है जिस (मूजवत्)को अप्रत्यक्ष रूप से सोम के घर के रूप में उद्धृत किया गया है। बाद के वैदिक साहित्य से अनुमान लगाया जा सकता है कि यह चोटी काबुल घाटी के निकट थी और सम्भवतः काश्मीर के दक्षिण पश्चिम की ओर की पर्वत श्रेणियों में से एक थी। अथर्ववेद भी हिमालय की दूसरी दो अन्य पर्वत श्रेणियों का उल्लेख करता है। इनमें एक त्रिकाकुद कहलाती है जिसका अर्थ है तीन चोटियों वाली [बाद के साहित्य में त्रिकूट और आजकल भी त्रिकोटा] जिसके निचले भाग में घाटी के अन्दर से असिन्की [चिनाव] नदी बहती है। दूसरी है नाव प्रभ्रंशन [जहाज का डूबना] निस्सन्देह महाकाव्य के नौबन्धन [जहाज का बांधना] और शतपथ ब्राह्मण के मनोरवसर्पण के साथ इसकी एकरूपता है जिसमें उस समय मनु की नाव के रुककर आश्रय लिए जाने की बात कही गई है जब जल प्रलय समाप्त हो गया था। ऋग्वेद को विन्ध्याचल की पर्वत श्रेणियों का बिल्कुल ज्ञान नहीं है जो कि उत्तर भारत को प्राय द्वीप के दक्षिणी त्रिभुज से विभाजित करता है जिसको दक्षिण कहा जाता है।[1] यह नर्मदा नदी का भी उल्लेख नहीं करता [जो अब नेर बुद्दा] कहलाती है जो उस पर्वत श्रेणी के ठीक दक्षिण में और उसके समानान्तर बहती है।

ऋग्वेद की रचनाभूमि

इस आधार सामग्री से सुविधापूर्वक यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जिस समय ऋग्वेद के सूक्त रचे गए थे आर्य लोग उत्तर पश्चिम के उस भाग में फैल गए थे जो कि मानचित्र पर पंखे की आकृति का क्षेत्र दृष्टिगत होता है जिसकी सीमा पश्चिम में सिन्धु से, पूर्व में शतलज से और उत्तर में हिमालय से घिरी हुई है; साथ ही आवासीय क्षेत्र के सीमा प्रदेश पूर्व और पश्चिम में उपर्युक्त सीमाओं से बाहर भी बढे हुए हैं। अब आजकल का पंजाब एक विस्तृत सूखा प्रदेश है जहाँ रावलपिंडी में उत्तर पश्चिमी किनारे को छोड़कर अन्यत्र कहीं पर्वत के दर्शन नहीं होते और जिस पर कभी मानसून की बौछारें नहीं पड़तीं। यहाँ प्राकृतिक तत्त्वों के संघर्ष से उत्पन्न कोई भी

---

१. संस्कृत के दक्षिण शब्द से जिसका शाब्दिक अर्थ है दाहिना, क्योंकि भारतीय लोग उदयकालीन सूर्य की ओर मुख करते थे जब वे दिशाओं का नामकरण करते थे।

महान उज्ज्वल दृश्य वर्तमान नहीं है। किन्तु वर्षाकाल में हल्की सी बौछार पड़ती है जबकि उषाकाल का वातावरण उत्तर भारत के किसी अन्य स्थान की अपेक्षा कहीं अधिक मनोरम दृष्टिगत होता है। इसलिए प्रो० हापकिंस के इस विवाद में कुछ संभावना मालूम पड़ती है कि अपेक्षाकृत पुराने सूक्तों की जैसे कि वरुण और उषा के विषय में लिखे गए, रचना स्वयं पंजाब में हुई जब कि दूसरे सूक्त वर्तमान अम्बाला के दक्षिण में सरस्वती के निकट पवित्र प्रदेश में उद्भूत हुए जहाँ वे सब विशेषतायें विद्यमान मिलती हैं जिनकी आवश्यकता ऋग्वेद को थी। यह इस मान्यता की अपेक्षा अधिक संभावित है कि वैदिक युग के कवियों के समय मे पंजाब के वातावरण में स्वाभाविक परिवर्तन आ गया।

ऋग्वेद युग के आर्यों का मूल निवास वह प्रदेश था जिसकी ओर संकेत किया गया है यह बात उन सूचनाओं द्वारा अतिरिक्त रूप से प्रमाणित होती है जो ऋग्वेद की कविता द्वारा प्रदेश की उपज उसके वनस्पति और जीव जन्तुओं के विषय में दी गई हैं। इस प्रकार ऋग्वेद का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पौधा सोम पर्वतों पर उगने वाला बतलाया गया है और सरलता से प्राप्त हो जाने वाला रहा होगा क्योंकि दैनिक शास्त्रीय विधि सम्पादन के लिए बड़े परिमाण में इसके रस का उपयोग होता था। ब्राह्मण ग्रन्थों के काल में यह दूर से लाया जाता था और इसके अत्यल्प होने के कारण स्थानापन्न किसी अन्य पौधे का प्रयोग किया जाता था। इस प्रकार मूलभूत पौधे का परिचय धीरे धीरे भारत में लुप्त होने तक आ गया। जो पौदा इस समय काम में लाया जाता है स्पष्ट ही है कि वह दूसरा है; क्योंकि जब इसका रस पिया जाता है तब वह वमन की प्रवृत्ति उत्पन्न करता है जो कि उस आह्लादक प्रभाव से अत्यधिक दूर है जिसका ऋग्वेद के कवियों ने वर्णन किया है। न तो वहीं पौदा पुराने सोम से एक रूप हो सकता हैं जिसको पारसी लोग अब तक पर्सिया से हओमा विधि के लिए आयात करते हैं। और भी चावल का जो कि परवर्ती वेदों के लिए सुपरिचित है और उन वेदों में उसको जीवन की आवश्यकताओं में एक माना जाता है ऋग्वेद में बिल्कुल वर्णन नहीं किया गया। इसका स्वाभाविक उत्पत्ति स्थान दक्षिण पूर्व है जो कि नियमित मानसून का क्षेत्र है और जहाँ वर्षा बहुत अधिक होती है। इसलिए जब ऋग्वेद की रचना हुई थी तब सम्भवतः सिन्धु नदी समूह के क्षेत्र में इसकी खेती नहीं होती थी; यद्यपि परवर्ती काल में सिंचाई के अभ्यास से इसकी खेती भारत के सभी भागों में फैल गई। ऋग्वेद के हल जोतने वालों

द्वारा अनाज (यव) उत्पन्न किया जाता था; किन्तु ऋग्वेद में बाद के सयान जौं के अर्थ में यह शब्द सम्भवतः सीमित नहीं है।[1]

वृक्ष

ऋग्वेद में जिन बड़े वृक्षों का वर्णन किया गया है उनमें सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण है अश्वत्थ [घोड़ों की स्थिति का स्थान] या पवित्र वट वृक्ष [फाइकस रिलीजिओसा] इसके फल [पिप्पल] का मधुर और पक्षिओं के भोजन के रूप में वर्णन किया गया है। इसकी पवित्रता कम से कम पुरोगामी है क्यों कि इसकी लकड़ी सोम के बर्तन के लिए प्रयुक्त की जाती थी और जैसा कि हम अथर्ववेद में पढ़ते हैं यह लकड़ी रगड़ने के काम में भी आती थी [जिसे बाद में प्रमन्थ कहा गया] जो कि (प्रमथन) पवित्र अग्नि के उत्पादन के लिए काम में लाया जाता था। बाद के वेद में इस से आगे कहा गया है कि देवता लोग तीसरे स्वर्ग में अश्वत्थ वृक्ष के नीचे बैठाए जाते हैं। वास्तव में इस कथन में स्वयं ऋग्वेद का भी यह मंशा रहा होगा—"वृक्ष जो सुन्दर पल्लव गुच्छों से भरा है जिसकी छाया में पुण्यात्मा पितर यम के साथ मदिरा पान का आनन्द लेता है।" यह वृक्ष अब पीपल कहलाता है; यह अब तक इतना पवित्र माना जाता है कि एक हिन्दू इसके पड़ोस में झूठ बोलने में डरेगा। किन्तु ऋग्वेद में उस वृक्ष का बिल्कुल उल्लेख नहीं है और अथर्ववेद में केवल दो बार उल्लेख है—वह वृक्ष जो भारत के सर्वाधिक स्वरूपानुरूप है और जो विस्तार में फैले हुए पल्लव गुच्छों के द्वारा पृथ्वी के धरातल पर किसी भी अन्य वृक्ष की अपेक्षा अधिक क्षेत्र पर छाया करता है। इसका नाम है न्यग्रोध [नीचे की ओर को बढ़ने वाला) बरगद [फाइकस इण्डिका] अपने पल्लव गुच्छों के उत्तुंग गुम्बज के साथ जिसमें सूर्य किरणें प्रवेश नहीं कर सकतीं और खम्भों के समान अनेक छोटे तने जिसको सहारा देते हैं यह विशाल वृक्ष हरीतिमा के एक विशाल मन्दिर जैसा मालूम पड़ता है जिसको प्रकृति के हाथों ने स्वयं स्वरूप प्रदान किया है। इंगलैंड में देहाती ओक वृक्ष काजो महत्व है वही या उससे कहीं अधिक महत्व कृषि प्रधान भारत में चारों ओर बिखरे हुए छोटे छोटे गाँवों के निवासियों के लिए बरगद के वृक्ष का है।

वन्य पशु

जंगली जानवरों में ऋग्वेद के कवि के लिए सर्वाधिक परिचितों में एक है सिंह। वे उसका जंगलों से भरे पर्वतों पर निवासी और जाल डालकर

---

१. आजकल यव शब्द जौ के अर्थ में रूढ है, किन्तु ऋग्वेद में इसका सामान्य अर्थ 'अनाज' था।

पकड़े जाने योग्य के रूप में वर्णन करते हैं परन्तु जिस विशेषता का वे प्रमुख रूप से वर्णन करते हैं वह है उनकी दहाड़। शतलज और सिन्धु के निचले भागों से पूर्व की ओर विस्तृत रेगिस्तान में जो कि भारत में उसके निवास के लिए अनुकूल एकमात्र भूखण्ड है इसमें सन्द्रेह नही कि पुराने समय में यहाँ शेर अधिकाधिक दिखलाई पड़ता था किन्तु आजकल वह केवल गुजरात प्राय द्वीप के दक्षिण में स्थित जंगलों से भरे पहाड़ों पर ही शेष बचे हुए हैं। जानवरों का राजा सचमुच परम्परागत रूप में भारतीय साहित्य में परिचित रहा है और उसकी प्राचीन संस्कृत उपाधि सिंह के स्वरूप में हिन्दू नामों में सामान्यत: अब तक पाई जाती है।

व्याघ्र का उल्लेख ऋग्वेद में बिल्कुल नहीं किया गया हैं क्योंकि इसका स्वाभाविक घर बंगाल के अनूप (जल निकटवर्ती) जंगल हैं यद्यपि आजकल यह भारत के सभी जंगली भागों में पाया जाता है। किन्तु दूसरे वेदों में उसने निश्चित रूप से सिंह का स्थान ले लिया; यह बात दूसरी है कि वह (सिंह) अब तक जाना जाता है। शिकारी जानवर के रूप में उसके खतरनाक स्वभाव का विवरण प्राय: दिया गया है। इस प्रकार शुक्ल यजुर्वेद में विचित्र संकटपूर्ण कार्य को हाथ में लेने की तुलना बाघ के जगाने से की गई है और अथर्ववेद इस जानवर का मनुष्य भोजी (पुरुपाद) के रूप में वर्णन करता है। इसलिए बाघ का सिंह से सम्बन्ध वैदिक काल में आर्यों के पूर्व की ओर प्रसार का एक विचित्र मनोरंजक प्रमाण प्रस्तुत करता है।

कुछ कुछ ऐसी ही स्थिति हाथी की भी है। ऋग्वेद के केवल दो प्रकरणों में इसका स्पष्ट उल्लेख किया गया है और जो नाम इसको दिया गया है उसका स्वरूप है—"जानवर (मृग) एक सूंड के साथ (हस्तिन्)" इससे प्रकट होता है कि ऋषि लोग अब तक इसे अनोखा जानवर ही समझते थे। एक अनुच्छेद यह संकेत करता मालूम पड़ता है कि ऋग्वेद युग में अन्तिम चरण में इस पशु को पकड़ने के प्रयत्न चल रहे थे। जंगली हाथियों का पकड़ना किसी भी दशा में ईशा से ३०० वर्ष पूर्व एक नियमित अभ्यास बन गया था यह बात मेगस्थनीज के साक्ष्य से सिद्ध होती है। अथर्ववेद और यजुर्वेद के लिए हाथी सर्वथा परिचित है। क्योंकि उसका केवल अनेकशः उल्लेख ही नहीं किया जाता किन्तु विशेषण हस्तिन् "हस्त (सूंड) रखने वाला" पर्याप्त रूप में परिचय देने वाला बन गया है कि स्वयं में इस जानवर के नाम के लिए प्रयुक्त किया जाता है। उत्तर भारत में हाथी का नियमित

घर तराई या हिमालय के पादों (निचले भागों) के निम्न प्रदेश का जंगल है जो कि लगभग कानपुर की देशान्तर रेखा से पूर्व की ओर बढ़ता है।

ऋग्वेद में भेड़िया (वृक) का वर्णन स्वयं सिंह की अपेक्षा अधिक प्रायिकता के साथ किया गया है और शूकर (वाराह) के अनेक सन्दर्भ दिए गए हैं जिसका शिकार कुत्तों से किया जाता था। भैंसा (महिष) पालतू और जंगली दोनों अवस्थाओं में स्पष्ट ही कवि के लिए बहुत परिचित था जो कि अनेक बार इसके मांस को पकाये जाने और खाए जाने को अपना विषय बनाते थे। भालू (ऋक्ष) का केवल एक विवरण मिलता है। बन्दर (कपि) का वर्णन ऋग्वेद के अन्त में केवल एक सूक्त (१०.८६) में किया गया है, किन्तु वह इस रूप में किया गया है मानो यह जीव अब तक पालतू बन चुका था। बन्दर का बाद का और सामान्य संस्कृत नाम वानर ('जंगली पशु') वर्तमान जनभाषाओं में जीवित रहा है और रुडयार्ड किप्लिंग के पाठकों को वन्दर लोग (बन्दर व्यक्ति) के रूप में ज्ञात है।

पालतू पशु

ऋग्वेद को ज्ञात पालतू पशुओं में कम महत्त्व के पशु हैं—भेड़, बकरी, गधे और कुत्ते। यह ध्यान रखना चाहिए कि बाद वाले (कुत्ते) शिकार, रक्षा और पशुओं के पीछे जाने और साथ ही साथ रात का पहरा देने का काम में लाए जाते थे। हाँ पशुओं का स्थान प्रमुख था। गायें धन का प्रधान स्वरूप थीं और यज्ञीय 'शुल्क' के लिए दक्षिणा शब्द ठीक रूप में एक विशेषण है जिसका अर्थ है "ठीक" "बहुमूल्य" इसके साथ अध्याहार्य न्यूनपद प्रक्रिया में (विशेष्य) शब्द छूट गया है। ('दक्षिणा गौ' के स्थान पर दक्षिणा शब्द का प्रयोग होने लगा है।) वैदिक भारतीय के नेत्रों को कोई दृश्य इससे अधिक आनन्द नहीं देता था जितना कि चरागाहों से गायों के लौटने और अपने रस्सी से बंधे बछड़े को चाटने का। उसके कानों के लिए उससे अधिक और कोई शब्द संगीतमय नहीं था जितना दूध देने वाली गायों का। अतएव जब कवि जोर की आवाज में कहता है कि "जिस प्रकार गायें बाड़ों के निकट अपने बछड़ों के लिए रंभाती हैं उसी प्रकार हम अपने सूक्तों से इन्द्र की स्तुति करेंगे।" या "हे नायक इन्द्र न दुही हुई गायों के समान हमने तुम्हें पुकारा है (रंभाये हैं)।" तब इन कथनों में उसे कुछ भी असंगत या उपहास परक प्रतीत नहीं होता। अधिक सुरक्षा के लिए गायों को उनके चरागाह के लौटने

१. जर्मन, Vish, लैटिन, Pecus और उससे बना Pecunia अर्थात् रुपया पैसा।

के बाद रात में बाड़ों में बन्द कर दिया जाता था और प्रातःकाल होने पर पुनः छोड़ दिया जाता था। यद्यपि शुक्ल यजुर्वेद में गो हत्हारे को मृत्यु दण्ड देने के लिए कहा ही गया है, किन्तु ऋग्वेद पूर्ण निषेध का कथन नहीं करता, क्योंकि विवाह सूक्त प्रकट करता है कि धार्मिक, पवित्र और गम्भीर अवसरों पर गायें भी मारी जाती थीं जबकि बैलों को अधिक संख्या में इन्द्र के लिए बलिदान दिए जाने का अनेक बार वर्णन किया गया है। जबकि गायें बाहर चरागाह में होती थी सांड और बैल नियमित रूप से जोतने और गाड़ी खींचने के कार्य में प्रयुक्त किए जाते थे।

पशुओं के मूल्य में घोड़े दूसरे नम्बर पर आते थे क्योंकि गायों की अधिकता के साथ घोड़ों की सम्पत्ति की निरन्तर प्रार्थना की गई है। उस मानव समाज के लिए जो इतना अधिक युद्ध में संलग्न रहता हो घोड़ा युद्ध की गाड़ी को खींचने के लिए अत्यावश्यक मूल्य का था। वह रथों की दौड़ के लिए भी अनिवार्य था जिसके लिए वैदिक भारतीय समर्पित था। हां वह अब तक घोड़ों पर सवारी करने का अभ्यस्त नहीं हुआ था। इसके अतिरिक्त पशुयज्ञों में अश्वमेध सर्वाधिक महत्त्व पूर्ण, शक्तिशाली तथा प्रभावोत्पादक समझा जाता था।

पक्षी

ऋग्वेद के पक्षियों में मुझे केवल उनका उल्लेख करने की आवश्यकता है जिनका ऐतिहासिक या साहित्यिक अभिरुचि की दृष्टि से कुछ महत्त्व है। जंगली हंस या सामान्य हंस का प्रायः हवाला दिया गया है जो कि शास्त्रीय कवियों के लिये इतना परिचित है। ये जल में तैरते हुए या पङ्क्ति में उड़ते दिखलाए गए हैं। शुक्ल यजुर्वेद में उनमें पानी से सोम को अलग करने की कौतूहलवर्धक शक्ति आरोपित की गई है जैसी कि बाद की कविता में उन्हें पानी से दूध को खींचने (पृथक् करने) वाला बतलाया गया है। बाद वाला गुण (दूध पानी को पृथक् करना) उसी वेद के अनुसार जलमुर्गाबी [क्रुञ्च] पक्षी में बतलाया गया है।

चक्रवाक या लाल रंग के हंस की उच्चकोटि की प्रेम प्रवृत्ति पर वेदोत्तर-काल के कवियों ने इतनी अधिक बार लिखा है, ऋग्वेद में उसका उल्लेख एक बार किया गया है। अश्विनी कुमार के विषय में कहा गया है वे प्रातःकाल इन पक्षियों के समान जोड़े में आते हैं जबकि अथर्ववेद दाम्पत्य प्रेम के नमूने के रूप में इनका हवाला देता ही है। मोरनियों [मयूरियों] को ऋग्वेद में विष

दूर करने वाला कहा गया है और तोतों [शुकों] की प्रशंसा पीताभ बतलाकर की गई है। यजुर्वेद के समय तक आते-आते वाद वाला पक्षी (शुक) पालतू बना लिया गया क्योंकि उसके विषय में कहा गया है कि वह मनुष्य की बोली बोलता है।

खनिज पदार्थ एवं धातुयें

अनुपलब्धि (उल्लेख न करने या प्राप्त न होने) के तर्क के जो खतरे होते हैं उनका बहुत अच्छा उदाहरण इस वास्तविकता से दिया जाता है कि खनिजों में सर्वाधिक आवश्यक नमक का एक बार भी कभी भी ऋग्वेद में उल्लेख नहीं किया गया है और फिर भी पंजाब का उत्तरी भाग भारत का वही स्थान हैं जहाँ इसकी सर्वाधिक बहुतायत है। सिन्धु और झेलम के मध्य में नमक की पर्वत शृङ्खला में नमक इतनी अधिक मात्रा में विद्यमान है कि ष्ट्रैवो के अनुसार सिकन्दर के यूनानी साथियों ने दावे के साथ कहा है कि उससे समस्त भारत की आवश्यकता के लिए नमक की पर्याप्त मात्रा में आपूर्ति की जा सकती है।

धातुओं में सोना एक ऐसी धातु है जिसका उल्लेख ऋग्वेद में सर्वाधिक बहुतायत के साथ हुआ है। सम्भवतः इसका अत्यधिक भाग उत्तर पश्चिम की नदियों से प्राप्त होता था जो कि आज दिन भी इस बहुमूल्य धातु की अत्यधिक मात्रा देने वाली कही जाती है। इस प्रकार कवि लोग सिन्धु को 'सोने की' या 'सोने का नदीतल रखने वाली' कहते हैं। इस बात के संकेत हैं कि राजा लोगों के पास अत्यधिक मात्रा में सोना होता था। इस प्रकार एक कवि अन्य रमणीय भेटों के साथ ही सोने के १० पिण्ड देने के लिए अपने राजकीय उपकारक की प्रशंसा करता है। विभिन्न प्रकार के सोने के आभूषण जैसे कानों की वाली और बाजूबन्द का उल्लेख प्रायः किया जाता है।

सोने के बाद दूसरे नम्बर पर ऋग्वेद में जिस धातु का विवरण सबसे अधिक दिया गया है वह अयस —(लैटिन aes) कहलाता है। यह निश्चय करना कि क्या यह लोहे का बोध कराता है या नहीं एक ऐसा विषय है जो कम ऐतिहासिक अभिरुचि नहीं रखता। अनेक अनुच्छेदों में जहाँ यह शब्द विद्यमान है यह सामान्य रूप से धातु का अर्थ देता प्रतीत होता है। कुछ मामलों में जहाँ यह विशिष्ट धातु का निर्देश करता है वहाँ प्रमाण अधिक निर्णायक नहीं है। किन्तु इसके रंग के विषय में जो अनुमान लगाया जा सकता है वह निश्चय ही इसके ललछौंहें (कुछ लाली लिए) होने के पक्ष में है

जो कि लोहे की ओर नहीं पीतल की ओर संकेत करता है। अथर्ववेद में 'काले' अयस् और 'लाल' अयस् में भेद किया गया है यह वास्तविकता इस बात की ओर संकेत करती हुई मालूम पड़ती है कि लोहा, तांबा या पीतल में भेद की ओर ध्यान केवल हाल में खींचा गया है। दूसरी बात यह है कि सभ्यता के विकास में पीतल का प्रयोग लोहे के प्रयोग से सर्वदा पहले आता है। फिर भी यह दावा करना सर्वथा जल्दबाजी होगी कि प्राग्वर्ती वैदिक युग के लिए भी लोहा बिल्कुल अपरिचित था। यह सर्वदा सम्भव मालूम पड़ता है कि उस काल के आर्य लोग चाँदी से अपरिचित थे क्योंकि इसका नाम ऋग्वेद में उल्लिखित नहीं किया गया और चाँदी का ज्ञान लोहे के साथ हाथ में हाथ डालकर चलता है। यह बात उस पद्धति के कारण होती है जिसमें ये धातुयें कच्ची अवस्था में जिस रूप में एक दूसरे से मिलाई जाती हैं और वह (मेल) उन्हें उत्पन्न करता है दूसरी बात यह है कि ये दोनों धातुयें किसी भी परिमाण में उत्तर पश्चिम भारत से प्राप्त नहीं होतीं।

आदिवासी एवं आर्यजातियां

इस प्रकार भौगोलिक, जलवायु परक तथा प्रादेशिक उपज सम्बन्धी प्रमाण दिखलाते हैं कि जिन कवियों ने ऋग्वेद की रचना की थी वे लोग भारत के उत्तर पश्चिम में काबुल से जमुना तक बस गये थे। किन्तु वे अब तक आदि वासियों के साथ संघर्ष में लगे हुए थे क्योंकि उनके ऊपर अनेक विजयों का उल्लेख पाया जाता है। इस प्रकार इन्द्र के लिए कहा गया है कि उन्होंने अपने सहयोगियों के लिए उनमें १००० को बांध लिया था और ३०००० को मार डाला था। विजेता लोग नए प्रदेशों को प्राप्त करने के लिए अमादा थे यह बात आगे बढ़ने में नदियों के प्रतिबन्धक होने के प्रायिक वर्णन से मालूम पड़ती है। आक्रान्ता यद्यपि अनेक जातियों में बटे हुए थे किन्तु जाति और धर्म की एकता का उन्हें ध्यान था। ये स्वयं को आर्य अर्थात् 'अपनी बिरादरी के' कहा करते थे जोकि आदिवासी का विरोधी था जिनको वे दास या दस्यु असुर, पिशाच, राक्षस कहा करते थे। बाद के समय में उन्हें अनार्य या 'आर्य नहीं' कहने लगे। दो जातियों के मध्य लाक्षणिक शारीरिक विभेद रंग (वर्ण) सम्बन्धी था। आदिवासियों का वर्णन काले (कृष्ण) या 'काली खाल वाले' और दास वर्ण के रूप में किया गया है जोकि 'आर्य वर्ण' या 'हमारा वर्ण' के वैषम्य में था। इसमें सन्देह नहीं कि इस वैषम्य ने जातिप्रथा का मूलभूत आधार तैयार किया जिसका (जाति का) संस्कृत में नियमित नाम

'वर्ण' पड़ गया ।

विजित जाति के जो लोग भागकर पहाड़ पर नहीं जा सके वे बन्दी बना लिए गए और दास बन गए । इस प्रकार एक गायक अपने आश्रयदाता राजा से १०० गधे, १०० मेंड़ें और १०० दास प्राप्त करता है । बाद की संस्कृत में दास का शब्द (दास) नियमितरूप से नौकर या गुलाम का अर्थ उसी प्रकार देने लगा जिस प्रकार जर्मन लोगों के लिए "Captine slav" का अर्थ 'Slave' हो गया । जब आदिवासी पूर्ण रूप से पराधीन बना दिए गए और उनका दस्यु कहा जाना समाप्त हो गया तब वे बाद के नाम शूद्र के अन्तर्गत चौथी जाति बन गए । दस्युओं का ऋग्वेद में इस प्रकार वर्णन किया गया है—वे यज्ञ नहीं करते, विश्वास नहीं करते, अपवित्र होते हैं । इसमें भी सन्देह नहीं कि लिंग पूजक शब्द से उन्हीं का अभिप्राय है जिसका उल्लेख दो प्रकरणों में किया गया है । कालक्रम से आर्यों ने इस स्वरूप को सम्प्रदाय के रूप में आत्मसात् कर लिया । महाभारत में कतिपय प्रकरण हैं जो यह दिखलाते हैं कि जब यह महाग्रन्थ लिखा गया था तब लिंग के चिन्ह से शिवजी पूजे ही जाने लगे थे । आजकल भारत में लिङ्ग पूजा विस्तृत क्षेत्र में व्याप्त हो गई है किन्तु दक्षिण में यह सर्वाधिक प्रचलित है । दस्यु लोग पशुचारण वृत्ति वाली जाति के मालूम पड़ते हैं क्योंकि उनके पास अधिक संख्या में पशुवृन्द थे जिनको विजेता आर्यों ने अधिकार में ले लिया था । उन लोगों ने स्वयं को दुर्गों में (जिन्हें वे पुर कहते थे) दृढ़ रूप में सुरक्षित कर लिया था जिन (पुरो) की संख्या अत्यधिक रही होगी क्योंकि कभी कभी कहा जाता है कि इन्द्र ने अपने सहयोगियों के लिये उन पुरों की इतनी संख्या नष्ट कर दी जिसे सौ कहा जा सकता है ।

आर्यजातियां

आर्यों के मध्य अनेक कबीलों (जनजातियों) का ऋग्वेद वर्णन करता है । इनमें सबसे अधिक उत्तर पश्चिमी कबीला है गन्धार लोगों का । जिस प्रकार उनका विवरण दिया गया है यदि उससे निर्णय किया जाय तो वे भेड़ों के पालने वाले थे । वे बाद में गन्धार या गान्धार रूप में भलीभांति जाने गए । अथर्ववेद गन्धारी लोगों के निकटवर्ती मूजवत् लोगों का वर्णन करता है, यह कबीला असन्दिग्ध रूप में मूजवत् पर्वत के निकट निवास करता था । स्पष्ट ही इन दो के विषय में कहा जा सकता है कि उत्तर पश्चिम में आर्यों के निवास स्थलों की यह अन्तिम सीमा थी ।

भारतीय आर्यों के यदि परिपूर्ण रूप का नहीं तो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भाग का अर्थ है 'पञ्चजातियाँ' । यह उक्ति ऋग्वेद में प्रायः आई है । यह

असम्भव नहीं है कि इस शब्द का अर्थ पांच जातियां थीं जिनका एक साथ परिगणन दो अनुच्छेदों में किया गया है, वे हैं—पुरु, तुर्वश, यदु, अनु और द्रुह्यु। इनका प्राय: वर्णन इस रूप में किया गया है कि ये अन्तर्जातीय संघर्षों में सर्वदा संलग्न रहते थे। इनमें चार का कतिपय अन्य कुलों के साथ नाम लिया जाता है कि इन दस राजाओं के आधीन इन सबने मिलकर त्रित्सुओं के राजा सुदास के प्रतिकूल एक संगठन बना लिया था। विरोधी शक्तियां परुष्णी के तटों पर एकत्र हुई जहां दस राजाओं का महायुद्ध लड़ा गया। परुष्णी की धारा को पार करने तथा उसमें अवरोध डालने के प्रयत्न में इस संगठन को त्रित्सुओं ने बहुत बड़ा विनाश कर पीछे ढकेल दिया।

पुरु लोगों का इस रूप में वर्णन है कि वे सरस्वती नदी के दोनों किनारों पर रहते थे। हां उनका एक भाग निश्चित रूप से और आगे पश्चिम की ओर अवश्य छूट गया होगा, क्योंकि सिकन्दर के समय में वे परुष्णी नदी के तट पर मिले थे। ऋग्वेद प्राय: उनके राजा त्रसदस्यु का उल्लेख करता है जोकि पुरुकुत्स के पुत्र थे और ऋग्वेद उनके वंशज तृक्षी का कथन करता है जो एक शक्तिशाली राजकुमार थे। जिन जातियों का अनेक बार सर्वाधिक नाम लिया गया है उनमें तुर्वश लोग भी एक है। उनके साथ सामान्यतया यदु लोगों को भी शामिल किया गया है। ऐसा मालूम पड़ता है कि कण्व लोगों का पुरोहितों का परिवार उनकेयहां रहा था। ऋग्वेद के एक अनुच्छेद से अनुमान लगाया जा सकता है कि अनु लोग परुष्णी के किनारे रहते थे और ऐसा मालूम पड़ता है कि भृगुओं का पुरोहित परिवार उनसे सम्बन्धित था। द्रुह्यु लोगों के साथ उनका सम्बन्ध विशेषरूप से निकटवर्ती मालूम पड़ता है। ऋग्वेद के केवल एक प्रकरण में मत्स्य लोगों का उल्लेख है, वे भी तृत्सु लोगों के शत्रु थे। महाभारत में हम उन्हें यमुना के पश्चिमी तट पर रहने वाला पाते हैं।

सुदास के शत्रुओं में अधिक महत्त्वपूर्ण नाम भरत लोगों का है। एक सूक्त (३-३३) उनके विश्वामित्र के साथ विपाश और शुतुद्रि नदियों के तट पर आने का वर्णन करता है। एक दूसरे सूक्त (३-५३) में हम पढ़ते हैं कि विश्वामित्र पहले सुदास के प्रमुख पुरोहितों में रहे थे और अब उन्होंने जलों को अपनी प्रार्थनाओं द्वारा भरतों के लिए आसानी से पार करने योग्य बना दिया था। सम्भवतः यही वह अवसर था जबकि एक दूसरे सूक्त (७-३३) के अनुसार सुदास और तृत्सुओं द्वारा भरत लोगों की पराजय हो गई। तृत्सुओं की रक्षा वशिष्ठ की प्रार्थनायें कर रही थीं जोकि विश्वामित्र के उत्तराधिकारी और विश्वामित्र के प्रतिद्वन्द्वी थे। प्रतीत होता है भरत लोग ऋग्वेद में यज्ञ विधियों से विशेष रूप से सम्बन्धित हैं क्योंकि अग्नि को भारत की उपाधि मिलती है

अर्थात् "भरत से सम्बन्ध रखने वाली आग" और याज्ञिक देवी भारती प्रायः सरस्वती से सम्बन्धित है और उनसे (भरतों से) उसने नाम ग्रहण किया है। अग्नि के एक सूक्त (३-२३) में दो भरतों का उल्लेख है जिनके नाम हैं— देवश्रव और देववात जिन्होंने दृषद्वती, आपया और सरस्वती के तट पर पवित्र अग्नि प्रज्वलित की। यह वही प्रदेश है जो बाद में ब्राह्मण धर्म के पवित्र प्रदेश ब्रह्मावर्त और कुरुक्षेत्र के नामों से प्रशंसित हुआ। कुशिक लोगों का परिवार जिनसे विश्वामित्र सम्बन्धित थे, भरतों से निकट रूप में जुड़ा हुआ था।

ज्ञात होता है कि त्रित्सु लोग परुष्णी के पूर्व में किसी स्थान पर बस गए थे समझा जा सकता है कि उसके बायें किनारे पर सुदास के दस राजाओं के संगठन का प्रतिरोध करने के लिए अपनी सेनायें आगे बढ़ाई थीं जो (दस राजाओं का संगठन) पश्चिम से धारा को पार करने का प्रयत्न कर रहे थे। महान युद्ध में सुदास के सहयोगी के रूप में पांच कबीलों का वर्णन किया गया है। इन कबीलों का नाम बाद में कहीं विद्यमान नहीं है। सम्भवतः सृञ्जय लोग भी त्रित्सुओं के सहयोगी थे क्योंकि त्रित्सुओं के ससान उनके शत्रु के रूप में तुर्वश लोगों का वर्णन किया गया है।

कतिपय जातियों के विषय में हम ऋग्वेद में नामों के अतिरिक्त ओर कुछ नहीं पढ़ते, यह सच है कि वे नाम बाद के समय तक विद्यमान रहे। इस प्रकार उशीनर लोगों का केवल एक बार उल्लेख है जोकि उस समय विद्यमान थे जब ऐतरेय ब्राह्मण लिखा गया। उनका निवास स्थान उत्तर भारत का मध्य भाग था। चेदियों का भी केवल एक ही बार उल्लेख किया गया है। वे लोग महाभारत युग में मगध (दक्षिणी बिहार) में रहते थे। क्रिवी एक जातिपरक नाम है। यह सिन्धु और असिक्नी से सम्बन्धित है। इनका निवास स्थान उत्तर पश्चिम में था। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि यह पाञ्चालों का पुराना नाम है जो वर्तमान दिल्ली से उत्तर की ओर के प्रदेश में रहते थे।

अथर्ववेद दूरवर्ती जातियों में केवल गन्धारवासी और मूजवतों का ही वर्णन नहीं करता किन्तु मगध (बिहार) और अंग (बंगाल) का भी वर्णन करता है। इसलिए हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि जब वह वेद पूरा हुआ उस समय तक आर्यजाति गंगा के मुहाने तक पहुंच चुकी थी।

दोनों वेदों (ऋक् और अथर्व) में किसी में भी पाञ्चालों का उल्लेख नहीं किया गया है और कुरुओं का नाम अप्रत्यक्ष रूप में दो तीन स्थानों पर या तो समास में या प्रत्ययों द्वारा बने शब्द के रूप में आया है। पहले पहल उनका विवरण शुक्ल यजुर्वेद में दिया गया है। फिर भी ये दोनों ब्राह्मण काल के सर्वाधिक प्रतिष्ठित लोग हैं। दूसरी ओर ब्राह्मण ग्रन्थों में ऋग्वेद को सबसे

अधिक महत्त्वपूर्ण कुछ संख्यक जातियों के नाम या तो पूर्णरूप से या व्याव-हारिक रूप से अदृश्य हो जाते हैं—वे जातियां हैं पुरु, तुर्वश, यदु, त्रित्सु तथा और बहुत सी। भरत लोगों को ब्राह्मण ग्रन्थों के रचनाकारों ने बहुत ऊंचा सम्मान दिया और उन्हें सदाचार के आदर्श के रूप में स्थापित किया। वे भरत लोग भी किसी राजनैतिक सत्ता का प्रतिनिधित्व करना समाप्त कर चुके ज्ञात होते हैं। क्योंकि अब और अधिक आगे उनका कोई हवाला उस अर्थ में नहीं दिया गया जैसा कि उस समय के और लोगों का दिया गया है। दूसरी बात यह है कि ऐतरेय ब्राह्मण के और मनु के जाति परिगणन में उनका नाम नहीं लिया गया है जबकि बौद्ध साहित्य में परमार्थतः उनकी पूर्ण उपेक्षा कर दी गई है।

जबकि स्थिति इस प्रकार की है यह समझना स्वाभाविक ही है कि विस्तृत मैदानों में जीवन की बदली हुई परिस्थितियों में कई वैदिक जातियाँ नये नामों के साथ संश्लिष्ट होकर राष्ट्रों में बदल गईं। इस प्रकार भरत-जाति वालों ने निस्सन्देह स्वयं को उसमें विलीन कर दिया जोकि कुरु राष्ट्र कहलाने लगा। ये भरत वे ही थे जिनमें महाग्रन्थ की कुरुओं की राजकीय जाति सम्मिलित थी और जिनसे महाग्रन्थ का नाम ही 'महाभारत' लिया गया जिसमें कुरुओं के महायुद्ध का वर्णन है। महाभारत की वंशावली पद्धति में पुरुओं को कुरुओं के सम्बन्ध में लाया गया। सम्भवतः यह संकेत है कि वे भी बाद के लोगों के साथ घुल-मिल गये। यह भी असम्भव नहीं है कि ऋग्वेद के बाद जिन त्रित्सुओं का तिरोभाव हो जाता है उन लोगों ने भी कुरुराष्ट्र के निर्माण में एक योजक तत्त्व प्रदान किया हो।

पाञ्चालों के विषय में हम देख चुके हैं कि वे क्रिवि लोगों का प्रति-निधित्व करते हैं। जो भी हो यह सम्भव है कि बाद वाले (क्रिवि)लोगों ने बाद के (पाञ्चाल) राष्ट्र का निर्माण करने के लिए छोटी छोटी कई जातियों को मिला लिया हो। ब्राह्मण ग्रन्थ के एक अनुच्छेद में संकेत विद्यमान है कि तुर्वश लोग भी उन जातियों में एक थे। ऋग्वेद में जो यदु लोग तुर्वशलोगों के सहयोगी हैं सम्भवतः वे भी उनमें एक थे। महाग्रन्थ (महाभारत) अपत्यवाचक प्रत्यय के साथ यादव के स्वरूप में उस जाति का (यदु का) नाम अब तक सुरक्षित किये हुए है जिसमें कृष्ण का जन्म हुआ था। स्वयं पाञ्चाल नाम ही (जो पञ्च या पांच से बनाया गया है) इस तथ्य की ओर संकेत करता मालूम पड़ता है कि ये लोग कुल मिलाकर पांच मूलतत्त्वों (जातियों) से बने थे।

इतना अवश्य है कि ऋग्वेद में उल्लिखित कतिपय जातियों ने अपनी व्यक्तिगत पहिचान अपने पुराने नामों के अन्तर्गत महाभारतकाल तक बनाए

रखी। वे जातियां थीं—उशीनर, सृञ्जय, मत्स्य और चेदि।

इस बात पर ध्यान देना मनोरंजक है कि ऋग्वेद एक सम्पन्न, शक्तिशाली इक्ष्वाकु नामक राजकुमार का हवाला देता है। महाभारत में यह नाम पुनः उस शक्तिशाली राजा के लिए आया है जिसने गंगा के पूर्व में अयोध्या (अवध) नगरी में शासन किया और सूर्यवंश का प्रवर्तक था।

आर्यों का रहन सहन और आचार व्यवहार

जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट है कि वैदिक आर्य अनेक जातियों में विभाजित थे जो जातियां यद्यपि जाति भाषा और धर्म के क्षेत्र में अपनी एकता के विषय में प्रबुद्ध थीं फिर भी उनमें किसी प्रकार की राजनैतिक एकता नहीं थी। यह सच है कि कभी कभी वे अपने संगठन बना लिया करते थे किन्तु उसी प्रकार ठीक उतनी ही वार प्रायः एक दूसरे के साथ युद्ध में भी होते थे। वास्तव में कबीला एक राजनैतिक इकाई थी जिसका संगठन उसी प्रकार किया जाता था जैसा आजकल अफगान लोगों का होता है या टैसीटस के समय में जर्मन लोगों का होता था। जाति (जन) में कुछ संख्यक बस्तियां या मण्डल (विश्) होते थे फिर वे भी गांव (ग्राम) समूह से बनते थे। ज्ञात होता है जाति की संघर्षशील संस्थायें इन्हीं विभाजनों पर आधारित थीं। जो मकान गांव का निर्माण करते थे वे ऐसा मालूम पड़ता है कि पूर्णरूप से लकड़ी के बने होते थे जैसे कि वे मैगस्थनीज के समय तक भी बने हुए थे। प्रत्येक मकान के मध्य में गृह्य अग्नि जलाई जाती थी। शत्रुओं और जलप्लावन (बाढ़) से रक्षा के लिए सुदृढ़ प्राचीर (दीवार) के घेरे प्रमुख ऊंचाई वाले बनाए जाते थे (जिन्हें पुर कहते थे।) उनमें भूमिरचना होती थी जिन्हें नुकीले स्तम्भों या कभी कभी पत्थरों से सुदृढ़ बनाया जाता था। ऐसा कुछ (वेदों में) नहीं है जो यह दिखला सके कि उनमें लोगों का निवास था। और यह तो और भी बहुत कम मिलता है कि पुर का अर्थ कस्वा या शहर था जैसा कि बाद के समय में उसका यह अर्थ मिलता है।

वैदिक समाज का आधार पैतृक परिवार था; जाति की सरकार स्वभावतः साम्राट् पद्धति पर थी। राजा प्रायः परंपरागत होता था। इस प्रकार त्रित्सुओं और पुरुओं में उसी परिवार के परम्परागत सदस्य शासक के रूप में वतलाए गए हैं। यह अवश्य था कि अवसर के अनुसार जाति के मण्डलों [विश] द्वारा राजा का निर्वाचन होता था। किन्तु यह प्रकट नहीं होता कि (मत देने के लिए) अभिरुचि क्या राजकीय परिवार के सदस्यों तक सीमित थी या उसे कतिपय उच्च परिवारों तक बढ़ा दिया गया था। शान्ति के समय में राजा का प्रमुख कर्तव्य अपनी जनता को सुरक्षा का विश्वास दिलाना था।

उसके एवज में वे (प्रजाजन) उनके आज्ञापालक होते थे और स्वेच्छा से उन्हें उनके भरण पोषण के लिए भेंट प्रदान करते थे—कोई निश्चित कर नहीं था। किसी भी प्रकार उसकी शक्ति परिपूर्ण या असीमित नहीं थी क्योंकि वह जनता की इच्छा से सीमित हो जाती थी। जनता की इच्छा जातीय परिषदों (समितियों) में व्यक्त की जाती थी। इन जातीय समितियों के संविधान और कार्य पद्धतियों के विषय में दुर्भाग्य से हमें बहुत कम या बिल्कुल सूचना प्राप्त नहीं है। हाँ युद्ध में राजा प्रमुख नियन्त्रण अपने हाथ में रखता था। महत्त्वपूर्ण अवसरों पर जैसे युद्ध के समय में जनता की ओर से यज्ञ करना और बलि प्रदान करना भी उसका कर्तव्य था। वह यह कार्य या तो स्वयं करता था या कार्य करने के लिए पुरोहित को नियुक्त कर देता था।

निस्सन्देह प्रत्येक जाति के पास गायकों का परिवार रहता था जो राजा की सेवा में उपस्थित होते थे। उसके कार्यों की प्रशंसा करते थे, साथ ही सूक्तों की रचना करते थे जो देवताओं के सम्मान में किए जाने वाले यज्ञों में साथ देते थे। अपने आश्रयदाताओं की उदारता पर निर्भर रहते हुए ये कवि अपनी रची हुई प्रार्थनाओं की प्रभावशालिता और अपने द्वारा की गई सेवा के लिए भली भाँति उनके दिये हुये दान के महत्त्व पर बल देने की कभी उपेक्षा नहीं करते थे। राजा स्वयं का प्रतिनिधित्व करने के लिए जिस कुलाचार्य को नियुक्त करता था उसे पुरोहित या परिवारिक कुलगुरु कहा जाता था। राजा सुदास की नियुक्ति में वशिष्ठ उस पद पर आसीन थे और अपने सूक्तों में एक [७-३३] में वे यह संकेत देने में नहीं चूकते हैं कि त्रित्सुओं की विजय उनकी प्रार्थनाओं के कारण हुई। उदार आश्रयदाताओं की प्रशंसा में अत्युक्तीकरण का प्रकाशन निस्सन्देह आंशिक रूप में दूसरे राजाओं और राजकुमारों को प्रोत्साहन देने के निमित्त होता था। फिर भी राजाओं द्वारा अपने प्रमुख पुरोहित को दी जाने वाली भेंट में सोना, गायें, घोड़े, रथ और वस्त्र प्रायः प्रभूत मात्रा में अवश्य रहते होंगे। विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण विजयों के बाद (यह दान और अधिक होता होगा)। बाद में ब्राह्मणों की धर्माध्यक्षता के कारण प्रतिष्ठित हो जाने पर पुरोहित जाति के प्रति उदारता एक कर्तव्य बन गया जबकि प्रत्येक विशिष्ट विधि के लिए यज्ञशुल्क की राशि निश्चित कर दी गई।

पौरोहित्य परम्परा

यज्ञविधियों के सम्पादन में राजाओं द्वारा अपने प्रतिनिधि के रूप में पुरोहितों की नियुक्ति भारत में पौरोहित्य परम्परा के प्रारम्भ और उसके

सर्व प्राचीन स्वरूप के रूप में देखी जानी चाहिए। यह ऐतिहासिक दृष्टि से अनुपम धर्माध्यक्षता की व्यवस्था का प्रारम्भ बिन्दु बन गया जिसमें पुरोहित जाति ने समाज में सर्वप्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया और राज्य पूर्णतः देवतायतन मे समाहित हो गया। वास्तव में पश्चिम में मध्य युग में कैथालिक चर्च का भी यही आदर्श था; किन्तु यूरोप में कभी यह इतनी परिपूर्णता को प्राप्त नहीं करसका जितना इसका विकास भारत में हुआ। जेसे ही पौरोहित्य परम्परागत बन गया उसी समय जाति प्रथा का विकास प्रारम्भ हुआ जिस की तुलना किसी दूसरे देश में नहीं पाई जाती। किन्तु उस काल में जिस का प्रतिनिधित्व सुदास और वशिष्ठ द्वारा किया गया जिस समय में ऋग्वेद का पुराना भाग लिखा गया उस समय तक पौरोहित्य वंशानुगत नहीं था और पंजाब में बसे आर्यों के अन्तर्गत योद्धाओं और धर्माचार्यों के वर्ग जाति के रूप में इस से भी कम परिणत हो पाए थे। यह इस वास्तविकता से प्रमाणित होता है कि महाभारत युग में मध्य देश या बीच के प्रदेश में ब्राह्मण धर्म की जाति प्रथा उद्भूत हो चुकी थी; वहाँ के निवासी उत्तर पश्चिम के लोगों को अर्धबर्बर कहा करते थे।

जाति प्रथा का विकास

इस प्रदेश की वैदिक जातियों के सामाजिक संगठन साधारण (सीधे सादे) थे जिनमें पेशे (एक दूसरे से) बहुत कम भिन्न थे। प्रत्येक व्यक्ति सैनिक भी था ओर उसी प्रकार नागरिक भी था, अधिकतर उसी प्रकार जैसा कि आजकल के अफगानों में है। जैसे ही वे पूर्व की ओर आगे को बढ़े समाज अधिक जटिल हो यया और पेशे वंशानुगत रूप में प्रचलित हो गए। अब आबादी क्षेत्र के विस्तृत भागों पर फैल गई थी इसलिए कुछ ऐसा करने की आवश्यकता उत्पन्न हो गई जो स्थायी सेना की प्रकृति की हो जिससे आदिवासियों के आकस्मिक आक्रमणों को निरस्त किया जा सके या आदिवासी प्रजा के उठ खड़े होने को दबाया और शान्त किया जा सके। इस प्रकार की सेना का बीज भाग छोटी छोटी जातियों के प्रधानों के परिवारों द्वारा प्रदान किया जा सकता था; (इस प्रकार के मूलभूत सैनिक) सेना के किसी नेता के नीचे एक साथ मिल गए। इस प्रकार जनता का कृषि और व्यवसाय में संलग्न भाग अपने कार्यों को विना किसी विघ्न के संचालित रखने के लिए उन्मुक्त हो गया। इसी समय धार्मिक विधि विधान में जटिलतायें बढ़ रही थीं। इसकी सफलता कार्य को शुद्ध रूप में किए जाने पर अधिक निभर होती जा रही थी जबकि प्राचीन सूक्तों की सुरक्षा अधिक अपरिहार्य हो रही थी। इसलिए पुरोहित लोगों को अपने धार्मिक कर्तव्यों को

पूरा करने और अपने परिवारों में विद्यमान पवित्र परम्पराओं को (उत्तराधिकारियों में) संचारित करने के लिए अपना पूरा समय लगाना पड़ता था।

इन कारणों के होने से आर्यों के समाज के तीन प्रधान वर्ग अधिकाधिक पृथक् हो गए। किन्तु किस प्रकार वे जातियों में बदल गए या सामाजिक स्तर ने आनुवंशिकता एवं अन्तर्जातीय विवाहों और सहभोज पर प्रतिबन्ध के ऐसे अवरोधों के द्वारा एक को दूसरे से पृथक् कर दिया जिनका अतिक्रमण असम्भव था? यह पारस्परिक वर्जन की नीति निश्चय ही सर्वप्रथम विजित आदिवासियों के व्यवहार से प्रारम्भ हुई होगी जिन (आदिवासियों) को आर्य विश्वास को स्वीकार करने के कारण आर्य राजतन्त्र में दासवर्ग की हैसियत स्वीकार करने की हानि उठानी पड़ी। यह आवश्यक नहीं है कि दो जातियों के मध्य में खाई उससे अधिक चौड़ी हो जैसी खाई आजकल संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में सफेद लोगों को नीग्रो लोगों से अलग करने वाली विद्यमान है। अमेरिका वासियों के विभेद का वर्णन 'रंगभेद' के रूप में किया जाता है, उससे मिलता-जुलता जो शब्द (वर्ण) भारत में प्रयुक्त किया जाता है उसी का वाचक 'जाति' शब्द हो गया। धर्माचार्यों का वर्ग आनुवंशिक हो गया अत: वे पवित्रता और अनतिक्रमणीयता की स्थिति प्राप्त करने में सफल हो गए जिसने उन्हें दूसरे आर्य लोगों के ऊपर उसी प्रकार उठा दिया जिस प्रकार आर्य लोग दासों के ऊपर उठे थे। जब उनकी वरिष्ठता स्थिर हो गई तब वे राज्य के शेष वर्गों को वर्जन की उन्हीं रेखाओं पर संगठित करने के लिए आगे बढ़े। जब आर्यों की तीन जातिओं और उनके साथ चतुर्थ स्थान पर शूद्रों को जोड़ने की पद्धति उनके मौलिक सिद्धान्तों में विद्यमान हो ही चुकी थी वह समय यजुर्वेद के स्वतन्त्र पद्यों के बड़े भाग और अथर्ववेद के अधिकांश भाग (अध्याय ८ से १४ का अधिकांश) से सम्बन्ध रखता है। किन्तु ऋग्वेद के एक सूक्त (१०-९०) में स्पष्ट रूप से चार जातियों का नाम से उल्लेख किया गया है; उस एक सूक्त के अतिरिक्त पहले, आठवें और दसवें मण्डल के कतिपय परवर्ती सूक्तों से ही उस का सम्बन्ध है। पहली जाति के व्यक्ति के नियमित नाम के रूप में ब्राह्मण शब्द ऋग्वेद में अब तक विरल बना हुआ था जो इस अर्थ में केवल आठ बार आया है जबकि सामान्य ऋषि या प्रतिनिधि पुरोहित के अर्थ में ४६ बार प्राप्त होता है।

सामाजिक स्थिति

अब हम सरसरी तौर से सामाजिक दशाओं का चित्रण करने के लिए आगे बढ़ सकते हैं जो दशा ऋग्वेद काल में प्रचलित थी। परिवार उस समाज का स्पष्ट रूप से आधार स्तम्भ था। वह परिवार जिसमें पत्नी के भाई और

पति के भाई या बहन की विशेष संज्ञायें थीं। पिता परिवार का प्रधान था जो कि घर का स्वामी (गृहपति) कहलाता था। किसी लड़की से विवाह करने के लिए प्रेमी को किसी निकटवर्ती मित्र की मध्यस्थता के द्वारा पिता से आज्ञा लेनी पड़ती थी। विवाह विधि का सम्पादन वधू के माता-पिता के घर पर किया जाता था। जहाँ वर, उसके सम्बन्धी और मित्र एक जुलूस (बारात) के रूप में आते थे। यहाँ उनका स्वागत सत्कार गाय के मांस द्वारा किया जाता था जो कि उस अवसर पर उनके सम्मान में मारी जाती थी। वर यहाँ भी वधू काहाथ पकड़ता था और उसे वैवाहिक अग्नि के चारों ओर परिक्रमा करवाता था। अथर्ववेद इतना और जोड़ देता है कि वह एक पत्थर भूमि पर स्थापित करता था और वधू से सन्तान की प्राप्ति के लिए उस पर पैर रखने को कहता था। वैवाहिक उत्सवों और प्रमोदो के समाप्त हो जाने के बाद वधू उबटन और मालिश के साथ स्नान कर वस्त्राभूषणों से सजी हुई पति के साथ रथ पर चढ़ती थी जो लाल पुष्पों से सजा होता था और जिसे दो सफेद बैल खींचते थे। इस रथ पर उसे जुलूस के साथ नये घर को ले जाया जाता था। ३००० वर्ष बीत गए तब की वैवाहिक संस्कार की ये प्रमुख विशेषतायें अब तक भारत में जीवित हैं।

यद्यपि बच्चों के समान पत्नी अपने पति की इच्छाओं की अनुवर्तिनी थी किन्तु ब्राह्मण काल की अपेक्षा ऋग्वेद काल में वह अधिक सम्मान की स्थिति प्राप्त किए हुए थी। क्योंकि वह पति के साथ याज्ञिक दानादि विधियों में भाग लेती थी। वह घर की मालकिन (गृहपत्नी) थी, वह केवल नौकरों और दासों पर नियन्त्रण करने में ही सहभागिनी नहीं थी अपितु अपने पति के अविवाहित भाइयों और बहनों पर भी नियंत्रण रखती थी। यजुर्वेद से हम यह अध्ययन करते हैं कि पुत्रों औरु पुत्रियों के लिए यह प्रथागत व्यवस्था थी कि आयु के क्रमानुसार ही उनका विवाह किया जाता था। किन्तु ऋग्वेद एक से अधिक बार उन लड़कियों के विषय में बतलाता है जो अविवाहित बनी रहीं और पिता के घर में ही बुढ्डी हो गईं। क्योंकि परिवार केवल पुरुष परम्परा से ही जारी रह सकता था अतएव सम्पत्ति, पशु और भूमि के साथ पुत्रों की अधिक संख्या की प्रार्थना की जाती थी और नवविवाहित पति आशा करता था कि उसकी पत्नी वीरों की माँ बने। पुत्रों की कमी उसी स्तर पर रखी जाती थी जिस पर दरिद्रता और गोद लेना केवल एक खानापूरी मानी जाती थी। ऋग्वेद में कहीं भी पुत्री के जन्म की इच्छा प्रकट नहीं की गई है। अथर्ववेद में उनके जन्म की प्रार्थना का निवारण किया गया है। जब कन्यायें उत्पन्न हो तब उनके परित्याग की बात भी यजुर्वेद कहता है। वेदों के सबसे

पुराने समय में भी पिता लोग निस्संदेह ऐतरेय ब्राह्मण की इस भावना से सहानुभूति रखते थे कि "लड़कियों का होना एक दरिद्रता है।" यह पक्षपात की भावना भारत में आज दिन तक विद्यमान है और उस कथन की शक्ति में किसी प्रकार की कमी नहीं आई।

सदाचार का स्तर तुलनात्मक दृष्टि से अधिक ऊँचा था इस बात का अनुमान इस वास्तविकता से लगाया जा सकता है कि परस्त्री सम्पर्क और बलात्कार सर्वाधिक गम्भीर आरोपों में गिने जाते थे और अवैध जन्मों को छिपाया जाता था।

एक या दो प्रकरण संकेत देते हैं कि वृद्धों का बहिष्कार अनेक आदि-वासियों के समाजों में पाया जाता था यह बात ऋग्वेद से छिपी हुई नहीं थी।

अपराधों में सर्वाधिक सामान्य अपराध मालूम पड़ते हैं डाकेजनी जो कि पशुओं को उठा ले जाने के रूप ले लेती थी और उसका अभ्यास (प्रयोग) अधिकतर रात में किया जाता था। चोरों और डाकुओं का प्रायः उल्लेख पाया जाता है और ऋग्वेद में इस प्रकार के अपराधियों से घर पर विदेश में और यात्राओं में रक्षा करने के लिये अनेक प्रार्थनायें विद्यमान हैं इस प्रकार के अपराधी जब पकड़ लिये जाते थे तब उन्हें रस्सियों द्वारा खम्भों से बाँध देने का दण्ड दिया जाता था। कर्ज (ऋण) का प्रायः आश्रय लिया जाता था। ऐसा ज्ञात होगा कि यह जुआ खेलने में प्रमुख रूप से लिया जाता था और ऋग्वेद इसे किश्तों में चुकाने की बात भी कहता है।

ऋग्वेद के अन्दर जो वस्त्र विषयक विवरण आये हैं उनसे हम समझ सकते हैं कि नीचे का (अधर) वस्त्र और एक चोगा (उत्तरीय) पहिना जाता था। भेड़ की ऊन के कपड़े बुने जाते थे जो प्रायः रंग विरंगे होते थे और कभी सोने के तारों ले सजाये जाते थे। रत्नावली (मणिमाला) कंकण, नूपुर और कान की वालियों का आभूशणों के प्रसंग में वर्णन किया गया है। बालों पर मालिश की जाती थी और कंघा किया जाता था। अथर्ववेद सौ दाँतों (कँगों) वाले कंघे का भी वर्णन करता है। और ऐसी औषधियों की बात करता है जो केशों की बढ़वार को शक्ति देती हैं और गये हुये केशों को उगाकर पुनः स्थापित करती है। स्त्रियाँ बालों को चोटी में गूंथती थी, जबकि पुरुष समय-समय पर श्रृंङ्गार के लिये इन्हें धारण करते थे और जूड़ा बनाकर शंख के रूप में बाँध लिया करते थे। रुद्र और पूषन् देवताओं का इसी प्रकार सजे रूप में वर्णन किया गया है। हम पढ़ते हैं कि वशिष्ठ लोग जूड़ा जैसे बनाय अपने बालों को सर के दाहिनी ओर बांधते थे। उत्सवों के अवसर पर पुरुष माला धारण करते थे। दाढ़ी सामान्य थी, किन्तु समय-समय पर क्षौर का

अभ्यास भी किया जाता था। अथर्ववेद वर्णन करता है कि जब राजा सोम की दाढ़ी की क्षौर क्रिया की गई तब किस प्रकार वायु गरम जल ले आया और सविता देवता ने कुशलतापूर्वक छुरे का ठीक रूप में प्रयोग किया था।

भोजन की मुख्यवस्तु दूध था जो या तो गाय के थनों से निकलते समय (धारोष्ण) पिया जाता था अथवा कोई अन्न पकाया जाता था या उसी प्रकार सोम में मिलाया जाता था। महत्त्व की दृष्टि से दूसरे स्थान पर संसाधित मक्खन (घृत आजकल घी) आता है जो कि मनुष्य के प्रिय भोजन के रूप में देवताओं को भी प्रदान किया जाता था। अन्न को भुन जाने के बाद खाया जाता था या चक्की के अन्दर पीसकर आटा बना लिया जाता था और दूध या मक्खन में मिलाकर उसकी टिकिया (रोटी या पूड़ी) बना ली जाती थी। विभिन्न प्रकार की सब्जियाँ और फल भी वैदिक आर्य के जीवन यात्रा का अंग थे। मांस केवल उत्सवों के अवसर पर ही खाया जाता था जब जानवरों की यज्ञ में बलि दी जाती थी। बैल देवताओं के लिये प्रधान प्रदेय थे। गोमांस सम्भवत: मांस का प्रकार था जिसको सवाधिक मात्रा में अधिक बार खाया जाता था। घोड़े का माँस निश्चय ही कम सामान्य रूप में प्रयोग किया जाता था क्योंकि अश्वमेध यज्ञ का तुलनात्मक रूप में कम अभ्यास किया जाता था। मांस शूला (लोहे की शलाकाओं) पर या तो भून लिया जाता था या बर्तनों में पका लिया जाता था। बर्तन या तो धातु के बने होते थे या मिट्टी के होते थे। किन्तु पीने के बर्तन सामान्यत: लकड़ी के बने होते थे।

ऋग्वेद काल के भारतीय कम से कम दो प्रकार की मादक मदिरा से परिचित थे। इनमें सोम एक प्रधान मदिरा थी। यह अवश्य था कि इसका उपयोग धार्मिक स्वभाव वाले अवसरों जैसे यज्ञ और उत्सव के लिए ही सीमित था। जैसे जैसे आर्य लोग पर्वतों से और अधिक दूर हटते चले गए सोम का वास्तविक पौदा भी जिससे यह मदिरा बनाई जाती थी अधिकाधिक दुर्लभ होता चला गया। सामान्य व्यवहार में आने वाला मादक द्रव्य सुरा कहलाता था। इसका ज्ञान एक दूरवर्ती प्राचीनकाल की ओर जाता है; क्योंकि सोम के समान इसका नाम अवेस्ता में 'हुरा' इस रूप में पाया जाता है। निस्संदेह इसको एक प्रकार के अन्न से तैयार किया जाता था जैसे आजकल भारत में चावलों से शराब तैयार की जाती है। सुरा में आसक्ति द्यूत के हाथ में हाथ डालकर चलाती थी। एक कवि ने क्रोध, द्यूत और सुरा को विभिन्न पापों का कारण बतलाया है जबकि दूसरा उस व्यक्ति की बात करता है जो सुरा के द्वारा उद्धत बना दिया गया है और देवताओं की भर्त्सना करता है। इसका उपयोग सामान्य रहा होगा; क्योंकि वाजसनेयी संहिता तक आते आते 'सुरा बनाने

वाले' का व्यवसाय (सुराकार) या आसवन एक पेशा बन गया था।

वैदिक काल के भारतीयों के प्रधान व्यवसाय में वस्तुतः युद्ध भी एक था। वे या तो पैदल या रथों पर लड़ते थे। रथ में दो अधिनिवेशी होते थे— एक योद्धा और दूसरा सारथी। यह स्थिति महाभारत के समय में अब तक विद्यमान थी जहाँ हमें कृष्ण अर्जुन के सारथी का काम करते हुए मिलते हैं। अश्व सेना का कहीं उल्लेख नहीं है और सम्भवतः यह अत्यधिक बाद के समय में प्रयोग में आई। हाँ, सिकन्दर के आक्रमण के समय भारतीय सेना के चार विभागों में अश्वसेना एक नियमित विभाग बनाती थी। इस प्रकार के कतिपय संकेत हैं कम से कम घोड़े की पीठ पर चढ़ना ऋग्वेद को ज्ञात था और इसके स्पष्ट विवरण अथर्ववेद और यजुर्वेद में मिलते हैं। वैदिक योद्धा कवच और धातु के बने शिरस्याण से सुरक्षित रहते थे। प्रधान अस्त्र थे धनुष और बाण, बाण का अग्रभाग विषैले सींग से या धातु की नोंक से बनाए जाते थे। भालों और कुल्हाड़ों का भी प्रायः उल्लेख किया गया है।

वेदकाल के भारतीय के लिए आजीविका का प्रधान साधन पशु-पालन था। उसकी बहुत बड़ी आकाङ्क्षा पशुवृन्द रखने की थी और अधिसख्य प्रार्थनाओं में रक्षा, स्वास्थ्य, सम्पत्ति और पशु इनका लगभग सर्वदा प्रथम उल्लेख किया जाता है।

हाँ, यह सच है कि वैदिक आर्य केवल पशुपालक पुरुष नहीं थे। वे अफगानिस्तान की घाटी के पार से अपने साथ कृषि का कम से कम मौलिक ज्ञान अवश्य लाए थे। जैसा कि भारतीयों और ईरानियों द्वारा दिखलाया गया है कि उनके पास "जोतने के लिए" सामान्य शब्द (कृष्) है। वास्तव में ऋग्वेद के समय तक यह एक ऐसा व्यवसाय बन गया था जो महत्त्व में केवल पशु-पालन के बाद दूसरे ही स्थान पर आ गया था। जैसा कि हम अथर्ववेद में अध्ययन करते हैं हल में धातु का फारा (फाल) होता था और उसका प्रयोग खेती में कूंड (फरों) बनाने में काम आता था जो बैलों द्वारा खींचा जाता था। जब भूमि इस प्रकार तैयार हो जाती थी तब भूमि के ऊपर बीज बिखेर दिया जाता था। सिंचाई अपरिचित रही हो ऐसा नहीं मालूम पड़ता क्योंकि पानी के लिए खोदी हुई धाराओं का उल्लेख किया गया है। जब अनाज (यव) पक जाता तब हंसिया (दरांती) से काट लिया जाता था। तब इसे पूलियों (बंडलों) में बांधकर गाहने (थ्रैशिंग) के धरातल पर रख देते हैं जहाँ इसकी गहाई की जाती है और अन्त में इसे ओसाने (विनोइंग) के स्थान पर भेज देते हैं।

यद्यपि वेद कालीन आर्य पशुपालक और कृषिकारक लोग हो ही चुके थे वे अब तक बढ़ी-चढ़ी सीमा तक शिकार का भी अभ्यास करते थे। शिकारी अपने लक्ष्य का पीछा धनुष और वाण के साथ करता था अथवा पाश या पृथ्वी पर फैलाए हुए जाल से उन्हें पकड़ लेता था। शेर जाल में पकड़ लिए जाते थे, कृष्णसार हिरण गड्ढों में सुरक्षित रूप में प्राप्त कर लिए जाते थे और शूकरों का शिकार कुत्तों के द्वारा किया जाता था।

जैसा कि हमने अब तक देख ही रखा है कि ऋग्वेद में नौवहन नदियों के पार जाने तक सीमित था। नावें (जिनको 'नौ-अ' और ग्रीक में नौ-स कहते हैं) उस साधन से आगे बढ़ाई जाती थीं, जो निस्सन्देह छोटे चप्पू (अरित्रा) थे और वे नावें निश्चय ही अत्यधिक आदिम युग की रहीं होंगीं सम्भवतः वृक्ष के तनों को काटकर बना ली जातीं होंगी। कहीं भी पतवार (रडर) या लंगर; मस्तूल या पाल का उल्लेख नहीं किया गया है।

उन दिनों व्यवसाय विनिमय पर चलता था। गाय का स्तर आर्थिक था जिससे प्रत्येक वस्तु का मूल्य आंका जाता था। सिक्कों तक पहुंचने के संक्रमण काल में सोने और रत्नों के जेवरों का प्रयोग चलता था जो कि पुरस्कार या मूल्य चुकाने के रूप में प्रचलित था जैसा कि पुराने जर्मन लोगों का भी प्रचलन था। निष्क जो कि ऋग्वेद में कण्ठहार का अर्थ देता था, बाद के समयों में एक सिक्के का नाम पड़ गया।

'यद्यपि प्रारम्भिक वैदिक युग में जीवन की आवश्यकतायें अब तक आदिम रूप में थी जो कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आवश्यकताओं के अनुकूल थोड़ा बहुत साधन स्वयं जुटा लेने भर के लिये पर्याप्त ही थीं फिर भी विभिन्न व्यवसायों और उद्यमों को प्रारम्भ स्पष्ट रूप में ऋग्वेद में खोजे जा सकते हैं। विशेष रूप से लकड़ी पर कार्य करने वालों के उद्यमों के प्रकरण प्रायः मिल जाते हैं जो अब तक बढ़ई, रथकार और पहिआ बनाने वाला सब कुछ एक ही था। क्योंकि रथों और गाड़ियों के निर्माण के लिये विशेष प्रकार की दक्षता आवश्यक थी। हमें मिलता है कि कुछ लोग विशिष्टकला में स्वयं को तब तक संलग्न कर ही चुके थे और वेतन प्राप्ति के निमित्त उस पर कार्य करते थे अतः सूक्तों की रचना की सुविधा की तुलना प्रायः रथकार की निपुणता से की गई है। धातु कारों (लोहकार, स्वर्णकार इत्यादि) का भी कभी-कभी उल्लेख किया गया है जो भट्ठी में कच्ची धातु को गला देता है, वह धौंकनी के स्थान पर वायु का झोंका उत्पन्न करने के लिये पक्षियों के पंखों का प्रयोग करता है। उसका वर्णन केटली तथा उसी प्रकार धातु के घरेलू बर्तन बनाने वाले के रूप में किया गया हैं। ऋग्वेद में चर्मकार का भी विवरण दिया गया है और उनके

द्वारा जानवरों के तैयार किये हुये चर्म का भी उल्लेख किया गया है। ऐसा ज्ञात होता है कि स्त्रियाँ सिलाई से परिचित थीं और घास तथा बेंत की चटाई बुन लेतीं थीं। एक कला को कहीं अधिक बार रूपकों और उपमाओं में में प्रायः लक्षित किया गया हैं वह बुनाई की कला। किन्तु निर्देश इतने स्वल्प हैं कि हमें उसकी प्रक्रिया में कोई अन्तर्दृष्टि प्राप्त नहीं होती (कि बुननें की प्रक्रिया क्या थी यह ज्ञात नहीं होता।) यह अवश्य है कि अथर्ववेद एक अनुच्छेद में कुछ विस्तृत विवरण देता है जिसमें वर्णन किया गया है कि रात और दिन, जिनको दो वहनों के रूप में मानवीकृत किया गया है, पारी के क्रम से वर्ष का जाल ऐसे धागों से बुनती हैं जो न तो कभी टूटते हैं और न उनका अन्त आता हैं। शुक्ल यजुर्वेद के समय तक श्रम विभाजन अधिक रूप में बढ़ चुका था उसमें बहुत अधिक संख्या में व्यापारों और व्यवसायों को गिनाया गया है। इन व्यवसायों में हमें मिलते हैं रस्सी बनाने वाले, जेवर बनाने वाले, हाथी पालने वाले और अभिनेता।

मनोरञ्जन

उद्योगशील और युद्ध प्रेमी वेद कालीन आर्यों में रथों की दौड़ एक प्रिय मनोरञ्जन था जैसा कि इस क्रीड़ा विलास से लिये गये रूपकों के द्वारा ही यह दिखला दिया जाता है। यद्यपि महाभारत काल में दक्षता पूर्ण (रथादि का) सञ्चालन एक सम्मानित कला मानी जाती थी फिर भी युद्ध और क्रीड़ा दौड़ दोनों में रथा का उपयोग धीरे-धीरे भारत में समाप्त हो गया। सम्भवतः उसका आंशिक कारण तो जलवायु की दुर्बलता और शिथिलता थी और आंशिक रूप में घोड़ों की कमी भी उसका कारण थी जिनको सिन्धु प्रदेश से लाना पड़ता था।

जब पुरुष एक साथ मिलते थे तब उनका एक सामाजिक मनोरञ्जन द्यूत खेलना था। इस मनोरंजन के द्वारा डाले गये प्रभाव से इसके अप्रतिरोधनीय सम्मोहन और इसके द्वारा उत्पादित प्रायिक विनाश का वर्णन हमें द्यूतकार के विलापों में मिलना ही है। क्रीड़ा भवन के विशाल कमरे में कुछ लोग इतनी अधिक सीमा तक आते रहते हैं कि हमें यजुर्वेद में 'क्रीडा भवन के खम्भे' (क्रीडा स्थाणु) जैसे परिहास परक वर्णन मिलते हैं। हमें ऋग्वेद से इस विषय में कोई निश्चित सूचना प्राप्त नहीं होती कि यह खेल [द्यूत] किस प्रकार खेला जाता था। सचमुच हम एक अनुच्छेद में पढ़ते हैं कि चार पाश काम में लाये जाते थे। यजुर्वेद एक खेल का वर्णन करता है कि वह ५ पाशों से खेला जाता था जिसमें प्रत्येक का एक नाम है। ऋग्वेद में खेल के अन्दर धोखा

धड़ी बहुत अधिक बार किया जाने वाला अपराध मालूम पड़ता है और एक कवि कहता है कि पाशों का खेल वरुण के आदेशों के प्रतिकूल किये जाने वाले पापों के प्रधान साधनों में एक है। इसलिए ऋग्वेद में जुआं खेलने वाले के लिये प्रयुक्त किया जाने वाला कितब शब्द शास्त्रीय संस्कृत में धोखे बाज के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा और बाद का धोखे बाज का अर्थ देने वाला शब्द (धूर्त) द्यूतकार के पर्यायवाचक के रूप में (ऋग्वेद में) प्रयुक्त किया गया है।

एक दूसरा मनोरञ्जन था नृत्य, ज्ञात होता है कि इस मनोरंजन में पुरुष आनन्द लेते थे और उसी के समान स्त्रियां भी रुचि लेती थीं। किन्तु जब नर्तकों के व्यक्ति का स्पष्ट रूप में विवनण दिया जाता है तब लगभग तर्वदा ही स्त्रियाँ होती हैं। इस प्रकार उषा देवी की तुलना भड़कीले वस्त्रों से सजी हुई नर्तकी से की गई है। नृत्य खुली हवा में सम्पन्न होता था इस वात का अनुमान (१०.७६.६ की) एक पंक्ति से लगाया जाता है 'जिसमें कहा गया है कि) 'घनी धूल उसी प्रकार उड़ रही थी जिस प्रकार नृत्य करने वाले पुरुषों (के पैरों) से उड़ती है। (नृत्यताम्)

ऋग्वेद के विभिन्न विधरण प्रकट करते हैं कि उस प्रारम्भिक युग में भी भारतीय लोग संगीत के विभिन्न प्रकारों से परिचित थे। क्योंकि हमें तीन प्रधान प्रकार मिलते हैं आघातवाद्य, वायुवाद्य और डोरी वाले वाद्य यन्त्र। इनका प्रतिनिधित्व ढोल (दुदुंभि) मुरली (वेणु) और तन्त्री (वीणा) द्वारा किया जाता है। अन्तिम (वीणा) तभी से लेकर वर्तमान समय तक भारतीयों का प्यारा वाद्य यन्त्र रहा है। वेदकाल के भारतीय वाद्य संगीत के शौकीन थे इस बात का अनुमान एक ऋषि के इस वक्तव्य से लगाया जाता है कि वेणु का स्वर यम के घर में सुनाई पड़ता है, जहाँ पुण्यात्मा निवास करते हैं। सूत्रों में एक में हम पड़ते हैं कि वाद्य संगीत की किसी धार्मिक क्रियाविधि के अवसर पर व्यवस्था की जाती थी। वीणा वादन पितृयज्ञ में किया जाता था। यजुर्वेद के समय में कई प्रकार के व्यवसायी संगीतज्ञ उठ खड़े हुए ज्ञात होते है। क्योंकि वीणावादक दुन्दुभिवादक वेण्डवादक, और शंख को बजाने वाले व्यवसाय की सूची में गिनाये गये हैं। निश्चित रूप से ऋग्वेद में गान का कई बार प्रायः वर्णन किया गया है। तब तक मौखिक संगीत अत्यधिक आदिवासी स्तर से आगे की ओर हो चुका था इस बात का निष्कर्ष सामवेद केसंगीत की कुछ कुछ जटिल पद्धति से निकाला जा सकता है। यह ऐसी पद्धति है जो सम्भवतः बहुत पुरानी है क्योंकि सोम याग भारत ईरानी युग तक जाता है।

सप्तम अध्याय

परवर्ती वेद

सामवेद

परवर्ती तीन वेदों में सामवेद बहुत कुछ सर्वाधिक रूप में ऋग्वेद स सम्बन्ध रखता है। ऐतिहासिक दृष्टि से इसका बिल्कुल महत्त्व नहीं है, क्योंकि इसमें स्वतन्त्र वस्तु शायद ही कोई हो। ७५ को छोड़कर इसके समस्त पद्य सीधे ऋग्वेद से लिये गये हैं। इसकी विषयवस्तु प्रधानरूप से ८वें और विशेषकर नवें सोम मंडल से ली गई है। सामवेद की समता यजुर्वेद से इसलिए है कि दोनों का संकलन एकमात्र यज्ञ में विनियोजन की दृष्टि से हुआ है। क्योंकि जो पद्य इसमें विद्यमान हैं वे सभी सोम याग के सम्पादन के अवसर पर गाये-जाने के मन्तव्य से संकलित किये गये हैं। ये ऋग्वेद में अपने सन्दर्भ से अलग किये जाकर बिना किसी आन्तरिक सम्बन्ध के एक साथ जोड दिये गये हैं। उनका गौरव एकमात्र उनके किसी विशिष्ट क्रिया विधि से सम्बन्धित होने में ही है। सामवेदसंहिता के पाठ में ये पद्य जिस स्वरूप से दृष्टिगत होते हैं ऐसा मालूम पड़ता है मानो वह (स्वरूप) कहने या सुनाने (गाने) के लिये ही हो। ये ऋग्वेद के मन्त्रों से इस रूप में भिन्न हैं कि (ऋग्वेद में) उन पर स्वर लगाए गए हैं। इसलिए सामवेद केवल शब्दों की पुस्तक है जिनका नियोजन उद्गाता पुरोहितों का विशेष वर्ग सोम याग के अवसर पर करता है। केवल विभिन्न संगीत ग्रन्थों में जिन्हें गान कहते हैं इसके पद्य संगीतात्मक साम या गेय रूपता का अपना वास्तविक स्वरूप प्राप्त कर लेते हैं जिसमें संगीत के लिए उपयोगी किसी वर्ण को दूर तक खींचने, दोहराने और मध्य में समाविष्ट करने के संकेत उसी प्रकार दिए गए हैं जिस प्रकार यूरोपीय प्रकाशनों में किया जाता है जब शब्दों के नीचे संगीत चिह्न दिये जाते हैं। इस प्रकार की चार संगीत पुस्तकें विद्यमान हैं—सामवेद के दो भागों में प्रत्येक की दो पुस्तकें हैं। यह

सच है कि यहां साममन्त्रों की जो संख्या दी गई है उसे असीमित रूप से बढ़ी हुई स्वीकार कर लिया गया है, क्योंकि प्रत्येक पद्य अनेक रागों में गाया जा सकता है।

सामवेद में १५४९ पद्य हैं जिनको दो खण्डों में विभाजित किया गया है, इन खण्डों को आर्चिक अर्थात् ऋग्वेद की ऋचाओं से संकलित कहा जाता है। इन दोनों पुस्तकों में विन्यास के सिद्धान्त भिन्न हैं। पहली पुस्तक ६ पाठों (प्रपाठकों) में विभाजित है जिसमें प्रत्येक के अन्दर पद्यों के दस दशक हैं, केवल ६ठे को छोड़कर जिसमें ९ दशक हैं। प्रथम १२ दशकों के मन्त्र अग्नि को संबोधित किये गये हैं और अन्तिम ११ के मन्त्र सोम को जबकि बीच के ३६ के मन्त्र इन्द्र के अभिमन्त्रण में प्रयुक्त किए गए हैं जो सोम का सबसे बड़ा पान करने वाला है। दूसरे खण्ड में ९ पाठ हैं जिनमें प्रत्येक दो विभागों में और कभी कभी ३ में विभाजित किया गया है। इनमें सर्वत्र पद्यों के छोटे छोटे वर्ग हैं जो सामान्यतया तीन की संख्या में हैं और निकट रूप में संबन्धित हैं। वर्ग में पहला पद्य अधिकतर प्रथम खण्ड में भी पाया जाता है। दूसरा खण्ड दोनों प्रकार से परवर्ती है—यह तिथि की दृष्टि से भी बाद का है और अपने स्वरूप में भी अप्रधान है यह बात इसके प्रथम भाग के पद्यों को दोहराने से सिद्ध होती है और उसी प्रकार इस बात से भी सिद्ध होती है कि ऋग्वेद के पाठ से यह बहुत कम दूर हटा है। इस विषय में एक महत्त्वपूर्ण वास्तविकता यह है कि प्रथम पुस्तक के जो पद्य द्वितीय पुस्तक में हैं वे ऋग्वेद के पाठों से उन दूसरे पद्यों की अपेक्षा जो उसे घेरे रहते हैं अधिक निकटता से मेल खाते हैं। इसके कारण का प्रकथन केवल यह मानकर किया जा सकता है कि दूसरी पुस्तक के उन्हीं मन्त्रों के साथ मेल खाने के लिए (प्रथम पुस्तक में) वे पद्य जानबूझकर बदल दिए गए—द्वितीय पुस्तक के पद्य सीधे ऋग्वेद से प्रभावित थे। जबकि प्रथम पुस्तक के पाठ अधिक रूप में भिन्न हो गये थे क्योंकि वह पुस्तक का प्रथम भाग एक स्वतन्त्र परम्परा से मौलिक रूप में ग्रहण किया गया था। [निष्कर्ष यह है कि सामवेद का पहला भाग ऋग्वेद के संकलन के पहले का है और उसमें स्वतन्त्र रूप से प्रचलित परम्परा से मन्त्र ग्रहण किए गए। द्वितीय भाग ऋग्वेद के संकलन के बाद का है जिसमें ऋग्वेद से मन्त्र लिए गए और एक रूपता स्थापित करने लिए पहले भाग का पहला सूक्त बदल दिया गया तथा शेष सूक्त वैसे ही बने रहे। यही कारण है कि दूसरे सूक्त ऋग्वेद के पाठ से मेल नहीं खाते।

शतपथ ब्राह्मण के वक्तव्य से हम जानते हैं कि सामवेद की प्रथम पुस्तक का विभाजन कम से कम इतना पहले अवश्य विद्यमान था जब उस ब्राह्मण का दूसरा भाग लिखा गया था। इसके अतिरिक्त यह विश्वास करने का कुछ कारण विद्यमान है कि संकलन के रूप में सामवेद यजुर्वेद से-कम से कम तैत्तिरीय और वाजसनेयी संस्करणों से-पुराना है। क्योंकि वाजसनेयी संहिता में कुछ ऐसे पद्य हैं जो (सामवेद में) सामसंगीत के रूप में भी प्रयुक्त किए गए हैं। ये ऐसे स्वरूप में हैं जो प्रकट करता है कि सामवेद ने ऋग्वेद के वैषम्य में स्वीकार किये हैं। (वाजसनेयी संहिता में सामवेद का पाठ अपनाया गया है। जो सामवेद को पूर्ववर्तित्व सिद्ध करता है।) यह इस वास्तविकता के कारण ध्यान को अधिक आकर्षित करता है कि वाजसनेयी संहिता के पाठ में असन्दिग्ध रूप में ऋग्वेद के पाठ पर दृढ़ता से जमे रहने की प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है। दूसरी ओर प्रो० वेबर ने यह दृष्टिकोण व्यक्त किया है कि सामवेद की कविता में बहुत से परिवर्तन ऋग्वेद की तुलना में उसके प्रारम्भिक स्वरूप वाले हैं और इसलिए ऐसे समय में उससे पहले ग्रहण किये गये थे जब ऋग्वेद का वर्तमान संस्करण सत्ता में आया था। उसे (वेबर के इस दृष्टिकोण को) अविश्वसनीय दिखलाया गया है। सामवेद के विभिन्न पाठ वास्तव में आंशिक रूप से निम्न कोटि की परम्परा के कारण हैं और आंशिक रूप में मनमाने ढंग से उन परिवर्तनों के कारण है जो पद्य अपने सन्दर्भ से निकाल लिए गए थे और जिन यज्ञ विधियों में उनका विनियोजन किया जाता था उनके अनुकूल बनाने के लिए उन परिवर्तनों का उपयोग था।

सामवेद की दो शाखायें ज्ञात हैं—कौथुमस और राणायणीय। जिनमें प्रथम (कौथुमी शाखा) के विषय में कहा जाता है कि वह अब तक गुजरात में विद्यमान है जबकि बाद वाली (राणायणीय) शाखा के लोग जो किसी समय महाराष्ट्र देश में प्रधानरूप से बस गये थे कहा जाता है कि वे पूर्वी हैदराबाद में अब तक बचे हुए हैं। उनके पाठ्य के संस्करण भिन्न प्रकार के मालूम पड़ते हैं, किन्तु यह विभेद एक दूसरे से बहुत कम है। राणायणीय शाखा एक से अधिक बार प्रकाशित की गई। सबसे पहला संस्करण स्टीवेंशन नामक एक प्रचारक के द्वारा सन् १८४२ ई० में निकाला गया। वह संस्करण बेन्फ़े की बहुमूल्य कृति के द्वारा विस्थापित (अतिक्रान्त) कर दिया गया। बेन्फ़े की कृति में पाठ के अतिरिक्त जर्मन भाषा में अनुवाद, शब्दावली यह सब था जोकि १८४८ में प्रकाशित हुई थी। इस प्रकार सामवेद पहला वेद था जिसका

प्रकाशन अपने परिपूर्ण रूप में हुआ था। इसके बाद वेद का मूलपाठ उसी शाखा के संस्करण के अनुसार सायणभाष्य के सहित भारत में प्रकाशित हुआ। कौथुमी शाखा के विषय में उसके ७वें प्रपाठक के अतिरिक्त और कुछ सुरक्षित नहीं रखा जा सका। ७वां प्रपाठक इस शाखा के नैगेय उपखण्ड में प्रथम अर्चिका के बढ़े हुए भाग का निर्माण करता है और उसका सम्पादन १८६८ में हुआ था। नैगेय शाखा के अनुसार सामवेद के देवताओं और उसके रचयिताओं की दो अनुक्रमणिकायें भी सुरक्षित रखी जा सकीं जो अप्रत्यक्ष रूप में कौथुम संस्करण के मूलपाठ के विषय में रचनायें प्रदान करती हैं।

यजुर्वेद

यजुर्वेद हमें केवल ऋग्वेद से भिन्न भौगोलिक क्षेत्र का ही परिचय नहीं देता किन्तु भारत के धार्मिक और सामाजिक जीवन के नवीन युगान्तर का भी परिचय देता है। वैदिक सभ्यता का केन्द्र अब आगे पूर्व की ओर फैला हुआ प्राप्त होता है। अब और अधिक हम सिन्धु और उसकी सहायक नदियों के विषय में नहीं सुनते। क्योंकि यजुर्वेद के प्रत्येक संस्करण की भौगोलिक कच्ची सामग्री उत्तर भारत के मध्य भाग में स्थित प्रदेश की ओर संकेत करती है जिस प्रदेश में कुरु और पाञ्चाल के पड़ोसी लोग निवास करते हैं। कुरुओं का प्रदेश कुरुक्षेत्र कहलाता है जोकि यजुर्वेद और उससे संलग्न ब्राह्मण ग्रन्थों के लिए विशेष रूप से पवित्र प्रदेश है। यह शतलज और यमुना के मैदानी भाग में स्थित है। इस प्रदेश का प्रारम्भ उस भूखण्ड से होता है जो दो छोटी नदियों दृषद्वती और सरस्वती से घिरा हुआ है और यह दक्षिण पूर्व की ओर जमुना तक बढ़ता है।[1] यह आजकल के जिला सरहिन्द से संगत हो जाता है। इससे निकट रूप में मिला हुआ और इस प्रदेश के पूर्व में स्थित पाञ्चालों का प्रदेश था जो मेरठ जिले से दक्षिण पूर्व की ओर बढ़ते हुए इलाहाबाद तक जाता है। यह यमुना और गंगा के प्रदेशों का आलिङ्गन करता है जिसे दोआब (दो जल) कहते हैं। कुरुक्षेत्र ऐसा प्रदेश था जिसमें ब्राह्मणधर्म और सामाजिक व्यवस्था का विकास हुआ और जहां से इन्होंने (इन व्यवस्थाओं ने)शेष भारत में विस्तार पाया। यह (कुरुक्षेत्र) और भी आगे ऐतिहासिक रुचि का दावा करता है जैसे कि यह बाद के समयों में संघर्ष का क्षेत्र बना जिसका वर्णन

---

1. सरस्वती दृषद्वत्योर्देवनद्यो यदन्तरम्।
   तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥

महाभारत में किया गया है। यह युद्ध एक ओर पाञ्चालों और मत्स्यों और दूसरी ओर कुरुओं के मध्य जिनमें प्राचीन भरत भी शामिल हैं, लड़ा गया। मनु के प्रसिद्ध धर्मग्रन्थ में कुरुओं के प्रदेश को ब्राह्मणत्व की विशिष्ट आवास भूमि के रूप में अब तक सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है और इसी कारण इसको ब्रह्मावर्त का नाम दिया गया है। पाञ्चाल लोगों के देश के साथ मत्स्य देश (मथुरा सहित जिसे आजकल मुट्रा Mattra कहते हैं और जो उस मत्स्य देश की राजधानी है।) और सूरसेनों को शामिल कर इसे (कुरुक्षेत्र को) ब्राह्मण ऋषियों का देश (ब्रह्मर्षि देश) कहा जाता है[1] जहां सर्वाधिक शक्तिशाली योद्धा और सर्वाधिक पवित्र पुरोहित रहते हैं तथा जहां के आचार व्यवहार और जीवन पद्धति अधिकार सम्पन्न हैं।[2]

इस अवसर पर यजुर्वेद के अनुयायी अनेक शाखाओं में विभक्त हैं जो शाखायें धीरे-धीरे भारत के दूसरे प्रदेशों में फैल गईं। कठ लोग (कठ शाखा के अनुयायी) अपने उपविभाग कपिष्ठलों के साथ यूनानी लोगों के आक्रमण के समय में पंजाब में रहते थे और वाद में काश्मीर में भी रहने लगे थे। अब कठ लोग केवल काश्मीर में मिलते हैं और कपिष्ठल लोग सर्वथा लुप्त हो गये हैं। मैत्रायणी शाखा के लोगों ने जिन्हें प्रारम्भिक रूप में कालाप कहा जाता था ज्ञात होता है एक समय में नर्मदा के प्रवाह मार्ग के चारों ओर के निचले प्रदेशों पर अधिकार कर लिया था जो समुद्र से पहले लगभग २०० मील की दूरी तक, दक्षिण में इसके मुहाने की १०० मील से अधिक की सीमा तक इतनी दूर तक विस्तृत थे जैसे कि नासिक और उत्तर की ओर वर्तमान बड़ोदा शहर के आगे तक फैले हुए थे। अब इस शाखा के केवल कुछ अवशेष विद्यमान हैं जोकि गुजरात में नर्मदा के उत्तर में अहमदाबाद में और आगे बढ़कर पश्चिम में मोरवी तक पाए जाते हैं। हमारे ईशा सन् के प्रारम्भ के पहले प्राचीनकाल की ये दो शाखायें निश्चय ही भारत में दूर दूर तक परिव्याप्त हो गई होंगी। क्योंकि वैयाकरण पतंजलि कठ और कालाप के विषय में कहते हैं कि ये यजुर्वेद की सर्वत्र विज्ञात शाखायें थीं जिनके सिद्धान्त प्रत्येक गांव में प्रख्यापित किये जाये थे। इसके अतिरिक्त रामायण में हम पढ़ते हैं

---

१. कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पाञ्चालाः शूरसेनकाः।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादमन्तरः॥

२. एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

कि ये दो शाखायें अयोध्या (अवध) में भी अत्यधिक सम्मानित थीं। यह सच है कि वे दोनों शाखायें यजुर्वेद की दो छोटी (परवर्ती) शाखाओं के द्वारा निराकृत कर दी गयीं। इनमें तैत्तिरीय केवल नर्मदा के दक्षिण में ही मिले हैं जहां उनका पता चौथी शताब्दी बीसी के परवर्ती समय तक लगाया जा सकता है। उनकी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उपशाखा—जोकि आपस्तम्ब की शाखा है—अब तक गोदावरी के क्षेत्र में जीवित है जबकि दूसरी हिरण्य-केशियों की शाखा दक्षिण में और अधिक आगे पाई जाती है। वाजसनेयी शाखा गंगा घाटी के नीचे दक्षिण पूर्व की ओर फैली। आजकल वे उत्तर पूर्व और मध्यभारत को घेरते हुए विशाल भूभाग को आवेष्टित किये हुए हैं।

इन चारों शाखाओं में प्रत्येक ने यजुर्वेद के एक या दो संस्करणों को सुरक्षित रखा है। मैत्रायणी संहिता के मूलपाठ का सम्पादन प्रो० एल. वी. श्रोडर ने (१८८१-८६) के मध्य किया था जिसमें चार पुस्तकें (काण्ड) सम्मिलित हैं—जिनका उपविभाजन ५४ मूलपाठों (प्रपाठकों) में किया गया है। वही विद्वान् काठक संहिता का एक संस्करण तैयार कर रहा है जो कठशाखा का एक समीक्षात्मक पुनरीक्षण है। ये दोनों संस्करण भाषा की दृष्टि से एक दूसरे से लगभग संबद्ध हैं जिनमें भाषा के अनेक रूप समान हैं जो अन्यत्र नहीं पाए जाते। कपिष्ठल कठसंहिता के केवल कुछ भ्रष्ट खण्ड अब तक प्रकाश में आए हैं और यह बात बहुत अधिक सन्दिग्ध है कि क्या कभी पर्याप्त पाण्डुलिपि की सामग्री खोज निकाली जा सकेगी जिससे इसके मूलपाठ का संस्करण निकालना सम्भव हो सके। तैत्तिरीय संहिता अपने मूल उद्गम में ऊपर वर्णन किए गए संस्करणों से कुछ बाद की हैं। इसमें ७ खण्ड हैं जिनका उपविभाजन ४४ पाठों (प्रपाठकों) में हुआ है। इसका सम्पादन प्रो० ए. वेबर ने १८७१-७२ में किया था। यजुर्वेद के मूलपाठ अत्यन्त निकट रूप में सम्बन्धित समूह का निर्माण करते हैं; क्योंकि सार रूप में इनका स्वरूप एक ही है। प्राय: उनकी एक-दूसरे से समानता शब्दश: भी हो जाती है विशेष रूप से यह समानता सुनाने के लिए (गाने के लिए) लिखे गए उन पद्यों और सिद्धान्तों में प्राप्त होती है जो उनमें विद्यमान हैं। अपनी विषय वस्तु को समान सिद्धान्तों पर व्यवस्थित करने में भी वे एक दूसरे से मेल खाते हैं जो सिद्धान्त वाजसनेयी संहिता के संस्करण के सिद्धान्त से भिन्न है।

शुक्ल यजुर्वेद

अन्तिम (वाजसनेयी) संहिता में सभी पद्य और सिद्धान्त यज्ञ में सुनाए जाने के लिए हैं और इसलिए साफ सुथरे (शुक्ल) हैं। कहने का आशय यह है कि

ब्राह्मणग्रन्थों में जो व्याख्यात्मक सामग्री सङ्कलित हो गई है उससे यह सर्वथा पृथक् है। इसीलिए यह श्वेत (शुल्क) यजुर्वेद कहलाता है। जबकि दूसरी संहितायें काले (कृष्ण) यजुर्वेद के सामान्य नाम के अन्तर्गत इससे विपरीत हैं क्योंकि उनमें संहिता के अन्तर्गत दोनों प्रकार की सामग्री मिली जुली है। वाजसनेयी लोगों का मूलपाठ दो संस्करणों में सुरक्षित रखा गया है माध्यन्दिनीय लोगों का और कण्व लोगों का। ये विषय वस्तु में और उसी प्रकार उसके संयोजन में लगभग एकरूप हैं, उनको विभेद पाठ भेद के आगे कठिनाई से हो जाते हैं साथ ही ये भेद उनके गद्य सिद्धान्तों में हैं उनके पद्यों में नहीं। इस प्रकार निकटता से मेल खाने के कारण वे अपने मूल में समय के किसी बड़े व्यवधान के द्वारा पृथक् नहीं किए जा सकते। अधिक सम्भव यह है उनकी विसंगतियां भौगोलिक पृथक्करण से उत्पन्न हुई हैं क्योंकि प्रत्येक के यहां वर्तनी (हिज्जे) की विलक्षणतायें अपनी अपनी हैं। शुल्क यजुर्वेद की इन दोनों समीक्षात्मक आवृत्तियों का सम्पादन प्रो० वेवर ने (सन् १८४६-५२) में किया।

यह ४० भागों में विभाजित किया गया है जिन्हें अध्याय कहा जाता है। इसमें मौलिक रूप में केवल पहले १८ अध्याय थे यह बात बाह्य और उसी प्रकार अन्तः साक्ष्य से संकेतित की जाती है। केवल यही भाग है जिसमें पद्य तथा गद्य सिद्धान्त दोनों सम्मिलित हैं (दोनों का एक सामान्य नाम मन्त्र है) (यह गद्य-पद्य मिश्रित भाग) तैत्तिरीय संहिता में आया है—एकमात्र अपवाद कुछ प्रकरण हैं जिनमें अश्वमेध का वर्णन किया गया है। ये (तैत्तिरीय संहिता के) वे अध्याय हैं—२२ से २५ तक। नहीं तो अन्तिम २२ अध्यायों की पूरी विषय वस्तु तैत्तिरीय संहिता से संबद्ध केवल ब्राह्मण और आरण्यक में ही पुनः मिलती है। दूसरी बात यह है कि वाजसनेयी संहिता के प्रथम १८ अध्यायों के मन्त्र ही ऐसे हैं जिनको इसके अपने ब्राह्मण ग्रन्थ के प्रथम ६ अध्यायों में उद्धृत किया गया है और शब्द, शब्द को लेकर उसकी व्याख्या की गई है। जबकि १७ अध्यायों के केवल कुछ मन्त्रों का उक्त रचना में उल्लेख किया गया है। अगले और भी आगे प्रमाण के रूप में शुक्ल यजुर्वेद की एक पुरानी अनुक्रमणिका में जिसकी रचना का श्रेय कात्यायन को दिया गया है, १० अध्याय २६ से ३५ तक एक परिशिष्ट (खिल) का निर्माण करते हैं।

वाजसनेयी संहिता का आन्तरिक प्रमाण भी उसी निष्कर्ष पर पहुंचाता है। २६ से २६ तक के अध्यायों में ऐसे मन्त्र हैं जिनका सम्बन्ध उन यज्ञ

संस्कारोंसे है जिनका विवेचन पहले के अध्यायों में किया जा चुका था और उन्हीं यज्ञ विधियों में नियोजन के लिए इन (बाद वाले अध्यायों के) मन्त्रों की आवश्यकता है। यह वास्तविकता स्पष्ट ही उनकी परिशिष्ट प्रकृति का संकेत है। अगले १० अध्यायों (३० से ३९ तक) का सम्बन्ध सर्वथा नई यज्ञविधियों से हैं जैसे पुरुष मेध, सर्वयज्ञ, पितृयज्ञ। अन्त में ४०वां अध्याय बाद में एक जोड़ा हुआ अध्याय ही होगा। क्योंकि इसका कोई सीधा सम्बन्ध यज्ञविधि से नहीं है और यह उपनिषदों का स्वरूप धारण करता है। दूसरी बात यह है कि संहिता के विभिन्न भाग कुछ सामग्री प्रदान करते हैं जो धार्मिक और सामाजिक विकास के विभिन्न कालों की ओर संकेत करती है। १६वें अध्याय में रुद्रदेव का वर्णन विशेषणों की बहुत बड़ी संख्या से किया गया है जोकि बाद में शिव की विशेषतायें बनी। हां उनमें दो, जो विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं, वे हैं—ईशान अर्थात् 'शासक' और महादेव अर्थात् 'महान देवता' ये दोनों उपाधियां यहां (१६ वें अध्याय में) विद्यमान नहीं हैं किन्तु ३९वें अध्याय में जोड़ दी गई हैं। ये उपाधियां उस देवता की विशिष्ट पूजा की ओर संकेत करती हैं जो बाद के विकास का प्रतिनिधित्व करता है। और भी ३०वां अध्याय अनेक मिलित (संकर) भारतीय जातियों की विशेषता बदलाता है जब १६वां अध्याय उनमें केवल कुछ का वर्णन करता है। इससे यह सम्भव है कि कम से कम कुछ जातियां जो पूर्वोल्लिखित में (३०वें) अध्याय में ज्ञात हैं उस समय तक विद्यमान नहीं थीं जब बाद में उल्लिखित (१६वें) अध्याय की रचना हुई थी।

इन आधारों पर यजुर्वेद में तिथि सम्बन्धी चार स्तर पहिचाने जा सकते हैं। मौलिक भाग में जिसमें १ से १८ अध्याय तक हैं दूसरे ७ अध्याय निश्चित रूप से पहले जोड़े गये होंगे। क्योंकि ये दोनों भाग यज्ञ सम्बन्धी सामान्य विधि विधानों का वर्णन करते हैं। यज्ञ विधियों के विकास ने दूसरे १४ को जोड़ने की ओर प्रवृत्त किया जोकि या तो पहले वर्णन किये जा चुके विधानों का (२६ से २९ अध्यायों तक) विवेचन करते हैं या बिल्कुल नये विधानों का (३० से ३९ तक) अध्यायों में वर्णन करते हैं। अन्तिम अध्याय स्पष्ट ही ऐसे समय की किसी तिथि से आया है जबकि याज्ञिक विधिओं के अत्यधिक प्रयोग ने प्रतिक्रिया उत्पन्न कर दी थी। इसमें यज्ञ के मन्त्र प्रदान नहीं किए गए हैं किन्तु इसका लक्ष्य है एकमात्र यज्ञ विधियों में पूर्ण संलग्नता और उनकी सर्वथा उपेक्षा (इन दोनों अतिरेकों का) मध्यवर्ती स्वरूप उपस्थित करना।

शुक्ल यजुर्वेद के मौलिक भाग ने भी निश्चित ही अपना स्वरूप उसके कुछ समय बाद प्राप्त किया होगा जब कृष्णयजुर्वेद का कोई भी (प्रत्येक) संक-

लन सत्ता में आ चुका होगा। क्योंकि संहिता (शुक्लयजुर्वेद)में वस्तु का विभाजन जिस व्यवस्थित और क्रमवद्ध रूप में किया गया है—जिस प्रकार व्यवस्था और क्रम से मन्त्रों का संकलन किया गया है तथा पूर्वाग्रह से ग्रस्त व्याख्यायें जिस प्रकार पूर्णरूप से ब्राह्मणग्रन्थों के (कर्तव्य क्षेत्र के लिए) समर्पित कर दी गई हैं यह सब कठिनाई से इतना पुराना हो सकता है जितना कि (कृष्ण यजुर्वेद का) गड़बड़ से भरा व्यवस्थापन जिसमें दोनों भाग उलझे हुए हैं।

यजुर्वेद के दो सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाग एक ओर नवीन और पूर्ण चन्द्रों (दार्शपौर्णमास्य) के यज्ञों का और उसी प्रकार सोमयज्ञों का वर्णन करते हैं और दूसरी ओर अग्निवेदी की रचना का विवेचन करते हैं। शुक्ल यजुर्वेद के १ से १० तक अध्यायों में पहले के (सोमयाग के) मन्त्र आए हैं और ११से १८ अध्यायों तक दूसरे भाग के (अग्निवेदी) विधिविधान सम्बन्धी मन्त्र हैं। इन्हीं से मेल खाती हुई यज्ञ विधि की व्याख्यायें शतपथ ब्राह्मण के क्रमशः १ से ५ और ६से ९ तक के अध्यायों में प्राप्त की जा सकती हैं। इन मौलिक भागों में कृष्ण यजुर्वेद भी मन्त्रों के साथ व्याख्याओं का घोल मेल नहीं करता। तैत्तिरीय संहिता के प्रथम अध्याय के चार प्रपाठकों में पाक्षिक रूप में सुनाये जाने वाले (दर्शपौर्णमास्य) तथा सोमयाग सम्बन्धी पद्यों और सिद्धांतों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। चौथे अध्याय में केवल अग्निवेदी की विधि (अग्नि सम्चयन के प्रकार) में प्रयोज्य मन्त्रों और सिद्धान्तों का संकलन है – इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। इन अध्यायों में उसी क्रम का अनुसरण किया गया है और वास्तव में तत्समकक्ष ही संकलन प्रदान किया गया है जैसा कि वाजसनेयी संहिता के उसी के अनुरूप भागों में आया है। दूसरी ओर तैत्तिरीय संहिता अपने अन्दर दो समरूप ब्राह्मणों को समाये हुए हैं किन्तु उनके विभाग भिन्न हैं। सब बातों पर विचार करते हुए वे मन्त्रों के साथ समिश्रण से मुक्त हैं। इसका (तैत्तिरीय संहिता का) पांचवा अध्याय अग्नियाग का ब्राह्मण है और छठा सोमयाग का ब्राह्मण है। किन्तु नये और पूर्णचन्द्र (पौर्णमास) यज्ञ की मताग्रही व्याख्या इसमें बिल्कुल छोड़ दी गई है जोकि तैत्तिरीय ब्राह्मण के तीसरे अध्याय में मिलती है। मैत्रायणी संहिता में समरूप वस्तु का विभाजन उसी प्रकार का है। प्रथम अध्याय के तीन प्रपाठकों में दर्शपौर्णमास और सोम यज्ञों के केवल मन्त्र दिये हुए हैं। दूसरे अध्याय के उत्तरार्ध (७ से १३ प्रपाठकों) में अग्नियाग के केवल मन्त्र हैं। समरूप ब्राह्मण का प्रारम्भ तृतीय अध्याय के क्रमशः छठे और पहले प्रपाठक से होता है। कृष्ण यजुर्वेद के इन मूलरूप भागों के केवल जोड़े हुए खण्डों में यह बात है कि ये मन्त्रभाग और

ब्राह्मणभाग में पृथक्करण को लेकर नहीं चले हैं। तब कृष्ण यजुर्वेद और शुक्ल यजुर्वेद में प्रमुख अन्तर इस तथ्य में है कि कृष्ण यजुर्वेद उसी संग्रह में ब्राह्मण और उसी प्रकार मन्त्र तत्व को एक में जोड़ देता है। मुख्य और मूलभूत भागों के विषय में यह समझने का कोई कारण नहीं है कि वस्तुतत्व के दोनों प्रकार जो अलग एवं अमिश्रित रखे गये है वे ऐतिहासिक दृष्टि से अथवा वास्तव में उसकी अपेक्षा अधिक निकटता के साथ मिले हुए हैं जितना कि वाजसनेयी संहिता और शतपथ ब्राह्मण एक दूसरे से सबद्ध हैं।

सामवेद के साथ यजुर्वेद की समता केवल इस अर्थ में है कि केवल यज्ञ विधि में नियोजित करने के लिए ही दोनों का संकलन किया गया है। किन्तु जबकि सामवेद यज्ञ के केवल एक भाग को अपना विषय बनाता है और वह है सोमयाग तब यजुर्वेद समस्त याज्ञिक विधि विधानों के सिद्धान्त बतलाता है। सामवेद के समान इसका भी सम्बन्ध ऋग्वेद के साथ है। किन्तु जबकि पहला (सामवेद) वस्तुत: लगभग पूरा ही ऋग्वेद से निकाला गया है यजुर्वेद यद्यपि बहुत से पद्य उसी साधन से प्राप्त करता है फिर भी उसमें बहुत बड़े भाग में मौलिक रचना भी है। इस प्रकार वाजसनेयी संहिता का एक चौथाई से कुछ ही अधिक भाग ऋग्वेद से लिया गया है। इस संग्रह का आधा भाग पद्यों (ऋक्) से आवृत है जिनमें बहुत से (७०० के ऊपर) ऋग्वेद में पाये जाते हैं। दूसरा आधा भाग सिद्धान्त गद्य (यजुष्) से बना है। बाद का (यजुष्) और उसी प्रकार जो पद्य ऋग्वेद से नहीं लिये गए हैं वह सब यजुर्वेद के रचयिताओं की स्वतन्त्र रचना है। वास्तव में यह आंशिक मौलिकता पूर्ण रूप से नये विधिविधानों की बढ़वार और विचित्र प्रकार के यज्ञ सम्बन्धी विस्तार का आवश्यक परिणाम थी। इन नवीन आवश्यकताओं के लिए उपयोगी पद्यों के निकटवर्ती (मिलते-जुलते) पद्य भी ऋग्वेद से प्राप्त करना असम्भव हो गया।

यजुर्वेद के मन्त्र भाग की भाषा यद्यपि स्पष्ट रूप में बाद के स्तर का प्रतिनिधित्व करती है फिर भी कुल मिलाकर ऋग्वेद की भाषा से मेल खाती है जबकि शास्त्रीय संस्कृत से अत्यधिक व्यवधान के द्वारा वह पृथक् की हुई है।

इसके पौराणिक पक्ष की दृष्टि से यजुर्वेद का धर्म प्रधान रूप से पुराने वेद के धर्म से भिन्न नहीं है, क्योंकि देवकुल तो अब तक वही है। यह सच है कि कुछ महत्त्वपूर्ण सुधार विस्तार के साथ प्रकट हो रहे हैं। प्रजापति के स्वरूप का ऋग्वेद के केवल सबसे बाद के सूक्तों में आभास मात्र मिलता है

वह (यजुर्वेद में) देवताओं के प्रधान के रूप में अधिकाधिक अग्रभूमि में आ जाता है। ऋग्वेद का रुद्र शिव के रूप में दृश्यपटल पर दृष्टिगत होने लगा है, अनेक बार उसका उल्लेख उसी नाम से किया गया है, साथ ही साथ उन दूसरी उपाधियों से भी उल्लेख किया गया है जो बाद में शिव की असाधारण उपाधियां बनी जैसे शङ्कर और महादेव। अब विष्णु ऋग्वेद की अपेक्षा कुछ अधिक प्रमुख गौरव प्राप्त कर रहे हैं। एक नया आकार यज्ञ के साथ उनके सतत अभिज्ञान में प्राप्त होता है। अब दानव नियमित रूप से असुर कहलाने लगे थे, वे निरन्तर दुष्टसत्त्वों के समूह मालूम पड़ते हैं जो अच्छे देवताओं का विरोध करते थे। उनका बाद वालों (अच्छे देवों) के साथ संघर्ष यजुर्वेद की काल्पनिक पौराणिक गाथाओं में बड़ा भाग प्राप्त करता है। अप्सरायें जो स्वर्गीय परियों का एक वर्ग है और उनमें महिला सौन्दर्य की विमोहक मनोरमता की सभी विशेषतायें सम्पन्न हैं, जो वेदोत्तर पुराणों में इतना अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त किए हुए हैं, किन्तु जिनका उल्लेख ऋग्वेद में बहुत ही कम हुआ है, यजुर्वेद में अधिक प्रमुखता प्राप्त करना प्रारम्भ कर देती हैं, जिसमें (यजुर्वेद में) उनमें अधिक संख्यक (अप्सराओं) का विवरण व्यक्तिगत नाम निर्देश पूर्वक दिया गया है।

इसके अतिरिक्त कई एक धार्मिक सिद्धान्त सुधार दिए गए हैं और नये विधिविधानों का प्रवर्तन कर दिया गया है। ब्रह्म शब्द जिसका ऋग्वेद में अर्थ साधारण रूप में भक्ति था वह अब प्रार्थना के सारतत्त्व और पवित्रता का, अर्थ देने लगा। यह अन्ततः उपनिषदों में आने वाले अर्थ की दिशा में एक पादप्रक्षेप था। और आगे सर्प पूजा जो ऋग्वेद में अज्ञात है अब भारतीय धर्म का एक तत्त्व मानी जाने लगी। यह सच है कि यजुर्वेद पर नव युग जो अपनी छाप छोड़ता है वही उस पूजा का स्वरूप है—जिसका प्रतिनिधित्व यजुर्वेद करता है। देवताओं और यज्ञ के मध्य पुराने धर्म में जो परस्पर महत्व का तारतम्य था वह परिवर्तित हो गया। ऋग्वेद में भक्ति का विषय देवता थे क्योंकि विश्वास किया जाता था कि मनुष्यों को लाभ देने की शक्ति केवल उन्हीं के हाथों में विद्यमान है जबकि यज्ञ उनकी इच्छा को यज्ञ करने वाले के पक्ष में प्रभावित करने का केवल एक साधन थे। यजुर्वेद में यज्ञ स्वयं विचार और इच्छा का केन्द्र बन गये। इसकी ठीक रूप में प्रत्येक विस्तार के साथ पूर्ति समस्त महत्त्व का प्रतिरूप बन गई। इसकी (यज्ञ की) शक्ति अब इतनी बढ़ी चढ़ी है कि यह केवल प्रभावित ही नहीं करती किन्तु देवताओं को प्रातिनिधि पुरोहित की इच्छा के अनुसार कार्य करने के लिए विवश भी करती है।

इसके साधन से ब्राह्मण वास्तव में देवताओं को अपने हाथ में रखने वाले कहे जा सकते हैं।

यजुर्वेद का धर्म एक प्रकार का यान्त्रिक (नियमों से नियन्त्रित) पौरोहित्य धर्म कहा जा सकता है। पुरोहितों की भीड़ बाह्य विधिविधानों की विस्तृत और जटिल व्यवस्था को सम्पादित करती है जिसे प्रतीकात्मक महत्व प्रदान किया जाता है, उसी प्रकार छोटे छोटे से विधान के सूक्ष्माति सूक्ष्म विस्तृत विवेचन पर सबसे अधिक बल दिया जाता है; इस निरन्तर यज्ञ और विधि-विधानों के श्वासावरोधक (गले को जकड़ने वाले जिसमें बोल सकने की शक्ति समाप्त हो जाती है) वातावरण में ऋग्वेद की सच्ची धार्मिक भावना सम्भवतः जीवित नहीं रह सकती थी। देवताओं की शक्ति और उपकार करने की भावना की आराधना और उसी प्रकार अपराध की सचेतनता का इसमें सर्वथा अभाव है। प्रत्येक प्रार्थना किसी विशिष्ट विधि से समन्वित है और उसका उद्देश्य एकमात्र भौतिक लाभ प्राप्त करना है, इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि यजुर्वेद के सिद्धान्त शुष्क पुनरावृत्तियों से भरे पड़े हैं या उसी विचार को दूसरे रूप में रखने की उनमें प्रवृत्ति है। उनमें आधे या सम्पूर्ण न समझ में आने वाले विस्मयादिबोधक उद्‌गार भरे पड़े हैं—विशेष रूप से 'ओम' इस एकाक्षर का प्रयोग हुआ है। मैत्रायणी संहिता से निम्नलिखित उद्धरण इसका एक अच्छा उदाहरण है —'निधायो वा निधायो वा ओम् वा, ओम् वा ओम् वा ए ऐ ओम स्वर्ण ज्योतिः'। यहां केवल अन्तिम शब्द, जिसका अर्थ है स्वर्णिम प्रकाश, अनूदित किया जा सकता है।

इस प्रकार जो ब्राह्मण जाति से सम्बन्ध नहीं रखते थे उन सब लोगों के लिए यह यज्ञ विधि अधिकाधिक रहस्यमय होने से कभी नहीं चूकी। इसके सिद्धान्तों का और स्वयं यज्ञ का भी उससे कम नहीं प्रकृति पर तथा अलौकिक शक्तियों पर अधिकार बतलाया जाता है। इस प्रकार विजय प्राप्त करने के लिए कुछ सिद्धान्त हैं। यह कहा जाता है कि इन साधनों के प्रभाव से इन्द्र ने दानवों को निरन्तर पराजित किया। और भी हम पढ़ते हैं कि यदि कोई पुरोहित किसी सिद्धान्त (मन्त्र) का उच्चारण करता है और उसके साथ किसी विशिष्ट वस्तु का दान भी मिला देता है तो यह धाराओं में गिरने वाली वर्षा का कारण बन जाता है। इसलिए सिद्धान्त मन्त्र एक प्रकार की जादुई शक्ति रखने वाले समझे जाते हैं जिसके द्वारा वे अनिवार्यता (बाध्यता) उत्पन्न कर देते हैं। ऐसी ही चमत्कारिक शक्ति ब्राह्मणों के अन्दर तपश्चर्या और सन्यास में

और बौद्धों के अन्दर पवित्र जीवन में मान ली गई। यजुर्वेद के सिद्धान्त नियमानुसार देवताओं को संबोधित की हुई प्रार्थनाओं के रूप में नहीं हैं किन्तु सब बातों पर विचार करने से और स्वरूपगत विशेषताओं के द्वारा किसी विशिष्ट विधि और मन्त्र के प्रयोग के परिणाम के विषय में वक्तव्य रूप हैं। मिलती जुलती विधि के साथ वे उपकरणों का ऐसा जटिल समूह प्रस्तुत करते हैं जो सामान्य रूप से भौतिक कल्याण तथा उसी भांति सभी प्रकार की विशिष्ट वस्तुओं जैसे पशु या गाँव प्रदान करने के लिए सन्निहित रहते हैं। निश्चय ही ऐसे पुरोहित की उपस्थिति सर्वदा पहली आवश्यकता है जो आवश्यक स्वरूपों का ठीक रूप में प्रयोग कर सकें। विभिन्न विधियों की आवश्यकता जिन इच्छाओं को पूरा करने के लिए होती है वे बच्चों की बेतुकी बातों की अपेक्षा और कहीं आगे नहीं जाती। इस प्रकार इनमें कुछ वर्ष को प्राप्त कर लेने का ही लक्ष्य बनाये हुए हैं। चन्द्रमा पर अधिकार प्राप्त करने के मन्त्र इसी प्रकार समान व्यावहारिक मूल्य के वन सकते थे।

यज्ञ सम्बन्धी विधिविधानों की श्रमसाध्यता के हाथ में हाथ डालकर जातिप्रथा का उपचय और उसका दृढ़ीकरण आगे बढ़ गया जिसमें ब्राह्मणों ने सामाजिक और साथ ही साथ धार्मिक उच्चता प्राप्त कर ली और जिसने भारत को दो हजार पांच सौ वर्षों से भी अधिक जंजीरों में जकड़े रखा। हम यजुर्वेद में भारतीय समाज के मुख्य विभागों के रूप में केवल चार जातियों को ही दृढ़तापूर्वक स्थिर नहीं पाते किन्तु वाजसनेयी संहिता की एक परवर्ती रचना बहुत सी मिली जुली जातियों को भी प्रकट करती है जो बाद के समयों में बर्तमान पाई ही जा चुकी हैं। इसलिए भारतीय जनता की सामाजिक और उसी प्रकार धार्मिक दशा अब उसकी अपेक्षा प्रधान रूप से भिन्न स्वरूप धारण करती है जो ऋग्वेद के सूक्तों द्वारा हम लोगों के सामने प्रकट की गई थी।

अथर्ववेद

ऋक्, साम और यजुर्वेद केवल ये तीन तुस्तकें ही धर्म विधि शास्त्र संग्रह के रूप में प्रारम्भ में स्वीकृत की जाती थीं, क्योंकि केवल वे ही महान याज्ञिक विधिविधानों से संबद्ध थीं। अथर्ववेद परमार्थतः इससे सम्बन्ध नहीं रखता था। अपवाद केवल अन्तिम काण्ड था जो स्पष्ट रूप में विधिविधान (विषयक वेदों) से सम्बन्ध स्थापित करने के लिए जोड़ा गया था। इसके सूक्त जिन विधिविधानों में व्यवहारिक रूप में लागू किये जाते हैं वे, कुछ अपवादों को

छोड़कर, प्रायः सभी वे ही हैं जिनका वर्णन गृह्यसूत्र करते हैं। वे सब घरेलू विधियां हैं जैसे जन्म, विवाह, और मृत्यु अथवा राजनैतिक विधि जिसका सम्बन्ध राजाओं के उद्घाटण (अभिषेक) से है। समग्र रूप में देखने पर यह अभिचार मन्त्रों का एक विजातीय संग्रह है। इसकी सबसे अधिक मुख्य शिक्षा इन्द्रजाल (जादूगरी) है। क्योंकि इसको मुख्य रूप से विरोधी तत्व के संगठन प्रतिकूल प्रेरित किया गया है जैसे रोग, हिंस्र पशु, दानव, मायावी तत्व, शत्रु, ब्राह्मणों को पीड़ित करने वाले। किन्तु इसमें अनेक जादू कल्याण कारक स्वभाव के भी हैं जैसे पारिवारिक ग्रामीण जीवन में एक रूपता लाने वाले रक्षा करंड, शत्रुओं से विरोध शमन, लम्बा जीवन और सम्पन्नता, इनके अतिरिक्त यात्राओं में रक्षा के लिए प्रार्थनायें और जुयें में भाग्य की अनु-कूलता। इस प्रकार इसके दो रूप हैं - विपत्तियों का उपशमन तथा अभ्युदय और साथ ही दूसरी ओर अभिशाप।

अपनी मुख्य विषयवस्तु में ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद अधिक रूढ़िवादी है। क्योंकि यह पुरोहित वर्ग के अधिक बढ़े चढ़े धार्मिक विश्वासों का प्रति-निधित्व नहीं करता, किन्तु जनसमाज में सर्वाधिक प्रसिद्ध प्रचलित जादू-टोना का संग्रह है—ऐसे जन समाज में प्रचलित जो सर्वदा दानवीय शक्तियों के विषय में आदिकालीन अन्धविश्वासों को सुरक्षित रखते हैं। इसके अन्दर जो जीवनतत्व निश्वसित हो रहा है वह प्रागैतिहासिकयुग का है। इसके मायामय प्रकरणों में कतिपय वास्तविक आकर्षण कुछ सुधार के साथ सम्भवतः भारोपीय युग तक जाते हैं। क्योंकि जैसा कि एडवर्ड कुलहन ने दिखलाया है कि इसके शारीरिक बीमारियों को दूर करने वाले हैं उद्देश्य और विषयवस्तु में और उसी प्रकार किसी सीमा तक स्वरूप में भी कुछ पुराने जर्मन, लेटिन और रूसी जादूटोनों से मेल खाते हैं। किन्तु जहां तक देवताओं के विषय में उच्च-कोटि के धार्मिक विचारों का सम्बन्ध है यह ऋग्वेद की अपेक्षा अधिक आधु-निक तथा बढ़े हुए स्तर का प्रतिनिधित्व करता है। वास्तव में इसमें किसी दूसरी संहिता की अपेक्षा आध्यात्मिक ज्ञान अधिक है। क्योंकि समग्र विचार करने पर सभ्यता के इतिहास के लिए स्वयं ऋग्वेद की अपेक्षा यह अधिक मनोरंजक है।

अथर्ववेद दो विभिन्न शाखाओं के संकलनों में विद्यमान है। एक तो पिप्प-लाद का जोकि वास्तव में एकमात्र पाण्डुलिपि भोजपत्र पर लिखी हुई है जो प्राचीन है किन्तु अशुद्ध है और अधिकतर उसमें स्वर नहीं लगाये गये हैं। यह प्रो० बुलहर द्वारा काश्मीर में प्राप्त की गई थी और प्रो० राथ ने अपने लघु

प्रबन्ध 'डेर अथर्ववेद इन कश्मीर' (१८७५) में इसका वर्णन किया है। यह सम्भवतः शीघ्र ही चित्रमुद्रण के माध्यम से प्रो० ब्लूमफील्ड द्वारा मुद्रित कराई जाने पर विद्वानों को सुलभ होगी। इसमें सन्देह नहीं कि अथर्ववेद के परिशिष्ट या शेष पूरण लेखों में एक में उल्लिखित 'पैप्पलादमन्त्र' का अर्थ यही संकलन है।

राथ और ह्विटने द्वारा १८५६ में सम्पादित एवं मुद्रित पाठ-पुस्तक शौनक शाखा का संकलन प्रदान करती है। अथर्ववेद की सायण द्वारा लिखी हुई लगभग सम्पूर्ण टीका भारत में सम्पादित हो चुकी है। इसमें प्रमुख अभिरुचि इस बात में है कि इसमें पाठ भेदों की बड़ी संख्या प्रदान की गई है जो इस वेद के छपे हुए उनके पाठों से भेद रखते हैं।

संहिता २० काण्डों में विभाजित है जिसमें ७३० सूक्त और लगभग ६००० पद्य हैं। इनमें बाद वाले (पद्यों) में प्रधानरूप से लगभग १२०० ऋग्वेद से लिए गए हैं जिनका उपादान १०वें, पहले और ८वें मण्डलों से किया गया है, इनमें कुछ दूसरे प्रत्येक मण्डल से भी लिए गए हैं। २०वें काण्ड के १४३ सूक्तों केवल १२ को छोड़कर सभी ऋग्वेद के सुप्रतिष्ठित पाठ से बिना किसी परिवर्तन के पूर्ण कलेवर के साथ ग्रहण कर लिए गए हैं। जो विषयवस्तु दूसरे काण्डों में ऋग्वेद से ली गई है वह पाठों की अत्यधिक विभिन्नता प्रकट करती है। किन्तु जैसा कि अन्य संहिताओं के विषय में है वह इनके विषय में भी कहा जा सकता है कि ये ऋग्वेद में स्थित पाठ की अपेक्षा निम्नतर मूल्य की हैं। जो स्थिति यजुर्वेद के साथ है वह यहां भी है कि अथर्ववेद का बहुत बड़ा भाग (लगभग एक छठा भाग) गद्य में है। ५० सूक्तों के बाद जो सूक्त १५वें और १६वें काण्डों के अन्तर्गत हैं—इनके अतिरिक्त लगभग ३० पद्य जो दूसरे काण्डों में बिखरे हुए हैं पूर्णरूप से मुक्तवृत्त (छन्दोनियम से रहित) हैं। दूसरे सौ से अधिक सूक्तों के कुछ भागों या पद्यों का भी स्वरूप उसी प्रकार का है।

अथर्ववेद मौलिक रूप में केवल पहले के १३ काण्डों का ग्रन्थ था यह बात दोनों रूपों में प्रकट होती है—उसके विन्यास (क्रमव्यवस्था) से भी और उसकी विषयवस्तु से भी। अध्याय १ से ७ तक उसके अन्दर आए हुए सूक्त अपने अन्दर विद्यमान पद्यों की संख्या के अनुसार विभाजित किये गए हैं। पहले काण्ड में सूक्तों में ४ का औसत है। दूसरे में ५ का, तीसरे में ६ का, चौथे में ७ का, ५वें में ८ से १८ तक, ६ठे में तीन और ७वें में लगभग आधे सूक्तों में प्रत्येक में केवल एक पद्य है। ८वें से १३वें तक काण्डों में लम्बे खण्ड हैं। इस समस्त १३ काण्डों में विषयवस्तु अव्यवस्थित रूप में मिली जुली है।

इसके प्रतिकूल बाद के ५ काण्ड विषयवस्तु की एकरूपता के आधार पर विन्यस्त किए गए हैं। चौदहवें काण्ड में विवाह विधि से सम्बन्धित मन्त्र संकलित किए गए हैं जो काण्ड अधिकांश रूप में ऋग्वेद के १०वें मण्डल के मन्त्रों से निर्मित किया गया है। १५वां काण्ड सर्वोच्च तत्त्व (परमात्मा) का स्तुतिगान करता है जहां परमात्मा का नाम व्रात्य रखा गया है जबकि १६वें और १७वें में कतिपय अभिचार (संमोहन, वशीकरण) आये हैं। सम्पूर्ण १५वां काण्ड और लगभग सम्पूर्ण १६वां काण्ड उसी प्रकार के गद्य में लिखे गए हैं जिस प्रकार का ब्राह्मण ग्रन्थों में पाया जाता हैं। काण्ड १६ और १७ बहुत छोटे हैं। १६वें ६ सूक्त हैं जो छपे हुए ४ पृष्ठों में आ जाते हैं, १७वें में केवल एक सूक्त है जोकि दो पृष्ठों से कुछ अधिक में पूरा हो जाता है। काण्ड १८ पितरों और उनकी अन्त्येष्टि के विषय में है। चौदहवें काण्ड के समान यह अधिकांश पद्यों को ऋग्वेद के दशम मण्डल से ग्रहण करता है। अतएव ये दोनों काण्ड अपने स्वरूप में विशेषरूप से अथर्व नहीं हैं।

अन्तिम दो काण्ड प्रकट रूप में बाद में जोड़े गए हैं। १९वें काण्ड में परिशिष्ट खण्डों का घोलमेल है जिसके पाठ्य के कुछ भाग को भ्रष्ट कहना अधिक उपयुक्त है। २०वें काण्ड में थोड़े से अपवाद को छोड़कर केवल इन्द्र को संबोधित किये हुए पूरे-पूरे सूक्त विद्यमान हैं जो बिना किसी परिवर्तन के सीधे ऋग्वेद से लिए गए हैं। ऋग्वेद के पाठों के साथ इसके पाठ एक रूप हैं केवल यह वास्तविकता ही यह दिखलाने के लिए पर्याप्त होगी कि यह मौलिक काण्डों की अपेक्षा बाद की रचना है, क्योंकि मौलिक काण्डों के पाठ पुराने वेद (ऋग्वेद) के पाठों से अत्यधिक भिन्न हैं। और भी इस काण्ड के परवर्ती होने का अधिक प्रत्यायक (विश्वासजनक) प्रमाण विद्यमान है। इसका वस्तुतत्व सोमयाग से सम्बन्ध रखता है और यह अथर्ववेद की भावना से पूर्णतः असंबद्ध है। इसमें सन्देह नहीं कि अथर्ववेद के चौथा वेद होने की स्थिति के दावे को स्थिर करने के लिए यह क:ण्ड उसमें जोड़ा गया था। (इस काण्ड में) तीन पुराने वेदों की स्वीकृत यज्ञीय विधि के सम्बन्ध में लाकर यह कार्य किया गया। और भी यह काण्ड और उसी प्रकार १९वां काण्ड इन दोनों पर अथर्ववेद के प्रातिशाख्य में ध्यान नहीं दिया गया। इसलिए ये दोनों निश्चय ही उसके बाद जोड़े गए होंगे जबकि यह कृति (प्रातिशाख्य) पूरा लिखा जा चुका था। दो गद्य खण्डों (४८ और ४९) को छोड़कर बीसवें काण्ड का मौलिक भाग केवल तथाकथित कुन्ताप सूक्त (१२७ से १३६ तक) हैं। ये ऋग्वेद की दान स्तुतियों के मेल में हैं, ये उधर राजाओं या याजकों की श्लाघा में लिखे गए हैं जो महा-

भारत के योद्धा राजाओं और वीरों की प्रशंसा में लिखे गए महाभारत के कथात्मक विवरणों के पुरोगामी हैं।

अथर्ववेद का किसी न किसी प्रकार का संकलन उस समय विद्यमान था जब शतपथ ब्राह्मण के अन्तिम अध्याय (११, १३, १४,), तैत्तिरीय ब्राह्मण और छान्दोग्योपनिषद् लिखे गए थे। यह इससे सिद्ध होता है कि उक्त रचनाओं में इसके सन्दर्भ दिए गए हैं। पतंजलि के महाभाष्य में यह ऐसा निश्चित विश्वस्त स्थान प्राप्त कर ही चुका था कि इसका उल्लेख वेदों के शिरोमणि के रूप में भी किया गया और यथावसर उसे उनका (वेदों का) एकमात्र प्रतिनिधि भी बतलाया गया।

इस वेद का सबसे पुराना नाम 'अथर्वाङ्गिरसः' है। यह एक ऐसी उपाधि है जो कि अथर्ववेद के मूलपाठ में विद्यमान है और स्वयं इसकी पाण्डुलिपियों के प्रारम्भ में (मुख पृष्ठ पर) पाई जाती है। यह शब्द एक सामासिक शब्द है जो पुरोहितों के दो प्राचीन परिवारों के नामों से बनाया गया है– अथर्वन और अंगिरस। प्रो० ब्लूमफील्ड की सम्मत्ति में पहले वाला शब्द (अथर्वन्) यहां पवित्र एवं सात्विक कुहक (अभिचारमन्त्र) का पर्यायवाचक है जबकि बाद वाला (आंगिरस) जादू टोना जैसे (बुरी) अभिचार क्रिया का समानार्थक है। अथर्वन् शब्द और उससे बने हुए दूसरे शब्द यद्यपि केवल लाभकारक पक्ष का ही प्रतिनिधित्व करते हैं फिर भी समस्त रचना को इस प्रकार चतुर्थवेद की उपाधि प्रदान कर दी गई होगी। इस अर्थ में यह शब्द बहुवचन (अथर्वाणः) में ब्राह्मणग्रन्थों में अनेक बार आया है। किन्तु एक वचन में यह पहली बार उपनिषद् में आया ज्ञात होता है। विशेषण आथर्वण प्रथम बार नपुंसक लिंग बहुवचन में स्वयं अथर्ववेद (काण्ड १९) में 'अथर्ववेद के सूक्त' इस अर्थ में आया है। उस समय के बाद यह सामान्य हो जाता है। अथर्ववेद यह नाम सर्वप्रथम सूत्र ग्रन्थों में उसी प्रकार और उतने प्राचीनकाल में प्राप्त होता है जितना पहले उसी प्रकार की उपाधि धारण करने वाला ऋग्वेद तथा वैसी ही दूसरी संहितायें। इसके अतिरिक्त अथर्ववेद के दो नाम और हैं जो व्यावहारिक रूप में इस वेद के यज्ञ सम्बन्धी मूलपाठ तक सीमित हैं। इनमें एक में 'भृगु-अंगिरसः' यह नाम दूसरे अग्निपूजक पुरोहितों के प्राचीन परिवार का भृगु यह नाम अंगिरसः का स्थान ले लेता है। दूसरा नाम ब्रह्मवेद अथर्वन् साहित्य से बाहर केवल एक बार मिला है और वह ऋग्वेद से संबद्ध गृह्यसूत्र में मिला है।

जब अथर्ववेद ने अपनी विषयवस्तु के सामान्य स्वरूप के कारण एक धर्म-पुस्तक की श्रेणी प्राप्त कर ली उससे पहले बहुत समय व्यतीत हो गया। इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि ऋग्वेद के सबसे बाद के समय में भी अथर्ववेद में आए हुए अभिचार नियमित रूप से एक पृथक् साहित्यिक वर्ग के रूप में स्वीकार कर लिये गये थे। क्योंकि पुरुषसूक्त में ३ याज्ञिक वेदों का ऋक्, साम और यजु इस नामोल्लेख के साथ वर्णन किया जा रहा था तब अथर्ववेद के अभिचारों का कोई सन्दर्भ नहीं आया। फिर भी यद्यपि ऋग्वेद का प्रधान सम्बन्ध यज्ञ के सम्बन्ध में देवताओं की स्तुतियां करने से है तथापि उसमें कुछ सूक्त विद्यमान हैं जो यह दिखलाते हैं कि भारत में सबसे पुराने आदिकाल से ही घरेलू व्यवहार जादूटोना से बंधे हुए थे। यजुर्वेद में अथर्ववेद के अभिचार-मन्त्रों का एक वर्ग के रूप में एकमात्र उल्लेख तैत्तिरीय संहिता में पाया जाता है जहां ऋक्,साम और यजु के समकक्ष 'अंगिरसः' के नाम पर उनका निर्देश किया गया है। अन्यत्र ऋक्, साम और यजु का इसमें अकेले ही उल्लेख है। फिर भी यजुर्वेद के सिद्धान्त अथर्ववेद की भावना से प्रायः ओत प्रोत हैं और कभी-कभी उनकी शब्द योजना में भी अथर्वन् विद्यमान है। वास्तव में जादू टोना के विषय में एक ओर ऋग्वेद और यजुर्वेद के मध्य और दूसरी ओर अथर्व के मध्य अन्तर उनकी नियोजन योग्यता और प्रधानता के तारतम्य का ही है।

स्वयं अथर्ववेद अपनी साहित्यिक विधा का प्रत्यक्ष उल्लेख केवल एक ही बार (अथर्वाङ्गिरसः के रूप में) और एक बार अप्रत्यक्ष उल्लेख (भेषजा या 'मंगलकारक अभिचार' के रूप में) करता है। यह कार्य वह दूसरे तीन वेदों के साथ करता है जबकि वह तीन वेदों का एकाकी उल्लेख अनेक संख्यक अनुच्छेदों में करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि उस समय तक इस वेद के अनुयायियों और पुराने वेदों के मानने वालों के मध्य किसी प्रकार की विरोधी भावना नहीं थी।

ब्राह्मणग्रन्थों की ओर आने पर हम देखते हैं कि ऋग्वेद के ब्राह्मणों में अथर्ववेद का उल्लेख बिल्कुल नहीं है जबकि तैत्तिरीय ब्राह्मण (तैत्तिरीय आरण्यक के समान) इसका उल्लेख दो बार करता है। शतपथ ब्राह्मण में यह अधिक प्रायिकता के साथ दृष्टिगत होता है और अधिक परिभाषित स्थिति प्राप्त किये हुए है यद्यपि उसकी वेद की स्थिति नहीं है। यह रचना अनेक बार केवल तीन वेदों का उल्लेख करती है। या तो यह उल्लेख भिन्न भिन्न रूप में ऋक्, साम और यजु के रूप में या त्रयी विद्या 'तीन प्रकार का ज्ञान' के रूप में होता है। अनेक अनुच्छेदों में उनका उल्लेख दूसरी साहित्यिक विधाओं के साथ भी किया जाता है जैसे इतिहास (कथा) पुराण (प्राचीन

काल्पनिक कथानक गाथा (गीत) सूत्र और उपनिषद्। इस परिगणन में अथर्ववेद सर्वत्र नियमित रूप से चौथा स्थान प्राप्त करता है जो कि तीन वेदों के तत्कालबाद आता है जबकि दूसरी साहित्य विधायें उसके बाद भिन्न भिन्न क्रमों में आती हैं। सामान्य रूप से उपनिषद् अथर्ववेद का उल्लेख उसी प्रकार करते हैं। हां अथर्ववेद के उपनिषद् तीन वेदों का उल्लेख कर अन्य साहित्यिक विधाओं का उल्लेख बिना किए हुए ही इसका नाम चुपचाप जोड़ देते हैं। श्रौत या याज्ञिक सूक्तों के विषय में हमें अथर्ववेद का उल्लेख (शुक्ल यजुर्वेद के श्रौतसूत्र) कात्यायन में या (सामवेद के श्रौतसूत्र) लाटायन में बिल्कुल नहीं मिलता और ऋग्वेद के श्रौतसूक्तों शाङ्खयन और आश्वालायन में प्रत्येक में एक एक बार मिलता है।

यज्ञविषयक समस्त साहित्य में अथर्ववेद के प्रति विरोधी भावना का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता और न अन्य वेदों के अनुयायियों की ओर से उनका परित्याग करने का कोई प्रमाण मिलता है। वास्तव में इस प्रकार की मनोवृत्ति की सम्भावना कठिनाई से ही की जा सकती थी। क्योंकि यद्यपि वैदिक यज्ञ विधियों का क्षेत्र नियमित जादू टोना की विधियों से भिन्न था, फिर भी वैदिक धर्म में यज्ञ और अभिचार के मध्य विभाजन की स्पष्ट रेखा खींचना असम्भव है। वास्तव में जादू टोना वैदिक धर्म का (भी) एक अनिवार्य तत्त्व है। इस प्रकार यज्ञपरक तीन वेदों के अनुयायी स्वभावतः ऐसी कृति को स्वीकृति प्रदान करते थे जो जादूगरी का एक आगार थी। इस प्रकार यद्यपि शतपथ ब्राह्मण यातु या अभिचार का वर्णन दानवीय तत्त्व के रूप में करता है—क्योंकि यह उनके लिए खतरनाक हो सकता है जो उसका अभ्यास करते हैं फिर भी 'यातुविदः' या अभिचार प्रक्रिया का ज्ञान रखने वालों को 'वहवृचः' या ऋग्वेद मन्त्रों में निपुण व्यक्तियों के साथ स्थान देता है। ठीक उसी प्रकार जैसे ऋग्वेद में जादू टोना से सीधा सम्बन्ध रखने वाले सूक्त वहुत कम हैं उसी प्रकार अथर्ववेद यज्ञविधि सम्बन्धी विषयों को सांयोगिक और गौण रूप में सम्मिलित करता है। इस प्रकार इसमें सिद्धान्त मन्त्रों की ऐसी श्रेणी (६.४७.४८) विद्यमान है जिसमें प्रतिदिन ३ वार सोम सवन (लता को पीसकर रस निकालने) के सम्बन्ध के अतिरिक्त और कोई अर्थ नहीं है। हमें सूक्तों में (जैसे ६.११४ में) यह भी मिलता है जिसमें यज्ञ में किए हुए अपराधों के प्रायश्चित्त के मन्त्र हैं। इसलिए हमें निश्चित रूप से निष्कर्ष निकाल लेना चाहिए कि अथर्ववेद के अनुयायी वर्तमान संकलन के सूक्तों के समाप्त होने के पहले ही किसी सीमा तक यज्ञीयविधि विधानों का परिचय रखते थे और उनका अभ्यास भी करते थे। यह सच है कि क्रियाकलापों के साथ

अथर्व का सम्बन्ध प्रारम्भ में इतना कम था कि यह आवश्यक हो गया कि उसके साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उसमें २० वां काण्ड जोड़ दिया जाय जिसको याज्ञिक विधियों के उद्देश्यों से ऋग्वेद से संकलित कर लिया गया।

इसलिए श्रौत रचनायें अथर्व की जो उपेक्षा करती थीं उस (उपेक्षा) का सुस्पष्ट कारण यह था कि यज्ञ की विषयवस्तु से वे लगभग पूर्णरूप से असंबद्ध थे। उसका कारण यह नहीं था कि किसी ने कहकर उसके प्रति असहमति प्रकट की हो या उसके अपने क्षेत्र में उसके मूल्य को स्वीकार करने से इनकार कर दिया हो। गृह्य या पारिवारिक सूत्रों के साथ जिनमें बहुत से जादू टोना तन्त्रमन्त्र (विधान) के तत्त्व विद्यमान है यज्ञविधि से हमें सम्भावना करनी चाहिए कि उन (गृह्य सूत्रों) से अथर्व के निकट सम्बन्ध होने का धोखा खा जायें। किसी सीमा तक वास्तव में यह मामला इस प्रकार का है— इन सूत्रों में जो बहुत से मन्त्र उद्धृत किए गए हैं वे अथर्ववेद में आए हुए मन्त्रों के या तो बिल्कुल समान हैं या उनमें कुछ पाठ भेद पाया जाता है यद्यपि श्रौत सूत्रों की भांति गृह्य सूत्रों में भी पद्यों के उपादान का प्रयत्न जहां तक सम्भव हो सका है उन विशिष्ट वेदों से ही किया गया है जिनसे उनका सम्बन्ध है। अन्यथा (अर्थात् यदि गृह्य सूत्रों में अभिचार सामग्री न होती तो) अथर्ववेद के मन्त्रों के उद्धरण अपने प्रति उससे अधिक सम्मान की भावना की भ्रान्ति उत्पन्न न कर पाते जितना कि श्रौतसूत्रों में उनके प्रति सम्मान है। यह सच है कि चौथे वेद के इस प्रकार के उद्धरण अधिक प्रायिकता और अधिक सैद्धान्तिकता के साथ यहां है किन्तु इससे इसके अतिरिक्त और कोई बात मालूम नहीं पड़ती कि गृह्यसूत्रों का समय बाद का है।

न्याय व्यवस्था (धर्म) के क्षेत्र में (अर्थात् धर्मसूत्रों में) भी जो कि प्रचलित आचार व्यवहार का वर्णन करते हैं, अथर्ववेद के अभ्यास ने कोई एक स्थान प्राप्त कर लिया था। क्योंकि अनुपेक्षणीय औषधि विज्ञान और फलित ज्योतिष प्रकट रूप में अथर्ववेद से ही सम्बन्ध रखते थे और समझा जाता है कि राजा का राजकीय कुलाचार्य (पुरोहित) प्रायः अथर्ववेदज्ञ हुआ करता था जिस पर विश्वास किया जाता था कि वह क्षति और पीड़ा में बहुत बड़ी सेवा प्रदान करने की योग्यता रखता था और साथ ही जादू टोना के (मन्त्रों के) प्रभाव से शत्रुओं को पराजित कर सकता था। इसके साथ ही यह केवल स्वाभाविक ही है कि सर्वप्रथम हमें धार्मिक (कानूनी) साहित्य में अथर्ववेद के अभ्यास पर प्रतिबन्ध प्राप्त हो। क्योंकि इस प्रकार के अभ्यास के विषय में समझा जाता था कि यह किसी व्यक्ति को दूसरे की हानि पहुंचाने के योग्य बना देता है।

समग्ररूप से विचार करने पर कानूनी (धर्मपरक) लेखों का निर्णय यह है कि विभिन्न प्रकार के अभिचार हानिकारक हैं, अथर्ववेद निम्न स्तर का है और इसका अभ्यास अपवित्र है। इस निम्नकोटि रूपता का सीधा उल्लेख आपस्तम्ब धर्मसूत्र में किया गया है और बाद की विष्णु की कानूनी रचना (विष्णुस्मृति) में अथर्ववेद के मारक अभिचार मन्त्रों के सुनाने वालों को सात प्रकार के हत्यारों के वर्ग में सम्मिलित किया गया है। चिकित्सकों और फलितज्योतिषियों को अपवित्र घोषित किया गया है। जड़ी बूटियों के व्यवहार का निषेध किया गया है। अभिचारमन्त्रों और शाप अथवा गाली इत्यादि देने के लिए कठोर प्रायश्चित्त के दण्ड का विधान है। यह सच है कि किसी किसी विषय में अथर्व को उपयोगी कहा गया है। इस प्रकार मनु की धर्म पुस्तक (मनुस्मृति) उसकी सिफारिश करती है क्योंकि यह शत्रु के प्रतिकूल ब्राह्मणों का स्वाभाविक अस्त्र है।

महाभारत में हम अथर्ववेद का महत्त्व और उसके धर्मग्रन्थ स्वरूप की पूरी स्वीकृति पाते हैं। प्रायः चार वेदों का उल्लेख है और देवता ब्रह्मा और विष्णु का अनेक प्रकरणों में उल्लेख है कि उन्होंने उनकी रचना की है। यहां अथर्ववेद का कई बार एकाकीरूप में भी उल्लेख किया गया है और उसको सम्मत बतलाया गया है तथा उसकी प्रशंसा की गई है। इसके अभ्यास सुपरिचित हैं और कदाचित ही उनकी आलोचना विरोधी रूप में की गई है। जादू और अभिचार नियमानुसार अच्छे समझे गए हैं।

अन्त में पुराण नियमित रूप से चार प्रकार के वेदों का उल्लेख ही नहीं करते अपितु अथर्ववेद को एक बढ़ी चढ़ी महत्त्वपूर्ण पदवी प्रदान करते हैं जिसका दावा उसके अपने ही याज्ञिक साहित्य के द्वारा किया गया है। इस प्रकार विष्णु पुराण अथर्ववेद को याज्ञिक विधियों में चौथे पुरोहित (ब्रह्मा) से जोड़ देता है।

फिर भी धर्मसूत्रों के समय से लेकर अथर्ववेद के विरोध में किसी प्रकार की ईर्ष्या फैली हुई है। यह इस बात से प्रकट होता है कि बरनैल के अनुसार आज भी दक्षिण भारत के सर्वाधिक प्रभावशाली ब्राह्मण इसके अधिकार को चौथे वेद के रूप में स्वीकार करने से इन्कार कर देते हैं और इसकी यथार्थता को अस्वीकृत करते हैं। इसी प्रकार का निष्कर्ष लौकिक साहित्य के समय समय के वक्तव्यों से भी निकाला जा सकता है और विशेष रूप से स्वयं अथर्ववेद पर लिखे गये निबन्धों और उसके अनुयायियों द्वारा अथर्व के स्वरूप की प्रामाणिकता की रक्षा में लिखे गए लेखों से भी होती है। केवल यही नहीं है कि ये याज्ञिक मूलग्रन्थ अथर्ववेद को बिना शामिल किए हुए वेदों की परि-

गणना नहीं करते किन्तु कभी कभी तो इसको चारों वेदों के शिरोमणि के रूप में स्थापित करते हैं। याज्ञिक विधिविधानों के क्षेत्र से अपने वेद के अलग कर दिये जाने की भावना को लेकर उसके अन्तर्गत वे चौथा पुरोहित (ब्रह्मा) होने का दावा करते हैं, जिस ब्रह्मा को वैदिक धर्म में किसी वेद के साथ नहीं जोड़ा गया, किन्तु उससे आशा की जाती थी कि वह तीनों वेदों का ज्ञाता हो और यज्ञ में उनके विनियोग से भी पूर्ण रूप से परिचित हो, यज्ञ सम्बन्धी विधि-विधानों के अधीक्षक या निर्देशक का कार्य करे। अथर्ववेद वादियों ने चालाकी से इस वास्तविकता का लाभ उठाया कि उस चौथे पुरोहित का सम्बन्ध तीन वेदों में किसी वेद से नहीं था और उन्होंने इस बात का दावा पेश कर दिया कि चौथे पुरोहित का क्षेत्र चौथा वेद (अथर्ववेद) था। इसके अतिरिक्त वह पुरोहित सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण था क्योंकि धार्मिक विद्या का वह सर्वाङ्गीण ज्ञाता (ब्रह्मा) होता था और देवताओं की प्रकृति एवं यज्ञों के रहस्यों के विषय में उसे पूर्ण अलौकिक समझ होती थी। इसलिए गोपथ ब्राह्मण अथर्ववेद को सर्वोच्च धार्मिक विद्या (ब्रह्मा) का गौरव प्रदान करता है और उसे ब्रह्मवेद कहता है। इसमें सन्देह नहीं कि बाद वाली उपाधि (ब्रह्मा) के दावे को स्वयं अथर्ववेद में मनोरम अभिचारों के लिए अनेक बार ब्रह्मा शब्द के प्रयोग से बल मिला और इस वास्तविकता से बल मिला कि इस वेद में अन्य संहिताओं की अपेक्षा आध्यात्म विद्या (ब्रह्मविद्या) का तत्त्व अधिक परिमाण में आया है। और वेदों से सम्बन्ध रखने वाले किसी भी मूलग्रन्थ में कभी भी यह सुझाव नहीं दिया गया कि चौथे पुरोहित का क्षेत्र अथर्ववेद है। ब्राह्मणग्रन्थों के कति-पय प्रकरण कण्ठरव से घोषित करते हैं कि कोई भी व्यक्ति आवश्यक ज्ञान से सम्पन्न होने पर ब्रह्मा हो सकता है। अथर्ववेद का याज्ञिक साहित्य जोर देकर कहता है कि पुरोहित या घरेलू कुलाचार्य अथर्ववेद का अनुयायी होना चाहिए। अन्ततः वे इस पद के अपने दावे में सफल हुए ज्ञात होते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इसका कारण यह है कि राजा लोग जादू टोनों के विशिष्ट ज्ञान को बहुत महत्व प्रदान करते थे।

अथर्ववेद में विद्यमान भौगोलिक सामग्री बहुत कम है और कोई निश्चित प्रमाण प्रस्तुत नहीं करती कि किस प्रदेश में इसकी रचना हुई थी। इसके पुराने भाग में एक सूक्त (५.२२) गन्धारियों मूजवतवालों, महावृषों और बाल्हीकों (इन उत्तर पश्चिम के प्रदेशों) और मगध एवं अंग (इन पूर्व के प्रदेशों) वर्णन करता है। किन्तु उनका विवरण इस प्रकार दिया गया है कि कोई भी असन्दिग्ध निष्कर्ष इस विषय में नहीं निकाला जा सकता कि जो सूक्त विचाराधीन है उसका निर्माता किस प्रदेश का रहने वाला था।

अथर्ववेद में गणित सम्बन्धी सामग्री की भी कुछ जानकारी है। नवें काण्ड में चन्द्रमा की राशियां गिनाई गई हैं। यहां जो नाम दिये गए हैं वे तैत्तिरीय संहिता में आए हुए नामों से अत्यधिक रूप में भिन्न हैं। तैत्तिरीय संहिता की नामावली अधिकांश रूप में बाद के स्वरूप वाली है। वह अनुच्छेद जिसमें यह नामावली प्राप्त हुई है सचमुच बाद में जोड़ी हुई ज्ञात होती है।

व्याकरण सम्बन्धी दृष्टिकोण से अथर्ववेद की भाषा निश्चित रूप से ऋग्वेद की भाषा की अपेक्षा परवर्ती है। किन्तु ब्राह्मणग्रन्थों की भाषा की अपेक्षा पूरवर्ती है। शब्द संग्रह के विषय में प्रधान रूप से ध्यान देने योग्य बात यह है कि इसके अन्दर आए हुए बहुसंख्यक शब्द जन समाज में प्रचलित बोल-चाल के शब्द हैं और वे शब्द उस प्रकार का अवसर न आने से अन्यत्र दृष्टिगत नहीं होते।

ऐसा सम्भव प्रतीत होता है कि अथर्ववेद के सूक्तों में कुछ बहुत पुराने हैं किन्तु उनका सम्पादन तब तक नहीं किया गया जब तक ऋग्वेद के ब्राह्मणों की रचना नहीं हो गई।

अथर्ववेद की विषयवस्तु का अधिक विस्तार से परीक्षण करने पर हमें यह बात मिलती है कि इसमें जो विरोधी जादू टोना विद्यमान हैं वे अधिकतर विभिन्न रोगों के प्रतिकूल या उन दानवों के प्रतिकूल जिनसे वे रोग उत्पन्न होते हैं प्रयुक्त किए गए हैं, उनमें बुखार (तक्मन्) को ठीक करने, कोढ, कामला, वेहोशी, गण्डमाल, खांसी, नेत्र रोग, गंजापन, शक्ति का ह्रास, अस्थिभंग और घाव, सर्पदंश या हानिकारक कीड़ों का काटना, सामान्य विष उन्माद तथा और बहुत से रोग आते हैं। इन जादू टोनों के साथ ठीक वनौ-षधियों के उपयोग का भी निर्देश है। इसलिए अथर्ववेद भारतीय भैषज्य विद्या का सर्वप्राचीन साहित्यिक स्मारक है।

निम्नलिखित मन्त्र (६.१०५) कफ के प्रतिकूल रक्षा करंड के उदाहरण हैं—

> यथा मनो मनस्केतैः परापतत्याशुमत्।
> एवा त्वं कासे प्र पत मनसोऽनु प्रवाय्यम् ॥ (६.१०५.१)

(जिस प्रकार आत्मा की इच्छाओं के साथ आत्मा तेजी से दूर तक दौड़ता चला जाता है—हे कफ! उसी प्रकार तुम भी आत्मा के वेग पूर्ण मार्ग पर शीघ्र गति से भागते चले जाओ।)

> यथा बाणः सुसंशितः परापतत्याशुमत्।
> एवा त्वं कासे प्र पत पृथिव्या अनु संवतम् ॥ (६.१०५.२)

(जिस प्रकार भलीभांति तेज नोक का बनाया हुआ बाण शीघ्रता से दूर भागता चला जाता है—हे कफ ! उसी प्रकार तुम भी पृथ्वी के लम्बे चौड़े विस्तार से भाग जाओ ।)

यथा सूर्यस्य रश्मयः परापतन्त्याशुमत् ।
एवा त्वं कासे प्र पत समुद्रस्यानु विक्षरम् ।। (६ १०५.३)

(ठीक उसी प्रकार जैसे सूर्यदेव की निकली हुई किरणें तेजी के साथ दौड़ती उड़ती चली जाती हैं उसी प्रकार हे खांसी तुम भी महासागर की उल्लोलिनी लहरियों के साथ उड़ी भागती चली जाओ ।)

यहां काले रंग के एक पौधे के साधन से कुष्ठ रोग को ठीक करने का एक मन्त्र है—

नक्तं जातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च ।
इदं रजनि रजय किलासं पलितञ्च यत् ।। (१.२३.१)

(हे औषधि ! तुम रात्रि में पैदा हुई हो, तुम काले रंग की हो, वर्ण में तुम भूरी एवं श्यामल हो । तुम अपने रंग में भरी पूरी (पक्की) हो, इस सफेद दाग को रंग दो और सफेद रंग के धब्बों को दूर भगाकर इन्हें काला कर दो ।)

आक्रोशों (शापों) की एक बहुत बड़ी संख्या, दानवों, अभिचार करने वालों और शत्रुओं के प्रतिकूल प्रेरित की गई हैं । निम्नलिखित दो पद्य बाद के दो वर्गों का क्रमशः वर्णन करते हैं ।

परि णो वृङ्धि शपथ ह्रदमग्निरिवादहन् ।
शप्तारमत्र नो जहि दिवो वृक्षमिवाशनिः ।। (६.३७.२)

((शत्रु द्वारा प्रयुक्त) हे शाप ! तू चारों ओर से झुक जा और हमें छोड़ कर हमारे पास से ठीक उसी प्रकार निकल जा जैसे जलती हुई आग भी सरोवर के पास से निकल जाती है—उसे जलाती नहीं । जो हमें शाप देता है (हमारे प्रतिकूल अभिचार का प्रयोग करता है) यहां उसे मारकर उसी प्रकार नीचे गिरा दो जैसे आकाश की बिजली वृक्ष को नष्ट कर देती है ।)

यथा सूर्यो नक्षत्राणामुद्यँस्तेजाँस्याददे ।
एवा स्त्रीणां च पुसां च द्विषतां वर्च आददे ।। (७.१३.१)

(जिस प्रकार पूर्व में उदय होने वाला सूर्य प्रकाशमान नक्षत्रों की चमक को दूर कर लेता है उसी भांति स्त्रियों और पुरुषों दोनों प्रकार के अपने शत्रुओं की शक्ति को मैं समेट रहा हूं ।)

अभिचारमन्त्रों के एक बहुत बड़े वर्ग में वे आक्रोश एवं शाप विद्यमान हैं जो उनके प्रतिकूल प्रेरित किए गए हैं जो ब्राह्मणों को परेशान करते हैं या

उनके प्रतिकूल जो उनके अधिकार के पुरस्कारों को उनसे छीन लेते हैं। इस प्रकार का बुरा कर्म करने वालों के प्रतिकूल धमकियों में एक धमकी निम्नलिखित पद्य में दी गई है—

येन मृतं स्नपयन्ति श्मश्रूणि येनोन्दते।
तं वै ब्रह्मज्य ते देवा अपां भागमधारयन्॥ (५.१९.१४)

(हे ब्राह्मण पुरोहित को क्लेश देने वाले ! तुम्हारे भाग (हिस्से) में तुम्हारे लिए देवताओं ने वही जल निश्चित किया है जिससे वे मरे हुए (मुर्दे) को नहलाते हैं और वह जल जिससे वे (क्षौर क्रिया के लिये) अपनी दाढ़ी भिगोते है।)

मोहन मन्त्रों के एक दूसरे समूह का सम्बन्ध स्त्रियों से है जिनका मंशा अनेक प्रकार की शक्तिशाली वनौषधियों की सहायता से अपने प्रेमियों पर अधिकार प्राप्त करना होता है। उनमें कुछ विरोधी प्रवृत्ति के भी हैं जिनका उद्देश्य अपने प्रतिद्वन्दियों को हानि पहुंचाना होता है। निम्नलिखित दो पद्य प्रथम वर्ग (प्रेमियों पर अधिकार प्राप्त करने) के अन्तर्गत आते हैं—

यथेमे द्यावा पृथिवी सद्यः पर्यैति सूर्यः।
एवा पर्येमि ते मनो यथा मां कामिन्यसो॥
यथा मन्नापगा असः॥ (६.८.३)

(जिस प्रकार इस आकाश पृथ्वी के चारों ओर सूर्य उनका चक्कर लगाते हुए दिन प्रतिदिन उनके चारों ओर घूमता रहता है इसी प्रकार हम तुम्हारे मस्तिष्क के चारों ओर चक्कर लगाती रहें और एक कामिनी के रूप में तुम भलीभांति मुझसे प्रेम करते रहो और कभी मेरी ओर से तुम मुंह न मोड़ो।)

आधीपर्णां कामशल्यामिषुं संकल्प कुल्मलाम्।
तां सुसन्नतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि॥ (३.२५.२)

(कामदेव का बाण निश्चित अभिलाषाओं का बना हुआ है जिसमें कामवासना के पंख लगे हुए हैं और उसकी नोक प्रेम की है। कामदेव इस प्रकार के अपने बाण का ठीक रूप में सन्धान करके तुम्हारे हृदय को छेद डाले।)

अथर्ववेद के कल्याणपरक गारुड़ मन्त्रों के मध्य बहुत सी प्रार्थनायें लम्बे जीवन और स्वास्थ्य के विषय में है और मृत्यु तथा रोग से छुटकारे के लिए हैं—

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो
यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव
तमाहरामि निर्ऋतेरुपस्था-
दस्पार्शमेनं शत शारदाय॥ (३.११.२)

(यदि उसके अन्दर जीवन जबाव दे रहा हो या जीवन चला भी गया हो, यदि मृत्यु के बिल्कुल किनारे पर वह लड़खड़ा रहा हो, मैं उसे प्रलय एवं विनाश की गोद से खींच लाता हूं और अब मैं उसे सौ शरत्कालों तक जीवित रहने के लिए स्वतन्त्र कर रहा हूं।)

उत्क्रामातः पुरुष माव
पत्था मृत्योः पड्वीशमवमुञ्चमानः।
मा च्छित्था अस्माल्लोका
दग्नेः सूर्यस्य सन्दृशः ॥ (८.१.४)

(हे पुरुष ! अपने पैरों से मृत्यु की बेड़ियों को सीधे सीधे काटकर तथा फेंककर यहां से उठ खड़ा हो, नीचे की ओर मत जा, इस पृथ्वी पर अपने जीवन से अब तक (इस समय) पृथक् मत हो, नहीं ही अग्नि और सूर्य की दृष्टि से दूर हो।)

सूक्तों की एक दूसरी श्रेणी में संकटों और अनर्थों से सुरक्षा के लिए प्रार्थनायें सम्मिलित हैं या घर या खेत के विषय में जानवर, व्यापार और द्यूत तक में भी सम्पन्नता के लिए प्रार्थनायें हैं। यहां दो गारुड़मन्त्र हैं जिनका उद्देश्य (द्यूत) क्रीडा में भाग्य में सुरक्षा प्राप्त करना है—

यथा वृक्षमशनिर्विश्वाहा हन्त्यप्रति।
एवाहमद्य कितवानक्षैर्बध्यासमप्रति ॥ (७.५०.१)

(जिस प्रकार सभी समयों में बिजली का प्रहार बिना किसी प्रतिरोध के वृक्ष को तोड़ डालता है, उसी प्रकार आज मैं पाशों के साथ द्यूतक्रीडा करने वालों को बिना रोक टोक के पराजित कर दूं।)

अक्षाः फलवतीं द्युवं
दत्त गां क्षीरिणीमिव।
सं मा कृतस्य धारया
धनुः स्नाव्नेव नह्यत ॥ (७.५०.९)

(हे पाश ! मुझे ऐसा खेल प्रदान करो जो कि लाभ लाता है उन गायों के समान जो अत्यधिक दूध देती हैं। मुझे लाभ की (स्वर्णिम) रेखाओं से सनाथ कर दो जैसे एक धनुष डोरी से बंधा होता है। (जिस प्रकार डोरी धनुष के एक छोर से दूसरे छोर तक बंधी होती है उसी प्रकार मुझे आरम्भ से अन्त तक लाभ ही प्राप्त होता रहे।))

कुछ संख्या के सूक्तों में एकरूपता (एकता) प्राप्त करने के मन्त्र हैं या क्रोध, झगड़े या विरोध को शान्त करने के लिए या परिषदों और सभाओं में उच्चता प्राप्त करने के लिए गारुडमन्त्र हैं। निम्नलिखित एक पद्य का मन्तव्य

अन्तिम उद्देश्य को प्रकट करता है—

विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि।
ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः॥ (७.१२.२)

(हे परिषद्! मैं तेरा नाम जानता हूं। नाम से वास्तव में तुम क्रीडा कौतुक[1] हो। सब लोग जो तुम्हारे अन्दर मिलते और बैठते हैं वे सब अपने भाषण में मेरे साथ एक राय के बने रहें।)

कतिपय मन्त्रों में अपूर्ण यज्ञ करने और बड़े भाई से पहले विवाह करने जैसे पापों के प्रायश्चित्तों की व्यवस्था है या किसी अमंगल सूचक पक्षी द्वारा उत्पन्न की हुई अपवित्रता को दूर करने और दुःस्वप्नों को नष्ट करने के मन्त्रों का वर्णन किया गया है—

यदि जाग्रद् यदि स्वपन्नेन एनस्योऽकरम्।
भूतं मा तस्माद्भव्यं च द्रुपदादिव मुञ्चताम्॥ (६.११५.२)

(यदि जागते हुए, यदि सोते हुए मैंने कोई पाप कार्य किया है अथवा मेरी प्रवृत्ति पाप करने की ओर हुई है, इस प्रकार जो पाप हो चुका है या जो होने वाला है मुझे उससे उसी प्रकार छुटकारा दो जैसे लकड़ी के खम्भे से बंधे किसी पशु को छोड़ दिया जाता है।)

जिसमें पापों से छुटकारा दिलाने की प्रार्थना की गई है एक ऐसे छोटे से सूक्त (६.१२०) की समाप्ति का अन्तिम पद्य इस प्रकार है—

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः१स्वायाः।
अश्लोणा अङ्गैरह्रुताः स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान्॥
(६.१२०.३)

(स्वर्ग में जहां हमारे पुण्यात्मा सदाचारी मित्र अपना आनन्दमय समय बिता रहे हैं, उन्होंने अपने शरीरों से रोगों को उतार फेंका है वे, लंगड़ेपन से मुक्त हो गये हैं और उनके शरीरावयवों में किसी प्रकार की कुरूपता नहीं है वहां हम अपने पितरों और बच्चों को देख सकें।)

सूक्तों के एक दूसरे समूह में राजा का व्यक्तित्व केन्द्र में रहता है। उनमें ऐसे मन्त्र होते हैं जिनका उपयोग राजकीय निर्वाचन या उसके प्रतिष्ठापन में होता है अथवा किसी निर्वासित राजा के पुनः प्रतिष्ठापन या ओजस्विता तथा ख्याति प्राप्त करने के लिए और विशेष रूप से युद्धों में विजय प्राप्त करने के

---

१. यहां मैकडानल ने 'नरिष्टा' का अर्थ क्रीडा कौतुक (frolic) किया है और उसका वाच्य द्यूत को बतलाया है। किन्तु भाषण की एकता परिषद् के अर्थ में विशेषरूप से घटित होती है।

लिए उनका उपयोग किया जाता है। नीचे लिखा मन्त्र एक ऐसे अभिचार का नमूना है जिसका मन्तव्य है शत्रु के अन्दर भय उत्पन्न करना—

उत्तिष्ठत सन्नह्यध्वमुदाराः केतुभिः सह।
सर्पा इतरजना रक्षांस्यमित्राननु धावत॥ (११.१०.१)

(हे भूत प्रेत, पिशाचों और बेतालों के स्वरूप धारियों उठ खड़े हो, अस्त्र-शस्त्र धारण कर लो, तुम्हाये साथ नभोमण्डल की उल्काओं की लपटें होनी चाहिए। हे पृथ्वी के नीचे रहने वाले नागों और रात्रिचर दानवों शत्रु का पीछा करो।)

यहां एक पद्य सूक्त (५.२१.६) से लिया गया है जो उसी उद्देश्य को पूरा करने के मन्तव्य से दुन्दुभि को संबोधित कर कहा गया है—

यथा श्येनात्पतत्रिणः संविजन्ते अहर्दिवि सिंहस्य स्तनथोर्यथा।
एवा त्वं दुन्दुभेऽमित्रानभि क्रन्द्र प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय॥

(जिस प्रकार बाज के भयानक स्वर को सुनकर संत्रस्त हुए पक्षी पीछे की ओर भागना प्रारम्भ कर देते हैं, जिस प्रकार वे रात दिन शेर की दहाड़ पर कांपने लगते हैं उसी प्रकार तुम दुन्दुभि हमारे शत्रुओं के प्रतिकूल दहाड़ों उनको भय से भर कर दूर भगा दो और उनके मस्तिष्कों को व्याकुलता से भर दो।)

विश्वोत्पत्ति, ईश्वर वाद एवं अध्यात्मवाद विषयक सूक्तों में ६३ मन्त्रों का एक लम्बा सर्वोत्तम सूक्त (१२.१) पृथिवी को संबोधित किया गया है। मैं कुछ पङ्क्तियों का अनुवाद दे रहा हूं जिससे उसकी शैली और विषयवस्तु के सम्बन्ध में कुछ परिचय प्राप्त हो सके—

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैऽलवाः।
यध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः॥
सा नो भूमिः प्र णुदतां सपत्ना-
नसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु॥ (१२.१.४१)

(पृथ्वी जिस पर जोर का शोर मचाते हुए मनुष्य जो मरणधर्मा हैं गाते हैं और नाचते हैं, जिस (पृथ्वी) पर वे भयानक युद्ध करते हैं (जिस पर दुन्दुभि बजती रहती है।) वह पृथ्वी हमारे पास से हमारे शत्रुओं को दूर भगा देगी और हमें हमारे सभी प्रतिद्वन्दियों से निर्मुक्त बना देगी।)

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु
मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे।
वसूनि नो बसुदा रासमाना
देवी दधातु सुमनस्यमाना॥ (१२.१.४४)

(गुप्त स्थानों पर अनेक प्रकार की सम्पत्तियों को धारण करने वाली पृथिवी मुझे धन, रत्न और सोना प्रदान करेगी, वह कृपालु देवी मुक्तहस्त से हमें अत्यधिक मात्रा में सम्पत्तियाँ और वस्तुएँ प्रदान करेगी।)

१३वें काण्ड के चार मन्त्र रोहित अर्थात् 'लाल' सूर्य को समर्पित किये गए हैं जिनमें उसकी विश्व रचना की शक्ति दिखलाई गई है। एक दूसरे सूक्त (११.५) में सूर्य का गुणगान ब्राह्मण ब्रह्मचारी के स्वरूप के अन्तर्गत आदिम तत्त्व के रूप में किया गया है। एक दूसरे (११.४) में प्राण या श्वास वायु का; (६.२) में काम या प्रेम के देवता का और (१६.५३-५४) में काल या समय का बीजभूत आदिम शक्ति के रूप में मानवीकरण किया गया है। एक सूक्त (११.७) है जिसमें उच्छिष्ट अर्थात् यज्ञ की जूठन (प्रसाद) को भी परमसत्ता के रूप में देवत्व प्रदान किया गया है। पद्य के स्वरूप को छोड़कर इसकी पद्धति ब्राह्मण साहित्य जैसी ही है।

अथर्ववेद के सर्वेक्षण का उपसंहार करते हुए मैं वरुण के प्रति सूक्त (४.१६) की ओर ध्यान आकर्षित करूंगा। यद्यपि इसके दो अन्तिम पद्यों में अथर्ववेद की सामान्य अभिचार प्रवृत्ति विद्यमान है जिसमें उस देवता से शत्रुओं को बेड़ियों से बांधने के लिए कहा गया है फिर भी इसके शेष पद्यों में दैवी सर्वव्यापकता का इतने उत्कृष्ट रूप में अत्यन्त आकर्षक ढंग से प्रयत्नपूर्वक वर्णन किया गया है कि दूसरी वैदिक कविताओं में उसकी तुलना नहीं मिलती। सम्भवत: निम्नलिखित तीन पद्य सर्वोत्तम हैं —

उतेयं भूमिर्वरुणस्य राज्ञ-
उतासौ द्यौ बृहती दूरे अन्ता।
उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी
उतास्मिन्नल्प उदके निलीनः।। (४.१६.३)

(यह समस्त पृथ्वी राजा वरुण का साम्राज्य क्षेत्र है और वह विशाल आकाश भी जिसकी सीमायें बहुत दूर हैं उसका साम्राज्य ही है। ये दोनों महासागर वरुण के दो नितम्ब फलक (वैदिक मूल में कुक्षियां) हैं फिर भी वह जल के इस छोटे से बिन्दु में छिपा हुआ है।)

उत यो द्यामतिसर्पात् परस्ता-
न्न स मुच्याते वरुणस्य राज्ञः।
दिव स्पशः प्र चरन्तीदमस्य
सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम्।।(४.१६.४)

(जो व्यक्ति स्वर्ग (आकाश) के आगे बहुत दूर तक भागता चला जाय वह भी वरुण महाराज के ध्यान से छुटकारा नहीं पा सकता। उसके गुप्तचर

आकाश से उतरते हुए यहां आ जाते हैं और अपनी सभी हजार आंखों से पृथ्वी का सर्वेक्षण करते रहते हैं ।)

सर्वं तद्राजा वरुणो विचष्टे
यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात् ।
संख्याता अस्य निमिषो जनाना-
मक्षानिव श्वघ्नी नि मिनोति तानि ।। (४.१६.५)

(राजा वरुण वह सब कुछ देखता रहता है जो कुछ पृथ्वी और आकाश के मध्य में वर्तमान है और वह सब कुछ भी देखता रहता है जो उनसे भी परे विद्यमान है। मनुष्य की आंखें जितनी बार पलक झपकाती हैं उन सबको (उन सब निमेषों को) वह गिनता रहता है। जिस प्रकार जुआ खेलने वाला (समझ बूझकर) अपने पाशे डालता है उसी प्रकार वह (वरुणदेव) अपने प्रत्येक शासनविधान को निश्चित और व्यवस्थित करता रहता है ।)

अष्टम अध्याय

ब्राह्मण-ग्रन्थ

(लगभग ई० पू० ८०० से ५०० ई० पू० तक)

वैदिक संहिताओं की कवितायें जिस काल में उद्भूत हुई थीं उसका पदानुसरण ऐसे युग ने किया जिसमें सर्वथा भिन्न प्रकार की साहित्यिक विधा का उद्भव हुआ — वह विधा थी धार्मिक निबन्धों की रचना जिन्हें ब्राह्मण ग्रन्थों की संज्ञा दी जाती है। इन रचनाओं के स्वरूप की स्वभावगत विशेषता यह है कि इनकी रचना गद्य में हुई है और इनके प्रतिपाद्य विषय की विशेषता यह है कि ये यज्ञ सम्बन्धी संस्कारों का विवेचन करते हैं। उनका मुख्य उद्देश्य उन लोगों के लिए यज्ञ विषयक पवित्र महत्ता की व्याख्या करता है जो यज्ञ-विधि से पहले से ही परिचित हो चुके हैं। वे जो विवरण देते हैं वह पूर्ण नहीं होता, बहुत कुछ या तो केवल रूपरेखा में बतला दिया जाता है या बिल्कुल छोड़ दिया जाता है। वे यज्ञ विषयक पाठ्य पुस्तकें हैं जो वस्तुतः उन लोगों के प्रति यज्ञ सम्बन्धी विधिविधानों का पूर्ण सर्वेक्षण प्रदान करने का लक्ष्य बनाकर नहीं चलतीं जो उन्हें पहले से ही नहीं जानते। उनकी विषयवस्तु को तीन उपशीर्षकों में वर्गीकृत किया जा सकता है—(१) प्रायोगिक यज्ञविधानों का निर्देश (विधि), (२) अर्थवाद अर्थात् विवरणात्मक पुराणोपाख्यानात्मक या विवादात्मक व्याख्यायें और (३) वस्तुतत्त्व की प्रकृति पर आध्यात्मिक या दार्शनिक विचार (उपनिषद्)। वे भाग भी जो सुरक्षित रक्खे हुये स्वरूप वाले हैं स्वयं में सर्वथा विस्तृत साहित्य के रूप में हैं फिर भी बहुत से दूसरे निश्चय ही नष्ट हो गये होंगे जैसाकि उन अनेक नामों और उद्धरणों से ज्ञात होता है जो उपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थों में विद्यमान है और हमारे लिए अज्ञात ब्राह्मण ग्रन्थों से लिए गए हैं। वे एक ऐसे युग की अन्तर्भावना की प्रतिच्छाया हैं जिसमें सभी बौद्धिक क्रियाकलाप यज्ञों तक ही सीमित हैं—(उनमें) यज्ञ-विधियों का वर्णन किया गया है, उसके मूल्य का पर्यालोचन किया गया है

और उसके प्रारम्भ तथा महत्त्व पर विचार व्यक्त किए गये हैं। केवल यही समझना तर्कसंगत है कि इस प्रकार का एक युग जिसने कोई दूसरा साहित्यिक संस्मारक उत्पन्न नहीं किया बहुत समय तक वर्तमान रहा। क्योंकि यद्यपि सब बातों पर विचार करते हुए ब्राह्मण ग्रन्थ अपने स्वरूप में एक जैसे ही है फिर भी उनमें कालक्रम के अन्तर का अनुसन्धान किया जा सकता है। यजुर्वेद के गद्य भागों के बाद दूसरे नम्बर पर अपने वाक्य-रचना-विचार और शब्द समूह के द्वारा पञ्चविंश और तैत्तिरीय ये दोनों ग्रन्थ नियमित ब्राह्मण ग्रन्थों में सर्वाधिक प्राचीन आर्ष ग्रन्थ सिद्ध होते हैं। यह निष्कर्ष इस वास्तविकता से प्रमाणित हो जाता है कि तैत्तिरीय ब्राह्मण में स्वरों के चिन्ह लगाए गए हैं जबकि पंचविंश में स्वर लगे हुए थे ऐसा जाना जाता है। जैमिनीय कौशीतकी और ऐतरेय ब्राह्मणों द्वारा अपेक्षाकृत अधिक बाद का वर्ग बनाया जाता है। इनमें पहला सम्भवत: सबसे पुराना है जबकि कम से कम भाषा के आधार पर तीसरा (ऐतरेय) तीनों में सबसे बाद का ज्ञात होता है। आगे बढ़कर शतपथ ब्राह्मण इन सबसे बाद का है। क्योंकि इसमें विषयवस्तु स्पष्ट रूप में एक उत्कर्ष को प्रकट करती है। इसके वर्णनों में प्रयुक्त क्रियाओं के रूप एत-रेय ब्राह्मण के क्रियारूपों की अपेक्षा अधिक परवर्ती हैं, और इसकी शैली ऊपर उल्लिखित सभी ब्राह्मण ग्रन्थों की तुलना में निश्चित रूप में विकसित है। यह सच है कि इसमें स्वर लगे हुए हैं। किन्तु वे एक ऐसे प्रकार से लगे हुए हैं जोकि नियमित वैदिक पद्धति से पूर्णरूप से भिन्न हैं। इस समस्त ब्राह्मण साहित्य में अथर्ववेद पर लिखा गया गोपथ ब्राह्मण और सामनेद पर लिखे गए संक्षिप्त ब्राह्मण सबसे बाद के हैं।

ब्राह्मणों की भाषा

भाषा के क्षेत्र में शब्द रूपों के प्रयोग की दृष्टि से ऋग्वेद की अपेक्षा ब्राह्मण ग्रन्थों का क्षेत्र अत्यधिक सीमित (संकुचित) है। यह सच है कि हेतु हेतु मद्भाव में (Subjunctine Mood लेट् लकार) का प्रयोग अब भी होता है और साथ ही क्रियार्थक क्रियाओं (Iufinitiue Mood) के बहुत से रूप काम में लाए जाते हैं। वास्तव में उनकी वाक्य रचना ऋग्वेद की भी अपेक्षा अधिक अच्छे रूप में सर्वप्राचीन भारतीय स्तर का प्रतिनिधित्व करती है। सचमुच प्रधानरूप से ऋग्वेद की शैली पर छन्दों के द्वारा लगाए गए प्रतिबन्ध ऋग्वेद में कुछ भाषाभेद का कारण हैं। ब्राह्मणों में कतिपय छन्दोबद्ध खण्ड (गाथा-आर्या छन्द) विद्यमान हैं जिसमें वे गद्य खण्डों से भिन्न हैं उन गद्य खण्डों से जिनमें वे जड़ दिये गये हैं—उस गद्य खण्ड की भाषा से जो अपनी कतिपय निजी विलक्षणताओं से ओत प्रोत है और वे विशेषतायें अपने

प्राचीन आर्य स्वरूप की हैं। इस काल की इनसे मिलती जुलती एक ध्यान देने योग्य कविता सुपर्णाध्याय है। यह कविता उस समय लिखी गई थी जब उस समय तक बची हुई वैदिक कविता का युग समाप्त हो गया था। यह कविता उन्हीं वैदिक सूक्तों की शैली में नवीन काव्य रचना का एक प्रयास है। इसमें बहुत से वैदिक शब्दरूप विद्यमान हैं और उन पर स्वर लगे हुए हैं। किन्तु यह अपने वास्तविक स्वरूप का रहस्य केवल बहुत से आधुनिक शब्द-रूपों द्वारा ही नहीं खोल देता अपितु वैदिक भाषा के असफल अनुकरण के कारण अपने प्रयोगों के अद्भुत रूपों से भी रहस्य भेदन कर देता है।

आगे चलकर और अधिक विकास आरण्यकों या 'जंगल के निबन्धों' में हुआ जिनकी परिवर्तितता दोनों बातों से व्यक्त कर दी जाती है—ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्त में लिखे जाने की जो स्थिति वे धारण करते हैं उसके द्वारा भी और अपने आध्यात्मिक स्वरूप के द्वारा भी। ये रचनायें उस स्थिति का प्रतिनिधित्व करती हैं मानो उनका उद्देश्य पवित्र व्यक्तियों द्वारा उपयोग किया जाना है जो संसार से निवृत्त लेकर जंगल को चले जाते हैं और अब यज्ञों का कार्य नहीं करते हैं। प्रो० ओल्डेम बर्ग के दृष्टिकोण के अनुसार सचमुच वे ऐसे निबन्ध हैं जो अपनी विषय वस्तु को उच्चकोटि की रहस्यात्मक पवित्रता के कारण गुरु द्वारा शिष्यों को प्रदान करने के उद्देश्य से लिखे गए थे। यह प्रदान ग्रामों की अपेक्षा जंगल के एकान्त में किया जाता था।

अपने स्वर और विषयवस्तु में आरण्यक उन उपनिषदों का अन्तराल (संक्रान्ति-काल) बनाते हैं जो या तो उनमें अन्तर्भूतसंघटक हैं या अधिकतर उनके उपसंहारक भाग का निर्माण करते हैं। उपनिषद् शब्द का अर्थ है—उप+नि+पद् (शाब्दिक रूप में 'पास में बैठना') निस्सन्देह इसका पहले अर्थ था 'गोपनीय सन्त्र' जो गुप्त अलौकिक ज्ञान को व्यक्त करता है। क्योंकि ये रचनायें चुने हुए छात्रों को ही (सम्भवतः प्रशिक्षण काल के अन्त में) पढ़ाई जाती थीं; ये उपदेश व्याख्यानों द्वारा दिए जाते थे जिनमें विस्तृत क्षेत्र को अलग रखा जाता था। क्योंकि वे वस्तुतत्त्व की प्रकृति के विषय में पूर्णरूप से धार्मिक और दार्शनिक विचारों में संलग्न रहते थे अत: उपनिषद् ब्राह्मण साहित्य के विकास के अन्तिम स्तर की ओर संकेत करते हैं। क्योंकि वे सामान्य रूप से ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्त में आते हैं अतः उन्हें वेदान्त भी कहा जाता है (जिसका अर्थ है वेद का अन्त) यह एक ऐसा शब्द है जिसका बाद में अर्थ किया जाने लगा 'वेद का अन्तिम लक्ष्य'। श्रुति (ईश्वरीय ज्ञान) उनको

शामिल करने वाली समझी जाती थी जबकि सूत्र का क्षेत्र परम्परा (स्मृति) से सम्बन्धित था। सभी पुराने उपनिषदों की विषयवस्तु तत्त्वतः वही एक ही है—आत्मतत्त्व या ब्रह्म (परम आत्मा) के प्रकृति (स्वरूप) गत तत्त्व का सिद्धान्त। इस मौलिक विषय का उन विभिन्न वैदिक सम्प्रदायों द्वारा विभिन्न रूपों में विवेचन किया गया जिन वैदिक सम्प्रदायों में उपनिषद् मौलिक रूप में स्वमता भिमानी मूल पुस्तकें हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार ब्राह्मणग्रन्थ उनकी याज्ञिक मूल रचनायें हैं।

आरण्यक और उपनिषद् भाषा के उस स्तर का प्रतिनिधित्व करते हैं सर्वाङ्गीण विचार करने पर जो भाषा शास्त्रीय (लौकिक) संस्कृत के बहुत निकट पहुंच जाती है। प्राचीनतम उपनिषद् भाषा विज्ञान की दृष्टि की ब्राह्मण ग्रन्थों और सूत्र ग्रन्थों मध्य में आधे मार्ग पर स्थित हैं।

ऋग्वेद के ब्राह्मण

ऋग्वेद से संबन्धित दो ब्राह्मणों में ऐतरेय ब्राह्मण अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसके वर्तमान मूलपाठ में ४० अध्याय विद्यमान हैं जो ८ उपखण्डों में विभाजित हैं। इन उपखंडों को पञ्चिका या 'पांच का वर्ग' कहा जाता है, क्योंकि प्रत्येक उपखण्ड में पांच अध्याय हैं। इसके अन्तिम १० अध्याय बाद में जोड़े गए हैं यह बात दोनों प्रकार से सिद्ध होती है—अन्तःसाक्ष्य के द्वारा भी और इस वास्तविकता के द्वारा भी कि निकट रूप में सम्बन्धित शाङ्खायन ब्राह्मण में उनकी विषयवस्तु से मिलता जुलता कुछ नहीं है जिसका कि विवेचन शाङ्खायन सूत्र में किया गया है। इसके आगे और भी यह बात प्रतीत होती है कि अन्तिम तीन पञ्चिकायें पहली ५ पंचिकाओं की अपेक्षा बाद में लिखी गईं; क्योंकि अन्तिम तीन पंचिकाओं में पूर्णभूत क्रिया का प्रयोग वर्णनात्मक काल के रूप में किया गया है जबकि प्रथम ५ पंचिकाओं में प्राचीनतम ब्राह्मणों के समान अब तक अपनी मौलिक वर्तमानकाल की शक्ति बनाये हुए है। इस ब्राह्मण का महत्त्वपूर्ण भाग सोमयाग का वर्णन करता है। यह पहले (१ से १६ तक) अध्यायों में अग्निष्टोम नाम से प्रसिद्ध सोमयाग विधि का वर्णन करता है जो दिन भर चलती रहती है। फिर (१७-१८) में 'गवामयन' नामक विधि का वर्णन है जो ३६० दिन चलती है और तीसरी विधि में (१९ से २४) अध्यायों तक 'द्वादशाह' अर्थात् '१२ दिनों की विधि' का वर्णन है। अगले भाग (२५ से ३२ तक) का सम्बन्ध अग्निहोत्र या 'अग्नि के यज्ञ' से तथा अन्य विषयों से है—उसका स्वरूप परिशिष्ट का है। अन्तिम भाग (३३ से ४०) तक राजा की अभिषेक विषयक विधियों और घरेलू पुरोहित की परिस्थितियों का वर्णन करता है। उस भाग में भी पहले के समान परवर्ती होने के चिह्न विद्यमान हैं।

ऋग्वेद का दूसरा ब्राह्मण कौशीतकी और उसी प्रकार शांख्यायन नाम से प्रसिद्ध है। उसमें ३० अध्याय हैं। सब मिलाकर उसकी विषयवस्तु वही है जो ऐतरेय के मौलिक भाग (प्रथम ५ पञ्चिकाओं) की है किन्तु यहां उसका विस्तार अधिक है। क्योंकि इसके प्रारम्भिक अध्यायों में पवित्र अग्नि को स्थापित करने (अग्न्याधान) का अन्त तक चलता हुआ वर्णन किया गया है। इसी प्रकार दैनिक प्रातःकालीन और सायंकालीन यज्ञों (अग्निहोत्रों) का, नवीन और पूर्णचन्द्र(दर्शपौर्णमास्य)यज्ञों तथा चतुर्मासिक यज्ञों का वर्णन किया गया है। यह सच है कि यहां भी सोमयाग प्रधान पदवी प्राप्त किये हुए है। कौशीतकी में अधिक निश्चित और व्यवस्थित यज्ञ वर्णन इस ओर संकेत करता प्रतीत होता है कि इस ब्राह्मण की रचना ऐतरेय ब्राह्मण की प्रारम्भिक ५ पञ्चिकाओं के बाद हुई। इन दो पुस्तकों की भाषा सम्बन्धी सामग्री की तुलना करने से भी इस प्रकार के निष्कर्ष का पूर्णरूप से खण्डन नहीं हो पाता। एक अनुच्छेद में ईशान और महादेव इन उपाधियों के होने से जो परवर्ती साहित्य में एकमात्र शिव के लिए प्रयुक्त होने लगी थीं प्रो० वेबर तर्क करते हैं कि कौशीतकी ब्राह्मण लगभग उसी समय लिखा गया था जबकि शुक्ल यजुर्वेद के सबसे परवर्ती भाग और अथर्ववेद के वे ही भाग तथा शतपथ ब्राह्मण लिखे जा रहे थे जिनमें उसी देवता के ये ही अभिधान प्राप्त होते हैं।

इन ब्राह्मण ग्रन्थों में भौगोलिक सामग्री बहुत कम है। हां, उस रीति से जिसमें ऐतरेय ब्राह्मण भारतीय कबीलों का वर्णन करते हैं यह निष्कर्ष सुविधा-पूर्वक निकाला जा सकता है कि इस रचना का प्रारम्भ कुरुपाञ्चाल प्रदेश में हुआ था जिसमें जैसा कि हम देख चुके हैं वैदिक यज्ञविधि का विकास निश्चित रूप से हो चुका था और सम्भवतः ऋग्वेद के सूक्तों का संकलन वर्तमान संहिता के रूप में हो रहा था। कौशीतकी ब्राह्मण से हम अध्ययन करते हैं कि उत्तर भारत में भाषा के अध्ययन का विशेषरूप से परिशीलन किया जा रहा था और यह भी (हम पढ़ते हैं) कि उत्तर भारत से जो विद्यार्थी पढ़कर लौटते थे वे भाषा सम्बन्धी प्रश्नों पर अधिकारी माने जाते थे।

इन ब्राह्मणों में पुराणोपाख्यान

इन ब्राह्मण ग्रन्थों में सर्वाधिक मानव रुचि उन अधिसंख्य पौराणिक काल्प-निक कथाओं और कल्पित आख्यायिकाओं में है जो इन ग्रन्थों में आ गये हैं। जो कथानक ऐतरेय ब्राह्मण में प्राप्त होते हैं उनमें सबसे लम्बी और सबसे अधिक ध्यान देने योग्य शुनः शेप (कुत्ते की पूंछ) की कहानी है जो ७वीं पञ्चिका के तीसरे अध्याय की विषयवस्तु का निर्माण करती है। निस्सन्तान राजा हरिश्चन्द्र व्रत लेते हैं कि यदि उनके एक पुत्र होगा तो वह उसे वरुण

को समर्पित कर देंगे। किन्तु जब उसका पुत्र रोहित उत्पन्न हुआ वह अपने वादा को पूरा करने की क्रिया को लगातार टालते चले गये। अन्त में जब पुत्र बड़ा हो गया वरुण के द्वारा दबाव डालने पर उसके पिता ने उसके बलि-दान के यज्ञ की तैयारी कर दी। किन्तु रोहित जंगल को भाग गया जहां वह ६ वर्ष घूमता रहा जबकि उसका पिता जलोदर शोथ से पीडित हो गया। अन्त में उसे एक भूख से मरने वाला ब्राह्मण मिल गया, वह सौ गायों के मूल्य पर शुनः शेप के प्रतिनिधि के रूप में अपने पुत्र को वेचने के लिए राजी हो गया। वरुण ने यह कहकर स्वीकृत दे दी कि 'एक ब्राह्मण का मूल्य एक क्षत्रिय की अपेक्षा अधिक है।' अतएव इसके अनुसार शुनः शेप शूली (बलिदान के खंभे) में बांध दिया गया और बलिदान यज्ञ प्रारम्भ होने वाला था जबकि बलि-पुरुष ने विभिन्न देवताओं की क्रमबद्ध प्रार्थना प्रारम्भ कर दी। जब वह एक के बाद दूसरा पद्य बोलता था वरुण के पाश टूटकर गिरने लगे और राजा की जलोदर की सूजन कम होने लगी जब तक कि अन्त में शुनः शेप छुटकारा पा गया और राजा हरिश्चन्द्र का स्वास्थ्य पुनः वापस आया।

जिस गद्य शैली में ऐतरेय ब्राह्मण लिखा गया है वह गद्य भद्दा, गंवारू, विषम और साकांक्ष (न्यूनपदता) के दोष से परिपूर्ण है। जो गाथायें शुनः शेप के कथानक के अन्तर्गत बिखरी हुई हैं उनसे निम्नलिखित उद्धरण ब्राह्मण ग्रन्थों में पाई जाने वाली गाथाओं का एक नमूना पेश कर सकती हैं। ये पद्य ऋषि नारद द्वारा राजा हरिश्चन्द्र को संबोधित किये गए हैं जिनमें एक पुत्र होने की महत्ता बतलाई गई है।

ऋणमस्मिन् संनयत्यमृत्यत्वं च गच्छति।
पिता पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जीवतो मुखम्॥

(एक पिता उसमें (पुत्र के रूप में) एक कर्ज चुकाता है और अमरता को प्राप्त कर लेता है जब वह अपने जीवित रूप में जन्म लेने वाले पुत्र के मुख की ओर देखता है।)

यावन्तः पृथिव्यां भोगाः यावन्तो जातवेदसि।
यावन्तोऽप्सु प्राणिनं भूयान् पुत्रे पितुस्ततः॥

(एक जीवित तत्त्व जितने आनन्दों को पृथिवी में अनुभव करता है, जितना अनुभव अग्नि में करता है या जितना अनुभव जल में करता है उन सब आनन्दों से वह प्रसन्नता कहीं अधिक उच्चकोटि की है जो एक पिता अपने पुत्र में अनुभव करता है।)

शश्वत्पुत्रेण पितरोऽत्यायन् बहुलं तमः।
आत्मा हि जज्ञ आत्मनः स इरावत्यतितारिणी॥

(सभी समयों में पिता गण एक पुत्र के द्वारा बहुत बड़े (नारकीय) अन्धकार को दूर भगा देते हैं। उसमें पिता की आत्मा जन्म लेती है। वह (पुत्र) उसे (पिता को) दूसरे किनारे तक पहुंचा देता है।)

अन्नं हि प्राणा शरणं ह वासो रूपं हिरण्यं पशवो विवाहाः।
सखा ह जाया कृपणं ह दुहिता, ज्योतिर्हं पुत्रः परमे व्योमन् ॥

(अन्न मनुष्य का जीवन है और कपड़े उसे सुरक्षा प्रदान करते हैं, सोना सुन्दरता देता है, विवाह पशु लाता है, पत्नी उसका मित्र होती है और पुत्री उसे करुणा प्रदान करती है। एक पुत्र सबसे ऊपर के स्वर्ग में एक प्रकाश के समान होता है।)

ऐतरेय ब्राह्मण का सम्बन्ध ऐतरेय आरण्यक से है। इसमें १८ अध्याय हैं जो असमान रूप में ५ मण्डलों में विभाजित किए गये हैं। अन्तिम दो की रचना सूत्र शैली में हुई है और उन्हें वास्तव में सूत्र साहित्य से सम्बन्ध रखने वाला समझा जाना चाहिए। प्रथम तीन मण्डलों में चार भाग स्पष्ट रूप में पहिचाने जा सकते हैं। प्रथम मण्डल शुद्ध रूप में यज्ञ सम्बन्धी दृष्टिकोण से सोमयाग के विभिन्न प्रार्थना मार्गों का वर्णन करता है। दूसरी ओर द्वितीय मण्डल के प्रथम तीन अध्याय अपने स्वरूप में आध्यात्मिक हैं जिनमें प्राण और पुरुष के नाम के अन्तर्गत विश्वात्मा के विषय में विचार विद्यमान हैं। यह उपनिषदों के वस्तु तत्त्व से मेल खाता है, इसके कतिपय अपेक्षाकृत अधिक मूल्यवान् विचार शब्दशः भी कौशीतकी उपनिशद् में प्राप्त होते हैं। तीसरे भाग में दूसरे मण्डल के चार प्रपाठक विद्यमान हैं जोकि नियमित रूप में ऐतरेय उपनिषद् का निर्माण करते हैं। अन्त में तीसरे मण्डल में वेद के रहस्यात्मक और रूपकात्मक अर्थों का वर्णन है जिनमें वेद की तीन पद्धतियों–संहितापाठ, पदपाठ और क्रमपाठ–को और वर्णमाला के विभिन्न वर्णों को सुनाया जाता है।

कौशीतकी ब्राह्मण से कौशीतकी आरण्यक संबद्ध है। इसमे १५ अध्याय हैं। इनमें प्रथम दो अध्याय ऐतरेय आरण्यक के पहले और पांचवें मण्डल से मेल खाते हैं, ७वें और ८वें अध्याय तीसरे मण्डल से मेल खाते हैं जबकि बीच में आये हुए चार अध्याय (३ से ६ तक) कौशीतकी उपनिषद् से मेल खाते हैं। कौशीतकी उपनिषद् एक लम्बा और बहुत मनोरंजक उपनिषद् है। यह असम्भव नहीं मालूम पड़ता कि यह एक स्वतन्त्र निबन्ध पहले ही पूर्ण किये हुए कौशीतकी आरण्यक में जोड़ दिया गया हो, क्योंकि कौशीतकी आरण्यक की जो पाण्डुलिपियां प्राप्त होती हैं उन सबमें यह सर्वदा एक ही भाग में जोड़ा हुआ नहीं मिलता।

सामवेद के ब्राह्मण

सामवेद की दो स्वतन्त्र शाखाओं से सम्बन्ध रखने वाले ब्राह्मण ग्रन्थ सुरक्षित रखे गये हैं—तण्डियों की शाखा और तलवकारों या जैमिनियों की शाखा। यद्यपि इस विषय में कतिपय अन्य रचनायें यज्ञ सम्बन्धी पाठ्य पुस्तक होने का दावा करती हैं किन्तु वास्तव में केवल तीन पुस्तकें ही ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। तलवकारों के ब्राह्मण का अधिकांश भाग अप्रकाशित हैं, उसमें ५ अध्यायों का होना मालूम पड़ता है। प्रथम तीन का (जो अप्रकाशित हैं) प्रधान सम्बन्ध यज्ञ के विधिविधानों के विभिन्न भागों से है। चौथा खण्ड उपनिषद् ब्राह्मण कहलाता है (सम्भवतः उसका अभिप्राय है रहस्यात्मक अर्थों वाला ब्राह्मण)। इसमें आरण्यक क्रम विन्यास के सभी रूपकात्मक प्रकार, गुरुओं की दो तालिकायें, जीवनीय वायु (प्राण वायु) के उद्भव पर एक अनुभाग, गायत्री छन्द, और इन सबके अतिरिक्त संक्षिप्त किन्तु महत्वपूर्ण केन उपनिषद् सम्मिलित है। पांचवां अध्याय आर्ष्येया ब्राह्मण कहलाता है जोकि सामवेद के रचयिताओं का संक्षिप्त परिगणन है।

तण्डिन सम्प्रदाय वालों से सम्बन्धित पञ्चविंश (पच्चीस विभागों में विभक्त) ब्राह्मण है जो ताण्ड्य या प्रौढ़ ब्राह्मण भी कहलाता है, जैसा कि प्रथम नाम से सूचित होता है उसमें २५ अध्याय हैं। इसका सम्बन्ध सामान्य रूप से सोमयज्ञों से है जिनमें छोटी छोटी दानविधियों से लेकर १०० दिन या कई वर्षों में भी समाप्त होने वाले यज्ञ आ जाते हैं। इसमें अनेक काल्पनिक आख्यानों के अतिरिक्त सरस्वती और दृषद्वती के तट पर किये जाने वाले यज्ञों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्णन आ जाता है। यद्यपि इस रचना को कुरुक्षेत्र का ज्ञान है तथापि इसमें जो दूसरी भौगोलिक सामग्री विद्यमान है वह इस ब्राह्मण के घर (रचना स्थल) की स्थापना को और पूर्व की ओर निर्दिष्ट करती है। इसकी विषय वस्तुओं में तथाकथित व्रात्यस्तोमों का वर्णन अधिक ध्यान देने योग्य है—ये ऐसे यज्ञ हैं जो ऐसे आर्यों को जो अब्राह्मण हैं भारतीय ब्राह्मणों की व्यवस्था में सम्मिलित होने का अधिकारी बना देते हैं। इस ब्राह्मण का एक रोचक तत्त्व है कटुतापूर्ण शत्रुभाव जोकि यह कौशीतकियों की शाखा के प्रति प्रदर्शित करता है। षड्विंश ब्राह्मण जो नाममात्र से एक पृथक् रचना मालूम पड़ती है वास्तव में पञ्चविंश का एक पूरक ही है—जैसा कि उसके नाम से ज्ञात होता है यह २६वां अध्याय बनाता है। इसके ६ प्रपाठकों में अन्तिम अद्भुत ब्राह्मण कहलाता है जिसका उद्देश्य है विभिन्न प्रकार की असाधारण किन्तु शक्तिशाली घटनाओं के बुरे प्रभाव को निरस्त करना। इस प्रकार के प्रपंचों में उन देवमूर्तियों का वर्णन है जब वे हंसती हैं, रोती हैं

चिल्लाती हैं, गाती हैं, नाचती हैं, पसीजती हैं, टूटती हैं तथा इसी प्रकार के और बहुतसे कार्य करती हैं।

इस शाखा का दूसरा ब्राह्मण है छान्दोग्य ब्राह्मण जो बहुत ही थोड़ी दूरी तक याज्ञिक पाठ्य पुस्तक है। इसमें सोम यज्ञ का बिल्कुल वर्णन नहीं है, किन्तु केवल जन्म और विवाह के समय की संस्कार विधियों का वर्णन है अथवा दैवी तत्त्वों को सम्बोधित प्रार्थनायें हैं। सामवेदी धार्मिक अनुयायियों के इस ब्राह्मण में केवल दो अध्यायों की यह विषयवस्तु है। शेष ८ अध्याय छन्दोग्योपनिषद् का निर्माण करते हैं।

दूसरी चार और छोटी-छोटी कृतियाँ हैं जो यद्यपि नाम तो ब्राह्मण का धारण किये हैं किन्तु वास्तव में ब्राह्मण नहीं हैं। ये हैं – (१) साम विधान ब्राह्मण, जो एक रचना सभी प्रकार के अन्धविश्वासी कार्यों के लिए साम-गान के नियोजन का वर्णन करता है। (२) देवताध्याय ब्राह्मण, इसमें सामवेद के विभिन्न गानों के विषय में देवता सम्बन्धी कतिपय वक्तव्य विद्यमान हैं। (३) वंश ब्राह्मण जो सामवेद के गुरुओं की वंश परम्परा का ज्ञान प्रदान करता है और अन्त में (४) संहितोपनिषद् जो ऐतरेय आरण्यक के तीसरे उपखण्ड के समान उस विधि का विवेचन करता है जिस विधि से वेद पढ़े जाने तथा सुनाये जाने चाहिए।

सामवेद के ब्राह्मण अपने रहस्यात्मक विचार-विमर्शों के अत्युक्तिपूर्ण एवं विलक्षण स्वरूप के द्वारा दूसरों से पृथक् रूप में पहिचाने जा सकते हैं। उनका एक प्रकट लक्षण है सभी प्रकार के भौमिक और दिव्य तत्त्वों के साथ गाये जाने वाले विभिन्न प्रकार के सामों अथवा गानों का निरन्तर परिचय देना। इसके साथ ही उनमें ऐसी बहुत सी मनोरंजक सामग्री विद्यमान है जो ऐतिहासिक दृष्टिकोण से लिखी गई है।

यजुर्वेद के ब्राह्मण

कृष्ण यजुर्वेद में विभिन्न संहिताओं के जो गद्य भाग हैं वे ही कठ और मैत्रायणीय शाखाओं के एकमात्र ब्राह्मण हैं। तैत्तिरीय शाखा में वे सबसे प्राचीन और सबसे महत्वपूर्ण ब्राह्मण का निर्माण करते हैं। यहां हमारे पास बिल्कुल स्वतन्त्र रचना के रूप में तीन उपखण्डों में विभाजित तैत्तिरीय ब्राह्मण भी है। यह सच है कि यह स्वरूप में तैत्तिरीय संहिता से बिल्कुल भिन्न नहीं है, किन्तु यह अधिक सत्य है कि वह उसका परिशिष्ट ही है। यह एक ऐसे परिशिष्ट का निर्माण करता है जिसका सम्बन्ध कतिपय ऐसे यज्ञों से है जो संहिता भाग में छूट गये हैं अथवा संहिता में जिन विषयों का पहले ही वर्णन किया जा चुका था अधिक पूर्णता और विस्तार के साथ वे उनका विवेचन

करते हैं। एक तैत्तिरीय आरण्यक भी है जोकि अपना अवसर आने पर ब्राह्मण का परिशिष्ट बन जाता है। १० अनुभागों में अन्तिम चार ने इस शाखा के दो उपनिषदों का रूप धारण कर लिया है। सात से ९ तक ये तैत्तिरीय उपनिषद् का निर्माण करते हैं और १०वां महानारायण उपनिषद् बन गया है जो याज्ञिकी उपनिषद् भी कहलाता है। इन चार अनुभागों को छोड़कर ब्राह्मण और आरण्यक के शीर्षक किसी परस्पर विरोध की ओर संकेत नहीं करते। यह विभेद संहिता से तुलना करने पर किसी वस्तुतत्व के विषय में नहीं है किन्तु दूसरे वेदों के परवर्ती और कृत्रिम अनुकरण मात्र के कारण यह विभेद है।

इस ब्राह्मण के तीसरे अध्याय के अन्तिम तीन उपखण्ड और उसी प्रकार आरण्यक के प्रथम २ अध्याय कठों की शाखा से मौलिक सम्बन्ध रखते थे यद्यपि उस शाखा की परम्परा के एक भाग के रूप में उनको सुरक्षित नहीं रखा जा सका है। इन भागों के पृथक् उद्भव का संकेत इस बात से मिलता है कि इसमें य् और व् का क्रमश: इय् और उव् में परिवर्तन अनुपस्थित है जो अन्यथा तैत्तिरीय ब्राह्मण और आरण्यक में अपना अधिकार जमाए है। इन काठक अनुभागों में एक (तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.११) में एक विशेष प्रकार की नाचिकेत कहलाने वाली अग्नि के महत्व के उदाहरण के रूप में नाचिकेता नामक लड़के की कहानी कही गई है जिसने मृत्यु का घर देखने के अवसर पर मृतकों के देवता यम के द्वारा तीन इच्छाओं को पूरा करने का वचन प्राप्त किया था। इस कहानी पर ही काठक उपनिषद् आधारित है।

यद्यपि मैत्रायणी संहिता का कोई स्वतन्त्र ब्राह्मण नहीं है उसका चौथा अध्याय एक विशेष प्रकार का ब्राह्मण है जिसमें प्रथम तीन अध्यायों की व्याख्यायें और उनके पूरक विद्यमान हैं। इस संहिता से सम्बन्धित और उसकी पाण्डुलिपियां कभी-कभी इसका दूसरा या पांचवां अध्याय बन जाती है यही मैत्रायण उपनिषद् है (जोकि मैत्रायणीय और मैत्री भी कहलाता है।)

शतपथ ब्राह्मण

शुक्ल यजुर्वेद की याज्ञिक व्याख्या विलक्षण परिपूर्णता में शतपथ ब्राह्मण में प्राप्त की जा सकती है। शतपथ ब्राह्मण का अर्थ है—"सौ मार्गों वाला ब्राह्मण।" इसका यह नाम इसलिए पड़ा है कि इसमें १०० व्याख्यान (अध्याय) हैं। यह रचना समस्त वैदिक साहित्य के क्षेत्र में ऋग्वेद के बाद दूसरे नम्बर पर सर्वाधिक महत्वपूर्ण उत्पादन (रचना) है। इसका पाठ्य दो संकलनों में हम तक आया है - एक है माध्यन्दिनीय शाखा का संकलन जिसका सम्पादन प्रो० वेबर ने किया है और दूसरा है काण्व शाखा का संकलन जोकि प्रो० एगलिंग द्वारा सम्पादित किए जाने की परिस्थिति में है। माध्यन्दिनीय संकलन में १४

जबकि काण्व में १७ हैं। माध्यन्दिनीय शाखा के प्रथम ६ अधिकरण जो वाजसनेयी संहिता के मौलिक १८ अध्यायों के समरूप हैं इसमें सन्देह नहीं कि इस कृति (शतपथ ब्राह्मण) का सबसे प्राचीन भाग है। यह वास्तविकता कि १२वें अधिकरण को मध्यम या 'बीच का' कहा जाता है प्रकट करता है कि अन्तिम पांच अधिकरण (या सम्भवतः १० से १३ तक) एक समय इस ब्राह्मण का एक पृथक् भाग माने जाते थे। दसवें अधिकरण में यज्ञवेदी के रहस्य (अग्नि-रहस्य) का विवेचन किया गया है। ११वां अधिकरण पहले वर्णित यज्ञविधियों का सिंहावलोकन है जबकि १२वें और तेरहवें अधिकरण विभिन्न पूरक विषयों का वर्णन करते हैं। अन्तिम अधिकरण आरण्यक का निर्माण करता है जिसके उपसंहारात्मक ६ अध्याय बृहदारण्यक उपनिषद् हैं।

शतपथ ब्राह्मण के ६ से १० तक अध्यायों की एक विशिष्ट-असामान्य-स्थिति है। जब वे अग्निवेदी के निर्माण का वर्णन करते हैं तब वे शाण्डिल्य की शिक्षा को सर्वोत्कृष्ट अधिकारी मानते हैं और याज्ञवल्क्य का तो वे नाम तक नहीं लेते जबकि गान्धर्व, शाल्व और काण्व आदि जिन पुरुषों का उल्लेख है वे सब उत्तर पश्चिम से सम्बन्धित हैं। दूसरे अध्यायों में याज्ञवल्क्य सबसे बड़े अधिकारी हैं जबकि पूर्व के लोगों और मध्य भारत वासियों को छोड़कर जिनमें कुरुपाञ्चाल कोशल, विदेह, सृञ्जय आते हैं किन्हीं अन्य पुरुषों का सामान्यतः नामोल्लेख नहीं किया गया है। पांच शाण्डिल्य अध्यायों का मौलिक लेखक दूसरे भागों के लेखक से भिन्न था इस बात की ओर संकेत भाषा सम्बन्धी विभेद की एक संख्या से मिलता है जिन विभेदों को दूर करने में बाद के लेखक का हाथ असफल रहा। इस प्रकार (उदाहरण के लिए) आख्यानात्मक वर्णन में पूर्णक्रिया (लिट् लकार) का प्रयोग शाण्डिल्य अध्यायों के लिए (और उसी प्रकार १३वें अध्याय के लिए) अज्ञात है।

शतपथ ब्राह्मण की भौगोलिक सामग्री निर्देश करती है कि कुरु पाञ्चाल प्रदेश अब तक ब्राह्मण सभ्यता का केन्द्र बना हुआ था। यहां जनमेजय का कुरुओं के राजा के रूप में अभिनन्दन किया गया है और इस युग के सर्वाधिक प्रतिष्ठित ब्राह्मण प्रवक्ता आरुणि का उल्लेख एक पाञ्चाल होने के रूप में स्पष्ट किया गया है। फिर भी यह स्पष्ट है कि इस समय तक आते आते ब्राह्मण पद्धति मध्यदेश से आगे पूर्व के प्रदेशों तक फैल गई थी जिन (पूर्व के प्रदेशों) में कोशल जिसकी राजधानी अयोध्या (अवध) थी और विदेह (अर्थात् तिरहुत या उत्तरी बिहार) जिसकी राजधानी मिथिला थी ये प्रदेश सम्मिलित थे। विदेह के राजा जनक की राजसभा कुरु पाञ्चाल देश से आये हुए ब्राह्मणों से भरी रहती थी। यहां जो शास्त्रार्थ के क्रीडा युद्ध होते रहते थे वे ही शतपथ

के बाद के अध्यायों का प्रमुख स्वरूप निर्मित करते हैं। इन शास्त्रार्थों का नायक याज्ञवल्क्य है जो स्वयं आरुणि का शिष्य है, वही (६ से १० तक अध्यायों को छोड़कर) इस ब्राह्मण का प्रधान आध्यात्मिक अधिकारी है। इस ब्राह्मण ग्रन्थ के कतिपय अनुच्छेद इस तथ्य को अत्यधिक सम्भावित बना देते हैं कि याज्ञवल्क्य विदेह के निवासी थे। इस ग्रन्थ का अग्रणी प्रामाणिक अधिकारी इस प्रकार पूर्व प्रदेश से सम्बन्ध रखने वाला प्रतीत होता है; उसका इस प्रकार का प्रतिनिधित्व दिखलाया गया है कि वे शास्त्रार्थ में पश्चिम के सर्वाधिक प्रतिष्ठित गुरुओं को भी परास्त कर देते हैं। यह वास्त विकता इस ओर संकेत करती है कि शुक्ल यजुर्वेद का सम्पादन पूर्वी प्रदेशों में हुआ था।

शतपथ ब्राह्मण में उस समय के संस्मरण विद्यमान हैं जब विदेह प्रदेश अब तक ब्राह्मणत्व के चंगुल में नहीं आया था। इस प्रकार प्रथम अध्याय में एक आख्यान का वर्णन किया गया है जिसमें आर्यों के पूर्व की ओर प्रसार के तीन स्तर स्पष्ट रूप में पहिचाने जा सकते है-विदेघ (विदेह का पुराना रूप) के राजा माठव, जिनके पारिवारिक पुरोहित गोतम राहूगण थे, एक समय में सरस्वती के तट पर रहते थे। अग्नि वैश्वानर (यहां नमूनारूप ब्राह्मण सभ्यता) वहां से इस पृथ्वी पर दहन क्रिया करती हुई पूर्व की ओर को बढ़ चली। उसके पीछे माठव और उसके पुरोहित भी चले जब तक वे सदानीरा के पास पहुंच गये। (यह नदी सम्भवत: गण्डक है जो पटना के निकट गंगा में मिलने वाली उसकी सहायक नदी है।) यह नदी उत्तरी पहाड़ों से वहकर आती है जिसको अग्निवैश्वानर जला नहीं सका। प्राचीनकाल में ब्राह्मण इस नदी को पार नहीं कर सके क्योंकि उनका विचार था कि "अग्निवैश्वासर के द्वारा इसे जलाया नहीं जा सका है।" इस समय पर पूर्व की ओर की भूमि बहुत ही दलदली थी और उसमें कृषि के लिए जुताई बिल्कुल नहीं होती थी, किन्तु इस समय वहाँ वहुत से ब्राह्मण रहते हैं और इसमें अत्यधिक खेती होती है, क्योंकि ब्राह्मणों ने यज्ञों के द्वारा अग्निदेव को इस भूमिका का स्वाद दिलवा दिया है। तब विदेघ के माठव ने अग्नि से कहा—'अब हमें कहां रहना है?' उसने उत्तर दिया—'इस नदी के पूर्व की ओर तुम्हारा आवास बने।' लेखक इसमें जोड़ता है कि यह नदी अब भी कोशल (अवध) और विदेह (तिरहुत) की सीमा बनाती है।

शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी शाखा स्पष्ट ही अपनी यज्ञविद्या की सर्वोच्चता की भावना का अनुभव करती थी जिसका विकास पूर्वी प्रदेशों में हुआ था। शतपथ ब्राह्मण में अनेकश: चरक शाखा के अध्वर्यु पुरोहितों पर दोषारोपण अभिव्यक्त किया गया है। चरक शाखा का अभिप्राय व्यापक संज्ञा का बोध कराना है जिसके अन्तर्गत कृष्ण यजुर्वेद की तीन पुरानी शाखायें आ

जाती हैं—कठ, कपिष्ठल और मैत्रायणीय।

क्योंकि बौद्धधर्म ने कोशल और विदेह में ही पहला दृढ़ चरणन्यास किया था, अतः इस विषय की जांच पड़ताल करना मनोरंजक है कि उस सिद्धान्त के प्रादुर्भाव का शतपथ ब्राह्मण से क्या सम्बन्ध स्थिर किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि पहली बार यहां (शतपथ ब्राह्मण में) अर्हत्, श्रमण और प्रतिबुद्ध शब्द प्रयुक्त किए गए हैं, फिर भी उनका वह पारिभाषिक अर्थ नहीं है जो बौद्ध साहित्य में पाया जाता है। और भी ब्राह्मण में जो गुरुओं की सूची दी हुई है उसमें अनेकशः गौतमों का उल्लेख है—यह एक पारिवारिक नाम है जो कपिलवस्तु के शाक्यों के द्वारा अपने लिए प्रयुक्त किया जाता है जिनमें बुद्ध का जन्म हुआ था। कतिपय संकेत सांख्य दर्शन के प्रारम्भ के भी व्यंजक है और परम्परा के अनुसार आसुरि एक नाम है जो सांख्य पद्धति के अधिकारी की ओर ले जाती है। यदि हम इस बात की पड़-ताल करें कि किस सीमा तक हमारे ब्राह्मण के आख्यान बाद के महाग्रन्थ (महाभारत) की कथाओं का बीज लिए हुए हैं तो हम देखते हैं कि उनमें वास्तव में कुछ थोड़ा सा सम्बन्ध है। महाभारत में कुरुवंश का प्रतिष्ठित राजा जनमेजय पहली बार यहां वर्णित किया गया है। यह बात दूसरी है पाण्डव लोग जो महाभारत के युद्ध में विजयी सिद्ध हुए इस ग्रन्थ में हमें उससे अधिक किसी प्रकार नहीं मिलते जितना कि ये अन्य ब्राह्मण ग्रन्थों में मिलते हैं और उनका प्रधान पुरुष अर्जुन अब भी इन्द्र का एक नाम है। किन्तु चूंकि महाभारत का अर्जुन इन्द्र का पुत्र है अतः इन्द्र के अभिधान में उसके प्रारम्भ का अनुसन्धान निर्विवाद है। विदेह का प्रसिद्ध राजा जनक सभी सम्भावनाओं के साथ रामायण की कथानेत्री सीता के पिता से एकरूप हैं।

शास्त्रीय कवि कालिदास ने अपने सर्वाधिक प्रसिद्ध दो नाटकों के लिए जो कथानक चुने वे दो पुराणोपाख्यानों द्वारा प्रदान किए गए थे। उनमें एक की कथा (शतपथ ब्राह्मण में) विस्तार पूर्वक कही गई है और दूसरी का कम से कम संकेत दे दिया गया है। पुरुरवा और उर्वशी के प्रेम और वियोग की कथा जिसकी पहले से ही धुंधली छाया ऋग्वेद के एक सूक्त से साहित्य जगत् पर पड़ गई थी, शतपथ ब्राह्मण में कहीं अधिक पूर्णता के साथ वर्णित की गई है जबकि दुष्यन्त और परी शकुन्तला का पुत्र भरत भी इस ब्राह्मण में दृश्य पटल पर दिखलाई पड़ता है।

सर्वाधिक मनोरंजक पुराणोपाख्यान जो पुनः महाभारत में दृष्टिगत होता है वह है प्रलयकालीन जल संप्लव की कथा; वह भारतीय साहित्य में यहां (शतपथ ब्राह्मण में) पहली बार कहीं गई है यद्यपि इसका संकेत अथर्ववेद में भी मिलता हुआ ज्ञात होता है जबकि यह कथा अवेस्ता को भी ज्ञात है। यह

कल्पना प्रायः सेमेटिक साधन से ली हुई समझी जाती है। यह बतलाती है कि एक बार मनु के अधिकार में एक छोटी सी मछली आ गई जिसने उनसे बढ़ा लेने की (पालन पोषण कर लेने की) प्रार्थना की और वादा किया कि आने वाली बाढ़ में वह उनको बचायेगी। जब जलप्लावन चढ़ने लगा तब मछली के परामर्श के अनुसार एक जहाज बनाकर वह उस जहाज में प्रविष्ट हो गया और अन्त में मछली के पथप्रदर्शन में उत्तरी पर्वतों की ओर ले जाया गया तथा मछली के सींग में ही वह जहाज बाँध दिया गया। परिणाम स्वरूप अन्त में मनु अपनी लड़की के द्वारा मानवजाति के जन्मदाता कुलपुरुष बन गए।

इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण महत्वपूर्ण सामग्री और ध्यान देने योग्य आख्यानों की एक खान है। आन्तरिक प्रमाण दिखलाते हैं कि यह ब्राह्मणयुग की बाद के समय की रचना है। इसकी शैली की तुलना जब उसी वर्ग की प्राक्कालीन कृतियों से की जाती है तब यह समझने की सुविधा और स्पष्टता की दिशा में एक विकास प्रतीत होता है। इसमें याज्ञिक विधिविधानों का जो वर्णन किया गया है वह तत्त्वतः वही है जोकि कृष्ण यजुर्वेद के ब्राह्मण भागों में आया है। किन्तु यहां सर्वत्र वह अधिक स्वच्छ, उज्ज्वल और अधिक व्यवस्थित है। आध्यात्मिक पक्ष में भी विश्व की एकता का विचार किसी भी दूसरी ब्राह्मण रचना की अपेक्षा हम इसमें अधिक विकसित पाते हैं जबकि इसका उपनिषद् वैदिक दर्शन की सर्वोत्तम उपज है।

अथर्ववेद के ब्राह्मण

अथर्ववेद के साथ गोपथ ब्राह्मण जोड़ा जाता है यद्यपि उस संहिता के साथ इसका कोई विशिष्ट सम्बन्ध नहीं है। इस ब्राह्मण में दो भाग हैं—पहले में ५ अध्याय हैं और दूसरे में छः। दोनों भाग बहुत बाद के हैं। क्योंकि इनकी रचना वैतान सूत्र के बाद हुई थी और व्यवहारिक रूप में अथर्व परम्परा से विना किसी प्रकार के सम्बन्ध के इसकी रचना की गई है। जबकि पूर्वार्ध की विषय वस्तु किसी भी याज्ञिक रचना में वर्णन किये गये यज्ञ के क्रम से न तो मेल खाती है और न उसका अनुसरण करती है, यह (विषयवस्तु) अत्यधिक दूरी तक मौलिक है और शेष शतपथ ब्राह्मण के ग्यारहवें और बारहवें अध्यायों से ली है। इसके अतिरिक्त कतिपय अनुच्छेद ऐतरेय से भी लिए गए हैं। इस भाग का मुख्य उद्देश्य अथर्ववेद का गुणगान करना और चौथे पुरोहित ब्रह्मा का यशोगान करना है। इसमें देवता शिव का उल्लेख इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि ब्राह्मण युग की अपेक्षा इसकी रचना का वेदोत्तरकाल में होना अधिक सम्भव है। इसकी यह पूर्वकल्पना कि अथर्ववेद में २० काण्ड हैं व्याकरण सम्बन्धी बहुत ही विकसित अवस्था की सामग्री इसकी रचना के परवर्ती होने

के कतिपय अन्य चिह्न हैं। उत्तरार्ध नियमित ब्राह्मणों की छाप को अधिक मात्रा में धारण करता है। क्योंकि यह वैतान श्रौतसूत्र की यज्ञीय व्यवस्था के विधिविधानों का विवरण अच्छे परिमाण में सुसंबद्ध रूप में देता है। किन्तु यह अधिकांश भाग में संकलन मात्र है। ब्राह्मण और सूत्र का सामान्य ऐतिहासिक सम्बन्ध यहां बदल दिया गया है। गोपथ ब्राह्मण का दूसरा भाग वैतान सूत्रों पर आधारित है। व्यावहारिक रूप में गोपथ ब्राह्मण का वैतान सूत्रों से वही सम्बन्ध है जो संहिता से है। (आशय यह है कि गोपथ ब्राह्मण के लिए वैतान सूत्र भी संहितातुल्य ही महत्त्वपूर्ण हैं। सामान्यत: सूत्रग्रन्थ ब्राह्मण ग्रन्थों पर आधारित होते हैं यहाँ ब्राह्मण ग्रन्थ ने सूत्र ग्रन्थ का आधार लिया है।) यह दिखलाया ही जा चुका है कि इसकी वस्तु का लगभग दो तिहाई भाग दूसरी पुरानी पाठ्य पुस्तकों से लिया गया है। प्रधानरूप से ऐतरेय और कौशीतकी ब्राह्मणों का उपयोग किया गया है और उससे कम सीमा तक मैत्रायणी और तैत्तिरीय संहिताओं से वस्तु का उपादान किया गया है। कतिपय अनुच्छेद शतपथ और पञ्चविंश ब्राह्मणों से भी लिए गए हैं।

उपनिषद्

यद्यपि सामान्य रूप से उपनिषद् ब्राह्मणों का ही एक भाग बनाते हैं क्योंकि वे उसके विमर्शात्मक पक्ष [ज्ञान काण्ड] की निरन्तरता में आते हैं। वे वास्तव में नए धर्म का प्रतिनिधित्व करते हैं जो यज्ञ या प्रयोग विधि [कर्म काण्ड का] यथार्थ विरोधी है। अब उनका लक्ष्य भौतिक प्रसन्नता प्राप्त करना और देवताओं के प्रति ठीक रूप में यज्ञ विधि सम्पादित कर बाद में यमराज के घर में परम सुख प्राप्त करना और अधिक नहीं रह गया है किन्तु सत्य ज्ञान के द्वारा अपनी व्यक्तिगत आत्मा को विश्वात्मा में विलीन कर भौतिक सत्ता से छुटकारा पाना है। इसलिए यहाँ यज्ञ सम्बन्धी विधियाँ निरर्थक हो गई हैं और विमर्शात्मक ज्ञान समग्र रूप में महत्त्वपूर्ण बन गया है।

उपनिषदों का प्रधान विषय है विश्वात्मा के स्वरूप का विवेचन करन । इसकी उनकी अवधारणा अन्तिम स्तर का प्रतिनिधित्व करने की है जिसमें ऋग्वेद का सांसारिक व्यक्ति पुरुष विश्वात्मा-आत्मतत्त्व के रूप में विकसित हो जाता है। व्यक्तिगत रचयिता (प्रजापति) के स्थान पर समस्त सत्ताओं के अमूर्त स्रोत ब्रह्म में उसका विकास हो जाता है। ऋग्वेद में आत्मा का अर्थ श्वास (प्राण वायु) के अतिरिक्त और कुछ नहीं है; उदाहरण के लिए वायु का वरुण की आत्मा के रूप में वर्णन किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसका अर्थ जीवात्मा हो जाता है। उनकी एक विचारधारा में प्राण या चेतनाप्रद वायु को आत्मा पर आधारित माना जाता है देवताओं के रूप में उनका परिचय दिया गया है और इस प्रकार आत्मा विश्व पर आरोपित गुण धर्म

माना जाने लगता है यह आत्म-तत्त्व जो कि भाव जगत् की अमूर्त उच्च भूमिका पर पहले ही पहुँच चुका था शतपथ ब्राह्मण के एक अध्याय [१०.६.३] में इसे विश्व को व्याप्त करने वाला बतलाया गया है। [नपुंसक लिंग में] ब्रह्म ऋग्वेद में प्रार्थना और समर्पण से अधिक कुछ और अर्थ नहीं रखता किन्तु पुराने से पुराने ब्राह्मण ग्रन्थों में भी इसका अर्थ विश्वव्यापी पवित्रता बन गया जैसी पवित्रता प्रार्थना पुरोहित और यज्ञ से व्यक्त होती है। उपनिषदों में यह एक पवित्र तत्त्व है जो प्रकृति को चेतन बना देता है। इस शब्द का बाद का लम्बा इतिहास है अतः यह शब्द भारतीय धार्मिक चिन्तन के विकास का सार तत्त्व बन गया। इन दो अवधारणाओं-आत्मा और ब्रह्म का वर्णन उपनिषदों में सामान्यतः पर्यायवाचक रूप में होता है। किन्तु यदि कठोर अमिश्रित सत्य कहा जाए तो प्राचीनतर ब्रह्म शब्द विश्व तत्त्व का प्रतिनिधित्व करता है जो समस्त विश्व को परिव्याप्त कर रहा है और मनुष्य में अभिव्यक्त अध्यात्म तत्त्व का परिचायक आत्म शब्द है और आत्मा एक ज्ञात तत्व है जिसका उपयोग अज्ञात ब्रह्म तत्व की व्याख्या करने के लिए किया जाता है। बृहदारण्यक उपनिषद् [३.८.८.११] में अक्षरम् (नित्य) के नाम पर आत्मा का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमलोहितमस्नेहमच्छायमतमोऽवाय्वमनाकाशमसंगमरसगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखमात्रमनन्तरमबाह्यं न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन। तद्वा एतददृष्टं द्रष्टश्रुतं श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातम्। नान्यदतोस्ति दृष्ट नान्यदतोऽस्ति श्रोतृ नान्यदतोऽस्ति मन्तृ विज्ञात्रेतस्मिन्नु खल्वक्षरे नान्यदतोऽस्ति गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च।

[वह स्थूल नहीं है, सूक्ष्म [अणुमात्र) नहीं है; छोटा नहीं है और न लम्बा है; रक्त रहित है; चर्बी रहित है; उसकी छाया नहीं है, उसमें अंधेरा नहीं है; वह वायु रहित है; आकाश रहित है; वह संलग्नशील नहीं है; वह स्पर्श रहित है; वह गन्ध रहित, रस रहित, नेत्र कान वाणी या मस्तिष्क रहित, तेज रहित, प्राण रहित मुख रहित, व्यक्ति या परिवार के नाम से रहित, वृद्ध न होने वाला, अमरणधर्या, भय रहित, अमर्त्य, धूलि रहित, न तो न ढका हुआ न खुला हुआ, उसके सामने कुछ नहीं, पीछे कुछ नहीं, अन्दर कुछ नहीं। यह कुछ भी खाता नहीं, किसी के द्वारा खाया नहीं जाता। यह देखा नहीं गया किन्तु देखने वाला है; यह सुना नहीं गया किन्तु सुनने वाला है; सोचा नहीं गया किन्तु सोचने वाला है, कोई दूसरा देखने वाला नहीं; कोई दूसरा सुनने वाला नहीं, कोई दूसरा सोचने वाला नहीं, कोई दूसरा जानने वाला

नहीं, वह नित्य है जिसमें आकाश बुना हुआ है और जो अन्तर्गत आकाश के द्वारा बुना हुआ है ।]

मानव विचारधारा के इतिहास में यहाँ पहली बार परम तत्व को ग्रहण किया गया और उसे उद्घोषित किया गया हमें प्राप्त होता है । आत्मा के स्वरूप के विषय में काठक उपनिषद में निम्नलिखित पद्यों में कवित्वमय विवरण दिया गया है—

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति ।
तं देवाः सर्वेऽर्पिता तदुनात्येति कश्चन ।।

एतद्वै तद् ।। ४.९ ।।

[वह जहाँ से सूर्य बिम्ब ऊपर को उठता है और वह जिसमें यह पुनः डूब जाता है, उसके अन्दर सभी देव विद्यमान हैं इसके आगे कभी कोई नहीं जा सकता वह यह है ।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा मनीषी मनसाभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।। ६.९।।

[उसका स्वरूप कभी दृष्टिपटल पर प्रकट नहीं हो सकता नहीं कोई भी अपनी आँखों से इसे देख सकता है; वे केवल हृदय और मस्तिष्क और आत्मा से उसे ग्रहण कर सकते हैं और वे जो उसे जान लेते हैं वे अमर हो जाते हैं ।)

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ।। ६ १२ ।।

(क्योंकि वाणी के द्वारा नहीं और न ही विचारों के द्वारा तथा आँख के द्वारा भी उस तक नहीं पहुँचा जा सकता दूसरे प्रकार से उसे कैसे समझा सकता है—केवल इस बात को छोड़कर कि जब कोई कहता है कि वह है ।)

अधिक व्यक्तित्व प्रधान प्रजापति का स्थान उपनिषदों में आत्मा ने सृजनात्मक शक्ति के रूप में ग्रहण किया । इस प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् (१.४) में वर्णन किया गया है कि प्रारम्भ में आत्मा या ब्रह्म यह सारा विश्व था । यह अपने एकाकीपन से भयभीत हो गया और किसी प्रकार के आनन्द का अनुभव नहीं करता था । किसी दूसरे तत्व को चाहते हुए यह पुरुष और स्त्री बन गया जहाँ से मानव जाति की उत्पत्ति हुई । तब यह उसी प्रकार पुरुष और स्त्री पशुओं को उत्पन्न करने के लिए आगे बढ़ा और अन्त में जल, अग्नि और देवों को तथा औरों को उत्पन्न करने लगा । तब कवि अधिक उत्कृष्ट वर्णन की ओर बढ़ जाता है—

स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधानेऽवहितः स्याद्विश्वम्भरो वा विश्वम्भर कुलाये वा तं न पश्यन्ति । अकृत्स्नो हि

प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति वदन् वाक् पश्यँश्चक्षुः शृण्वन् श्रोत्रं मन्वानो मनस्तस्यैतानि कर्मनामान्येव स योऽत एकैकमुपास्ते न स वेदाकृत्स्नोह्येषोऽत एकैकेन भवत्यात्मेत्येवोपासीतात्र ह्येते सर्व एकं भवन्ति। १.४

[यह (आत्मा) यहाँ नाखून के अग्रभाग पर्यन्त सर्वव्यापी है। कोई व्यक्ति उसे इससे अधिक नहीं देख सकता जितना कि अपने कोश में छिपे हुए उस्तरे को या पात्र में ढकी आग को (देख सकता है)। क्योंकि यह अपने पूरे रूप में दिखलाई नहीं पड़ता। जब वह श्वास लेता है इसे श्वास कहते हैं; जब वह बोलता है तब वाणी, जब देखता है तब चक्षु जब वह सुनता है तब कान, जब वह सोचता है तब मस्तिष्क (होता है)। ये कार्यकलाप केवल नाम हैं। वह लोग जो इनमें से एक या दूसरे की पूजा करता है उसे (ठीक) ज्ञान नहीं है—व्यक्ति को चाहिए कि वह आत्मा की पूजा करे। क्योंकि उसमें ये सब (श्वास इत्यादि) एक हो जाते हैं।)

बाद के उपनिषदों में एक श्वेताश्वतर नामक उपनिषद् (४-१०) में पहली बार माया का सिद्धान्त मिलता है जो कि बाद के वेदान्त में इतना अधिक प्रकट है कि भौतिक संसार एक माया है। यहाँ विश्व की व्याख्या इन्द्रजाल (माया) के रूप में की जाती है जो जादूगर (मायी) के द्वारा उत्पन्न किया जाता है। यह सच है कि यह सिद्धान्त प्राचीनतम उपनिषदों में भी परम्परागत रूप में प्राप्त होता है। यथार्थतः यह सिद्धान्त प्लेटो की इस शिक्षा के साथ एक रूप है कि अनुभव के पदार्थ वास्तविक पदार्थों की छाया मात्र है और कैण्ट की शिक्षा से भी यह एक रूप है कि वे (दृश्य पदार्थ) स्वयं अपने में वास्तविक पदार्थों के प्रतिरूप मात्र हैं।

उपनिषदों का महान मौलिक सिद्धान्त है व्यक्तिगत आत्मा की विश्वात्मा के साथ एकरूपता। यह सिद्धान्त बहुत अधिक शक्ति के साथ छान्दोग्योपनिषद् के (६.८.१६) में प्रायः दोहराए जाने वाले वाक्य के द्वारा प्रकट किया जाता है—

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिद ँ सर्व तत्सत्य ।
स आत्मातत्त्वमसिश्वेतकेतो इति भूय एव मा ॥

(यह सम्पूर्ण विश्व (सूक्ष्म रूप) आत्मामय है; वह सत्य है; वह आत्मा है; हे श्वेत केतु वह तुम हो।'

इस प्रसिद्ध सिद्धान्त वाक्य 'वह तुम हो' (तत्त्वमसि) में उपनिषदों की सभी शिक्षाओं का सार संग्रह कर दिया गया है। बृहदारण्यक (१.४.६) में उसी सिद्धान्त को इस प्रकार व्यक्त करता है—

'य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति, तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते, आत्मा ह्येषां भवति।'

(जो कोई यह जानता है—'मैं ब्रह्म हूँ' (अहं ब्रह्मास्मि) वह सर्वव्यापक बन जाता है। देवता भी उसे यह बनने से (सर्वव्यापक रूप धारण करने से) रोक नहीं सकते। क्योंकि वह ऊनकी आत्मा बन जाता है।)

एक रूपता पहले से ही शतपथ ब्राह्मण (१०.६.३) में स्वीकार कर ली गई थी।

यथेदमत्यन्तमणीयः प्रियंगुबीजं तथैवायं हिरण्यमयः पुरुषो हृदये। स एव परमात्मा ममात्मा गंसरन्नहमित ऊर्ध्वं तमात्मानं प्रपत्स्ये।

(ठीक वैसे सी जैसे प्रियंगु का छोटा सा कण उसी प्रकार हिरण्मय पुरुष हृदय में विद्यमान है; वह परमात्मा ही मेरी आत्मा है। यहाँ से निकलकर दूर जाकर हम अपनी आत्मा को प्राप्त करेंगे।)

इन निबन्धों में हम सर्वत्र सर्वदेवमय आत्मा की वास्तविक प्रकृति को ग्रहण करने के लिए एक व्याकुल और अशान्त प्रयत्न को प्राप्त करते हैं—अब एक रूपक के द्वारा—अब दूसरे के द्वारा। इस प्रकार (बृहदारण्यक उपनिषद् २.४) में बुद्धिमान याज्ञवल्क्य जब इस संसार का त्याग कर जंगल में जाकर संन्यास लेने के लिए उद्यत हुए तब अपनी पत्नी मैत्रेयी के प्रश्नों का उत्तर इन शब्दों में देते हैं—

'यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलोयेत न ह्यस्योद् ग्रहणायेव स्यात्। यतोयतस्त्वाददीत त्तवणमेवैवं वा अर इदं महद्भूत-मनन्तमपारं विज्ञानघन एव! एतेभ्यो भूतेभ्यस्समुत्थाय तान्येवानु-विनश्यति न प्रेत्य संज्ञा भवति।"

(जैसे जल में डाला हुआ नमक का ढेला घुल जाता है और दुबारा फिर नहीं निकाला जा सकता जबकि जल का जहाँ से स्वाद लिया जाता है वहाँ नमक होता है। उसी प्रकार यह कहान सत्ता अन्त रहित, सीमातीत, साधारण रूप से केवल सघन (व्यापक) रूप में ही परिचय गोचर हो सकता है (विज्ञानघन है)। इन तत्त्वों से उद्भूत होकर वह दुबारा इन्हीं में विलीन हो जाता है। मृत्यु के बाद चेतना रहती ही नहीं) क्योंकि जैसा कि वह आगे व्याख्या करता है कि द्वैत तत्व जिस पर चेतना आधारित है जब अदृश्य हो जाता है तब चेतना भी निश्चित रूप से समाप्त हो जानी चाहिए।

उसी उपनिषद् के दूसरे अनुच्छेद (२.१.२०) में हम पढ़ते हैं—

स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेद्यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति तस्योपनिषत्सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम् ।

जिस प्रकार मकड़ी सूत (जाल) के रूप में स्वयं से बाहर जाती है जैसे छोटी छोटी चिनगारियाँ आग से बाहर को उछलती हैं उसी प्रकार आत्मा से सभी प्राणवायु बाहर आती हैं—सभी जगत् सभी देवता और सभी प्राणी (उससे ही बाहर आते हैं) ।

यथा नद्यः स्यन्दमाना समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।।

(जैसे नदियां बहती हैं और अन्त में समुद्र के जल में विलीन हो जाती हैं, नाम और रूप छोड़ देती हैं, उसी प्रकार महात्मा विद्वान् भी नाम और रूप से छुटकारा पाकर दिव्य एवं उच्चतम आत्मा में अस्त हो जाता है ।)

बृहदारण्यक के एक अनुच्छेद (३.७) में याज्ञवल्क्य आत्मा के विषय का 'आन्तरिक पथ प्रदर्शन' (अन्तर्यामी) के रूप में वर्णन करते हैं—

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यँ सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं यस्सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयत्येष स आत्मान्तर्याम्यमृतः इत्यधिभूतमथाध्यात्मम् ।

(जो सब प्राणियों में है, सब प्राणियों से भिन्न है, जो अन्तर्गत रहकर सभी प्राणियों को मार्ग दिखलाता है वह है तुम्हारी आत्मा—वह आन्तरिक पथ प्रदर्शक है, अमर है ।)

उसी उपनिषद् में एक मनोरंजक बातचीत है जिसमें काशी (बनारस) का राजा अजातशत्रु—बालाकि गार्ग्य ब्राह्मण को उपदेश देता हैं कि ब्रह्म वह आत्मा (पुरुष) नहीं है जो सूर्य, चन्द्र, वायु या दूसरे प्राकृतिक दृश्य पदार्थों में या जीव (आत्मा) में भी है किन्तु या तो वह एक स्वप्न दृष्टा आत्मा है जो रचना करने वाली है, अपनी इच्छा से ही कोई भी रूप धारण करने वाली है या अपने उच्चतम स्तर पर स्वप्नहीन निद्रा में रहती है, क्योंकि यहां सभी दृश्यमान पदार्थ तिरोहित हो जाते हैं—यह ब्रह्म की पहली और अन्तिम शर्त है जिसमें कोई जगत् विद्यमान नहीं रहता, समस्त भौतिक सत्ता स्वप्नदृष्टा विश्वात्मा का आभासमात्र (माया) है ।

छान्दोग्योपनिषद् के एक अनुच्छेद (.७.१२) का इससे कुछ कुछ मिलता जुलता सारांश है जिसमें प्रजापति तीन स्तरों की ब्रह्म की प्रकृति की शिक्षा

देने वाले के प्रतिनिधि के रूत में बतलाते गये हैं। पहला है— आत्मा शरीर में उसी प्रकार है जैसे दर्पण या जल में (कोई वस्तु) प्रतिफलित होती है जिसकी पहिचान ब्रह्म के रूप में होती है, तब स्वप्न दृष्टा आत्मा (दूसरा स्तर) और अन्त में स्वप्नहीन निद्रा में आत्मा (तीसरा स्तर)।

जब जनक की सभा में शास्त्रार्थ होने लगे थे उस समय सर्वदेवतावाद का सिद्धान्त किस प्रकार सामान्य रूप से मान्य हो गया होगा इस बात का संकेत हमें प्रश्नों के उस स्वरूप में मिलता है जिसमें वे प्रश्न प्रस्तुत किए जाते थे। दो विभिन्न ऋषि क्रमशः बृहदारण्यक (३.४.५) में याज्ञवल्क्य से उन्हीं शब्दों में प्रश्न करते हैं—'हमें ब्रह्म के विषय में व्याख्या के साथ बतलाओं जो ब्रह्म प्रत्यक्ष है और छिपा नहीं है। आत्मा के विषय में बतलाओ जो प्रत्येक वस्तु में निवास करती है।'

पुनर्जन्म का सिद्धान्त

व्यक्तिगत आत्मा के ब्रह्म में विलीनीकरण के द्वारा प्राप्त सत्यज्ञान सर्वोच्च परम सुख की ओर ले जाता है इस सिद्धान्त के साथ ही साथ पुनर्जन्म (संसार) का विचार भी चलता रहा। इस विचारधारा का विकास सर्वप्राचीन उपनिषदों में हुआ। यह सिद्धान्त निश्चित रूप से उस समय तक दृढ़ता के साथ स्थिर कर दिया गया होगा जब बौद्धधर्म का आविर्भाव हुआ क्योंकि बुद्ध ने बिना शङ्का किए इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया। इसका सबसे प्राचीन स्वरूप शतपथ ब्राह्मण में मिलता है— जहां मृत्यु के बाद पुनः जन्म लेने और बार बार मरने (तथा जन्म लेने) के साथ ही साथ कर्मविपाक का सिद्धान्त भी जुड़ गया। इस प्रकार यहां कहा गया है कि जिन लोगों को सत्यज्ञान की प्राप्ति हो गई है और वे एक विशिष्ट यज्ञ का सम्पादन करते हैं वे मृत्यु के बाद पुनः अमर होने के लिए उत्पन्न होते हैं जबकि जिन लोगों को इस प्रकार का ज्ञान नहीं है और वे उस यज्ञ को पूरा नहीं करते वे पुनः पुनः जन्म लेते हैं और मृत्यु का निशाना बनते रहते हैं। यहां जो कल्पना व्यक्त की गई है वह परलोक में बार-बार जन्म मरण की मान्यता के आगे नहीं जाती। यह कल्पना उपनिषदों के पुनर्जन्म के सिद्धान्त में परिणत हुई जिसमें यह समझा जाने लगा कि पुनर्जन्म इसी जगत् में होता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में हम और आगे बढ़कर कर्मवाद के प्रारम्भ से मिलते हैं जो नये जन्म को नियमित बना देता है और उसे मनुष्य के अपने कर्मों पर निर्भर कर देता है। जब शरीर मूलतत्त्वों (पञ्चभूतों) की ओर लौट जाता है यहां व्यक्तित्व का कुछ भी शेष नहीं रहता केवल कर्म शेष रह जाते हैं जिनके अनुसार मनुष्य अच्छा या बुरा बन जाता है। यह सम्भवत: बौद्ध दर्शन का बीज है जो कि यद्यपि आत्मा की सत्ता को

पूर्णरूप से नकारता है फिर भी कर्म को मृत्यु के बाद बने रहने और दूसरे जन्म का निश्चय करने की आज्ञा देता है।

वैदिक काल से जो पुनर्जन्म का विचार हम प्राप्त करते हैं उसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और विस्तृत विवरण छान्दोग्योपनिषद् द्वारा प्रदान किया जाता है। जंगल का संन्यासी जिसको ज्ञान भी है और विश्वास भी. मृत्यु के बाद देवयान अर्थात् 'देवताओं के मार्ग' में प्रवेश करता है जो उसे ब्रह्म में विलीन होने की ओर ले जाता है जबकि एक गृहस्थ जिसने यज्ञ किया है और अच्छे कार्य किए हैं वह पितृयान अर्थात् 'पितरों के मार्ग' द्वारा चन्द्रमा में जाता है और वहां तब तक रहता है जब तक कि उसके कार्यों के फल समाप्त हो जाते हैं। तब वह पृथ्वी की ओर लौटता है, पहले वह पौधे के रूप में जन्म लेता है और उसके बाद में तीन वर्णों में एक पुरुष के रूप में जन्म लेता है। यहां हमें कर्म का दोहरा प्रतिफल भोगना पड़ता है– पहले परलोक में और फिर पुनर्जन्म लेकर इस लोक में। पहला (परलोक में कर्मफल भोगने का सिद्धान्त) भविष्य जीवन के विषय में पुराने वैदिक विश्वास का पुनरुज्जीवन है। दुष्ट लोग बहिष्कृत जाति (चाण्डाल) कुत्ते या सुअर के रूप में जन्म लेते हैं।

बृहदारण्यक (६.२.१५-१६) का विवरण इसी प्रकार का है—जिनके पास सच्चा ज्ञान और विश्वास है वे देवताओं और सूर्य के लोक से होकर ब्रह्मलोक को जाते हैं जहां से लौटना नहीं होता। जो लोग यहां और अच्छे कार्य करते हैं वे पितरों के लोक से होकर चन्द्रमा में जाते हैं जहां से वे पुनः मनुष्य के रूप में जन्म लेकर पृथ्वी पर लौट आते हैं, दूसरे लोग पक्षी, पशु और सरीसृप बन जाते हैं।

कौशीतकी उपनिषद् (१.२-३) का दृष्टिकोण कुछ भिन्न है। यहां जो भी मरते हैं वे सब पहले चन्द्रलोक में जाते है जहां से कुछ लोग पितृ मार्ग से होकर ब्रह्मलोक को जाते हैं जबकि दूसरे लोग भौमिक सत्ता के विभिन्न स्वरूपों की ओर लौट आते हैं, वे अपने कार्यों के गुण और ज्ञान की कोटि (परिमाण) के अनुसार मनुष्य से कीड़े तक श्रेणी बद्ध होते हैं।

सर्वाधिक ध्यान देने योग्य एवं रमणीय उपनिषदों में अन्यतम काठक मृत्यु के पश्चात् जीवन का एक कथानक के रूप में वर्णन करता है। एक युवा ब्राह्मण नचिकेता यमराज के राज्य में जाता है, यम स्वेच्छिक तीन वरदान देने का उन पर अनुग्रह करता है। तीसरे वरदान में वह इस प्रश्न का उत्तर प्राप्त करना चुनता है कि क्या मनुष्य की सत्ता मृत्यु के बाद रहती है या नहीं।

मृत्यु (यम) उत्तर देते हैं—"देवताओं ने भी इस विषय में शंका की थी। यह बहुत ही अतिसूक्ष्म मार्मिक प्रश्न है—कोई दूसरा वरदान मांग लो।" इसके बाद यम नचिकेता को भौतिक शक्ति और सम्पत्ति देने का प्रलोभन देकर प्रश्न को टालने की व्यर्थ चेष्टा करता है। अन्त में यम उसके आग्रह के सामने झुक जाते हैं और रहस्योद्घटन कर देते हैं। वे व्याख्या करते हैं कि जीवन और मरण ये विकास के केवल विभिन्न स्तर हैं। सच्चा ज्ञान व्यक्तिगत आत्मा की विश्वात्मा के साथ एकरूपता की अनुभूति है। यह ज्ञान इसको रखने वाले (ज्ञानी) को मृत्यु की पहुंच के ऊपर उठा देता है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिस्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥ (२.६.१६)

(जब सभी कामनायें जो मनुष्य के हृदय में डेरा डाले रहती हैं, पूर्णरूप से समाप्त हो जाती हैं तब मनुष्य अमरता प्राप्त कर लेता है तब वह ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।)

सर्वोच्च ज्ञान की तुलना में भौतिक सम्पत्तियों को चुनने के नचिकेता के प्रति प्रलोभनों की यह कथा सम्भवतः मार अथवा मृत्यु के द्वारा बुद्ध को दिए हुए प्रलोभनों के कथानक का पूर्वरूप है। दोनों ही प्रलोभनों को ठुकराते हुए प्रबोधन या महाबोधि की पदवी प्राप्त कर लेते हैं।

उपनिषदों का पौर्वापर्यक्रम से वर्गीकरण

निश्चय ही यह बात नहीं समझी जानी चाहिए कि उपनिषद् या तो पूर्ण-रूप से या व्यक्तिशः तर्कसंगत रूप में विकासित विश्व की परिपूर्ण और क्रमबद्ध अवधारणा प्रदान करते हैं। अधिक ठीक बात तो यह है कि वे अर्ध कवित्व अर्धदार्शनिक विचारों, संवादों और विवादों का मिश्रण हैं जो तत्कालोपयुक्त रूप में आत्मविषयक प्रश्नों पर विचार करते हैं। केवल परवर्ती काल में ही उनके विचारों को वेदान्तदर्शन की पद्धति में संक्षिप्त कर दिया गया। उनमें सबसे पुराने ६०० ई० पू० से बाद की तिथि में नहीं रखे जा सकते। क्योंकि कतिपय महत्वपूर्ण दार्शनिक सिद्धान्त सबसे पहले उन में मिलते हैं जिन सिद्धान्तों को बौद्धधर्म पूर्ववर्ती मान कर चलता है। काल गणनानुक्रम में आन्तरिक प्रमाण के आधार पर चार वर्गों में उन्हें विभाजित किया जा सकता है। कालक्रम के अनुसार प्राचीनतम वर्ग में ये उपनिषद् आते हैं—बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, कौशीतकी। यह समूह ऐसे गद्य में लिखा गया है जो ब्राह्मण शैली की अकुशल ग्रामीणता से अब तक पराहत है। केन उपनिषद् मध्यवर्ती काल में आता है जो आंशिक रूप में पद्य में और आंशिक रूप में गद्य

में लिखा गया है । यह मध्यवर्तित्व निश्चित रूप से परवर्ती वर्ग के प्रति है जिसमें आते हैं—काठक, ईश, श्वेताश्वतर, मुण्डक और महानारायण, ये पद्यात्मक हैं और इनमें उपनिषद् सम्बन्धी विचारधारा का विकासशील रूप अब अधिक दृष्टिगत नहीं होता, किन्तु अब स्थिर हो चुका है । साहित्यिक दृष्टिकोण से वे अधिक आकर्षक हैं । उन उपनिषदों में भी जो प्राचीनतर वर्ग के अन्तर्गत आते हैं अपनी सजीवता, उत्साह सम्पन्नता और पाण्डित्य के मिथ्या प्रदर्शन के अभाव से एक विचित्र प्रकार की रमणीयता प्राप्त कर ली है जबकि उनकी भाषा प्रायः वाक्पटुता के स्तर तक ऊंची उठ जाती है । तीसरे वर्ग में सम्मिलित है - प्रश्न, मैत्रायणीय और माण्डूक्य । ये पुनः गद्य प्रयोग की ओर लौट आते हैं जोकि सचमुच पहले वर्ग की भाषा की अपेक्षा कम प्राचीन प्रकार की है और लौकिक संस्कृत लेखकों के निकट पहुंचती है । चौथे वर्ग में बाद के अथर्ववेद सम्बन्धी उपनिषद् आते हैं । उनमें कुछ गद्य में लिखे गए हैं और कुछ पद्य में ।

ऐतरेय उपनिषद्

सर्वाधिक छोटे उपनिषदों में एक है ऐतरेय (यह आठ पृष्ठों में मुड़ने वाले कागज के केवल चार पृष्ठों में आ जाता है ।) इसमें तीन अध्याय हैं । पहले में विश्व की रचना आत्मा से निरूपित की गई है (जिसे ब्रह्म भी कहा जाता है) और बतलाया गया है कि मनुष्य उसकी सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति है । यह ऋग्वेद के पुरुष सूक्त पर आधारित है किन्तु उपनिषद् में मूल पुरुष को आत्मा द्वारा उत्पन्न बतलाया गया है, आत्मा ने इसे जल से उत्पन्न किया है जिस जल को भी आत्मा ने ही उत्पन्न किया है । यहां बतलाया गया है कि मनुष्य में आत्मा तीन स्थानों पर स्थान जमाये हुए हैं —इन्द्रियां, मस्तिष्क और हृदय जिनसे क्रमशः तीन दशायें मेल खाती हैं—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति । दूसरा अध्याय आत्मा के तीन प्रकार के जन्मों का वर्णन करता है । पुनर्जन्म का अन्त मोक्ष है जिसका प्रतिनिधित्व स्वर्ग में अमर स्थिति के रूप में बतलाया गया है । अन्तिम अध्याय में आत्मा के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि चेतना (प्रज्ञा) ही ब्रह्म है ।

कौशीतकी उपनिषद्

कौशीतकी उपनिषद् एक पर्याप्त विस्तार वाला निबन्ध है जो चार अध्यायों में विभाजित है । प्रथम अध्याय में पुनर्जन्म के प्रसंग में दो मार्गों का वर्णन किया गया है जो मृत्यु के बाद आत्मा द्वारा पार करने पड़ते हैं । दूसरे में आत्मा के चिह्न के रूप में प्राण या जीवन का वर्णन है । अन्तिम दो

में जब ब्रह्म विषयक सिद्धान्त पर विवाद चल रहा है उसी प्रसंग में ज्ञान के साधनों (इन्द्रियों) पर ज्ञान के विषयों (वस्तुओं) की निर्भरता विषयक विचार किया गया है और ज्ञान के साधनों के अचेतन जीवन (प्राण) और चेतन जीवन (प्रज्ञानात्मा)की सापेक्षता का वर्णन है। इसलिए जो लोग मोक्षदायक ज्ञान को लक्ष्य बनाकर चले हैं उन्हें उपदेश दिया गया है कि वे विषयों या विषयग्राही अन्तःकरण की विशेषताओं की तलाश में उनके पीछे न पड़ें किन्तु केवल ज्ञान के गृहीता और कर्म पर ही विचार करें जिसके विषय में अधिक जोर देकर वर्णन किया गया है कि वही सर्वोपरि परमात्मा है और साथ ही हमारे अन्दर विद्यमान आत्मा है।

सामवेद के उपनिषद्

सामवेद के उपनिषदों का प्रारम्भ ठीक उसी प्रकार साम या संगीत से होता है जिस प्रकार ऋग्वेद के उपनिषदों का प्रारम्भ उक्थ या होता पुरोहित द्वारा सुनाए जाने वाले सूक्तों से होता है इसका उद्देश्य होता है दृष्टान्त के द्वारा व्याख्या करते हुए आत्मा या ब्रह्म के ज्ञान तक पहुंचना। उपनिषदों का आधार एक ही है और इसके साथ ही उस आधार का अत्यधिक रूप में यह वास्तविकता एक ही प्रकार से वर्णन किया गया है इस निष्कर्ष पर पहुंचाती है कि विभिन्न वैदिक शाखाओं ने मौखिक परम्परा के एक सामान्य स्वरूप को प्राप्त किया और उनको अपने मत के अनुसार पाठ्यपुस्तकों या अपने ही ढंग से उपनिषदों में स्वरूप प्रदान कर दिया।

छान्दोग्योपनिषद्

इस प्रकार छान्दोग्योपनिषद् में जो महत्व में बृहदारण्यक उपनिषद् के समान है और विस्तार में कुछ ही घटकर है बृहदारण्यक के स्पष्ट चिन्ह प्राप्त होते हैं। बृहदारण्यक के समान इसकी रचना भी बिखरी हुई प्रचलित सामग्री से हुई है। इसके आठों अध्यायों में प्रत्येक एक स्वतन्त्र परिपूर्ण इकाई है जिसके बाद प्रायः पूरक खण्ड आ जाता है किन्तु वह मुख्य विषय वस्तु से बहुत कम सम्बन्धित होता है।

पहले दो अध्यायों में साम का रहस्यात्मक अभिप्राय बतलाया गया है और उसके मुख्य भाग का वर्णन किया गया है जिसे उग्दीथ (उच्च स्वर में गाया जाने वाला गीत) कहा जाता है। दूसरे अध्याय के परिशिष्ट में और विषयों के अतिरिक्त वर्ण 'ओम्' की उत्पत्ति और धार्मिक जीवन के तीन स्तरों (आश्रमों) का वर्णन है ये स्तर हैं ब्राह्मण शिष्य (ब्रह्मचर्य) गृहस्थ और वानप्रस्थ (जिसमें बाद में चौथे के रूप में चतुर्थ स्थान पर धार्मिक चिन्तक और जोड़ा गया।)

तीसरे अध्याय में प्रधान रूप से ब्रह्म का वर्णन विश्व के सूर्य के रुप में किया गया है—स्वाभाविक सूर्य उसका एक व्यक्त स्वरुप ही है। आगे चलकर निस्सीय ब्रह्म पूर्ण और अविभक्त रूप में मनुष्य हृदय में निवास करता हुआ बतलाया गया है। तब इस बात का वर्णन किया गया है कि ब्रह्म किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है और तब ब्रह्म और आत्मा (या जैसा कि हम कह सकते हैं ईश्वर और जीव) की एकरूपता के विषय में अपने महान मौलिक स्वमत की घोषणा की गई है। तब अध्याय की समाप्ति एक कल्पना से हुई है जो जगदुत्पत्ति के विषय में ऋग्वेद और मनुस्मृति के मध्य एक संयोजक संबन्ध स्थापित करती है। चौथा अध्याय वायु, प्राण और दूसरी दृग्गोचर वस्तुओं के साथ ब्रह्म के सम्बन्ध का वर्णन करता है तथा शिक्षा भी देता है कि किस प्रकार मृत्यु के बाद ब्रह्म की ओर जाने के लिए आत्मा अपना मार्ग बना सकती है।

५वें अध्याय का पूर्वार्ध बृहदारण्यक के ६ठे अध्याय के प्रारम्भ के साथ लगभग एक रूप है। इसमें पुनर्जन्म का वर्णन है और उसके सिद्धान्त के कारण ही यह भाग ध्यान देने योग्य है। अध्याय का उत्तरार्ध इसलिए महत्वपूर्ण है कि इसमें पहली बार इस सिद्धान्त पर वक्तव्य दिया गया है कि अनेकरूप विश्व अवास्तविक है। सत् ने अपनी इच्छा से अपने अन्दर से तीन मौलिक तत्वों को उत्पन्न किया ये तत्व हैं तेज, जल और अन्न। (बाद में इन मूल तत्वों की संख्या ५ हो गई, आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी) व्यक्तिगत आत्मा (जीवात्मा) के रूप में यह (सत् ब्रह्म) उनमें प्रवेश करता है। जब ये तीनों कतिपय आंशिक संयोगों द्वारा एक दूसरे से मिल जाते हैं तब उस क्रिया को त्रिवृत्करण की संज्ञा दी जाती है। यह त्रिवृत्करण ही विभिन्न उत्पादनों (विकारों) या दृष्टिगोचर प्रत्यक्ष वस्तुओं का रूप धारण कर लेता है। केवल सत् ही वास्तविक सत्य है, वही आत्मा है 'तत्त्वमसि'। सातवें अध्याय में १६ स्वरूपों का परिगणन किया गया है जिनमें ब्रह्म की उपासना की जानी चाहिए यह श्रेणी बद्धता अभिधान (नाम)से प्रारम्भ कर असीमता 'भूमन्' पर्यन्त बढ़ती जाती है जो सर्वस्व है और हमारे अन्तर्गत आत्मा है। अन्तिम अध्याय का पूर्वार्ध हृदय में तथा विश्व में विद्यमान आत्मा का विवेचन करता है तथा साथ ही यह भी बतलाता है कि उसे किसप्रकार प्राप्त किया जाना चाहिए। अध्याय का उपसंहारात्मक भाग आत्मा के सत्य स्वरूप से असत्य स्वरूप का विभेद बतलाता है—आत्मा का परिचय तीन अवस्थाओं में दिया गया है जिनमें वह शरीर में, स्वप्न में और गहन निद्रा में। अन्तिम अवस्था में हमें सत्य आत्मा

प्रतीत होता है—भौतिक की उपलब्धि होती है जिसमें विषय और विषयी के मध्य विभेद लुप्त हो जाता है।

तलवकार या केन उपनिषद्

सामवेद का एक बहुत छोटा निबन्ध भी है जो बहुत समय तक तलवकार कहलाता रहा। यह नाम उसे उस शाखा से मिला जिससे उसको संबद्ध किया गया गया था। किन्तु बाद में जब उसे उस शाखा से अलग कर दिया गया तब इसमें अपने प्रारम्भिक शब्द के अनुसार केन उपनिषद' यह नाम प्राप्त कर लिया। इसमें सुस्पष्ट दो भाग हैं—दूसरा भाग गद्य में लिखा गया है और बहुत पुराना है। यह ब्रह्म के साथ वैदिक देवताओं के सम्बन्ध का वर्णन करता है। वैदिक देवताओं के प्रतिनिधित्व का वह इस रूप में वर्णन करता है कि उन्हें ब्रह्म से ही शक्ति प्राप्त करने वाला और ब्रह्म पर ही निर्भर बतलाता है। पहला भाग छन्दोबद्ध है और वेदान्त सिद्धान्त के पूर्ण विकसित काल से सम्बन्ध रखता है। यह सगुण ब्रह्म से जो कि पूजा का विषय है निर्गुण ब्रह्म का पार्थक्य बतलाता है जो (निर्गुण ब्रह्म) अज्ञेय है—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति नो मनो।
न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यात्।। (१.१.३.)

(इसमें कोई आंख प्रवेश नहीं करती। न वाणी न विचार कभी इसे प्राप्त कर सकते हैं, यह अज्ञात विद्यमान रहता है, हम देख नहीं सकते, किस प्रकार कोई मुझे उसकी शिक्षा दे सकता है।)[1]

कृष्ण यजुर्वेद के उपनिषद् – मैत्रायण उपनिषद्

कृष्ण यजुर्वेद के विभिन्न उपनिषदों में सभी में परवर्ती होने की छाप लगी हुई है। मैत्रायण उपनिषद् अत्यधिक दूरी तक गद्य रचना है जिसमें स्थान-स्थान पर पद्य जोड़ दिए गए हैं। इसमें सात अध्याय हैं, सातवां अध्याय और छठे अध्याय के उपसंहारात्मक आठ प्रपाठक अनुभाग इसके परिशिष्ट भाग का रूप ले लेते हैं। मैत्रायण शाखा की वर्णविन्यास और ध्वनि विन्यास की विशेषतायें इसमें बनी हुई हैं यह वास्तविकता इस उपन्यास को प्राचीनता का स्वरूप प्रदान कर देती है। किन्तु दूसरे उपनिषदों से इसके अनेक उद्धरण इसमें अनेक परवर्ती शब्दों की विद्यमानता, इसके द्वारा पहले ही माना हुआ विकसित सांख्य दर्शन, वेद विरोधी नास्तिक सम्प्रदायों के स्पष्ट सन्दर्भ ये सब इस रचना को असन्दिग्ध रूप में परवर्ती सिद्ध करने की दिशा में एक साथ मिल जाते हैं

---

१. संस्कृत पाठ्य के अनुसार अनुवाद—हम न जानते हैं, न समझते हैं जिस प्रकार इसकी शिक्षा दी जाय।'

यह वास्तव में उपनिषदों के पुराने सिद्धान्तों का समाहार है जिसमें सांख्य पद्धति और बौद्ध धर्म से लिए हुए विचार गूंथ दिए गए हैं। निबन्ध का मुख्य कलेवर आत्मा के स्वरूप की व्याख्या करता है जो कि इक्ष्वाकुवंशीय राजा बृहद्रथ को बतलाया गया था। (संम्भवतः यह इसी नाम वाले उस राजा से अभिन्न है जिसका वर्णन रामायण में किया गया है।) राजा बृहद्रथ कुछ विस्तार से सांसारिक सत्ता की दरिद्रता और क्षण भङ्गुरता की निन्दा करते हैं। यद्यपि निराशावाद पुराने उपनिषदों के लिए अपरिचित नहीं हैं किन्तु यहां इसका कहीं अधिक बखान किया गया है, इसमें सन्देह नहीं कि यह सांख्य और बौद्ध प्रभाव का परिणाम है।

विषय का विवेचन तीन प्रश्नों के रूप में किया गया है। पहला प्रश्न है आत्मा शरीर में किस प्रकार प्रवेश करती है, इसका उत्तर है कि प्रजापति पांच प्राणवायुओं के रूप में प्रवेश करता है जिससे उसके द्वारा बनाये हुए जीवनहीन शरीरों में चेतना का संचार हो सके। दूसरा प्रश्न है कि 'परमात्मा किस प्रकार व्यक्तिगत आत्मा (भूतात्मा) बन जाता है?' इस प्रश्न का उत्तर वेदान्त की अपेक्षा विशेषकर साँख्य के अनुकूल दिया गया है। भौतिक तत्त्व (प्रकृति) के तीन गुणों से वशीभूत होकर, आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को भुलाकर आत्मचेतना और पुनर्जन्म में लिप्त हो जाता है। तीसरा प्रश्न है— 'किस प्रकार इस दरिद्रता की अवस्था (भौतिक उत्पीडन) से मोक्ष सम्भव है?' इसका उत्तर न तो वेदान्त और सांख्य सिद्धांत की अनुरूपता में है किन्तु एक प्रतिक्रियात्मक भावना के साथ दिया गया है। केवल वे लोग जो ब्राह्मणत्व की आवश्कताओं तथा जाति और धार्मिक व्यवस्थाओं (आश्रमों) का परिपालन करते हैं वे ज्ञान, तपस्या और ब्रह्मचिन्तन के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने के योग्य घोषित किए गए हैं। तीन प्रधान देवता कहने का आशय है ब्राह्मण काल के त्रिदेव अग्नि, वायु और सूर्य, तीन मनः कल्पित देवता—काल, प्राण और अन्न और तीन लोक प्रतिष्ठित देवता ब्रह्मा रुद्र (शिव) और विष्णु इन सबकी व्याख्या ब्रह्म के व्यक्तीकृत रूप में की गई है।

इस उपनिषद् का शेष भाग परिशिष्ट रूप में हैं, किन्तु उसमें अनेक अनच्छेद अत्यधिक अभिरुचि उत्पन्न करने वाले हैं। हम यहां जगदुत्पत्ति विषयक काल्पनिक उपाख्यान प्राप्त करते हैं जो ब्राह्मण ग्रन्थों में आये उपाख्यान के समान होते हैं जिसमें प्रकृति के तीन गुण सत्त्व, रज और तम-रुद्र, ब्रह्मा और विष्णु से सम्बन्धित हैं और जो दूसरे दृष्टिकोण से अधिक ध्यान देने योग्य हैं क्योंकि वह ऋग्वेद के दर्शन और परवर्ती सांख्य पद्धति के मध्य एक संयोजक कड़ी है। और भी आगे सूर्य को आत्मा के बाह्य प्रतीक और प्राण को आन्त-

रिक प्रतीक के रूप में प्रस्तुत किया गया है और उनकी पूजा पवित्र वर्ण 'ओम्' तीन उच्चारणों भूः, भुवः स्वः और प्रसिद्ध सावित्री (गायत्री) छन्द द्वारा बतलाई गई है। ब्रह्म को प्राप्त करने के साधन के रूप में हम योग या यतियों की साधना की संस्तुति पाते हैं जो हमें मानसिक एकाग्रता तक और तल्लयावस्था समाधि दशा तक ले जाने वाली होती है। यहां जो सूचना हमें इन साधनाओं के विषय में मिलती हैं वह परवर्ती साधना व्यवस्था की तुलना में अब तक अविकसित अवस्था में हैं। ब्रह्म की तीन अवस्थाओं जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति के अतिरिक्त एक चौथी (तुरीय) और सर्वोच्च अवस्था का वर्णन किया गया है। इस उपनिषद् का उपसंहार इस घोषणा के साथ होता है कि आत्मा द्वैत जगत में इसलिए प्रविष्ट हुआ है कि वह सत्य और भ्रांति दोनों का स्वाद लेना चाहता था।

काठक उपनिषद्

कृष्ण यजुर्वेद मैत्रायण की अपेक्षा अधिक प्राचीन दो और उपनिषद् हैं काठक और श्वेताश्वतर जिनसे मैत्रायण वस्तु का उपादान करता है। प्रथम (काठक) में लगभग १२० और दूसरे (श्वेताश्वतर) में लगभग ११० पद्य हैं।

काठक नचिकेता के पुराणोपाख्यान का वर्णन करता है जो कि तैत्रिरीय ब्राह्मण के काठक भाग में कहा गया है और यह उपनिषद् उसके पूर्व ज्ञान को स्वीकार कर चलता है। इसका संकेत इस वास्तविकता से मिलता है कि इसका प्रारम्भ ब्राह्मण के उपाख्यान में आये उन्हीं शब्दों को लेकर होता है। ज्ञात होता है कि इस निवन्ध के मौलिक रूप में इसके दो अध्यायों में पहले केवल एक ही था। क्योंकि योग के विषय में अधिक विकसित दृष्टिकोण और दृश्यजगत की इसकी कहीं अधिक विवेचित असत्यता (मायारूपता) के साथ दूसरा अध्याय बाद में जोड़ा हुआ दिखलाई पड़ता है। प्रथम अध्याय में एक उपक्रम परक कथानक, आत्मा का एक विवरण, इसका शरीरीकरण और योग साधना के द्वारा इसकी अन्तिम परावृत्ति (अपने मूल रूप की ओर लौटने) का वर्णन किया गया है। दूसरा अध्याय यद्यपि कम व्यवस्थित है फिर भी समग्र विचार करने पर पहले की विषय वस्तु के साथ ही मेलखाता है। इसकी चौथी बल्ली में आत्मा (विश्वात्मा) के स्वरूप पर विचार करते हुए आत्मा (पुरुष) और भौतिकतत्त्व(प्रकृति) दोनों के साथ इसकी एकरूपता बतलाई गई है। पांचवीं वल्ली में विश्व में और विशेष कर मनुष्य में आत्मा के व्यक्तीकृत स्वरूप का विवेचन किया गया है। (समस्त विश्व में व्यक्त होते हुए भी) वह जिस प्रकार उसी काल में अपने अविकल स्वरूप में उनसे बाहर भी वर्तमान रहता है तथा जीवित व्यक्तियों की पीड़ा का उस पर कोई प्रभाव

नहीं पड़ता, प्रकाश और वायु दोनों की उपमा के द्वारा इस बात की विस्मय जनक हृदयग्राही रूप में व्याख्या की गई है। ये प्रकाश और वायु दोनों ही महाकाश को व्याप्त किये हुए हैं फिर भी प्रत्येक वस्तु को भी आलिङ्गित कर रहे हैं और सूर्य का निदर्शन जो कि सारे विश्व की आंख है—उसके बाहर जितनी दूसरी आँखें हैं उनके दोषों से वह सर्वदा मुक्त रहता है। अन्तिम वल्ली में सर्वोच्च लक्ष्य को प्राप्त करने के साधन के रूप में योग की शिक्षा दी गई है। यहां मानसिक योग्यताओं का जो श्रेणी विभाजन किया गया है वह सांख्य और योग दर्शन के इतिहास के लिए बहुत ही रोचक विषय है। इस समस्त विवेचन में (असावधानी के कारण) एक अननुभूत विरोध सर्वत्र दृष्टि-गत होता है--जिसमें कि आत्मा सभी में सब कुछ मानी गई है फिर भी आत्मा और प्रकृति के मध्य मार्मिक विभेद दिखलाया गया है। यह परस्पर विरोध वही है जो दर्शन के क्षेत्र में बाद के वेदान्त और सांख्य योग पद्धतियों में पाया जाता है।

श्वेताश्वतर उपनिषद्—

अपने ही वक्तव्य के अनुसार श्वेताश्वतर उपनिषद् ने एक व्यक्तिगत लेखक के नाम से यह संज्ञा प्राप्त की है और परम्परा जो इसे कृष्ण यजुर्वेद की एक शाखा के साथ प्रतिबद्ध करती है अपने प्रमाण के रूप में कोई पर्याप्त आधार नहीं रखती। इसका उलझा हुआ व्यवस्थापन, छन्दों में अनियमित मनमाना परिवर्तन, इसमें जो अन्तर्निविष्ट उद्धरण हैं उनकी संख्या इस मान्यता को सम्भावित बना देती है कि अपने स्वरूप में यह कृति एक ही लेखक की रचना नहीं है। अपने वर्तमान रूप में यह निश्चित ही काठक उपनिषद् के बाद की रचना है, क्योंकि इसमें अनेक अनुच्छेद ऐसे हैं जिनका निर्देश उस रचना (कठोपनिषद्) की ओर अवश्य किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त कठोपनिषद् से बहुत से पद्य कुछ परिवर्तन करके या बिना परिवर्तन के ले लिए गए हैं। इसकी परवर्तिता इस बात से और अधिक संकेतित होती है कि इसमें योग के विकसित सिद्धान्त का समावेश हुआ है। इसके अतिरिक्त वेदान्त के विभिन्न सिद्धान्तों को जिस रूप में इसमें दिखलाया गया है उनका स्वरूप न्यूनाधिक रूप में निश्चित है जो या तो प्राक्कालीन उपनिषदों को ज्ञात नहीं है या पहले ही उनका कुछ संकेत मात्र दे दिया गया है। इन(सिद्धान्तों)में जगत् की आयु (कल्प) के अन्त में ब्रह्म द्वारा संसार के विनाश का उल्लेख किया जा सकता है, साथ ही समय-समय परब्रह्म से उद्भूत नवीनीकरण और विशेष रूप से ब्रह्म द्वारा उत्पादित भ्रम (माया) रूप में संसार की व्याख्या इन सबका भी

निर्देश किया जा सकता है। इसके साथ ही लेखक ब्रह्म के मूर्तीकृत स्वरूप-सविता, ईशान या रुद्र के लिये विचित्र प्रकार का पक्षपात व्यक्त करता है। यद्यपि अब तक रुद्र का नाम शिव नहीं पड़ा था किन्तु रुद्र के साथ उस शब्द का बार-बार विशेषण के रूप में प्रयोग प्रकट करता है कि सर्वोच्च देवता का व्यक्तिवाचक नाम शिव निश्चित होने के मार्ग में ही विद्यमान है। इस उपनिषद में हमें सांख्य के अनेक शब्द और मौलिक सिद्धान्त प्राप्त होते हैं यद्यपि दृष्टिकोण पूर्णरूप से वेदान्ती है। उदाहरण के लिए भौतिक तत्त्व (प्रकृति) का वर्णन ब्रह्म द्वारा उत्पादित भ्रम (माया) के द्वारा किया गया है।

शुक्ल यजुर्वेद का बृहदारण्यक उपनिषद्

शुक्ल यजुर्वेद सबसे लम्बे और छान्दोग्य को छोड़ उपनिषदों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण (बृहदारण्य के उपनिषद्) से जुड़ा हुआ है। इसमें उस कृति (छान्दोग्य) की अपेक्षा भी उन रचनाओं के पिंडी भूत (संकलित) स्वरूप के चिह्न अधिक हैं जो मौलिक रूप में अलग-अलग निबन्ध रहे होंगे। यह तीन काण्डों में विभाजित है और प्रत्येक काण्ड में दो अध्याय हैं। अन्तिम काण्ड टीकाकारों की परम्परा में भी परिशिष्ट (खिल काण्ड) के नाम से अभिहित किया गया है। यह एक ऐसा कथन है जो इसकी विषय वस्तु से भी प्रमाणित होता है। पहले और दूसरे भाग भी मूलरूप में एक दूसरे से स्वतन्त्र (असम्बद्ध) थे यह बात इससे पर्याप्त रूप से सिद्ध हो जाती है कि दोनों में याज्ञवल्क्य और उनकी दो पत्नियों का पौराणिकोपाख्यान प्रारम्भ से अन्त तक सर्वत्र लगभग एक ही शब्दों से विद्यमान हैं। इन भागों में प्रत्येक के साथ (और उसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण के १०वें अध्याय) क्रमागत रूप में गुरुओं की परम्परा(वंश) की तालिका जुड़ी हुई है। इन वंश सूचियों की तुलना करने पर यह निष्कर्ष प्रमाणित होता हुआ प्रतीत होता है कि प्रथम भाग (जो मधुकाण्ड कहलाता है) और दूसरा भाग (जो याज्ञवल्क्य काण्ड कहलाता है) ये दोनों काण्ड नौ पीढ़ियों के मध्य शुक्ल यजुर्वेद शाखा के अन्तर्गत अलग अलग स्वतन्त्र रूप से विद्यमान रहे और तब आग्निवेश्य नाम के एक गुरु द्वारा एक में जोड़ दिए गये। तीसरा भाग जिसमें सभी प्रकार की पूरक सामग्री ही विद्यमान है, बाद में जोड़ा गया। ये सूचियां आगे इस निष्कर्ष को और अधिक सम्भव बनाती है कि याज्ञिक परम्परा (ब्राह्मणों) के प्रमुख गुरु दार्शनिक परम्परा के (उपनिषदों के) गुरुओं से भिन्न थे।

प्रारम्भ में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अश्वमेघ (घोड़े का यज्ञ) को विश्व रूप बतलाया गया है और उसकी रूपकमय व्याख्या की गई है। पहला अध्याय

प्राण (श्वास वायु) का आत्मा के चिन्ह(लक्षण)के रूप में विवेचन करने के लिए आगे बढ़ता है और तब आत्मा या ब्रह्म से संसार की उत्पत्ति का वर्णन करता है और उसके साथ सर्वोच्च आत्मा पर सभी सत्ताओं की निर्भरता पर जोर देता है जो प्रत्येक व्यक्ति में उसकी अपनी आत्मा प्रतीत होती है। देवताओं की पूजा के प्रतिकूल जो विवादात्मक प्रवृत्ति अपनाई गई है वह यह दिखलाती है कि वह इस बात का एक लक्षण है जो दिखलाता है कि यह अनुच्छेद पूर्व-वर्ती युग से सम्बन्ध रखता है जिसमें देवताओं की अपेक्षा आत्मा की उच्चता का सिद्धान्त अब तक स्वयं को स्थिर करने के लिये प्रयत्नशील था। अगले अध्याय में आत्मा के स्वरूप और उसके प्रकाशन—पुरुष और प्राण का वर्णन किया गया है।

उपनिषद् के दूसरे भाग में चार दार्शनिक विवाद विद्यमान है जिनमें याज्ञवल्क्य मुख्य वक्ता है। प्रथम (३.१.९.) एक बहुत बड़ा विवाद ग्रस्त विषय है जिसमें मुनि (याज्ञवल्क्य) क्रमश: आने वाले ९ विवादियों पर अपनी उच्चता सिद्ध करते हैं। यहाँ अत्यधिक मनोरंजक निष्कर्षों में एक यह है कि ब्रह्म सैद्धान्तिक विवाद के द्वारा अज्ञेय है किन्तु प्रायोगिक रूप में उसे ग्रहण किया जा सकता है। दूसरा संवाद है राजा जनक और याज्ञवल्क्य के मध्य बातचीत जिसमें याज्ञवल्क्य यह दिखलाते हैं कि ब्रह्म के स्वरूप के विषय में जो दूसरे आचार्य ६ परिभाषायें प्रस्तुत करते हैं वे सब अविश्वसनीय है। उदाहरण के लिए एक परिभाषा यह है कि वह (ब्रह्म) प्राण और मनस् से एक रूप है। वे अन्त में घोषित करते है कि आत्मा का विवेचन केवल निषेधात्मक रूप (नेति नेति) कहकर हो सकता है, क्योंकि उसका स्पर्श नहीं हो सकता, उस का विनाश नहीं हो सकता, वह किसी पर निर्भर नहीं है, वह गतिशील नहीं है।

तीसरे संवाद (४.३.४) में जनक और याज्ञवल्क्य के मध्य एक दूसरा कथोपकथन है। यह आत्मा की जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मरण, पुनर्जन्म और मोक्ष इन दशाओं का चित्र प्रस्तुत करता है। दृष्टान्त,की सम्पत्ति, दृढ़ विश्वास की उत्कटता, विचारों का सौन्दर्य और उनकी उच्चता इन सब दृष्टियों से उपनिषद् साहित्य या दूसरे प्रकार के किसी भी भारतीय साहित्य की कृति में यह भाग अपनी समानता नहीं रखता, जो अधिसंख्य पद्य इसके अन्तर्गत बिखरे हुए हैं उनके द्वारा इसका साहित्यिक प्रभाव और अधिक तीव्र बना दिया जाता है। यह दूसरी बात है कि इसमें सन्देह नहीं कि ये पद्य बाद में जोड़े गए हैं। आत्मा के स्वप्न स्वरूप का इस प्रकार वर्णन किया गया है—

प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायं वहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा।
स ईयतेऽमृतो यत्रकामं, हिरण्मयः पुरुषः एक हंसः ॥४.३.१३

(श्वास की रक्षा में अपने निचले घोंसले को छोड़कर वह अमर अपने उस घोंसले से ऊपर को उड़ता है, जहां-जहां वह चाहता है वह अमर वहाँ-वहां मंडराता है, वह है सोने के पंखों वाला, वही आत्मा का हंस है।[1])

स्वप्नान्त उच्चावचमीयमानो।
रूपाणि देवः कुरुते बहूनि ॥ (४.३.१४)

(यह स्वप्न की अवस्था में ऊपर नीचे भ्रमण करता है। देव रूप में वह अनेक आकार एवं अनेक स्वरूप धारण करता है[2]।)

---

१. यहां आत्मा को एक पक्षी (हंस) माना गया है। हंस घोसले में रहता है अपने प्राणों से भी घोंसले की रक्षा करता है। किन्तु घोंसले को छोड़कर आकाश में उड़ जाता है और जहाँ कहीं चाहता है मंडराता रहता है। यह आत्मा एक हंस है जिसके पंख सोने के हैं। यह शरीर उसका पिंजड़ा है। जब व्यक्ति सो जाता है तब उसके प्राण (श्वास वायु) उसके शरीर रूपी घोंसले की रक्षा करते हैं अर्थात् श्वास चलने से ही उसके जीवित होने की प्रतीति होती है, अन्यथा मृत समझकर लोग उसे नष्ट कर दें। यह शरीर रूपी घोंसला 'अवर' है—घोंसला नीचे रहता है और शरीर अनेक अपवित्रताओं के कारण अवर अर्थात् अश्रेष्ठ होता है। आत्मा रूपी पक्षी स्वप्न में शरीर रूपी घोंसले को छोड़कर विश्व रूपी आकाश में विचरण करता है और जहाँ जैसे चाहता है वैसे दृश्य देखता रहता है। स्वप्न को देखने वाला यह आत्मा ही है जो आकाश में विचरण शील एक पक्षी है।

२. इसका उत्तरार्ध है—

उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानो
जक्षदुते वापि भयानि पश्यन् ॥१४॥

आशय यह है कि स्वप्न में देव आत्मा ऊंचे स्थानों पर देवताओं इत्यादि में भी विचरण करता है और निम्न कोटि के पशु इत्यादिकों के मध्य में घूमता है। वह अनेक रूपों का निर्माण कर लेता है—वह चित्रों का निर्माण करता है और उनके विहार का आनन्द लेता है, कभी मित्रों की गोष्ठी में हंसता खिल-खिलाता है, कभी भयानक स्थितियों में पड़ता है। इन सबका वासना रूप में निर्माण हो जाता है जिसका आनन्द ज्योति स्वरूप आत्मा को ही प्राप्त होता है, उसका साझीदार और कोई नहीं हो सकता।

तब आत्मा की स्वप्नहीन (सुषुप्ति) अवस्था का वर्णन आता है—

'तद्यथास्मिन्नाकाशे श्येनो व सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः स्हत्य पक्षौ संल्लया यैव ध्रियते एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति यत्र सुप्तो न कश्चन कामङ्कामयते न कश्चन स्वप्नं पश्यति ।

तद्वा अस्यैदतिच्छन्दा अपहृतपाप्माभयँ रूपं तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न वाह्यं कित्रवन वेदनान्तर मेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञो-नात्मना न वाह्वं किश्चन वेद नान्तरम् ।

(जैसे वाज या गरुड़ वायु में चारों ओर उड़ते रहने पर थककर अपने परों को एक साथ समेट लेता है और उतरने का उपक्रम करता है उसी प्रकार आत्मा उस अवस्था की ओर जाने की जल्दी करता है जिसमें सोता हुआ वह किसी प्रकार की इच्छा का अनुभव नहीं करता और न स्वप्न देखता है ।

यह उसका अनिवार्य महान स्वरूप है जिसमें वह इच्छाओं के ऊपर उठ जाता है, बुराइयों से स्वतन्त्र होता है और भय रहित हो जाता है । क्योंकि जैसे कोई अपनी प्यारी स्त्री को जब भेंटता है तब वह अन्दर की या वाहर की किसी वस्तु की इच्छा नहीं करता उसी प्रकार आत्मा भी विज्ञेय पारमार्थिक[1] (व्यापक) अपनी आत्मा से आलिंगित किसी भी वस्तु को नहीं चाहती न वाहरी न भीतरी ।)

जो आत्मायें मुक्त नहीं हो जातीं उनके बिषय में लेखक का यह दृष्टि-कोण प्रतीत होता है कि मृत्यु के बाद वे तत्काल नये शरीर में प्रविष्ट हो जाती हैं और दूसरे संसार (परलोक) में उन्हें किसी मध्यवर्ती प्रतिकार का सामना नहीं करना पड़ता । वे अपनी प्रतिभा और नैतिक गुणों के बिल्कुल समान ही (दूसरे शरीर में प्रवेश करती हैं ।)

तृद्यथा तृणजलायुका तृणस्यान्तं गत्वान्यमाक्रममाक्रम्यात्मान-मुपसँहरत्येवायमात्मेवँ शरीरं निहत्या विद्यां गमयित्वान्यमा-क्रममाक्रम्यात्मानमुपसँहरति । (४.४.३)

तद्यथा पेशस्कारी पेशसो मात्रामुपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरँ रूपं तनुते एवमेवायमात्मेदँ शरीरं निहत्याविद्यां गमयित्वाऽन्यन्न-वतरं कल्याणतरँ रूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धवं वा दैवं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वान्येषां भूतानाम् । (४.४.४)

---

१. क्योंकि सर्वात्मक एकतत्व ही मनुष्य का अपना स्वरूप है । उसका आलिं-गन तभी होता है जब बाह्य प्रतीति समाप्त हो जाती है ।

(जिस प्रकार पत्तों को चाटने वाला एक छोटा सा कीड़ा जब एक पत्ते को चाटता हुआ पत्ते के सिरे पर पहुंचा हुआ होता है स्वयं को आर पार प्रसारित करते हुये दूसरे पत्ते पर पहुंचता है और अपने अंगों को समेट लेता है इसी प्रकार आत्मा शरीर को छोड़ने के बाद और अज्ञान दूर करते हुए नया प्रारम्भ करता है और (प्रसारित वासना से) स्वयं को समेट लेता है।(४.४.३)

जिस प्रकार एक सुनार एक मूर्ति में ढली वस्तु (स्वर्ण) को ग्रहण करता है और पीटकर इससे दूसरी नई और अधिक सुन्दर स्वरूप वाली आकृति को बना देता है उसी प्रकार आत्मा भी शरीर को छोड़कर (दूर फेंककर) और अज्ञान को दूर करते हुए अपने लिए दूसरा अधिक नया और अधिक सुन्दर स्वरूप बना लेता है जो या तो पितरों का होता है या गन्धर्वों का, अथवा देवताओं का, या प्रजापति का या ब्रह्म का अथवा अन्य प्राणियों में किसी एक का।) (४.४.४)

किन्तु उसका प्राणवायु, जो मुक्त हो जाता है, जो स्वयं को ब्रह्म के साथ एकरूप समझने लगता है वह उससे अलग नहीं होता क्योंकि वह ब्रह्म में लीन हो जाता है और ब्रह्म बन जाता है।

यद्यथाहि निर्ल्वयनी वल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदॅं शरीरॅं शेतेऽथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव। (४.४.७)

(जिस प्रकार सर्प की खाल, मरी हुई और फेंकी हुई बॉवी के ऊपर पड़ी रहती है उसी प्रकार तब यह शरीर पड़ा रहता है, किन्तु वह तत्व जिसका कोई शरीर नहीं होता और जो मरणधर्मा भी नहीं होता अर्थात् जीवन शुद्ध ब्रह्म है शुद्ध प्रकाश है।) (४.४.७)

चौथा संवाद याज्ञवल्क्य और उनकी पत्नी मैत्रेयी के बीच बातचीत है। यह बातचीत उस समय से पहले की है जब याज्ञवल्क्य संसार से सन्यास लेकर कार्यमुक्ति को ग्रहण करने ही वाले थे वन के एकान्त में चले गये थे। इस बात के कई एक संकेत हैं कि ये उसी बातचीत का एक सामान्य दूसरा संस्करण है जो कि पहले अध्याय (२-४) में आ चुकी है।

तीसरे या परिशिष्ट भाग के पहले अध्याय में १५ उपविभाग हैं जो प्रायः बिल्कुल छोटे हैं, अधिकांश विषयवस्तु में असंबद्ध हैं और विभिन्न कालों के मालूम पड़ते हैं। हां, दूसरा अध्याय एक लम्बे और महत्वपूर्ण निबन्ध का निर्माण करता है जिसमें पुनर्जन्म के सिद्धान्त का विवेचन किया गया है (जो छान्दोग्य के वर्णन से मेल खाता है)। जो दृष्टिकोण यहां व्यक्त किये गये हैं वे

याज्ञवल्क्य के दृष्टिकोण से इतने दूर हटे हुए हैं कि यह पाठ्य निश्चय ही किसी दूसरी शाखा में उत्पन्न हुआ होगा और ढीलेपन से इस उपनिषद् की विषयवस्तु के विचित्र महत्व के कारण इसमें जोड़ दिया गया होगा। पहले और बाद के उपविभाग भी जो इससे सम्बन्धित हैं और जो छान्दोग्योपनिषद् में भी है उसी समय जोड़ दिये गये होंगे।

ईशोपनिषद्

शुक्ल यजुर्वेद से जुड़ा हुआ केवल यही सबसे लम्बा उपनिषद् ही नहीं है किन्तु सबसे छोटों में से भी एक है जिसमें केवल १८ पद्य हैं। यह ईशोपनिषद् है जिसका नामकरण इसके पहले शब्द 'ईशा०' से हुआ है। यद्यपि यह वाजसनेयी संहिता के अन्तिम अध्याय का निर्माण करता है यह कहना अधिक सही है कि इसका सम्बन्ध बाद के समय से है। सम्भवतः यह बृहदारण्यक के सबसे बाद के भागों का समसामायिक है। अनेक दृष्टियों से यह काठक की अपेक्षा अधिक विकसित हैं किन्तु श्वेताश्वतर की अपेक्षा पुराना मालूम पड़ता है। इसका प्रेरकलक्ष्य है जिसे सच्चा ज्ञान नहीं है उस व्यक्ति से उस व्यक्ति का विभेद दिखलाना जो स्वयं को जानता है कि वह उसी आत्मा का रूप है। यह वेदान्त दर्शन के मौलिक सिद्धान्तों का उच्चकोटि का सर्वेक्षण प्रस्तुत करता है।

अथर्ववेद के उपनिषद्

अथर्ववेद से संलग्न उपनिषदों की बहुत बड़ी और अनिश्चित संख्या है, किन्तु सर्वाधिक प्रामाणिक सूची सब मिलाकर २७ को स्वीकृति प्रदान करती है। अपने अधिकांश भाग के लिए वे अत्यधिक परवर्ती काल में प्रारम्भ किए हुए हैं तथा वेदोत्तर कालीन हैं और केवल तीन को छोड़कर शेष सभी पुराणों के समसामयिक हैं उनमें एक तो मुसलमानी निबन्ध है जिसका नाम है अल्ला-उपनिषद। पहले के तीन वेदों से सम्बन्धित पुराने उपनिषद् वास्तविक वैदिक शाखाओं की पाठ्यपुस्तकें हैं जो अपने मत का दृढ़ अभिमान लेकर चलती हैं जिनमें श्वेताश्वर जैसे कुछ ही अपवाद है, उन उपनिषदों के नाम भी अपनी उन्हीं शाखाओं के नाम पर पड़े हैं, वे यज्ञ सम्बन्धी ब्राह्मणों से जुड़े हैं और उनके परिशिष्ट हैं। दूसरी ओर अथर्ववेद के उपनिषद् माण्डूक्य और जाबाल जैसे कुछ अपवादों को छोडकर अब आगे वैदिक शाखाओं से सम्बन्धित नहीं है किन्तु अपने नाम भी विषयवस्तु या किसी दूसरी परिस्थिति से ग्रहण करते हैं। अपने अधिक भाग में वे आध्यात्मिक (ईश्वरवादी) रहस्यात्मक, सन्यासपरक या उन साम्प्रदायिक संस्थाओं का प्रतिनिधित्व करते हुये प्रतीत होते हैं जो वैदिक शाखाओं के अनुकरण पर अपना स्वयं का उपनिषद् रखना चाहती थीं।

ये अथर्ववेद के साथ इसलिए नहीं जोड़े गए कि इनका कोई आन्तरिक सम्बन्ध था किन्तु आंशिक रूप से तो वे इसलिए जोड़े गए कि अथर्ववेद के अनुयायी अपनी स्वयं की दृढ़ मतानुयायी पाठ्य पुस्तकों को रखने वाले बनना चाहते थे और आंशिकरूप से इसलिए कि अन्य वैदिक शाखाओं के समान चौथा वेद साहित्य के धार्मिक श्रेणी बद्ध संघात की पहरीदारी के द्वारा सुरक्षित नहीं था जिससे विजातीय तत्वों के अन्तर्भेदन से स्वयं को बचा सकता।

उन (उपनिषदों) में अधिकांश के द्वारा विभिन्न विशिष्ट दिशाओं में सामान्य मौलिक सिद्धान्त विकसित किया गया जो अथर्ववेद के सभी उपनिषदों के लिये लागू होता है। इसके अनुसार उनको चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है जो तिथिक्रम की दृष्टि से एक दूसरे से समानान्तर चलते हैं—उनमें प्रत्येक में सापेक्षिकरूप में प्राचीन और परवर्ती रचनायें पाई जाती है। पहला वर्ग है सीधे आत्मा के स्वरूप का अनुसन्धान करने वाला वर्ग। इसका क्षेत्र दूसरे वेदों के उपनिषदों के उस क्षेत्र के समान ही है और मुख्य सिद्धान्त के विकास में प्राचीन वेदों के आगे नहीं जाता। दूसरा वर्ग मौलिक तत्वों को स्वीकार करके ही सन्यासियों के ध्यान-योग द्वारा आत्मा में (व्यक्ति की) विलीनता का वर्णन करता है जोकि ओम् इस पवित्र ब्रह्माक्षर के विभिन्न अनुभागों पर आधारित है। ये सब उपनिषद् लगभग बिना किसी अपवाद के पद्य में ही रचे गए हैं और सर्वथा संक्षिप्त हैं जिनमें औसत लगभग २० पद्यों का है। तीसरे वर्ग में उपनिषद् सिद्धान्त के परिणाम स्वरूप धार्मिक ध्यान योगी भिक्षु (सन्यासी) के प्रायोगिक जीवन के लिए संस्तुति की गई है और उसका वर्णन किया गया है। ये उपनिषद् भी छोटे हैं किन्तु गद्य में लिखे गए हैं यद्यपि इनमें कहीं कहीं पद्य जोड़ दिए गए हैं। अन्तिम वर्ग अपने स्वरूप में साम्प्रदायिक है। यह लोक प्रतिष्ठित देवताओं की आत्मा के मानवीकरण के रूप में व्याख्या करता है जैसे शिव (विभिन्न नामों से जैसे ईश्वर, महेश्वर, महादेव) और विष्णु (जैसे नारायण और नर-सिंह या मनुष्य शेर) यहां विष्णु के विभिन्न अवतार आत्मा के प्रत्यक्षीकृत मनुष्य रूप के प्रदर्शन माने गए हैं।

मुण्डक उपनिषद्

अथर्ववेद के इन उपनिषदों में सबसे पुराने और सबसे महत्त्वपूर्ण उपनिषद् हैं मुण्डक, प्रश्न और कुछ कम सीमा तक माण्डूक्य। ये वेदान्त सिद्धान्त को सर्वाधिक सच्चाई के साथ प्रस्तुत करते हैं। प्रथम दो (मण्डूक और प्रश्न) पुराने वेदों के उपनिषदों के सर्वाधिक निकट आते हैं और वादरायण एवं शंकर द्वारा सर्वाधिक उद्धृत किये जाते हैं जो कि परवर्ती वेदान्त दर्शन के महान् आप्त

अधिकारी हैं। केवल ये दोनों उपनिषद् अथर्ववेद के मौलिक, तर्क संगत एवं वैध उपनिषद् हैं। मुण्डक ने सर मुड़ाने वालों (मुण्ड) का उपनिषद् होने के कारण यह नाम ग्रहण किया है। यह सन्यासियों की एक संस्था है जो अपने सरों को मुड़ाते थे जैसा कि बौद्ध सन्यासी बाद में करने लगे। यह अत्यन्त लोक प्रतिष्ठित उपनिषदों में एक है—इसलिए नहीं कि इसकी विषय वस्तु में मौलिकता है क्योंकि विषय वस्तु तो अपने अधिकांश भाग में पुराने मौलिक (पाठ्य) ग्रन्थों से ग्रहण की गई है। किन्तु इसकी लोक प्रसिद्धि का कारण इसकी शुद्धता एवं पवित्रता है जिसके द्वारा यह वेदान्त दर्शन को रूपान्तरित करता है और इसके पद्यों का सौन्दर्य है जिसमें इसकी रचना हुई है। यह छान्दोग्योपनिषद् को सबसे ऊपर पूर्ववर्ती मानकर चलता है और बहुत अधिक सम्भव है कि बृहदारण्यक, तैत्तरीय और काठक को भी मान्यता देता है। कृष्ण यजुर्वेद के श्वेताश्वतर और बृहन्नारायण के अनेक महत्त्वपूर्ण अनुच्छेदों के समान होने के कारण यह सम्भवतः उसी युग में आता है जो समय के क्रम में इन दोनों के मध्य में पड़ता है। इसके तीन भाग हैं—यदि सामान्य रूप में कहा जाय तो उनमें ब्रह्म ज्ञान के लिए तैयारियों, ब्रह्म के सिद्धान्त और ब्रह्म तक पहुंचने का साधन इनका क्रमशः वर्णन है।

प्रश्न उपनिषद्

प्रश्नोपनिषद् गद्य में लिखा गया है और प्रकट रूप में अथर्ववेद के पिप्पलाद संस्करण की शाखा से सम्बन्ध रखता है। इसका यह नाम इसलिए पड़ा है क्योंकि यह पिप्पलाद ऋषि के प्रति संबोधित किए गए ब्रह्म के ६ विद्यार्थियों द्वारा पूछे गए प्रश्नों के रूप में विषय विवेचन करता है। ये (प्रश्न) वेदान्त के ६ मुख्य सिद्धान्तों के विषय में हैं। इन विषयों का सम्बन्ध है—प्रकृति और जीवन (प्राण) की प्रजापति से उत्पत्ति, अन्य जीवनीय शक्तियों पर प्रागभूत शक्ति की वरिष्ठता; जीवनीय शक्तियों का स्वरूप और उनका श्रेणी विभाजन, स्वप्न और सुषुप्तिगत निद्रा, वद्धाक्षर ओम् का ध्यान और मनुष्य के १६ भाग।

माण्डूक्य उपनिषद्

माण्डूक्य एक बहुत छोटा गद्यात्मक निवन्ध है तो प्रस्तुत पुस्तक के २ पृष्ठ भी मुश्किल से भरेगा। यद्यपि इसमें नाम तो ऋग्वेद की अर्ध विस्मृत शाखा का है किन्तु इसकी गणना अथर्ववेद के उपनिषदों में होती है। प्राचीनतर तीन वेदों के गद्यात्मक उपनिषदों की अपेक्षा इसका समय अत्यधिक बाद का होना चाहिए। क्योंकि वेदत्रयी के उपनिषदों की अव्यवस्थित और अतिविस्तृत

विवेचन पद्धति की तुलना में इस उपन्यास की सुनिश्चित और संक्षिप्त शैली में लक्षित करने योग्य विभेद हैं। मैत्रायण उपनिषद् के साथ सम्पर्क के इसमें चिह्न विद्यमान हैं जिससे यह बाद की रचना मालूम पड़ती है। हाँ, यह सच है कि जो दूसरे उपनिषद् अथर्ववेद का चौथा वर्ग बनाते हैं उन सबकी अपेक्षा यह उपनिषद् अधिक पुराना प्रतीत होता है। इस प्रकार यह ओम में केवल तीन ही मात्रा कालों के विभेद का परिचय देता है। अब तक साढ़े तीन की गणना प्रारम्भ नहीं हुई है। इस उपनिषद् का मौलिक विचार यह है कि पवित्र वर्णोच्चारण (प्रणव) विश्व की अभिव्यक्ति है। यह कुछ ध्यान देने योग्य बात है कि शंकर ने इस रचना से उद्धरण नहीं दिए हैं। फिर भी इसने केवल अथर्ववेद के कई उपनिषदों पर ही प्रभाव नहीं जमाया अपितु किसी अन्य उपनिषद् की अपेक्षा अत्यन्त प्रसिद्ध वेदान्त सिद्धान्त के सारतत्त्व वेदान्त-सार के रचयिता द्वारा इसका उपयोग अधिक किया गया।

गौडपाद कारिका

यह (माण्डूक्य) सचमुच प्रधान रूप से इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि इसने भारतीय दर्शन की सबसे अधिक ध्यान देने योग्य रचनाओं में एक गौडपाद की कारिका को प्रोत्थान प्रदान किया। इस रचना में २०० से अधिक पद्य हैं जो चार भागों में विभीजित हैं जिनमें पहला माण्डूक्य उपनिषद् को शामिल करता है। इस कारिका (गौडपाद कारिका) को जिस प्रतिष्ठा के साथ ग्रहण किया जाता है उससे इस तथ्य का संकेत मिलता है कि इसके (चार) अध्याय चार उपनिषद् समझे जाते हैं। इस मान्यता को स्वीकार करने की अधिक सम्भावना है कि इसका लेखक उन गौडपाद से अभिन्न था जो कि गोविन्द के गुरु थे—जिन गोविन्द के शिष्य वेदान्त के महान् भाष्यकार शंकर (८०० ई०) थे। शंकर का दृष्टिकोण तत्त्वतः वही है जो कारिका कार का दृष्टिकोण है और बहुत से विचार एवं रूप जो प्रारम्भिक रचना में दर्शन देना प्रारम्भ कर देते हैं शङ्कर की टीकाओं में वे सामान्य प्रयोग का विषय हैं। वास्तव में यह कहा जा सकता है कि शङ्कर ने गौडपाद के सिद्धान्तों को संक्षिप्त कर एक व्यवस्था का रूप दे दिया जैसे प्लेटो ने परमाइड के सिद्धान्तों के विषय में किया था। वास्तव में दो अग्रणी विचार जो भारतीय कविता को आवृत्त किए हैं वे हैं—जगत् में द्वित्व नहीं है (अद्वैत) और जगत् की उत्पत्ति नहीं हुई है (अजाति) जैसा कि प्रो० ड्यूशन लक्षित करते हैं ये दोनों विचार ग्रीक दार्शनिकों के विचारों से एकरूप हैं।

कारिका का पहला भाग व्यावहारिक रूप में माण्डूक्य उपनिषद् का छन्दोबद्ध ८ शब्दान्तर विपरिणाम (अनुवाद) ही है। इसकी विचित्र बात यह

वक्तव्य है कि यह जगत् किसी अर्थ में एक भ्रम या विकास नहीं है किन्तु ब्रह्म की बिल्कुल प्रकृति या सार तत्त्व (स्वभाव) ही हैं जैसे किरणें सभी एक जैसी (प्रकाश रूप) हैं वे सूर्य से भिन्न नहीं हैं। कविता (कारिका) का शेषभाग उपनिषद् से स्वतन्त्र है और उसके सिद्धान्त से बहुत आगे निकल जाता है। दूसरे भाग का विशेष शीर्षक है वैतथ्य या (जगत् के) वास्तविक होने के सिद्धान्त की असत्यता। ठीक उसी प्रकार जैसे रस्सी अंधेरे में भ्रमवश सर्प समझ ली जाती है उसी प्रकार आत्मा के विषय में अज्ञान के अन्धकार में विश्व की मिथ्या धारणा बन जाती है। आत्मा को अनुभव के अन्तर्गत समझने की प्रत्येक चेष्टा व्यर्थ है क्योंकि इसके विषय में प्रत्येक का विचार अपने सांसारिक अनुभव पर आधारित रहता है।

तीसरे भाग का शीर्षक है अद्वैत "द्वित्व का न होना"। सर्वप्रधान आत्मा (ब्रह्म) का व्यक्तिगत आत्मा (जीवात्मा) के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया है। आकाश और घट में स्थित उसके भाग (घटाकाश और मठाकाश)[1] की तुलना द्वारा इसका उदाहरण दिया गया है। उत्पत्तिवाद और अनेकतावाद के प्रतिकूल तर्क करते हुए कवि यह सिद्धान्त प्रस्तुत करता है कि कुछ भी अपने ही स्वरूप से भिन्न नहीं हो सकता। जो विद्यमान है उसका जन्म (सतो जन्म) असम्भव है क्योंकि उससे तो वही पैदा होगा जो पहले से ही वर्तमान है। जो नहीं विद्यमान है उसका भी जन्म (असतो जन्म) असम्भव है क्योंकि अविद्यमान कभी उससे अधिक उत्पन्न नहीं होता जितना कि किसी वन्ध्या स्त्री के पुत्र का जन्म। अन्तिम भाग का शीर्षक है—अलात शान्ति अर्थात् अग्निचक्र का बुझना। यह इसलिए कहा गया है कि जगत् में जो अनेकरूपता दिखलाई पड़ती है या जो कारणवाद प्रतीत होता है उसकी तुलना निपुणता पूर्वक की गई है। यदि एक लकड़ी के एक सिरे पर आग जला दी जाए और उसे चारों ओर घुमाया जाए तो आग का एक घेरा बन जाता है जबकि कोई चीज उसमें जोड़ी नहीं जाती या एकमात्र जलते स्थान से कोई चीज निकलती नहीं। आग की रेखा या घेरा केवल चेतना (विज्ञान) में वर्तमान रहता है। उसी प्रकार विश्व के अनेक दृश्य भी चेतना की केवल चिनगारियाँ हैं; चेतना केवल एक है।

---

१. व्यापक ब्रह्म विस्तृत आकाश के समान है और जीवात्मा के रूप में विद्यमान ब्रह्म घट के अन्दर वर्तमान आकाश के समान है।

अध्याय-९

सूत्र

(लगभग ५०० से २०० ई० पू०)

कल्पसूत्र

जिस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों के विचारात्मक पक्ष का एक विकास उपनिषद थे और वे वैदिक मतों की पाठ्य पुस्तकों का स्थान लेते थे उसी प्रकार श्रौत सूत्र उनके याज्ञिक पक्ष की निरन्तरता बनाए हुए हैं यद्यपि वे उपनिषदों के समान परमात्मा की स्वयं प्रकाशित श्रुति का भाग नहीं माने जाते। उनको कभी पवित्रता का स्वरूप प्रदान नहीं किया गया; सम्भवत: उसका कारण यह था कि उनको एक ऐसे निवन्ध के रूप में माना जाता था जिनका संकलन ब्राह्मण ग्रन्थों की विषय वस्तु से मौखिक पौरोहित्य परम्परा से किया गया था और जिसका एकमात्र उद्देश्य प्रायोगिक आवश्यकता को पूरा करना था। उनमें सबसे पुराना उस समय पीछे तक जाता हुआ प्रतीत होता है जब बौद्ध धर्म सत्ता में आया था। वस्तुतः यह सर्वथा संभव प्रतीत होता है कि विरोधी धर्म के उदय ने ब्राह्मण ग्रन्थों की पूजा पद्धति के लिए व्यवस्थित लघु पुस्तकों की रचना का प्रथम प्रोत्साहन दिया हो। बौद्ध लोग अपने अवसर पर धार्मिक सिद्धान्तों के प्रकथन के लिए उपयोग में लाने के निमित्त सूत्रों में निवन्ध रचना को सर्वोत्तम पद्धति मानने लगे होंगे। क्योंकि सर्वप्राचीन पाली पाठ्य ग्रन्थ इसी स्वरूप की रचनायें हैं। शब्द 'कल्प सूत्र' ऐसे धर्म से सम्बन्धित सूत्रों के सम्पूर्ण कलेवर के लिए प्रयुक्त होता है जो धर्म किसी विशिष्ट वैदिक शाखा से जुड़ा हुआ था। जहाँ इस प्रकार का सम्पूर्ण संग्रह सुरक्षित रखा जा सका है उसी शाखा का कल्पसूत्र (इस प्रकार के साहित्य का) सर्वप्राचीन और सर्वाधिक विस्तृत भाग है।

श्रौतसूत्र

ऋग्वेद के श्रौत सूत्र ग्रन्थ दो लघु पुस्तिकाओं (चरणों) से संबद्ध हैं— शाङ्खायन और आश्वलायन जिनमें शाङ्खायन वाद में उत्तर गुजरात में स्थिर हो गया और आश्वलायन गोदावरी और कृष्णा के मध्य में दक्षिश भारत में स्थिर हुआ। अधिकतर दोनों ही एक ही क्रम से यज्ञ का वर्णन करते हैं। किन्तु बड़े राजकीय यज्ञों का शाङ्खायन श्रौत-सूत्र में कहीं अधिक विस्तार से वर्णन किया गया है। शाङ्खायन श्रौत सूत्र शाङ्खायन ब्राह्मण से अत्यधिक निकटता के साथ सम्बद्ध है और दोनों में प्राचीनतर प्रतीत होता है। यह बात वस्तुतत्त्व और शैली दोनों दृष्टियों से सिद्ध होती है; ये दोनों (वस्तु

और शिल्प) अनेक भागों में ब्राह्मण ग्रन्थों से मेल खाते हैं। इसमें १८ अध्याय हैं जिनमें अन्तिम दो बाद में जोड़े गए और कौशतकी आरण्यक के प्रथम दो अध्यायों से मेल खाते हैं। आश्वालायन के श्रौतसूत्र में १२ अध्याय हैं यह ऐतरेय ब्राह्मण से सम्बन्धित है। आश्वालायन ऐतरेय आरण्यक के चौथे काण्ड के रचयिता भी माने जाते हैं और परम्परा के अनुसार वे शौनक के शिष्य थे।

सामवेद के तीन श्रौतसूत्र सुरक्षित रखे जा सके हैं। इनमें सबसे पुराना मशक सूत्र है जिसे आर्षेय कल्प भी कहा जाता है। यह इससे अधिक और कुछ नहीं हैं कि इसमें पञ्चविंश ब्राह्मण की क्रम व्यवस्था के अनुसार सोम-याग के विभिन्न क्रियाकलापों से सम्बन्ध रखने वाले प्रार्थना मन्त्रों का केवल परिगणन कर दिया गया है। लाट्यायन द्वारा रचित श्रौतसूत्र कौथुमशाखा का एक स्वीकृत ग्रन्थ (गुटका) मान लिया गया। यह सूत्र मशक के समान पंचविंश ब्राह्मण के साथ निकट रूप में सम्बन्धित है। इसमें मशक सूत्र से उद्धरण भी दिए गए हैं। द्राह्यायनों का श्रौतसूत्र जो लाट्यायनों से बहुत कम भिन्न है सामवेद की राणायणीय शाखा से सम्बन्ध रखता है।

शुक्ल यजुर्वेद का सम्बन्ध कात्यायन श्रौतसूत्र से है। यह गुटका, जिसमें २६ अध्याय हैं, समग्र दृष्टि से शतपथ ब्राह्मण की यज्ञ व्यवस्था का अशिथिल रूप में अनुसरण करता है। हाँ यह अवश्य है कि इसके तीन अध्याय (२२ से २४ तक) सामवेद के विधि-विधानों का वर्णन करते हैं। इसकी शैली के दुर्ज्ञेय स्वरूप के कारण यह सूत्रकाल की बाद की रचनाओं में एक प्रतीत होती है।

कृष्ण यजुर्वेद से सम्बन्धित श्रौत सूत्र जो सुरक्षित रेखे गए हैं उनकी संख्या ६ से कम नहीं है, किन्तु उनमें अब तक केवल दो प्रकाशित हो सके हैं। इनमें चार बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाले वर्ग का निर्माण करते हैं कारण यह है कि ये तैत्तिरीय शाखा की चार उपशाखाओं के कल्पसूत्रों का अंग हैं जिन्होंने बाद के सूत्र सम्प्रदाय (चरणों) का प्रतिनिधित्व किया जो वेद या ब्राह्मण के समान विशिष्ट ईश्वरीय ज्ञान का उन्मेष होने का दावा नहीं करते। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र तीस अध्यायों (प्रश्नों) में प्रथम चौबीस का कलेवर बनाता है; उन तीस अध्यायों में जिनमें उन्हीं (आपस्तम्ब) के कल्पसूत्र का विभाजन हुआ था। आपस्तम्ब कल्पसूत्र के अध्यायों को प्रश्न कहा जाता है। हिरण्यकेशी का श्रौतसूत्र भी उनके कल्पसूत्र के २९ अध्यायों में प्रथम १८ अध्यायों का निर्माण करता है। हिरण्यकेशी का कल्पसूत्र भी आपस्तम्ब से फूटे हुए अंकुर की एक उपशाखा है। बौधायन का सूत्रग्रन्थ जो कि

आपस्तम्ब से पुराना है और उसी प्रकार भारद्वाज का भी श्रौतसूत्र अब तक प्रकाशित नहीं हुए हैं।

मैत्रायणी संहिता से जुड़ा हुआ मानव श्रौतसूत्र है; इसका सम्बन्ध मानवों से है जो कि मैत्रायणीय के उपविभाग थे और जिनमें सम्भवतः मनु की धर्म-पुस्तक अपने उद्गम का अनुसन्धान करती है। यह सर्वाधिक प्राचीन श्रौतसूत्रों में एक मालूम पड़ता है। इसका स्वरूप वर्णनात्मक है जो कि यजुर्वेद के ब्राह्मण भागों से मिलता-जुलता है और सामान्य रूप से केवल यज्ञ विधि के वर्णन करने के कारण उनसे भिन्न है तथा पौराणिक आख्यानों विचारों और किसी भी प्रकार के विवादों को बचाने में भी इसका विभेद है। कृष्ण यजुर्वेद से जुड़ा हुआ एक वैखानस श्रौतसूत्र भी है किन्तु इसका पता कुछ पाण्डुलिपियों में ही चलता है।

अथर्ववेद के श्रौतसूत्र

अथर्ववेद का श्रौतसूत्र है वैतानसूत्र; न तो यह पुराना है और न मौलिक। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अथर्ववेद को दूसरे वेदों के समान अपने स्वयं के श्रौतसूत्र से सम्पन्न करने के ही उद्देश्य से इसका संकलन किया गया था। सम्भवतः इसने अपना नाम उस शब्द से ग्रहण किया जिससे इसका प्रारम्भ हुआ था; क्योंकि वैतान (जिसका सम्बन्ध तीन याज्ञिक अग्नियों से है) समान रूप से सभी श्रौतसूत्रों पर लागू होता है। अत्यधिक सीमा तक यह गोपथ ब्राह्मण से सहमत है यद्यपि यह स्पष्ट रूप में शुक्ल यजुर्वेद के कात्यायन सूत्र का अनुसरण करता है। इसके परवर्ती होने का एक संकेत इस बात से मिलता है कि जबकि दूसरे मामलों में एक गृह्यसूत्र नियमित रूप से सम्बद्ध श्रौतसूत्र को प्राग्वर्ती मानता है जबकि वैतान अथर्ववेद के गृह्यसूत्र पर निर्भर है।

यद्यपि श्रौतसूत्र याज्ञिक विधियों को ठीक रूप में समझने के लिए अपरिहार्य हैं किन्तु वे किसी दूसरे दृष्टिकोण से साहित्य का अत्यधिक अनाकर्षक स्वरूप है। इसलिए जिन विधि विधानों का वे वर्णन करते हैं उनका सर्वाधिक संक्षिप्त रूपरेखा में उल्लेख करना पर्याप्त होगा। सर्वप्रथम तो यह याद रखना आवश्यक है कि ये विधान कभी भी सामाजिक नहीं होते सर्वदा एकाकी

---

१. इसमें केवल यज्ञविधि का वर्णन किया गया है और पौराणिक आख्यानों, विचारों और विवादों को बचाने की चेष्टा की गई है। यह प्रवृत्ति यजुर्वेद के ब्राह्मणग्रन्थों में नहीं मिलती। यही इन दोनों में भेद है।

व्यक्ति की ओर से सम्पन्न किए जाते हैं जो तथाकथित यजमान या यज्ञ करने वाला होता है जो उन विधानों में बहुत कम भाग लेता है। प्रतिनिधि ब्राह्मण पुरोहित होते हैं जिनकी संख्या यज्ञकर्म की आवश्यकता के अनुसार चार से १६ तक भिन्न भिन्न हो सकती है। इन समस्त विधि विधानों में महत्त्वपूर्ण भाग तीन पवित्र अग्नियों द्वारा लिया जाता है जो वेदी को घेरे रहती हैं। वेदी कुछ खोदी हुई भूमि होती है जो घास की तृण शय्या से ढक दी जाती है जिसमें देवताओं को प्रदेय वस्तु ग्रहण की जा सके। सभी यज्ञों की पहली विधि होती है पवित्र अग्नि की स्थापना (अग्न्याधान) जो यजमान और उसकी पत्नी द्वारा अग्निकाष्ठों (समिधाओं) द्वारा प्रज्वलित की जाती है और इसलिए उसे नियमित रूप से स्थायी रखा जाता है।

श्रौत विधियों की संख्या १४ है जिनको दो मुख्य समूहों में बांटा जाता है जिनमें सात हवि के यज्ञ और ७ सोम यज्ञ होते हैं। प्रत्येक समूह के साथ विभिन्न स्वरूप के पशुयागों को भी सम्मिलित किया जाता है। हविर्याग के प्रदान में दूध (खीर), घी, हल्वा, अन्न, पूड़ी तथा और बहुत सी वस्तुयें सम्मिलित रहती हैं। अग्निहोत्र सबसे अधिक सामान्य यज्ञ होता है जिसमें प्रातः और सायम् तीन अग्नियों को दूध की बनी वस्तुओं की आहुति दी जाती है। दूसरों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यज्ञ हैं नये तथा पूर्ण चन्द्रमा के यज्ञ (दर्श पूर्णमास) और वे जो तीनों ऋतुओं के प्रारम्भ में किए जाते हैं (चातुर्मास्य)। वार-बार होने वाले कुछ दूसरे यज्ञों के अतिरिक्त बहुत से ऐसे भी हैं जिनका प्रदान किसी विशेष अवसर पर किया जाता है अथवा किसी विशिष्ट उद्देश्य की सिद्धि के लिए भी किया जाता है।

विभिन्न प्रकार के सोमयाग कहीं अधिक जटिल थे। सबसे साधारण और मूलभूत स्वरूप के अग्निष्टोम (अग्नि की प्रशंसा) को भी १६ पुरोहितों के साचिव्य (मन्त्रणा) की आवश्यकता पड़ती थी। इसमें केवल एक दिन लगता था जिसमें सोम का पेषण तीन बार होता था—प्रातःकाल, मध्याह्न में और सायंकाल में। किन्तु इस दिन से पहले वाला दिन अत्यन्त विस्तृत तैयारी की विधियों का होता था। जिसमें एक विधि थी यजमान और उसकी पत्नी का यज्ञ में प्रवेश (दीक्षा) लेना। दूसरे सोमयाग कई दिन १२ दिन तक चलते थे। दूसरे प्रकार के यज्ञ जिन्हें सत्र (कालावधि) कहा जाता था एक वर्ष या उससे अधिक चलते थे।

एक बहुत ही पवित्र यज्ञविधि, जिसे सोमयाग से जोड़ा जा सकता है अग्निचयन या 'अग्निसञ्चय करना' है जो एक साल तक चलती थी। इसका प्रारम्भ ५ पशुओं की बलि से होता है। तब मृत्तिका पात्र के तैयार करने में

बहुत समय लग जाता था जिसे (मृत्तिका पात्र को) उखा कहते हैं जिसमें एक वर्ष तक अग्नि को सुरक्षित रखा जाता है। दोनों के लिए अतिश्रमसाध्य नियम दिए गए हैं। घटक द्रव्यों के लिए भी जैसे कृष्ण मृग के बाल जिनको मिट्टी के साथ मिलाया जाता है और इसके लिए भी कि उनको स्वरूप किस प्रकार दिया जाए और अन्त में जलाया जाए। तब निर्धारित व्यवस्था के अनुसार ईंटे बनानी पड़ती हैं जिनके आकार और परिमाण भिन्न प्रकार के तथा विशिष्ट पद्धति के होते हैं। वेदी ५ स्तरों की होती हैं जिनमें सबसे निचले स्तर में १९५० ईंटें और उन सबको मिलाकर जोड़कर १०८०० ईंटें लगनी चाहिए। उन (ईंटों) में बहुतों का अपना विशिष्ट नाम होता है और अपनी स्वतन्त्र सार्थकता होती है। इस प्रकार वेदी धीरे-धीरे बनाई जाती है क्योंकि इसकी ईंटें निर्धारित स्थिति में रखी जाती हैं जिनके साथ ठीक विधियों और मन्त्रों का समावेश रहता है जिनका निर्वाह भयजनक पुरोहितों के व्यूह द्वारा किया जाता है। प्रयोग विधि के ये कुछ प्रधान तत्त्व हैं। किन्तु ये सम्भवतः बहुत बढ़ी-चढ़ी जटिलता और विस्तार की बहुत बड़ी राशि का कुछ धुंधला सा विवेक प्रदान कर सकेंगे जिसमें सबसे छोटे अणुमात्र की भी ब्राह्मण विधियों में महत्ता है। किसी दूसरे धर्म ने इसकी समानता को कभी नहीं जाना।

गृह्य सूत्र

क्योंकि घरेलू विधि विधानों को लगभग पूर्णरूप से ब्राह्मण ग्रन्थों के क्षेत्र से बाह्य कर दिया गया, जब गृह्य सूत्रों के लेखकों ने दैनिक जीवन में अनुपालनीय पद्धतियों को व्यवस्थित किया तब उनके पास विश्वास करने के लिए लोक प्रतिष्ठित परम्परा का ही एकमात्र अधिकृत प्रमाण था। अपने स्वरूपगत लक्षण रूप में गृह्यसूत्र के गुटके श्रौतसूत्र की अपेक्षा कुछ बाद के होने चाहिए, क्योंकि वे नियमित रूप से श्रौतसूत्रों के ज्ञान को प्राग्वर्ती मान कर चलते हैं।

ऋग्वेद से सम्बन्धित गृह्यसूत्रों में पहले स्थान पर शाङ्खायन का गृह्यसूत्र आता है। इसमें ६ अध्याय हैं, किन्तु केवल प्रथम चार ही पुस्तक के मौलिक भाग का निर्माण करते हैं और इनमें भी प्रक्षिप्त अंश विद्यमान हैं। इस रचना से निकट रूप में सम्बद्ध शाम्बव्य गृह्यसूत्र है जिसका सम्बन्ध कौशीतकियों की शाखा से भी है यह अब तक केवल पाण्डुलिपि में जानी जाती है। यद्यपि इसमें विषयवस्तु का उपादान अत्यधिक रूप में शाङ्खायन से हुआ है; किन्तु यह उस रचना के साथ एक रूप नहीं है। वह रचना अन्तिम दो अध्यायों के

विषय में कुछ नहीं जानती, नहीं ही कुछ संख्यक विधि विधान भी इसे ज्ञात है जिनका उल्लेख तीसरे चौथे अध्यायों में किया गया है जबकि इसका अपना एक पृथक् अध्याय है जिसका सम्बन्ध पितृयज्ञ से है । ऐतरेय ब्राह्मण से सम्बद्ध आश्वलायन का गृह्यसूत्र है—इसके लेखक ने पहले सूत्र में जो हमें समझने के लिए दिया है वह यह है कि यह गृह्यसूत्र उनके श्रौतसूत्र का एक नैरन्तर्य है । इसमें चार अध्याय हैं और श्रौतसूत्र के समान यह भी इन शब्दों के साथ समाप्त होती है—'शौनक की आराधना' ।

सामवेद का मुख्य गृह्य सूत्र है गोभिल गृह्य सूत्र जो इस वर्ग की रचनाओं के अन्तर्गत सबसे अधिक प्राचीन, सबसे अधिक परिपूर्ण और सबसे अधिक मनोरंजक कृतियों में एक है । प्रतीत होता है कि अपने वेद की दोनों शाखाओं द्वारा इसका उपयोग किया गया । सामवेद के मूलपाठ के अतिरिक्त यह मन्त्र ब्राह्मण को भी प्राग्वर्ती मानता है । मन्त्रब्राह्मण यज्ञ क्रम के अनुसार मन्त्रों का एक संग्रह ग्रन्थ है जिसमें (उन मन्त्रों को छोड़कर जो स्वयं सामवेद में आये हैं) उन मन्त्रों का संग्रह है जिन्हें गोभिल ने संक्षिप्तीकृत (संकेत) रूप में उद्धृत किया है । खादिर का गृह्यसूत्र जो द्राह्यायण शाखा से सम्बन्ध रखता है और जिसका उपयोग सामवेद की राणायनीय शाखा ने किया वह अधिक संक्षिप्त स्वरूप में गोभिल के फिर से ढाले हुए संस्करण से अधिक कुछ नहीं है ।

शुक्ल यजुर्वेद का गृह्यसूत्र पारस्कर गृह्यसूत्र है जिसे कातीय वा वाजसनेय गृह्यसूत्र भी कहा जाता है । यह कात्यायन के श्रौतसूत्र से इतना अधिक निकट रूप में संवद्ध है कि उस लेखक के नाम पर इसके उद्धरण प्रायः दिये जाते हैं । याज्ञवल्क्य की बाद में रची गई धर्म पुस्तक (याज्ञवल्क्य स्मृति) पराशर की रचना के प्रभाव का प्रमाण धारण करती है ।

कृष्ण यजुर्वेद के सात गृह्यसूत्रों में अब तक केवल तीन ही प्रकाशित हुए हैं । आपस्तम्ब का गृह्यसूत्र उनके कल्पसूत्र के दो अध्यायों (२६ और २७) का निर्माण करता हैं । इन दोनों अध्यायों में पहला मन्त्र पाठ है जोकि प्रयोगविधि के साथ उनके सिद्धान्तों (सूत्रों) का संग्रह है । सम्पूर्ण रूप से सच्चे अर्थ में द्वितीय अध्याय ही गृह्यसूत्र हैं जो मन्त्रपाठ को पूर्ववर्ती मानता है । हिरण्यकेशी के कल्पसूत्र के खण्ड १९ और २० को लेकर उनके गृह्यसूत्र की रचना हुई है । बोधायन के गृह्यसूत्र के विषय में अधिक ज्ञात नहीं है और उससे भी कम भारद्वाज के गृह्यसूत्र के विषय में ज्ञात है । मानव गृह्यसूत्र श्रौतसूत्र के साथ निकटता से सम्बन्धित है जिसमें श्रौतसूत्र के अनेक वक्तव्यों को शब्दशः उद्धत किया गया है । क्योंकि इसमें विनायक की पूजा के विधानो का

वर्णन सम्मिलित है जो अन्य गृह्यसूत्रों के लिए अपरिचित हैं, इसलिए यह मनोरंजक रचना है। यह खण्ड याज्ञवल्क्य की धर्मपुस्तक के पद्यात्मक स्वरूप में पुनः दृष्टिगत होता है जिसमें चार विनायकों को एक विनायक में अन्तरित कर दिया गया है। मानव गृह्यसूत्र के साथ काठक गृह्यसूत्र का स्पष्ट सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध केवल रचनाक्रम के व्यवस्थापन में ही नहीं है किन्तु अनेक अनुच्छेदों में शब्दप्रयोग में भी यह सम्बन्ध विद्यमान है। यह विष्णुस्मृति से निकटता के साथ सम्बन्धित है। वैखानस गृह्यसूत्र एक विशाल ग्रन्थ है जो बाद में रचित होने के चिन्ह धारण किए हुए है और आंशिक रूप में ऐसे विषयों का भी विवेचन करता है जो अन्यथा परिशिष्ट स्वरूप की कृतियों के लिए विन्यस्त (सुरक्षित) कर दिये गये हैं।

अथर्ववेद से महत्त्वपूर्ण कौशिक सूत्र का सम्बन्ध है। यह केवल गृहसूत्र ही नहीं है क्योंकि घरेलू यज्ञों के अधिक महत्त्वपूर्ण नियमों को देने के अतिरिक्त इसमें मन्त्र-तन्त्र जादू टोना तथा दूसरे भी अभ्यासों का वर्णन किया गया है विशेष रूप से उन अभ्यासों का जिनका उसके अपने वेद से सम्बन्ध है। यह इन विषयों के विषय में विस्तृत सन्दर्भों के द्वारा सामग्री अधिक मात्रा में प्रदान करता है जो दूसरी वैदिक शाखाओं के लिए अपरिचित हैं। यह एक समष्टिगत रचना है जो स्पष्ट रूप में चार या पांच कृतियों को मिलाकर बनाई गई है। अथर्ववेद के साथ मिलकर यह वैदिक भारतीयों के सामान्य जीवन का लगभग पूर्ण चित्र प्रस्तुत करती है।

गृह्यसूत्रों का प्रतिपाद्य विषय

गृह्यसूत्र उन अधिसंख्य विधियों के नियमों को बतलाते हैं जो मनुष्य और उसके परिवार के गृहस्थ जीवन में जन्म से मृत्यु पर्यन्त लागू होते हैं। उन यज्ञों के कार्यान्वित करने के लिए केवल गृह्य (आवसथ्य या वैवाहिक) अग्नि ही प्रयोजनीय होती थी जिसका वैषम्य श्रौतसूत्र की यज्ञपरक तीन अग्नियों से है। उनमें ४० धार्मिक विधानों या संस्कारों का वर्णन है जो विभिन्न आवश्यक अवसरों पर मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में सम्पन्न किये जाते हैं। पहले १८ संस्कार गर्भाधान से विवाह तक बिखरे हुए रहते थे जिन्हें शारीरिक संस्कार कहा जाता था। शेष २२ यज्ञविधियां हैं। इनमें ८ गृह्य यागों की श्रेणी के एक भाग के रूप में आती है जिनमें ५ दैनिक यज्ञ (महायज्ञ) और कुछ अन्य पाक यज्ञ हैं। शेष संस्कार श्रौत यज्ञों के अन्तर्गत आते हैं।

संस्कारों में पहला पुंसवन या पुत्र सन्तान प्राप्ति के उद्देश्य से किया जाने वाला संस्कार है। सर्वाधिक सामान्य साधन बतलाया गया है वट वृक्ष के पिसे

हुए अंकुर (के रस) का पत्नी के दाहिने नथुने में टपकाना। जन्मकालीन संस्कार (जातकर्म) संस्कार के बाद बच्चे को नाम देने (नामकरण) का संस्कार जन्म के प्राय: १० दिन बाद होता है। दो नाम रखे जाते हैं—उनमें एक गुप्त नाम होता है जिसे केवल माता-पिता जानते हैं जो अभिचार क्रिया से छुटकारा देने के मन्तव्य से रखा जाता है, दूसरा नाम सामान्य उपयोग के लिए होता है। नाम की विशेषता के लिए सूक्ष्म निर्देश दिये गये हैं। उदाहरण के लिए अक्षरों की संख्या सम (दो से कटने वाली) होनी चाहिए, प्रारम्भ को कोमल (घोष) वर्ण और मध्य में अर्धस्वर (अन्त:स्थ) होने चाहिए। ब्राह्मण के नाम के अन्त में शर्मन् (शर्मा) क्षत्रिय के नाम के अन्त में वर्मन् (वर्मा) और वैश्य के नाम के अन्त में गुप्त शब्द का प्रयोग होना चाहिए। सामान्यत: तीसरे वर्ष बाल मूंडने (चूडाकरण) का संस्कार होता है जबकि बच्चे के बाल काट दिये जाते हैं, एक या अधिक बालों का गुच्छा (शिखा) ऊपर को छोड़ दिया जाता है जिससे कि उसके बाल उसके परिवार में प्रचलित फैशन के अनुसार धारण किये जा सकें। १६वें वर्ष में दाढ़ी बनवाने की विधि का सम्पादन किया जाता है। इस संस्कार का नाम है गोदान अर्थात् गाय की भेंट। यह भेंट प्राय: शुल्क के अन्तर्गत पशुओं के जोड़े के रूप में देय हो जाती है।

बाल्यकाल का कहीं अधिक बढ़ा-चढ़ा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संस्कार है एक शिक्षक के पास शिक्षार्थी होना या दीक्षा में प्रवेश (उपनयन) जो ब्राह्मण के विषय में ८ से १६ वर्ष के मध्य में होना चाहिए, किन्तु क्षत्रिय और वैश्य के विषय में कुछ वर्ष बाद (हो सकता है)। इस अवसर पर एक युवक—एक दण्ड, एक वस्त्र, एक मेखला (कमरबन्द) और एक डोरी (यज्ञोपवीत) प्राप्त करता है जिसे वह एक कन्धे (बायें कन्धे) पर पहनता है और दूसरी बांह के नीचे लटकता रहता है। दण्ड विभिन्न लकड़ियों का बनाया जाता है, अन्य वस्तुयें (भी) जाति के अनुसार विभिन्न सामग्रियों से बनाई जाती हैं। पवित्र सूत्र आर्य अथवा सबसे बड़ी तीन जातियों में किसी भी सदस्य का एक बाहरी चिह्न है और इसके साथ संस्कार के द्वारा वह दूसरा जन्म प्राप्त कर लेता है क्योंकि उसके बाद 'दो बार जन्मा' एक व्यक्ति (द्विज) हो जाता है। इस प्रवर्तनपरक संस्कार का आध्यात्मिक महत्त्व यह है कि वह वेदाध्ययन का अधिकार प्राप्त कर लेता है और विशेष रूप से सर्वाधिक पवित्र प्रार्थना (मन्त्र) अर्थात् सावित्री (गायित्री) को पढ़ने (जपने) का अधिकारी हो जाता है। इस संस्कार में जो शिक्षक (आचार्य) युवा ब्राह्मण को प्रवर्तित करता है वह आध्यात्मिक पिता और सावित्री उसकी माता मानी जाती है।

उपनयन के रीतिरिवाज का भारत में अब भी प्रयोग किया जाता है। यह बहुत पुरानी प्रथा पर आधारित है। अवेस्ता की १५ वर्ष के लड़के की जोरोष्ट्रियन जाति में प्रवेश देने के अवसर पर पवित्र डोरी देने का संस्कार प्रकट करता है कि यह प्रथा भारत यूनानी युग पूर्व तक जाती है। समस्त विश्व में आदिम जातियों के अन्दर प्रचलित प्रवर्तन का रिवाज, जिसमें वयस्कता प्राप्ति के अवसर पर दूसरा जन्म माना जाता है, सूचित करता है कि यह प्रथा और भी पुरानी थी जोकि ब्राह्मण व्यवस्था में वेदों के अध्ययन के लिए प्रवेश की प्रथा में स्थानान्तरित (परिवर्तित) कर दी गई।

अध्ययन के अतिरिक्त, जिसका मार्ग विस्तृत नियमों द्वारा नियमित कर दिया जाता है। शिष्य के निरन्तर चलने वाले कर्तव्य हैं—ईंधन (समिधाओं) का चयन करना, प्रातः और सायं सन्ध्या काल में उपासना की क्रियाविधि को पूरा करना, भोजन के लिए भिक्षा, पृथिवी पर सोना (ब्रह्मचर्य) और आचार्य की आज्ञा का पालन करना।

धार्मिक छात्रत्व (ब्रह्मचर्य) बारह वर्ष पर्यन्त चलता है। उसकी समाप्ति पर अथवा उस समय की समाप्ति पर जबकि शिष्य वेदों पर अधिकार प्राप्त कर लेता था (उनका पारंगत बन जाता था) वह लौटने (समावर्तन) की विधि को सम्पादित करता है जिसमें प्रधान होता है स्नान जिसमें वह प्रतीकात्मक रूप में अपने प्रशिक्षण काल को धोकर बहा देता है। अब वह स्नातक बन जाता है (जिसने स्नान कर लिया है) और वह अपने जीवन के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संस्कार विवाह की ओर शीघ्र ही बढ़ता है। इस संस्कार का मूल तत्व भारत यूरोपीय काल तक पीछे की ओर जाता है और याज्ञिक सम्प्रदाय की अपेक्षा माया (जादू टोना) से इसका सम्बन्ध अधिक है। उसका हाथ पकड़ कर वधू को उसके पति की शक्ति में (अधिकार में) दे दिया जाता है। जिस पत्थर पर उसने पैर रखा वह उसे दृढ़ता और स्थैर्य प्रदान करने वाला था। जो सात कदम वह अपने पति के साथ लेती थी और जो यागिक भोजन वह सहभागी होकर पति के साथ ग्रहण करती थी वे मित्रता और वंश की एकता का सूत्रपात करने वाले थे। जब वह अपने पति के घर को ले जाई जाती थी और लाल बैल के चर्म के आसन पर उसे बैठाया जाता था और उसकी गोद में ऐसी स्त्री का बच्चा दिया जाता था जिसने केवल पुत्र सन्तान ही पैदा की हो और वे सब जीवित हों तब उसे भविष्य में अधिक सम्पन्नता और पुरुष सन्तान की पूर्व सूचना (शकुन) माना जाता था। इस विधि में जिस देवता का सर्वाधिक निकट सम्बन्ध था वह था अग्निदेव। क्योंकि पति अपनी

पत्नी को वैवाहिक अग्नि की तीन परिक्रमा करवाता था जिससे विवाह का संस्कृत नाम परिणय अर्थात् 'चारो ओर परिक्रमा' पड़ गया और नई प्रज्वलित की हुई गृह्य अग्नि जोड़े का सारे जीवन साहचर्य देने वाली होती थी। अग्नि को प्रदेय वस्तु (हवि) प्रदान की जाती है और वैदिक सिद्धान्त (मन्त्र) बोले जाते हैं। सूर्यास्त के बाद पति अपनी पत्नी को बाहर ले जाता है और जैसे ही वह ध्रुव तारा एवं अरुन्धती की ओर संकेत करता है वे एक दूसरे को सर्वदा के लिए निरन्तर निश्चल (सती पतिव्रता और पत्नीव्रत) बने रहने के लिए प्रोत्साहन करते हैं। वैवाहिक विधियों का अधिकाँश जिसका सूत्रों में वर्णन किया गया है, सुरक्षित है और अब तक आज के भारत में विस्तृत क्षेत्र में प्रचलित है।

ऊपर वर्णन किये हुए सभी संस्कार केवल पुरुषों के मतलब के हैं। केवल एक संस्कार ऐसा है जिसमें लड़की भी भाग लेती है और वह है विवाह। इनमें लगभग १२ संस्कारों का पालन अब तक भारत में होता है, उपनयन संस्कार अब तक विवाह के बाद सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना है। कतिपय विधियां अब केवल प्रतीक रूप में जीवित हैं क्योंकि उनका सम्बन्ध धार्मिक छात्रत्व से है।

नये गृहस्थाश्रमी के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कर्तव्यों में एक है पांच बड़े यज्ञों (महायज्ञों) का वलिकर्म नियमित रूप में (नित्यकर्म के रूप में) करना जो ये हैं—(१) वेदों के प्रति यज्ञ या वेदों का सुनाया जाना—यह ब्रह्म यज्ञ है, (२) देवताओं के प्रति घी को अग्नि में अर्पित करना—(यह देव यज्ञ है।) (३) पितरों के लिए जलदान (तर्पण) यह पितृ यज्ञ है। (४) देवताओं तथा सब प्राणियों के लिए पृथ्वी पर विभिन्न स्थानों पर बलि (भोज्य वस्तु) को स्थापित करना (भूतवलि) और (५) मनुष्यों के प्रति यज्ञ (मनुष्य यज्ञ) जिसमें अतिथि सत्कार विशेष रूप से ब्राह्मण भिक्षुओं का सत्कार सम्मिलित है। पहला कहीं अधिक सबसे बड़ा कर्तव्य माना जाता है—विशेष रूप से प्रातः और सायं सन्ध्योपासन के समय गायत्री का सुनाना। यह कर्म इतना श्लाघ्य है जितना वेदों का अध्ययनन कर लेना। रूढ़िवादी ब्राह्मणों में ये सभी पञ्च महायज्ञ अब तक आंशिक रूप में प्रचलन में हैं।

और यज्ञ हैं जो नियत कालावधि में (समय-समय पर) किए जाते हैं। इस प्रकार के हैं नये और पूर्ण चन्द्रमा के यज्ञ (दर्शपूर्णमास यज्ञ) जिनमें गृह्य यज्ञों के अनुसार पके हुए भोजन का सम्प्रदान (पाकयज्ञ) किया जाता है। जबकि श्रौत विधि के अनुसार पूड़ी इत्यादि घृतपक्व भोजन (पुरोडाश) प्रदान किया जाता है। इनके अतिरिक्त और भी एक सम्प्रदान सर्पों के लिए (सर्प-

यज्ञ (सर्पेष्टि) किया जाता है जोकि वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में होता है जब उस समय के सर्पों से भय के कारण ऊंचा उठा हुआ बिस्तर (पलंग) प्रयोग के लिये शास्त्र विहित माना जाता है। अनेक विधियां नये मकान को बनाने और उसमें प्रवेश करने से सम्बन्ध रखती हैं। भूमि सन्निवेश (साइट) और उसी प्रकार निर्माण के विषय में विस्तृत नियम दिए गये हैं। उदाहरण के लिए पश्चिमाभिमुख द्वार का निषेध किया गया है। एक मकान के निर्माण कार्य समाप्त हो जाने पर जो कि लकड़ी और बांसों का बना होता है एक जानवर की बलि दी जाती है। दूसरी विधियां पशुओं से सम्बन्ध रखती है। उदाहरण के लिए अपनी जाति के उपयोग के निमित्त एक तरुण बैल (सांड) का छोड़ा जाना (वृषोत्सर्ग उनमें एक है), फिर कुछ कृषि सम्बन्धी विधियां हैं जैसे पहले पहल आए हुये फलों का दान (सस्येष्टि) और जोतने से सम्बन्धित विधियां। स्मारकों (चैत्यों) के प्रति बलिसमर्पण का भी उल्लेख किया गया है जो स्मारक गुरुजनों (ऋषियों) के संस्मरण के लिए बनाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त इस विषय में भी निर्देश दिए गये हैं कि दुःस्वप्नों, अपशकुनों और रोगों के विषय में क्या किया जाना चाहिए।

अन्त में सर्वाधिक मनोरंजक विषय जिसका गृह्य सूत्र वर्णन करते हैं वह है और्ध्वदेहिक क्रिया (अन्त्येष्टि) और पितरों की पूजा। दो वर्ष से कम उम्र के बच्चों को छोड़कर सभी का दाह कर्म किया जाता है। मृत व्यक्ति के बाल और दाढ़ी काटकर फेंक दी जाती है और उसके नाखून काटकर ठीक कर दिए जाते हैं, बालछड़ और जरामांसी से शरीर पर लेप कर दिया है और मृतक के सर पर माला रख दी जाती है। जलाये जाने के पहले शव को कृष्णसार के काले चमड़े पर लिटाया जाता है। क्षत्रिय शव के मामले में उसका धनुष उसके हाथ से ले लिया जाता है तोड़ दिया जाता है और चिता पर डाल दिया जाता है। (ब्राह्मण के हाथ से दण्ड और वैश्य के हाथ से अंकुश लिया जाता है) मृतक के साथ गाय और बकरे को भी जलाया जाता है। इसके बाद सात या दश पीढ़ियों में आने वाले सभी पारिवारिक लोग पवित्र करने वाला स्नान करते हैं। तब वे सब घास के मैदान में बैठते हैं और या तो पुरानी कथायें सुनते हैं या जीवन की क्षण भंगुरता का उपदेश सुनते हैं। यह तब तक चलता है जग नक्षत्र दिखलाई पड़ने लगते हैं। अन्त में बिना इधर-उधर देखे वे जुलूस में अपने घरों को लौटते हैं जहां विभिन्न प्रकार की विधियां पूरी की जाती हैं। किसी मृत्यु के अनुपद अशौच का समय आता है।

जो प्राय: तीन दिन तक रहता है जिसके मध्य में अन्य बातों के साथ सभी सम्बन्धियों से चाहा जाता है कि वे जमीन पर सोयें और मांसाहार से दूर रहें। मृत्यु के बाद रात्रि में मृतक को एक पिंड दिया जाता है और जल डाला जाता है (तर्पण किया जाता है) एक बर्तन में दूध और पानी मिलाकर खुली वायु में रख दिया जाता है और मृत व्यक्ति उसमें स्नान कराने के लिए बुलाया जाता है। प्राय: दसवें दिन के बाद हड्डियाँ एकत्र की जाती हैं, जिन्हें एक कलश में रख दिया जाता है और ऋग्वेद के इस मन्त्र (१०.१८.१०) के साथ भूमि में रख दिया जाता है—'उपसर्प मातरम् भूमिम्' अर्थात् 'पृथ्वी माता की ओर जाओ' इत्यादि।

आत्मा के विषय में समझा जाता है कि यह कुछ समय तक पितरों से अलग रहती है और प्रेतात्मा या भूत कहलाती है। श्राद्ध या 'श्रद्धा के साथ दिया हुआ दानपूजन सम्पादित किया जाता है जिसका (जिसका विशेष उद्देश्य यह (एकाकी आत्मा) होता है। (इस श्राद्ध को एकोद्दिष्ट कहा जाता है) और उसे इस स्थिति में प्रदान किया जाता है। इसमें विचार यह होता है कि यदि यह नहीं किया जाएगा तो यह लौट आएगा और सम्बन्धियों को अशान्त करेगा। एक वर्ष व्यतीत होने के पहले वह पितरों के घेरे में एक विशिष्ट विधि के साथ शामिल कर लिया जाता है; यह विधि उसे सपिण्ड (अर्थात् एक ही पिण्ड द्वारा जोड़ा हुआ) बना देता है। एक वर्ष या अधिक व्यतीत हो जाने के बाद दूसरी बढ़ी चढ़ी विधि (जिसे पितृमेध कहा जाता है) एक स्मारक को बनाने के सम्बन्ध में पूरी की जाती है। जबकि हड्डियां कलश से निकालकर किसी उपयुक्त स्थान पर गाड़ दी जाती हैं। इसके बाद भी पितरों के लिए अनेक उपहार कर्म (श्राद्ध कर्म) किए जाते हैं जो निश्चित समयों में होते हैं जैसे नवचन्द्र (पार्वण श्राद्ध) के दिन जबकि दूसरे श्राद्ध केवल समय समय पर किए जाते हैं और ऐच्छिक होते हैं। ये विधियाँ भारत में अब भी जीवन में महत्त्वपूर्ण भाग लेती हैं। बंगाल के सम्पन्न परिवार प्रथम श्राद्ध में ५००० से ६००० रुपए व्यय करते हैं।

इस समस्त गृह्य विधियों से श्रौत पद्धति के दो नियमित यज्ञों की पृथक् पहिचान की जा सकती है—एक पिण्डपितृ यज्ञ कहा जाता है जो नवचन्द्र यज्ञ से तत्काल पूर्व होता है और दूसरा तीसरे या चौथे महीने में होने वाले यज्ञ से सम्बन्ध रखता है।

पूर्वजों की पूजा विषयक पद्धति विशेष रूप से महाश्रमसाध्य विस्तृत पद्धति थी और उसका अपना विशेष साहित्य विकसित हो गया जो वैदिक

काल से मध्यकाल के विधि सम्बन्धी संग्रह ग्रन्थों तक फैला हुआ है। हेमाद्रि के श्राद्ध कल्प के बिब्लिओथेका इण्डिया के संस्करण में १७०० से अधिक पृष्ठ हैं।

गृह्यसूत्रों की प्राचीन भारतीय दैनिक गृहस्थ जीवन का चित्रण करने वाली अत्यधिक सामग्री का जितना अधिक सम्भव है उतनी संक्षिप्त रूपरेखा ऊपर प्रस्तुत की गई है। यह सच है कि सम्भवतः इस विषय में काफी कहा जा चुका है जो यह दिखलाता है उनमें मानवता के प्रति अभिरुचि अत्यधिक मात्रा में है और वे सभ्यता के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

धर्मसूत्र

स्मृति या परम्परा पर आधारित सूत्र साहित्य की दूसरी शाखा धर्मसूत्र है जो (सामयाचारिक) दैनिक जीवन के आचार व्यवहारों का वर्णन करते हैं। वे भारतीय विधि साहित्य की सर्वप्राचीन रचनायें हैं जो इसके धार्मिक पक्ष का पूर्ण रूप से और व्यावहारिक पक्ष का आंशिक और संक्षिप्त रूप से वर्णन करते हैं। यदि कठोर सच्चाई के साथ कहा जाए तो धर्म सूत्र शब्द विधि सूत्रों के उस संग्रह के लिए लागू होता है जो वेद की विशिष्ट शाखा से सम्बन्धित सूत्रों के कलेवर का एक अङ्ग हैं। इस अर्थ में केवल तीन सुरक्षित रखे गए हैं; वे सभी कृष्ण यजुर्वेद के तैत्तिरीय भाग से जुड़े हैं। किन्तु यह समझने के बहुत अच्छे कारण हैं कि इसी प्रकार की जो दूसरी रचनायें रखी गई हैं या जिनके विषय में ज्ञात है कि वे कभी विद्यमान थीं वे सब भी वेद की व्यक्तिगत शाखाओं से जुड़ी हुई थीं। धर्म पर सूत्र अत्यन्त प्रारम्भिक काल में रचे गए थे यह बात इस वास्तविकता से प्रकट होती है कि यास्क जिनका समय सूत्रकाल के प्रारम्भ के निकट है सूत्र शैली में विधि नियमों के उद्धरण देते है। वास्तव में जो अब तक वर्तमान हैं उन में एक दो का रचना काल पीछे की ओर इस समय के (यास्क के समय के) आस पास अवश्य जाता है।

जो धर्मसूत्र सर्वोत्तम रूप में सुरक्षित रखा जा सका है और साम्प्रदायिकों या आधुनिक सम्पादकों के प्रभाव से सर्वथा अछूता रहा है वह है आपस्तम्ब धर्मसूत्र। यह महान् आपस्तम्ब कल्प सूत्र के ३० अध्यायों में दो अध्यायों (२८-२९) के रूप में है—उस आपस्तम्ब कल्पसूत्र के जो उन सूत्रों का समूह रूप है जिनका सम्बन्ध यज्ञविधि के सम्पादन और तीन उच्च वर्णों के कर्तव्यों से हैं। यह प्रधान रूप से वैदिक विद्यार्थियों (ब्रह्मचारियों) और गृहस्थों के कर्तव्यों का वर्णन करता है जिसमें निषिद्ध भोजन, पवित्रता

सम्पादन और प्रायश्चित्त का समावेश होता है जबकि लौकिक पक्ष में यह केवल विवाह के नियमों, और उत्तराधिकार और अपराधों का ही स्पर्श करता है। लेखक ने उत्तर (भारत) के लोगों के कतिपय व्यवहारों के विषय में जो असहमति प्रकट की है उससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उसका सम्बन्ध दक्षिण भारत से था, जहाँ के विषय में समझा जाता है कि परवर्ती काल में उनकी शाखा स्थिर हो गई थी। इसकी भाषा के पाणिनि पूर्व होने तथा दूसरे लक्षणों से बुलहर ने इस धर्म सूत्र का समय ईशा पूर्व ४०० के लगभग निश्चित किया है।

इस रचना से अत्यधिक घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित धर्मसूत्र हिरण्यकेशी का है क्योंकि दोनों का विभेद पाठभेद के आगे बहुत दूर तक नहीं जाता। इस पारस्परिक सम्बन्ध को दृष्टिगत रखते हुए यह परम्परा चल पड़ी है कि हिरण्यकेशी ने अपनी शाखा को आपस्तम्ब से अलग कर लिया और दक्षिण-पश्चिम (गोआ के आसपास) कोङ्कण प्रदेश में एक नई शाखा को जन्म दिया। आपस्तम्ब से पृथक्करण की निचली सीमा लगभग ई० सन् ५०० है जबकि एक शिलालेख में एक हिरण्यकेशी ब्राह्मण का उल्लेख किया गया है। इस सूत्र की प्रमुख महत्ता इस बात में सन्निहित है कि यह मूल पाठ की समरूपता के द्वारा आपस्तम्ब की रचना के कहीं अधिक विस्तृत और विशाल भाग की यथार्थरूपता को प्रमाणित करता है। हिरण्यकेशी की शाखा से सम्बन्ध रखने वाले कल्प सूत्र के २६ अध्यायों में दो अध्यायों (२६ और २७) से इस रचना का निर्माण हुआ है।

तीसरा धर्मसूत्र बोधायन का धर्मसूत्र है; जिसका पाण्डुलिपियों में प्रायः धर्मशास्त्र के रूप में अभिधान किया गया है। हाँ यह सच है कि अपनी शाखा के कल्प सूत्र के अन्तर्गत इसकी स्थिति इतनी अधिक निश्चित नहीं है जितनी प्रथम दो के विषय में स्थिर है। इसकी विषय वस्तु की जब आपस्तम्ब धर्म सूत्र की विषयवस्तु से तुलना की जाती है तब यह संकेत मिलता है कि दोनों में यह अधिक पुराना हैं; निश्चित कारण यह है कि बोधायन गृह्य सूत्र की आर्ष और भद्दी शैली बोधायन में गृह्य सूत्र को आपस्तम्ब की उसी विषय की रचना की अपेक्षा अधिक प्राचीन सिद्ध करती है। आज के समय में बोधायन की शाखा का पता नहीं चलाया जा सकता; किन्तु ऐसा मालूम पड़ता है कि इसका सम्बन्ध दक्षिण भारत से था जहाँ प्रसिद्ध वैदिक व्याख्याकार सायण चौदहवीं शताब्दी में इसके एक सदस्य थे। जिन विषयों का उन के धर्मसूत्र में विवेचन किया गया है वे बहुत प्रकार के हैं जिनमें चार धार्मिक

व्यवस्थाओं (वर्णाश्रम धर्म) के कर्तव्य, मिश्रित जातियाँ; विभिन्न प्रकार के यज्ञ, पवित्रीकरण, प्रायश्चित्त, मङ्गलकारक विधि विधान, राजधर्म, अपराधों के लिए दण्ड व्यवस्था, साक्षी परीक्षा, उत्तराधिकार एवं विवाह के विधान, स्त्रियों की सामाजिक स्थिति इन सबका समावेश है। चौथा भाग जो कि लगभग पूर्ण रूप से श्लोकों में रचा गया है सम्भवतः आधुनिक सम्मिश्रण है और तीसरा भाग भी कुछ कुछ सन्देहास्पद समय की रचना है।

उपर्युक्त पुस्तकों के साथ भली भाँति सुरक्षित गौतम धर्म की पुस्तक को भी वर्गीकरण में सम्मिलित किया जाना चाहिए। यद्यपि यह किसी कल्प सूत्र का भाग नहीं है (फिर भी) यह निश्चय ही किसी समय वैदिक शाखा से संबद्ध रही होगी क्योंकि सामवेद की शाखा राणायनीय के उपविभाग के रूप में गौतमों का उल्लेख है और कुमारिल का वक्तव्य है कि गौतम की कृति मौलिक रूप में उस वेद से सम्बन्धित थी; इस कथन की पुष्टि इस वास्तविकता से हो जाती है कि इसका २६वाँ अध्याय शब्दशः सामविधान ब्राह्मण से लिया गया है। यद्यपि इसका शीर्षक धर्मशास्त्र है फिर भी यह शैली और स्वरूप में नियमित धर्म सूत्र है। इसकी रचना पूर्ण रूप से गद्य सूत्रों में हुई है जिस में किसी प्रकार का पद्य का संमिश्रण नहीं है जैसा कि इस वर्ग की दूसरी रचनाओं में है। इसके विभिन्न विषय बौधायन के धर्मसूत्र के विषयों से मेल खाते हैं और अधिकतर उनका निर्वाह उसी प्रकार से हुआ है। वास्तव में यह दिखलाया गया है कि गौतम में ऐसे अनुच्छेद विद्यमान हैं जिनका आधार गौतम की कृति है या ये गौतम की रचना से लिए गए हैं; इसलिए यह सबसे पुराना धर्मसूत्र है जो सुरक्षित रखा गया है या कम से कम प्रकाशितों में सबसे पुराना है और इसका रचनाकाल लगभग ५०० ई० पू० के बाद में नहीं रखा जा सकता।

सूत्र शैली की दूसरी और वैदिक काल से सम्बन्ध रखने वाली कृति वशिष्ठ का धर्मसूत्र है। यह केवल निम्नकोटि की पाण्डुलिपियों में जीवित रहा है और किसी टीका के प्रभाव को सुरक्षित रखने से रहित है। इसमें ३० अध्याय हैं जिनमें अन्तिम ५ अध्याय अधिकांश भाग में परवर्ती मिलावट से युक्त हैं। बहुत से सूत्र केवल यहाँ ही नहीं किन्तु पुराने भागों में भी निराशा-जनक रूप में भ्रष्ट हैं। इस रचना में गद्य के सूत्र पद्य से अन्तर्मिलित हैं; बाद के मनु या दूसरों के अनुष्टुप् छन्द के स्थान पर आर्ष त्रिष्टुभ छन्द अनेकशः प्रयुक्त किया गया है। विषयवस्तु जिस पर धर्म सूत्र की छाप लगी है, विभिन्न दृष्टियों से प्राचीन होने का प्रभाव उत्पन्न करती है। इस प्रकार यहाँ और

उसी प्रकार आपस्तम्ब के धर्मसूत्र में विवाह के रूढ़िवादी ८ प्रकारों में केवल ६ को स्वीकृति प्रदान की गई है। कुमारिल उल्लेख करते हैं कि उनके समय में वशिष्ठ की धर्मपुस्तक जबकि सामान्य रूप से प्रामाणिक रूप में स्वीकृत की जाती थी, केवल ऋग्वेद के अनुयायियों द्वारा पढ़ी जाती थीं। उनका अभिप्राय किसी और रचना से नहीं वर्तमान पुस्तक से ही हैं यह बात उसके उन उद्धरणों से सिद्ध हो जाती है जो उसमें दिए गए हैं और जो प्रकाशित मूलपाठ में प्राप्त होते हैं। क्योंकि वशिष्ठ वैदिक संहिताओं और सूत्रों को उपन्यस्त करने में उत्तर भारत से सम्बन्ध रखने वाली रचनाओं के प्रति पूर्वपक्षपात व्यक्त करते हैं यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे (भारत के) इसी भाग से सम्बन्ध रखते थे। वशिष्ठ गौतम से एक उद्धरण देते हैं जो कि गौतम के वर्तमान मूलपाठ के एक अनुच्छेद का उल्लेख करता हुआ प्रतीत होता है। उनके जो विभिन्न उद्धरण मनु से लिये गए हैं वे उनकी प्रसिद्ध विधिपुस्तक (मनुस्मृति) से नहीं स्पष्ट रूप में विधिसूत्रों से लिए गए हैं जो मनु से सम्बन्धित है। दूसरी ओर मनु के वर्तमान मूलपाठ में वशिष्ठ का एक उद्धरण है जो कि वास्तव में वशिष्ठ के प्रकाशित संस्करण में विद्यमान है। इसलिए वशिष्ठ की रचना गौतम से बाद की और मनु की रचना से पहले की होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त यह और भी सम्भव है कि ऋग्वेद से सम्बन्ध रखने वाली और उत्तर की एक शाखा के सूत्र ग्रन्थ के मौलिक भाग का समय हमारी ईसवी सन् की गणना के कुछ शताब्दी पूर्व का हो।

कतिपय धर्मशास्त्रों का परिचय केवल उद्धरणों से मिलता है। सबसे पुराने तो वे हैं जिनका दूसरे धर्मसूत्रों में उल्लेख किया गया है। इनमें एकमें विशेष अभिरुचि मनु या मानवों के सूत्रों में ली गई है क्योंकि इसका सम्बन्ध प्रसिद्ध मानव धर्मशास्त्र के साथ है। वशिष्ठ में इससे जो अनेक उद्धरण दिए गए हैं उनमें ६ अपरिवर्तित या बहुत कम संशोधित रूप में हमारे मनु के मूलपाठ में प्राप्त होते हैं। वशिष्ठ का एक उद्धरण आंशिक रूप में गद्य में और आंशिक रूप में पद्य में है। बाद का पद्यभाग मनु में विद्यमान है। पद्यात्मक उद्धरण त्रिष्टुभ और श्लोक छन्दों के सम्मिश्रण को प्रकट करते हैं जैसे कि दूसरे धर्मसूत्रों में है। ये उद्धृत खण्ड सम्भवतः मानव धर्मसूत्र का प्रतिनिधित्व करते हैं जिसने मानव धर्मशास्त्र या मनु की विधि संहिता (मनुस्मृति) को आधार प्रदान किया।

इसी प्रकार गद्य और पद्य में विधि विषयक प्रबन्धों के खण्ड सुरक्षित रखे गए हैं जिनका कर्तृत्व शंख और लिखित इन दो भाइयों को प्रदान किया

जाता है—उन दोनों भाइयों को जो न्याय के क्षेत्र में कहावत बन गए थे। यह रचना निश्चित रूप से अत्यन्त विशाल रही होगी और इसमें न्याय-व्यवस्था की सभी शाखाओं का वर्णन किया गया होगा। उसको प्रमाणिक मानकर पराशर ने उसके उद्धरण दिए हैं। कुमारिल (७०० ई०) का वक्तव्य है कि इसका सम्बन्ध शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी शाखा से है यह कथन उससे लिए गए उन उद्धरणों से प्रमाणित हो जाता है जो अब तक विद्यमान एवं सुरक्षित हैं।

सूत्र साहित्य भारतीय विधि साहित्य के सर्वाधिक पुरातन (प्राचीनतम) काल पीछे तक निश्चित रूप से जाता हो यह मानना आवश्यक नहीं है; क्योंकि पद्यों के प्रयोग ने रचना की इस शैली को कभी भी पूर्ण रूप से अति-क्रान्त नहीं कर पाया।[1] इस प्रकार इस क्षेत्र में चार प्रश्नों को लेकर लिखा वैखानस सूत्र तीसरी शताब्दी ई० से पहले की रचना नहीं हो सकती जैसा कि आन्तरिक प्रमाणों से सिद्ध होता है। इसमें नारायण (विष्णु) पूजा पद्धति का निर्देश (हवाला) दिया गया है और रोहिणी-पुत्र के दिन को बुधवार कहा गया है। यह नियमित धर्मसूत्र नहीं है क्योंकि अपने दृढ़ और सीमित अर्थ में विधि साहित्य से सम्बन्ध रखने वाला इसमें कहीं कुछ नहीं है। किन्तु यह केवल घरेलू विधि (गृह्यधर्म) का एक निबन्ध है। यह चार व्यवस्थाओं (आश्रमों) के धार्मिक कर्तव्यों का विवेचन करता है—विशेष रूप से उन कर्तव्यों का जो वन में रहने वाले सन्यासियों के होते हैं। क्योंकि इसका संबंध बाद की व्यवस्था (वन में सन्यासावस्था) से है जिनसे वैखानस या विखानस के अनुयायी विशेष रूप से सम्बद्ध हैं। वे (वैखानस सूत्र) तैत्तिरीय शाखा का सबसे बाद में निकला हुआ सबसे कम आयु का अंकुर प्रतीत होते हैं।

जब हम पीछे की ओर मुड़कर सूत्रों द्वारा नियन्त्रित यज्ञ विधियों और लोकाचारों की विशाल साहित्य राशि देखते हैं तब हमें इस निष्कर्ष पर

---

१. यहाँ यह आशय प्रतीत होता है कि विधि साहित्य की पुरानी पुस्तकें पद्य में लिखी हुई हैं। उनमें गद्य का प्रयोग बिल्कुल नहीं है। इस विषय में यह मानना आवश्यक नहीं है कि वे पुस्तकें पहले सूत्र शैली में रही हों और सूत्रों का अतिक्रमण कर पद्य आ गए हों। सूत्रकाल में सूत्रों को पूर्ण रूप से हटाकर पद्य कभी नहीं आए। सूत्रकाल में या तो सूत्रमय रचना हुई या बीच में पद्य आते गए। सूत्रों को पद्य ने सर्वथा कभी समाप्त नहीं किया।

पहुंचने का प्रलोभन होता है कि यह आलसी पुरोहितों का पूर्ण रूप से जानबूझकर किया हुआ कार्य है जिसका आविष्कार हिन्दू जनता के मस्तिष्कों को दास बनाने और उन्हें आध्यात्मिक दासता में बनाए रखने के उद्देश्य से किया गया था। किन्तु अनुसन्धान की प्रगति यह दिखलाने के लिए आगे बढ़ती है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित पौरोहित्य यज्ञ विधि का भी आधार जनसमाज में प्रतिष्ठित धार्मिक परिपालन ही था। अन्यथा यह समझना कठिन हो जाता है कि किस प्रकार ब्राह्मणों ने भारतीय जनता पर ऐसा अधिकार प्राप्त कर लिया और बनाए रखा। ब्राह्मणों की मौलिकता परिपालन विधिओं को विस्तारित करने और उन्हें व्यवस्था देने में है जिन विधियों को उन्होंने पहले से ही सत्ता में विद्यमान पाया था। वे ऐसा करने में निश्चय ही उस सीमा तक सफल हुए जिसे अन्यत्र लोग जान भी नहीं सके।

तुलनात्मक अध्ययन ने यह बात प्रकट की है कि अनेक यज्ञ विधियाँ पीछे उस काल की ओर तक पहुंचती हैं जब भारतीय और फारस के लोग एक ही जनजाति के थे। इस प्रकार उस समय भी विकसित धार्मिक कार्यों का केन्द्र यज्ञ ही था। वैदिक यज्ञ विधि के अनेक पारिभाषिक शब्द उस समय भी पहले से ही सत्ता में आ गए थे—विशेष रूप से सोम जिसे पीसा जाता था, चालनी से छानकर साफ किया जाता था, दूध में मिलाया जाता था और मुख्य रूप से देव विषयक आहुति या तर्पणोदक के रूप में ढाला जाता था। पवित्र सूत्र (यज्ञोपवीत के साथ) संस्कार (उपनयन) भी जैसा कि हम देख चुके हैं (उस समय भी) ज्ञात था और अपने समय में उससे भी अधिक पुरानी एक संस्कार पद्धति पर आधारित था जो संस्कार जवानी में प्रवेश के अवसर पर प्रवर्तन (दीक्षा एवं समावर्तन) के लिए किया जाता था। देवताओं के प्रति प्रदान के लिए अग्नि में आहुति देना भारत यूरोपीय पद्धति है जैसा कि यूनानी, रोमवासी और भारतीयों की (इस विषय में) समरूपता से प्रकट होता है। विवाह-पद्धति का वह भाग भी भारोपीय है जिसमें नव विवाहित दम्पत्ति वैवाहिक अग्नि के चारों ओर घूमते हैं (भांवरें डालते हैं) वर अग्नि में भूनी हुई भेंट (वधू को) और वधू चावल या अन्न के दाने (वर को) देती है। क्योंकि रोम के लोगों में भी नव-दम्पत्ति वेदी के चारों ओर बायें से दाहिने ओर घूमते हैं, यह कार्य अग्नि में रोटी (जिसे far कहते हैं) डालने से पहले होता है। चावलों या अन्न कणों का (उत्पादकता के संकेत के रूप में) वर-वधू पर बिखेरा जाना भी जैसा कि सूत्रों में विहित है भारोपीय ही होना चाहिए; क्योंकि यह जनसमाज में विस्तृत क्षेत्र में इतना रच बस गया है जो जनसमाज द्वारा दूसरों से लिया हुआ नहीं कहा जा

सकता। लकड़ी के दो टुकड़ों को रगड़कर यज्ञाग्नि उत्पन्न करने की विधि और भी पुरानी है। इसी प्रकार अग्निशाला के निर्माण में दीवालों को ऊपर उठाने के लिए सबसे निचले ईंटों के फलक में विभिन्न बलियों के ५ यज्ञ पशुओं के सरों को दबाना जिनमें मनुष्य का भी एक सर हो, एक पुराने विश्वास की ओर जाता है कि कोई भवन निर्माण तभी मजबूती से बनाया जा सकता है जब नींव में एक मनुष्य या पशु गाड़ा जाए।

शुल्व सूत्र

अन्त में हम सूत्रों का एक विभाग पाते हैं—वह है शुल्वसूत्र, जिसका सम्बन्ध धार्मिक विधि से है। आपस्तम्ब के महान कल्पसूत्र का तीसवां और अन्तिम प्रश्न इस वर्ग की निबन्ध रचना है। ये प्रायोगिक गुटके (नियम-पुस्तिकायें) हैं जिनमें यज्ञ-मण्डप की वेदी तथा ऐसे ही और भी निर्माणों के लिए आवश्यक नाप जोख दी गई है। वे (नियम) रेखागणित के बहुत बढ़े-चढ़े ज्ञान को व्यक्त करते हैं और भारतीय गणित की सबसे पुरानी कृतियों को अपने में समाए हुए हैं।

वेदाङ्ग

भारतीय परम्परागत दृष्टिकोण के अनुसार सूत्र शैली में लिखी गई समस्त वैदिक कृतियों के कलेवर को ६ वर्गों में विभाजित किया जा सकता है जिन्हें वेदाङ्ग (वेद के अवयव) कहा जाता है ये है—शिक्षा या वर्णोच्चारण प्रक्रिया, छन्दस् या पद्य शास्त्र, व्याकरण या शब्द शास्त्र, निरुक्त या व्युत्पत्ति-शास्त्र, कल्प या धार्मिक प्रयोग पद्धति, ज्योतिष् या गणित। प्रथम चार का उद्देश्य था पवित्र वेदपाठ के ठीक रूप में सुनाने और समझने में सहायता देना। अन्तिम दो धार्मिक रीति-रिवाजों और कर्तव्यों का वर्णन करते हैं तथा उनकी ठीक ऋतु समय, बतलाते हैं। इन सबका प्रारम्भ धार्मिक आवश्यकता में हुआ है और अन्तिम चार वेदोत्तर काल में उपचय को प्राप्त ५ विज्ञानों के प्रारम्भ अथवा (एक विषय में) पूर्ण विकास का विवरण प्रदान करते हैं। चौथे और छठे समूह में वर्ग का नाम इसलिए रखा है कि उसका प्रतिनिधित्व करने वाली विशिष्ट रचना का नामकरण हो जाता है।

कल्प के विषय में हम ऊपर विस्तारपूर्वक पहले ही विचार कर चुके हैं। गणित ज्योतिष का प्रतिनिधित्व करने वाली वैदिक काल की कोई रचना

---

१. आशय यह है कि व्याकरण इत्यादि अन्तिम चार वेदांग विज्ञान की पांच शाखाओं में प्रारम्भ का परिचय देते हैं तथा एक का विस्तृत विवेचन करते हैं।

अवशिष्ट नही रही है । क्योंकि ज्योतिष कहलाने वाले वैदिक पञ्चाङ्ग के दो संस्करण हैं जो क्रमश: ऋग्वेद और यजुर्वेद के सम्बन्ध रखने को प्रतिज्ञा-पूर्वक कहते हैं—उनका समय वेदोत्तर काल में बहुत अधिक बाद का है ।

शिक्षा-प्रतिशाख्य

तैत्तिरीय आरण्यक (७.१) शिक्षा या ध्वनि विज्ञान का उल्लेख करता ही हैं। ऐसा ज्ञात होता है यह एक ऐसा विषय है जिसने उस समय भी वर्णों, स्वराघात, मात्रा उच्चारण, सन्धि तथा सुश्राव्यता नियमों का बिवेचन किया था। शिक्षा शीर्षक को धारण करने वाली कई कृतियाँ सुरक्षित रक्खी गई हैं । किन्तु वे वैदिक साहित्य की बहुत वाद की परिशिष्ट कृतियाँ हैं । वे छोटी नियम पुस्तकें हैं जिनमें वेदों को सुनाने के और ठीक उच्चारण के निर्देश दिये गये हैं । ध्वनि शास्त्रीय अध्ययन के सवसे प्राचीन अतिजीवित परिणाम निश्चय ही विभिन्न वेदों के संहिता पाठ हैं जिनका सम्पादन सन्धि और सुश्राव्यता के नियमों के अनुसार किया गया था। इसके आगे प्रगति पदपाठ की रचना के द्वारा की गई। पदपाठ का अर्थ है वेदों का शब्दपाठ जिसमें सन्धि वन्ध का विच्छेद कर तथा प्रत्येक शव्द को (समास के भागों में आये प्रत्येक शव्द को भी) पृथक् पृथक् अपने मौलिक स्वरूप में दिया गया जिसमें ध्वनि सम्बन्धी नियमों से भी परिवर्तन नहीं हुआ । इस प्रकार के पदपाठ ने वाद के अध्ययन के लिये आधार तैयार कर दिया । यास्क, पाणिनि तथा दूसरे वैयाकरण सर्वदा पदपाठों के विश्लेषण को स्वीकार नहीं करते जब वे सोचते हैं कि वैदिक स्वरूप को वे अधिक अच्छी तरह समझते हैं । पतंजलि सीधे भी, उनकी प्रामाणिकता पर विवाद उठाते हैं । वैदिक ध्वनि विज्ञान के वास्तविक प्रतिनिधि तो प्रातिशाख्य हैं जिनका सीधा सम्बन्ध संहिता पाठ और पदपाठ से है । इन दो के एक दूसरे के प्रति सम्बन्ध को निश्चित करना उनका लक्ष्य है। ऐसा करने में पवित्र पाठ को ठीक रूप में सुनाने का लक्ष्य प्राप्त करने के लिये ध्वनि सम्बन्धी विवाद देने के अतिरिक्त वे वैदिक सन्धि सम्वन्धों का व्यवस्थित विवरण देते हैं । वे प्राय: पाणिनि के पूर्ववर्ती माने जाते हैं । पाणिनि उनके साथ सम्पर्क के ऐसे तत्त्व प्रदर्शित करते हैं जिनके समझने में चूक नहीं हो सकती । यह समझना सम्भवत: अधिक ठीक है कि पाणिनि ने वर्तमान प्रतिशाख्यों का उपयोग उनके पुराने स्वरूप में किया क्योंकि जव वे वैदिक सन्धि का स्पर्श करते हैं तब वे सर्वदा अपने वक्तव्यों में उसकी अपेक्षा कम परिपूर्ण होते हैं जैसे कि वे (प्रातिशाख्य) हैं (अर्थात् वे उनके स्वरूप की पूरी व्याख्या नहीं करते ।) जबकि प्रातिशाख्य और विशेष रूप से अथर्ववेद के प्रातिशाख्य वैयाकरणों की पारिभाषिक शब्दावली पर

निर्भर रहते हैं। इस प्रकार की नियम पुस्तकों में चार सुरक्षित रक्खी गई हैं और प्रकाशित की गई हैं। एक का सम्बन्ध ऋग्वेद से है, दूसरी का अथर्ववेद से और दो का यजुर्वेद से है जो क्रमशः वाजसनेयी और तैत्तिरीय संहिताओं से जुड़ी हुई हैं। उनको यह नाम इसलिये दिया गया है क्योंकि वेद की स्वयं से सम्बन्धित प्रत्येक शाखा के उपयोग के उद्देश्य से उनकी रचना हुई हैं।

ऋग्वेद का प्रातिशाख्य सूत्र पद्यात्मक तीन अध्यायों की एक विशाल रचना है जिसका कर्तृत्व परम्परागत रूप में शौनक को प्रदान किया जाता है जो आश्वालायन के गुरु थे। यह सच है कि यह अपने वर्तमान स्वरूप में शौनक शाखा की केवल एक रचना हो सकती है। इस प्रातिशाख्य को उपलेख कहलाने वाली एक छोटी कृति में संक्षिप्त कर दिया गया और इसमें कुछ परिशिष्ट बिषय जोड़ दिया गया। तैत्तिरीय प्रातिशाख्य विशेष रूप से मनो-मनोरंजक हैं क्योंकि इसमें जिन २० गुरुओं का उल्लेख किया गया है उनमें विभिन्न प्रकार के विचित्र नाम आते हैं। वाजसनेयी प्रातिशाख्य में ८ अध्याय हैं और इसमें लेखक का नाम कात्यायन दिया हुआ है, यह शौनक का उल्लेख अपने पूर्ववर्ती आचार्यों में करता है। अथर्ववेद प्रातिशाख्य में चार अध्याय हैं। यह शौनक शाखा से सम्बन्ध रखता है यह इस वर्ग की दूसरी कृतियों की अपेक्षा अधिक वैयाकरण है।

छन्दः-शास्त्र

ब्राह्मण ग्रन्थों में छन्द के बहुत से विवरण बिखरे हुये हैं। इसका स्वतन्त्र पृथक् विवेचन शांखायन श्रौत सूत्र के एक भाग ७-२७ में ऋग्वेद प्रातिशाख्य के अन्तिम तीन भागों (पटलों) और विशेष रूप से निदान सूत्र में मिलता है जिसका सम्बन्ध सामवेद से है। पिंगल के छन्दः सूत्र का एक भाग भी वैदिक छन्द का विवेचन करता है। किन्तु यद्यपि यह वेदाङ्ग होने का दावा करता है किन्तु वास्तव में यह बाद का एक परिशिष्ट ग्रन्थ हैं जो प्रधान रूप से वेदोत्तरछन्दः शास्त्र को विषय के रूप में लेकर चलता है जिसमें यह प्रामाणिक अधिकारी रचना मानी जाती हैं।

अन्त में कात्यायन की दो अनुक्रमणियों या संकेतक सूचियों में जिनका उल्लेख नीचे किया गया है प्रत्येक में एक एक अनुभाग हैं जिनमें वैदिक छन्दों का वर्णन किया गया है। दोनों एक दूसरे से बहुत ही कम भिन्न हैं। ये अनुभाग विषय वस्तु की दृष्टि से सचमुच ऋग्वेद के प्रातिशाख्य १६ वें पटल के समरूप हैं और सम्भव है कि प्रातिशाख्य के उसी विषय के अनुच्छेद से पूर्ववर्ती हों यद्यपि सम्पूर्ण रचना के रूप में प्रातिशाख्य असन्दिग्ध रूप में अनुक्रमणी से पहले का है।

व्याकरण

पदपाठों से प्रकट होता है कि उनके लेखकों ने केवल उच्चारण और सन्धियों पर ही अनुसन्धान नहीं किया किन्तु वे उस समय भी शब्दों के व्याकरण सम्बन्धी विश्लेषण के एक प्रचुर भाग से परिचित हो ही चुके थे, क्योंकि वे दोनों को पृथक् करते थे समासों के भागों को भी और क्रियाओं के उपसर्गों को भी साथ ही साथ कतिपय प्रत्ययों और संज्ञाओं की विभक्तियों को भी पृथक् करते थे। इसमें सन्देह नहीं कि वे उस समय तक भाषा के चार भागों को (पदजातानि) जान ही चुके थे। यद्यपि उनका सर्वप्रथम उल्लेख यास्क ने किया था वे हैं—(१) नाम या 'संज्ञा' (जिनमें सर्वनाम अर्थात् सभी संज्ञाओं का प्रतिनिधित्व करने वाले या pronown भी सम्मिलित हैं।)(२) आख्यात या 'विधेय' वह है क्रिया; (३) उपसर्ग 'परिपूरण' वह है 'पूर्वनियोजन' और (४) निपात 'सांयोगिक संयोजन' वह है 'अव्यय'। यह सम्भवतः वर्गों के विभाजन के कारण है कि इस शास्त्र का नाम व्याकरण पड़ा जिसका विवरण मौलिक रूप में दिया गया। यह कारण इस तथ्य की अपेक्षा अधिक संगत है कि इसका नाम शब्दों के विश्लेषण के कारण पड़ा। ब्राह्मण ग्रन्थ भी भाषा सम्बन्धी अनुसन्धान के प्रमाण धारण करते हैं। क्योंकि वे व्याकरण के अनेक शब्दों का प्रयोग करते हैं जैसे अक्षर (वर्ण) पुंल्लिङ्ग (वृष्ण) संख्या (वचन) कारक स्वरूप (विभक्ति)। और भी अधिक निर्देश आरण्यकों, उपनिषदों और सूत्रों में पाए जाते हैं। किन्तु पाणिनि से पूर्ववर्ती व्याकरण की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सूचना हमें यास्क की रचना की से मिलती है।

व्याकरण के अध्ययन की अभिवृद्धि अत्यधिक सीमा तक यास्क से पहले ही निश्चित रूप से हो चुकी होगी; क्योंकि वे उत्तर और पूर्व की शाखाओं (के सिद्धान्तों में) विभेद बतलाते है, इसके अतिरिक्त वे लगभग २० पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख करते हैं जिनमें शाकटायन, गार्ग्य और शाकल्य सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। यास्क के समय तक वैयाकरण प्रकृति (मूल शब्द या धातु जिससे प्रत्यय होता है) और शब्दों का निर्माण करने वाले तत्त्वों (प्रत्ययों) का विभेद करना स्पष्ट रूप में सीख गये थे। एक ओर वे शब्दों के अन्त में लगने वाली विभक्तियों और क्रिया से लगने वाले कालवाचक प्रत्ययों को तथा दूसरी ओर मूल (कृत्) प्रत्ययों और बाद में दूसरी बार लगने वाले (तद्धित) प्रत्ययों को पहचान गए थे। यास्क ने शाकटायन के सिद्धान्त से एक मनोरंजक विवाद उठाया है जिसको उन्होंने स्वयं अपनाया है वह यह है कि संज्ञाएं क्रियाओं से निकाली जाती हैं। वे दिखलाते हैं कि गार्ग्य तथा कतिपय अन्य वैयाकरण

सामान्य रूप से इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं, किन्तु इस बात से इन्कार करते हैं कि यह सिद्धान्त सभी संज्ञाओं पर लागू होता है। वे (यास्क) उनकी आपत्तियों की आलोचना करते हैं और अन्त में उसे अविश्वसनीय समझकर छोड़ देते हैं। शाकटायन के सिद्धान्त-क्रियाओं से संज्ञाओं की उत्पत्ति पर ही पाणिनि की सारी व्यवस्था आधारित है। उस वैयाकरण के सूत्रग्रन्थ में सैकड़ों नियम हैं जो वैदिक रूपों का वर्णन करते हैं। किन्तु वे (नियम) नियमों के मुख्य कलेवर के अपवाद मात्र हैं। नियमों के मुख्य कलेवर का प्रयोजन संस्कृत भाषा का वर्णन करना है। उनकी रचना बाद के साहित्य पर लगभग पूर्ण रूप से अधिकार जमाए हुए है। यद्यपि इसका सम्बन्ध सूत्रकाल के मध्य से है फिर भी इसे वेदोत्तरकाल के निश्चित प्रारम्भ बिन्दु के रूप में समझा जाना चाहिए। जब पाणिनि असफल न होने वाले अधिकारी समझे जाने लगे तब उन्होंने अपने सभी पूर्ववर्तियों का अतिक्रमण कर लिया। जिन (पूर्ववर्तियों) की रचनायें बाद में नष्ट हो गईं। केवल यास्क अवशिष्ट रहे और वह भी इसलिए कि वे सीधे-सीधे वैयाकरण नहीं थे क्योंकि उनकी रचना वेदाङ्ग 'व्युत्पत्तिविद्या' का प्रतिनिधित्व करती है और एकमात्र वही प्रतिनिधित्व करती है।

निरुक्त

वास्तविकता में यास्क का निरुक्त वैदिक व्याख्या है और किसी दूसरी व्युत्पत्तिमूलक ऐसी रचना की अपेक्षा कतिपय शताब्दियों पुरानी है जिसको संस्कृत में सुरक्षित रखा गया है। इसके आधार हैं निघण्टु जोकि विरल एवं अस्पष्ट वैदिक शब्दों के संग्रह हैं और जिसका संकलन अध्यापकों के उपयोग के लिए किया गया था। यास्क के सामने इस प्रकार के ५ संग्रह थे— प्रथम तीन में पर्यायवाचक समूह हैं, चौथा विशेष रूप से कठिन शब्दों का संग्रह है और पांचवें में वैदिक देवताओं का वर्गीकरण किया गया है। यास्क ने अपनी पुस्तक के १२ अध्यायों में अधिकांश भाग में उनकी व्याख्या की है। (इन बारह अध्यायों में बाद में दो और जोड़ दिये गये।) ऐसा करने में वे पद्यों की प्रधान रूप से ऋग्वेद के पद्यों (ऋचाओं) की बहुत बड़ी संख्या, उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हैं और उनकी बहुत से व्युत्पत्तिमूलक निर्देशों के साथ वे स्वसम्मत व्याख्या दे देते हैं।

पहला अध्याय एक प्रस्तावना है जिसमें व्याकरण और व्युत्पत्ति सिद्धान्त बतलाये गए हैं, दूसरे और तीसरे अध्याय पर्यायवाचक निघण्टुओं के कतिपय तत्त्वों की व्याख्या करते हैं। चौथे से छठे तक चौथे निघण्टुसंग्रह का विवरण प्रस्तुत करते हैं और ७वें से १२वें तक पांचवे संग्रह की व्याख्या की गई है।

निरुक्त व्याख्या और व्याकरण की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होने के अतिरिक्त शास्त्रीय शैली की संस्कृत गद्य का सबसे पुराना प्रारम्भिक काल का नमूना होने के रूप में अत्यन्त मनोरंजक (साहित्य) है जो स्वयं पाणिनि से अत्यधिक पुराना है। यास्क प्रमुख रूप से पहले से ही व्याकरण की वही पारिभाषिक शब्दावली प्रयुक्त करते हैं जोकि पाणिनि प्रयोग में लाते हैं। उदाहरण के लिए क्रिया की मूल प्रकृति के लिये वे उसी शब्द (धातु) को काम में लाते हैं। इसी प्रकार (धातु से) प्रथम प्रत्यय (कृत् प्रत्यय) और दूसरी बार के (शब्द से होने वाले) प्रत्यय के लिए वही (तद्धित) का प्रयोग करते हैं। किन्तु वे पाणिनि से बहुत लम्बे समय पहले जीवित थे। क्योंकि उन दोनों के बीच में महत्त्वपूर्ण वैयाकरणों की एक बहुत संख्या का नामोल्लेख किया जाता है। इसलिए यास्क का समय निश्चय ५वीं शताब्दी[1] पीछे तक चला जाना चाहिए और इसमें सन्देह नहीं कि उनका समय सूत्र का प्रारम्भ है।

एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण वास्तविकता जो निरुक्त द्वारा सिद्ध की गई वह यह है कि यास्क के समय में ऋग्वेद का स्वरूप बिल्कुल निश्चित था और निश्चित रूप से हमारे ऋग्वेद पाठ के साथ एकरूप था। उनके पाठान्तर अत्यन्त महत्वहीन है। इस प्रकार एक अनुच्छेद (१०.२९.१) में शाकल्य के पदपाठ में दो शब्दों 'वा' 'यो' के प्रतिकूल वे (यास्क) एक शब्द पढ़ते हैं 'वायो'। यास्क के शब्दान्तरण एवं पदान्वय प्रकट करते हैं कि वे कभी कभी संहितापाठ से भी असहमत हो जाते थे। यद्यपि स्वयं ऋग्वेद से लिए गये उद्धरण इस प्रकार संशोधित कर दिये गए जिससे वे पूर्णरूप से परम्परागत पाठ के मेल में आ जायें किन्तु इन छोटे छोटे विभेदों के लिए ऋग्वेद के पाठों की अनेकरूपता की अपेक्षा सम्भवतः निरुक्त की त्रुटियां अधिक कारण हैं। इस प्रकार के मूल से कतिपय पृथक्करण सायण में भी हैं जो महत्वहीन हैं, किन्तु वे सर्वदा प्रकट रूप में टीकाकार के पक्ष में दृष्टिदोष (प्रमाद) हैं।

परिशिष्ट

अत्यन्त विस्तृत परिशिष्ट या पूरक साहित्य सूत्रों से जुड़ा हुआ है जो ज्ञात होता है सभी वैदिक शाखाओं में जुड़ा हुआ विद्यमान था। उनमें उन विषयों का विस्तार है जिनका सूत्रों में केवल स्पर्श किया गया है या उनमें जिस विषय वस्तु का बिल्कुल विवेचन नहीं है उनके विषय में पूरक सूचना दी गई है।

---

१. ५वीं शताब्दी ई० पू०।

इस प्रकार ऋग्वेद से सम्बन्धित चार अध्यायों का आश्वालायन गृह्य परिशिष्ट है। गोभिल संग्रह परिशिष्ट सामान्य रूप से गृह्य आचारों का सार संग्रह है जो विशेष रूप से मन्त्र-तन्त्र की जादुई विधि की ओर विशेष झुका हुआ है और जो सामवेद से संलग्न हो गया है। इस रचना से निकटता से जुड़ा हुआ और सम्भवतः इस रचना की अपेक्षा बाद का कर्मप्रदीप (या कर्मों का दीपक) है जिसे इन विभिन्न नामों से पुकारा जाता है—साम गृह्य या छान्दोग्य गृह्य परिशिष्ट, छान्दोग्य परिशिष्ट, गोभिलस्मृति जो शुक्ल यजुर्वेद के कात्यायन या गोभिल के नाम पर प्रसिद्ध की गई है। यह उसी विषय का वर्णन करता है जो विषय गृह्यसंग्रह के हैं जिसके साथ इसका मेल कभी कभी पूरे श्लोकों में हो जाता है। यद्यपि इसका विवेचन स्वतन्त्र तथा उससे निरपेक्ष है।

प्रयोग, पद्धति एवं कारिका

यज्ञपरक विधियों के ज्ञान के लिए अधिक उपयोगी हैं प्रयोग ('लघु पुस्तिकायें') और पद्धति ('पथ प्रदर्शक') जिनकी बहुत बड़ी संख्या पाण्डुलिपियों में विद्यमान है। ये रचनायें श्रौत और गृह्य दोनों प्रकार की शास्त्रोक्त विधियों का विभिन्न शाखाओं के अनुसार प्रतिनिधित्व करती हैं। प्रयोग पुस्तिकायें प्रत्येक यज्ञ की आनुपूर्वी और पुरोहितों के विभिन्न समूहों के कर्तव्यों का वर्णन करती है जिसका एकमात्र दृष्टिकोण प्रायोगिक प्रक्रिया की परिपूर्ति है जबकि पद्धतियां अधिकतर सूत्रों के व्यवस्थित विवरण का अनुसरण करती है और उनकी विषयवस्तु का खाका खींचती है। यज्ञविधियों का पद्यात्मक विवरण भी विद्यमान है जिसे कारिका कहा जाता है जो कि सीधे सूत्रों से या पद्धतियों से जुड़ी हुई हैं। उनमें कुमारिल (७०० ई०) की कारिका सबसे पुरानी प्रतीत होती है।

अनुक्रमणी

परिशिष्ट स्वरूप के लेखों का एक वर्ग भी है जिसे अनुक्रमणी या वैदिक सूचियां कहा जाता है, जिनमें सूक्तों, लेखकों (ऋषियों), छन्दों और देवताओं की सूचियां उस क्रम से दी गई हैं जिस क्रम से वे विभिन्न संहिताओं में आये हैं। ऋग्वेद पर इस प्रकार की सात रचनायें हैं जो सभी शौनक के नाम पर प्रसिद्ध हैं और श्लोक एवं त्रिष्टुभ छन्द के मेल से रची गई हैं जो [पद्धति] शौनक के ऋग्वेद प्रातिशाख्य में भी पाई जाती है। एक सामान्य अनुक्रमणी या सर्वानुक्रमणी भी है जो कात्यायन के नाम पर प्रसिद्ध है और जो छन्दोबद्ध सूची का सूत्र शैली में संक्षेप करती है। छन्दोबद्ध सूचियों में ५ शेष रही हैं—आर्षानुक्रमणी यह बात अधिक सच है कि इसमें ३०० श्लोकों से कम हैं। यह

ऋषियों या ऋग्वेद के रचनाकारों की सूची प्रदान करती है। प्रस्तुत पाठ उस विषय के आधुनिकीकृत स्वरूप का प्रतिनिधित्व करता है जो बारहवीं शताब्दी में टीकाकार षड्गुरुशिष्य को ज्ञात था। छन्दोनुक्रमणी जो लगभग ठीक उसी लम्बाई की है और उन छन्दों का परिगणन करती है जिसमें ऋग्वेद की रचना की गई है। यह प्रत्येक मण्डल के प्रत्येक छन्द की संख्याओं को भी बतलाती है और साथ ही सभी छन्दों के योग का प्रकथन करती है। अनुवाकानुक्रमणी एक छोटी सूची है जिसमें केवल लगभग ४० पद्य हैं। यह ८५ अनुवाकों या पाठों में प्रत्येक के प्रथम शब्दों का कथन करती है जिन [अनुवाकों] में ऋग्वेद विभाजित किया गया है तथा इन अनुवाकों में आए हुए सूक्तों की संख्या भी बतलाती है। यह आगे बतलाती है कि ऋग्वेद में १०१७ सूक्त हैं, [या बाष्कल संहिता के अनुसार १०२५ सूक्त हैं), १०५८० ½ मन्त्र हैं १५३८२६ शब्द हैं और ४३२००० अक्षर हैं। इसके अतिरिक्त कतिपय दूसरे सांख्यिकीय विस्तृत विवरण दिए गए हैं। मन्त्रों की जो संख्या दी गई है वह हाल में की गई विभिन्न गणनाओं से ठीकरूप में मेल नहीं खाती। किन्तु अन्तर बहुत थोड़े हैं और उसका कारण वह प्रकार हो सकता है जिसमें कतिपय दोहराए हुए मन्त्रों को अनुक्रमणी कार ने जोड़ लिया है।

एक दूसरी छोटी अनुक्रमणी है जो अब तक केवल दो पाण्डुलिपियों में जानी गई है। इसका नाम है पादानुक्रमणी अर्थात् 'पंक्तियों (पादों) की सूची' और उसकी रचना उसी मिश्रित पद्य में हुई है जिसमें और अनुक्रमणियां लिखी गईं हैं। सूक्तानुक्रमणी में जो अब जीवित नहीं है और केवल नाम से ही जानी जाती है सम्भवतः सूक्तों के केवल आदिय शब्द (प्रतीक) ही थे। यह सम्भवतः इसलिए नष्ट हो गई क्योंकि इसके अपेक्षातिरिक्त (अनावश्यक) कार्य को सर्वानुक्रमणी ही कर देती। देवतानुक्रमणी या 'देवताओं की सूची' की कोई पाण्डुलिपि विद्यमान नहीं है किन्तु उससे दस उद्धरण टीकाकार षड्गुरुशिष्य द्वारा सुरक्षित रखे गए। इसको निश्चित रूप से बृहद्देवता ने निरस्त कर दिया होगा जो अनेक देवताओं की एक सूची है और किसी भी अन्य अनुक्रमणी की अपेक्षा अधिक विशाल रचना है क्योंकि इसमें १२०० श्लोक हैं जिनमें स्थान-स्थान पर त्रिष्टुभ बिखरे हुए हैं। इसमें ८ अध्याय हैं जो ऋग्वेद के अष्टकों से मेल खाते हैं। ऋग्वेद की क्रम व्यवस्था का अनुसरण करते हुए इसका मुख्य उद्देश्य है प्रत्येक पद्य के देवता का वर्णन करना। किन्तु क्योंकि इसमें दृष्टान्त-परक पुराण कथाओं और आख्यानों की बहुत बड़ी संख्या है, अतः यह प्रारम्भिक कथाओं के प्रारम्भिक संग्रह के रूप में अधिक महत्त्व की रचना है।

यह बहुत विस्तार में यास्क के निरुक्त पर आधारित है। स्वयं यास्क और दूसरे गुरुओं के अतिरिक्त जिनका नाम उस विद्वान ने लिया है यह भागुरि और आश्वलायन तथा साथ ही साथ निदान सूत्र का भी उल्लेख करता है। इस रचना की एक विलक्षणता यह है कि इसमें पूरक सूक्तों (खिलों) का विवरण दिया गया है जो ऋग्वेद के विधि सम्मत धार्मिक पाठ्य ग्रन्थ के भाग के अन्तर्गत नहीं आता।

परवर्ती युग में कम से कम इन छन्दोबद्ध अनुक्रमणियों के मूल स्वरूप की अपेक्षा बाद की कात्यायन की सर्वानुक्रमणी है जो एक ही ग्रन्थ की परिधि में उस सामग्री को समेट लेती है जो उनमें आई है। इसकी रचना सूत्र शैली में हुई है और यह अधिक लम्बाई की कृति है जो छपे हुए संस्करण में लगभग ४६ पृष्ठों को घेरे हुए हैं। ऋग्वेद के प्रत्येक सूत्र के लिए यह प्रारम्भिक एक शब्द या कई शब्दों का उल्लेख करती है, उसके पद्यों की संख्या बतलाती है। और साथ ही साथ ऋषि, देवता भी बतलाती है तथा यह सूचना वह एकाकी मन्त्र के विषय में भी देती है। १२ अध्यायों में एक प्रस्तावना है जिनमें ६ में वैदिक छन्दोंपर एक लघु रचना है जो ऋग्वेद प्रतिशाख्य के अन्तिम तीन अध्यायों से मेल खाती है। लेखक इस वक्तव्य के साथ प्रारम्भ करता है कि वह प्रतीकों की सूची तथा ऋषियों की अधिकृत सूचना के अनुसार (यथोपदेशम्) और बहुत कुछ देने जा रहा है, क्योंकि बिना इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त किये श्रौत और स्मार्त कर्म पूरे नहीं किए जा सकते। ये अधिकारी रचनायें निस्सन्देह छन्दोऽनुक्रकणी हैं जिनका ऊपर उल्लेख किया जा चुका है क्योंकि सर्वानुक्रमणी के मूलपाठ में जो सामासिक सूत्र शैली में रचा गया है, कतिपय छन्दोबद्ध पंक्तियां (पद) ही नहीं हैं किन्तु कुछ संख्यक अनुच्छेद भी हैं जो या तो सीधे आर्षानुक्रमणी और बृहद्देवता से लिए गये हैं या फिर उनके छन्दों में आये शब्दों के साथ कुछ परिवर्तन करके लिए गए हैं। दूसरी छन्दोबद्ध कृति, जो शौनक के नाम पर कही जाती है, ऋग्विधान है जिसमें ऋग्वेद के सूक्तों या एकाकी मन्त्रों को सुनाने से जो जादुई प्रभाव पड़ता है उसका वर्णन किया गया है।

सामवेद के परिशिष्टों से सम्बन्धित दो अनुक्रमणियां हैं—जो आर्ष और दैवत कहलाती हैं। जिनमें सामवेद की नैगेय शाखा के मूल पाठ में आये हुए ऋषियों और देवताओं का वर्णन है। वे दूसरों के साथ यास्क, शौनक और आश्वलायन से उद्धरण देते हैं। कृष्णा यजुर्वेद से सम्बन्धित भी दो अनुक्रमणियां

हैं। आत्रेय शाखा की अनुक्रमणी में दो भाग हैं जिनमें पहला गद्य में है और दूसरा श्लोकों में। संहिता की विषय वस्तु का निर्देश करने वाले नामों के परिगणन के अतिरिक्त इसमें कुछ और अधिक है। काठक की चारायण शाखा की अनुक्रमणी विभिन्न विभागों और मन्त्रों के ऋषियों की सूची है। ऋग्वेद से लिए गए इसके अनुच्छेदों के विषय में वक्तव्य ऋग्वेद की सर्वानुक्रमणी में दिए गए कथनों से बहुत भिन्न है। इसमें सर्वथा कुछ संख्यक नये नाम दिए गये हैं। यह अत्रि की रचना होने का दावा करता है जिन्होंने यह रचना लौगाक्षि में सञ्चारित की थी। शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन संस्करण की जो अनुक्रमणी कात्यायन के नाम पर कही जाती है उसमें ५ अध्याय हैं। प्रथम चार में ऋषियों देवताओं और छन्दों की सूचियां हैं। ऋग्वेद से लिए गए मन्त्रों के ऋषि प्रायः सर्वानुक्रमणी के ऋषियों से मेल खाते हैं। फिर यह सच है कि इसके अपवादों की भी अच्छी संख्या है—कई तो नए नाम हैं जिनका सम्बन्ध परवर्ती काल से है उनमें कुछ शतपथ ब्राह्मण के भी ऋषि हैं। ५वां भाग छन्दों का संक्षिप्त विवरण देता है जो कि मूल पाठ में विद्यमान हैं। यह विवरण सर्वानुक्रमणी की प्रस्तावना में उसी विषय का विवेचन करने वाले भाग के साथ समरूप है—जो सम्भवतः इस भाग की मूलभूत स्थिति थी। शुक्ल यजुर्वेद के अनेक अन्य परिशिष्ट भी हैं जो सभी कात्यायन के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। इनमें यहां केवल तीन का उल्लेख किया जाना आवश्यक है। निगम परिशिष्ट शुक्ल यजुर्वेद में आये एकार्थक शब्दों की शब्दावली है जो कोशग्रन्थ की अभिरुचि वाली रचना है। प्रवराध्याय या 'पूर्वजों का अध्याय' ब्राह्मण परिवारों की सूची है जिसको इस मंशा से तैयार किया गया है कि विवाह के सम्बन्ध में (गोत्र और प्रवर की दृष्टि से) निषिद्ध स्तर का निश्चय किया जा सके और उन पुरोहितों का निर्देश किया गया है जो यज्ञविधि सम्पादन के लिये उपयुक्त हैं। चरण व्यूह या "शाखाओं का स्पष्टीकरण" जो कि विभिन्न वेदों के विषय में है बहुत ही बाद की एक रचना है और इसका महत्त्व कुछ भी नहीं है। वैदिक शाखाओं के उस परिपूर्ण विवरण से कहीं अधिक कम परिगणन इसमें दिया गया जितना कि विष्णु पुराण और वायु पुराण के कतिपय खण्डों में दिया गया है। अथर्ववेद के परिशिष्टों के अन्तर्गत भी एक चरण व्यूह विद्यमान है। अथर्ववेद के परिशिष्टों की संख्या ७० के ऊपर है। इस कृति (अथर्ववेद के चरण व्यूह) में एक वक्तव्य आया है कि अथर्ववेद में २००० सूक्त हैं और १२३८० मन्त्र हैं।

सायण

वैदिक साहित्य के इस विवरण का उपसंहार करने के अवसर पर मैं सायण के विषय में कतिपय शब्द कहने से मुख नहीं मोड़ सकता। वे मध्यकाल

के वेद विषयक बहुत बड़े विद्वान् थे जिनके प्रति या जिनकी कतिपय बहुमूल्य टीकाओं के प्रवर्तन के प्रति हम आभारी हैं। ये टीकायें ऋग्वेद पर हैं ऐतरेय ब्राह्मण और आरण्यक पर हैं; साथ ही साथ तैत्तिरीय संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक पर हैं। इनके अतिरिक्त इनकी और अनेक रचनायें हैं। दो संहिताओं पर उनकी टीकाओं के विषय में ज्ञात होगा कि स्वयं उन्होंने उन टीकाओं की रचना आंशिक रूप में ही की है और उनके शेष भाग की पूर्ति उनके शिष्यों द्वारा की गई। इनकी मृत्यु १३८७ में हुई थी जब इन्होंने बुक्क प्रथम (१३५०-७९) और उनके उत्तराधिकारी हरिहर (समय १३७९-९९) के आश्रय में रहकर अपनी रचनायें समाप्त कर ली थीं। ये स्वयं को उनका (बुक्क और हरिद्वार का) गुरु और उनका मन्त्री बतलाते हैं। ये राजकुमार एक ऐसे परिवार से सम्बन्धित थे जिन्होंने मुसलमानी शासन का जुआ चौदहवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में उतार फेंका था और विजयनगर (विजय प्राप्त करने का शहर) के शासक वंश को जन्म दिया। विजय नगर आजकल वेलारी मण्डल में तुंग भद्रा नदी के किनारे बसा हम्पी नगर है। सायण के बड़े भाई माधव राजा बुक्क के मन्त्री थे और शृङ्गेरी मठ के मठाधीश के रूप में कार्य करते हुए इनकी मृत्यु हो गई थी। मठाधीश के रूप में इनका नाम विद्यारण्य स्वामी था। उन्होंने केवल अपनी ही रचनाओं का सर्जन नहीं किया था किन्तु सायण की टीकायें जो उन्हीं के संरक्षण में लिखी गई थीं, उन्हीं को समर्पित की गईं जिनको माधवी या माधव से प्रभावित कहा गया। एक मनोरंजक संयोग के अनुसार प्रो॰ मैक्समूलर ने सायण भाष्य के साथ ऋग्वेद का दूसरा संस्करण महाराजा विजय नगर के तत्त्वावधान में ही प्रकाशित किया। हाँ यह सच है कि इस विजय नगर का उस विजय नगर से कुछ लेना देना नहीं जिसकी स्थापना कर महाराज बुक्क ने उपाधि धारण की थी।

अध्याय-१०

पुराण-इतिहास काव्य

(लगभग ई० पू० ५०० से ई० पू० ५०)

वैदिक और लौकिक संस्कृत काव्य

वैदिक युग से संस्कृत युग की ओर उन्मुख होने पर हमारा सामना एक ऐसे युग से होता है जो उस प्राचीनतर युग के साहित्य से वस्तु, भावना और प्रविधि में तत्वतः भिन्न है। वैदिक साहित्य तात्विक रूप में धार्मिक है। सभी धर्मेतर अन्य दिशाओं में प्रचुर रूप में विकसित संस्कृत साहित्य धार्मिकता एवं पवित्रता की भावना से निरपेक्ष है। किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इसके साथ ही समग्र रूप में इनमें उपनिषद् की सिद्धान्तपरक प्रवृत्ति के फलस्वरूप कुल मिलाकर नैतिकता का स्वर सुनाई पड़ता है। स्वयं धर्म भी, जो इस काल में हावी हो रहा है, वैदिक काल के धर्म से बहुत अधिक भिन्न है। क्योंकि इस नए युग में ब्रह्मा, बिष्णु और शिव ये तीन महान देवता पूजा के प्रमुख लक्ष्य हैं। वैदिक काल के महत्त्वपूर्ण देवता अप्रधान स्थिति में विलीन हो गए यद्यपि योद्धाओं के देवता इन्द्र अब भी स्वर्ग के अधिपति के रूप में अपेक्षाकृत प्रमुख बने हुए हैं। कुछ कम स्तर के कतिपय अन्य देवता भी उद्भूत हो गए हैं जैसे धन के देवता कुबेर, ज्ञान और शिक्षा के देवता गणेश, युद्ध के देवता कार्तिकेय, सौन्दर्य और भाग्य की देवी श्री अथवा लक्ष्मी, शिव की भयानक पत्नी दुर्गा या पार्वती, इनके अतिरिक्त सर्प देवता और उपदेवताओं के कतिपय वर्ग तथा दानव निशाचर पिशाच इत्यादि।

जबकि वैदिक साहित्य की अन्तरात्मा कम से कम अपने प्रारम्भिक चरण में आशावादी और आनन्द प्रवण है, संस्कृत कविता इस काल से लेकर जिसकी परिणति पुनर्जन्म के सर्वत्रिक मान्यता प्राप्त सिद्धान्त में हुई है निराशावाद और विश्ववेदना से ओतप्रोत है। इस सिद्धान्त के अनुसार श्रेणी बद्ध व्यवस्था में प्राणी ब्रह्मा से लेकर मानव और पशुओं में होते हुए निम्न-तम सत्ता तक गुजरते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस परवर्ती कविता में हवाई उड़ान की जो सामान्य प्रवृत्ति पाई जाती है बहुत कुछ उसका कारण यह सिद्धान्त भी है। उदाहरण के लिए यहाँ हम विष्णु का जानवरों के रूप में पृथ्वी पर आना, ऋषियों, मुनिओं और सन्तों का स्वर्ग और पृथ्वी के मध्य में भ्रमण, मानव राजाओं का स्वर्ग में इन्द्र से मिलना यह सब पढ़ते हैं।

मानवीय घटनाओं के वर्णन में आश्चर्यजनक और लोकोत्तर तत्त्वों के समावेश की अभिरुचि के साथ ही साथ अत्युक्ति की प्रवृत्ति भी चलती है। इस प्रकार हमसे कहा जाता है कि राजा विश्वामित्र ने हजारों वर्ष निरन्तर तपस्या की और सन्यास की शक्ति का इतना बढ़ा कर वर्णन किया जाता है कि वह लोकों और देवताओं के भी कांपने का कारण बन जाता है। महाभारत का ही दो लाख से अधिक पंक्तियों का, जो कि इसमें हैं, विशाल कलेवर इस सदोष समनुपातिक बुद्धि का एक ठोस निदर्शन है।

जहाँ तक स्वरूप का प्रश्न है, जिसमें यह हमारे लिए प्रस्तुत किया जाता है, संस्कृत साहित्य प्राचीन और परवर्ती दोनों वैदिक कालों से भिन्न है। जबकि गद्य का प्रयोग यजुर्वेद और ब्राह्मणों में हुआ था और अन्ततः उसने विकास की कोई एक मात्रा प्राप्त कर ली थी यह संस्कृत में लगभग लुप्त हो गया। साहित्य की लगभग प्रत्येक शाखा का वर्णन पद्य में होता है और यह विषय के लिए प्रायः हानिकर है जैसा कि विधि (कानून) साहित्य में हुआ है। गद्य प्रयोग के लिए लगभग सीमित विषय विभाग व्याकरण और दर्शन हैं। किन्तु संकुचित और अस्पष्ट शैली जिसमें ये विषय निरूपित किए गए हैं गद्य के नाम के सर्वथा कठिनाई से अधिकारी हैं। साहित्यिक गद्य आख्यानकों, काल्पनिक लघुकथाओं रसात्मक अद्भुत उपाख्यानों और आंशिक रूप में नाटकों में मिलता है। इस उपेक्षा का दुष्परिणाम यह हुआ है कि परवर्ती युग के गद्य की तुलना अनुचित एवं असत्य रूप में ब्राह्मण ग्रन्थों के गद्य से की जाती है। रसात्मक अद्भुत उपाख्यानों अथवा गद्य काव्यों की शैली भी जो कि काव्य शास्त्र के कठोर नियमों का विषय है, इतनी ही असुन्दर है जितनी व्याकरण की टीकाओं की शैली, क्योंकि सूत्रों के समान इनमें लम्बे समासों का अतिमात्रा में प्रयोग इनका एक सारभूत लक्षण है।

इस प्रकार संस्कृत साहित्य लगभग पूर्ण रूप से छन्दों में होने के कारण प्रारम्भिक वैदिक युग से समता धारण करता है। किन्तु जिन छन्दों में यह साहित्य लिखा गया है वे वैदिक छन्दों से भिन्न हैं यद्यपि उन सभी का आधार वैदिक छन्द ही है। साहित्य का अधिक भाग श्लोक छन्द में रचा गया है जो आठ अक्षरों की चार पंक्तियों वाले वैदिक अनुष्टुभ छन्द का विकसित रूप है। किन्तु मूल आदर्श (वैदिक अनुष्टुभ) में चारों चरणों की समाप्ति लघु के बाद गुरु से होती है; किन्तु श्लोक में पहले और तीसरे चरण की समाप्ति गुरु के बाद गुरु की तालबद्धता से होती है। संस्कृत शास्त्रीयताऽनुमोदित कविता में प्रयोग किए गए बहुसंख्य छन्द अपने वैदिक मूल की अपेक्षा कहीं

अधिक श्रमसाध्य तथा परिपूर्ण हो गए हैं क्योंकि उनमें पंक्ति के अन्दर प्रत्येक अक्षर की मात्रा कठोरता के साथ निश्चित कर दी गई है।

अभिजात संस्कृत साहित्य

संस्कृत कविता में पुराने दो पौराणिक महाकाव्यों को छोड़कर शैली भी लम्बे समासों के प्रायिक प्रयोग के साथ ही साथ काव्यशास्त्र के कठोर नियमों की योजना के कारण अधिक कृत्रिम बना दी गई जबकि भाषा पाणिनि के व्याकरण के द्वारा नियन्त्रित हो गई। इस प्रकार शास्त्रानुयायी अभिजात संस्कृत साहित्य अलौकिक, काल्पनिक अत्युक्तिपूर्ण विचारों से राशि-राशि संकलित हो रहा है जबकि स्वरूप के कठोरतम नियमों से जकड़ा हुआ है। इस अवस्था में उसकी तुलना उष्ण कटिबन्ध में स्थित एक ऐसे उद्यान से की जा सकती है जो अति समृद्ध ऊँची जाति की बढ़वार से भरा हुआ है; फिर भी जिसमें सच्ची कविता के बहुत सुन्दर पुष्प काट छाँटकर फेंक दिए गए हैं।

संस्कृत के एक विद्वान के लिए भी जो कभी भारतवर्ष में नहीं रहा है बाद की इस कविता के गुणों का पूर्ण रूप से उदात्त मूल्यांकन करना और इसमें रस लेना सर्वथा असम्भव है, यह बात उन लोगों पर और अत्यधिक मात्रा में लागू होती है जो इससे केवल अनुवादों के माध्यम से परिचित होते हैं। क्योंकि पहली बात तो यह है कि कृत्रिम और श्रमसाध्य छन्दों में, जैसे कि ये हैं, अपनी स्वयं की एक सुन्दरता है जो किसी दूसरी भाषा में पुनरुत्पादित नहीं की जा सकती। दूसरी बात यह है कि पूर्ण रूप में इसे वही पाठक जान और समझ सकता है जिसने ऊँची भूमि पर सूर्य की अत्यन्त तीव्र गरमी में फैले हुए या प्रकाशमान चन्द्र किरणों में नहाए हुए उष्ण कटिबन्ध के भारतीय मैदानों और जंगलों को देख लिया हो; पवित्र अंजीर वृक्ष की जड़ के पास शान्त भाव से बैठे किसी सन्यासी का प्रत्यक्ष कर लिया हो; उसने वर्षा ऋतु के निकट आने पर उद्भूत होने वाली भावनाओं का अनुभव कर लिया हो; उसने सरोवरों और नदियों में परस्पर क्रीड़ा करने वाले पशु पक्षियों को ध्यान से देख लिया हो, विभिन्न ऋतुओं में परिवर्तित होने वाली प्रकृति से उसका परिचय होना चाहिए; संक्षेप में भारतीय प्रकृति के सभी दृश्यों और सभी स्वरों का उसे परिचय होना चाहिए—ऐसा दृश्य या स्वर जिसमें किसी एक का केवल उल्लेख या वर्णन किसी परिचित दृश्य को आँख के सामने उपस्थित कर दे या भावना की किसी मेरुरज्जु का स्पर्श करले। अन्यथा उदाहरण के लिए आम्र वृक्ष, रक्ताशोक, नारंगी रंग के पीले कदम्ब, विभिन्न प्रकार की लतायें, विभिन्न प्रकार के कमल जिनमें प्रत्येक का उल्लेख सामने प्रत्यक्ष दृश्य लाने वाला होना चाहिए शून्य निस्सार नाममात्र

रह जायेंगे। इसके अतिरिक्त 'स्वभावों, विचार पद्धतियों और जन समाज की परम्पराओं के बिना बहुत कुछ अर्थहीन ही बना रहेगा। किन्तु जो लोग ठीक रूप में इन सबके ज्ञान से भरे पूरे हैं वे अभिजात संस्कृत काव्य में अनेक सुन्दरताओं के दर्शन कर सकते हैं जो दूसरों के लिए पूर्ण रूप से खोई हुई वस्तु है। इस प्रकार एक प्रतिष्ठित विद्वान जो प्रस्तुत लेखक का परिचित है उस कविता की अन्तरात्मा में इतनी पूर्णता के साथ प्रविष्ट हो गया है कि वह अब किसी और कविता से आनन्द लेने में सर्वथा अक्षम है।

ऐसा समझना एक भूल होगी कि 'संस्कृत साहित्य का प्रादुर्भाव केवल वैदिक युग की समाप्ति पर ही हुआ' या 'यह एकमात्र वैदिक युग की एक परम्परा और उसका एक विकास है। अपने प्राचीनतम स्तरों में, जो अब लुप्त हो गये हैं, वेदों के धार्मिक साहित्य के साथ धर्मेतर साहित्य भी निश्चित ही समसामयिक रहा होगा। सबसे बाद की वैदिक काल की रचनाओं-उपनिषद् और सूत्र ग्रन्थों के साथ साथ एक ओर समृद्ध बौद्ध साहित्य और दूसरी ओर वीर चरितों के रूप में संस्कृत कविताओं का आदिम स्वरूप उद्‌भूत हुआ। हम देख चुके हैं कि ऋग्वेद में भी कुछ ऐसे सूक्त विद्यमान हैं जिनका स्वरूपचित्रणपरक है। बाद में ब्राह्मण ग्रन्थों में कुछ संख्या छोटे आख्यानों की मिलती है जो अधिकांश गद्य में हैं। किन्तु कभी कभी आंशिक रूप में छन्दोबद्ध भी हैं जैसे कि ऐतरेय ब्राह्मण में शुनः शेप की कथा। फिर निरुक्त में, जिसका प्रवर्तनकाल ५वीं शताब्दी बी. सी. होना ही चाहिए, अनेक गद्य कथायें विद्यमान हैं और वैदिक कथानकों के प्राचीनतम उपलब्ध संकलन छन्दोबद्ध बृहद्‌देवता का समय बहुत अधिक बाद का नहीं हो सकता।

दो प्राचीन पौराणिक महाकाव्य

संस्कृत महाकाव्य की कविता दो प्रधान वर्गों में आती है एक वह वर्ग जिसमें पुरानी कथायें आती हैं और जिनके नाम हैं—इतिहास या पुराण वृत्त आख्यान या वर्णन अथवा पुराण या पुराने कथानक जबकि दूसरे प्रकार की कविता काव्य कहलाती है जिसे कृत्रिम महाकाव्य कहा जा सकता है। महाभारत प्रथम वर्ग का प्रधान तथा सर्वप्राचीन प्रतिनिधि है और रामायण दूसरे वर्ग का। ये दोनों महान् महाकाव्य एक ही रूप में श्लोक छन्द में रचे गये हैं जैसा कि प्रयोग अभिजात संस्कृत कविता में किया गया है। हाँ महाभारत में पुरानी परम्परा के अवशेष के रूप में भी अवश्य पुराने स्तर के छन्दों का उपजाति और वंशस्थ छन्दों के नाम पर प्रयोग किया गया है। (ये छन्द वैदिक त्रिष्टुभ और जगती छन्दों के विकास हैं) इसके अतिरिक्त जो

अन्यथा पूर्ण रूप से छन्दोबद्ध रचना है उसमें कतिपय प्राचीन गद्य कथाओं को सुरक्षित रक्खा गया है। और भी यह अपनी सहधर्मिणी रचना (वाल्मीकि (रामायण) से भी इस अर्थ में भिन्न है कि इसमें कतिपय वक्तव्य इस प्रकार के शब्दों के साथ भी दिये गये हैं 'जो छन्द के अंग के रूप में सम्मिलित नहीं होते जैसे बृहदश्व ने ऐसा कहा'। ये इस प्रकार के कथन हैं जो पुराने संगीतात्मक वीर चरितों को जोड़ने वाले गद्योपाख्यान के अवशेष हो सकते हैं। फिर रामायण प्रधानतया एक कवि की कृति है जो योजना और रचना में पूर्व भारत की रचनाओं की सजातीय कृति है। देश के पश्चिमार्ध में उद्भूव हुआ महाभारत विभिन्न खण्डों का समूह है जिसमें एकरूपता केवल इतनी है कि जिस महाकाव्यात्मक कथानक चक्र का इसमें वर्णन किया गया है उससे ये संबद्ध हैं। दूसरी बात यह है कि महाकाव्य का मुख्य भाग जो समस्त ग्रन्थ का केवल एक पाचवाँ भाग है शिक्षात्मक वस्तुतत्त्व के सीमातिक्रमण से इतना अधिक आक्रान्त हो गया है कि इसका अन्तिम रूप बिल्कुल ही महाकाव्यात्मक नहीं रह गया है। किन्तु नैतिक शिक्षा का यह महाकोश बन गया है।

महाभारत

वर्तमान रूप में महाभारत में १ लाख से अधिक श्लोक हैं। इलियड और ओडेसी दोनों को मिलकर जितना बड़ा कलेवर बनता है उससे लगभग ८ गुना बड़ा महाभारत है। साहित्य के इतिहास में सबसे बड़े जिन काव्यों का अब तक ज्ञान है उनसे कहीं बड़ी यह रचना है। यह वीर चरित महाकाव्य और नैतिक शिक्षा विषयक सामग्री दोनों का एकीकृत रूप है जिसको पर्वनाम के १८ भागों में विभाजित किया गया है और १९ वां भाग हरिवंश है जो परिशिष्ट के रूप में जुड़ा है। इसके पर्व विस्तार में तथा परिमाण में एक दूसरे से अत्यधिक भिन्न हैं। १२ वां पर्व सबसे लम्बा है जिसमें लगभग १४००० श्लोक हैं जबकि १७ वां सबसे छोटा है जिसमें केवल ३१२ श्लोक हैं। ८ वें तथा अन्तिम तीन को छोड़कर सभी १८ पर्व उपपर्वों में विभाजित हैं और प्रत्येक उपपर्व अध्यायों में बँटा हुआ है।

महाभारत के संस्करण

अभी तक पूरा महाकाव्य यूरोप में प्रकाशित नहीं हुआ है और न यह कार्य ही अब तक हाथ में लिया गया है।[1] भविष्य के भाषा तत्त्ववेत्ताओं के

---

१. यह स्थिति मैक्डानल के समय में थी। अब सम्पूर्ण महाभारत के गद्य पद्यात्मक अनुवाद अनेक विदेशी एवं भारतीय भाषाओं में प्रकाशित हो चुके हैं, साथ ही चुने हुये अंश और सारांश संख्यातीत रूप में प्रकाश में आये हैं।

लिये सुरक्षित यह एक बहुत बड़ा कार्य अब तक बचा हुआ है और केवल अनेक विद्वानों के सहयोग से पूरा किया जा सकता है। महाभारत की पूर्ण पाण्डुलिपियां लन्दन, आक्सफोर्ड, पैरिस और बर्लिन में सुरक्षित हैं। इनके अतिरिक्त अन्य अनेक भारत के विभिन्न भागों में विद्यमान हैं जबकि इस महाकाव्य के खण्डों की पाण्डुलिपियां इतनी फैली पड़ी हैं कि उनकी गणना ही नहीं हो सकती।

महाकाव्य के तीन प्रमुख संस्करण भारत में प्रकाशित हो चुके हैं। अभी तक यह महाग्रन्थ अपने मूलरूप में केवल पाण्डुलिपियों में प्रसिद्ध था। इसका पहला संस्करण हरिवंश के साथ किन्तु बिना टीका के चार खण्डों में १८३४-१८३९ में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। दूसरा अधिक अच्छा संस्करण बम्बई में १८६३ में प्रकाशित किया गया; बाद में उसके कई संस्करण कई बार सत्ता में लाये गये। इस संस्करण में यद्यपि परिशिष्ट सम्मिलित नहीं है किन्तु इसमें नील कण्ठ की टीका शामिल की गई है। समग्ररूप में ये दोनों संस्करण एक दूसरे से अत्यधिक भिन्न नहीं हैं। एक ही मूल से गृहीत होने के कारण ये दोनों एक ही और वही परिशोधित संस्करण प्रस्तुत करते हैं। जो भी हो बाम्बे संस्करण अधिकतर अधिक अच्छा पाठ प्रस्तुत करता है। इसमें कलकत्ता संस्करण से लगभग २०० श्लोक अधिक है। किन्तु ये दोनों संस्करण अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

तीसरा संस्करण तेलुगु लिपि में प्रकाशित हुआ। यह चार खण्डों में मद्रास से १८५५-६० में प्रकाशित हुआ था। इसमें हरिवंश पुराण और नीलकण्ठ टीका के कतिपय उद्धरण भी सम्मिलित हैं। यह संस्करण स्पष्ट रूप से दक्षिण भारतीय संशोधित संस्करण का प्रतिनिधित्व करता है जो उत्तरी संस्करण से उतना ही अधिक विभेद रखता प्रतीत होता है जितना रायायण के तीन संशोधित संस्करण एक दूसरे से भिन्न हैं। दोनों संस्करणों का परिमाण एक ही है। पहले में जो कुछ छोड़ दिया गया है उसकी पूर्ति दूसरे में कुछ और जोड़कर कर दी गई है। कभी कभी पहले का पाठ अधिक अच्छा है और कभी कभी दूसरे का।

महाभारत का प्रतिपाद्य

इस पौराणिक महाकाव्य का सार तत्त्व है—महाभारत अर्थात् 'भरत वंशजों का महायुद्ध। इसमें २०००० श्लोकों में १८ दिन के युद्ध का वर्णन किया गया है। यह युद्ध एक ओर कुरुओं, जिनके नेता दुर्योधन थे और दूसरी ओर युधिष्ठिर के नेतृत्व वाले पाण्डवों के मध्य लड़ा गया था जो आपस में चचेरे भाई थे। दोनों का जन्म शकुन्तला के पुत्र भरत के वंश में हुआ था। इस

वर्णन के ढांचे में देवताओं राजाओं, ऋषियों, मुनियों आदि के प्राक्तन, विपुल विवरण, विश्वोत्पत्ति, देवोत्पित्ति दर्शन विवेचन, विधि, धर्म-शास्त्र राजनीति, क्षत्रियों और सैनिक वर्गों के कर्तव्य इन सबका विवेचन समाविष्ट हो गया। प्रकरण से भिन्न जातीय, विरोधी लम्बे लम्बे प्रकरणों के समावेश से मूल कथा के सूत्र खोजना बहुत दुष्कर हो जाता है। एक विशिष्ट कथन की व्याख्या करने के लिये उदाहरण देने में कभी-कभी पूरे पूरे प्रकरण समाविष्ट कर दिये जाते हैं। इस प्रकार जब दो सेनायें युद्ध के लिये तैयार होकर युद्ध भूमि में लाई जाती हैं १८ अध्यायों की पूरी दार्शनिक कविता भगवद्गीता सेनानायक अर्जुन को सुनाई जाती है जो आगे बढ़ने और अपने बन्धु बान्धवों से युद्ध करने में संकोच करता है। यही कारण है कि महाभारत केवल वीर चरित (महाकाव्य) होने का दावा नहीं करता अपितु वेदानुकूल शिक्षाओं, मानव अस्तित्व के चतुरंगीण उद्देश्यों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष,) स्मृति या पवित्र परम्पराओं के क्रिया कलाप जिसमें मानव के समस्त कर्तव्यों की व्याख्या की जाती है और जिसका मन्तव्य सभी हिन्दुओं को धार्मिक शिक्षा देना होता है इन सबके एक सङ्कलन होने का भी दावा करता है। इस प्रकार एक जैसे अनेक परिच्छेदों में एक (१.६२.३५) में अपने विषय में एक कथन किया गया है—'समस्त पवित्र ग्रन्थों का यह संग्रह सभी गुणवाम और विवेकवान् व्यक्तियों द्वारा सुना जाना चाहिए जिसमें गो ब्राह्मण की महत्ता का विस्तार पूर्वक बढ़ा चढ़ाकर वर्णन किया गया है।'[1] इसकी संज्ञा कार्ष्ण वेद है जिसका अर्थ है (विष्णु के एक रूप) कृष्ण का वेद। प्रत्येक बड़े पर्व के प्रारम्भ में नारायण, नर (विष्णु के नाम), और देवी सरस्वती (विष्णु की पत्नी) की प्रार्थना और आमन्त्रण[2] तथा समस्त रचना में वैष्णव सिद्धान्तों का प्रबल रूप में प्रचार ये सब तत्त्व इसे प्राचीन भगवद्धर्मानुयायी वैष्णव सम्प्रदाय की एक स्मृति सिद्ध करते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अपने वर्तमान रूप में महाभारत में वीर चरित महाकाव्य का केन्द्रीय तत्त्व विद्यमाम है; इसमें विष्णु पूजा का समर्थन किया गया है और यह परिपूर्णरूप में उपदेश परक रचना बन गया है। इसके

---

१. ब्राह्मणानां गवां चैव माहात्म्यं यत्र कीर्त्यंते।
सर्वश्रुतिसमूहोऽयं श्रोतव्यो धर्मबुद्धिभिः ॥

२. नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत ॥

अतिरिक्त हमें आदिपर्व में सीधे वक्तव्य मिलते हैं कि जब इसमें वृत्तान्त (उपाख्यान) जोड़े गये उसके पहले इसमें २४००० श्लोक थे, कि इसमें प्रारम्भ में ८८०० श्लोक थे और इसके तीन प्रारम्भ हुये हैं।[1] स्वीकृत तथ्यों का यह विवेचन इस बात को सम्भव बनाता है कि जब इस महाकाव्य ने सर्वप्रथम निश्चित रूप प्राप्त किया उस समय से विकास के तीन स्तर पार किये और यह निष्कर्ष विभिन्न आन्तरिक और बाह्य तर्कों से मेल खा जाता है।

महाभारत का मूल

इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि महाग्रन्थ के मूल बीज की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है जो कि दो पड़ोसी जातियों कुरु और पाञ्चाल के मध्य में प्राचीन संघर्ष के रूप में प्रतिष्ठित थी और ये दोनों जातियां मिलकर एकीकृत मानव वर्ग में परिणत हो गई थीं। यजुर्वेद में ये दोनों जातियां पहले से ही मिली हुई प्रतीत होती हैं और काठक संहिता में वैचित्रवीर्य राजा धृतराष्ट्र का जो कि महाभारत के प्रधान पात्रों में एक हैं, एक अत्यन्त प्रसिद्ध व्यक्ति के रूप में वर्णन किया गया है। इसलिये एक महान महाग्रन्थ के ऐतिहासिक बीज का अनुसन्धान बहुत ही प्रारम्भिक काल से किया जा सकता है जो कि ठीक रूप में १० वीं शताब्दी ईशा पूर्व से बाद का नहीं हो सकता। प्राचीन गृह कलह और उन प्राचीन वीरों के जिन्होंने इस युद्ध में भूमिका निभाई थी, पुराने गीत मौखिक परम्परा से निश्चित रूप में प्राप्त हुये होंगे और लोक सम्मत सभाओं एवं बड़े बड़े सार्वजनिक यज्ञों में गाये जाते रहे होंगे।

हमें यह मान लेना चाहिए कि किसी काव्यप्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति ने इन असम्बद्ध युद्ध गीतों को अपेक्षाकृत छोटे महाकाव्य के रूप में परिणत करने के लिए कार्य किया जिसमें कुरुवंश के दुःखद दैव-दुर्विपाक का वर्णन किया गया। कौरव, जिनके पक्ष में गुण (धर्म, सदाचार) और न्याय था, उन विजेता पाण्डुपुत्रों की छल-कपटपूर्ण नीति से नष्ट हो गए जिनके सिर पर कृष्ण की छत्रच्छाया थी। मौलिक महाकाव्य काल के चिह्न निस्सन्देह अब भी महाभारत में अपरिवर्तित रूप में सुरक्षित हैं जो कि प्राचीनकाल की वीरभावना और रीति-रिवाजों से सम्बन्ध रखते हैं और जो बाद की उस परिस्थिति से बहुत भिन्न है जिसको वर्तमान महाभारत कुल मिलाकर प्रतिफलित करता है। इस

---

२. चतुर्विंशतिसाहस्रीं चक्रे भारतसंहिताम्।
अष्टौ श्लोक सहस्राणि अष्टौ श्लोक शतानि च॥
\+ + + +
एकं शत सहस्रं तु मानुषेषु प्रतियष्टतम्॥ आदिपर्व (अध्याय १)

काल में ब्रह्मा का स्वरूप भी एक सबसे बड़े देवता के रूप में है। पाली साहित्य का प्रमाण सिद्ध करता है कि बुद्ध के समय में ब्रह्मा सबसे बड़े देवता माने जाते थे। सम्भवतः तब हम स्वीकार कर सकते हैं कि महाकाव्य का मौलिक स्वरूप ई० पू० लगभग ५वीं शताब्दी में सत्ता में आया। महाभारत की विद्यमानता का जो सबसे पुराना प्रमाण हमारे पास है वह किसी न किसी रूप में आश्वालायन गृह्यसूत्र में पाया जाता है जहाँ भारत और महाभारत का उल्लेख है। यह भी लगभग ५वीं शताब्दी बी० सी० की ओर संकेत करता है।

दूसरी अवस्था में यह महाकाव्य कथावाचकों के हाथ लगा और उन लोगों ने असम्बद्ध भावनात्मक अनेक प्रसंग इसमें जोड़ दिए जिससे इसका कलेवर बढ़कर २०००० श्लोकों का हो गया। इसमें पाण्डवों की अनुकूलता के प्रकाश में उनकी विजय का प्रतिनिधित्व किया गया। इसके साथ ही ब्रह्माजी के स्तर पर दो और देवता शिव और विशेष रूप से विष्णु का प्रवर्तन किया गया जिनमें विष्णु के अवतार रूप में कृष्ण प्रतीत हो रहे हैं।

मेगस्थनीज के विवरण से हमें ज्ञात होता है कि लगभग ३०० बी सी में ये दो देवता प्रमुख पद प्राप्त कर ही चुके थे और जनसमाज शैव और वैष्णव इन दो वर्गों में विभाजित हो चुका था। दूसरी बात यह है कि महाभारत में यवनों और ग्रीक लोगों का वर्णन कौरवों के सहयोगी के रूप में आता है और शक (सीथियन) तथा पह्लव (पर्थियन) लोगों का नाम भी उनके साथ लिया जाता है। बौद्धों के ध्वंसावशिष्ट टीलों के साथ हिन्दू मन्दिरों का भी विवरण मिलता है। इस प्रकार निश्चित ही ३०० बी सी के बाद और हमारे ईसवी संवत् के प्रारम्भ के समय तक मौलिक महाकाव्य का विस्तार हुआ होगा।

ब्राह्मण लोग जानते थे कि अपनी पौरोहित्य जाति के सिद्धान्तों का भी विचारशीलता के साथ आम जनता पर और विशेषकर राजाओं पर प्रभाव डालने के लिए नैतिक वस्तुतत्त्व का धीरे-धीरे समावेश कर महाकाव्य (महाभारत) के बहुत बड़े प्रभाव का उपयोग कैसे किया जा सकता है। इस प्रकार अन्ततः इसने धर्म के एक विशाल प्रबन्ध का स्वरूप ग्रहण कर लिया— एक ऐसा धर्म जिसमें ब्राह्मण संस्था की दैवी उत्पत्ति और उनकी अविकारता और नित्यता स्वीकार की गई है; साथ ही जातिप्रथा की सनातनता तथा पुरोहित वर्ग के प्रति सभी की अधीनता का प्रतिपादन किया गया है। जब महाभारत अपने उद्गम का श्रेय व्यास को देता है उसका अर्थ इस विश्वास

को प्रकट करना होता है कि इसका अन्तिम सम्पादन व्यास ने किया था क्योंकि यह नाम सामान्य रूप से सम्पादक या संघटित करने वाले का अर्थ देता है। डल्हमन ने हाल में एक सिद्धान्त दिया था कि बिल्कुल प्रारम्भ से ही यह महान् महाकाव्य एक नीतिप्रधान और सिद्धान्त प्रधान रचना थी। किन्तु यह दृष्टिकोण इस महाकाव्य की आधार सामग्री से बिल्कुल मेल नहीं खाता और विद्वानों के मध्य यह किसी प्रकार का समर्थन प्राप्त कर सके इसकी सम्भावना दिखलाई नहीं देती।

महाभारत का समय

महाभारत का जो स्वरूप हमारे पास है उसने वर्तमान स्वरूप कब प्राप्त कर लिया—इसका हमार पास क्या प्रमाण है? ४८२ ए. डी. या अधिक से अधिक ५३२ ए. डी. का भूमि अनुदान का एक शिलालेख है जो निर्विवाद रूप में सिद्ध करता है कि ५०० ई० के आसपास परमार्थतः इसका ठीक रूप में वही स्वरूप और वही विस्तार था जैसा कि आदिपर्व में दिए हुए भारतीय सर्वेक्षण (अनुक्रमणिका) में लिखा है और जैसा कि वस्तुतः यह इस समय उपलब्ध होता है; क्योंकि इसमें निम्नलिखित कथन विद्यमान है—'यह महाभारत में कहा गया है जो कि एक संग्रह है और जिसमें १ लाख पद्य विद्यमान है जो सबसे बड़े ऋषि व्यास द्वारा सम्पादित है—व्यास अर्थात् वेदों के संकलनकर्ता जो पराशर के पुत्र थे।' इस उद्धरण से यह भी सिद्ध होता है कि उस समय सबसे लम्बे १२वें और १३वें पर्व इस ग्रन्थ में सम्मिलित थे और साथ ही विस्तृत परिशिष्ट हरिवंश भी सम्मिलित था। इनमें से किसी एक के भी न होने पर १ लाख पद्यों के निकट की भी बात कहना असम्भव हो जाता। कतिपय भूमि अनुदान भी प्राप्त हुए हैं जिनकी तिथियाँ ४५० ई. से ५०० ई. के मध्य में हैं और भारत के विभिन्न भागों में प्राप्त होते हैं जिनमें महाभारत को एक आधिकारिक प्रमाण के रूप में उद्धृत किया गया हैं जिसमें पवित्र दानियों को पुरस्कार और पापी लुटेरों को दण्ड की शिक्षा दी गई है। इससे सिद्ध होता है कि पांचवीं शताब्दी के मध्य में इसका वही स्वरूप विद्यमान था जो आजकल है अर्थात् स्मृति या धर्मशास्त्र का स्वरूप। एकमात्र यही समझना तर्कसंगत है कि इसने कम से कम १ शताब्दी पहले अर्थात् ३५० ई. में यह स्वरूप अवश्य प्राप्त कर लिया होगा। उत्तरी बौद्धों के लेखों तथा दिनाङ्कों से अङ्कित चीनी अनुवादों के और अधिक अनुसन्धान सम्भवतः हमें इस योग्य बना दें कि हम इस काल को और कतिपय शताब्दी पीछे ले जा सकें। अब भी हमारा यह सोचना न्यायसंगत हो ही चुका है कि

यह महान महाग्रन्थ ईसवी शताब्दी के प्रारम्भ के पहले ही नैतिक और धार्मिक कविता का संग्रह बन चुका था इसकी बहुत बड़ी सम्भावना है। किसी भी दृष्टि से देखें हमारे ज्ञान की आज जो परिस्थिति है वह प्रो० होल्ट्समान के अपनी पुस्तक महाभारत में दिए हुए इस सुझाव को सर्वथा झुठला देती है कि महाकाव्य महाभारत ९०० ई. में ब्राह्मणों द्वारा धर्मशास्त्र के रूप में परिणत कर दिया गया था और पूरी पुस्तकें इस बाद के समय में जोड़ दी गईं।

ई. ६०० से ११०० तक के संस्कृत लेखकों के साहित्यिक प्रमाण अत्यधिक मात्रा में हमें इस बात की सूचना प्रदान करते हैं कि ५ शताब्दियों में इस महाकाव्य की क्या स्थिति थी। बाण और उनके पूर्ववर्ती सुबन्धु की रचनाओं की परीक्षा करने पर यह बात प्रकट हो जाती है कि इन लेखकों ने सभी ही १८ पर्वों के पौराणिक कथानकों का अध्ययन और अपने काव्य में सौन्दर्य सम्पादन के लिए केवल इनका उपयोग ही नहीं किया अपितु वे हरिवंश से भी परिचित थे। हम यह भी जानते हैं कि बाण के समय में गीता इस महान् ग्रन्थ में शामिल हो चुकी थी। वही लेखक यह भी वर्णन करता है कि उज्जैन के महाकाल के मन्दिर में महाभारत सुनाया जाया करता था। उस समय इस प्रकार पुराण सुनाने की व्यापक सामान्य परम्परा चारों ओर प्रचलित ही थी—इस बात का समर्थन कम्बोज नामक दूरवर्ती भारतीय कालोनी के ६०० ई. के आसपास के एक शिलालेख से होती है जिसमें लिखा है कि यह महाभारत की और उसी प्रकार रामायण तथा एक बिना नाम वाले पुराण की प्रतियाँ एक मन्दिर को प्रदान की गईं थीं और पुस्तकों के दाता ने ऐसा प्रबन्ध कर रखा था कि अविच्छिन्न रूप में अनन्तकाल तक नित्य कथा-वाचन होते रहने का विश्वास हो जाए। यह प्रमाण प्रकट करता है कि महा-भारत केवल वीरगाथापरक कविता ही नहीं हो सकती थी किन्तु लम्बे समय से प्रतिष्ठित अधिकारी स्तर की स्मृति ग्रन्थ की विशेषता भी उसमें विद्यमान थी। आज भी जनसमाज में भी और व्यक्तिगत भी महाकाव्य और पुराणों के कथावाचन की यह परम्परा भारत में सामान्य रूप में विद्यमान है और मन्दिरों या पारिवारिक जनों के यहाँ पूजकों के उपदेश या धर्मशिक्षा के लिए इस प्रकार के प्रवचन का आयोजन किया जाता है। इन आयोजनों में नियमा-नुसार संस्कृत पाठ्य की अवहेलना नहीं की जाती किन्तु जिससे स्त्रियाँ और ऐसे पुरुषों के लाभ के लिए जो ऐसे समाज से सम्बन्ध रखते हैं जो ब्राह्मणों की विद्वत्तापूर्ण भाषा से परिचित नहीं हैं लोकभाषा में उनकी व्याख्या भी की जाती है।

महाभारत पर कुमारिल का तथा अन्य प्रमाण

इसके बाद हम मीमांसा दर्शन के प्रतिष्ठित दार्शनिक कुमारिल की ओर आते हैं जिनके विषय में निश्चित रूप से प्रमाणित हो चुका है कि ये ८वीं शताब्दी के पूर्वार्धं में विद्यमान थे। उनकी महती टीका तन्त्र वार्तिक के एक छोटे से भाग की परीक्षा की गई जिसमें महाभारत के १८ पर्वों में कम से कम १० का नामोल्लेख किया गया है, उनसे उद्धरण दिए गए हैं और उनका विवरण दिया गया है। यह स्पष्ट है कि इस महाग्रन्थ का जो रूप उन्हें ज्ञात था उसमें प्रथम पुस्तक (आदिपर्व) केवल विद्यमान ही नहीं थी किन्तु यह भी सिद्ध होता है कि उनके समय की वह पुस्तक (आदिपर्व) उससे बहुत कुछ मिलती-जुलती थी जो आज हमारे पास है। उसके विषय में यह भी ज्ञात होता है कि उसमें अनुक्रमणिका नामक पहला भाग भी विद्यमान था जिसमें विषयवस्तु का सर्वेक्षण किया जाता है और दूसरा प्रकरण भी था जिसका शीर्षक है पर्वसंग्रह अर्थात् उसमें पर्वों का सार संकलित किया गया है। कुमारिल को १२वें और १३वें पर्वों का भी ज्ञान था जिनके विषय में प्रायः कहा जाता है कि ये बाद की रचनायें हैं, साथ ही उन्हें उन्नीसवें का भी ज्ञान था। उन्होंने जो इस महाकाव्य का परिचय दिया है उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे इस रचना को पवित्र परम्परा और लम्बी प्राचीनता की कृति मानते थे जिसका मन्तव्य प्रारम्भ से ही चारों वर्णों को उनके कर्तव्य की शिक्षा देना था। उनके लिए यह कौरवों और पाण्डवों के महायुद्ध का विवरण मात्र नहीं है किन्तु योद्धा जाति में सैनिक मनोवृत्ति जागृत करने के उद्देश्य से युद्धों के वर्णन का उपयोग किया गया था।

वेदान्त के महान दार्शनिक शङ्कराचार्य ने अपनी टीका सन् ८०४ ई. में लिखी थी। वे महाभारत को प्रायः एक स्मृति (धर्मशास्त्रों) के रूप में उद्धृत करते हैं और १२वें पर्व के एक पद्य की विवेचना करते हुए स्पष्ट रूप में कहते हैं कि महाभारत का उद्देश्य उन जातियों को धार्मिक शिक्षा देना है जिन जातियों पर यह प्रतिबन्ध है कि वे वेद वेदान्त का अध्ययन नहीं कर सकतीं।

११वीं शताब्दी के मध्य से महाभारत के सर्वाधिक प्राचीन विज्ञात उद्धरण हमें प्राप्त होते हैं जो कि काश्मीरी कवि क्षेमेन्द्र की भारतमञ्जरी नाम की रचना है। यह संघात रूप विशेष रूप से उपयोगी है क्योंकि यह किसी विद्वान को इस योग्य बना देता है कि वह विस्तार के साथ यह निर्णय कर सके कि उस समय महाभारत का पाठ्य विषय किस स्थिति में था। प्रो० बुल्हर ने बहुत ही मनोयोग के साथ इसकी पाण्डुलिपि की तुलना महान

महाग्रन्थ से की और वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि इस समय हमारे पास महाभारत की जो प्रति विद्यमान है वह क्षेमेन्द्र की मौलिक कृति से उससे अधिक भिन्न नहीं है जितना दो वर्गों की लिखी हुई पाण्डुलिपियाँ एक दूसरे से भिन्न होती हैं। इस काव्यात्मक सारांश लेखन में कई तत्त्व छूट गए हैं किन्तु समग्र रूप में ये परित्याग या उपेक्षायें उसी प्रकार की हैं जिस प्रकार हम ऐसे ही किसी अन्य सारांश लेखन से सम्भावना कर सकते हैं। तो भी यह सम्भव है कि १२ वें पर्व के १२ अध्याय (३४२ से ३५३ तक) जिनमें नारायण का वर्णन है और जो सारांश लेखक ने छोड़ दिए हैं हो सकता है वे लेखक को ज्ञात उसकी मूल प्रति में विद्यमान नहों। दूसरी बात यह है कि इसमें कोई सन्देह होने का अवसर नहीं है कि व्यक्तिगत नामों के जो स्वरूप मञ्जरी में मिलते हैं वे उनसे अधिक अच्छे भी हैं और अधिक पुराने भी हैं जो कि हमें महाभारत के संस्करणों में प्राप्त होते हैं। यद्यपि मूल पुस्तक को जिस प्रकार १८ भागों (पर्वों) में विभाजित किया गया है उसी प्रकार उसके संक्षेप मञ्जरी में भी १८ ही उपविभाग हैं तथापि सारांश में १२वें और १३वें पर्व को एक में मिला दिया गया है और संख्या की पूर्ति के लिए नवें (शल्य) पर्व के तीसरे उपखंड (गदा पर्व) को एक पृथक् पर्व मान लिया गया है। यह अन्तर सम्भवतः पुराने संस्करण के उपविभागों का प्रतिनिधित्व करता हो जैसा कि महाभारत की बहुत सी पाण्डुलिपियों में मिलता है।

महाभारत के रचनाकाल और उसके स्वरूप का निर्णायक दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जावा में किया हुआ महाभारत का अनुवाद। इसका भी रचना काल ११वीं शताब्दी है।

महाभारत के टीकाकार

महाभारत के सबसे अधिक प्रसिद्ध टीकाकार नीलकण्ठ हैं जो गोदावरी के पश्चिमी तट पर महाराष्ट्र के अन्तर्गत कूर्पर में रहते थे और बरनेल के अनुसार १६वीं शताब्दी में हुए थे। अर्जुनमिश्र एक दूसरे टीकाकार हैं जो नीलकण्ठ से पहले हुए थे और नीलकण्ठ ने उनको उद्धृत किया है। नीलकण्ठ के साथ अर्जुनमिश्र की टीका से युक्त महाभारत का प्रकाशन कलकत्ता से सन् १८७५ में प्रारम्भ हुआ था। इस महान् महाग्रन्थ के सर्वप्राचीन टीकाकार जिनकी कृति अब तक उपलब्ध होती है सर्वज्ञ नारायण हैं। इनकी टीका के लम्बे लम्बे खण्ड अब तक सुरक्षित रखे गए हैं और १४वीं शताब्दी के उत्तरार्ध के बाद के लिखे हुए कभी नहीं हो सकते। हो सकता है इससे पहले ही लिखे गए हों।

महाभारत की मूलकथा

महाभारत की मुख्य कथा के लिए जितना अधिक संक्षिप्तीकरण सम्भव है उतनी अधिक संक्षिप्त रूप रेखा इस प्रकार है—भरतों के देश में जिसका नाम एक शासक के वंश के नाम पर कुरुक्षेत्र या 'कुरुओं का देश पड़ गया था, हस्तिनापुर में जो वर्तमान दिल्ली के उत्तरपूर्व में ५७ मील दूर है, दो राजकुमार रहते थे—धृतराष्ट्र और पाण्डु। इन दोनों भ्राताओं में बड़े के अन्धे होने के कारण पाण्डु सिंहासन पर विराजमान हुए और शान के साथ शासन किया। उनके ५ पुत्र थे जो पाण्डव कहलाते थे जिनमें प्रमुख थे युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन। धृतराष्ट्र के एक सौ पुत्र थे जो सामान्यतः कौरव अर्थात् कुरुराजकुमार कहलाते थे। इनमें सर्वाधिक प्रमुख दुर्योधन था। पाण्डु के समय पूर्व मृत्यु हो जाने पर धृतराष्ट्र ने शासन सूत्र अपने हाथ में ले लिया और अपने राजमहल में अपने पांचों भतीजों को पाकर अपने पुत्रों के साथ उनका पालन पोषण किया। चूंकि पाण्डुपुत्रों ने वीरता के कामों और अस्त्रशस्त्रों में अपने को अधिक प्रतिष्ठित बना लिया और विजयों में उनकी (धृतराष्ट्र की) सहायता की अतः राजा ने सबसे बड़े भतीजे युधिष्ठिर को राज्य का उत्तराधिकारी (युवराज) नियुक्त कर दिया। पाण्डु के राजकुमारों ने शीघ्र ही उस जाल से छुटकारा पाने की आवश्यकता अनुभव कर ली जो उनके चचेरे भाइयों ने उनके प्रतिकूल प्रकट रूप में रचने प्रारम्भ कर दिये थे। उन्होंने पाञ्चाल के महाराज की ओर (सहायता के लिए) हाथ बढ़ाया जिनकी पुत्री द्रौपदी को बहुत से राजाओं और वीरों के साथ संघर्ष में अर्जुन ने जीत लिया था। केवल अर्जुन ही राजा के विशाल धनुष को चढ़ाने और एक निश्चित लक्ष्य का वेध करने में समर्थ हो सके थे। पारस्परिक संघर्ष और कलह को बचाने के मन्तव्य से द्रौपदी पांचों राजकुमारों की सामान्य पत्नी बनने के लिए राजी हो गई। द्रौपदी के स्वयंवर (अर्थात् जनसमाज के समारोह में पति के चुनाव) के अन्दर पाण्डुपुत्रों ने कृष्ण का परिचय प्राप्त किया जो यादवों के वीर योद्धा थे। ये इस समय के बाद उनके अत्यन्त घनिष्ठ मित्र बन गए और उनके परामर्श दाता रहे। अब पाण्डव लोगों का पाञ्चालों और यादवों दोनों से दूना मेल मिलाप बढ़ गया था। अतः धृतराष्ट्र ने उनसे मेलकर लेना अधिक अच्छा समझा और इस मन्तव्य से अब राज्य को दो भागों में बांट दिया जिसमें हस्तिनापुर अपने पुत्रों को दे दिया और अपने भतीजों को एक ऐसा प्रदेश दे दिया जहां उन्होंने इन्द्रप्रस्थ नामक एक शहर बसा लिया जो आजकल दिल्ली है। (पहला पर्व)

यहां पाण्डवों ने बुद्धिमत्ता के साथ शासन किया और बहुत अधिक सम्पन्नता प्राप्त कर ली। इससे दुर्योधन की ईर्ष्या बहुत अधिक बढ़ गई और उसने अपने मामा शकुनि की सहायता से जो द्यूतक्रीड़ा में अत्यधिक निपुण था, अपने चचेरे भाइयों को नष्ट कर देने का निश्चय कर लिया। इस योजना के अनुसार पाण्डवों को हस्तिनापुर बुलाने के लिए धृतराष्ट्र को फुसला लिया गया। यहां युधिष्ठिर ने दुर्योधन के साथ जुआ खेलने का आमन्त्रण स्वीकार कर लिया और द्यूतक्रीड़ा में अपना सब कुछ—अपना राज्य, अपनी सम्पत्ति, अपने भाई और अन्त में द्रौपदी को हार गये। अन्त में एक समझौता किया गया जिसके अनुसार पाण्डव लोग १२ वर्ष के लिए देश निकासे के लिए राजी हो गये और इसके लिए भी कि १३वां वर्ष अज्ञातवास करेंगे जिसके बाद लौट सकेंगे और अपना राज्य प्राप्त कर सकेंगे। (दूसरा सर्व)

इन शर्तों के अनुसार वे द्रौपदी के साथ सरस्वती के तट पर काम्यक वन को चले गए। यहां पर उनके १२ वर्ष के जीवन-वृत्त और बहुत सी कथायें जो उनके निर्वासन में उन्हें सन्तोष देने के लिए कही गई थीं, वनपर्व या 'वन की पुस्तक' का कलेवर बनाती है जोकि सबसे विशाल पर्वों में एक है।

(तीसरा पर्व)

तेरहवां वर्ष उन लोगों ने अज्ञात रूप में मत्स्यदेश के राजा विराट् के नौकर बनकर बिताया। इस अवसर पर कौरवों ने दूसरे राजा के सहयोग में मत्स्यदेश पर आक्रमण कर दिया और उस प्रदेश को बहुत बड़ी परेशानी में डाल दिया। तब पाण्डव उठ खड़े हुए और शत्रु को भागने पर विवश कर दिया। और राजा (विराट) को पुनः स्थापित कर दिया। अब उन्होंने स्वयं को प्रकट कर दिया और राजा से सन्धि कर ली। (चौथा पर्व)

जब पुनः अपना राज्य प्राप्त करने की उनके दावे की सूचना का कोई उचित उत्तर नहीं मिला तब उन्होंने युद्ध की तैयारी शुरू कर दी। विरोधी सेनायें कुरुक्षेत्र के पवित्र प्रदेश में एकत्र हुईं जिनमें दोनों ओर अधिसंख्य सहयोगी विद्यमान थे। अन्यों में कुरुओं के साथ कोशल, विदेह, अंग, वंग (बंगाल), कलिंग, ये पूर्व के राजा और सिन्धु गान्धार, बलख (बल्क) और इनके साथ शक तथा यवन, ये पश्चिम के राजा थे। दूसरी ओर पाण्डवों के सहायक थे पाञ्चाल मत्स्य, कृष्ण के नेतृत्व में कुछ यादव और इनके अतिरिक्त काशी, चेदि, मगध और बहुत से दूसरे लोग। (पांचवां पर्व)

प्रचण्ड युद्ध १८ दिन चलता रहा जब तक कि सारे कौरव नष्ट हो गए और केवल पाण्डव और कृष्ण अपने सारथी के साथ जीवित बचे रहे। इस युद्ध का वर्णन (६ से १० तक) ५ पर्वों में विस्तार के साथ वर्णित है। इसके

बाद मृतकों की प्रेतक्रिया का वर्णन आता है। (यह ११वां पर्व) है। इसके बाद अगले दो पर्वों में कुरुओं के नेता (पितामह) भीष्म अपनी मृत्यु शय्या पर लगभग २०००० श्लोकों में युधिष्ठिर को राजधर्म की तथा दूसरी बहुत सी बातों की शिक्षा देते हैं। (१२वां और १३वां पर्व)

पुराने राजा धृतराष्ट्र से पाण्डवों ने समझौता कर लिया। युधिष्ठिर को हस्तिनापुर की गद्दी पर बैठा दिया गया और उन्होंने अश्वमेघ यज्ञ करने की व्यवस्था की। (१४वाँ पर्व) हस्तिनापुर में धृतराष्ट्र १५ वर्ष निवास कर चुके थे अब अन्ततः पत्नी गान्धारी के साथ जंगल में चले गये जहाँ वे प्रचण्ड दावानल में नष्ट हो गये। (१५वाँ पर्व) यादवों ने महायुद्ध में भिन्न भिन्न (परस्पर विरोधी) पक्ष स्वीकार किए थे। उन लोगों में आपस में ही एक दूसरे का विनाश करने वाला संघर्ष प्रारम्भ हो गया जिसका परिणाम यह हुआ कि उनका यह पूरा वंश ही विलुप्त हो गया। कृष्ण शोक के साथ जनहीन एकान्त जंगल में चले गए जहां संयोगवश किसी शिकारी ने उन्हें बाण से मार डाला। (१६वाँ पर्व)

अन्त में पाण्डव भी जीवन से श्रान्त हो चुके थे। अर्जुन के पौत्र युवा राजकुमार परीक्षित को हस्तिनापुर के शासन के लिए छोड़कर संन्यास लेकर जंगल को चले गए और देवताओं के पर्वत मेरु की ओर घूमने लगे। (१७वां पर्व) और अपनी आज्ञाकारिणी पत्नी के साथ स्वर्ग को चले गए। [१८वां पर्व]

इस विशाल महाकाव्य का प्रारम्भ आदिपर्व से हुआ था, जिसका ढांचा ऊपर प्रस्तुत किया गया है, यहां पर आकर समाप्त हो जाता है। राजा परीक्षित सांप काटने से मर गए थे, उनके पुत्र जनमेजय ने सर्पों के एक बहुत बड़े यज्ञ [नागयज्ञ] की नींव डाली। इस अवसर पर वैशम्पायन ने महाग्रन्थ का प्रवचन किया जो उन्होंने वेद व्यास से सुना था। हमें बतलाया जाता है कि वेदव्यास ने चारों वेदों का व्यवस्थापन कर महाभारत की रचना की जिसमें पाण्डवों के प्रकर्ष का वर्णन किया गया है, कृष्ण की महत्ता और धृतराष्ट्र के पुत्रों की दुष्टता का भी वर्णन किया गया है।

पूरक पुस्तक हरिवंश अर्थात् 'विष्णु का वंश' का सम्बन्ध केवल कृष्ण से है। इसमें सोलह हजार श्लोक हैं और इसका विभाजन ३ खण्डों में किया गया है। इसमें पहले खण्ड में कृष्ण के पूर्वजों के इतिहास का वर्णन उस समय तक किया गया है जबकि उस वंश में कृष्ण के रूप में विष्णु का अवतार हुआ। दूसरे खण्ड में कृष्ण के वीरता के कार्यों का वर्णन किया गया है। तीसरे खण्ड में भविष्य में होने वाली विश्व के चौथे युग कलियुग की बुराइयों का वर्णन किया गया है।

प्रासङ्गिक कथायें

महाभारत की प्रासङ्गिक कथायें अनन्त हैं और कभी कभी बहुत लम्बी हैं। जैसा कि हम देख चुके हैं ये कथायें पूरी रचना के ⅘ भाग में बिखरी पड़ी हैं। इनमें बहुत सी विभिन्न कारणों से आनन्ददायक हैं और उनमें कतिपय अत्यधिक काव्य सौन्दर्य लिए हुए प्रतिष्ठित हैं। इनमें एक शकुन्तला की कथा ने जो आदि पर्व में आई है कालिदास को प्रसिद्ध नाटक की विषय वस्तु प्रदान की है। तीसरे पर्व में उपकथाओं की संख्या अत्यधिक है जो उस समय पाण्डवों हैं जब वे निर्वासन में अपना समय बिता रहे थे। यहां हमें मत्स्योपाख्यान से कही गई अर्थात् 'मछली की उपकथा' मिलती है जिसमें जलप्लावन का वर्णन किया गया है। शतपथ ब्राह्मण में यह जो बहुत ही साधारण कथा कही गई है उसकी अपेक्षा यहां इसका वर्णन अधिक प्रपञ्च और वाग्विलास के साथ किया गया है। यहाँ मछली स्वयं को जगत् का उत्पत्तिकर्ता ब्रह्मा बतलाती है। अभी तक वह स्वयं को विष्णु नहीं कहती जैसा कि भागवत पुराण में कहा गया है। मनु जी अब अधिक मानवजाति के पूर्वपुरुष प्रतीत नहीं होते लेकिन एक सृष्टिकर्ता हैं जो प्राणियों और संसारों को नये रूप में जन्म देते हैं जिसमें उपकरण है उन की साधना की शक्ति।

एक दूसरा उपाख्यान राम का इतिहास है जो बाल्मीकि रामायण के सम्बन्ध में एक रुचिकर कथानक है। बाल्मीकि रामायण में भी वही विषय आया है किन्तु अधिक विस्तार के साथ। यहाँ जो पौराणिक कथा गंगा के स्वर्ग से पृथ्वी पर आने के विषय में कही गई है वह रामायण में भी आई है।

एक अन्य कथा ऋषि भृङ्ग की है जिसने अंगराज लोमपाद के प्रदेश में वर्षा करवा दी थी और जिसको पुरस्कार के रूप में राजकुमारी शान्ता का हाथ दे दिया गया था [उससे पाणिग्रहण करवा दिया गया था] और उन्होंने राजा दशरथ के लिए वह पुत्रेष्टि यज्ञ करवाया था जिससे राम के जन्म का शुभवसर प्राप्त हुआ था। समीक्षात्मक दृष्टि से यह कथानक विशेषरूप से इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि यह केवल रामायण में ही नहीं आता किन्तु पद्मपुराण, स्कन्दपुराण तथा अन्य अनेक उद्गमों [स्थानों] में भी आया है।

एक विशेष रोचक कथा शिवि के पुत्र उशीनर की है जिसने बाज से एक कबूतर की जान बचाने के लिए अपने जीवन का बलिदान कर दिया था। यही कथा पुनः तीसरे पर्व के एक अन्य भाग में स्वयं शिवि के विषय में कही गई और इसी प्रकार १३वें पर्व में शिवि के पुत्र वृषदर्भ के विषय में है। स्पष्ट रूप से अपने उद्गम और विशेषताओं में यह बौद्ध कथा पाली साहित्य में

आई है और संस्कृत में भी आई है तथा भारत की सीमाओं का अतिक्रमण कर विदेशों में प्रचलित हुई है।

जब द्रौपदी पाण्डवों के साथ काम्यक वन में रह रही थी उस समय उसके अपहरण के विषय में उसके जीवन की कथा महाभारत का एक उपाख्यान है। जब संयोगवश द्रौपदी अकेली ही थी सिन्धु देश का राजा जयद्रथ एक बड़ी सेना के साथ उधर से निकल रहा था। उसकी दृष्टि द्रौपदी पर पड़ गई और दृष्टि में ही उसके हृदय में प्रेम जागृत हो गया। वह बलात् भगा ली गई और छुटकारा तभी हो सका जबकि एक भयानक युद्ध हुआ जिसमें जयद्रथ की सारी सेना समाप्त हो गई।

उस काल में पौराणिक देव कथाओं की विचारधारा साहित्य में किस प्रकार विद्यमान थी इसका रोचक उदाहरण वह आख्यान है जिसमें इन्द्र के स्वर्ग में अर्जुन के जाने का वर्णन है। इसमें हमें मिलता है कि वेदों के शक्तिशाली युद्ध के देवता ने बाद के साहित्य में एक शानदार महाराज का रूप धारण कर लिया है जो स्वर्गीय दरबार में शानदार वातावरण में अपना आराम का जीवन बिता रहे हैं—उस दरबार में जहां पर संगीत की बहुत खीचीं हुई तानें लोरी जैसी सुनाकर कानों को तृप्त करती रहती हैं जबकि आँखें अति मनोरम नृत्यों एवं स्वर्गीय परियों की उच्चकोटि की सुन्दरता से आकर्षित होती रहती हैं।

सावित्री की कथा में हमें एक ऐसे स्त्रीचरित्र के दर्शन होते हैं जो उन अनेक सर्वोत्तम आदर्श स्त्रीचरित्रों में एक है जिनकी रचना भारत की प्राचीनतर महाकाव्यात्मक कविता में की गई है। मद्रदेश के महाराज अश्वपति की पुत्री सावित्री पति के रूप में सत्यवान को चुन लेती है। सत्यवान एक ऐसे निर्वासित अन्धे पिता के रूपवान प्रशस्त पुत्र हैं जो जंगल के आश्रम में रहता है। यद्यपि तत्त्ववेत्ता ऋषि नारद ने आगाह कर दिया है कि राजकुमार के भाग्य में केवल एक वर्ष और जीवित रहना शेष रह गया है फिर भी सावित्री अपने चुनाव पर साग्रह दृढ रहती है और विवाह के बाद पति के साथ उसके पिता के पास जंगली एकान्त आश्रय स्थान पर चली जाती है। यहां वह तब तक सानन्द निवास करती है जबकि दुर्भाग्यपूर्ण दिन के निकट आने पर उसकी परेशानी उसे पीड़ित करना प्रारम्भ नहीं कर देती। जब वह दिन आ जाता है वह जंगल में लकड़ी काटने के लिए जाने वाले पति के साथ चल देती है। कुछ समय बाद वह थक कर लेट जाता है। मृत्यु के देवता यमराज प्रकट होते हैं और आत्मा को लेकर चल देते हैं। चूंकि सावित्री निरन्तर उसका पीछा

करती है यमराज विभिन्न प्रकार के अनेक वरदान देने के लिए उससे कहता है किन्तु प्रत्येक बार उसके पति के जीवन की मांग को छोड़कर वरदान मांगने को कहता है। किन्तु अन्त में उसके निरन्तर अतिमात्र आग्रह पर दब जाता है और जीवनहीन शरीर में आत्मा का पुनः संचार कर देता है। सत्यवान् जीवित हो जाता है और अनेक वर्षों तक अपनी अनुगामिनी पत्नी के साथ आनन्दमय जीवन व्यतीत करता है।

सर्वाधिक प्राचीन और सर्वाधिक मनोरम जो कथायें महाभारत में सम्मिलित की गयीं हैं उनमें नलोपाख्यान अर्थात् नल की कथा एक अन्यतम उपाख्यान है। यह एक ऐसी कथा है जिसे घटनाओं के जाल से कम से कम दूषित किया गया है। इसकी बहुत बड़ी प्रतिष्ठा ने इसके सम्पादक के रूप परिवर्तक हाथ को इस बात के लिए रोक दिया कि वह इस कथा में शिव या विष्णु का प्रवेश करता या व्यवहार की सर्वजन सामान्य साधारणता का उच्छेद कर सकता जिसके साथ इसका चित्रण किया गया है (जैसे राजकुमार अपना भोजन स्वयं बनाता है) अथवा इन्द्र के चरित्र में परिवर्तन ला सकता पुरानी विशेषताओं को बदल सकता। यह कविता ऐसी नैतिकता के उच्चकोटि के स्वर से परिपूर्ण रूप से घिरी हुई है जो सब बातों के ऊपर वीरतापूर्ण लगन और इस कथानक की प्रमुख पात्र दमयन्ती की पति परायणता से संबद्ध है। इसमें अनेक अनुच्छेद विद्यमान हैं जो कोमल भावना से पृथक रूप में प्रतिभासित हो रहे हैं।

यह कथा ज्ञानी बृहदश्व ने निर्वासित युधिष्ठिर के द्यूत क्रीड़ा में गंवाये हुए राज्य की हानि से पीड़ित मन को सान्त्वना देने के लिए सुनाई थी। निषध के राजकुमार नल जिनको विदर्भ की राजकुमारी दमयन्ती ने बहुत से प्रतियोगियों के मध्य में विवाह के लिए चुना था कतिपय वर्षों तक अपना आनन्दमय वैवाहिक जीवन बिताते हैं। तब दानव कलि के आविष्ट हो जाने के कारण और द्यूत में प्रसक्त हो जाने से वह अपने राज्य तथा समस्त अधिकृत वस्तुओं को खो देता है। दमयन्ती के साथ अर्धनग्न अवस्था में जंगल में घूमते हुए अपनी सनक में उसे (दमयन्ती को) छोड़ देता है। वह दृश्य बड़ा ही कारुणिक है जिसमें वर्णन किया गया है कि किस प्रकार अन्तिम रूप में उसको छोड़ जाने के पहले वह उस स्थान पर बार-बार लौट कर आता है जहां उसकी पत्नी भूमि पर लेटी हुई सो रही होती है। उतने ही मर्मस्पर्शी वर्णन उसके भय और विलापों के भी हैं जब वह जागकर जंगल में अपने को अकेला पाती है और अपने पति की खोज में इधर-उधर भटकती है तथा उसे पुकार उठती है—

वनपर्व अध्याय ६४

वीर विक्रान्त धर्मज्ञ सत्यसन्ध महीपते ।।५६।।
यद्यस्यस्मिन् वने राजन् दर्शयात्मानमात्मना ।
कदा सुस्निग्धगम्भीरां जीमूतस्वनसन्निभाम् ।।५७।।
श्रोष्यामि नैषधस्याहं वाचंताममृतोपमाम् ।
वैदर्भीत्येव विस्पष्टां शुभां राज्ञो महात्मनः ।।५८।।
आम्नायसारिणीमृद्धां मम शोकविनाशिनीम् ।
भीतामाश्वासयत मां नृपते धर्मवत्सल ।।५९।।

'शूरवीर ! पराक्रमी ! कर्तव्य के ज्ञाता सत्य ! का सम्मान करने वाले, भूमि के स्वामी ! यदि तुम इस वन में विद्यमान हो तो अपने ठीक स्वरूप में दर्शन दो । क्या मैं नल की वाणी सुनूंगी जो अमृत के प्रवाह के समान मधुर और स्निग्ध है, जिसका स्वर-निर्घोष पूर्ण मेघगर्जन के समान गम्भीर और सुकुमार है, उस सुस्पष्ट कल्याणी वाणी में वे मुझसे 'विदर्भ पुत्री कहेंगे, वह वैदिक ऋचा जैसी प्रवाहपूर्ण होगी और मेरे समस्त भयों को नष्ट करने वाली होगी ।

चन्द्रलेखामिव नवां व्योम्नि नीलाभ्रसंवृताम् ।
दह्यमानामिवार्केण मृणालीमिव चोद्धताम् ।।
मलपंकानुलिप्ताङ्गीं मृणालीमिव चोद्धताम् ।
पौर्णमासीमिव निशां राहुग्रस्त निशाकराम् ।।

वनपर्व अध्याय ६८

आकाश में काले मेघों द्वारा अन्धकाराच्छन्न क्षीण, नवोदित अर्धचन्द्रकला के समान उखाड़ फेंकी हुई, सूर्य द्वारा पूर्णरूप से जलाई हुई मुरझाई कमलकली के समान, ऐसी क्षीण कान्ति पीली पड़ी हुई (पूर्णमासी की) रात्रि के समान जिसमें राहु ने काले पड़े हुए चन्द्रमा को निगल लिया हो ।

उष्ण कटिबन्ध के जंगलों में जहां दमयन्ती घूम रही थी बहुत ही सुन्दर और भयानक दृश्यों का स्पष्ट एवं उल्लेख वर्णन किया गया है । अन्त में उसे अपने पिता के दरबार कुण्डिन को लौटने का मार्ग मिल जाता है । अपने पति के वियोग में राजकुमारी के दुःखमय एवं बरबाद हुए स्वरूप के वर्णन में कवि ने जो उपमायें दी हैं वे संख्या बहुत हैं और बहुत प्रभावशाली है ।
वह है:—

इस बीच एक बौने के रूप में परिणत हुआ नल अवध के राजा का सारथी बन जाता है । अन्त में दमयन्ती ऐसे समाचार सुनती है जिनसे उसे पति की

वर्तमान परिस्थिति के विषय में सन्देह हो जाता है। इसके अनुसार वह अवध के राजा को अपना हाथ देने (विवाह करने) की आशा इस शर्त पर देती है कि वह एक ही दिन में ५०० मील की कुण्डिन की दूरी रथ से पूरी कर ले। नल सारथी का कार्य करते हुए इस कठिन साहस पूर्ण कार्य को पूरा कर लेते हैं और पुरुस्कार के रूप में राजा उन्हें द्यूत की सबसे बड़ी निपुणता का रहस्य प्रदान कर देते हैं। गुप्त वेश में छिपे हुए भी वे पत्नी द्वारा पहिचान लिये जाते हैं और पुनः अपने स्वरूप में आ जाते हैं। वे पुनः द्यूत खेलते हैं और दुवारा अपना खोया राज्य प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार साहस, दुःख और अपमान के वर्षों बाद अन्त में वे दमयन्ती से पुनः मिल जाते हैं जिसके साथ वे जीवन के शेष दिनों को आनन्द के साथ बिताते हैं।

यद्यपि बहुत सी लोकोत्तर चमत्कार पूर्ण ऐसी घटनाये जो परियों की कहानियों में मिलती हैं नलोपाख्यान में प्राप्त होती हैं किन्तु वे इतनी पर्याप्त नहीं हैं कि सच्ची कविता की अन्तरात्मा का हनन कर सकें जो समग्ररूपसे इस कथा में परिव्याप्त हैं।

पुराण

महाभारत के साथ अत्यन्त निकट रूप में सम्बन्धित १८ महाकाव्य कृतियों का एक सुस्पष्ट वर्ग है जो स्वाभाविक प्रवृत्ति में शिक्षात्मक और उद्देश्य में साम्प्रदायिक है तथा जिसका प्रचलन पुराण नाम से हुआ है। पुराण यह सापेक्ष पद पहले से ही ब्राह्मण ग्रन्थों में पाया जाता है और सामान्य रूप में सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में समीक्षा का अभिधान करता है। यह महाभारत में भी आया है जो कुछ-कुछ अस्पष्ट रूप में 'प्राचीन काल्पनिक उपाख्यान विद्या का वाचक है जो शिक्षात्मकता के साथ ही साथ वर्णनात्मक वस्तुतत्त्व को भी महाभारत के एक परिच्छेद में व्यक्त किया गया है[1] (१.५.१) कि पुराणों में देवताओं की कथायें और ऋषियों की वंशावली का वर्णन है। १८वें पर्व में[2] और हरिवंश में १८ पुराणों का भी उल्लेख है। किन्तु जो भी हो उन पुराणों को सुरक्षित नहीं रखा जा सका। क्योंकि आज जो पुराण हमें प्राप्त होते हैं सब बातों पर विचार करने पर वे सब महाभारत के बाद के सिद्ध होते हैं और उनके बहुत बड़े भाग में प्राचीन

---

१. पुराणे हि कथाः पुण्याः आदिवंशाश्च धीमताम्।
इतिवृत्तं नरेन्द्राणांमृषीणांच महात्मनां ॥ (१-५)

२. अष्टादशपुराणां कर्तुर्वेदमहोदधेः ॥ (१८.५.४७)

काल की कथायें स्वयं इस विशाल महाग्रन्थ से ली गई हैं। फिर भी उनमें बहुत कुछ ऐसा है जिसे प्राचीन कहा जा सकता है और सर्वत्र तथा सर्वदा यह स्वीकार करना सम्भव नहीं होता कि जो प्रकरण महाभारत या मनु से सामान्य रूप से मेल खाते हैं वे सब उन्हीं पुस्तकों से लिए गए हैं। ये तत्त्व अनेक सूत्रों के द्वारा पुरानी धार्मिक विधि पुस्तकों (स्मृतियों) और वेदों से जुड़े हुए हैं जिनमें सम्भवतः उसी वर्ग की प्राचीन कृतियों के विकास का प्रतिनिधित्व किया गया है। अपनी विषयवस्तु के उस भाग में जो कि उनकी अपनी विलक्षणता है पुराण एक दूसरे से इतनी निकटता से मेल खाते हैं, प्रायः कई कई पृष्ठों तक शब्दशः एक जैसे ही मिलते चले जाते हैं कि ऐसा प्रतीत होने लगता है कि उनका उपादान किसी सामान्य प्राचीन संग्रहात्मक उद्गम से हुआ होना चाहिए। उनमें बहुतों का परिचय ठीक रूप में उसी प्रकार दिया गया है जिस प्रकार महाभारत का—लोमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवा को नैमिषारण्य में यज्ञ के अवसर पर शौनक के प्रति इनकी विषयवस्तु का परिचय देने वाला प्रतिनिधि बतलाया गया है। इन अधिकांश पौराणिक संग्रहों का उद्देश्य विष्णु-विषयक साम्प्रदायिक पक्ष की संस्तुति करना है यद्यपि उनमें कतिपय ऐसे भी हैं जो शिव पूजा का समर्थन करते हैं।

सृष्टि की उत्पत्ति के अतिरिक्त उनमें पृथ्वी का पौराणिक विवरण, ब्रह्माण्ड के आयुष्यों का सिद्धान्त, पुराने देवताओं सन्तों और वीरों के साहसिक कार्य, विष्णु के अवतारों का विवरण, सूर्यवंश और चन्द्रवंश की वंशावली और विष्णु तथा शिव के सहस्र नाम इन विषयों का भी इनमें विवेचन किया गया है। इनमें प्रार्थनाओं, उपवासों, सङ्कल्प के साथ दान-दक्षिणाओं, उत्सवों और तीर्थयात्राओं के साधनों से देवपूजा-विषयक नियमों का भी समावेश है।

पुराणों की विषयवस्तु

गरुड़ तथा उसके साथ ही परवर्ती तथा महत्वहीन **अग्निपुराण** (ये दोनों) महाभारत तथा हरिवंश पुराण के लगभग सार-संग्रह से विरचित किए गए हैं।

वायुपुराण जो सर्वाधिक प्राचीनतम पुराणों में एक दिखलाई पड़ता है महाभारत में आई विषयवस्तु से आंशिक रूप में मेल खाता है, किन्तु यह हरिवंश पुराण से अधिक निकट रूप में सम्बद्ध है। जो परिच्छेद विश्व की उत्पत्ति के विषय में विवरण प्रदान करता है वह अधिकतर उस भाग से शब्दशः मेल खाता है जो वही विषय बाद की कविता में आया है।

स्रोत के रूप में महाभारत और उसकी अनुपूरक कृति (हरिवंश) से **मत्स्यपुराण** का उतना ही निकट सम्बन्ध है। इसमें मनु और मत्स्य की कथा

उपक्रम रूप में आती है। **कूर्मपुराण** में विष्णु के अवतारों के विवरण (जिनमें कूर्म अवतार भी एक है), देवताओं और राजा लोगों की वंशावली तथा इनके अतिरिक्त और बहुत से विषय तो आए ही हैं साथ ही महाभारत तथा सामान्य रूप से दूसरे पुराणों में स्वीकृत सृष्टिरचना-विषयक मनःकल्पित जो विचार दिए गए हैं उन्हीं के अनुसार विस्तृत विवरण इसमें भी प्राप्त होता है। इसमें सात स्वकेन्द्रित द्वीपों से युक्त विश्व का वर्णन किया गया है। ये द्वीप विभिन्न महासागरों से पृथक् किए गए हैं। मध्यवर्ती द्वीप जिसके मध्य में मेरुपर्वत विद्यमान है जम्मू द्वीप है जिसमें भारतवर्ष अर्थात् 'भरतवंशियों का देश' या हिन्दुस्तान एक प्रमुख उपविभाग है।

मारकण्डेयपुराण स्पष्ट शब्दों में महाभारत की प्राथमिकता स्वीकार करता है। इसके नामकरण का कारण यह है कि मार्कण्डेय मुनि ने उन कठिनाइयों की व्याख्या करने के लिए इसका प्रकथन किया है (जो प्रश्न महाभारत में अनिर्णीत छोड़ दिए गए थे।) उदाहरण के लिए एक प्रश्न यह है कि कृष्ण मानव कैसे बन गए थे। इस (पुराण) की स्वरूपगत विशेषता है कथानकों का विवरण देना तथा पुराणों में यह सबसे कम साम्प्रदायिक है।

इसके (असाम्प्रदायिक तत्त्व के) प्रतिकूल विस्तृत **पद्मपुराण** है जिसमें अत्यधिक संख्या में कथायें हैं जो महाभारत की कथाओं से मेल खाती हैं। यह अपने स्वर में दृढ़ रूप में सम्प्रदायवादी है। फिर भी यह तथा मार्कण्डेय पुराण स्पष्ट रूप में त्रिदेव के सिद्धान्त का वर्णन करते हैं अर्थात् ये मानते हैं कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश ये तीनों देवता केवल एक ही सत्ता के स्वरूप हैं। यह सिद्धान्त जो हरिवंश पुराण में पहले से ही प्राप्त होता है वेदोत्तर साहित्य में इतना मुख्य नहीं है जैसा कि आमतौर से समझा जाता है। इस बात पर ध्यान देना मनोरञ्जक है कि पद्मपुराण में राम की जो कथा कही गई है वह केवल रामायण का ही अनुसरण नहीं करती अपितु रघुवंश में कालिदास द्वारा दिए हुए विवरण से भी मेल खाती है और कहीं-कहीं तो शब्दश: उसके अनुकूल ही है। दूसरा उदाहरण यह है कि इसमें जो शकुन्तला की कथा आई है वह महाभारत के अनुसार नहीं है किन्तु कालिदास के नाटक का अनुसरण करती हैं।

ब्रह्मवैवर्तपुराण भी दृढ़ता के साथ साम्प्रदायिक है जो कृष्ण के रूप में विष्णु का पक्षधर है। ध्यान देने की बात यह है कि इसमें और पद्मपुराण दोनों में कृष्ण की प्रियतमा राधा ने बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है जो कि हरिवंश, विष्णु और यहाँ तक कि श्रीमद्भागवत में भी वे सर्वथा अज्ञात हैं।

विष्णुपुराण जो प्रायः महाभारत की विषयवस्तु से बहुत अधिक मेल खाता है पुराणों की भारतीय परिभाषा से सर्वाधिक निकट रूप में लक्षण की पूर्ति करता है। भारतीय लक्षण के अनुसार पुराणों में ५ विषय होने चाहिए—सृष्टि की प्रथम उत्पत्ति, फिर दूसरी बार ब्रह्मा के प्रतिनिधियों द्वारा उत्पत्ति, देवताओं और पैतृक महापुरुषों की वंशावली, विभिन्न मनुओं का शासन काल और राजा लोगों की पुरानी वंश परम्परा का इतिहास।[1]

भागवतपुराण में लगभग १८००० श्लोक हैं। इसका नामकरण इसलिए हुआ है कि यह भागवतों (भगवद्भक्तों) अथवा विष्णु के गुणगान में समर्पित किया गया है। यह विष्णुपुराण के बाद का है। यह विष्णु पुराण का पहले होना स्वीकार करता है। सम्भवतः इसका समय तेरहवीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है। इसने भारत पर इसने अन्य पुराणों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली प्रभाव जमाया है। इसका सबसे अधिक प्रसिद्ध भाग १०वां स्कन्ध है जो विस्तार पूर्वक कृष्ण चारित्र का वर्णन करता है और इसका अनुवाद सम्भवतः भारत की प्रत्येक प्रादेशिक मातृभाषा में हुआ है।

बाद की तिथियों के लिखे हुए दूसरे वैष्णव पुराण हैं—**ब्राह्म, नारदीय वामन** और **वाराह**। बाद के दो का नामकरण क्रमशः बौने रूप में और शूकर रूप में विष्णु भगवान के अवतार लेने के कारण हुआ है।

जो पुराण विशेष रूप से शिव सम्प्रदाय का समर्थन करते हैं—वे ये हैं—**स्कन्द, शिव, लिङ्ग** और **भविष्य या भविष्यत् पुराण**। बाद के दो में कथात्मक विवरण नहीं है। इन पुराणों की प्रवृत्ति कर्मकाण्डात्मक अधिक है। एक भविष्यत् पुराण का उल्लेख आपस्तम्ब धर्मसूत्र में पहले से ही विद्यमान है।

इन १८ पुराणों के अतिरिक्त इतनी ही संख्या दूसरी श्रेणी की (अप्रधान रूप की) उसी वर्ग की कृतियों की है जिन्हें उप पुराण की संज्ञा दी जाती है। इन उपपुराणों में महाकाव्यात्मक विषय कर्मकाण्डात्मक तत्त्वों की अपेक्षा पूर्ण-रूप से गौण हो गया है।

रामायण

जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे यद्यपि यह समझने के अच्छे कारण विद्यमान है कि रामायण के मौलिक भाग ने अपना स्वरूप उस समय प्राप्त कर लिया था जबकि महाभारत तब तक क्षरण, परिवर्तन और परिवर्धन की

---

१. सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्च लक्षणम्॥

अवस्था में था। किन्तु हमने वहां पर उसका वर्णन रोककर यहां पर वर्णन को अधिक अच्छा इसलिए समझा है कि संस्कृत साहित्य में बाद में जो महाकाव्यात्मक कविता का विकास हुआ है उससे यह रचना सम्बन्धित है।

अपने वर्तमान रूप में रामायण में लगभग २४००० श्लोक हैं और यह सात काण्डों में विभाजित है। यह तीन सुस्पष्ट संशोधित संस्करणों में सुरक्षित रखा गया है (अ) पश्चिम भारत संस्करण, (ब) बंगाल संस्करण और (स) बम्बई संस्करण। प्रायः प्रत्येक संस्करण में एक तिहाई श्लोक ऐसे प्राप्त होते हैं जो शेष दो संस्करणों में किसी में नहीं हैं। बम्बई संस्करण में अनेक विषयों में पुस्तक का प्राचीनतम रूप सुरक्षित है। कारण यह है कि अन्य दो संस्करण ऐसे केन्द्रों से उद्भूत हुए हैं जो परिष्कृत संस्कृत साहित्य के क्षेत्र हैं जहां क्रमशः वैदर्भ और गौड शैली की रचनायें पनपी हैं तथा उन संस्करणों में महाकाव्य भाषा की अनियमितता उनके अन्दर से दूर कर दी गई है। यहां रामायण एक नियमित काव्य अथवा कृत्रिम महाकाव्य समझी जाती थी। यह एक ऐसा सौभाग्य था जिससे महाभारत बच गया था, क्योंकि बहुत जल्दी इसने (महाभारत ने) अपना मौलिक स्वरूप खो दिया था और नीतिपरक तथा उपदेशात्मक काव्यकृति माना जाने लगा था। जो भी हो इन दोनों संस्करणों को बम्बई संस्करण का केवल संशोधित रूप नहीं माना जाना चाहिए। इन तीनों संस्करणों में जो परस्पर विभेद पड़ता है वह इस प्रकार का है कि उसमें अधिकांश का एकमात्र कारण इस प्रकार बतलाया जा सकता है—उस समय जबकि देश के विभिन्न भागों में तीनों संस्करणों ने लिपिबद्ध होने के लिए प्रतिश्रुत होने के कारण निश्चित स्वरूप प्राप्त कर लिया महाकाव्य के वाचकों की एक व्यावसायिक परम्परा मौखिक रूप में महाकाव्य का वाचन करती थी और वह मूल में यत्र तत्र परिवर्तन कर लेती थी। (इस परिवर्तन ने ही निश्चित पाठ का स्वरूप ले लिया और क्योंकि विभिन्न स्थानों पर विभिन्न परिवर्तन हुए थे, अतः लिखित संस्करणों में इस प्रकार का विभेद आ जाना स्वाभाविक था।) इस प्रकार जब पाठ स्थिर हो गया उसके बाद इन संस्करणों में प्रत्येक की वैसी ही नियति हुई जैसी किसी दूसरी पुस्तक के साथ होती। इस प्रकार के पाठ मालूम पड़ता है अपेक्षाकृत प्रारम्भिक युग तक चले गये हैं। कारण यह है कि ८वीं और ९वी शताब्दी में जो पुस्तकें लिखी गई थीं उनमें रामायण के जो उद्धरण आते हैं उनसे सिद्ध होता है कि उस समय बम्बई का संस्करण और सम्भवतः दूसरा पश्चिम का संस्करण ये दोनों विद्यमान थे। दूसरी बात यह है कि क्षेमेन्द्र ने 'रामायण कथासार मञ्जरी' में इस महाकाव्य का जो काव्यात्मक सारांश दिया है और जो मूल की कथावस्तु का कदम कदम पर

अनुसरण करता है वह सिद्ध करता है कि लेखक ने पश्चिम के और सम्भवतः बंगाल के संस्करण का भी ११वीं शताब्दी के मध्य में प्रयोग किया है। उसी शताब्दी में दूसरे सारांश लेखक भोजराज ने रामायण चम्पू में सम्भवतः बम्बई वाले संस्करण का प्रयोग किया है।

प्रो० जेकोबी के मनोयोगपूर्वक अनुसन्धान से यह तथ्य सामने आ गया कि मौलिक रूप में रामायण में केवल दो से ६ तक ५ काण्ड थे। ७वां निस्सन्देह बाद में जोड़ा गया क्योंकि ६ठे काण्ड का उपसंहार एक समय स्पष्ट ही सम्पूर्ण कविता का अन्त था और फिर पहले काण्ड में कई परिच्छेद इस प्रकार के हैं जिनका बाद के काण्डों में आये हुए कथनों से विरोध प्रकट होता है। और भी इसमें दो विषय सूचियां [पहला सर्ग और तीसरा सर्ग] दी हुई हैं। स्पष्ट ही है कि ये दोनों सूचियां विभिन्न समयों में बनाई गईं। क्योंकि पहली सूची में प्रथम और अन्तिम काण्डों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। इसलिए निश्चित ही यह सूची इन दोनों काण्डों के सम्मिलित होने के पहले बनाई गई होगी। स्पष्टरूप में मूलभूत काव्य के प्रारम्भ का जो एक भाग था वह दूसरे काण्ड के प्रारम्भ की निरन्तरता से पृथक् कर दिया गया और अब प्रथम काण्ड के ५वें सर्ग के रूप में विद्यमान है। वास्तविक काण्डों में भी कतिपय सर्ग मिथ्या अन्तर्निविष्ट कर दिए गए। जैसा कि प्रो० जेकोबी ने दिखलाया है—मौलिक रचना के कलेवर में ये संयोजन अधिकांश भागों में इतने ढीले रूप में जोड़े गए हैं कि उनके जोड़ को पहिचान लेना सरल है। फिर भी ये भाग उसी अन्तर्भावना से आक्रान्त है जिससे पुराने भाग लिखे गए थे। इसलिए ऐसा समझने का कोई कारण नहीं है कि यह महाकाव्य मौलिक रूप में क्षत्रिय जाति के महत्त्वख्यापन की दृष्टि से लिखा गया था, बाद में एक ब्राह्मण संशोधन द्वारा नए रूप में ढालने के लिए इसे परिवर्तित कर दिया गया। यह कहना अधिक ठीक होगा कि श्रोताओं की रुचि की मांग को पूरा करने के लिए असंबद्ध कथांशों को संशोधित करने वाले व्यावसायिक पुराण वाचकों की सामान्य आकाङ्क्षा का यह परिणाम है। हमसे स्वयं रामायण में कहा गया है कि यह काव्य या तो व्यावसायिक वैतालिकों द्वारा सुनाया जाता था या तन्त्री सूत्र वाले वाद्ययन्त्र के साथ गाया जाता था।[1] यह मौखिक रूप से

---

१. पाठ्ये गेये च मधुरं प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम्।
जातिभिष्सप्तभिर्युक्तं तन्त्रीलयसमन्वितम्॥ (१.४.८)
ते प्रीतमनसः सर्वे मुनयो धर्मवत्सलाः।
प्रशशंसुः प्रशस्तव्यौ गायमानौ कुशीलवौ॥ (१.४.१६)

सर्वप्रथम राम के दो पुत्रों कुश और लव द्वारा प्रचारित किया गया।[1] ये नाम (लव और कुश) इससे अधिक और कुछ नहीं हैं कि प्रतिष्ठित शब्दव्युत्पत्ति विज्ञान के अनुसार नई कल्पित मनः सृष्टि कर ली गई है जिसका प्रयोजन संस्कृत कुशीलव 'वैतालिक' (यशोगायक) और 'अभिनेता' की व्याख्या करना है। नये भाग उसके पहले ही मूल में जोड़ दिए गए थे जब तीन संस्करणों ने, जो हम तक आए हैं, साहित्य जगत् में अपनी स्थिति बना ली थी। किन्तु मूल कविता और मिलाए गए अशों की रचनाओं के मध्य पर्याप्त समय व्यतीत हो चुका होगा। कारण यह है कि प्रथम (मूल कविता) में एक जनजाति के नेता दूसरे (मिलाए गए अंशों) में राष्ट्रीय अधिनायक और मानवजाति के नैतिक आदर्श बन गए थे, और मनुष्य जाति के नेता (जैसे महाभारत के कृष्ण) जो (कुछ जोड़े हुए अंशों को छोड़कर) पांच वास्तविक पुस्तकों (काण्डों) के अधिनायक थे प्रथम काण्ड और अन्तिम काण्ड में देवत्व को और विष्णु की एकरूपता को प्राप्त हो गए थे। इन जोड़े गए हुए भागों में उनका दैवी चरित्र निरन्तर इन अंशों के लेखकों के सामने बना रहा। यहां भी रामायण के रचयिता वाल्मीकि राम के समसामयिक ज्ञात होते हैं और उस समय में एक मुनि माने जाने लगे थे। इस प्रकार के रूपान्तरण के लिए समय का एक बहुत बड़ा व्यवधान अवश्य रहा होगा।

रामायण का रचना स्थल

रामायण के प्रारम्भ करने के स्थल का जहां तक प्रश्न है यह विश्वास करने का बहुत अच्छा कारण है कि रामायण का उद्भव कोशल में हुआ—उस प्रदेश में जहां अयोध्या (अवध) के इक्ष्वाकु वंश वालों का राज्य था। क्योंकि सातवें काण्ड के ४५वें सर्ग में हमसे कहा गया है कि वाल्मीकि का आश्रम गंगा के दाहिने तट पर था।[2] इसके अतिरिक्त कवि अयोध्या के राज परिवार से संबद्ध अवश्य रहा होगा, क्योंकि परित्यक्ता सीता ने उन्हीं के आश्रम में शरण ली थी, जहां उनके जुड़वां बच्चे पैदा हुए, उनका पालन पोषण हुआ और बाद में उन्हीं के मुख से दोनों बच्चों ने महाकाव्य पढ़ा और अन्तिम

---

१. तौ रजन्यां प्रभातायां स्नातौ हुतहुताशनौ।
यथोक्तमृषिणा पूर्वं सर्वं तत्रोपगायताम्॥ (७.९४.१)
बालकाण्ड का चौथा सर्ग भी देखिए।

२. गङ्गायास्तु परेपारे वाल्मीकेस्तु महात्मनः।
आश्रमो दिव्यसंकाशस्तमसातीरमाश्रितः॥ (७.४५.१७)

बात यह है कि पहले काण्ड के पांचवें सर्ग में कहा गया है कि रामायण का उद्‌गम इक्ष्वाकु वंश में हुआ।[1] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अयोध्या में स्तुति गायकों (सूतों) के वंश में अनेक पौराणिक कथायें धारावाहिक रूप में विद्यमान रहीं होंगी जिनमें इक्ष्वाकुवंशीय राम के भाग्य का वर्णन प्रचलित होगा। हम स्वीकार कर सकते हैं कि वाल्मीकि ने इन सब पौराणिक कथाओं पर कार्य किया और समरूप (सजातीय) एक ही कथानक को जन्म दे दिया जोकि सर्वप्रथम महत्त्वपूर्ण महाकाव्य के रूप में काव्य शास्त्र के नियमों का पालन करने वाला था और यह उचित ही था कि उसे आदिकाव्य या प्रथम कृत्रिम काव्य का नाम कवि के उत्तरवर्ती कवियों द्वारा दे दिया गया। इसके बाद उस रचना को कथावाचकों (कुशीलवों) ने सीखा और उन लोगों द्वारा वह जनता में गाया गया जबकि वे (कुशीलव) देश में चारों-ओर घूमा करते थे।

रामायण का रचना काल

ज्ञात होता है कि रामायण का प्रारम्भिक भाग उस समय पूरा हो गया होगा जबकि महाग्रन्थ महाभारत का बीज रूप कथा भाग अब तक निश्चित रूप भी प्राप्त नहीं कर सका होगा। कारण यह है कि जबकि महाभारत के महान् प्रमुख पात्रों का रामायण में उल्लेख नहीं मिलता—राम की कथा का प्रायः निर्देश अधिक विशाल महाग्रन्थ (महाभारत) में प्राप्त होता है। दूसरी बात यह है कि महाभारत के सातवें पर्व के एक प्रकरण में जोकि बाद का मिलाया हुआ भाग नहीं माना जा सकता वाल्मीकि की दो पक्तियां उद्धृत की गई है जो रामायण के छठे काण्ड में अपरिवर्तित रूप में प्राप्त होती हैं। इस लिए महाभारत ने जब सुसंबद्ध सुसंगठित रूप प्राप्त कर लिया होगा उसके पहले ही वाल्मीकि की कविता पुराने काव्य के रूप में प्रतिष्ठा पा चुकी होगी। एक और भी बात है कि बाद के महाग्रन्थ (महाभारत) के तीसरे पर्व के (२७७ से २९१ तक के सर्गों में) रामोपाख्यान या 'राम की प्रासङ्गिक कथा' विद्यमान है जो कि रामायण पर आधारित मालूम पड़ती है क्योंकि इसमें कई ऐसे पद्य हैं जो वाल्मीकि की पक्तियों से थोड़ा बहुत मिलते हैं और उसका लेखक पहले से ही श्रोताओं के विषय में यह मानकर चला है कि उन्हें रामायण के उस रूप का ज्ञान है जिसका प्रतिनिधित्व बाम्बे संस्मरण में किया गया है।

---

१. इक्ष्वाकूणामिदं तेषां राज्ञां वंशे महात्मनाम्।
महदुत्पन्नमाख्यानं रामायणमितिश्रुतम्॥ (१.५.३)

रामायण की आयु के निश्चय करने में अग्रिम महत्त्वपूर्ण प्रश्न बौद्ध-साहित्य से उसके सम्बन्ध का है। इस विषय में कहना है कि कुछ परिवर्तित रूप में राम कथा पाली की जन्म कथाओं (जातकों) में दशरथ जातक में मिलती है। क्योंकि जातक का यह निर्वचन स्वयं को राम के साहसिक कार्यों के प्रथम भाग तक अर्थात् उनके वनवास तक सीमित रखता है अतएव प्रथम दृष्टि में राम कथानक के दोनों भागों में यह भाग अधिक प्राचीन मालूम पड़ सकता है। फिर भी कम से कम इस बात का एक संकेत विद्यमान है कि कथानक का दूसरा भाग अर्थात् लंका पर आक्रमण भी जातक कथाकारों को ज्ञात था, क्यों कि जबकि वाल्मीकि की कविता राम और सीता के पुर्नमिलन से समाप्त हो जाती है जातक को परियों की कहानी के ढंग पर राम और सीता की जोड़ी के विवाह के साथ समाप्त कर दिया जाता है। साथ ही इस बात के संकेत भी मिलते हैं कि पौराणिक कथानक के मूल स्रोत में उनका विवाह हो ही चुका था। दूसरी बात यह है कि वास्तव में जातक के पाली गद्य भाग में अन्तर्निविष्ट रामायण का एक पद्य (६.१२८) विद्यमान है।[1]

श्लोक छन्द के व्यवहार निर्वाह करने में जो अपेक्षाकृत अधिक स्वतन्त्रता ली गई है उससे निसन्देह यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि बौद्ध धार्मिक संहिताओं के लेख रामायण के लेखों की अपेक्षा अधिक प्राचीन हैं जिनमें (रामायण के लेखों में) श्लोक संस्कृत शास्त्रीयविधा का अनुयायी है। किन्तु वास्तविकता यह है कि सभी बातों पर विचार की दृष्टि से ये पाली भाषा की कृतियाँ शास्त्रीय श्लोक के नियमों का पालन करती हैं। उनमें जो छन्दः शास्त्रीय अनियमिततायें पाई जाती है सम्भवतः उनका बहुत बड़ा कारण यह है कि उस समय पाली का साहित्यिक उद्देश्य से ताजा प्रयोग आरम्भ ही हुआ था। और इसके साथ ही पाली की कृतियों का संरक्षण भी निम्नस्तर पर किया गया। दूसरी ओर प्राक्कालीन बौद्ध साहित्य में आर्या छन्द का प्रयोग किया गया है जो कि यद्यपि परिष्कृत संस्कृत कविता में बहुत अधिक प्रतिष्ठित है किन्तु फिर भी संस्कृत महाकाव्यों (रामायण और महाभारत) में अब तक प्राप्त नहीं होता।

रामायण में बुद्ध का केवल एक प्रकरण में उल्लेख पाया जाता है जो प्रकट रूप में बाद में मिलाया हुआ है। इससे बौद्ध धर्म विषयक प्रमाण का संतुलन

---

१. दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च।
कम्बुग्रीवो महाबाहुः रामो राज्यमकारयत्॥
रामायण में तृतीय चरण इस प्रकार है—'भ्रातृभिः सहितः श्रीमान्'

असली रामायण के बौद्ध साहित्य से पूर्ववर्ती उद्गम होने के पक्ष में अधिक प्रतीत होता हैं।

यह प्रश्न कि क्या हमारे महाकाव्य का कवि ग्रीक लोगों से परिचित था स्वभावतः काल गणना परक क्षण से सम्बन्ध रखता है। काव्य की समीक्षा से व्यक्त होता है कि यवन (ग्रीक) लोगों का उल्लेख दो बार आया है– प्रथम बार प्रथम काण्ड में और दूसरी बार चौथे काण्ड के एक सर्ग में। प्रो० जैकोबी ने दिखलाया है कि ये दोनों स्थल बाद के जोड़े हुए हैं। इससे केवल यही निष्कर्ष निकलता है कि मौलिक कविता में ये भाग ३०० बी. सी. के कुछ समय बाद किसी समय जोड़े गये थे। प्रो० वेवर की इस मान्यता में कि रामायण की कथा पर ग्रीक लोगों का प्रभाव पड़ा है किसी आधार का अभाव प्रतीत होता है। सीता के अपहरण और उसको पुनः प्राप्त करने के लिए लंका पर आक्रमण की कथा हेलेन के बलात् अपहरण और ट्राय के युद्ध से किसी प्रकार की वास्तविक समानता धारण नहीं करती। इस बात को समझने के भी पर्याप्त कारण नहीं हैं कि सीता को विजय के रूप में प्राप्त करने के लिए राम का शक्तिशाली धनुप चढ़ाना यूलीसीज के साहसपूर्ण कार्यों से लिया गया है। इसी प्रकार के उद्देश्य से इसी प्रकार की शक्तिशाली क्रियायें करने की कथायें कविता में ग्रीक साहित्य के अतिरिक्त अन्य देशों के साहित्य में भी पाई जाती हैं और सामान्यतः एक दूसरे से निरपेक्ष भाव से भी लिखी हुई सरलता पूर्वक मानी जा सकती हैं।

पूर्वी भारत का राजनैतिक स्वरूप भी जैसा कि रामायण में प्रतिफल हुआ है इस महाकाव्य की आयु पर कुछ अतिरिक्त प्रभाव डालता है। पहली बात यह हैं कि रामायण में पाटलिपुत्र (पटना) का उल्लेख नहीं किया गया है जिसको राजा कालाशोक ने बसाया था (जिनके तत्त्वावधान में बौद्धों की द्वितीय परिषद् वैशाली में लगभग ३८० बी. सी. में आयोजित की गई थी।) और जो मेगस्थनीज के समय (३०० बी. सी) तक भारत की राजधानी बन गया था। फिर भी पहले काण्ड (३५वें सर्ग) में राम को उसी स्थान से निकलता हुआ दिखलाया गया है जहां वह शहर आज स्थित है और कवि ने (३२-३३वें सर्गों में पूर्वी भारत के अधिसंख्यक नगरों के शिलान्यास करने के वर्णन करने का अपना लक्ष्य बना लिया है। ये नगर हैं कौशाम्बी, कान्यकुब्ज और काम्पिल्य। इनका वर्णन यह दिखलाने के लिए किया गया है कि किस सीमा तक रामायण की ख्याति अपने जन्म स्थान कोशल की सीमाओं से बाहर

प्रसारित हुई। उस समय यदि पाटलि पुत्र वर्तमान रहा होता तो उसका वर्णन करने से रामायण कभी न चूकती।

इससे भी बढ़कर ध्यान देने योग्य वास्तविकता यह है कि मौलिक रामायण में कोशल की राजधानी नियमित रूप से अयोध्या बताई गई है। जबकि बौद्ध, जैन, ग्रीक और पतन्जलि सर्वदा उसका नाम साकेत बतलाते हैं। एक और बात है—रामायण के अन्तिम कांड में हमें बतलाया गया है कि राम के पुत्र लव ने श्रावस्ती में राजकीय कार्यों की पीठ स्थापित की, यह एक ऐसा शहर है जिसका उल्लेख महाकाव्य के प्राचीन भाग में बिल्कुल नहीं किया गया है और बुद्ध के समय में कोशल के राजा प्रसेनजित के विषय में ज्ञात है कि वे श्रावस्ती में शासन करते थे। यह सब इस निष्कर्ष की ओर संकेत करता है कि प्रारम्भिक रामायण की रचना ऐसे समय में हुई जबकि प्राचीन अयोध्या उस समय तक पूर्ण रूप से परित्यक्त होकर जनशून्य नहीं हुई थी, किन्तु अब तक कोशल का प्रधान नगर बनी हुई थी जबकि उसका नया नाम साकेत अब तक सर्वथा अपरिचित था और यह रचना उसके पहले की है जब राजकीय पीठ (राजधानी) श्रावस्ती को स्थानान्तरित कर दी गई थी।

और भी प्रथम काण्ड के पुराने भाग में मिथिला और विशाला के विषय में कहा गया है कि दोनों शहर अलग-अलग थे और अलग-अलग शासकों के द्वारा शासित होते थे[1] जबकि हम जानते हैं कि बुद्ध के समय में दोनों एक में मिलकर वैशाली बन गए थे। जिस पर एक छोटे से वर्ग का शासन था।

रामायण में जिस राजनैतिक स्थिति का वर्णन है उससे प्रकट होता है कि उस समय राजाओं का पितृ-प्रधान शासन था जो केवल छोटे-छोटे क्षेत्रों के अधिकारी थे और ऐसा कभी कोई संकेत नहीं मिलता जिससे सिद्ध हो कि उस समय अधिक संश्लिष्ट राजतन्त्र कायम थे जबकि महाभारत के कवि के उद्धरण चौथी शताब्दी बी. सी. की राजनैतिक दशा पर प्रकाश डालते हैं कि पूर्व भारत में एक शक्तिशाली सम्राट् जरासन्ध के शासन में विशाल राजतन्त्र स्थापित था जिसमें मगध के अतिरिक्त और बहुत से प्रदेश सम्मिलित थे। ऊपर जो तर्क दिए गए हैं उनका सामूहिक प्रमाण इस निष्कर्ष से बचना कठिन बना देता है कि मूलभूत रामायण की रचना ५०० बी. सी. से पहले हुई थी जबकि अधिक आधुनिक भाग सम्भवतः दूसरी शताब्दी या उसके बाद तक नहीं जोड़े गए थे।

---

१. विशाला नगरी पर सुमति का शासन था जिसका मिथिला से पृथक् वर्णन किया गया है। देखो बालकाण्ड सर्ग ४७

ऊपर जो निष्कर्ष निकाला गया है वह प्रथम दृष्टि में रामायण के भाषा वैज्ञानिक प्रमाण से प्रमाणित होता हुआ प्रतीत नहीं होता । क्योंकि बम्बई के संस्करण की महाकाव्यगत (आर्ष) भाषा जो कि लगभग वही है जो महाभारत में प्रयुक्त हुई है—दोनों विकास के एक ऐसे स्तर को व्यक्त करती हैं जो निस्सन्देह उस भाषा के बाद के समय की है जिसको पाणिनि ने प्रमाणित किया है और उस वैयाकरण ने जिस भाषा पर ध्यान नहीं दिया है । किन्तु यह सब होते हुए भी यह आवश्यक नहीं कि यह बाद की ही हो । क्योंकि पाणिनि ने जिस भाषा के व्यवहार को अपना विषय बनाया है उसे केवल सभ्यसामाजिक (शिष्ट) लोग व्यवहार में लाते थे । इसका आशय यह है कि यह भाषा ब्राह्मणों की है जो लोक-प्रचलित उस भाषा की अपेक्षा जिसका भ्रमणशील कथावाचक प्रयोग करते थे, अधिक प्राचीन तथा परिष्कृत है और उन्होंने (पणिनि ने) स्वभावत: दूसरे प्रकार के लोगों (भ्रमणशील कथा-वाचकों) की भाषा की ओर ध्यान नहीं दिया । और भी—जहाँ रामायण की रचना हुई थी भारत के उस भाग में अशोक के शिलालेखों के समय में अथवा पाणिनि के समय से कठिनाई से आधी शताब्दी बाद जनसमाज की भाषा प्राकृत थी । इसलिए यह बात बिल्कुल सम्भव नहीं मालूम पड़ती कि रामायण, जिसका लक्ष्य अपनी रचना को लोकप्रिय बनाना था इतने विलम्ब से लिखी यदि महाकाव्य की भाषा गई हो जबकि पाणिनि का समय आ गया जबकि वह भाषा सामान्यत: जनसमाज में समझी जाने वाली नहीं रही । पाणिनि के बाद की है तो यह समझना बहुत कठिन है कि यह व्याकरण के आधिपत्य पूर्ण प्रभाव का अतिक्रमण कैसे कर गई । यह बहुत अधिक सम्भव है कि महाकाव्य की लोक प्रतिष्ठित संस्कृत भाषा बहुत पहले वाल्मीकि जैसी काव्य-रचना के द्वारा सामान्य प्रचार पा गई । संस्कृत के शास्त्रीय काव्यों का शोधपूर्ण तुलनात्मक अनुसंधान सम्भवत: इसकी कविता तथ्य को उजागर कर सकेगा कि भाषाशास्त्र की दृष्टि से वे पुराने महाकाव्यों के साथ अधिक निकटता से संबद्ध हैं और जितना प्रायः समझा जाता है उससे अधिक ने पाणिनि के भाषा स्तर का अतिक्रमण कर देते हैं ।[1]

---

१. इस अनुच्छेद का सारांश यह है प्रमाणों से ज्ञात होता है कि वाल्मीकिह रामायण ५०० ई० पूर्व से पहले की रचना है जो समय पाणिनि से पहले का है । किन्तु रामायण में कतिपय ऐसे शब्द पाए जाते हैं जो पाणिति द्वारा अनुमोदित नहीं हैं । यदि यह रचना पाणिनि से पहले की होती तो उन प्रयोगों की ओर पाणिनि का ध्यान अवश्य जाता । इससे सिद्ध होता

शैली में रामायण उस सरल अकृत्रिम लोक-प्रतिष्ठित महाकाव्य से पहले से ही बहुत दूर हटी हुई है जिसमें काव्य-विधान नहीं कथा कहने की प्रवृत्ति प्रमुख वस्तु है। वाल्मीकि उपमा के बहुत अधिक धनी हैं जिनको वे सामूहिक रूप में एकत्र संकलित कर देते हैं। ऐसे अवसर कम नहीं आते जब वे उसके (उपमा) वर्ग के अलंकारों का प्रयोग अधिक कौशल के साथ करते हैं जिन्हें रूपक अर्थात् 'एकरूपता लाने वाला' (जैसे चरण-कमल) कहा जाता है और ऐसे भी अलंकारों का समय-समय पर प्रयोग करते हैं जो शास्त्रीय कवियों के लिये परिचित हैं। इसके अतिरिक्त उनकी वर्णनशैली के भी निकट पहुँचते हैं। वास्तव में रामायण बाद की कृत्रिम कविता (काव्यों) के अरुणोदय का प्रतिनिधित्व करती हैं। इस बात की पूरी सम्भावना है कि ये (कृत्रिम काव्य) उस काव्यकला की सीधी परम्परा और विकास हैं जो उन कथावाचकों द्वारा अक्षुण्ण रखी गई थी जो वाल्मीकि की रचना को सुनाया करते थे। इस प्रकार के सम्बन्ध को बड़े शास्त्रीय महाकाव्यों के कवियों (महाकवियों) द्वारा स्पष्ट रूप में स्वीकार किया गया है जब वे उनको आदि कवि के रूप में संकेतित करते हैं।

रामायण के दो भाग

रामायण की वास्तविक कथा जैसी पांच काण्डों में वर्णित है उसके स्पष्ट दो भाग हैं। प्रथम भाग में अयोध्या में राजा दशरथ के दरबार की घटनाओं का वर्णन है और उसके परिणाम दिखलाए गए हैं। यहाँ हमें एक महारानी

है कि यह रचना पाणिनि के बाद की है। किन्तु इस तर्क से मैक्डानल सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि पाणिनि तो शिष्ट भाषा का निर्वजन कर रहे थे। कथावाचकों की भाषा शिष्ट भाषा नहीं थी। अतः पाणिनि ने उन शब्दों का निर्वचन नहीं किया। यदि यह भाषा पाणिनि के बाद की होती तो काव्य रचनाकार पाणिनि के निर्देशों का अतिक्रमण कर ही नहीं सकता था। फिर रामायण तो जनसाधारण में गाने और प्रचार करने के लिए लिखी गई थी। पाणिनि के बाद में तो जनसाधारश की भाषा प्राकृत हो गई थी। अतः वह भाषा पाणिनि के पहले की नहीं हो सकती। दूसरी बात यह है कि कहीं कहीं परवर्ती रचनाओं में भी पाणिनि के निर्देणों का अतिक्रमण पाया जा सकता है। इस विषय में विशेष अनुसन्धान की आवश्यकता है।

द्वारा अपने पुत्र को राजसिंहासन पर बैठाने के लिए षड्यन्त्र का शुद्ध मानवीय एवं स्वाभाविक विवरण मिलता है। न इसमें कुछ हवाई उड़ान है, न पौराणिकता है। यदि वृद्ध राजा की मृत्यु के बाद राम के भाई भरत के अयोध्या लौट आने के साथ यह महाकाव्य समाप्त हो जाता तो यह लम्बे समय से आई हुई एक ऐतिहासिक कहानी होती। क्योंकि इक्ष्वाकु दशरथ और राम प्रसिद्ध शक्तिशाली राजाओं के नाम हैं जिनका ऋग्वेद में भी उल्लेख आता है यद्यपि वहाँ वे दोनों किसी भी रूप में एक दूसरे से संबद्ध नहीं हैं।

दूसरे भाग का स्वरूप सर्वथा भिन्न है। यह पौराणिकता की नींव पर आधारित कथा विलक्षणताओं और हवाई उड़ानों से भरी हुई है। इस कथा की सार्थकता के विषय में सबसे पुराना सिद्धान्त लेसन (Lesen) का है जो मानते हैं कि इस कथा के लिखने का मन्तव्य दक्षिण भारत में आर्यों के विजय के प्रथम प्रयत्न के उपाख्यान को प्रतीक रूप में प्रस्तुत करता है। किन्तु राम न तो कहीं पर भी दक्षिण में आर्य साम्राज्य स्थापित करते दिखलाए गए हैं और न कहीं भी महाकाव्य में उनका इस प्रकार का विचार इङ्गित किया गया है। इसके कुछ समय बाद वेबर (Weber) ने यही दृष्टिकोण थोड़ा बहुत संशोधित रूप में प्रस्तुत किया। उनके अनुसार रामायण का उद्देश्य यह वर्णन करना और उन उपायों की व्याख्या करना है जिससे आर्य संस्कृति दक्षिण और श्रीलंका में फैली। किन्तु प्रतीकात्मक सिद्धान्त का स्वरूप भी स्वयं महाकाव्य के कथनों से किसी प्रकार की पुष्टि से रहित है। क्योंकि राम का यह प्रयाण कहीं पर भी दक्षिण की सभ्यता में किसी प्रकार के परिवर्तन या विकास का प्रतिनिधित्व करते हुए नहीं दिखलाया गया है। कवि इस वास्तविकता से अधिक दक्षिण के विषय में कुछ नहीं जानता कि कतिपय ब्राह्मण आश्रम वहाँ मिलते हैं। इसके प्रतिकूल यह प्रदेश ऐसे डरावने दैत्यों और काल्पनिक जन्तुओं के प्रायिक आवागमन वाला दिखलाया गया है जिस स्वरूप में भारतीय कल्पना किसी अपरिचित प्रदेश के लोगों से भरा हुआ दिखलाती।

जैकोबी की सम्मति कहीं अधिक सम्भावना मूलक है कि रामायण में प्रतीकात्मकता बिल्कुल नहीं है; किन्तु यह भारतीय पौराणिक कल्पित कथा पर आधारित है। इस प्रकार दूसरे भाग की नींव वेद में आई एक स्वर्गीय पौराणिक कल्पना होगी जिसको असामान्य विकास के अनुसार साहसिक क्रियाकलाप के वर्णन में परिवर्तित कर दिया गया। सीता का अनुसन्धान ऋग्वेद में किया जा

सकता है जहाँ वह हलरेखा का मानवीकृत रूप प्रतीत होती है जिसकी देवी रूप में पूजा और प्रार्थना की गई है। कतिपय गृह्यसूत्रों में हमें जुती भूमि के प्रातिभ रूप में उसके पुन: दर्शन होते हैं जहाँ उसको प्रार्थना अत्यधिक सौन्दर्य-मयी मूर्ति के रूप में और इन्द्र या वर्षा के देवता पर्जन्य की पत्नी के रूप में की गई है। स्वयं रामायण में इस उद्गम के संकेत मिलते हैं। क्योंकि सीता (१.६६ में) उस भूमि से निकली हुई दिखलाई गई है[1] जबकि उनके पिता जनक एक बार हल जोत रहे थे और अन्त में वे भूमि के अन्दर पृथ्वी देवी के हाथों में समा जाती है (७.९७)[2] उनके पति राम कोई और नहीं हैं किन्तु इन्द्र ही हैं और उनका राक्षसराज रावण से युद्ध ऋग्वेद के इन्द्र वृत्र युद्ध की पौराणिक कथा का प्रतिनिधित्व करता है। रावण के पुत्र इन्द्रजीत या इन्द्र शत्रु या 'इन्द्र का रिपु' इस नाम से व्यक्तित्व की इस एकरूपता के परिचय की पुष्टि हो जाती है। यह दूसरा बाद वाला नाम 'इन्द्रशत्रु' वास्तव में ऋग्वेद में वृत्रासुर की उपाधि है। रावण का सर्वाधिक ध्यान देने योग्य साहसिक कार्य है सीता का अपहरण; इस कथा का आदर्श प्रतिरूप गायों का चुराया जाना है जिनको इन्द्र ने पुन: प्राप्त किया था। वानरों में प्रमुख और सीता की पुन: प्राप्ति में राम के सहायक हनुमान बायु देवता के पुत्र हैं जिनका वैदिक नाम मारुति है और उनका वर्णन सीता का प्राप्त करने के लिए वायु में होते हुए सैकड़ों योजन उड़ते हुए चले जाने के रूप में किया गया है। अत: उनके स्वरूप में सम्भवत: वृत्र के साथ युद्ध में इन्द्र की वायु देवता के साथ सन्धि की स्मृति पुनर्जीवित हो गई है और साथ ही कुतिया सरमा की स्मृति जागृत हो गई है जो इन्द्र की दूती के रूप में 'रसा' की जलराशि को पार कर गायों की स्थिति की खोज करती है। सरमा का नाम दानवी जैसा है और वह उस राक्षसी के रूप में पुन: उत्पन्न हो गई है जो बन्दीगृह में पड़ी सीता को समय-समय पर सान्त्वना देती है। हनुमान का नाम संस्कृत भाषा का है इसलिये यह चरित्र सम्भवत: आदिवासियों से नहीं लिया गया है। इस समय हनुमान समस्त भारत में ग्रामीण अधिवासों में संरक्षक देवता हैं। प्रो॰ जैको बी॰ के इस वितर्क में कि हनुमान कृषि कार्य से संबद्ध रहे होंगे

---

१. भूतलादुत्थिता सा तु व्यवर्धत ममात्मजा।
वीर्यशुल्केति मे कन्या स्थापितेयमयोनिजा ॥

२. तस्मिंस्तु धरणी देवी बाहुभ्यां गृह्य मैथिलीम्।
स्वागतेनाभिनन्द्यैनामासने चोपवेशयत् ॥

और वर्षा के प्रातिभ अधिदेवता माने जाते होंगे कुछ सम्भावना मूलक सत्यता अवश्य है।

रामायण की मूलकथा

रामायण की मुख्य कथा अयोध्या नगर के वर्णन से प्रारम्भ होती है जो शक्तिशाली महाराज दशरथ के शासन में थी। दशरथ के तीन रानियाँ थीं- कौशल्या कैकेयी और सुमित्रा। इन रानियों के क्रमशः तीन पुत्र थे राम, भरत और लक्ष्मण।[1] राम का विवाह विदेहराजा जनक की पुत्री सीता के साथ हुआ था। दशरथ ने यह अनुभव कर कि वृद्धावस्था निकट आ रही है एक दिन एक बड़ी परिषद में घोषणा की कि 'मैं राम को उत्तराधिकारी युवराज बनाना चाहता हूँ।' यह घोषणा राम की बढ़ी-चढ़ी लोकप्रियता के कारण जन साधारण में आमोद-प्रमोद के साथ सुनी गई। इस बीच कैकेयी ने अपने पुत्र भरत के लिये उत्तराधिकार की आकांक्षा करते हुये राजा को याद दिलाया कि 'आपने एक बार मेरी इच्छा के अनुसार दो वरदान देने का वादा किया था जिसका स्वयं मैंने ही अभी तक लाभ नहीं उठाया है' जब अन्त में दशरथ जो कुछ वह चाहेगी उसे पूरा करने का वादा करते हैं तब कैकेयी भरत को उत्तराधिकारी नियुक्त करने और राम को १४ वर्ष के लिये निर्वासित कर देने की प्रार्थना करती है। राजा की जब इस विचार से निवृत्त हो जाने की प्रार्थना व्यर्थ जाती है तब वे बिना सोये रात बिता देते हैं। दूसरे दिन जब राम का पवित्र राज्याभिषेक संस्कार सम्पन्न होना है दशरथ अपने पुत्र को बुलाते हैं और उन्हें उनके भाग्य की सूचना देते हैं। राम इस समाचार को शान्त मस्तिष्क से ग्रहण करते हैं और पिता की आज्ञा मानने को अपना सबसे बड़ा कर्तव्य समझकर उसे पालन करने की तैयारी करते हैं। सीता और लक्ष्मण उनके भाग्य में भागीदार बनने का निश्चय करते हैं और निर्वासन में उनके साथ चले जाते हैं। वृद्धराजा अपने पुत्र के वियोगजन्य दुःख से अभिभूत होकर कैकेयी के यहाँ से चले जाते हैं और अपने शेष बचे हुये दिनों को राम की माता कौशल्या के साथ बिताते हुये अपने निर्वासित पुत्र के लिये शोक करते हुये मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। इस बीच सीता और अपने भाई लक्ष्मण के साथ राम-जंगली क्षेत्र दण्डक वन में शान्ति और प्रसन्नता के साथ निवास करते हैं।[2] वृद्ध राजा की मृत्यु के बाद भरत राजसिंहासन के लिये बुलाये जाते हैं जो इस बीच अपनी माँ के माता-पिता के साथ रह रहे थे।

---

१. पता नहीं यहाँ शत्रुघ्न का नाम कैसे छूट गया।

२. इस समय राम दण्डकवन में नहीं चित्रकट में निवास कर रहे थे।

भरत एक अभिजात क्रोध के साथ उत्तराधिकार को अस्वीकार कर राम को अयोध्या वापस लौटा लाने के लिये वन को चल देते हैं। राम अपने भाई की प्रार्थना पर यद्यपि बहुत अधिक द्रवित हो जाते हैं, किन्तु लौटने से इन्कार कर देते हैं—क्योंकि उन्हें निर्वासन का व्रत पूरा करना चाहिए। वे किनारी में सोने से मढे अपने जूतों (खड़ाउओं) को निकालकर भरत को इस चिन्ह के रूप में प्रदान कर देते हैं मानों उन्होंने अपना दग्रभाग प्रदान कर दिया हो। भरत अयोध्या लौट कर राम के खड़ाउओं को सिंहासन पर रख देते हैं और राजछत्र भी उनके ऊपर स्थापित कर उनके पास उनकी ओर से परिषद् को आमन्त्रित कर न्याय व्यवस्था पूरी करते हैं।

अब राम उन दारुण भयानक दानवों से युद्ध करने के कार्य को पूरा करने के लिए चारों ओर घूमने लगते हैं जो दानव दण्डक बन का उपरोध किये हुए हैं, उसे पीड़ित कर रहे हैं और वहां बसे हुए पवित्र सन्यासियों के लिए भय बने हुए हैं। ऋषि अगस्त्य के परामर्श से राम इन्द्र के अस्त्र ग्रहण करते हैं। वे सफल सघर्ष प्रारम्भ कर देते हैं जिसमें वे कई हजार दानवों का वध कर डालते हैं। उन (राक्षसों) का प्रधान रावण क्रोध में भर जाता है, बदला लेने का दृढ़ सङ्कल्प करता है। अपने एक अनुचर को सोने के हिरण के रूप में परिवर्तित कर देता है जो सीता को दिखलाई पड़ता है। जब उनकी प्रार्थना पर राम और लक्ष्मण उस हिरण का शिकार करने में संलग्न हैं रावण एक संन्यासी के वेष में सीता के पास आता है, उन्हें शक्ति के साथ उठा ले जाता है और जटायु नामक गृध्र को घायल बना देता है जो सीता के आवास का संरक्षण कर रहा होता है। राम लौटकर दुःख और निराशा से भर जाते हैं। किन्तु जब वे गृध्र के अवशेषों (शव) को जला रहे होते हैं चिता से एक आवाज उठती है जो उन्हें प्रख्यापित करती है कि वे अपने शत्रु रावण पर किस प्रकार विजय प्राप्त कर सकते हैं और अपनी पत्नी को पुनः प्राप्त कर सकते हैं। अब वे वानरों के प्रधान हनुमत् और सुग्रीव से पवित्र सन्धि विधि पूरी करने के लिए आगे बढ़ते हैं। सुग्रीव की सहायता से राम एक भयानक दैत्य बालि का वध करते हैं। इस बीच हनुमान देश की मुख्य भूमि से समुद्र को पार कर रावण के निवास स्थान लंका द्वीप में सीता की खोज में जाते हैं। यहां वे उन्हें एक बाग में दुःखी अवस्था में घूमते हुए देखते हैं और उनसे निवेदित करते हैं कि उनका उद्धार बहुत ही निकट है। कुछ संख्यक राक्षसों को मार कर वे लौटते हैं और अपनी खोज का प्रतिवेदन राम को देते हैं। अब युद्ध सञ्चालन के लिए योजना का प्रबन्ध किया जाता है। वानरों ने चमत्कारिक ढंग से समुद्र

के अधिष्ठाता देवता की सहायता से महाद्वीप से लंका तक एक पुल तैयार किया और राम अपनी सेना समुद्र पार ले जाते हैं, रावण का वध करते हैं और विजय प्राप्त कर सीता को पुन: प्राप्त कर लेते हैं। जब सीता अग्नि परीक्षा द्वारा व्यभिचार के सन्देह से स्वयं को शुद्ध कर लेती है उसके बाद राम उसके साथ अयोध्या लौट जाते हैं जहां वे विश्वास पात्र भाई भरत के सहयोग से शान के साथ शासन करते हैं और नये स्वर्णिम युग से प्रजा को आनन्दित करते हैं।

प्रथम और अन्तिम काण्ड

संक्षिप्त रूपरेखा मात्र में रामायण की मुख्य कथा इस प्रकार की है। प्रथम और अन्तिम काण्डों को जोड़ देने से वाल्मीकि का वीर चरित महाकाव्य निम्नलिखित प्रकार से एक ऐसे महाकाव्य के रूप में परिणत हो गया जिसका उद्देश्य विष्णु देव का गुणगान करना था। ब्रह्मा से देवता, उपदेवता (गन्धर्व, यक्ष इत्यादि) और दानवों से अवध्यता का वरदान प्राप्त कर रावण हानि से सुरक्षा का इतने भयानक रूप में दुरुपयोग करता है कि देवता निराश अवस्था तक गिर जाते हैं। अन्त में इस विषय में विमर्श कर कि रावण अपने घमण्ड में यह मांगना भूल गया है कि वह मनुष्यों से भी अवध्य रहे। देवताओं ने विष्णु से प्रार्थना की कि राक्षस रावण को मारने के लिए वे स्वयं को नररूप में जन्म लेने दें। यह प्रार्थना स्वीकार कर विष्णु राम के रूप में जन्म लेते हैं और उस कार्य को पूरा करते हैं। सातवें काण्ड के अन्त में ब्रह्मा और दूसरे देवता राम के पास आते हैं, उनको श्रद्धा भक्ति और अर्चन पूजन प्रदान करते हैं तथा घोषित करते हैं कि वास्तविक विष्णु अर्थात् 'समस्त चक्र के यशस्वी अधिपति' वे ही हैं। 'राम सबसे बड़े देवता विष्णु के अवतार हैं' इस तथ्य को व्यक्त करने वाले विश्वास ने हमारे महाकाव्य के चरित नायक के लिए वर्तमान समय तक हिन्दुओं के भव्य पूजा सुरक्षित कर दी। उस विश्वास ने १२वीं शताब्दी में रामानुज के और १४वीं शताब्दी में रामानन्द के आधारभूत मौलिक धार्मिक सम्प्रदाय का निर्माण किया जिसने भारत के दोनों भागों उत्तर और दक्षिण में शैव सम्प्रदाय के गिराने वाले अन्धविश्वासों और अपवित्रताओं के प्रतिरोध एवं निराकरण की दिशा में बहुत कुछ किया है।

रामायण में कई मनोरंजक घटनायें हैं यद्यपि निस्सन्देह महाभारत की अपेक्षा कहीं अधिक कम हैं। उनमें एक पूर्णरूप से शुद्ध भारतीय कथा है जो अत्युक्तियों और असम्भव तत्त्वों से भरी हुई है। यह काल्पनिक उपाख्यान

प्रथम काण्ड में गङ्गा के अवतरण के विषय में कहा गया है। इसमें वर्णन किया गया है कि राजा सगर के ६०००० पुत्रों के अवशेषों (हड्डियों) को पवित्र करने के उद्देश्य से किस प्रकार पवित्र नदी स्वर्ग से भूमि पर उतारी गई। इन सगर के पुत्रों को कपिल मुनि ने उस समय जलाकर राख कर दिया था जब उन लोगों ने कपिल की तपस्या में विघ्न डाला था।

दूसरा उपाख्यान (१.५२.६५) विश्वामित्र के विषय में है जो एक शक्तिशाली राजा थे और जो चमत्कारिक गाय को शक्ति के साथ ले जाने की चेष्टा करते हुए बहुत बड़े मुनि वशिष्ट के साथ संघर्ष में आये थे। तब विश्वामित्र स्वयं को शक्तिशाली तपस्या में लगा देते हैं जिसमें वे सुन्दरी अप्सराओं के द्वारा चरित्र नाश के प्रयत्नों को व्यर्थ कर देते हैं और यह तपस्या कई हजार वर्ष तक चलती रहती है। जब तक कि वे अन्त में ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लेते हैं और अपने विरोधी वशिष्ठ से विरोध शान्त कर लेते हैं।

एक छोटे उपाख्यान में श्लोक छन्द के प्रारम्भ की कथा कही गई है। यह उपाख्यान सर्वाधिक आकर्षक और काव्यात्मक उपाख्यानों में एक है। वाल्मीकि अपने जंगली आश्रम में राम के भाग्य के योग्यतापूर्ण यथार्थ वर्णन की तैयारी कर रहे हैं। जब वे नदी के तट पर प्रणयी पक्षियों के एक जोड़े को देखने में संलग्न होते हैं नरपक्षी पर सहसा एक बहेलिया प्रहार करता है। वह नरपक्षी अपने ही रक्त में लोटता हुआ मर कर भूमि पर गिर जाता है। वाल्मीकि वियोगिनी मादा पक्षी के शोक में अभिभूत होकर बिना प्रयत्न के कुछ ऐसे शब्द बोल देते हैं जिनमें उसके पति की मृत्यु पर शोक और दुष्ट शिकारी को बदले की धमकी अभिव्यक्त होती है।[1] किन्तु कहने पर उन्हें आश्चर्य होता है कि उनका कथन एक सामान्य वक्तव्य नहीं है अपितु उसमें मधुर संगीत धारा बह रही है। विचारों में खोये जब वे अपने आश्रय की ओर लौटते हैं ब्रह्मा प्रकट होते हैं और कवि को बतलाते हैं कि तुमने अनजान में ही श्लोक छन्द की लयतालबद्ध ध्वनि को उत्पन्न कर दिया है। तब देवता (ब्रह्मा जी) उन्हें उसी लयतालबद्ध मात्रा में राम के जीवन और कार्यों पर स्वर्गीय काव्य रचना करने का आदेश देते हैं। इस कथानक का कुछ ऐतिहासिक महत्त्व हो सकता है क्योंकि कुछ सम्भावना के साथ यह कथानक इस तथ्य की ओर इंगित करता है कि श्लोक का शास्त्रीय स्वरूप सर्वप्रथम रामायण के मौलिक भाग के लेखक वाल्मीकि ने ही स्थिर किया था।

---

१. मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

रामायण की लोकप्रियता

महाकाव्य में इसके सदा रहने वाले यश की भविष्यवाणी करने वाला निम्नलिखित पद्य है —

यावत्स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्चमहीतले ।
तावद्रामायणकथा लोकेषु प्रचलिष्यति ।। (१.२.३६, ३७)

(जितने लम्बे समय तक पर्वत श्रेणियां खड़ी हैं और नदियां पृथ्वीतल पर बह रही हैं उतने लम्बे समय तक रामायण की कथा मनुष्यों के ओठों पर रहेगी ।)

यह भविष्यवाणी होरेस की भलीभांति जानी पहचानी भविष्यवाणी की भी अपेक्षा सम्भवतः कहीं अधिक प्रभूत रूप में पूरी हुई है । संस्कृत साहित्य में आज दिन तक रामायण से अधिक लोकप्रियता का सौभाग्य किसी दूसरी रचना को प्राप्त नहीं हुआ । इसकी कथा बहुत से दूसरे संस्कृत काव्यों और साथ-साथ नाटकों को विषयवस्तु प्रदान करती है और कथावाचकों के ओठों से निकलकर दसों हजार भारतीय लोगों के हृदयों को उसी प्रकार आनन्दित करती है जिस प्रकार बनारस में प्रतिवर्ष होने वाले महान रामोत्सव में (लोग आनन्द लेते हैं) । इसका अनुवाद बहुत सी भारतीय भाषाओं में हो चुका है । सबसे ऊपर इसने मध्यकालीन भारत के सबसे बड़े कवि तुलसीदास को महाकाव्य के हिन्दी संस्करण रामचरितमानस नामक रचना को लिखने की प्रेरणा दी जोकि गुणों के अपने आदर्श स्तर और शुद्धता के साथ उत्तरी भारत के हजारों लाखों, करोड़ों लोगों के लिए बाइबिल की एक विधा बन गई ।

अध्याय-११

काव्य या दरबारी महाकाव्य

लगभग ई० पू० २०० से ११०० ई० तक

शास्त्रानुगत कविता का समय

भारत में काव्य अथवा कृत्रिम महाकाव्य कविता का वास्तविक इतिहास सातवीं शताब्दी पूर्वार्ध तक प्रारम्भ नहीं होता जब थानेश्वर और कन्नौज के राजा हर्षवर्धन (६०६-६४८) का राज्य था जो समस्त उत्तरी भारत पर राज्य करते थे तथा जिनके संरक्षण में बाण ने ऐतिहासिक उपन्यास हर्षचरित और दूसरी पुस्तकें लिखीं। इस सीमा रेखा के पहले किसी काव्य की तिथि अब तक निश्चय के साथ स्थिर नहीं की जा सकी है। हाँ एक रचना जो काव्य शैली के नियन्त्रण में है गणित ज्योतिषी वाराहमिहिर लिखित बृहत्संहिता है—बिना किसी संकोच के जिसका समय छठी शताब्दी का मध्य निश्चय किया जा सकता है। किन्तु सर्वाधिक प्रतिष्ठित शास्त्रानुयायी - कालिदास, सुबन्धु, भारवि, गुणाढ्य तथा दूसरे कवियों के समय के विषय में हमारे पास कोई भी ऐतिहासिक अधिकृत जानकारी नहीं है। सर्वाधिक निश्चित वक्तव्य जो उनके विषय में दिया जा सकता है वह यह है कि उनका यश ४,०० ई के आसपास चारों ओर विस्तृत रूप में व्याप्त हो चुका था। यह ऐसे मार्ग से प्रमाणित होता है जिसमें बाण और ६३४ ई० के एक शिलालेख में उनके नामों का उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त उनमें कुछ निश्चित रूप से बहुत पहले समय के कवि हैं जैसे गुणाढ्य जिनकी रचना के विषय में सुबन्धु बार-बार साधिकार बात करते हैं। इस दिशा में कवियों ने जो थोड़ी बहुत सामग्री अपने विषय में प्रस्तुत की है वह उनके समय को निश्चय करने की दिशा में सहायक हो सकती थी किन्तु उसका उपयोग करना बहुत कठिन है, क्योंकि ईशा की प्रथम ५ शताब्दियों के मध्य का भारत का राजनैतिक और सामाजिक दोनों प्रकार का इतिसास जो कि हमारे विवेचनीय काल से संबन्धित है अब तक अन्धकार में डूबा हुआ है।

सामान्यतया दरबारी कविता की आयु का जहां तक सम्बन्ध है हमारे पास पतंजलि के महाभाष्य के उद्धरणों के रूप में महत्त्वपूर्ण प्रमाण विद्यमान

हैं जो हमें बतलाते हैं कि उनके समय में काव्य समृद्धि को प्राप्त हो रहा था और हमारे ईश्वीसन की गणना के प्रारम्भ होने के पहले निश्चित रूप से विकसित हो चुका था। इन उद्धृत पद्यों में कतिपय पद्य शास्त्रानुगत कविता के कृत्रिम छन्दों में रचे गये हैं जबकि अवदात कर्म परक अनुष्टुभ श्लोक वस्तुतत्व और स्वरूप दोनों में लोक प्रतिष्ठित कविता से नहीं दरबारी कविता से मेल खाते हैं।

और आगे बढ़कर हम जानते है कि अश्वघोष का बुद्धचरित अर्थात् 'बुद्ध-के कार्यकलाप' चीनी भाषा में ४१४ और ४२१ के मध्य में अनुदित किया गया था। यह रचना केवल स्वयं को महाकाव्य अर्थात् 'महान दरबारी कविता' कहती ही नहीं अपितु वास्तव में दरबारी कविता की शैली में लिखी हुई भी है। बौद्ध परम्परा के अनुसार अश्वघोष कनिष्क के सम-सामयिक थे और इस प्रकार प्रथम शताब्दी ई० से सम्बन्ध रखते होने चाहिए। किसी भी दृष्टि से विचार किया जाय तो यह बात स्पष्ट है कि उनकी कविता ३५० और ४०० ई० के मध्य के बाद की नहीं हो सकती। एक बौद्ध सन्यासी ने इतने अधिक पुराने काल में संस्कृत के शास्त्रीय महाकाव्य के नियमों के अनुसार बुद्ध विषयक पुराण कथानक लिखने की योजना बना ली एक मात्र यही वास्तविकता भी यह प्रकट करती है कि ब्राह्मणों द्वारा अभ्यस्त कृत्रिम काल्पनिक कविता किसी भी हिसाब से इशा की चौथी शताब्दी तक या सम्भवतः इससे भी बहुत पहले कितना अधिक लोकप्रिय हो गई थी।

शिलालेखों की कविता

इस शताब्दी के अन्तिम चरण के मध्य में शिलालेखों पर अनुसन्धान में जो प्रगति हुई है उसने ईशवी संवत् को प्रथम ५ शताब्दियों का आलिंगन करने वाले अन्धकार युग की दरबारी कविता के इतिहास पर प्रभूत प्रकाश डालना प्रारम्भ कर दिया है।

इस विषय में मि० फ्लीट के 'कार्पस इंस्क्रिप्सनम् इण्डिकारम्' के तीसरे खण्ड में महत्व के शिलालेखों की १८ से कम संख्या नहीं है। ये अधिकांश पद्य में लिखे गये हैं किन्तु आंशिक रूप में उत्कृष्ट गद्य में भी हैं। इनमें दो शताब्दियों में ३५० से ५५० ई० तक का समय आवेष्टित कर लिया गया है। उनमें बहुतों में ३१९ ई० से प्रारम्भ होने वाले गुप्तकाल को नियोजित किया गया है और जिसको पहले पहल चन्द्रगुप्त द्वितीय ने प्रयुक्त किया है जिनका नाम विक्रमादित्य है तथा जिनके शिलालेख एवं मुद्राओं का फैलाव ४०० ई० से ४१३ ई० तक है। इनमें कतिपय मालवा संवत् का प्रयोग

करते हैं जोकि विक्रम संवत् का पुराना नाम है और जिसकी तिथियां ई० पू० ५७ से प्रारम्भ होती हैं। इनमें कतिपय शिलालेख, प्रशस्तियां या राजाओं के यशोगान हैं। उनकी एक परीक्षा सिद्ध करती है कि चौथी, पांचवीं और छठी शताब्दियों में कविता की जो शैली प्रचलित थी वह उन शास्त्रानुसारी काव्यों की शैली से भिन्न नहीं है जो काव्य सुरक्षित रक्खे गये हैं। हमें अध्ययन से ज्ञात होता है कि गुप्त वंश की परम्परा में द्वितीय नम्बर पर आने वाले समुद्र गुप्त जिनका समय चौथी शताब्दी का उत्तरार्ध है स्वयं कवि थे और साथ ही कवियों के आश्रयदाता भी थे। बाद वालों (आश्रित कवियों) में कम से कम एक ने जिनका नाम हरिषेण है अपने राजकीय आश्रयदाता की प्रशंसा में जो प्रशस्ति लिखी है उसमें कविता की ३० पंक्तियां (६ छन्द) और लगभग उतनी ही संख्या में गद्य की पंक्तियां हैं। यह कवि दिखला देता है कि उसे कालिदास और दण्डी की काव्यशैली से प्रतिद्वन्दिता करने वाली काव्यशैली पर पूरा अधिकार है। संस्कृत काव्य शास्त्र की सभी कृतियों द्वारा बनाये गए नियम से समझौता करने में इनका गद्य असीमित रूप में लम्बे समासों से भरा है—उनमें से एक में १२० से भी अधिक मात्रा वर्ण प्रयुक्य किये गए हैं। ये अपनी कविता में कालिदास तथा दूसरों के समान वे वैदर्भी शैली का अनुसरण करते हैं जिनमें लम्बे समासों का बचाना उसका एक निर्देशक लक्षण है। इस शैली में जो ईशवी सन् ३०० तक निश्चित रूप से पूर्ण विकसित हो चुकी होगी। एक और शिलालेख भी समुद्रगुप्त के उत्तराधिकारी चन्द्रगुप्त द्वितीय के मंत्री वीरसेन द्वारा लिखा गया है।

एक अत्यधिक महत्वशाली शिलालेख में मालवा (विक्रम) संवत् ५२९ या ई० सन् ४७३ की तिथि दी गई है। इसमें ४४ पद्यों (छन्द की १५० पंक्तियों) से कम कविता नहीं है। यह कविता वत्सभट्टि नामक कवि द्वारा दशपुर (वर्तमान मन्दसोर) में सूर्य मन्दिर की प्रतिष्ठा के स्मरणोत्सव के लिए रची गई थी। इस शिलालेख का विस्तृत परीक्षण केवल इसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंचाता कि ५वीं शताब्दी में एक बहुमूल्य काव्य साहित्य विद्यमान रहा होगा किन्तु विशेष रूप से प्रकट करता है कि इस कविता में कालिदास की रचनाओं के साथ कई समानतायें हैं। यह अन्तिम वास्तविकता इस बात को सम्भाव्य बना देती है कि एक बहुत ही निम्न कोटि की कवित्व शैली वाला व्यक्ति, जो इस बात को स्वीकार करता है कि उसने यह कविता परिश्रम से बनाई है, कालिदास की कविता को जानता भी था और उसका उपयोग भी किया। इसलिए ५वीं शताब्दी ई० के प्रारम्भ में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वितीय का राज्य इस बीच भारत के सबसे बड़े कवि का ठीक सर्वाधिक सम्भावित समय बतालाता

मालूम पड़ता है।

गुप्तकाल के शिलालेखों के प्रमाण के अतिरिक्त हमारे पास दो महत्वपूर्ण अत्यधिक लम्बाई वाले साहित्य गद्य के शिलालेख विद्यमान हैं— एक है गिरनार और दूसरा है नासिक का। दोनों का समय ईशा की दूसरी शताब्दी है। वे प्रकट करते हैं कि उस समय भी गद्य काव्य शैली विद्यमान थी जो अपने सामान्य लक्षण और अनेक विस्तृत विवरणों में शास्त्रीय शैली में लिखी आख्यायिकाओं और कल्पित कथाओं की समानता धारण करती है। क्योंकि वे लम्बे और प्रायिक समासों का ही प्रयोग नहीं करते किन्तु अनुप्रास और उपमा तथा रूपक के विभिन्न भेदों के अलंकारों को भी प्रयुक्त करते हैं। यह आवश्यक है कि काव्यालंकारों का उनका प्रयोग तुलनात्मक रूप में बहुत ही कम प्रायिक और बहुत कम श्रम साध्य होता है। कभी-कभी तो लोकप्रिय पौराणिक महाकाव्यों (रामायण और महाभारत) की सरलता के आगे जाते ही नहीं। सब मिलाकर वे हरिषेण काव्य के गद्यांशों की अपेक्षा बहुत ही कम कृत्रिम हैं तथा दण्डी, वाण और सुबन्धु की अपेक्षा अधिक सशक्त रूप में तर्क संगत हैं। गिरनार के शिलालेख से ऐसा ज्ञात होता है कि इसका लेखक काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों से अवश्य परिचित रहा होगा और यह भी ज्ञात होता है कि वैदर्भी शैली के नियमों को सिद्ध करने वाले छन्दोबद्ध काव्य उनके समय में रचे जाते थे तथा राजदरबारों में इस प्रकार की कविता उसी प्रकार रचित एवं सम्वर्धित की जाती थी जैसी कि परवर्ती समय में की जाने लगी। यह नहीं समझा जा सकता कि काव्य साहित्य दूसरी शताब्दी का एक नया प्रवर्तन था अपितु इसके यह माना जा सकता है कि उस समय के पहले कविता लम्बी विकास परम्परा प्रतिकूल से होकर गुजरी होगी। इस प्रकार शिलालेख कला महाभाष्य के इस प्रमाण को पुष्ट ही नहीं करती कि कृत्रिम दरबारी कविता हमारे ई० सन् के प्रारम्भ होने के पहले ही जन्म ले चुकी थी किन्तु यह भी प्रकट करती है कि उस कविता का आने वाली पीढ़ियों में संवर्धन सतत जारी रहा।

पुनर्जागरण का सिद्धान्त

दिवंगत प्रो० बुहलर और मि० फ्लीट के अनुसन्धानों के परिणामों ने प्रो० मैक्समूलर के अतिप्रसिद्ध 'छठी शताब्दी में संस्कृत साहित्य के पुनर्जागरण' के सिद्धान्त को अप्रतिपादनीय बना दिया जो उस विद्वान् के द्वारा अपनी सामान्यतया प्रसिद्ध उज्ज्वल प्रतिभा के बल पर अपनी पुस्तक 'इण्डिया ह्वाट कैन इट टीच अस' में प्रस्तुत किया गया था और जो कई वर्ष तक साहित्य जगत् में छाया रहा।

प्रो० मैक्समूलर का प्रारम्भिक दावा है कि भारतीयों ने शकों (सीथियनों) तथा दूसरे विदेशियों के आक्रमण के परिणामस्वरूप ईशा की प्रारम्भिक दो शताब्दियों के मध्य अपनी साहित्यिक गतिविधि समाप्त कर दी। जिन अन्तिम दो शिलालेखों का वर्णन ऊपर किया गया है उन्हीं के प्रमाण के आधार पर उस दावे का खण्डन हो जाता है। उस काल के मध्य में बौद्धिक जीवन में इस प्रकार का कोई विच्छेद शिलालेखों के प्रमाण के अतिरिक्त दूसरे विचारों से भी अत्यधिक असम्भव बना दिया जाता है। पहली बात यह है कि सीथियन लोगों ने स्थायी रूप से भारत के केवल ५वें भाग पर ही अधिकार किया था। क्योंकि उनका शासन, जो ऐसा नहीं मालूम पड़ता कि पूर्व में मथुरा के आगे बढ़ा हो, केवल पंजाब, सिन्ध, गुजरात, राजपूताना और मध्यभारत अभिकरण (आढ़त) तक ही सीमित था। दूसरी बात यह है कि विजेता लोग शीघ्रता के साथ हिन्दूपने में शामिल हो गए। उनमें अधिकांश ने दूसरी पीढी में भारतीय नाम रख ही लिये थे। उनमें से एक उषभदात (संस्कृत ऋषभदत्त) मिली जुली संस्कृत और प्राकृत भाषाओं में रचे गए एक शिलालेख में अपने अवदात कार्यों (पराक्रमों) का वर्णन करता है। स्वयं कनिष्क (७८ ई० पू०) और उसी प्रकार उसके उत्तराधिकारी बौद्धधर्म के संरक्षक थे और इन शासकों के नियन्त्रण में मथुरा में भारतीय राष्ट्रीय वास्तुकला और मूर्तिकला ने विकास की बहुत ऊंची सीमा प्राप्त कर ली थी। इस प्रकार जबकि आक्रान्ता लोगों ने तुलनात्मक रूप में भारत के छोटे से भाग की, जिसे उन लोगों ने जीत लिया था, सभ्यता शीघ्रता के साथ प्राप्त कर ली थी तब यह स्वीकार करने में कोई कारण नहीं कि अपने उस जीते हुए भाग में भी उन लोगों ने साहित्यिक गतिविधि का दमन किया - फिर सारे भारत की तो बात ही नहीं उठती।

प्रो० मैक्समूलर की मुख्य प्रतिज्ञा (दर्शन) यह है कि छठी शताब्दी के मध्य में उज्जैन के महाराजा विक्रमादित्य के शासन में भारतीय दरबारी कविता का स्वर्ग युग था जिनके साथ परम्परा कालिदास तथा दूसरे प्रतिष्ठित साहित्यकारों के नाम जोड़ती है। यह पुनर्जागरण का सिद्धान्त फर्गुसन के सीधे सादे निष्कपट रूप में की हुई काल सम्बन्धी इस मिथ्या प्राक्कल्पना पर आधारित है कि उज्जैन के समझे जाने वाले महाराज विक्रम ने शक (सीथियन) लोगों को हिन्दुस्तान से बाहर निकालकर अपने विजय की स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए ५४४ ई० में प्रारम्भ की ६०० वर्ष पुरानी तिथि देकर ई० पू० ५७ वर्ष से विक्रम संवत् चला दिया। मि० फ्लीट के शिलालेख सम्बन्धी अनुसन्धानों ने फर्गुसन की मिथ्या कल्पना को निरस्त कर दिया। इन अनुसन्धानों से यह निष्कर्ष निकलता है कि यह बहुत दूर की बात है कि ५७ ई० पू० का संवत्

५४४ ई० में चालू किया गया था। यह संवत् १०० वर्ष से भी अधिक समय पहले से मालव संवत् के नाम से प्रचलन में था (जिसको लगभग ८०० ई० में विक्रम संवत् कहा जाने लगा।) इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञात होता है कि कोई भी शक (सीथियन) ईशा की ६ठी शताब्दी के मध्य में पश्चिम भारत से नहीं निकाला गया—क्योंकि वह प्रदेश तो गुप्तवंश द्वारा १०० से भी अधिक वर्षों पहले जीता जा चुका था। अन्तिम बात यह है कि यद्यपि यह सिद्ध होता है कि दूसरे विदेशी आक्रान्ता हूण लोग छठी शताब्दी के पूर्वार्ध में वास्तविक रूप में पश्चिम से निकाले गए थे किन्तु उनको विक्रमादित्य ने नहीं निकाला था अपितु वे यशोधर्मन, विष्णुवर्धन नाम के राजा के द्वारा निकाले गए थे।

इस प्रकार महान् सम्राट् विक्रमादित्य छठी शताब्दी की ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि से पौराणिक कल्पना के क्षेत्र में तिरोहित हो जाते हैं। १६वीं शताब्दी की एक पुस्तक का एक प्रमाण शून्य पद्य प्रायः उद्धृत किया जाता है जिसमें विक्रमादित्य के साथ उनके दरबारी नवरत्नों में धन्वन्तरि क्षपणक, अमर सिंह वाराहमिहिर और वररुचि को जोड़ा गया है।[1] जबकि छठी शताब्दी ई० से विक्रमादित्य अदृश्य हो गए तब जिन कवियों और ग्रन्थकारों का नामोल्लेख उस पद्य में किया गया है उनके समय के निर्णय के विषय में उक्त पद्य ने कालक्रमसारणी की सारी वैधता खो दी। ऐसे पौराणिक (काल्पनिक) प्रमाण से यह निष्कर्ष निकालना भी स्वीकृत नहीं किया जा सकता कि वे सब लेखक समसामयिक थे। यद्यपि उनमें एक वाराहमिहिर का समय वास्तव में छठी शताब्दी ही है फिर भी अब उनमें प्रत्येक को केवल पृथक् पृथक् ही और वह भी दूसरे तर्कों के आधार पर छठी शताब्दी में रखा जा सकता है। विक्रमादित्य का पुराण कल्पित होना स्वीकार कर लेने के अतिरिक्त अब कोई दूसरा कारण शेष नहीं रह जाता जिससे यह समझा जाय कि दरबारी कविता ने उस शताब्दी में कोई विशेष विकास किया था। क्योंकि हरिषेण द्वारा लिखित प्रशस्ति तथा गुप्तकाल की दूसरी शिलालेख की रचनायें प्रकट करती हैं कि इसका अत्यधिक विकास कम से कम दो सौ वर्ष पहले हो गया था।

कालिदास का समय

जिन दूसरे तर्कों के आधार पर कालिदास को अलग से छठी शताब्दी में रखने की चेष्टा की गई है उनमें कोई ऐसा नहीं है जिसमें कुछ शक्ति हो।

---

१. धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशंकुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥

उन प्रमुख तर्कों में एक है चौदहवीं शताब्दी के व्याख्याकार मल्लिनाथ की व्याख्या का निष्कर्ष। कालिदास के मेघदूत के १४वें पद्य में दिङ्नाग अर्थात् 'विश्व का हाथी' शब्द आया है। इसमें उन्हें (मल्लिनाथ को) कालिदास के द्वेष्य प्रतिद्वन्दी कवि दिङ्नाग का श्लेषमूलक संकेत दिखलाई पडता है। प्रारम्भ में यह व्याख्या स्वयं ही सीमातीत रूप में सन्देहास्पद है, फिर यह निश्चित नहीं है कि क्या मल्लिनाथ का मन्तव्य बौद्ध आचार्य दिङ्नाग से ही हैं। तीसरी बात यह है कि इस बौद्ध परम्परा को बिल्कुल महत्त्व नहीं दिया जा सकता कि दिङ्नाग वसुबन्धु के शिष्य थे, क्योंकि यह कथन सोलहवीं शताब्दी तक प्राप्त नहीं होता। चौथी बात यह है कि यह दावा कि वसुबन्धु छठी शताब्दी में हुए थे विक्रमादित्य विषयक मान्यता पर आधारित है और इसका विरोध चीनी लोगों के इस प्रमाण से होता है कि वसुबन्धु की रचनाओं के अनुवाद ४०४ ई० में किये गए थे। इस प्रकार इस तर्क श्रृङ्खला की प्रत्येक कड़ी बहुत कमजोर है।

दूसरा तर्क यह है कि कालिदास निश्चित रूप से आर्य भट्ट (४९९ ई०) के बाद हुए होंगे, क्योंकि वे यूनानी लोगों से उधार ली हुई वैज्ञानिक गणित विद्या का ज्ञान प्रकट करते हैं। किन्तु थिबौट ने यह बात दिखलाई है कि भारतीय गणित ज्योतिर्विज्ञान की एक कृति 'रोमक सिद्धान्त' जो असन्दिग्ध रूप में यूनानी प्रभाव में लिखी गई थी आर्यभट्ट से पुरानी है और ४०० ई० के बाद में उसे लिखा हुआ नहीं माना जा सकता। यहां इतना और सम्मिलित किया जा सकता है कि कालिदास के रघुवंश के एक पद्य (१४-४०) का भ्रान्तिवश गणित ज्योतिष मूलक तर्क के समर्थन में निष्कर्ष निकाला गया है जिसमें यह दिखलाया गया है कि चन्द्रग्रहण पृथ्वी की छाया के कारण होता है। वास्तव में इसमें केवल चन्द्रमा के धब्बों का निर्देश किया गया है जिनका कारण पुराणों के सिद्धान्त के अनुसार पृथ्वी की छाया होती है।[1]

इस प्रकार ज्ञान की जो वर्तमान स्थिति है उसके अनुसार यह मानने के अच्छे कारण विद्यमान हैं कि कालिदास छठी शताब्दी में नहीं किन्तु पांचवीं के प्रारम्भ में हुए थे। जो भी हो उनके युग के विषय में प्रश्न का निश्चयात्मक रूप से हल करना तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि उनकी प्रत्येक रचना का भाषा, शैली और काव्यशिल्प की दृष्टि से ऐसे शिलालेख सम्बन्धी अभिलेखों से तुलनात्मक रूप में सूक्ष्म अनुसन्धान न कर लिया जाय जिनमें तिथियां

---

१. अवैमि चैनामनघेति किन्तु लोकापवादो बलवान्मतो मे।
छाया हि भूमेः शशिनो मलत्वेनारोपिता शुद्धिमतः प्रजाभिः॥

दी हुई हैं और साथ ही संस्कृत काव्य शास्त्र की प्राचीनतम कृतियों में जो नियम दिए हुए हैं उनसे मिलाकर न देख लिया जाय।

कृत्रिम काव्य की विशेषता

जिस प्रकार महाभारत की लोकप्रिय महाकाव्यात्मक कविता पुराणों का प्रधान स्रोत बनी उसी प्रकार ५वीं शताब्दी से १८वीं शताब्दी तक बहुसंख्यक काव्यों द्वारा प्राचीनतम कृत्रिम महाकाव्य रामायण का अनुवर्तन किया गया, यद्यपि समय के बहुत लम्बे व्यवधान के बाद यह अनुवर्तन प्रारम्भ हुआ। जबकि पुराने महाकाव्य की कविता में काव्यप्रविधि काव्यवस्तु के आधीन बना दी गई है, यह (काव्य प्रविधि) इन काव्यों में प्रधान रूप में महत्त्वपूर्ण है। इन काव्यों में वस्तु अधिकाधिक रूप में शैली के मायाजाल-प्रदर्शन का साधन मात्र बनती जाती है। काव्य का लेखक जितना परवर्ती है उतना ही अधिक वह अपनी दूरारूढ़ कल्पना की निपुणता और भाषा की शुद्धता के द्वारा श्रोताओं से प्रशंसा प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। यह कविता सर्वदा हृदय की अपेक्षा मस्तिष्क पर प्रभाव डालती है। अत्यधिक उत्तमोत्तम काव्य भी निश्चित नियमों की कठोर अनुकूलता में लिखे गए हैं और यह प्रवृत्ति किसी भी अन्य देश की कविता की अपेक्षा इस कविता में अधिक है। क्योंकि केवल भाषा ही पाणिनि के वैयाकरण नियमों के आधिपत्य में नहीं है किन्तु शैली भी उन श्रमसाध्य नियमों के नियन्त्रण में है जो काव्यशास्त्र की विभिन्न रचनाओं में अनुप्रास के विभिन्न स्वरूपों और अलंकारों के विषय में बनाए गए हैं।

कालिदास के दो महाकाव्य

दो सर्वाधिक महत्वपूर्ण काव्य है—कालिदास के रघुवंश और कुमार-सम्भव। दोनों ही प्रतिपादन की स्वच्छन्दता और साथ ही अत्यधिक काव्य सौंदर्य की पहिचान बनाये हुए हैं। दोनों काव्यों में कई पद्य सामान्य हैं, बहुत से दूसरे केवल थोड़ा सा अन्तर प्रकट करते हैं. (छोटे-छोटे पद्यात्मक) अनुच्छेदों की बहुत बड़ी संख्या यद्यपि कथन में भिन्न है किन्तु विचारों में चित्ताकर्षक रूप में सादृश्य लिए हुए हैं। दोनों काव्यों में एक-सी परिस्थिति का वर्णन करने के लिए उसी छन्द का भी प्रयोग किया गया है किन्तु दोनों काव्यों में नियमानुसार एक सर्ग एक ही छन्द में बनाया गया है किन्तु नए सर्ग के प्रारम्भ में छन्द बदल जाता है। मुख्य प्रयुक्त छन्द हैं—अनुष्टुभ् का शास्त्रीय स्वरूप और उपजाति जो वैदिक त्रिष्टुभ् का विकसित रूप है।

रघुवंश

रघुवंश अथवा 'रघु का कुल' में १९ सर्ग है जो राम के जीवन और उसके साथ उनके पूर्वजों और उत्तराधिकारियों का वर्णन करते हैं। प्रथम ९

सर्गों में उनके (राम के) सर्वाधिक निकटवर्ती चार पूर्वजों का वर्णन किया गया है जिनका प्रारम्भ दिलीप और उनके पुत्र रघु से होता है। राम की कथा अगले ६ सर्गों (१० से १५ तक) को घेरती है जो वाल्मीकि रामायण से अच्छी निकटता स्थापित करती है जिन (वाल्मीकि) को कालिदास यहां (१५,४१ में)[1] आदि कवि कहते हैं। इसके बाद आने वाले दो सर्गों का सम्बन्ध राम के सर्वाधिक निकटवर्ती तीन उत्तराधिकारियों से है जबकि अन्तिम दो सर्ग शेष २४ राजाओं के जीवनवृत्त में दौड़ लगाते हैं जिन राजा लोगों ने उत्तराधिकारी के रूप में अयोध्या पर शासन किया और जो परम्परा भोगासक्त अग्निवर्ण की मृत्यु के साथ कुछ अधिक आकस्मिक रूप में समाप्त हो जाती है। राम के इन उत्तराधिकारियों की नामावली उससे अधिक निकटता से मेल खाती है जो सूची विष्णु पुराण में दी हुई है।

रघुवंश का वर्णन कुछ अधिक तेजी से आगे बढ़ता है जो कि बहुत अधिक लम्बे वर्णनों से घिरा नहीं है। इसमें उचित और आकर्षक उपमायें भरी पड़ी हैं और इसमें सच्ची कविता बहुत अधिक विद्यमान है जबकि एक काव्य के लिए शैली बहुत ही साधारण (सरल और सुगम) है यद्यपि अनेक पद्य यूरोपीय रुचि के लिए निस्सन्देह अत्यधिक कृत्रिम हैं। एक वैतालिक के द्वारा, जिसका कर्तव्य प्रातःकाल राजा को जगाना है, गाया हुआ निम्नलिखित पद्य (५ ७५) इस कथन का अच्छा उदाहरण हो सकता है—

भवति विरलभक्तिर्म्लानपुष्पोपहारः।
स्वकिरणपरिवेषोद्भेदशून्याः प्रदीपाः॥
अयमपि च गिरं नस्त्वत्प्रबोधप्रयुक्ता-
मनुवदति शुकस्ते मञ्जुवाक्पञ्जरस्थः॥

(जो पुष्प तुम्हें उपहार स्वरूप प्रदान किए गए थे वे झुकने (टूटकर गिरने) और मुरझाने लगे हैं। प्रदीपों ने उस किरण माला को खो दिया है जिसको वे चारों ओर विकीर्ण कर रहे थे (तथा उससे चारों ओर घेरा बनाये हुए थे।) अपने पिंजड़ेमें आबद्ध तुम्हारा मधुर भाषी तोता हमारी उस पुकार (वाणी) को दोहरा रहा हैं तुम्हें जगाने के लिए जिसका हम उच्चारण करते हैं।

रघुवंश पर बीस से अधिक टीकायें ज्ञात हैं। सर्वाधिक प्रसिद्ध मल्लिनाथ (टीकाकार) की संजीवनी टीका है जिसमें मूल के प्रत्येक शब्द की व्याख्या की

---

१. स पृष्टः सर्वतो वार्तमाख्यद्राज्ञे न सन्ततिम्।
प्रत्यर्पयिष्यतः काले कवेराद्यस्य शासनात्॥

गई है और जिनमें स्वयं कवि के मूल पाठ को प्राप्त करने और उसे सुरक्षित रखने के लिए उद्योग करने का बहुत बड़ा गुण है। उन्हें पहले के कतिपय टीकाकारों का ज्ञान है जिनमें उन्होंने दक्षिणावर्त और नाथ का समर्थन के साथ नाम लिया है। इनमें अब दूसरी (नाथ की) टीका तो विद्यमान ही नहीं है। दूसरी विद्यमान टीकाओं में १३८५ में लिखी दिवाकर मिश्र की सुबोधिनी टीका और चरित्र वर्धन नामक जैन की शिशुहितैषिणी टीका का उल्लेख किया जा सकता है दिवाकर की दूसरी टीका जिसका संक्षेप ज्ञात होती है।

कुमारसम्भव

कुमारसंभव अर्थात् 'युद्ध के देवता कुमार का जन्म' में पूरे होने पर १७ सर्ग हैं। प्रथम ७ सर्ग पूर्ण रूप से तरुण देव कुमार के माता-पिता देव शिव और हिमालय की पुत्री पार्वती के परस्पर प्रणय निवेदन और विवाह के लिए व्यय किये गये हैं। यह तथ्य स्वयं इङ्गित करता है कि इस काव्य की मुख्य विशेषता वर्णन करना ही है। इसमें उस काव्यात्मक सूक्ष्म चित्रण की बहुतायत है जो इस भारतीय कवि (कालिदास) की प्रधान साहित्यिक शक्ति है। कवि की आसक्ति अपनी बहुमूल्य मौलिक कल्पना शक्ति में है। उसके लिए यदि कवि को उसकी सम्पन्न मौलिक कल्पनाशक्ति में अनियन्त्रित आसक्ति का अवसर प्रदान किया जाय तो उदाहरणों की सम्पत्ति खुलकर सामने आ जाती है। वियोगिनी छन्द के (जिसमें १० और ११ मात्रा की पंक्तियां होती हैं—पहले और तीसरे चरण में १० और दूसरे तथा चौथे चरण में ११ मात्राएं) एक पद्य का अंग्रेजी (हिन्दी) अनुवाद नीचे दिया जा रहा है जो एक उदाहरण का कार्य करता है। इसमें कवि यह दिखला रहा है कि पति के मर जाने के बाद में उसका अनुगमन करने वाली पत्नी के कर्तव्य का किस प्रकार वे प्राकृतिक तत्त्व भी उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जिन्हें काव्य की दृष्टि से पत्नी माना जाता है—

शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तडित्प्रलीयते।
प्रमदा पतिवर्त्मगा इति प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि ॥

रात्रि के स्वामी (चन्द्रमा) के पीछे (उसके साथ) चांदिनी चली जाती है। मेघों के साथ-साथ बिजली भी विलीन हो जाती है। सर्वदा पत्नियां अपने पतियों के मार्ग का अनुसरण करती हैं इस व्यवस्था या नियम को वे वस्तुएं भी पालन करती हैं जो भावना और चेतना से रहित हैं।

आमतौर से केवल ७ सर्ग ही मुद्रित संस्करणों में प्राप्त होते हैं क्योंकि शेष १० की प्रकृति अत्यधिक शृंङ्गार (संभोग) परक है। काव्य की समाप्ति

तारक नामक राक्षस के विनाश के वर्णन के साथ हो जाती है। यह वह उद्देश्य है जिसके लिए युद्ध के देव कुमार (कार्तिकेय) का जन्म हुआ था।

कुमार सम्भव पर २० से अधिक टीकायें सुरक्षित रखी जा सकी हैं। उनमें कुछ उन्हीं लेखकों की हैं जो रघुवंश के टीकाकार हैं, उनमें विशेष स्मरणीय हैं मल्लिनाथ।

बाद के काव्य

बाद के काव्यों की विषय वस्तु जो दो बड़े पौराणिक महाग्रन्थों (रामायण और महाभारत) में ग्रहण की गई है अधिकाधिक संगीतात्मकता, कामुकता और उपदेशात्मकता के तत्त्वों से संयुक्त होती जाती है। यह अधिकाधिक बढ़ते रूप में श्रमसाध्य कल्पना प्रसूत माया-जाल के प्रदर्शन का साधन ही मानी जाने लगती है जब तक कि अन्त में आत्युक्ति पूर्ण शब्द जाल मात्र रह जाती है।

भट्टिकाव्य

यह काव्य सम्भवत: ७वीं शताब्दी में वलभी के राजा श्रीधरसेन के तत्वावधान में लिखा गया था और विभिन्न टीकाकारों द्वारा कवि एवं वैयाकरण भर्तृहरि को उसका कर्तृत्व प्रदान किया जाता है जिनकी मृत्यु ६५१ ई० में हुई थी। इसमें २२ सर्गों में राम कथा कही गई है। किन्तु इसका एक मात्र उद्देश्य संस्कृत व्याकरण के रूपों के उदाहरण देना है।

किरातार्जुनीय

इसके १८ सर्गों में पहले महाभारत में वर्णित की गई किरात् अर्थात् पर्वतारोही जाति के वेषधारी शिव और अर्जुन के मध्य हुए युद्ध का वर्णन किया गया है। इसकी रचना छठी शताब्दी के बाद में हुई नहीं हो सकती क्योंकि ६३४ ई० के एक शिलालेख में इसके लेखक भारवि का उल्लेख किया गया है। इस काव्य के १५वें सर्ग में ऐसे पद्यों की एक संख्या है जो उन सभी प्रकार के शाब्दिक छलों का उदाहरण हो सकते हैं जिनका वर्णन दण्डी के काव्यदर्श में किया गया है। इस प्रकार एक (१४वें) पद्य में 'न' के अतिरिक्त और कोई व्यञ्जन नहीं है (सिर्फ एक 'त' को छोड़कर जिसका प्रयोग अन्त में हुआ है)[1] जबकि बाद में आने वाले एक दूसरे २५वें पद्य में प्रत्येक आधी पंक्ति के वर्ण विपरीत दिशा में पढ़े जायें तो दूसरी आधी पंक्ति के जैसे हो

---

१. न नोननुन्नो नुन्नोनो नानानानाननानन्‌।
नुन्नोऽनुन्नो न नुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुत्‌॥

जाते हैं।[1]

शिशुपाल वध

शिशुपाल वध या 'शिशुपाल का मारा जाना' में २० सर्गों में वर्णन है कि किस प्रकार चेदिराज का पुत्र और कृष्ण का फुफेरा भाई राजकुमार शिशुपाल विष्णु (कृष्ण) द्वारा मारा गया। माघ कवि द्वारा रचित होने के कारण यह माघ काव्य के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी रचना सम्भवतः ९वीं शताब्दी की किसी तिथि में हुई और इसमें सन्देह नहीं कि दसवीं शताब्दी के अन्त से पहले यह काव्य लिखा जा चुका था। १९वाँ सर्ग कूट छन्दों के गोरख धन्धों से भरा हुआ है, उनमें कतिपय बहुत ही जटिल स्वरूप के हैं (उदाहरण जैसे—२९वां पद्य)[2] इसमें एक पद्य (३४) का एक ऐसा उदाहरण है कि यदि दूसरी ओर से पढ़ा जाय तो साधारण रूप में पढ़ा अगला पद्य बन जाय।[3] साथ ही सब बातों को देखते हुए यह काव्य किसी प्रकार भी काव्य सौन्दर्य और अद्भुत हृदय ग्राही विचारों से रहित नहीं है।

नैषधीय

(इसे नैषधीय चरित भी कहा जाता है।) यह काव्य २२ सर्गों में महाभारत के सुपरिचित उपाख्यान निषध के राजा नल की कथा से सम्बन्धित है। श्री हर्ष द्वारा यह रचना की गई थी जिनका समय १२वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है।

उक्त छः कृत्रिम कथाकाव्य, महाकाव्य या 'बड़े काव्य' के रूप में स्वीकृत किए जाते हैं और इन सब पर मल्लिनाथ ने टीकायें लिखी हैं। इस बड़ी श्रेणी में आने वाले काव्यों के लक्षण दण्डी ने काव्यादर्श या 'कविता के दर्पण' में इस प्रकार लिखे हैं—(१.१४-१९)[4] उनका विषय निश्चित रूप से बड़े महाकाव्यों

---

१. देवाकानिनि कावादे, वाहि का स्वस्वकाहिवा।
काकारे भभरेका का, निस्वभव्य व्यभस्वनि॥

२. सा सेना गमनारम्भे रसेनासीदनारता।
तारनादजनामत्तधीरनागमनामया॥
यह मुरज बन्ध है। व्याख्या के लिए देखो संजीवनी टीका।

३. वाहनाजनिमानासे साराजावनमाततः।
मत्तसारगराजेभे भारीहावज्जनध्वनि॥३३॥
निध्वनज्जवहारीभा भेजे रागरसात्तमः।
ततमानवजारासा सेनामानिजनाहवा॥३४॥

४. सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम्।
आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्॥१४॥

(इतिहास, रामायण, महाभारत) से लिया जाना चाहिए, ये काव्य विस्तृत होने चाहिए और इनको नगर समुद्र, पर्वत, ऋतु, सूर्योदय विवाह, नायक द्वारा किए हुए युद्ध इत्यादि और भी अनेकों वर्णनों द्वारा अलंकृत किया जाना चाहिए।

कतिपय अन्य काव्य-हरविजय

रत्नाकार नामक एक काश्मीरी कवि द्वारा लिखित हरविजय या 'शिव का जीतना' ५० सर्गों का एक विशाल एवं विस्तृत महाकाव्य है इनका समय ईशा की नवीं शताब्दी है।

नलोदय

बाद का एक अन्य महाकाव्य नलोदय या 'नल की उन्नति' है जिसमें नैषधीय के समान ही उसी नायक के भाग्य का वर्णन किया गया है। इस काव्य में राजा नल के पुन: शक्ति में आने का वर्णन है जबकि वह अपना सब कुछ गंवा चुका था। यद्यपि यह कालिदास की रचना बतलाई जाती है फिर भी यह बहुत बाद की रचना है यह मानने में कोई गलती नहीं है। बहुत अधिक विभिन्न तथा कृत्रिम छन्दों के हेरफेर में अपना बुद्धि कौशल दिखलाना कवि का मुख्य लक्ष्य है साथ ही नवीनतम काव्यों में दिखलाई गई शैली के श्रमसाध्य कूट उपाय दिखलाना भी लेखक का लक्ष्य है। तुकबन्दी का भी प्रवेश किया गया है और वह भी केवल छन्द के अन्त में नहीं छन्द की पक्तियों के मध्य में भी प्रयुक्त की गई है। वास्तव में महाकाव्य की सामग्री विद्यमान है किन्तु उसका व्यवहार बहुत कम किया गया है। कथानक केवल लम्बे वर्णनों और संगीत प्रवाह के लिए मार्ग बनाने का साधन मात्र है। इस प्रकार काव्य के

इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा तदाश्रयम्।
चतुर्वर्गफलायत्तं चतुरोदात्तनायकम् ॥१५॥
नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनैः।
उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवैः ॥१६॥
विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोदयवर्णनैः।
मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि ॥१७॥
अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्।
सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः ॥१८॥
सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरञ्जनम्।
काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायते सदलंकृति ॥१९॥

चार सर्गों में दूसरा और सबसे लम्बा सर्ग शुद्धरूप में संगीतात्मक ही है जिस में नवविवाहित युग्म के लिए अत्यन्त सुख की कामना के साथ सभी प्रकार के अप्रासङ्गिक अतिरिक्त प्रकरण जोड़ दिए गये हैं।

राघवपाण्डवीय

कृत्रिमता का शीर्ष स्थान राघव पाण्डवीय ने प्राप्त कर लिया है। यह एक काव्य है जिसे कविराज ने लिखा है। ये सम्भवतः ८०० ई० के आस पास उत्पन्न हुए थे। राघव अर्थात् राम और पाण्डव राज कुमारों के कार्यों का ये एक साथ गायन करते हैं। रचना इस प्रकार व्यवस्थित की गई है कि द्वयर्थक अस्पष्ट शब्दों और मुहावरों के प्रयोग के द्वारा रामायण और महाभारत की कथा एक ही और उसी समय में कही गई है। वे ही शब्द अपने भाव के अनुसार जिसमें वे समझे जाते हैं प्रत्येक महाकाव्य की घटनाओं का वर्णन करते हैं। बुद्धि कौशल की शक्ति का एक ऐसा अद्भुत कर्म निस्सन्देह विश्व साहित्य में अद्वितीय है। फिर भी कविराज को स्वयं भारत में नकल करने वाले मिल गये।

नव साहसाङ्कचरित

एक महाकाव्य जो अब तक केवल पाण्डुलिपियों में ही सुरक्षित है[1] वह है नवसाहसाङ्कचरित। यह एक काव्य है जो साहसाङ्क के कार्यों का गायन करता है। नव साहसांक दूसरे शब्दों में मालवा के राजा सिन्धुराज हैं। इस काव्य की रचना एक कवि पद्मगुप्त ने की थी जिनका जीवनकाल १००० ई० के आस पास व्यतीत हुआ था। इसमें १८ सर्ग हैं और १६ विभिन्न छन्दों में १५०० से अधिक पद्य हैं। कवि छन्दों के कूट प्रयोग से बचता है किन्तु मध्य में न समाप्त होने वाले वक्तव्यों और लम्बे चक्करदार वर्णनों से कथानक की प्रगति में बहुत अधिक बाधा पहुंचाता है।

उपसंहार में हम यह कह दें कि एक महाकाव्य प्राकृत में भी है जिसकी रचना का श्रेय कालिदास को दिया जाता है। इस काव्य का नाम है सेतुबन्ध या 'पुल का बनाना' अथवा रावणवध या 'रावण का मारा जाना' जिसमें राम की कथा कही गई है। यह समझा जाता है कि कवि ने काश्मीर के प्रवरसेन

---

१. इस पुस्तक का प्रकाशन श्री इस्लाम पुरकर ने बाम्बे संस्कृत सीरीज से (सं० ५३, १८९५ में) पहले ही करा दिया था जिस पर श्री मैक्डानल का ध्यान नहीं गया।

द्वारा वितस्ता (झेलम) के आर-पार बनाये गए नावों के पुल की स्मृति को चिरस्थाई बनाने के लिए यह रचना की थी।

गद्यकाव्य

गद्य में कतिपय कल्पित कथा परक काव्य हैं जिनका प्रारम्भ छठी और सातवीं शताब्दी से हो जाता है। संस्कृत काव्य शास्त्र के लेखकों ने इन रचनाओं को काव्य की श्रेणी रखा है। अतः उनका उल्लेख यहां पर किया जा सकता है। लम्बे और संख्यातीत समासों का अत्यधिक प्रयोग इन कृतियों की शैली की सारभूत विशेषता है जिससे इनका अध्ययन निश्चय ही अत्यन्त कठिन हो जाता है। उनकी वस्तु के विषय में कहा जा सकता है कि उनमें क्रियाशीलता बहुत कम है जिसमें बहुत अधिक ऐसे दृश्य विद्यमान हैं जो कथानक के क्षीण सूत्र द्वारा एक दूसरे में जोड़ दिए गये हैं और लम्बे वर्णनों के लिये अवसर बना दिये जाते हैं। जिनमें उपमाओं की लम्बी लड़ियां भरी रहती हैं और जो प्रायः श्लेष से परिपूर्ण रहते हैं। हां उनके अत्यन्त कृत्रिम और संश्लिष्ट शैली के होते हुए भी वास्तव में अनेक काव्यात्मक विचार उस योजना में गुंथे मिल सकते हैं जो यूरोपीय अभिरुचि के लिए सर्वथा अनाकर्षक होती है।

दशकुमार चरित या 'दस राजकुमारों के साहसिक कार्य' में सामान्य जीवन की कथायें हैं और समाज की दूषित दशा का उनमें प्रतिफलन होता है। यह दण्डी का लिखा है और सम्भवतः ६ठी शताब्दी इसका समय है। सुबन्धु की वासवदत्ता उज्जैन की राजकुमारी नायिका वासवदत्ता और वत्सदेश के राजा उदयन की लोकप्रिय कथा है। सम्भवतः यह सातवीं शताब्दी के बिल्कुल प्रारम्भ में लिखी गई थी। उससे कुछ बाद का एक काव्यात्मक प्रेमोपाख्यान बाण की कादम्बरी है जिसमें उसी नाम की राजकुमारी की भाग्य सम्पत्ति का वर्णन है। उसी लेखक का लगभग वैसी ही विशेषताओं वाला आख्यान हर्षचरित ८ उच्छ्वासों में लिखा गया है। इसमें बाणभट्ट ने कन्नौज के महाराज हर्षवर्धन के जीवन का कुछ विवरण देने की चेष्टा है। यह सच है किउसमें कथानक बहुत कम है। इस प्रकार आठवें उच्छ्वास के २५ पृष्ठों में ५ लम्बे विवरण मिलते हैं जिनमें प्रत्येक औसत रूप में दो पृष्ठों में फैला हुआ है, जो छोटे-छोटे वर्णन हैं उनके विषय में तो कुछ कहना ही नहीं। उदाहरण के लिए दास्यभाव की दयनीय दशा के विषय में चार पृष्ठों को घेरे हुए और उपमाओं की रज्जुमाला से परिपूर्ण एक लम्बा विचारात्मक विवेचन है। एक नौकर 'एक चित्र लिखित धनुष के समान काल्पनिक गुणों की डोरी को खींचने के एकमात्र कार्य में

सर्वदा झुका ही रहता है जबकि उसमें शक्ति नहीं होती।[1] झाड़ू के द्वारा इकट्ठी की हुई धूल को बटोरने की राशि के समान वह केवल प्रसाधनादि से बची-खुची वस्तुओं को ही वहन करता है।[2] दिव्यमाताओं को दिए हुये बलिपिण्ड के समान वह रात में भी मैदान में फेंक दिया जाता है।[3] एक जलाकर्षक यन्त्र (ढेंकुली) के समान उसने सारा गौरव अपने पीछे छोड़ दिया है और जल के लिये भी झुकता है।[4] इसी प्रकार की और भी बहुत-सी (उपमायें भरी पड़ी हैं) इसके बाद शीघ्र ही जंगल के वृक्षों का वर्णन आ जाता है जो दो पृष्ठों को घेरे हुए हैं। इसके तत्काल बाद एक दूसरा पृष्ठ आ जाता है जिसमें विभिन्न प्रकार के उन विद्यार्थियों को गिनाया गया है जो एक बहुत बड़े बौद्ध महात्मा की शिक्षाओं का स्वयं लाभ उठाने के लिए जंगल में एकत्र हो जाते हैं। इन शिष्यों में बन्दर भी सम्मिलित होते हैं जो तत्परता के साथ शास्त्रीय विधि सम्पादन में संलग्न हैं[5], धर्म निष्ठ तोते एक बौद्धकोश (अभिधम्मकोश) की व्याख्या कर रहे हैं।[6] उल्लू विभिन्न बौद्ध जातकों परव्याख्यान दे रहे हैं।[7] और बौद्ध शिक्षाओं के शान्तिदायक प्रभाव से बाघों ने भी माँस खाना छोड़ दिया है। इसके बाद

---

१. चित्र धनुप इवालीकगुणाध्यारोपणक्रियानित्यनम्रस्य निर्वाणतेजसः' (नौकर चित्राङ्कित धनुष के समान होता है—जिस प्रकार धनुप सर्वदा झुका ही रहता है उसी प्रकार नौकर को भी झुका ही रहना पड़ता है, चित्राङ्कित धनुष का मिथ्या गुण (डोरी) बहुत अधिक खींचा हुआ दिखलाया जाता है, नौकर को अपने स्वामी के मिथ्या गुणों को दूर तक खींचना पड़ता है, दोनों में कोई शक्ति नहीं होती।

२. समार्जनीसमुपार्जितरजसोऽवकूटस्येव निर्माल्यवाहिनः।

३. निशास्वपि मातृबलिपिण्डस्येव दिक्षु विक्षिप्यमाणस्य।

४. तुलायन्त्रस्येव पश्चात्कृतगौरवस्य तोयार्थमपि नमतः। (ढेंकुली जल निकालने का यन्त्र होता है जिसमें तराजू के समान बीच में लकड़ी के दो खम्भों पर एक लम्बी लकड़ी टिकी रहती है। उसके पीछे बोझ रखा रहता है और पानी के लिए भी उसे आगे से झुकना पड़ता है। ढेंकुली की गुरुता (भार) पीछे की ओर को होता है—दास को भी अपनी गौरव भावना पीछे रखनी पड़ती है। पानी जैसी साधारण सी वस्तु के लिए भी दोनों को झुकना पड़ता है।)

५. कपिभिरपि चैत्यकर्मकुर्वाणैः।

६. परमोपासकैः शुकैरपि कोशं समुपदिशद्भिः।

७. कौशिकैरपि बोधिसत्वजातकानि जपद्भिः।

स्वयं मुनि के वर्णन करने वाला एक पृष्ठ आता है मुनि ने बहुत ही कोमल लाल वस्त्र से स्वयं को ढंक लिया है जैसे मानो कि वे आकाश के एक ऐसे पूर्वी भाग हैं जो प्रातः कालीन सूर्य किरणों में नहाया हुआ है, ताजे खराद किये हुए पद्मराग के समान लाल और उज्जवल अपनी देह की प्रभा से दूसरी दिशाओं को लाल बना रहे थे मानो उन्हें भी बौद्ध काषाय धारण करने के लिए उपदेश दे रहे हों।[1] इसके कुछ ही देर बाद जंगल में भूमि पर पड़ी हुई विषाद ग्रस्त राजकुमारी का लम्बा वर्णन आता है जो श्लेषों के प्रयोग से देदीप्यमान है और हर्ष निर्भर रोमान्चित बना देने वाला है—'जंगल में और विचारों में खोई हुई, मृत्यु और वृक्ष की जड़ की ओर झुकी हुई, विपत्तियों और अपनी धाय के वक्षस्थल में पड़ी हुई, अपने पति और सुखशान्ति से दूर की हुई, सूर्य के भयानक प्रकाश और वैधव्यजन्य दुःख-शोक से जली हुई, उसका मुख जैसे मौनावलम्बन से उसी प्रकार उसके हाथों से बन्द किया हुआ और वह अपनी सहेलियों द्वारा और उसी प्रकार विषाद के द्वारा मजबूती से पकड़ी हुई, मैंने उसे देखा जबकि उसे बन्धु बान्धव और उसके सभी विलास व्यतीत हो गये उसके दोनों कान और उसकी आत्मा सूनी हो गई, उसके आभूषण और उसके लक्ष्य (सारे कार्य) छूट गये, उसके बाजूबन्द और उसकी आशायें टूट गई, उसकी सहेलियां और सुई के समान चुभने वाले घास के अंकुर उसके पैरों को चारों ओर जकड़े हुए थे, उसकी आंखे और उसका प्रियतम उसके हृदय के अन्दर विराजमान था, उसकी आहें और उसके केश बहुत लम्बे, उसके शरीरावयव और उसके गुण सभी क्षीण हो गये, उसकी वृद्ध नौकरानियां और आंसू की धारायें उसके पैरों पर गिर रहीं थीं[2] और इसी प्रकार और बहुत से।

---

१. अरुणेन चीवरपटेन म्रदीयसा संवीतम्, बहलबालातपानुलिप्तमिव पौरन्दरं दिग्भागम्, उल्लिखितपद्मरागप्रभाप्रमितया रक्तावदातया देहप्रभया पाटलीकृतानां काषायग्रहणमिव दिशामुपदिशन्तम्।

अष्टम उच्छ्वास पृ० ४२४

२. प्रविष्टा वनगहनं ध्यानं च, स्थिता तरुतले मरणे च, पतितां धात्र्युत्सङ्गे महानर्थे च, दूरीकृता भर्त्रा सुखेन च, दग्धां चण्डातपेन वैधव्येन च, धृतमुखीं पाणिना मौनेन च, गृहीतां प्रियसखीजनेन मन्युना च तथा च भ्रष्टां बन्धुभिर्विलासैश्च, मुक्तेन श्रवणयुगुलेनात्मना च परित्यक्तैर्भूषणैः सर्वारंभैश्च, भग्नैर्वलयैर्मनोरथैश्च, चरणलग्नाभिः परिचारिकाभिर्दर्भाङ्कुर सूचीभिश्च, हृदयविनिहितेन चक्षुषा प्रियेण च, दीर्घैः शोकश्वसितैः केशैश्च, क्षीणेन वपुषा पुण्येन च, पादयोः पतन्तीभिर्वृद्धाभिरश्रुधाराभिश्च

अध्याय-१२

प्रगीत-मुक्तक

(लगभग ४०० ई० से ११०० ई० तक)

संस्कृत प्रगीतात्मक मुक्तक ने किसी प्रचुर लम्बाई की बहुत-सी कृतियाँ उत्पन्न नहीं की हैं किन्तु इनमें कालिदास की सर्वाधिक परिपूर्ण दो रचनायें सम्मिलित की जाती हैं। कालिदास एक ऐसे कलाकार हैं जो इस क्षेत्र में उससे कम जाने माने नहीं हैं जितने वे एक महाकाव्यकार या नाटककार के रूप में विश्रुत हैं। उनकी प्रगीत विषयक प्रज्ञा वस्तुतः उनके नाटकों में भी पर्याप्त मात्रा में सुव्यक्त होती है।

मेघदूत

कालिदास का मेघदूत या 'सन्देश वाहक मेघ' प्रगीतात्मक काव्य का एक रत्न है जिसने गेटे की प्रशंसा प्राप्त की है। इसमें १७ वर्णों वाले चार चरणों के ११५ मन्दाक्रान्ता छन्द हैं। इसका विषय एक सन्देश है जो एक निर्वासित के द्वारा मेघ के माध्यम से दूर प्रदेश में रहने वाली पत्नी के पास भेजा जाता है। यह भाव शिकलर ने अपनी 'मेटियास्टुआर्ट' में प्रयुक्त किया है जहां स्टुआर्ट की बन्दिनी महारानी बादलों से प्रार्थना करती है कि क्योंकि वे दक्षिण की ओर उड़ते जा रहे हैं अतः वे उस भूमि का अभिनन्दन करें जहां उसका नया जीवन व्यतीत हुआ था (अंक तीन दृश्य एक)। यहां पर धन के देवता कुबेर का निर्वासित अनुचर यक्ष है जिसको कर्तव्य उपेक्षा के कारण मध्यभारत में रामगिरि के ढलानों पर वनों उपवनों में रहने के लिए निर्वासित कर दिया गया। कृशकाय और शोकाकुल वह यक्ष वर्षा ऋतु के निकट आने पर एक काले बादल को उत्तर दिशा की ओर बढ़ते हुए देखता है। वह दृश्य उसके हृदय को उत्कण्ठा से भर देता है और उसे बादल से एक प्रार्थना निवेदित करने के लिए प्रोत्साहित करता है कि वह सुदूर हिमालय में उसकी पत्नी के पास आशा का एक सन्देश पहुंचा दे। काव्य के पूर्वार्ध में यक्ष अत्यधिक शक्ति और सौंदर्य के साथ विभिन्न दृश्यों का वर्णन करता है जिन दृश्यों को उत्तर की ओर जाते

हुए मेघ को अनिवार्य रूप से पार करना पड़ेगा । वे दृश्य हैं आम्रकूट पर्वत जिसकी चोटी पर जंगली आगों को अपनी बौछारों से शान्त करने के बाद मेघ आराम करेगा । नर्मदा जो विन्ध्याचल के अधोभाग को घेर कर बहती है, विदिशा नगरी (भेलसा) और वेत्रवती (वेतवा) की धारा, अवन्ती देश में उज्जैन नगरी, कुरुक्षेत्र की पवित्र भूमि, गङ्गा और श्वेत वर्फीले मैदानों वाले पर्वत जहाँ से वह निकली है (यह सब वर्णन वहाँ तक करता है) जब तक कि अन्त में कैलाश पर्वत पर अलका नगरी प्राप्त हो जाती है ।

काव्य के उत्तरार्ध में पहले तो यक्ष इस शहर का और वहां अपने घर के सौंदर्य का वर्णन करता है । जब वह भड़कीले रंगों में अपनी पत्नी के सौन्दर्य का, उसके आसपास के वातावरण का और उसके क्रियाकलापों का वर्णन करने लगता है तब रात्रि जागरणों के मध्य में वह पलंग पर उसके निद्राहीन तथा दुर्बल शरीर के करवटें बदलने की कल्पना करता है । तब जबकि उसकी आंखें खिड़की पर जम जाती हैं बादल उससे गर्जन की आवाज में उसके पति के सन्देश को निवेदित करता है कि वह अब तक जीवित है और उसे (अपनी पत्नी को) देखने की इच्छा करता है—

श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं ।
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां वर्हभारेषु केशान् ।।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान् ।
हन्तैकस्मिन् क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति ।।

(मैं प्रियङ्गुलताओं में तुम्हारे अंग को देखता हू, चकित हरिणियों की निगाहों में कटाक्ष, चन्द्रमा में सुन्दर मुख, मयूरों की कलंगियों में तुम्हारी प्रकाश मान केशराशि नदियों के बहते हुए जल की छोटी-छोटी लहरियों में लीलामय क्रोध के परिचायक भ्रकुटि विलासों को देखता हूं (कल्पना करता हूं) किन्तु खेद है एक ही स्थान पर कहीं भी मिली हुई तुम्हारी सुन्दरता नहीं देख पाता) ।

किन्तु साहस रखो, वह कहता है, अन्त में हमारा दुःख दूर होगा, हम पुनः मिलेंगे—

भूयश्चावां विरह गुणितं तं तमात्माभिलाषम् ।
निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु ।।

(और तब हमारी हृदय की जो इच्छायें वियोग द्वारा अधिक घनीभूत बना दी गई हैं उन इच्छाओं का ऐसी रात्रियों में आनन्द लेंगे जो (रात्रियां) अत्यन्त शानदार चमकीलीं होंगी और उनमें शरत्काल के पूर्ण चन्द्र विम्ब का प्रकाश फैल रहा होगा ।)

तब वह मेघ से सन्देश देकर लौटकर पुनः आश्वस्त करने वाले सन्देश देने की प्रार्थना करता है। फिर निर्वासित यक्ष अन्तिम रूप से इस आशा के साथ उसे विसर्जित करता है कि भविष्य में वह कभी एक क्षण के लिए भी अपनी प्रिय पत्नी बिजली से विमुक्त न हो।

ऋतु संहार

भावना की अभिव्यक्ति के अतिरिक्त इस सुन्दर काव्य (मेघदूत) में वर्णनात्मकता का तत्त्व भी अत्यधिक मात्रा में प्रकाशित है। यह बात ऋतु संहार 'या ऋतुओं का चक्र' में अधिक सच्ची है। इस छोटी कृति में ६ सर्गों में १५३ पद्य हैं और विभिन्न छन्दों में इसकी रचना हुई है। संस्कृत के शास्त्रीय कवि प्रायः भारतीय वर्ष को जिन ६ ऋतुओं में विभाजित करते हैं उनका इसमें अत्यन्त कवित्वमय वर्णन किया गया है। प्राकृतिक सौन्दर्य के उज्जवल वर्णन के साथ जिसमें कामुक दृश्य यत्र-तत्र बिखरे हुए हैं कवि ने निपुणता पूर्वक मानव भावनाओं का वर्णन अन्तर्गुम्फित कर दिया है। प्रकृति के साथ कवि की गहरी सहानुभूति, उनके निरीक्षण की तीव्र शक्ति और अपने स्पष्ट रंगों में भारतीय भू भाग का चित्रण करने की निपुणता को इतने आश्चर्यजनक हृदय ग्राही रूप में संभवतः कालिदास की कोई कृति प्रदर्शित नहीं करती।

काव्य का प्रारम्भ ग्रीष्म वर्णन से होता है। यदि दिन में उस (ग्रीष्म) काल में सूर्य की चमक इतनी अधिक तीव्र होती है तो चांदनी से प्रकाशित रात्रियां प्रेमियों को और अधिक आनन्ददायिनी बना जाती है। चन्द्रमा रमणीय रमणियों की आकृतियों को देखकर ईर्ष्या से भरकर अपनी सीमा से बाहर हो जाता है।[1] (लज्जा से अपने स्वरूप को ही खो देता है।) तब यह भी होता है कि विचरणशील (प्रवासी) व्यक्ति वियोगाग्नि से जल उठते हैं।[2] इसके बाद गरमी के प्रभाव का तेजस्वी वर्णन आ जाता है। इससे सांप, सिंह, हाथी, भैंसे, शूकर, मृग, मोर, सारस, मेंढक और मछलियों में प्यास और आलस्य उत्पन्न हो जाता है।[3] जंगल की आग (दावाग्नि) के कारण उत्पन्न हुआ

---

१. सितेषु हर्म्येषु निशासु योषितां,
सुखप्रसुप्तानि मुखानि चन्द्रमाः।
विलोक्य नूनं भृशमुत्सुकश्चिरं,
निशाक्षये याति ह्रियेव पाण्डुताम् ॥१.९॥

२. न शक्यते दृष्टुमपि प्रवासिभिः।
प्रियावियोगानलदग्धमानसैः ॥१.१०

३. प्रथम सर्ग के ११ से २१ तक पद्य।

विनाश वृक्षों और झाड़ियों को खा जाता है और भय से पीड़ित पशुओं के झुण्डों को अपने सामने खदेड़ लाता है।[1]

समाप्त होने वाली उष्णता के बाद वर्षा ऋतु आ जाती है जिसकी घोषणा बिजली का झण्डा लगाए और गर्जन का ढोल बजाते हुए गहरे काले बादलों से होती है।[2] धीरे-धीरे वे चातक पक्षियों के साथ आगे बढ़ते हैं—उन चातकों के साथ जिनके विषय में यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि वे एकमात्र वर्षा की बूदों को ही पीते हैं। बादल तब तक धीरे-धीरे आगे बढ़ते हैं कि अन्त में अपना जल बरसा देते हैं। जंगली नदियों की धारायें अनियन्त्रित स्वैरिणी लड़कियों के समान अपने किनारे के लड़खड़ाते वृक्षों को क्षण मात्र में समेटती जाती हैं जब वे समुद्र की ओर दौड़ती हुई बढ़ती जाती हैं।[3] पृथ्वी घास के छोटे-छोटे नवीन अंकुरों से भर जाती है और वनराजि सुनहली पंखुड़ियों के परिधान से स्वयं को सजा लेती हैं।[4]

सितोत्पलाभाम्बुदचुम्बितोपलाः
समाचिताः प्रस्रवणैः समन्ततः।
प्रवृत्तनृत्यैः शिखिभिः समाकुलाः
समुत्सुकत्वं जनयन्ति भूधराः ॥२.१६॥

(जब वर्षा से परिपूर्ण बादल ऊंची-ऊंची चट्टानों का चुम्बन करने के लिए नीचे को झुकते हैं, जब उनकी ढलानों पर चारों ओर से जल प्रपात नीचे

---

१ प्रथम सर्ग के २५ से २६ तक पद्य। आशय यह है कि दावाग्नि तृण गुल्मों, वृक्षों, लताओं को जलाकर ऐसी भीषण स्थिति उत्पन्न कर देता है कि पशु पक्षी वैर छोड़कर इसके सामने से एक साथ झुण्ड के झुण्ड भागते चले जाते हैं।

२. स शीकराम्भोधरमत्तकुञ्जरस्तडित्पताकोऽशनिशब्दमर्दलः।
समागतो राजवदुद्धतद्युतिर्घनागमः कामिजनप्रियः प्रिये ॥ सर्ग २-१

३ निपातयन्त्यः परितस्तटद्रुमान्,
प्रवृद्धवेगैः सलिलैरनिर्मलैः।
स्त्रियः सुदुष्टा इवजातविभ्रमाः
प्रयान्ति नद्यस्त्वरितं पयोनिधिम् ॥२.७॥

४. तृणोत्करैरुद्गतकोमलाङ्कुरै—
श्चितानि नीलैर्हरिणीमुखक्षतैः।
वनानि वैन्ध्यानि हरन्ति मानसं
विभूषितान्युद्गतपल्लवैर्द्रुमैः ॥

की ओर तेजी से प्रवाहित होते हैं और जब मयूरों के झुण्ड नृत्य में प्रवृत हुए दिखलाई पड़ते हैं तब पर्वत प्रेम की उत्कण्ठा पूर्ण भावना से आत्मा को भर देते हैं।)

इसके बाद शरद् ऋतु आ जाती है—इतनी सुन्दर मानो नई ब्याही हुई बहू हो। पूरे खिले कमल उसके मुख होते हैं, उसकी पोशाक गन्नों के पौधे और पकने वाले धान के खेत होते हैं; राजहंसों की सुमधुर ध्वनि उनके नूपुरों कीझंकार होती है, विलासमयी ललित लतायें रमणीय रमणियों की भुजाओं से स्पर्धा करती हैं, कुन्दकलियां रक्ताशोक की कलियों के मध्य से स्वयं को प्रदर्शित कर किसी मुस्कुराती नवयौवना के चकाचौंध उत्पन्न करने वाले दांतों और रक्तिम आभा वाले ओठों से प्रतिस्पर्धा करती हैं।

इसके बाद हेमन्त आता है जब धान पकने लगते हैं, जब कमल मुरझा जाता है प्रातः काल खेत धवल तुषार मण्डित हो जाते हैं।[1]

पाकं व्रजन्ती हिमजातशीतै—
राधूयमाना सततं मरुद्भिः।
प्रिये प्रियङ्गुः प्रियविप्रयुक्ता
विपाण्डुतां याति विलासिनी व ।।४.११।।

(हे प्रिये: तब (इस समय) पकने के निकट पहुंची हुई बर्फ से उत्पन्न शीतलता से परिपूर्ण वायु के द्वारा निरन्तर थपेड़ें खाती हुई प्रियङ्गुलता उसी प्रकार पीली से अधिक पीली होती जा रही है जिस प्रकार प्रियतम से वियुक्त एकाकिनी स्त्री अधिकाधिक पीली होती जाती है।)

यह प्रेमियों का प्यारा समय है जिनके आनन्द का कवि ने भड़कीले रंगों में वर्णन करता है।

शिशिर ऋतु में आग और सूर्य की सौम्य किरणें आनन्ददायक बन जाती हैं। अब रातें प्रेमियों को आकर्षित नहीं करतीं क्योंकि चन्द्र किरणें शीतल हो जाती हैं और नक्षत्र कान्ति धुंधली पड़ जाती है।[2]

---

१. नवप्रवालोद्गमसस्यरम्यः
प्रफुल्ललोध्रः परिपक्वशालिः।
विलीनपद्मः प्रतपत्तुषारो—
हेमन्तकालः समुपागतोऽयम् ।।

२. तुषारसंघातनिपातशीतलाः,
शशाङ्कभाभिः शिथिलीकृताः पुनः।

कवि छ: ऋतुओं में अन्तिम ऋतु वसन्त ऋतु के आनन्दों का सर्वाधिक लम्बा वर्णन करता है। यह वह समय है जब रमणियां कर्णिकार पुष्पों को अपने कानों में, रक्तशोक की कलियों और मल्लिका के कोमल तन्तुओं को अपने केशपाश में सजाकर अपने प्रेमियों से मिलने जाती हैं।[1] तब मदोन्मत्त भौरों की गुंजार और भारतीय कोकिलाओं की मधुर ध्वनि श्रवण गोचर होती है। तब आम्र वृक्षों की मञ्जरियां दृष्टिगत होने लगती हैं। ये तीक्ष्ण वाण है जिनसे पुष्प धनुष धारी देव (कामदेव) ललनाओं के हृदयों को प्रेम के लिए प्रज्वलित कर देता है।[2]

घटकर्पर

बहुत अधिक कृत्रिम स्वरूप की और केवल २२ पद्यों वाली प्रगीत रचना घटकर्पर या 'मिट्टी के घड़े का टुकड़ा' इसी नाम के कवि के नाम पर कही जाती है जिसको अन्तिम पद्य में विस्तार के साथ विकसित किया गया है।[3] कवि का समय ज्ञात नहीं है। काल्पनिक पौराणिक विक्रमादित्य के दरवारी नौ कवियों का उल्लेख जिस पद्य में किया गया है और जिसका विवरण पहले दिया जा चुका है उसमें इनका भी नाम है।[4]

चौर पञ्चाशिका

चौरपञ्चाशिका या 'चोर के पचास पद्य' एक प्रगीत काव्य है जिसमें अनेक सौंदर्य हैं। इसके लेखक काश्मीरी कवि बिल्हण हैं जिनका समय ग्यारहवीं

विपाण्डुतारागणचारुभूषणा:
जनस्य सेव्या न भवन्ति रात्रय: ।। (५.४)

१. कर्णेषु योग्यं नवकर्णिकारं
चलेषु नीलेष्वलकेष्वशोकम् ।
पुष्पं च फुल्लं नव मल्लिकाया:
प्रयान्ति कान्तिं प्रमदाजनानाम् ।।

२. रम्य: प्रदोषसमय: स्फुटचन्द्रभास:
पुंस्कोकिलस्य विरुतं पवन: सुगन्धि: ।
मत्तालियूथविरुतं निशि सीधुपानं,
सर्वं रसायनमिदं कुसुमायुधस्य ।। (६.३५)

३. भावानुरक्तललनासुरतै: शपेय—
मालभ्य चाम्बुतृषित: करकोशपेयम् ।
जीयेत येन कविना यमकै: परेण
तस्मै वहेयमुदकं घटकर्परेण ।। (२२)

४. देखो पृ० ३०५

शताब्दी का उत्तरार्ध है। आश्चर्यजनक आख्यानात्मक परम्परा के अनुसार इसका कवि गुप्त रूप से एक राजकुमारी के प्रेम का उपभोग करता था, जब पकड़ लिया गया तब उसे मृत्यु दण्ड की सजा सुनाई गई। इस पर उसने रागात्मक प्रज्ज्वलित उत्साह के साथ अपने अनुभव किये हुए प्रेमानन्द का वर्णन किया है। उन पद्यों का राजा पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उसने कवि को क्षमा कर दिया और अपनी पुत्री का हाथ उसके हाथों में दे दिया।

स्फुट मुक्तक

मध्य कालीन भारत में लिखे गए प्रगीत मुक्तकों की मुख्य राशि परस्पर संबद्ध कविताओं की नहीं है जिसमें अधिक लम्बाई का कोई एक प्रगीत काव्य बन सके, किन्तु इसमें ऐसे छोटे-छोटे चित्रण विद्यमान हैं जिनसे कुछ थोड़ी-सी रेखाओं से कामुक भावना या परिस्थिति का चित्र चार पंक्तियों के पद्य में ही बन जाता है। अनेक दृष्टियों से ये प्रगीत-काव्य सूत्र रूप काव्य के सजातीय हैं जिस विधा को भारतीयों ने इतनी सुविख्यात उत्कृष्ट सफलता के साथ उपार्जित कर लिया है। इस प्रकार के चित्र परमोत्तम शिल्पियों द्वारा खींचे गए हैं जो निरीक्षण की एक बड़ी सम्पत्ति और भावों की गहराई के प्रमाण वहन करते हैं। इनमें अनेक वस्तु और स्वरूप में परिपूर्ण रमणीयता के रत्न हैं। हाँ उनके सौन्दर्य का कुछ भाग अनुवादों में नष्ट हो जाता है। इसका कारण यह है कि मूल में जिन श्रम साध्य छन्दों का प्रयोग किया गया है उनका पुनर्निर्माण असम्भव है। इन छोटे प्रगीतों के संग्रह कतिपय संस्कृत कवियों ने बनाये हैं।

भर्तृहरि

इन रचनाकारों में सर्वाधिक उत्कृष्ट रचनाकार हैं भर्तृहरि जो एक में ही वैयाकरण, दार्शनिक और कवि हैं। केवल भारत की साहित्यिक शिक्षा ही इस प्रकार के एक में सम्मिलन को सम्भव बनाने में समर्थ हो सकी है और वहां भी कठिनाई से कोई समानता मिलती है। भर्तृहरि सातवी शताब्दी के पूर्वार्घ में हुए थे। चीनी यात्री इत्सिग ने उस शताब्दी के अन्त में बीस से भी अधिक वर्ष भारत में बिताये थे। उसने यह लेखा जोखा रखा है कि बौद्ध सन्यासी हो जाने के बाद कवि पुन: साधारण गृहस्थ बन गया था और सन्यास एवं गृहस्थ के मध्य सम्पूर्ण रूप से ७ बार दोलायमान रहा। भर्तृहरि ने अपनी अस्थिरता की निन्दा की है, किन्तु इस कमी पर अधिकार नहीं कर सके।[1] इन्होंने असंबद्ध पद्यों के तीन शतक लिखे थे। इनमें पहला और तीसरा अपने स्वरूप में

---

१. आयुः कल्लोललोलं कतिपयदिवसस्थायिनी यौवनश्रीः।
अर्थाः संकल्पकल्पा घनसमयतडिद्विभ्रमाः भोगपूगाः॥

सूत्र रूप हैं। इन दोनों शतकों के विषय में कुछ कहने का बाद में अवसर आयेगा। केवल दूसरा कामुक विषयों को लेकर लिखा गया है। इसका नाम है श्रृंगार शतक या 'प्रेम का सैकड़ा'। यहाँ भर्तृहरि ने लालित्य एवं चिन्तन और ध्यान से परिपूर्ण पद्य में दिखला दिया है कि उनमें इन दोनों बातों का पूर्ण ज्ञान है—वे स्त्रियों के सौन्दर्य को भली भांति समझते हैं और उनकी उस कला का भी उन्हें ज्ञान है जिसके द्वारा वे पुरुषों को वश में कर अपना बन्दी बना लेती है। इन छोटी कविताओं में एक में वे पूछते हैं कि वसन्त काल में जब आम्रमञ्जरियों की सुगन्धि से मूर्छित एवं मस्त कर देने वाली वायु बहने लगती है और उसमें मधु से मतवाली मधुमक्खियों की गुन्जार भर जाती है तब ऐसा कौन होगा जो प्रेम की स्पृहा और उत्कण्ठा की भावनाओं से भर न जाय।[1] एक अन्य पद्य में वे शपथ पूर्वक दावा करते हैं कि कमलनयनी ललनाओं के सौन्दर्य का निग्रह करने में कोई भी समर्थ नहीं है—विद्वान व्यक्ति भी नहीं, प्रेम का परित्याग करने वाले जिनके वचन केवल प्रयोजन हीन शब्द रह जाते हैं।[2] कवि स्वयं दुःख व्यक्त करता है कि जब उसकी प्रेमिका उससे दूर होती है तब सारा प्रकाश उससे दूर चला जाता है—

सति प्रदीपे सत्यग्नौ सत्सु तारारवीन्दुषु।
विना मे मृगशावाक्ष्या तमोभूतमिदं जगत् ॥१४॥

(दीपक के समीप, जलने वाले अग्निकुण्ड के समीप, सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्रों के प्रकाश में भी मेरी प्यारी मृगनयनी की कान्तिमती आंखों के बिना यह संसार मेरे लिए पूर्णरूप से अन्धकार से भरा हुआ है।)

कण्ठाश्लेषोपगूढं तदपि नचिरं यत्प्रियाभः प्रणीतम्।
ब्रह्मण्यासक्तचित्ता भवत भवमयाम्भोधिपारं तरीतुम् ॥ (३।३४)

× × ×

हा हा तथापि विषया न परित्यजन्ति ॥ (३।१५)

१. सहकारकुसुमकेसरनिकरभरामोदमूर्छितदिगन्ते।
मधुर-मधुरविधुरमधुपे मधौ कस्य भवेन्नोत्कण्ठा ॥८६॥

२. वचसि भवति सङ्गत्यागमुद्दिश्यवार्ता,
श्रुति मुखर मुखानां केवलं पण्डितानाम् ॥७१॥

× × ×

किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य
कन्दर्पदर्पदलने विरलो मनुष्यः ॥७३॥

साथ ही असावधान लोगों को स्त्रियों के सौन्दर्य का आवश्यकता से अधिक चिन्तन करने के प्रतिकूल वे आगाह भी करते हैं —

कामिनीकायकान्तारे कुचपर्वतदुर्गमे ।
मा सञ्चर मनः पान्थ तत्रास्ते स्मरतस्करः ।।५४।।

(अरे पथिक मन ! उस जंगल में जो स्त्री के शरीर रूप में है (और जो स्तन रूपी दुर्गम पर्वतों से घिरा है) अपने विचारों को मत विचरण करने दो, क्योंकि वहाँ एक डाकू निरन्तर गुप्तरूप में निवास करता है और प्रहार करने के लिए उद्यत रहता है—वह है प्रेम का देवता, कामदेव ।)

एक दूसरे पद्य में भारतीय कामदेव एक मछुये के रूप में दिखाई पड़ता है जो इस संसार सागर में स्त्री नामक वंशी का कांटा फेंकता है और शीघ्र ही उस पर लगे लाल होंठ रूपी मांस के लोभी मानव मत्स्यों को पकड़ लेता है तथा कामाग्नि में उन्हें भून डालता है ।[1]

एक स्त्री को प्यार करने में प्रवृत्त कवि जिन विरोधी भावों में स्वयं को घिरा हुआ पाता है वे विरोध भी बड़े विचित्र हैं—

स्मृता भवति तापाय दृष्टा चोन्मादकारिणी ।
स्पृष्टा भवति मोहाय सा नाम दयिता कथम्

(स्मरण की जाने पर वह केवल पीड़ा का कारण बनती है । उसके दृष्टि के सामने आने पर वह मेरे अन्दर पागलपन उत्पन्न हो जाता है, जब स्पर्श की जाती है तब मेरी चेतना को स्खलित करने लगती है, कृपया बतलाए इस प्रकार की वह प्यारी कैसे हो सकती है ।)

इसलिए शतक के अन्त में कवि का हृदय प्रेम के आकर्षण से पराङ्मुख होना प्रारम्भ कर देता है । वह चिल्ला पड़ता है —'स्त्री ! मेरे ऊपर कटाक्ष पात करने से रुक जा, यह तेरा परिश्रम व्यर्थ है । अब मैं बदला हुआ व्यक्ति हूं, यौवन बीत गया, मेरे विचार वन को प्रस्थान करने की ओर झुक गये हैं, मेरा दीवानापन समाप्त हो गया, अब मैं समस्त विश्व को तिनकों को राशि के समान देखता हूं ।[2] इस प्रकार भर्तृहरि अपने तीसरे संग्रह वैराग्य शतक के

---

१. विस्तारितं मकरकेतनधीवरेण
स्त्रीसञ्ज्ञितं बडिशमत्र भवाम्बुराशौ ।
येनाचिरात्तदधरामिषलोलमर्त्यं
मत्स्यान् विकृष्य विपचत्यनुरागवह्नौ ।।५३।।

२. बाले ? लीला मुकुलितममीमन्थरा दृष्टिपाताः ।
किं क्षिप्यन्ते विरम विरम व्यर्थं एष श्रमस्ते ।।

लिए भूमिका तैयार कर लेते हैं।

शृंगार तिलक

पृथक्-पृथक् कामुक पद्यों का एक संक्षिप्त (छोटा) किन्तु चिन्ताकर्षक खजाना शृङ्गार तिलक है। परम्परा इसकी रचना का श्रेय कालिदास को देती है। उसके २३ पद्यों में बहुत ही कल्पनाजन्य कतिपय उपमायें विद्यमान हैं जिनको अधिक मौलिकता के साथ अत्यन्त परिश्रम से तैयार किया गया है। उदाहरण के लिए उनमें एक पद्य में कवि पूछता है कि एक रमणी की आकृति और अंग विभिन्न कोमल पुष्पों से बनाये गए हैं किन्तु उसका हृदय पत्थर का बना हो यह कैसे सम्भव है?[1] एक दूसरे पद्य में उसने अपनी प्रेमिका की एक शिकारी से की है—

इयं व्याधायते बाला भ्रूरस्याः कार्मुकायते।
चक्षुषी च शरायेते मनोमे हरिणायते॥

(यह तरुणी एक शिकारी (व्याध) जैसी है, इसकी भौंहें धनुष के समान हैं जिसको वह झुकाती है, उसके कटाक्ष उसके बाण हैं, मेरा हृदय हरिण है जिसका वह वध करती है।)

अमरु शतक

इस प्रकार की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रगीत रचना है अमरु शतक या 'अमरुक के सौ पद्य'। प्रेमियों के प्रत्येक प्रकार के मनोभावों के चित्रण करने की कला में कवि पूरा सिद्ध हस्त अधिकारी है चाहे वह प्रहर्षमय स्थिति हो चाहे विषाद मय, चाहे वह क्रोध की भावना हो चाहे अनुरागमय आसक्ति की। वह विशेष रूप से पारस्परिक मन मुटाव और तथा विरोध की शान्ति और पुनः मेल कर लेने के विभिन्न स्तरों का चित्रण करने में निपुण है। यह ध्यान देने की बात है कि विश्व इतना सीमित है, परिस्थितियाँ और मनोभाव इतने एक रूप हो जाते हैं, फिर भी आश्चर्य-जनक मोड़ों के द्वारा (पाठक) को ध्यान में बांधे रहने में सफल हैं, कवि (कल्पना का) एक अति सूक्ष्म विदग्ध स्पर्श दे देता है कि

सम्प्रत्यन्ये वयमुपरतं बाल्यमास्था वनान्ते।
क्षीणो मोहस्तृणमिव जगज्जालमालोकयामः॥६२॥

१. इन्दीवरेण नयनं मुखमम्बुजेन।
कुन्देन दन्तमधरं नवपल्लवेन॥
अंगानि चंपकदलैः प्रविधाय वेधाः।
कान्ते कथं घटितवानुपलेन चेतः।

वर्णन सर्वथा नया मालूम पड़ने लगता है। अमरुक और उसी प्रकार दूसरे भारतीय प्रगीतकार जिस प्रेम का चित्रण करते हैं वह न तो अद्भुत होता है न आदर्श किन्तु यह कहना कुछ अधिक सत्य होगा कि प्रेम सर्वदा इन्द्रियोपभोग प्रकार का होता है। फिर भी उसकी रचना प्राय: भावों की मधुरता एवं कोमलता और विचारों की शुद्धता को प्रदर्शित करती है। उदाहरण के लिए यह स्थिति तब बन जाती है जब वे सन्ध्याकाल में अपने अनुपस्थित पति के लौटने की प्रतीक्षा करने वाली किसी रमणी का चित्रण करते हैं।

काव्य शास्त्र और प्रगीतमुक्तक

अनेक प्रगीतात्मक रत्न संस्कृत की काव्य शास्त्रीय रचनाओं में सुरक्षित मिल जाते हैं। इसी प्रकार का एक पद्य रक्ताशोक के विषय में है।[1] इसमें कवि वृक्ष से पूछता है कि वह बतला दे कि उसकी प्रेमिका कहाँ गई है। उसे इस बात की आवश्यकता नहीं है कि वह वायु से अपना सर हिलाए मानों वह यह कह रहा है कि 'मैं नहीं जानता'। क्योंकि यदि उसकी प्रेमिका ने अपने पैर से उसका (वृक्ष का) स्पर्श नहीं किया है तो वह इतनी प्रभा के साथ फूल कैसे रहा है।[2]

इस समस्त प्रगीतात्मक कविता में लता वृक्ष और पशु जगत् का यह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण योगदान है और उनका उपयोग बहुत ही चित्ताकर्षक रूप में किया गया है। पुष्पों में कमल सर्वाधिक सुप्रकाशित है। उदाहरण के लिए इस प्रकार के पद्यों में एक में वर्णन किया गया है कि दिन के कमल सायंकाल में अपने पुष्पकोश रूपी नेत्रों को इसलिए बन्द कर लेते हैं कि वे अपने प्रेमी, पति और उपकारक सूर्य को डूबते और किरणों से रहित होते देखना नहीं चाहते।[3] दूसरे पद्य में एक भौंरे के स्वप्न का करुणा से सौंदर्य के साथ वर्णन

---

१. इसमें इस कवि समय (कवियों के काल्पनिक तथ्य) का विवरण दिया गया है कि अशोक तभी फूलता है जब कोई सुन्दर लड़की उस पर पाद प्रहार करती है।

२. रक्ताशोक! कृशोदरि क्व नु गता त्यक्त्वानुरक्तं जनम्
नो दृष्टेति मुधैव चालयसि किं वातावधूतं शिर:।
उत्कण्ठाघटमानषट्पदघटासंघट्टदष्टच्छद—
स्तत्पादाहतिमन्तरेण भवत: पुष्पोद्गमोऽयं कुत:॥

३. कृतोपकारं प्रियबन्धुमर्कं,
मा द्राक्ष्म हीनांशुमध:पतन्तम्।

किया गया है—'रात्रि व्यतीत हो जाएगी, सुप्रभात आयेगा, सूर्य का उदय होगा और कमल हंसने लगेंगे, कमलकोष में बन्द भौंरा जब तक यही सोच रहा था कि दुःख के साथ कहना पड़ता है कि एक हाथी ने कमलिनी को तोड़कर फेंक दिया।'[1]

विभिन्न पक्षियों के साथ कवि समय (कवियों के काल्पनिक सत्य) जुड़ गए हैं। उनको अनेकशः मानव जीवन और प्रेम के साथ तुलना करने (उपना देने) में काव्य में समाविष्ट किया जाता है। बादल से गिरे वर्षा जल विन्दुओं के अतिरिक्त अन्य जल का छोटा कण भी पीने की अपेक्षा चातक प्यास से मर जाना अधिक अच्छा समझेगा।[2] यह तथ्य स्वाभिमान का उदाहरण प्रस्तुत करता है। चकोर के लिए समझा जाता है कि वह चन्द्र किरणों का पान करता है यह तथ्य प्रेमी के साथ इस समानता को प्रस्तुत करता है कि वह अपनी प्रेमिका के मुख की किरणों को अपने नेत्रों से पान करता है। चक्रवाक के विषय में किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि उसे अपने सहचर या सहचरी से रात्रि-वियोग का दण्ड (अभिशाप) मिला है। उस समय रात्रि जागरणों के क्षणों में अपनी प्रियतमा को विलापपूर्ण स्वर में दुःखी होकर पुकारता है यह मान्यता निष्क-पट अनुराग के लक्षण का अभिप्राय सम्पादित करती है।

इतीव मत्वा नलिनी बधूभि:
निमीलितान्यम्बुजलोचनानि ॥
निम्न लिखित पद्य में चन्द्रमा के विषय में यही भाव व्यक्त किया गया है।
नाथे निशाया नियते नियोगा—
दस्तंगते हन्त निशापि याता।
कुलाङ्गनाना हि दशानुरूपं,
नातः परं भद्रतरं मशस्ति ॥

१. रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातम्
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोशगते द्विरेफे
हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार ॥

२. पयोद हे वारि ददासि वा नवा
त्वदेकचित्तः पुनरेष चातकः।
वरं महत्या म्रियते पिपासया
तथापि नान्यस्य करोत्युपासनाम् ॥

इस समस्त संगीतात्मक कविता में भारतीय कुमारी की चमकती आंखें और उनकी सुन्दरता दृश्यों का एक योजनाबद्ध सन्निवेश प्राप्त कर लेती है। ये दृश्य हैं—खिली हुई कलियों से परिपूर्ण वृक्षों से भास्वर, पुष्पों से सुगन्धित (मयूर) पंखों से उल्लसित और पक्षियों के संगीत से शब्दायमान। उष्ण अयन वृत्त के सूर्य प्रकाश में कमलों से भरे दुरारोह ऊंची चढ़ाई वाले पोखरों के कारण ये नाना रूप हैं और इनके तटों पर विशाल नेत्रों वाले मृग छाया में विश्राम करते हैं। इसके कुछ रत्न बहुत ही अच्छे हैं जो हीने (HEINE) की प्रतिमा को, डाई लोटोस ब्लूम (Die LOTOS BLUME) और औफ फ्लूगेन डेस गेसांगेस (Auf FliigelnDes Gesanges) जैसे प्रगीतों को लिखने की प्रेरणा और अभिनिवेश प्रदान करने के लिए सर्वथा योग्य हैं।

इसी प्रकार की संगीत रचना की पर्याप्त राशि प्राकृत में भी रची गई, विशेष रूप से कवि हाल की सप्तशती या 'सात सैकड़े' नामक एक विशाल चयनिका का उल्लेख किया जा सकता है। हाल सम्भवतः ईशा की दसवीं शताब्दी से पहले हुए थे। इसमें अनेक सौंदर्य हैं और समग्र रूप में लोकप्रिय भारतीय प्रगीत रचना का यह एक अमूल्य खजाना है। यहां पर इस संग्रह में संगृहीत केवल एक पद्य का उल्लेख करना पर्याप्त होगा—इस छोटी सी कविता में चन्द्रमा का वर्णन श्वेत हंस के रूप में किया गया है जिसे नक्षत्र रूपी कमलों से जड़े हुए आकाश रूपी शुद्ध रात्रि सरोवर में तैरता हुआ बतलाया गया है।

गीत पद्धति पर लिखा गीत गोविन्द

गति गोविन्द या 'संगीत में गोपाल' शुद्ध प्रगीत और शुद्ध नाटक के मध्य में संक्रमण की अवस्था का प्रतिनिधित्व करने वाली रचना है। यह एक प्रगीतात्मक नाटक है जिसका यद्यपि समय तो १२वीं शताब्दी है किन्तु सर्वप्राचीन आदि युग की नाट्यविधा का यह साहित्यिक निदर्शन है जो बंगाल में अब तक जीवित है और निश्चित रूप से नियमित नाटकों के पहले इसका उद्भव हुआ होगा। कविता में अपने ठीक अर्थ में संवाद बिल्कुल नहीं है क्योंकि इसके तीनों पात्र एक प्रकार के प्रगीतात्मक एकालाप में स्वयं को व्यस्त रखते हैं जिसमें शेष दो में एक श्रोता के रूप में समझ लिया जाता है। कभी-कभी तो बिल्कुल ही कोई भी नहीं होता। कविता का विषय है—कृष्ण का सुन्दरी गोपी राधा के साथ प्रेम सम्बन्ध, प्रेमियों का परस्पर मन मुटाव और विच्छेद तथा अन्त में दोनों का मेल मिलाप। यह वस्तु जीवन की उस घटना से ली गई है जिसमें कृष्ण स्वयं गोपरूप हैं, यमुना के तट पर रहते हैं और गोपियों के साथ प्रेम क्रीड़ा का भरपूर आनन्द लेते हैं। कविता के केवल तीन पात्र हैं—कृष्ण, राधा

और राधा की विश्वास पात्र सखी ।

इसके लेखक जयदेव सम्भवतः बंगाल के रहने वाले थे और बंगाल के राजा लक्ष्मण सेन के समसामयिक थे । यह सम्भव है कि उस कवि ने कृष्ण के जीवन की घटनाओं का प्रतिनिधित्व करने वाले लोकप्रिय (लोक साहित्य में प्रतिष्ठित) नाटकों को अपने नमूने के रूप में स्वीकार किया हो जैसाकि बंगाल की यात्राओं में अब भी होता है । बाद के उत्सव के नाटक अब भी प्रधान रूप से प्रगीतात्मक पद्यों से ओत-प्रोत रहते है जो कि आंशिक रूप में सुनाए जाते हैं और आंशिक रूप में गाये जाते हैं । इनमें संवाद बहुत कम होते हैं और एक बहुत बड़ी सीमा तक काम चलाऊ आशु रचना के लिए उनको छोड़ दिया जाता है । इस प्रकार की पृष्ठभूमि में जयदेव ने अपने अत्यन्त कृत्रिम काव्य की रचना की । उस (कवि) ने इस (काव्य) में स्वरूप की बहुत बड़ी परिपूर्णता प्राप्त कर ली है । इसके लिए अत्यन्त कठिन छन्दों के प्रयोग में सरलता के साथ भाषा सौन्दर्य के मेल की पद्धति अपनाई गई है इस उन सब लोगों की प्रशंसा प्राप्त करने में असफल नहीं हुये हैं जो मूल रूप में संस्कृत पढ़ने की योग्यता रखते हैं । कवि ने अत्यधिक अनुप्रासों का और साथ ही ऐसे जटिल यमकों का प्रयोग किया है जिनका दर्शन नलोदय में होता है और जो केवल अन्त में नहीं छन्दों की पंक्ति के मध्य में भी आते हैं ।[1] कवि ने प्रचुर कामुक भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए स्वर सौन्दर्य समन्वित अत्यधिक विभिन्नता लिये हुए एवं लय ताल समुचित छन्दों का जिस निपुणता के साथ नियोजन किया है उसका अतिक्रमण नहीं किया जा सका । अंग्रेजी आवरण में जयदेव की कविता का ठीक रूप में पुनरुत्पादन असम्भव प्रतीत होता है । हां जर्मन विद्वान रूकर्ट (Ruckert) स्वरूप और वस्तु दोनों दृष्टियों से मूल की अत्यन्त कृत्रिम सुन्दरता के उतना निकट पहुंच गए हैं जितना अनुवाद में सम्भव है ।

यह कुछ विचित्र बात है कि जो कविता पूर्ण रूप से प्रचुर मात्रा में पूर्वी विचार धारा के साथ इन्द्रियोपभोग प्रवाह का वर्णन करती है वर्तमान अवसर के आग्रह से उसी कविता ने रहस्यमय धार्मिक भावना में प्रतीकात्मक व्याख्या प्राप्त कर ली है और जो पहली बार नहीं हुआ है —भारतीय निर्णायकों के अनुसार कृष्ण का राधा से वियोग, उनका एक दूसरे को ढूंढना और उनका अन्तिम सम्मिलन सर्वोच्च तत्त्व ब्रह्म के जीव से सम्बन्ध का प्रतिनिधित्व करता है । हो सकता है यह जयदेव का मंशा रहा हो किन्तु यह उनका केवल निदर्शक विचार ही हो सका है विस्तृत विवरण में इसका अनुसरण नहीं करना चाहिए ।

---

१. उदाहरण के लिए —'अमलकमलदललोचनभवमोचन'

अध्याय-१३

नाटक

(लगभग ४००-१००० ई०)

संस्कृत नाटक का प्रारम्भ

यूरोपीय मनोभाव के लिए भारतीय नाटक का इतिहास अत्यधिक रुचि का साधन होने के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता—क्योंकि यहां हमें साहित्य की एक ऐसी महत्त्वपूर्ण शाखा मिलती है जिसमें पूर्ण तथा अनेक प्रकार का राष्ट्रीय विकास विद्यमान है जो पाश्चात्य प्रभाव से सर्वथा अछूती है और मुसलमानों की विजय के पहले की ५ शताब्दियों के हिन्दू सामाजिक आचार व्यवहार पर अधिक प्रकाश डालती है।

भारत में नाटकीय साहित्य के सर्वप्राचीन स्वरूपों का प्रतिनिधित्व ऋग्वेद के उन सूत्रों द्वारा होता है जिनमें संवाद विद्यमान हैं जैसे सरमा और पणि, यम और यमी, पुरुरवा और उर्वशी के संवाद। अन्तिम (संवाद) निश्चय ही एक नियमित नाटक का आधार रहा है जिसकी रचना एक हजार से अधिक वर्षों बाद भारत के सबसे बड़े नाटककार द्वारा की गई। हां अभिनय परक नाटक का प्रारम्भ अन्धकार से आवृत है। फिर भी परम्परा और भाषा का प्रमाण हमें उसके उद्गम की अत्यधिक सम्भावनाओं का दिशा निर्देश करने के लिए पर्याप्त है।

अभिनेता के लिए (नट) और दृश्य काव्य के लिए (नाटक) इन शब्दों की निष्पत्ति प्राकृत अथवा लोक भाषा की (नट) धातु से हुई है जो कि संस्कृत की नृत्य अर्थ वाली नृत् धातु का एक रूप है। यह नाम अंग्रेजी कानों (ear) के लिए नाच के स्वरूप में परिचित है जो कि आजकल भारतीय नाच का अर्थ देता है। निस्सन्देह यह बाद वाला शब्द सम्भवत: भारतीय नाटक की उत्पत्ति का प्रतिनिधित्व करता है। निश्चय ही सर्वप्रथम इसमें असंस्कृत मूकाभिनय रहा होगा जिसमें शरीर की नृत्य परक चेष्टाओं के साथ हाथ और चेहरे के मौन अभिनयात्मक संकेत जुड़े रहते थे। इस प्रकार के क्रिया निष्पादन में संगीत भी प्रथम चरण में ही असंदिग्ध रूप में एक अंग बन गया था। इस प्रकार भरत

जो कि नाटक के प्रवर्तक का पौराणिक (काल्पनिक) नाम है जिसका संस्कृत में एक अर्थ अभिनेता भी है कई लोक भाषाओं में गायक का भी अर्थ देता है जैसे गुजराती में भरोत। संवाद का जोड़ा जाना विकास का अन्तिम कदम था और इस प्रकार जो कि अधिकांश रूप में वैसा ही था जैसा यूनान में हुआ था। इस प्रारम्भिक स्तर का प्रतिनिधित्व बंगाल की यात्रा और गीत गोविन्द के द्वारा होता है। ये तत्व पूर्ण विकसित संस्कृत नाटक के संक्रमण काल का निर्माण करते हैं। जिसमें प्रगीतात्मकता और संवाद मिले रहते हैं।

अभिनय योग्य नाटक के सर्वप्रथम विवरण महाभाष्य में प्राप्त होते हैं जिसमें कंस वध या कंस का मारा जाना और बलिवन्ध या 'बालि का बांधा जाना' इन कृष्ण विषयक इतिहास की घटनाओं के अभिनय का उल्लेख है।[1] भारतीय परम्परा इस बात का वर्णन करती है कि विष्णु की पत्नी लक्ष्मी के स्वयंवर के विषय में नाटक के अभिनय की योजना भरत ने देवताओं के सामने प्रदर्शन के लिए बनाई थी। आगे और बढकर परम्परा कृष्ण और उनकी गोपियों के संगीत के प्रस्थानबिन्दु का भी वर्णन करती है जिसमें गान, संगीत और नृत्य के प्रदर्शन का समावेश था। गीत गोविन्द का सम्बन्ध कृष्ण से है और वर्तमान यात्रा में प्राय: देवताओं के जीवन के दृश्यों का प्रदर्शन करती है। इस सबसे यह सम्भव मालूम पड़ता है कि भारतीय नाटक विष्णु-कृष्ण सम्प्रदाय के प्रसंग में विकसित हुआ और यह कि इसका सर्वप्रथम अभिनयात्मक स्वरूप जो ईसाइयों के रहस्यों के समान एक प्रकार के धार्मिक नाटक थे, इनमें कृष्ण के पौराणिक उपाख्यानों के दृश्य अभिनीत किए जाते थे जिनमें प्रधानतया संगीत और नृत्य की सहायता ली जाती थी। साथ ही अभिनेता लोग पहले से अनिश्चत गद्य संवादों को जोड़ लेते थे।

भारत में नाटक का विकास सुसम्पन्न और विविध प्रकार का हुआ यह बात केवल सुरक्षित रखे हुए अनेक नाटकों से ही सिद्ध नहीं होती, किन्तु अपने देश में ही लिखे हुए काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों से भी सिद्ध होती है जिनमें नाटकों की रचना और शैली के बहुश्रम साध्य नियम दिये हुए हैं। इस प्रकार साहित्य दर्पण या 'अलंकार शास्त्र का मुकुर में संस्कृत नाटकों को दो मुख्य श्रेणियों में विभाजित किया गया है—बड़े नाटकों की श्रेणी (रूपक) और छोटे नाटकों की श्रेणी (उपरूपक)। प्रथम श्रेणी में १० से कम और छोटी श्रेणी में १८ से कम भेद नहीं हैं जिनका परिचय दिया गया है।

---

१. दूसरा नाटक रामविषयक है।

संस्कृत नाटक की विशेषतायें

भारतीय नाटक के विशिष्ट लक्षण जो पाश्चात्य छात्र को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं वे ये हैं—इसमें दुःखात्मता का सर्वथा अभाव रहता है, प्रगीत पद्यों का गद्य संवादों के साथ अन्तर्विनिमय होता रहता है और कुछ पात्रों के लिए संस्कृत तथा दूसरे पात्रों के लिए प्राकृत प्रयोग नियमित है।

संस्कृत नाटक एक सम्मिलित रचना है जिसमें आनन्द का सम्मिश्रण दुःख के साथ रहता है, जिसमें जब नायक और नायिका प्रायः दुःख की गहराई में डूबे होते हैं विदूषक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। किन्तु इसमें अन्त कभी दुःखमय नहीं होता। इसलिए भय, दुःख और करुणा की भावना से जब दर्शक आविष्ट होता है तब कथानक के सुखात्मक अन्त से उनकी आत्मा शान्त हो जाती है। यह भी नहीं—कोई शोक की गहरी भटना नाटक के मध्य में भी नहीं घटित होती, क्योंकि रंगमञ्च पर मृत्यु के प्रदर्शन की कभी आज्ञा नहीं दी जाती। वास्तव में दर्शकों के आखों के सामने या उनके श्रवण गोचर ऐसी किसी भी घटना के अभिनय की आज्ञा नहीं दी जाती जिसको अशिष्ट समझा जाता है फिर चाहे वह गम्भीर पात्र से सम्बन्धित हो अथवा हास्य पात्र से सम्बन्ध रखती हो। ये घटनायें कुछ इस प्रकार की होती हैं जैसे शाप दिया जाना, अपमान, मानभंग या अधोगीत, देशनिकाला, राष्ट्रीय उपप्लव, काटना, नोचना, चूमना, खाना या सोना। (इनका रंगमञ्चीयन निषिद्ध है।)

संस्कृत के नाटक प्रगीत उपखण्डों से भरे रहते हैं जिनमें दर्शकों के सामने प्रस्तुत किए जाने वाले दृश्य या व्यक्तियों का वर्णन रहता है या घटित होने वाली घटनाओं द्वारा व्यक्त की हुई प्रतिच्छाया रहती है। उनमें प्रायः चार पक्तियों के पद्य रहते हैं। शकुन्तला में इस प्रकार के लगभग २०० पद्य हैं जिनमें समस्त नाटक का लगभग आधा भाग समाहित हो जाता है। ये प्रगीत खण्ड अत्यधिक संख्या में विभिन्न छन्दों में रचे गए हैं। इस प्रकार शकुन्तला के पहले ३४ पद्य छन्दों के ११ से कम विभेदों को प्रकट नहीं करते। जैसाकि साधारण वैदिक छन्दों के विषय में उसी प्रकार इनके विषय में भी यह सम्भव नहीं है कि जटिल और पूर्णरूप से संख्यात्मक[1] शास्त्रीय संस्कृत पद्य चरणों के लगभग असंख्य साधनों का अंग्रेजी में अनुकरण किया जाय। इसलिए प्रगीतात्मक खण्डों की अन्तरात्मा का पुनरुत्पादन सम्भवतः उन्मुक्त छन्द (Blank-Verse) के प्रयोग द्वारा सबसे अच्छे रूप में किया जा सकता है जो आजकल

---

१. संस्कृत छन्दों में मात्राओं और वर्णों की संख्या पर वल दिया जाता है जो प्रक्रिया वड़ी जटिल है और उसका अनुकरण अंग्रेजी में असम्भव है।

के हमारे नाटकों में परिचित छन्द हैं। प्राय: नाटकों में संवाद का गद्य बहुत ही साधारण लोक व्यवहारानुगत होता है जिसका उपयोग बाद में आने वाले पद्यों की उच्चकोटि की बढ़ी-चढ़ी भावना की केवल प्रस्तावना प्रस्तुत करने में होता है।

संस्कृत नाटक के विभिन्न पात्र अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा के अनुसार विभिन्न भाषायें बोलते हैं। संस्कृत को केवल नायक, राजा, ब्राह्मण और उच्च श्रेणी के पुरुष काम में लाते हैं। सभी स्त्रियाँ और निम्न श्रेणी के पुरुष प्राकृत बोलते हैं। स्वयं प्राकृत के प्रयोग मे भी भेदभाव किया जाता है इस प्रकार ऊंची प्रतिष्ठा वाली स्त्रियाँ प्रगीत खण्ड में महाराष्ट्री का प्रयोग करती हैं, किन्तु अन्यत्र वे साथ ही बच्चे और ऊंची श्रेणी के नौकर शौरसेनी बोलते हैं। उदाहरण के लिए राजघराने के नौकर मागधी बोलते हैं, बदमाश और जुआरी आवन्ती बोलते हैं, चरवाहे आभीरी, कवेला जलाने वाले पैशाची और सर्वाधिक नीची श्रेणी के तथा सर्वाधिक घृणा की दृष्टि से देखे जाने वाले और उसी प्रकार बर्बर लोग अपभ्रंश बोलते हैं।

संस्कृत का नाटककार कथानक की घटनाओं का ताना-बाना बुनने में अत्यधिक कौशल प्रदर्शित करता है, व्यक्तिगत चरित्र-चित्रण में भी निपुणता दिखलाता है। किन्तु आविष्कार के क्षेत्र में दिमागी उपजाऊपन का प्रदर्शन नही करता। सामान्य रूप से वह कहानी का उपादान या तो इतिहास से कर लेता है या पौराणिक महाकाव्यों से। अधिकांश भारतीय नाटकों का विषय प्रेम है। अधिकतर नायक एक राजा होता है, वह पहले से ही एक या एक से अधिक पत्नियों का पति होता है। वह किसी खूबसूरत कुमारी के सौंदर्य से आहत हो जाता है। उसी प्रकार भाव ग्रहण में समर्थ नायिका भी तत्काल पारस्परिक प्रेम का प्रत्युत्तर देती है। किन्तु अपनी प्रेम वेदना को छिपाकर अपने प्रेमी को सन्देह की तीव्र पीड़ा में व्यस्त रखती है। सन्देहों, विघ्नों और विलम्बों से सताये हुए दोनों ही विषाद में कृशकाय अवस्था में डाल दिए जाते हैं। नायिका की सहचरी के सोत्साह सारवान उद्योग के द्वारा उनकी दशा से उत्पन्न किए हुए शोकाकुल प्रभाव से छुटकारा मिल जाता है। किन्तु विशेष रूप से यह कार्य नायक के स्थायी सहचर, दरबारी नर्म सचिव (विदूषक) की विशिष्ट कार्यवाही के द्वारा सम्पन्न किया जाता है। अपने नायक के कार्य कलाप के मध्य में मूर्खतापूर्ण हस्तक्षेप से वह जितना उपहास को उत्तेजित करता है अपने शारीरिक विकारों द्वारा भी इस कार्य का उसकी अपेक्षा कम सम्पादन नहीं करता। किन्तु बुद्धि विलास में उसका प्रयत्न बहुत ऊंची श्रेणी

का नहीं होता। यह कुछ विचित्र-सा है कि एक पात्र जो उपहास का सार्वलौकिक पात्र बन जाता है वह सर्वदा ब्राह्मण ही होता है।

जबकि भारतीय नाटक ग्रीक सुखान्तिकाओं से कुछ सादृश्य व्यक्त करते हैं इनमें ऐसे अधिक तत्त्व विद्यमान दृष्टिगत होते हैं जो एलिजबेथ कालीन नाटककारों की मंचित रचनाओं और विशेष कर शेक्सपियर से मेल खाने में सक्षम हैं। भारतीय नाटककारों का लक्ष्य प्रतिनिधि चरित्रों की किसी विधा का चित्रण करना नहीं है किन्तु व्यक्तिगत चरित्रों का चित्रण करना है वे काल संकलन या स्थल संकलन के नियमों का भी पालन नहीं करते। इन रचनाओं में अद्भुत और काल्पनिक घटना प्रधान तत्त्वों का समावेश करने की प्रवृत्ति है, ये पद्यों के साथ गद्य भी मिलाते हैं, ये हास्य जनक तत्त्वों का गम्भीर तत्त्वों के साथ घोलमेल करते हैं और शब्दों की श्लेषात्मकता एवं विकृत हास्य जनक वक्रता का समावेश कर देते हैं। विदूषक का चरित्र भी शेक्सपियर के 'फूल' के बहुत निकट है। नाटक की कार्यावस्था को आगे बढ़ाने के लिए जिन उपादानों का उपयोग किया जाता है वे भी दोनों में समान हैं, जैसे पत्र लिखना नाटक के अन्दर नाटक का दिखलाना, मृत व्यक्ति का पुनः जीवन में आ जाना और हास्य के साधन के रूप में रंगमंच पर मदिरापान। इस विषय में जहां प्रभाव के आदान प्रदान का प्रश्न सर्वथा सम्भावना से रहित है यह संयोगवश होने वाली समानताओं की श्रृंखला इस बात का प्रबोधक उदाहरण है कि किस प्रकार निरपेक्ष रह कर विकास का समान स्वरूप उद्भूत हो सकता है।

संस्कृत नाटक का रचना विन्यास

प्रत्येक संस्कृत नाटक का प्रारम्भ आमुख या प्रस्तावना से होता है जोकि नियमित रूप से प्रार्थना या आशीर्वाद (नान्दी) से प्रारम्भ होती है। इसमें राष्ट्रीय देवता का अभिमन्त्रण दर्शकों की मंगल कामना से किया जाता है। इसके बाद प्रायः रंगमंच प्रबन्धक (सूत्रधार) का किसी एक या किन्हीं दो अभिनेताओं के साथ संवाद प्रारम्भ हो जाता है जिसमें नाटक और उसके कवि का उल्लेख किया जाता है, दर्शकों की आलोचना विषयक सूक्ष्म दृष्टि के लिए उनको अभिनन्दन रूप श्रद्धा की भेंट करते हुए जन समाज का अनुग्रह प्राप्त करने की चेष्टा की जाती है। कथानक का स्पष्टीकरण करने वाली अतीत की घटनाओं और वर्तमान परिस्थिति का उल्लेख किया जाता है और अनिवार्य रूप से वास्तविक नाटक के किसी एक पात्र का निपुणता के साथ परिचय देते हुए प्रस्तावना का निश्चितरूपसे अन्त कर दिया जाता है। संस्कृत नाटक दृश्यों

और अंकों में विभाजित किया जाता है। दृश्य किसी एक पात्र के प्रवेश और दूसरे पात्र के निर्गम से लक्षित हो जाते हैं। जब तक अंक समाप्त नहीं हो जाता रंगमंच सूना नहीं छोड़ा जाता और न ही तब तक स्थान सम्बन्धी किसी प्रकार का परिवर्तन किया जाता है। नये अंक के प्रारम्भ से पहले प्रायः मध्य रंग का समावेश कर दिया जाता है (जिसको विष्कम्भक या प्रवेशक कहा जाता है) जिसमें या तो एकालाप होता है या द्विपात्रालाप। अन्तर्दृश्य में उन घटनाओं की सूचना दी जाती है जिनके बारे में यह समझा जाता है कि मध्य काल में घटित हो गई हैं और अब जो होने जा रहा है उसके लिए दर्शक तैयार हैं। पूरा खण्ड (नाटक) राष्ट्रीय सम्पन्नता की प्रार्थना के साथ समाप्त हो जाता हैं जो प्रिय देवता के प्रति सम्बोधित की जाती है और कोई प्रधान पात्र उसका वाचन करता है।

नाटक के अंकों की संख्या बदलती रहती है। यह एक से लेकर दस तक कोई भी हो सकती है। किन्तु अव्यवस्थित होते हुए भी कुछ न कुछ नाटक के स्वरूप पर भी निश्चय किया जाता है। इस प्रकार नाटिका कही जाने वाली विधा में ४ अंक होते हैं और हासजनक प्रहसन में केवल एक अंक होता है।

घटनाओं की समयावधि रंगमंच में उनके अभिनय में लगने वाले समय के समरूप समझी जाती है या प्रत्येक अंक के और उस अंक के जो आने वाला है दोनों अंकों के मध्य में अधिक से अधिक एक दिन और एक रात का समय व्यतीत हुआ माना जाता है। फिर भी कभी-कभी मध्यवर्ती समय बहुत लम्बा हो जाता है। इस प्रकार कालिदास की शकुन्तला और उर्वशी में पहले अंक और अन्तिम अंक में कई वर्ष का समय निकल जाता है जबकि भवभूति के उत्तर रामचरित में पहले और दूसरे अंकों के मध्य में १२ वर्ष से कम का समय व्यतीत नही होता।

न ही स्थल संकलन का पालन किया जाता है, क्योंकि पृथ्वी में एक छोर से दूसरे छोर तक दृश्य ले जाया जा सकता है, अथवा दृश्य वायवीय प्रदेश तक स्थानान्तरित हो जाते हैं। कभी-कभी स्थल परिवर्तन उसी अंक के अन्तर्गत हो जाता है जैसे जब यात्रा वायु मार्ग से स्वर्गीय यान में पूरी की जाने की सम्भावना होती है। यह कुछ विचित्र बात है कि जबकि वस्त्रों और सजावट के विषय में अधिसंख्यक सूक्ष्म और क्षण-क्षण् के रंग मंचीय निर्देश विद्यमान हैं ये निर्देश उससे कम नहीं है जितने कि अभिनेताओं के कार्यकलाप के लिए दिए गये हैं—फिर भी दृश्य परिवर्तन की दिशा में इस प्रकार कुछ नहीं कहा

गया है। नाटक में दिखलाई पड़ने वाले पात्रों की संख्या का जहां तक सम्बन्ध है किसी प्रकार की कोई सीमा नहीं लगाई गई है।

भारतीय मध्यकाल में कोई विशेष रंगमंच नहीं थे और मालूम पड़ता है कि नाटक राजभवनों की संगीत शालाओं में भी अभिनीत कर लिए जाते थे। मध्य भाग को एक परदा विभाजित कर देता था—यह प्रबन्ध रंगमन्च के प्रबन्ध का एक आवश्यक अंग था। रोमन रंगमंच के समान भले ही यह दर्शकों को रंगमंच से पृथक नहीं करता था किन्तु रंगमंच की एक पृष्ठभूमि बनाता था। परदे के पीछे प्रसाधन कक्ष (नेपथ्य होता था जहाँ से अभिनेता रंगमंच पर आते थे। जब उनके बहुत ही जल्दबाजी में आने की बात सोची जाती थी तब परदे को ऊपर की ओर हिलाकर उन्हें ऐसा करने का निर्देश दे दिया जाता था। रंगमंचीय रचना (नजारा) और सजावट बहुत ही साधारण कोटि की होती थी और सेक्सपियर के नाटकों के समान बहुत कुछ दर्शकों की कल्पना पर छोड़ दिया जाता था। अस्त्र-शस्त्र, आसन (न्यायासन) इत्यादि तत्त्व और रथ ये रंगमंच पर दिखलाई देते थे, किन्तु यह अत्यधिक असम्भव है कि अन्तिम (अर्थात् रथ) जीवित जानवरों द्वारा खींचे जाते थे जो कि उन में जुते हुए समझे जाते थे। स्वर्ग और पृथ्वी निवासियों के मध्य अत्यधिक प्रायिक (जल्दी-जल्दी) सम्पर्क होते रहने के कारण स्वर्गीय रथ का प्रतिनिधित्व करने के लिए किसी प्रकार का हवाई साधन रहा होगा। किन्तु रंगमंचीय निर्देशों में बार-बार अङ्काभिनय (नाटयित्वा) का प्रयोग होने के कारण इस सम्बन्ध में यह समझे जाने की स्थिति है कि केवल अभिनेताओं के अभिनय से ही दर्शकों पर गति और वेग का प्रभाव उत्पन्न किया जाता होगा।

सर्वोत्तम भारतीय नाटक

भारतीय नाटक की सर्वोत्तम रचनायें संख्या में लगभग एक दर्जन हैं। और जिस समय से वे लिखी गईं हैं उस समय से लगभग ४०० वर्ष के आसपास किसी कालावधि को परि-व्याप्त किए हुए हैं। इनका समय लगभग ५वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ८वीं शताब्दी के अन्त तक है। ये नाटक बड़े नाटककारों कालिदास और भवभूति की कृतियां हैं। या राजकीय संरक्षकों शूद्रक और श्री हर्ष के नाम पर आई है जिनको उनके वास्तविक लेखकों ने रचना का श्रेय समर्पित कर दिया है।

कालिदास

इन सबमें सबसे बड़े कालिदास हैं जो कई सर्वोत्तम काव्यों के लेखक के रूप में हमारे लिए परिचित हो चुके हैं। उनके तीन नाटक सुरक्षित रखे गये

हैं—शकुन्तला, विक्रमोर्वशी और मालविकाग्निमित्र। इन नाटकों में वे जिस कल्पना की उर्वरा शक्ति का प्रदर्शन करते हैं उसकी सम्पन्नता और कोमल भावों के चित्रण की उनकी निपुणता विश्व के नाटककारों के मध्य उन्हें एक ऊंचा स्थान प्रदान कर देती हैं। उनकी रचना में कवि और काव्य के अनुकूल मनोवृत्तियों के सामन्जस्य में किसी उग्र और भय जनक भावना से विच्छेद उत्पन्न नहीं हुआ है। प्रत्येक उत्तेजना को विना शक्तिहीन बनाए मृदु बना दिया गया है। प्रेम का अतिरेक कभी भी सौन्दर्यानुभूति के बन्धनों की सीमा से बाहर नहीं जाता। यह कभी भी जंगली ईर्ष्या या घृणा की ओर उन्मत्त नहीं बनाता। शोक की धारायें दवाकर गहरे हृदय स्पर्शी विषाद में परिवर्तित कर दी जाती है। अन्तत: यह बात यहां पर आकर सम्पन्न हुई कि भारतीय प्रतिभा ने मर्यादित नरमी का सिद्धान्त प्राप्त कर लिया जो कि कहीं अन्यत्र इसे कठिनाई से ज्ञात था और इस प्रकार चिर स्थायी सौन्दर्य की कृतियां उत्पन्न कीं। इसलिए यह सम्भव हुआ कि शकुन्तला ने गेटे की शान्त चेतना पर इतना अधिक सम्मोहन का प्रभाव डाला जो साथ ही हिन्दू पौराणिक कला की मर्यादातिक्रमण की प्रवृत्ति से इतनी जोरदार तिरस्कार की भावना रखता था।

यूनानी और आधुनिक नाटक की तुलना में संस्कृत नाटक में प्रकृति कहीं अधिक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किए हुए है। चरित्र प्रकृति से घिरे हुए हैं जिनके साथ वे निरन्तर सम्पर्क में रहते हैं। आम तथा दूसरे वृक्ष, लतायें; कमल श्वेतरक्त लोध के पुष्प, मृग, राजहंस, चमकीले रंग के तोते, भारतीय कोकिला जिनके बीच में वे विचरण करते हैं प्राय: उनके द्वारा संबोधित किए जाते हैं और उनके जीवन का एक अनिवार्य अंग बन जाते हैं। इसीलिए प्रेमियों के दिमाग पर प्रकृति के प्रभाव का अधिक वर्णन किया जाता है। संस्कृत की शास्त्रीय कविता में सर्वत्र प्रकृति के ये सुव्यक्त तत्त्व नाटक में आनन्दोपभोग के क्षेत्र में सर्वाधिक प्रचुरता प्राप्त किए हुए हैं।

इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि कालिदास की सर्वोत्तम रचनायें रंगमंचीय नाट्यकला की दृष्टि से सदोष हैं। मनोवृत्तियों के माधुर्य और सौकुमार्य किसी सीमा तक व्यापार की कमी से मिलकर दर्शक समाज पर शक्ति शाली प्रभाव उत्पन्न करने के लिए उन्हें (नाटकों को) असमर्थ बना देते हैं। काल्पनिक अद्भुत प्रेम कथा के सबसे अच्छे प्रतिनिधि हैं भारतीय नाटक—शकुन्तला और विक्रमोवशी। प्राचीन महाग्रन्थ में आये हुए काल्पनिक कथानक

के दो प्रसिद्ध नरेशों की साहसिक प्रेम गाथा का निरूपण करने में वास्तविकता से बहुत दूर हटे हुए दृश्यों का इन नाटकों में प्रतिनिधित्व किया गया है जिनमें पृथ्वी और स्वर्ग एक दूसरे से पृथक नहीं किए गए हैं और पुरुष, उपदेवता, अप्सरायें और सन्त सब एक में मिला दिए गये हैं। दूसरी ओर मालविकाग्निमित्र का सम्बन्ध वीरता या स्वर्गीयता से नहीं है। यह एक राजभवन और अन्तः पुर का नाटक है; यह तत्कालीन प्रेम और कपट प्रबन्ध की कथा है।

शकुन्तला

शकुन्तला का कथानक महाभारत के आदिपर्व से लिया गया है। इसका नायक प्राचीनकाल का एक लब्ध प्रतिष्ठ राजा दुष्यन्त है और नायिका शकुन्तला है जो दिव्य अप्सरा मेनका और महर्षि विश्वामित्र की पुत्री है जबकि उनका पुत्र भरत एक प्रसिद्ध वंशका प्रवर्तक बन गया। नाट्य साहित्य की इस रचना शकुन्तला नाटक में ७ अंक हैं और यह दृश्य काव्य की उस विद्या के अन्तर्गत आता है जिसे स्वदेश के काव्यशास्त्र लेखकों ने नाटक की संज्ञा दी है। इसमें कथानक का उपादान पुराणों या इतिहास से किया जाना चाहिए; चरित्र वीरतापूर्ण या दिव्य होने चाहिए। इसकी रचना गढ़कर श्रमपूर्वक बनाई हुई शैली में होनी चाहिए। और यह उदार भावों एवं मनोवृत्तियों से परिपूर्ण होना चाहिए। इसमें कम से कम ५ अंक हों किन्तु १० अधिक नहीं होने चाहिए।

प्रस्तावना में एक अभिनेत्री ग्रीष्म कालीन सौन्दर्य पर एक चिन्ताकर्षक मनोरम गीत गाती है, इसके बाद महर्षि कण्व के पवित्र वन्य आश्रम में मृग का पीछा करते हुये राजा दुष्यन्त दिखलाई देते हैं। यहां शकुन्तला पर उनकी निगाह पड़तीं है जो अपनी दो महिला मित्रों के साथ अपने प्रिय वृक्षों को पानी देने में लगी है। उसकी सुन्दरता से आहत होकर वे कह उठते हैं—

अधरः किसलयरागः कोमलविटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमंगेषु सन्नद्धम्॥ १.२०॥

(इसका नीचे का ओठ (अधर) अरुण वर्ण का है जैसा एक नवीन विकसित होने वाला पल्लव। इसकी लावण्यमयी कोमल भुजायें नव विकसित शाखा प्ररोह (अंकुर) के साथ समता धारण करती हैं। वृक्ष के ऊपर पुष्प कलिका के समान चित्ताकर्षक जवानी की चमक इसके प्रत्येक अंग पर फैली हुई है।)

उससे बातचीत करने का अवसर प्राप्त कर वह शीघ्र ही अनुभव कर लेता है कि उसके लिए अपनी राजधानी को लौटना असम्भव है—

गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्तुतं चेतः।
चीनांशुकमिव केतोः प्रतिवातं नीयमानस्य ॥

(मेरे अंग आगे को बढ़ते हैं जबकि मेरा (अनभ्यस्त) हृदय पीछे की ओर उड़ता हुआ भाग रहा है जैसाकि प्रतिकूल वायु के द्वारा उड़ाया हुआ पताका का चीनी (रेशमी) मलमल।)

दूसरे अंक में माढव्य विदूषक के साथ हास्य तत्त्व का समावेश किया जाता है जो अपने स्वामी की प्रेमजन्य असहाय अवस्था से उतना ही ऊबा हुआ है जितना कि उसके मृगया के शौक के कारण दुःखी है। तीसरे अंक में लताकुञ्ज में पुष्पास्तरण पर लेटी हुई प्रेम रोगिणी शकुन्तला खोज ली जाती है। राजा प्रच्छन्न रूप से उसकी दोनों मित्रों के साथ उसकी बातचीत सुन लेता है; अपने को प्रकट कर देता है और नायिका से विवाह के लिए स्वयं को समर्पित कर देता है। एक विष्कम्भक में यह व्याख्या की गई है कि किस प्रकार एक प्रचण्ड कोप वाले दुर्वासा नामक तपस्वी ने शकुन्तला को शाप दे दिया था जो उसके प्रेमी द्वारा पूर्णरूप से भुला दिये जाने में कारण बन जायेगा और वह उसे केवल एक अंगूठी के साधन से पहिचान सकेगा। शाप का कारण यह था कि शकुन्तला की दशा पहले से ही ध्यान मग्नता की थी, अतः शकुन्तला उचित विनय के साथ उनका स्वागत नहीं कर सकी थी और ऋषि क्रुद्ध हो गए थे।

इस बीच शकुन्तला से विवाह कर राजा के अपने घर लौट जाने पर महर्षि कण्व ने उसको उसके पति के पास भेज देने का निश्चय कर लिया है। जहां शकुन्तला पाली गई है उस पवित्र वन्यलता कुन्ज से, उसके पुष्पों से, उस के मृगों से और अपने सहचरी मित्रों से जिस प्रकार विदाई लेती है उसका बहुत ही मनोरम ढंग से चतुर्थ अंक में वर्णन किया गया है। यह वह अंक है जिसमें सर्वाधिक प्रकट सौन्दर्य विद्यमान है क्योंकि यहाँ पर कवि अपनी कल्पना की सम्पन्नता, प्रकृति से अपनी अत्यधिक सहानुभूति और मानव हृदय के गहन ज्ञान को अपने पूर्ण परिणाम में प्रदर्शित कर देता है।

एक युवा ब्राह्मण शिष्य उस दिन के अरुणोदय को जिसमें शकुन्तला अपने जंगल के आश्रम को छोड़ने वाली है इस प्रकार वर्णन करता है—

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीनां—
माविष्कृतोऽरुणपुरस्सर एकतोऽर्कः।
तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्यां—
लोको नियम्यत इवैष दशान्तरेषु ॥४.२॥

(सामने की ओर दिखलाई देने वाली दूरी पर पश्चिम पर्वत माला के शिखरों के पीछे की ओर पेड़ पौधों का स्वामी चन्द्रमा अस्ताचल की ओर जा रहा है, इस ओर जिसके आगे-आगे प्रातः कालीन अरुणिमा फैल रही है वह सूर्य दिखलाई पड़ने लगा है। एक साथ ही इन दो मण्डलों का उदय और अस्त संसार में मनुष्य के अपने परिवर्तनशील भाग्यों के लाक्षणिक चिह्न हैं।)

तब वह इस वर्णन को जारी रखता है—

अन्तर्हिते शशिनि सैव कुमुद्वती मे
दृष्टिं न नन्दयति संस्मरणीयशोभा।
इष्टप्रवासजनितान्यवलाजनेन
दुःखानि नूनमतिमात्रसुदुःस्सहानि ।।४.३।।

(चन्द्रमा चला गया; सरोवर में खिली कुमुदिनी, जिसकी रमणीयता स्मृति में स्थिर होकर रह गई है, अब और अधिक हमारी दृष्टि को आनन्द नहीं देती। वे (कुमुदिनियाँ) मुरझा जाती हैं और झड़ जाती हैं; वे अपने अस्त हुए अनुपस्थित स्वामी के लिये शोक में ऐसा करती हैं।[1])

आश्रम का वयोवृद्ध तपस्वी (कण्व) शकुन्तला के निकट आते हुये वियोग पर अपने मनोभावों को इस प्रकार प्रकट करता है—

यास्यत्यद्य शकुन्तलेति हृदयं संस्पृष्टमुत्कण्ठया।
कण्ठः स्तम्भितवाष्पवृत्तिकलुषश्चिन्ताजडं दर्शनम् ।।
वैक्लव्यं मम तावदीदृशमपि स्नेहादरण्यौकसः।
पीड्यन्ते गृहिणः कथं न तनयाविश्लेषदुःखैर्नवैः ।।४.६।।

(इस विचार के आते ही कि आज शकुन्तला चली ही जाएगी मेरा हृदय पीड़ा से आहत हो गया है रोके हुए आंसुओं के प्रवाह से मेरा कण्ठ स्तब्ध हो गया है, चिन्ताग्रस्त अवस्था में मेरी दृष्टि धुंधली पड़ गई है। किन्तु यदि एक वृद्ध जंगल निवासी सन्यासी की वेदना इतनी बढ़ी-चढ़ी होती है तो वह पीड़ा कितनी गहरी होगी जिसका अनुभव एक पिता करता है जब वह अपने प्रतिपालित बच्चे (पुत्री) से अभिनव रूप में वियुक्त होता है।)

तब उसे कृपाकर विदाई देने के लिए वह वृक्षों को पुकार कर ऊंचे स्वर में कह उठता है—

---

१. इस पद्य की अन्तिव दो पङ्क्तियों का ठीक अर्थ इस प्रकार होगा— 'प्रियतम के प्रवास से उत्पन्न दुःख अवलाओं के लिए निस्सन्देह अतिमात्रा में असह्य होते हैं।'

अनुमतगमना शकुन्तला तरुभिरियं वनवासबन्धुभिः ।
परभृतविरुतं कलं यतः प्रतिवचनीकृतमेभिरीदृशम् ।।४.१०।।

(वृक्ष, जो उसके जंगली आवास के बन्धु बान्धव हैं अब शकुन्तला को जाने के लिये अनुमति देते हैं । वे कोकिला की संगीत स्वर लहरी से युक्त अपनी क्रन्दन ध्वनि से अपना उत्तर दे रहे हैं ।)

इस पर वायु के शब्द द्वारा निम्नलिखित शुभकामनायें उच्चरित की जाती हैं—

रम्यान्तरः कमलिनीहरितैः सरोभिः,
छायाद्रुमैर्नियमितार्कमरीचितापः ।
भूयात्कुशेशयरजो मृदुरेणुरस्याः
शान्तानुकूलपवनश्च शिवश्च पन्थाः ।।४.११।।

(तुम्हारी यात्रा आनन्द मङ्गलमय हो, सुकोमल और शान्तिदायक पवन तुम्हारे कपोलों पर पंखा झलें; कमलिनी सम्पुटों से पूर्णरूप से चमचमाते सरोवर तुम्हारे नेत्रों को आनन्द प्रदान करें, छायादार वृक्षों के द्वारा सूर्य किरणों की उष्णता को शीतलता में बदल दें । तुम्हारे पैरों के नीचे की धूलि कमलों की रज के समान कोमल बन जाये ।)

पांचवां अंक, जिसमें शकुन्तला अपने पति के सामने दृष्टिगत होती है, हृदय को अत्यधिक आन्दोलित करने वाला है । राजा उसे पहिचानने में कुण्ठित हो जाता है और यद्यपि उससे अकरुण व्यवहार नहीं करता फिर भी उसे पत्नी के रूप में स्वीकार करने से इन्कार कर देता है । अन्तिम साधन के रूप में शकुन्तला अपने पति द्वारा स्वयं को दी हुई अंगूठी के विषय में स्वयं विचार करती है, किन्तु यह जानकर कि वह गुम हो गई है आशा छोड़ देती है । इसके बाद स्वर्गीय प्रतिनिधि उसे उठाकर ले जाता है ।

अग्रिम प्रवेशक में हम सिपाहियों द्वारा खींचे जाते हुए एक मछुये को देखते हैं क्योंकि उसके अधिकार में राजकीय अंगूठी की अंगुलि मुद्रा मिली है जिसके लिए वह प्रकट करता है कि वह उसे मछली के अन्दर से मिली है । किन्तु राजा उसकी प्राप्ति के लिये उसे पुष्कल पुरस्कार देकर छुड़ा देता है । अब दुष्यन्त को अपने प्राक्तन प्रेम की याद लौट आती है । जबकि वे शकुन्तला के परित्याग पर शोक में डूब रहे हैं इन्द्र का सारथी मातलि राक्षसों के विनाश में राजा की सहायता माँगने के लिए रंगमंच पर दिखलाई देता है ।

अन्तिम अंक में दुष्यन्त गन्धर्वों के पर्वत हेमकूट की ओर इन्द्र के रथ का

परिचालन करते हुए दिखलाई देते हैं। यहां वे शेर के बच्चे से खेलते हुए एक बालक को देखते हैं। उसको अपने पुत्र के रूप में बिना पहिचाने हुए उसका हाथ पकड़ कर वे कह उठते हैं—

अनेन कस्यापि कुलांकुरेण
स्पृष्टस्य गात्रेषु सुखं ममैवम् ।
कां निर्वृतिं चेतसि तस्य कुर्यात्
यस्यायमङ्गात् कृतिनः प्रसूतः ।।७.१६।।

(यदि इस समय एक अपरिचित के बच्चे का स्पर्श इस प्रकार मेरे समस्त अंगों में पूर्ण रूप से आनन्द का हर्षमय रोमाञ्च उत्पन्न कर रहा है—उस सौभाग्यशाली पिता की अन्तरात्मा में आनन्द की कौन सी पराकाष्ठा उत्पन्न करता होगा जिसके श्रोणी फलक से इसका उद्गम हुआ है।)

इसके बाद वे शीघ्र ही शकुन्तला को प्राप्त कर लेते हैं और पहिचान लेते हैं। अन्त में वे उसके साथ पुनः संलग्न हो जाते हैं।

कालिदास का नाटक हम तक दो संस्करणों में आया है – पहला तथा-कथित देव नगरी संस्करण जो अपेक्षाकृत छोटा और अधिक संक्षिप्त है और जो सम्भवत: पुराना तथा अधिक अच्छा है। अधिक विस्तृत बंगाली संस्करण सबसे पहले विलियम जोंस के अनुवाद के माध्यम से परिचय को प्राप्त हुआ।

विक्रमोर्वशी

विक्रमोर्वशी या 'शक्ति से उर्वशी की प्राप्ति पांच अंकों का एक दृश्य काव्य है जो त्रोटक कही जाने वाली नाट्य विद्या में आता है। त्रोटक का वर्णन इस रूप में किया गया है कि इसमें घटनायें आंशिकरूप में भौमविषयक और आंशिक रूप में दिव्य विषयक चित्रित की जाती हैं और इसमें पाँच सात, आठ या नो अंक होते हैं। इसका कथानक संक्षेप में इस प्रकार है—राजा पुरुरवा अप्सराओं से सुनता है कि उनकी सहेली उर्वशी दैत्यों द्वारा उठा ले जाई गई है। वह उसके परित्राण के लिए जाता है और छुड़ाकर अपने यान पर वापस ले आता है। वह अपने मुक्तिदाता की प्रेम बन्दिनी बन जाती है और वह भी अप्सरा के सौन्दर्य से उससे कम उन्मन्त नहीं होता। उर्वशी इन्द्रासन के समक्ष उपस्थित होने के लिए बुलाई जाती है और प्रेमी तत्काल पृथक् होने के लिए बाध्य हो जाता है।

दूसरे अंक में राजा उद्यान में दुःखी होकर घूम रहा है तब थोड़े समय के लिए उर्वशी दूसरी बार उसे दृष्टिगत होती है। एक पत्र में उसने (उर्वशी ने)

अपने प्रेम की स्वीकृति लिख दी है। यह पत्र रानी के हाथ में पड़ जाता है। रानी शान्त होने से इन्कार कर देती है।

तृतीय अंक में हमें ज्ञात होता है कि उर्वशी इन्द्र के सामने एक नाटक का अभिनय कर रही थी जिसमें लक्ष्मी के वाग्दान (सगाई) का प्रस्तुतीकरण किया गया था और जब उससे यह पूछा गया था कि उसका हृदय किस पर स्थिर हो गया है तब उसने पुरुषोत्तम (विष्णु) के स्थान पर पुरुरवा का नाम ले दिया था, परिणामस्वरूप अपने शिक्षक भरत द्वारा अभिशप्त कर दी गई है; किन्तु इन्द्र द्वारा उसे क्षमादान दे दिया गया है। इन्द्र उसे पुरुरवा से तब तक संयुक्त रहने की आज्ञा दे देते हैं जब तक पुरुरवा उसकी सन्तान का मुख देख न ले।

चौथा अंक लगभग पूर्णरूप से प्रगीतात्मक होने के कारण विचित्र प्रकार का है। प्रेमी स्वर्गीय पर्वत कैलाश के निकट घूम रहे हैं जबकि उर्वशी ईर्ष्या से उत्तेजना के दौरे में युद्ध के देवता कुमार (स्वामि कार्तिकेय) की वाटिका में प्रवेश कर जाती है जिसमे सभी स्त्रियों के प्रवेश का निषेध है। भरत के शाप के परिणाम स्वरूप वह तत्काल एक लता के रूप में परिणत हो जाती है। राजा उसके खो जाने की असहनीय वेदना में उसका सर्वत्र अन्वेषण करता है। वह विभिन्न कीड़ों, पक्षियों, जानवरों और यहां तक कि पर्वत शिखरों को यह बतलाने के लिए सम्बोधित करता है कि वह कहा है। अन्त में वह सोचता है कि वह उसे पर्वतीय धारा के रूप में देख रहा है—

> **तरङ्गभ्रूभङ्गा क्षुभितविहगश्रेणिरसना**
> **विकर्षन्ती फेनं वसनमिव संरम्भशिथिलम्।**
> **यथाविद्धं याति स्खलितमभिसन्धाय बहुशो**
> **नदीभावेनेयं ध्रुवमसहना सा परिणता ॥४.५२॥**

(उछलती क्षुब्ध लहरी उसके भ्रूभङ्ग के समान हैं, इधर उधर विचरणशील पक्षियों की चहचहाती पंक्ति उसकी तगड़ी है, जब वह बहती हुई आगे को सरकती है, उस समय फेन की धवल राशि उसका लहराता परिधान है (जो उसके क्रोध की तेजी में ढीला पड़कर उसके चलने के साथ जमीन पर सरक रहा है) नदी की धारा उसकी लड़खड़ाती वक्र चाल है (जो स्खलनों को बचाने के लिए इधर-उधर होकर बह रही है) यह (नदी की धारा) वही (मेरी प्रेमिका) है जो नदी की धारा के रूप में परिणत हो गई है।)

अन्त में जादुई पत्थर (संगमनी मणि) के, जो उनके अधिकार में आई हैं, प्रभाव से वे लता को भेंटते हैं। लता उनकी बाहों मे उर्वशी के रूप में परिणत हो जाती है।

चौथे और पांचवे अंकों के बीच कई वर्ष बीत जाते हैं। तब पुरूरवा संयोगवश अपने पुत्र आयुष को जान लेता है जिसको उर्वशी ने गुप्त रूप से जन्म दिया था और उसका पालन पोषण एक आश्रम में करवाया था। इसलिए उर्वशी को निश्चित रूप से स्वर्ग को लौट जाना चाहिए। किन्तु दैत्यों के प्रतिकूल पुरूरवा की सेवाओं के प्रतिदान के रूप में में इन्द्र नई रियायत दे देते हैं और अप्सरा को राजा के साथ सर्वदा के लिए रहने की स्वीकृति मिल जाती है।

इस नाटक के भी दो संस्करण हैं जिनमें एक दक्षिण भारत से सम्बन्ध रखता है।

मालविकाग्निमित्र

मालविकाग्निमित्र या 'मालविका और अग्निमित्र' के निम्नस्तर (घटियापन) और उसके भिन्न स्वरूप के आधार पर बहुत समय से इस सन्देह पर विचार किया जाता रहा है कि क्या यह वास्तव में कालिदास की रचना है जिनके नाम का इसकी प्रस्तावना में उल्लेख किया गया है। इस सन्देह की पुष्टि कठिनाई से की जा सकती है। वीवर (Weber) ने इस रचना खण्ड के विषय में दिखलाया है कि विचारों और भाषा में यह रचना कवि के अन्य दो नाटकों से पर्याप्त निकटता के साथ मेल खाती है और यद्यपि काव्यगुणों (काव्यकला) की दृष्टि से निश्चित रूप से बाद के नाटकों के समान नहीं है फिर भी इसमें अपने बहुत से गुण विद्यमान हैं। इसका विषय वीररस या स्वर्गीय नहीं है, इसका कथानक भारतीय राजकुमारों की अन्तःपुर की सामान्य जीवन पद्धति से लिया गया है और इस प्रकार उस समय की सामाजिक परिस्थिति का विचित्र रूप में अच्छा चित्र प्रस्तुत करता है। इसका नायक शुंगवंश का एक ऐतिहासिक राजा है जो ई० पू० दूसरी शताब्दी में विदिशा (भेल्सा) पर शासन करता था। इस नाटक में इस राजा अग्निमित्र और मालविका की प्रेमकथा का वर्णन है। मालविका महाराणी की एक दासी है, महाराणी उसके अत्यधिक सौन्दर्य के कारण ईर्ष्यावश उसे राजा की दृष्टि से दूर रखती थीं। राजा के मालविका को देखने और उससे बातचीत करने के विभिन्न प्रयत्न अनेक छोटे छोटे षड्यन्त्रों को बढ़ावा देते हैं। इन सबकी गतिविधि में अग्निमित्र कहीं भी महाराजा के रूप में दृष्टिगत नहीं होते, किन्तु अपनी पत्नियों का अत्यधिक ध्यान रखते हुए व्यवहार करते हैं। अन्त में सिद्ध होता है कि जन्म से मालविका राजकुमारी है और अग्निमित्र के दरबार में नौकर बनकर केवल इसलिए

आई है कि वह डाकुओं के हाथों में पड़ गई थी। अब राजा से संयुक्त होने में कोई आपत्ति न रह जाने से सब कुछ प्रसन्नता में समाप्त हो जाता है।

मृच्छकटिक

जबकि कालिदास काव्यकला की स्वच्छता में, कोमलता में, और भावों की गहराई में सबसे ऊंचे स्थान पर स्थित हैं मृच्छकटिक या 'मिट्टी की गाड़ी' का लेखक भारतीय नाटककारों में शक्ति, जीवन और कार्यव्यापार (अभिनय) के सुस्पष्ट नाटकीय गुणों की दृष्टि से उससे कम अग्रगण्य नहीं है जितना कि चरित्रचित्रण की सूक्ष्मता में। इस प्रकार वे प्रतिभा के क्षेत्र में सेक्सपियर के सहभागी बन जाते हैं। यह नाटक मौलिकता और अच्छे भावों के द्वारा भी लक्षित किया जाता है, यह शूद्रक नामक राजा के नाम पर अध्यारोपित है जिनका प्रस्तावना में यशोगान किया गया है। सम्भवतः यह एक ऐसे कवि की कृति है जो उनके संरक्षण में रहता था, हो सकता है यह दण्डी हो जैसा कि प्रो० पिशेल का विचार है। किसी भी दृष्टि से यह असम्भावित नहीं है कि यह छठी शताब्दी की रचना हो। यह १० अंकों में विभाजित है और प्रकरण कहलाने वाली नाटक विधा से सम्बन्ध रखती है। इसके नाम का नाटक से कुछ लेना देना नहीं है क्योंकि यह छठे अंक की एक महत्त्वहीन घटना से लिया गया है। इसका दृश्य उज्जैन तथा उसके आसपास दिखलाया गया है। रंग-मञ्च पर दृष्टिगत होने वाले पात्रों की संख्या बहुत अधिक है। उनमें प्रमुख हैं चारुदत्त—एक ब्राह्मण व्यापारी चारुदत्त जिसने सीमातीत उदारता के कारण अपनी सारी सम्पत्ति खो दी है और एक सम्पत्ति शालिनी वेश्या वसन्त सेना जो दरिद्र किन्तु उदार चरित्र वाले चारुदत्त से प्रेम करती है और अन्त में उसकी पत्नी बन जाती है। तीसरे अंक में सेंध लगाने का हास्यपरक वर्णन है जिसमें चोरी का एक ललितकला के रूप में वर्णन किया गया है। चौथे अंक में वसन्तसेना के महल का अति वैभव सम्पन्न विस्तृत वर्णन किया गया है। यद्यपि इसमें अत्युक्ति पूर्ण वर्णन अधिक है फिर भी यह समृद्धि-सम्पन्न विषय सुख भोग के साधनों का एक प्रकार का मनोरंजक चित्र प्रस्तुत करता है जो उन दिनों छाया हुआ था। सब मिलाकर इस नाटक में बहुत से गम्भीर दृश्यों के साथ, जिनमें कतिपय दृश्य दुःखात्मकता का भी सीमा स्पर्श करते हैं, हास्यजनक परिस्थितियां भरी पड़ी हैं।

श्री हर्ष के दो नाटक

दो नाटक सातवीं शताब्दी के पूर्वार्ध से सम्बन्ध रखते हैं जो प्रसिद्ध राजा

श्री हर्ष या हर्षदेव के नाम पर निक्षिप्त किए गए हैं। ये कवियों के आश्रय-दाता थे जिनको हम थानेश्वर और कन्नौज के हर्षवर्धन के रूप में जानते ही हैं।

रत्नावली

रत्नावली या 'मौक्तिकमाला' अपने समय के दरबार और अन्तःपुर के जीवन को प्रतिबिम्बित करती है। इसमें कालिदास के मालविकाग्निमित्र से समानता के अनेक दृष्टिबिन्दु विद्यमान हैं। बहुत सम्भव है कि वस्तुतः मालविकाग्निमित्र के द्वारा ही इसकी कथावस्तु निर्दिष्ट की गई हो। यह वत्सराज उदयन और उनकी महाराणी वासवदत्ता की दासी सागरिका के प्रेम की कथा है। नायिका अन्त में रत्नावली सिद्ध हो जाती है जो लंका (सीलोन) की राजकुमारी है और जहाज के टूट जाने के बाद कष्ट पाती हुई उदयन के दरबार में पहुंच गई थी। इसके कथानक का सम्बन्ध पौराणिकोपाख्यान से नहीं है किन्तु एक ऐतिहासिक या पौराणिक परम्परा पर आधारित है और सोमदेव के कथासरित्सागर में कुछ भिन्न रूप में आवृत्त हुई है। जहां तक इसका सम्बन्ध राजा के दूसरे विवाह से है; यह वासवदत्ता की प्रसिद्ध प्रेमकथा काा उत्तर भाग बनाती है। यह निर्णय करना असम्भव है कि क्या कविपरम्पर की मुख्य रूपरेखा में परिवर्तन किया गया है, किन्तु ऐन्द्रजालिक का चरित्र उसकी अपनी रचना है जो (ऐन्द्रजालिक) देवताओं का और आग लगने का दृश्य जादू के रूप में दिखला देता है, इसी प्रकार कुछ घटनायें भी, जो कि पारिवारिक स्वरूप की हैं, उसकी अपनी रचना हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इसका वास्तविक लेखक श्री हर्ष के दरबार का कोई निवासी कवि था—सम्भवतः बाण हों जिन्होंने पार्वती परिणय नाम का एक और नाटक भी लिखा है।

समग्र रूप में रत्नावली एक रमणीय नाटक है जिसमें चरित्रों का भली-भांति चित्रण किया गया है और अनेक काव्य सौन्दर्य विद्यमान हैं। काव्य सौन्दर्य के विषय में निम्न पंक्तियां नमूने का कार्य कर सकती हैं, जिसमें राजा पूर्व के हलके पीताभ प्रकाश का वर्णन करता है जो चन्द्रोदय की सूचना दे रहा है—

अये कथमुत्सवापहृतचेतोभिः सन्ध्यातिक्रमोऽप्यस्माभिर्नोपलक्षितः। सम्प्रति परिणतमहः—

उदयतटान्तरितमियं प्राची सूचयति दिङ्निशानाथम्।
परिपाण्डना मखेन प्रियमिव हृदयस्थितं रमणी॥ (१.२४)

(हमारे मस्तिष्क एकाग्रता के साथ उत्सव पर समाहित रहे और हम यह देख भी नहीं सके कि सन्ध्याकालीन प्रकाश आया और निकल गया। ध्यान से देखो—पूर्वदिशा रजनीशचन्द्र की घोषणा कर रही है जो अब तक उस पर्वत माला के पीछे छिपा हुआ है, जहां से उसका उदय होता है— वह भी इसी प्रकार जैसे कोई ललना अपने पीताभ चेहरे से यह प्रकट करती है कि उसके अन्तरतम हृदय में उसका प्रियतम निवास कर रहा है।)

नागानन्द

श्री हर्ष के नाम पर निक्षिप्त अत्यधिक गुणों वाला एक अन्य नाटक है—नागानन्द। यह बौद्धरंग लिए हुए एक सनसनी पैदा करने वाली नाटक रचना है जिसका नायक बौद्ध है और प्रस्तावना के नान्दीपाठ में बुद्ध की प्रशंसा की गई है। इस कारण इसका लेखक सम्भवतः रत्नावली के लेखक से भिन्न था और हो सकता है कि यह धावक हो जिसके विषय में जाना जाता है कि यह बाण के समान श्री हर्ष के दरबार में रहा था।

भवभूति

नाटककार भवभूति यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के एक ब्राह्मण थे और जैसा कि उनकी प्रस्तावनाओं से हम अध्ययन करते हैं वे दक्षिण भारत विदर्भ (वर्तमान बरार) से सम्बन्ध रखते थे। उन्हें उज्जैन शहर का भलीभांति ज्ञान था और सम्भवतः अपने जीवन का कम से कम एक भाग उन्होंने वहां बिताया था। उनके संरक्षक कान्यकुब्ज (कन्नौज) के राजा यशोवर्मा थे जिनका शासन काल ८वीं शताब्दी का पूर्वार्ध था।

इस कवि के तीन नाटक हम तक आये हैं जो काव्यसौन्दर्य से भरपूर हैं। वे प्राचीनतर नाटककारों की कृतियों से दो तीन तत्त्वों में विभेद रखते हैं। हास्य अभिनेता की अनुपस्थिति उनका विशिष्ट लक्षण है। हास्यपरक एवं बुद्धिविलास-जन्य (प्रत्युत्पन्नमति)तत्त्व का इनमें प्रवेश केवल बहुत थोड़ी सीमा तक होता है। जबकि अन्य भारतीय कवि प्रकृति की ललित एवं सुकुमार सुन्दरता का निरूपण करते हैं भवभूति उसके भव्य और अत्युच्छ्रत स्वरूप का वर्णन करना पसन्द करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इसका कारण यह है कि उनके मस्तिष्क पर उनके जन्मस्थान के दक्षिण भारतीय पर्वतों का प्रभाव पड़ा है। इसके अतिरिक्त वे केवल ऐसे ही चरित्रों को चित्रित करने में सिद्धहस्त नहीं हैं जो कोमल शरीफाना रईसी मनोवृत्तियों से प्रेरित हैं, किन्तु सरम्भात्मक मनोवृत्तियों की गहराई और शक्ति को प्रभावशाली अभिव्यक्ति देने मे भी कुशल हैं।

मालती माधव

भवभूति के नाटकों में सर्वाधिक जाना माना, सर्वाधिक लोक प्रतिष्ठित नाटक है—दस अंकों का एक प्रकरण—मालती माधव। इसका दृश्य उज्जैन में दिखलाया गया है और इसका विषय है मालती और माधव की प्रणयलीला। मालती उस प्रदेश के एक मन्त्री की पुत्री है और माधव एक युवा छात्र है जो उसी शहर में पढ़ रहा है और दूसरे राज्य के मन्त्री का पुत्र है। इस मुख्य कथानक के साथ माधव के मित्र मकरन्द और राजा के कृपापात्र की बहन मदयन्तिका की नियति भी कौशलपूर्वक अन्तर्गुम्फित की गई है। मालती और माधव मिलते हैं और प्रेम में पड़ जाते हैं किन्तु राजा ने निश्चय कर रखा है कि नायिका का विवाह उसके कृपापात्र के साथ हो, किन्तु नायिका उससे घृणा करती है। इस योजना को मकरन्द व्यर्थ कर देता है जो मालती का वेष धारण कर वर के साथ विवाह की समस्त रस्में पूरी करता है प्रेमियों को अपनी योजना में दो मिलनसार बौद्ध सन्यासिनियों की सहायता मिल जाती है और अन्त में दोनों संयुक्त हो जाते हैं। यह नाट्यकृति सुखान्त रोमियो और जूलियट का एक भारतीय प्रकार है। सन्यासिनी कामन्दकी ने जिस भाग का अभिनय किया है वह सेक्सपियर के फ्रायर लायरेंस के द्वारा पूरे किए गए क्रियाकलाप के समरूप है। कोमल प्रेम और भयानक दुर्गादेवी की याजिका के क्रियाकलाप का तुलनात्मक विरोध निश्चित रूप से प्रभावशाली है। किन्तु सम्भवत: अधिक उग्र हो गया है। यह अवश्य है कि जिस मूर्छा का उपयोग किया गया है और जिसमे विमूक्ति दिखलाई गई है उसमें कुछ जल्दबाजी कर दी गई है और यह इस नाटक में अत्यधिक सामान्य बात है।

नवें अंक में विन्ध्याचल की वन्यश्रेणी की दृश्यावली के वर्णन करने वाले कई सुन्दर अनुच्छेद हैं। नीचे उनमें से एक (पद्य और उस) का अनुवाद है—

> अयमभिनवमेघश्यामलोत्तुंगसानु-
> र्मदमुखरमयूरीमुक्तसंसक्तकेकाः।
> शकुनिशवलनीडानोकहस्निग्धवर्ष्मा
> वितरति बृहदश्मा पर्वतः प्रीतिमक्ष्णोः। ५।
>
> दधति कुहरभाजामत्र भल्लूकयूना-
> मनुरसितगुरूणि स्त्यानमम्बूकृतानि।
> शिशिरकटुकषायः स्त्यायते सल्लकीना-
> मिभदलितविकीर्णग्रन्थिनिष्यन्दगन्धः॥ ६॥

(अपने उत्तुङ्ग शिखर पाषाणों से परिपूर्ण यह पर्वत आंखो को आनन्द

देता है। एकत्र होने वाले मेघों से इसकी चोटियां कालेरंग की हो जाती हैं। इसकी उपवन श्रेणियां आनन्द में मधुरध्वनि करने वाली वाग्मी मयूरियों से समाकीर्ण हैं। इसके ढलानों पर उगे हुए वृक्ष पक्षियों (के रंग विरंगे घोंसलों) से प्रभामय हो रहे हैं जो पक्षी अपने घोंसलों में फड़फड़ाते हुए विचरण कर रहे हैं। (विशाल चट्टानों से घिरे हुये पर्वत आंखों को आनन्द देते हैं) कन्दरायें ऋच्छों और भालुओं की दहाड़ से प्रतिध्वनित होती है। मन्द और शीतल वायु हाथियों द्वारा तोड़कर फेंकी हुई शाखाओं से धूपवृक्षों की सुगन्ध उड़ाकर ले आती हैं।)

महावीरचरित

भवभूति के दो अन्य नाटक उन्हीं राष्ट्रीय नायक राम के दैवायत्त चरित का वर्णन करते हैं। महावीर चरित अथवा 'महान नायक के भागधेय' का कथानक रामायण में कही हुई कथा से बहुत कम भिन्न है। नाटक जो सात अंकों में विभाजित है और जिसमें पात्रों की भीड़ लगी है राम के राज्याभिषेक के साथ समाप्त हो जाता है। अन्तिम अंक में भलीभांति निर्दशित किया गया है कि कितना अंश दर्शकों की कल्पना के लिए छोड़ दिया गया है। इसमें लंका से उत्तर भारत में अयोध्या तक समस्त मार्ग में विमान पर राम की यात्रा दिखलाई गई है—जिन दृश्यों को पार किया गया है साथियों में कोई एक उनका वर्णन करता है।

उत्तर रामचरित

उत्तर रामचरित या 'राम के परवर्ती भागधेय' कल्पित अद्भुत प्रेमकथा है जिसमें अनेक अच्छे अनुच्छेद हैं। यह अवश्य है कि क्रियाकाप का अभाव होने से यह नाटक की अपेक्षा नाटकीय प्रगीत अधिक है राम और सीता का कोमल प्रेम शोक के द्वारा पवित्र कर दिया गया है। इसके वर्णन में उसकी अपेक्षा वास्तविक करुणभाव अधिक दिखलाई देता है जो कि किसी अन्य भारतीय नाटक में दृष्टिगत होता है। नाटक का प्रारम्भ सीता के निर्वासन से होता है और कष्ट कर एकान्तवास के १२ वर्ष वाद सार्वजनिक जय-जयकार के मध्य में अयोध्या के सिंहासन की पुनः प्राप्ति के साथ उसकी समाप्ति हो जाती है। निर्वासन के बाद उत्पन्न हुए उनके दो पुत्रों को महर्षि वाल्मीकि द्वारा जंगली वातावरण मे अभिबृद्ध किया गया। उनको अपनी राजकीय उत्पत्ति का कुछ भी पता नहीं है। वे दो राजकुमारों गिडीरियस और अर्विरेउस के साथ आकर्षक विचित्र समता स्थापित करते हैं जो सेक्सपियर के सिम्वेलिन में सन्यासी वेलेरियस द्वारा बढ़ाये गए हैं। जिस दृश्य में उनका

अपने पिता राम से मिलना दिखलाया गया है उसने काव्य गुणों की उच्चता प्राप्त कर ली है।

विशाखदत्त का मुद्राराक्षस

अन्य नाटककारों की रचनाओं के मध्य विशाख दत्त का मुद्रा राक्षस या 'राक्षस और मोहर' विशेष उल्लेख का अधिकारी है क्योंकि इसका स्वरूप अपने ढंग का अनोखा है। कारण यह है कि जिनका यहां तक वर्णन हो चुका है उन सभी नाटकों के असमान यह राजनैतिक छल कपट का नाटक है। इसके अतिरिक्त क्योंकि यह अधिक नाटकीय कौशल से रचा गया है जीवन और क्रिया कलाप से परिपूर्ण एवं अविच्छिन्न अभिरुचि को बनाए रखने में समर्थ है इसके रचना काल के विषय में निश्चित रूप से इससे अधिक और कुछ नहीं कहा जा सकता कि सम्भवतः इसकी रचना लगभग ८०० ई० के बाद नहीं हुई होगी। इस रचना का कार्य व्यापार चन्द्र गुप्त के समय में होता है जिसने भारत पर सिकन्दर के आक्रमण के तत्काल बाद पाटलिपुत्र में नन्द वंश के अन्तिम सम्राट को अपदस्थ कर नई वंश परम्परा को जन्म दिया। नन्द का मन्त्री राक्षस बलात् राज्यापहरण करने वाले को मान्यता देना अस्वीकृत कर देता है और अपने पुराने स्वामी के विनाश का बदला लेने के लिए प्रयत्न करता है। कथानक चन्द्रगुप्त के मन्त्री चाणक्य ब्राह्मण के प्रयत्नों की ओर झुक जाता है जिसका उद्देश्य है अभिजात महात्मा राक्षस को अपने स्वामी के प्रयोजन के लिए अपने पक्ष में लाना। इसमें अन्त में वह सफल हो जाता है।

भट्ट नारायण का वेणी संहार

भट्ट नारायण का वेणी संहार या 'केश-कलाप का समेटकर बाँधना' छह अंकों का एक नाटक है जिसमें कथानक का उपादान महाभारत से किया गया है। इसका कार्य व्यापार सभाभवन में दुर्योधन के भाइयों में एक के द्वारा द्रोपदी के सर के बालों के खींचे जाने को मूल मानकर चलता है। ८४० ई० के ताम्रपत्र में इसके रचियता के एक दान के प्रतिगृहीता होने से इसकी आयु का पता चलता है। यद्यपि यह काव्य गुणों के लिए सुव्यक्त नहीं है फिर भी यह कृष्ण सम्प्रदाय के प्रति स्पष्ट पक्षपात के कारण भारत में अधिक प्रिय रहा है।

राजशेखर के नाटक

९०० ई० के आसपास राजशेखर का समय आता है जिनके नाटकों की विभेदक विषेशता है उनकी सुख संवेद्यता (सुगमता) और भाषा सौन्दर्य। उन

के नाटकों में अब तक चार जीवित रहे हैं और उनके शीर्षक हैं—विद्धशाल भञ्जिका, कर्पूर मन्जरी, बाल रामायण और प्रचन्ड पाण्डव या बालभारत।

क्षेमीश्वर

कवि क्षेमीश्वर जो सम्भवत: १०वीं शताब्दी में कन्नौज में राजा महिपाल के आश्रय में रहते थे एक नाटक के लेखक हैं जिसका नाम है चण्ड कौशिक या क्रुद्ध कौशिक।

दामोदर मिश्र का हनुमन्नाटक

११वीं शताब्दी में दामोदर मिश्र ने हनुमन्नाटक या (हनुमान का नाटक) लिखा जिसे महा नाटक या 'बड़ा नाटक' भी कहा जाता है। परम्परा के अनुसार वे (दामोदर मिश्र) मालवा के राजा भोज के दरबार में रहते थे। राजा भोज ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक भाग में धारा (आजकल धार) और उज्जयिनी (उज्जैन) के निवासी थे। यह रचना बहुत कम गुणों वाली अथवा सर्वथा गुणहीन है। इसमें राम की कथा उनके अपने ही सहायक वानरों में प्रमुख हनुमान से सम्बन्धित है। इसमें १४ अंक हैं जिनमें संगति का अभाव है और उनसे यह प्रभाव उत्पन्न होता है कि छोटे-छोटे टुकड़ों को एक में मिला दिया गया है।

कृष्णा मिश्र का प्रबोध चन्द्रोदय

कृष्णा मिश्र का प्रबोध चन्द्रोदय या 'ज्ञान के चन्द्रमा का उदय' ६ अंकों का एक नाटक है जिसका रचनाकाल ११वीं के अन्त से प्रारम्भ होता है। यह भारत की सर्वाधिक ध्यानाकर्षक विश्रुत रचनाओं में एक है। यद्यपि यह एक प्रतीकात्मक रचना है जिसका तात्पर्य धार्मिक दार्शनिक है और जिसमें परमार्थत: केवल अमूर्त मनोगत भाव और प्रतीकात्मक संकेतात्मक आकृतियां स्त्री-पुरुषों के समान अभिनय करती हैं फिर भी यह नाटकीय जीवन और शक्ति की दृष्टि से एक ध्यानाकर्षक प्रसिद्ध रचना है। इसका लक्ष्य है रूढ़िवादी ब्राह्मण धर्म का वैष्णाव सम्प्रदाय की भावना की दृष्टि से महत्त्व बतलाना; यह उसी प्रकार का है जिस प्रकार स्पेन के कवि कल्डरन (Calderon) के प्रतीकात्मक नाटक कैथोलिक विश्वास को उत्कर्ष देने के अभिप्राय से लिखे गये थे। भारतीय कवि ने आकर्षक नाटक रचने के कठिन कार्य में सफलता प्राप्त की है जिसमें दैवी सन्देश, इच्छा, तर्क, धर्म जैसे अमूर्त तत्त्वों को माँस और रक्त के जीवित तत्त्वों में परिवर्तित कर दिया गया है। बुराई का राजा महामोह बनारस के शासक के रूप में रंगमंच पर आता है। वह अपने विश्वास पात्र अनुयायियों से घिरा है जिनमें मूर्खतायें और पाप सम्मिलित हैं जबकि धर्म

और अभिजात राजा तर्क सभी गुणों के साथ निर्वासित कर दिये गये हैं। फिर भी एक भविष्यवाणी है कि किसी दिन तर्क दैवी सन्देश से पुनः संयुक्त हो जाएगा। मेल का फल होगा सच्चा ज्ञान जो महामोह के शासन को समाप्त कर देगा। इस मेल मिलाप और इसकी सिद्धि के लिए संघर्ष शुरू हो जाता है जिसके बाद अच्छे पक्ष की अन्तिम विजय हो जाती है। यह इस रचना का कथानक है।

बारहवीं शताब्दी के बाद के नाटक

संस्कृत नाटकों की एक बहुत बड़ी संख्या १२वीं शताब्दी[1] से लेकर बाद में वर्तमान समय तक लिखी गई। उनके कथानक प्रायः महाभारत और रामायण से लिए गए। इनके अतिरिक्त एक या अनेक अंकों में प्रहसन हैं जो अधिकांश भद्दे किस्म के हैं जिनमें विभिन्न प्रकार की बुराइयों जैसे दम्भ का आक्षेप पूर्वक वर्णन किया गया है। ये बाद की रचनायें प्रारम्भिक भारतीय नाट्य रचनाओं की तुलना में कला के अत्यधिक निम्न स्तर पर पहुंच जाती है।

---

१. इस बात पर ध्यान देना मनोरञ्जक है कि १२वीं शताब्दी में रचे गए संस्कृत के दो नाटक पाण्डु लिपि के रूप में अब तक उपलब्ध नहीं हो सके हैं, किन्तु अजमेर की खुदाई में आंशिक रूप में सुरक्षित हैं। (दे० कीलहार्न: एपीग्राफिया इण्डिया खण्ड ५ पृ० २० संख्या १३४ कलकत्ता १८९९ के परिशिष्ट में।

अध्याय-१४

परीकथायें एवं उपकथायें

(लगभग ४०० से ११०० ई० तक)

शिक्षात्मक और सूत्रात्मक स्वर जोकि अभिजात संस्कृत साहित्य पर हावी है, छात्र को चकित और प्रभावित करने में कभी नहीं चूक सकता। फिर भी यह परीकथाओं और उपकथाओं में विशेष रूप से कण्ठरव से कहा गया है जिसका लक्षण है नीति विषयक प्रतिछाया की अतिविस्तृत भूमिका और लोकोक्ति मूलक दर्शन। अपने नैतिक निर्देश के साथ उपकथा इस प्रकार की निरूपण विधि का विचित्र विषय हैं।

परीकथायें और उपकथायें अत्यधिक बढ़ी-चढ़ी सीमा तक एक दूसरे से घुली मिली है। संस्कृत साहित्य में इन परीकथाओं और उपकथाओं का विभाजक परिचयात्मक लक्षण यह है कि बहुत बड़े एकाकी कथानक के कलेवर में बहुसंख्य कथानकों का अन्तः प्रवेश कर दिया जाता है। मुख्य कथानक के पात्र बारी-बारी एक दूसरे की ज्ञानवृद्धि अथवा अपने विशिष्ट दृष्टिकोण की सच्चाई को प्रमाणित करने के निमित्त विभिन्न कथाओं का वर्णन करते हैं। क्योंकि इसी प्रकार छोटी कहानी की सीमा के अन्तर्गत कोई दूसरी कहानी प्रविष्ट की जाती है और यही प्रक्रिया आगे-आगे भी दोहराई जाती है। सम्पूर्ण रचना इस प्रकार एक चीनी बक्से की वस्तुओं के समूह जैसी बन जाती है। वर्णन की इस शैली को भारत से पड़ोसी देशों फारस और अरब के पुराने निवासियों ने ग्रहण किया। उन लोगों ने स्वतन्त्र कृतियों की रचना में इसका उपयोग किया। इस विषय में सर्वाधिक ध्यान खींचने वाली रचना निश्चय ही अरेबियन नाइट्स है।

पञ्चतन्त्र

यह रचना पञ्चतन्त्र इसलिए कहलाती है कि यह पांच उपखण्डों में विभाजित है। साहित्यिक दृष्टिकोण से भारतीय साहित्य की इस शाखा में यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और मनोरञ्जक रचना है। इसके अधिकाँश भाग में काल्पनिक कथायें हैं जो गद्य में लिखी गई हैं साथ ही इसमें दार्ष्टान्तिक सूत्रात्मक

पद्य मिले हुए हैं। यह कहना असम्भव है कि इस संग्रह ने कब निश्चित रूप से अपना स्वरूप प्राप्त कर लिया था, तो भी हम जानते हैं कि यह छठी शताब्दी के पूर्वार्ध में विद्यमान था—क्योंकि बादशाह खुशरू नोशीर्वान (५३१-७९) के आदेश से उसका अनुवाद पहलवी में किया गया था जो उस समय की परशिया की साहित्यिक भाषा थी। वस्तुतः हम यह मान सकते हैं कि पाँचवीं शताब्दी में यह परिचित रचना थी क्योंकि इसके पहले बहुत अधिक लम्बा समय व्यतीत हो चुका होगा। जबकि यह इतना अधिक प्रसिद्ध हो गई होगी कि एक विदेशी शासक ने इसके अनुवाद की आकांक्षा की।

यदि यह वास्तव में बौद्ध रचना नहीं है फिर भी बौद्ध स्रोत से इसका उपादान अवश्य होना चाहिए। यह बात स्वयं पुस्तक के अन्तः साक्ष्य से तथा इस वास्तविकता के परिणाम स्वरूप सिद्ध होती है कि कथाओं की एक संख्या का उद्‌गम बौद्ध लेखों में तलाश किया जा सकता है। पुरावृत्त कथायें और उपकथायें आदिमतम समय से बौद्धों में प्रचलित रही है। वे बुद्ध को समर्पित की गई हैं और उनकी पवित्रता इस इस बात से और बढ़ जाती है कि उनमें किसी भी कथा के सर्वोत्तम पात्र का परिचय बुद्ध के एक पुराने जन्म के रूप में दिया जाता है। इसीलिए इन्हें जातक या (जन्म की कथायें) की संज्ञा दी जाती है। इस बात का प्रमाण विद्यमान है कि इस नाम से कहानियों का एक संग्रह वैशाली की सभा (लगभग ३८० ई० पू०) जैसे प्रारम्भिक काल में भी विद्यमान था और ५वीं शताब्दी में उन्होंने वह स्वरूप प्राप्त कर लिया जो पाली सुत्त पिकट में अब विद्यमान है। इसके अतिरिक्त चीन के दो विश्वकोशों में जिनमें पुराना कोष ६६८ ई० में पूरा हो चुका था एक बहुत बड़ी संख्या में भारतीय उपकथायें चीनी भाषा में अनुवाद की हुई विद्यमान हैं और अपने स्रोत के रूप में जिन बौद्ध कृतियों का उल्लेख करते हैं उनकी संख्या २०२ से कम नहीं है। तो भी अपने वर्तमान रूप में पंचतन्त्र ब्राह्मणों की रचना है, ब्राह्मणों ने यद्यपि ऐसे सभी भागों को या तो परिवर्तित कर दिया या छोड़ दिया जिनमें ब्राह्मणत्व के प्रतिकूल मानसिकता का रहस्योद्घाटन किया गया था फिर भी इस संग्रह के बहुत से बौद्ध स्रोत के चिह्न अप्रभावित रूप में छूट गये हैं। यद्यपि अब यह केवल ५ खण्डों (तन्त्रों) में ही विभाजित है तथापि सबसे पुराने अनुवाद के प्रमाण से यह प्रकट होता है कि इसमें एक समय १२ खण्ड विद्यमान थे। हम नहीं कह सकते कि इसका मौलिक नाम क्या था, किन्तु यह बात असम्भव नहीं हो सकती जो कहा गया है कि इसे दो सियारों करटक और दयनक के नाम से पुकारा गया जो दोनों सियार प्रथम तन्त्र में

प्रमुख भूमिका निभाते हैं, क्योंकि सीरिया में हुए प्राचीन भाषान्तर में इसका शीर्षक (नाम) है 'कलिलग और दमनग' और अरबी के अनुवाद में इसे 'कलिलक और दमनह कहा गया है।

मौलिक रूप में पंचतन्त्र का उद्देश्य सम्भवतः एक राजा के राजकुमारों के लिए नीति और व्यवहार के सिद्धान्तों की शिक्षा देने के लिए एक सार पुस्तिका तैयार करना था जो एक प्रकार से 'राजकुमारों का दर्पण' था क्योंकि इसकी प्रस्तावना दक्षिण भारत के एक नगर महिला रोप्य के राजा अमर शक्ति की कथा से प्रारम्भ होती है।[1] राजा एक ऐसे विद्वान की खोज में है जो उसके तीन मूर्ख और आलसी पुत्रों को प्रशिक्षण देने के योग्य हो। वह अन्त में एक ब्राह्मण को प्राप्त कर लेता है जो राजकुमारों को छः महीने में ऐसी पर्याप्त शिक्षा देना स्वीकार कर लेता है कि जिससे राजकुमार नीति शास्त्र में और सभी का अतिक्रमण कर सकें। वह पंचतन्त्र की रचना कर और उसे युवा राजकुमारों को सुनाकर इस उद्देश्य को ठीक रूप में पूरा कर लेता है।

पहले तन्त्र का नाम है मित्रभेद या 'मित्रों का पृथक्त्व'। यह एक बैल और शेर की कथा है, वे दोनों जंगल में एक दूसरे से दो सियारों द्वारा मिलाये गये है और निकटवर्ती मित्र बन जाते हैं। उन सियारों में एक के मन में स्वयं को उपेक्षित समझने की भावना आ जाती है। वह षड्यन्त्र प्रारम्भ करता है और दोनों (सिंह और बैल) से अलग-अलग कहता है कि दोनों एक दूसरे के प्रति कूल योजना बना रहे है। परिणाम स्वरूप सिंह से युद्ध करने में बैल मर जाता है और सियार सिंह का मन्त्री बन जाता है तथा अपने षड्यन्त्र के फल का सानन्द उपभोग करता है। दूसरा तन्त्र मित्र सम्प्राप्ति अथवा 'मित्रों की उपलब्धि कहलाता है। इसकी प्रधान कथा कछुआ, हिरण; कौआ और चूहे के साहसपूर्ण कार्यों को लेकर चलती है। विवेक के साथ की हुई न्याय्य मित्रताओं के लाभों की निदर्शन पूर्वक व्याख्या करना इसका मन्तव्य है। तीसरे तन्त्र काकोलूकीय या 'कौओं और उल्लुओं का युद्ध' में यह बात दिखलाई गई है कि जो पुराने शत्रु हैं उनके मध्य में सम्पादित की हुई मित्रता में क्या खतरे होते हैं। चौथे तन्त्र का शीर्षक है लब्ध प्रणाश या 'जो वस्तु प्राप्त हो चुकी है उस की हानि'। यह तन्त्र बन्दर और मगर की मुख्य कहानी के द्वारा दृष्टान्त के माध्यम से इस तथ्य की व्याख्या करता है कि किस प्रकार चाटुकारिता से

१. अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्यं नाम नगरम्। तत्र——अमर कीर्ति र्नाम राजा बभूव।

दूसरों को मूर्ख बनाया जा सकता है जिससे वे अपनी प्राप्त की हुई वस्तु से वञ्चित किये जा सकें। पांचवें तन्त्र का शीर्षक है अपरीक्षित कारक या 'बिना छानबीन के कार्य'। इसमें एक नाई के अनुभवों से सम्बन्धित कुछ संछयक कहानियां है। नाई मामले की सभी परिस्थितियों पर विचार करने में असफल होने के कारण दुःख में पड़ता है।

पुस्तक एक विलक्षण अतिसूक्ष्म आनन्दमयी मनोवृत्ति से ओत-प्रोत है जो पशु जगत को सभी प्रकार के मानवीय क्रिया कलापों में परिवर्तित करती है। इस प्रकार पशु स्वयं को वेद पाठ में और धार्मिक कृत्यों के प्रयोग में लगा देते हैं। वे देवताओं, सन्तों, और प्रतिनिधि पात्रों के विषय में विमर्श करने में संलग्न हो जाते हैं या नैतिकता के सूक्ष्म तत्वों के विषय में विचारों का आदानप्रदान करते हैं। किन्तु एकदम उनकी भयानक पाशववृत्ति फूट पड़ती है। उदाहरण के लिए एक गौरैया और एक बन्दर के झगड़े में मध्यस्थता करने के लिए विलाव बुलाया जाता है। वह जीवन की असारता और गुणों की सर्वोत्कृष्ट आवश्यकता के एक लम्बे व्याख्यान द्वारा विवादियों पर इतना विश्वास प्रकट कर देता है कि वे विवेक के अच्छे शब्द निकट से सुनने के लिए उसके पास तक चले आते हैं। वह एक क्षण में विवादियों में एक को पंजों से और दूसरे को दांतों से पकड़ कर उन दोनों को खा जाता है।[1] अभिमान में भरे हुए गायक गधे की कहानी बहुत ही मनोरंजक है। चन्द्रमा से प्रकाशित एक रात वह ककड़ी के खेत में प्रवेश कर जाता है, वह गाने की प्रेरणा का अनुभव करता है, उसका मित्र सियार जब उसे मना करता है तब वह उसे संगीत के सम्मोहन पर एक भाषण के द्वारा उसको उत्तर देता है। तब वह रेकने लगता है जिससे रखवाले जाग जाते हैं और उस पर एक जोरदार मार पड़ती है।[2]

अत्यधिक व्यङ्ग्य और मजाकिया लहजे में विभिन्न प्रकार के बहुत से मानव दोषों को खोलकर कहा गया है; अन्य दोषों के साथ ब्राह्मणों के पाखण्ड और लालच, राजदरबारियों के षड्यन्त्र परक चरित्र और स्त्रियों के विश्वास घात के दोष प्रमुख हैं। यहां ब्राह्मणों के मिथ्याभिमान के प्रतिकूल प्रतिक्रिया स्वरूप एक शक्तिशाली सार्वजनिक भावना को अभिव्यक्ति प्रदान की गई है और जीवन की अखण्ड निर्दोष एवं निरामय दृष्टि का सर्वत्र उन्मेष छाया हुआ है जिससे भारतीय साहित्य की अनेक शाखाओं में उपलब्ध होने वाली अत्युक्ति की प्रवृत्ति के विरोध में ताजगी लाने वाली परिस्थिति का निर्माण किया गया है।

---

१. तीसरे तन्त्र काकोलूकीय की दूसरी कथा।
२. पाँचवे तन्त्र अपरीक्षित कारक की छठी कथा।

प्रथमतन्त्र से ली हुई एक छोटी-सी कहानी का अनुवाद नीचे दिया जा रहा है जो पन्चतन्त्र की शैली के एक नमूने का प्रतिनिधित्व करेगा[1] —

'किसी वन्य प्रदेश में बन्दरों का एक झुण्ड रहता था । एक बार शीतऋतु में शीतल वायु के सम्पर्क के कारण उनके शरीर कांप रहे थे और वर्षा की धारायें जैसे उनके तमाचे लगा रहीं थीं, उन्हें विश्राम नहीं मिल रहा था । इस लिए कुछ वानरों ने गुन्जाफलों को एकत्र कर लिया जोकि आग की चिनगारी जैसे होते है वे उसके चारों ओर खड़े हो गए और आग प्राप्त करने के लिए उन्हें फूंकने लगे । अब सुई के समान मुख वाली पक्षी उनके इस व्यर्थ के उद्योग को देखकर चिल्ला पड़ी—'अरे तुम बड़े मूर्ख हो' ये आग की चिनगारियां नही हैं ये गुन्जाफल हैं, अतएव यह व्यर्थ का उद्योग कैसा ? तुम इस प्रकार कभी भी अपने को शीत से रक्षित नहीं कर सकते । अधिक अच्छा हो कि तुम जंगल में एक ऐसा स्थान देखो जो वायु से सुरक्षित हो या एक गुफा देखो या पर्वत की कन्दरा देखो । अब भी शक्तिशाली बरसाती बादल दिखलाई पड़ रहे हैं ।' इस पर उनमें एक बुड्ढे बन्दर ने कहा -'अरी, तेरा इससे क्या मतलब ? भाग यहाँ से—एक कथन है—

मुहुर्विघ्नितकर्माणं द्यूतकारंपराजितम् ।
नालापयेद्विवेकज्ञो यदोच्छेत्सिद्धिमात्मनः ।।४१८।।

(एक व्यक्ति जो निर्णय कर सकने का ज्ञान रखता है तथा जो अपनी सफलता चाहता है उसे ऐसे लोगों से सम्भाषण नहीं करना चाहिए जिसके कार्य में निरन्तर बिघ्न पड़ रहा हो अथवा किसी द्यूतकार से भी संबोधित नहीं होना चाहिए जो द्यूत में पराजित हो गया हो ।)

और दूसरा कथन-

आखेटकं वृथाक्लेशं मूर्खं व्यसन संस्थितम् ।
आलापयति यो मूढ़ः स गच्छति पराभवम् ।।४१६।।

(जो मनुष्य किसी ऐसे शिकारी से सलाप में संलग्न होता है जिसका शिकार खेलना व्यर्थ गया हो या किसी ऐसे मूर्ख से बातचीत करता है जो किसी विनाश की परिस्थिति में पड़ गया हो उस मनुष्य को शोक और दुःख की अवस्था में पड़ना पड़ता है ।)

फिर भी पक्षी उसकी ओर बिना किसी प्रकार का ध्यान दिए हुए बन्दरों से निरन्तर कहता रहा—'अरे ? यह बेमतलब का प्रयास क्यों ? इस प्रकार

---

१. प्रथम तन्त्र मित्रभेद कथा १७

जब वह एक क्षण के लिए भी बड़बड़ाने से नहीं रुकी तब उसके व्यर्थ के उद्योग पर रुष्ट होकर बन्दरों में एक ने उसे पंखों में पकड़ लिया और एक पत्थर पर पटक दिया और इस प्रकार वह मर गई।

इसलिये मैं कहता हूं—

नानम्यं नमते दारु नाश्मनि स्यात् क्षुरक्रिया।
सूचीमुखि विजानीहि नाशिष्यायोपदिश्यते ।।४१७।।

(ऐसी लकड़ी जो झुकने वाली नहीं है झुकाई नहीं जा सकती; एक उस्तरा एक पत्थर को काट नहीं सकता। हे सूचीमुखी इस बात को भली भांति समझ लो – जो व्यक्ति सीखेगा नहीं उसको उपदेश देने का प्रयत्न मत करो।)

हितोपदेश

छोटी कहानियों का एक वैसा ही संग्रह हितोपदेश अथवा 'कल्याण कारक सम्मति' के नाम से प्रसिद्ध है जो अपने अन्तर्गत गुणों के होने के कारण भारत में संस्कृत साहित्य की सर्वाधिक प्रसिद्ध और सर्वाधिक लोक प्रिय रचनाओं में एक है और जो शिक्षण के उद्देश्य के लिए उपयुक्तता के कारण इंग्लैण्ड में संस्कृताध्ययन का प्रारम्भ करने वाले प्रायः प्रत्येक व्यक्ति द्वारा पढ़ा जाता है। यह प्रधानतया पंचतंत्र पर आधारित है जिसमें इसकी ४३ कहानियों में २५ पाई जाती हैं। प्रधान रूप से पुराने संग्रह के प्रथम तीन तन्त्रों से वस्तु का उपादान किया गया है, क्योंकि वाघ की खाल और गदहे वाली केवल एक ही कहानी चौथे तन्त्र से ली गई है[1] और पांचवे तन्त्र से केवल तीन कहानियां ली गई हैं। प्रस्तावना पन्चतन्त्र की प्रस्तावना के समान ही है। किन्तु मूर्ख तथा दुष्ट दुराचारी राजकुमारों का पिता यहां पर पाटलिपुत्र (पटना) का राजा सुदर्शन बतलाया गया है। हितोपदेश चार भागों में विभाजित है। प्रथम दो के ढांचा और नाम पन्चतन्त्र के प्रथम दो से मेल खाते हैं, किन्तु उनका क्रम बदल दिया गया है। तीसरे और चौथे भाग क्रमशः युद्ध और शान्ति के नाम से पुकारे जाते हैं जिनमें मुख्य कथा हंस और मोर के संघर्ष और सन्धि का वर्णन करती है।

सूत्रात्मक सूक्तियों के संचय का तत्त्व पन्चतन्त्र की अपेक्षा इसमें अधिक मुखर है और सम्मिलित किए गये पद्यों की संख्या प्रायः इतनी अधिक हो जाती है कि गद्य में वर्णन की प्रगति को गम्भीर रूप में व्याहत कर देती है। फिर भी सचमुच इन पद्यों में बुद्धिमत्ता पूर्ण उपदेश और सुन्दर विचार भरे पड़े हैं।

---

१. तीसरा भाग कहानी ३, वस्तुतः यह कहानी पंचतन्त्र के पांचवें तन्त्र में है।

चौथे खण्ड के अन्त के निकट पद्यों में मानव जीवन की क्षण भंगुरता का वर्णन किया गया है, इन पद्यों का अपना स्वयं चिन्तामिश्रित विचारोतेजक सौन्दर्य विद्यमान है। निम्न लिखित दो पद्य नमूने का काम पूरा करेंगे—

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महार्णवे।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वद्भूतसमागमः ॥६८॥

(जैसे शक्ति शाली महासागर की लहरों में दो बहने वाले लकड़ी के लट्ठे एक दूसरे के निकट आ जाते हैं (मिलकर बहते हैं) और मिलने के बाद सर्वदा के लिए अलग हो जाते हैं, इसी प्रकार जीवित वस्तुयें थोड़े समय के लिए मिलतीं हैं।)

व्रजन्ति न निवर्तन्ते स्रोतांसि सरितां यथा।
आयुरादाय मर्त्यानां तथा रात्र्यहनी सदा ॥७५॥

(जैसे नदियों की धारायें आगे को ही बहती चली जाती हैं और कभी भी दूसरी बार लौटती नहीं है, इसी प्रकार प्रकार प्रत्येक मरण धर्मा मानवों के जीवन को रात और दिन वहन कर ले जाते ही रहते हैं।)

न तो यह निश्चय है कि हितोपदेश का लेखक कौन था और न इसके रचनाकाल के विषय में इससे अधिक कुछ कहा जा सकता है कि यह ५०० वर्ष से अधिक पुराना है, क्योंकि इसकी सर्वप्राचीन ज्ञात पाण्डुलिपि १३७३ ए. डी. में लिखी गई थी।

कामन्दक का नीतिसार

क्योंकि पंचतन्त्र और हितोपदेश दोनों ही मौलिक रूप में राजाओं को घरेलू और विदेश नीति की शिक्षा देने के मन्तव्य से लिखे गये गुटके थे इसलिए वे साहित्य की उस विधा के अन्तर्गत आते हैं जिसको हिन्दू लोग नीति शास्त्र या 'राजनैतिक सदाचार का विज्ञान' कहते हैं। शुद्ध रूप में छन्दोबद्ध निबन्ध जो सीधे कूटनीति के सिद्धान्तों का विवेचन करता है वह है—कामन्दक का नीतिसार या 'व्यवहार का मूलतत्त्व'। हितोपदेश के लेखक ने जिन सूक्तियों के उद्धरण दिये हैं उनके स्रोतों में एक यह (कामन्दक का नीतिसार) भी है।

वेतालपञ्चविंशति

मनोरम एवं अभिजात परीकथाओं का संग्रह जो कि पुराने एवं पूर्वी रंगों से अत्यधिक ओत प्रोत है वेताल पंचविंशति या 'वेताल की पच्चीस कहानियाँ इस नाम से प्रसिद्ध है। वेताल (एक पिशाच जो मुर्दों में रहने वाला समझा जाता है) इस संग्रह का ढांचा संक्षेप में निम्नलिखित प्रकार का है–एक योगी महाराज विक्रम को एक वृक्ष से एक शव को उतारने और ढोकर बिना एक

शब्द बोले हुये अर्ध रात्रि में श्मशान तक ले आने का आदेश देता है जहां पर उच्चकोटि की जादू की शक्ति प्राप्त करने के लिए कतिपय विधियों का सम्पादन करना है। जैसे ही महाराज शव को लेकर अपने कन्धे पर रखकर आगे बढ़ते हैं एक वेताल जो उस शव में बैठा है उसे एक परी की कहानी सुनाना प्रारम्भ कर देता है। राजा द्वारा असावधानता से किसी प्रश्न का उत्तर देने पर शव अदृश्य हो जाता है और पुनः वृक्ष पर लटकता दृष्टिगोचर होता है। राजा उसको लाने के लिए पुनः उसकी ओर जाते हैं और यह पद्धति बार-बार अपनाई जाती है जब तक वेताल २५ कहानियां कह लेता है। इनमें से प्रत्येक इस प्रकार तैयार की गई है कि इसका अन्त एक अति सूक्ष्म विदग्ध समस्या में होता है जिस पर राजा से अपनी सम्मति देने के लिये पूछा जाता है जो कहानियां इस रचना में विद्यमान हैं वे अंग्रेज पाठकों को विक्रम एण्ड वैम्पायर' शीर्षक से ज्ञात हैं।

सिंहासन द्वात्रिंशिका

परी कथाओं का एक दूसरा संग्रह सिंहासनद्वात्रिंशिका अर्थात् शेर स्वरूप आसन 'सिंहासन' की ३२ कहानियां' नाम से प्रसिद्ध है जिसका एक दूसरा नाम विक्रमचरित या 'विक्रम के साहसिक कार्य' भी है। यहां यह विक्रम का सिंहासन है जो कहानियां कहता है। यह और पिछला ये दोनों संग्रह बौद्धमूल के हैं।

शुकसप्तति

इस प्रकार की तीसरी रचना शुकसप्तति या 'तोते की ७० कहानियां' नाम से प्रसिद्ध है। यहां एक स्त्री की कथा है जिसका पति विदेशों में यात्रा करता रहता है और उस स्त्री ने दूसरे पुरुषों के पीछे भागने का विचार बना लिया है। वह परामर्श के लिए अपने पति के बुद्धिमान तोते की ओर उन्मुख होती है। तोता बाहर से तो उसकी योजना का समर्थन करता मालूम पड़ता है किन्तु उन विपत्तियों के लिए भी आगाह करता है जिनकी ओर वह दौड़ रही है और उससे वादा करा लेता है कि तब तक वह किसी जार के पास न तो जायेगी और न उससे मिलेगी जब तक वह स्वयं को उन कठिनाइयों से बचा नहीं लेगी जिनमें अमुक अमुक व्यक्ति पड़ गए थे। जब उससे उस कहानी को सुनाने की प्रार्थना की जाती है तब वह सुनाता है किन्तु केवल वहां तक जहां पर दुविधा सामने आ जाती है और जब वह उस स्त्री से पूछता है कि इस स्थिति में सम्बन्धित व्यक्ति को कौन सा मार्ग अपनाना चाहिए। क्योंकि वह अनुमान नहीं लगा पाती तब तोता उसे इस शर्त पर बतलाने का वादा

करता है कि स्त्री उस रात घर पर ही रहे। इसी एक ही रास्ते पर ७० दिन बीत जाते हैं जबकि उसका पति लौट आता है।

कथासरित्सागर

ऊपर परी कथाओं के जिन तीन संग्रहों का वर्णन किया गया वे तीनों गद्य में और तुलनात्मक दृष्टि से छोटे हैं। हां एक दूसरा संग्रह और है जो विशेष महत्त्व का है जो छन्द में रचा गया है और बहुत अधिक लम्बाई वाला है, क्योंकि इसमें २२०·० श्लोकों से कम नहीं हैं जो महाभारत के लगभग एक-चौथाई के बराबर है या इलियड और ओडेसी दोनों को मिलाकर उससे दूने के बराबर है। यह है कथासरित्सागर या 'कहानियों की नदियों का समुद्र'। यह १२४ खण्डों में विभाजित है जिन्हें पुस्तक के शीर्षक के मेल में तरंग या 'लहर' कहा गया है। इनसे बिल्कुल पृथक् एक स्वतन्त्र विभाग है जिसमें १८ खण्ड हैं और जिन्हें लम्भक कहा गया है।

लेखक काश्मीरी सोमदेव था जिसने १०७० ए० डी० के लगभग अपनी कृति की रचना की। यद्यपि वह स्वयं ब्राह्मण था फिर भी उसकी रचना में स्रोत के रूप में बौद्ध पद्धति के अनेक चिन्ह ही नहीं पाये जाते अपितु सीधे बौद्ध जातकों के लक्ष्य निर्देश भी पाये जाते हैं। वे कहते हैं कि उनकी रचना का वास्तविक स्रोत बृहत्कथा या 'बड़ी कथा' है जिसको बाण गुणाढ्य की रचना बतलाता है[1] और दण्डी ने जिससे उद्धरण दिये हैं। बुलहर की सम्मति में यह मौलिक रचना (बृहत्कथा) ईशा की पहली या दूसरी शताब्दी पीछे तक जानी चाहिए।

बृहत्कथामञ्जरी

कुछ पहले इस रचना का पुनर्नवीनीकरण लगभग १०३७ ए० डी० में सोमदेव के समसामयिक क्षेमेन्द्र व्यासदास नामक कवि द्वारा किया गया था। इसका शीर्षक है बृहत्कथामञ्जरी और लम्बाई में जितना लम्बा कथासरित्सागर है यह उसका लगभग एक तिहाई है। क्षेमेन्द्र और सोमदेव ने एक दूसरे से पृथक् स्वतन्त्र रूप में रचनायें लिखीं और दोनों कहते हैं कि जिस मौलिक रचना से उन्होंने अनुवाद किया है वह पैशाची भाषा या भूत भाषा में लिखी

---

१. समुद्दीपितकन्दर्पा कृतगौरीप्रसाधना।
हरलीलेव नो कस्य विस्मयाय बृहत्कथा॥
श्रवद्बाणद्वितीयेन नमदाकारधारिणा।
धनुषेव गुणढ्येन निश्शेषो रञ्जितो जनः॥

गई थी। यह शब्द निम्नकोटि की प्राकृत भाषा के लिए प्रयुक्त किया जाता है जो बहुत ही अशिक्षित, बहिष्कृत और अवनत लोगों द्वारा बोली जाती थी। कथासरित्सागर (तरंग ६० से ६४ तक) में पञ्चतन्त्र के प्रथम तीन तन्त्रों का समाहार किया गया प्राप्त होता है। इस बात पर ध्यान देना मनोरंजक है कि सोमदेव के समय में इन तीन तन्त्रों का वही रूप था जो पहलवी में अनुवाद (लगभग ५७० ए० डी०) के समय में था।

सोमदेव की रचना में बहुत सी आनन्ददायक कहानियां हैं। उदाहरण के लिए एक उस राजा की कहानी है जो संस्कृत व्याकरण के उच्चारण नियमों की अनभिज्ञता के कारण अपनी पत्नी की कही हुई उक्ति को गलत समझ गया और लज्जा से अभिभूत होकर या तो संस्कृत का एक अच्छा विद्वान बनने या प्रयत्न में मर जाने का दृढ़ निश्चय कर लिया। अत्यधिक प्रसिद्ध कहानियों में राजा शिवि की कहानी है जिसने एक बाज से एक कबूतर को बचाने के लिए अपना जीवन दे दिया। यह एक जातक है और बौद्धमूर्तिकला में इसका प्रायः प्रतिनिधित्व किया जाता है। उदाहरण के लिए अमरावती स्तूप पर (इसकी मूर्ति प्राप्त होती है) जिसका समय हमारे ईशवी सन के प्रारम्भ से जोड़ा जाता है। यह (रचना) चीनी और उसी भांति मुसलमानी स्वरूप में भी पायी जाती है।

नीति सम्बन्धी कविता

विमर्शात्मक बिम्बग्रहण की ओर भारतीय मानसिकता की उन्मुखता परक प्रवृत्ति ने केवल धर्म, दर्शन और विज्ञान के क्षेत्र में ही महत्त्वपूर्ण परिणाम उत्पन्न नहीं किये किन्तु कविता में बहुतायत के साथ अभिव्यक्ति प्राप्त की उसकी अपेक्षा भी अधिक जिसके विषय में किसी दूसरे राष्ट्र का साहित्य शेखी बघार सकता है। संस्कृत साहित्य के अधिकांश विभिन्न विभागों में असंख्य सूक्तियां बिखरी पड़ी हैं जिनमें विवेकपूर्ण, शानदार, प्रभावशाली और मौलिक विचार प्रायः अत्यधिक मात्रा में सुसज्जित रूप में परिष्कृत किए हुए और कविता के आवरण में दृष्टिगत हो जाते हैं। कानूनी पुस्तकों (स्मृतियों) में ये अत्यधिक परिमाण में है। महाकाव्यों और नाटकों में ये नायकों, सन्तों और देवताओं के ओठों पर अधिकतर विद्यमान रहते हैं और लघुकथाओं में वे निरन्तर बाघों, सियारों और बिल्लियों द्वारा उच्चरित किये जाते हैं। सबसे ऊपर महाभारत जो एक पवित्र हिन्दू के लिए नैतिकता के विश्वकोश का स्वरूप धारण करता है एक लोकोक्तिमूलक दर्शन की अक्षय खान है। फिर भी यह स्वाभाविक है कि आचार सम्बन्धी सिद्धान्त वाक्य सर्वाधिक बहुतायत से

पञ्चतन्त्र और हितोपदेश जैसी उन पुस्तकों में सम्मिलित किये जायं जिनका उद्देश्य प्रायोगिक नैतिक दृष्टि से हस्तपुस्तिका (गुटिका) की दृष्टि से लिखी गई।

संस्कृत साहित्य में अभिव्यक्ति की इस विधा के सार्वभौम होने के कारण बहुत ही कम पुस्तकें ऐसी हैं जिनमें एकमात्र कवित्वमय सूक्तियां लिखी गईं। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दो संग्रह हैं जो अत्यधिक प्रतिभा सम्पन्न भर्तृहरि ने लिखे हैं—जिनके शीर्षक हैं—क्रमश: नीतिशतक या व्यवहार का सैकड़ा' और वैराग्यशतक या 'त्याग का सैकड़ा'। दूसरे हैं—शान्तिशतक या 'शान्ति का सैकड़ा' यह काश्मीरी कवि सिल्हन का लिखा है; मोहमुद्गर या 'मूर्खता पर हथौड़ा' यह एक छोटी पुस्तक है जो सासारिक कामनाओं के परित्याग की सिफारिश करती है भ्रमवश इसकी रचना का श्रेय शंकराचार्य को दिया जाता है और चाणक्यशतक 'चाणक्य का सैकड़ा' इसका विश्रुत लेखक भारत में कूटनीति के अधिकारी के रूप में प्रसिद्ध था और मुद्राराक्षस नामक राजनैतिक नाटक का प्रमुख पात्र है। नीतिमञ्जरी या 'व्यवहार की कलियों का गुच्छा' जो अब तक प्रकाशित नहीं हो सका है और जो विचित्र प्रकार का एक संग्रह है। नैतिक सूक्तियां इसमें हैं जिनका चित्रण कहानियों से किया गया है और वे कहानियां एकमात्र ऋग्वेद से ली गई हैं। इसके लगभग २०० श्लोक हैं और यह द्या द्विवेदी नामक लेखक की रचना है जिसने अपनी कृति टीका के साथ प्रस्तुत की है। बाद वाली रचना (टीका) में उसने बृहद्देवता, ऋग्वेद पर सायण भाष्य और दूसरे लेखकों के उद्धरण दिए हैं।

संस्कृत की कतिपय आधुनिक चयनिकायें भी हैं जिनमें अतीत की लगभग सच्ची घटनाओं की छोटी छोटी सूक्ति परक कवितायें सम्मिलित हैं इनमें एक है श्रीधर दास की सदुक्तिकर्णामृत या 'कानों के लिए अच्छी उक्तियों का अमृत'। इसमें ४४६ कवियों के उद्धरण दिए गए हैं जो अधिकांश बंगाली हैं। यह संग्रह १२०५ ए० डी० में सङ्कलित किया गया था। शाङ्र्गधर पद्धति या शाङ्र्गधर की चयनिका' जिसका रचनाकाल १४वीं शताब्दी है। इसमें ६००० पद्य हैं जो २६४ कवियों से लिए गए हैं। वल्लभदेव द्वारा संकलित सुभाषितावली या 'अच्छे कथनों की श्रेणी' में ३५०० पद्य हैं जो ३५० कवियों से लिए

---

१. पाइलोस के एक पुराने राजा, ट्राय के एक यूनानी राजा जो अपनी वाचालता, बुद्धिमत्ता और लम्बे जीवन के लिए प्रसिद्ध था।

(चेम्बर्स डिक्शनरी)

गए हैं। संस्कृत की सूत्रप्राय रचनाओं में जो सर्वोत्तम है उसका संग्रह बोथलिङ्क ने इण्डिश्च प्रूचे अर्थात् 'भारतीयों का अमृत' नामक पुस्तक में किया है। ये भारतीयों के नेष्टर[1] हैं। इस रचना में मूलपाठ्य है जिसका आलोचनात्मक शैली में सम्पादन किया गया है और साथ ही उसमें गद्य में जर्मन अनुवाद है। इसमें लगभग ८००० पद्य हैं जो शास्त्रीय संस्कृत के परिपूर्ण क्षेत्र से लिए गए हैं और प्रारम्भिक शब्द के वर्णानुक्रम के अनुसार व्यवस्थित किए गए हैं।

धम्मपद यद्यपि पाली में लिखा गया है तथापि यहां पर उसका उल्लेख किया गया जा सकता है। यह एक संग्रह है जिसमें बौद्ध साहित्य में सर्वाधिक सुन्दर, परिपूर्ण और कवित्वमय विचारों का सूत्रात्मक प्रतिनिधित्व किया गया है।

इस समस्त कविता में केन्द्रीय विचार तत्त्व मानव जीवन की असारता का सिद्धान्त है जिसका विकास बौद्धधर्म के उत्थान के पहले ई० पू० ६ठी शताब्दी में हुआ था और तब से लेकर यह भारतीय विचारधारा पर छाया रहा। यहां हमको पढ़ाया जाता है कि इच्छाओं के परित्याग और संसार से अवकाश ग्रहण करने (सन्यास लेने) के अतिरिक्त विश्व में वास्तविक आनन्द नहीं है, कवि अति समृद्ध विलासमय सौन्दर्य अपनी आंखों से प्रकृति में चारों ओर फैला हुआ देखता है और उनके आकर्षण का अनुभव करता है, किन्तु वह उसकी ओर से दुःखी और निराश होकर अपनी दृष्टि फेर लेता है तथा मस्तिष्क की शान्ति और चिरस्थायी आनन्द की तलाश में जंगल के एकान्त की ओर मुड़ जाता है। इसीलिए प्रायः एक पवित्र वानप्रस्थ का, चित्र जो ध्यानमग्न अवस्था में ही रहता है, उत्साह के साथ खींचा जाता है। सभी इच्छाओं से स्वतन्त्र होकर वह एक राजा के समान प्रसन्न रहता है जबकि भूमि उसका पर्यंक होती है, उसकी भुजायें उसकी तकिया, आसमान उसका शामियाना, और चन्द्रमा उसका दीपक बन जाता है, जबकि त्यागवृत्ति उसकी सहधर्मिणी और दिशाओं की परिधि उसकी नौकरानी होती है जो उस पर वायु का पंखा करती है।[1] कोई भी भारतीय कवि (पाठक में) उससे अधिक शक्ति से सन्यासवृत्ति का उपदेशमय सञ्चारण नहीं करता जितना

---

१. महाशय्या पृथ्वी विपुलमुपधानं भुजलता।
वितानं चाकाशो व्यजनमनुकूलोऽयमनिलः॥
शरच्चन्द्रो दीपो विरतिवनितासंगमुदितः।
सुखीशान्तः शेते मुनिरतनुभूतिर्मुनिरिव ॥९४॥
(वैराग्य शतक)

भर्तृहरि करते हैं। हास्यपरक और व्यङ्ग्यात्मक संस्पर्श जो समय समय पर ये अपनी कविता में समाविष्ट करते हैं वे निस्सन्देह इस अद्भुत व्यक्ति के चरित्र के कारण है जो अपनी समस्त जीवनचर्या में जीवन भर आध्यात्मिकता और सांसारिकता में घूमता रहा।

फिर भी परित्याग ही एक मात्र उद्देश्य नहीं है जिसके लिए भौतिक वस्तुओं की अनित्यता भारतीय कवियों को सूत्रात्मक, सारवत् सरस सूक्तियों की ओर प्रेरित करती है। गुणों के अनुपालन की आवश्यकता एक प्रायोगिक पाठ है जिसको वे लोग ऐहलौकिक सत्ता की असारता से निष्कर्ष रूप में निकालते हैं और जो कि बहुत से उदार उपदेशों में अभिव्यक्ति प्राप्त करता है—

जलान्तश्चन्द्रचपलं जीवितं खलु देहिनाम्।
तथा विधमिति ज्ञात्वा शश्वत्कल्याणमाचरेत् (हितो० ४-१३३)

(वास्तव में मानव जीवन क्षण भंगुर है उस चन्द्र विम्व के समान जैसाकि जल के ऊपर दिखलाई पड़ता है। यह जानते हुए कि यह कथन कितना सत्य है किसी व्यक्ति को चाहिए कि वह उसी तत्त्व को व्यवहार में लाए जो कुछ अच्छा है।)

यह प्रायः कहा जाता है कि जब कोई व्यक्ति मरता है और सभी प्रिय-जनों को अपने पीछे छोढ़ जाता है केवल उसके सत्कर्म उसकी दूसरे जीवन की यात्रा में उसके साथ जाते हैं।[1] नहीं ही यह समझकर इस जीवन में पाप किया जाना चाहिए कि उसे कोई देख नहीं रहा क्योंकि उसके हृदय में निवास करने वाला पुराना यति इस कार्य को सर्वदा देखता रहता है क्योंकि यह यति अन्तः करण (सदसद्विवेक शक्ति) के लिए चित्रोपय भाषा में कहा गया है।

सार्वभौम सहिष्णुता की यह भावना और मानवता के प्रति प्रेम ऐसी भावना है जिसने बौद्ध धर्म को केवल जातियों के बन्धन के ही नहीं राष्ट्रीयता के भी ऊपर चरणन्यास करने के योग्य बनाया और इस प्रकार इसे सर्वप्राचीन विश्व धर्म बनने के योग्य बना दिया, यह भावना इस कविता में सर्वत्र श्वास प्रश्वास में प्रस्फुटित हो रही है। महाभारत में भी जो कि यद्यपि ब्राह्मणों की रचना है ऐसी उदार भावनायें विद्यमान हैं जैसे यह—

---

१. धनानि भूमौ पशवच गोष्ठे,
नारी गृहद्वारि जनाः श्मशाने।
देहश्चितायां परलोकमार्गे,
धर्मानुगो गच्छति जीव एकः॥

(उच्चवर्ग का एक व्यक्ति बहुमान प्राप्त नहीं करता यदि उसके अन्दर गुण नहीं हैं। जो शूद्र अपना कर्तव्य समझता है और भलीभांति उसका परिपालन भी करता है वह शूद्र भी सम्मान का अधिकारी है।)

महाभारत (१३, २६१०)

निम्नलिखित पद्य प्रकट करता है किस प्रकार भर्तृहरि अपने दृष्टिकोण में विश्व भावना से परिपूर्ण जगन्मित्र थे—

अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

('यह पुरुष हमारा निजी है और वह एक अपरिचित है' इस प्रकार का मिचार संकुचित मस्तिष्क वाले व्यक्ति करते हैं, अभिजात वर्ग के मस्तिष्क वाले व्यक्ति तो समस्त संसार को ही अपने सम्बन्धी के समान समझते हैं।)

किन्तु ये कवि मानवता की सीमा से भी आगे बढ जाते हैं और प्राणियों के सुख दुःख के साथ सहानुभूति की शिक्षा देते हैं—

(महाभारत १२-५९९७)

(किसी भी जीवित व्यक्ति को कार्यों में, विचारों में और शब्दों में हानि न पहुंचाना तथा परोपकार एवं उदारता का व्यवहार करना यह गुणों का चिरन्तन सिद्धान्त है।)

हितोपदेश में अच्छे और बुरे दोनों के प्रति एक समान कोमलता और सहनशीलता की इस प्रकार संस्तुति की गई है—

निर्गुणेष्वपि सत्त्वेषु दयां कुर्वन्ति साधवः।
नहि संहाते ज्योत्स्नां चन्द्रश्चाण्डालवेश्मनः॥ (हितो० १०६३)

(निराश्रित और गुणहीन जीवों के प्रति भी गुणों वाला और अच्छा व्यक्ति करुणा की भावना प्रकट करता है। चन्द्रमा हीन जाति के (चाण्डाल) व्यक्तियों के घर से भी अपना प्रकाश समेट नहीं लेता।)

फिर पञ्चतन्त्र इस प्रकार बदला लेने की भावना से पराङ्मुख करता है—

(जो लोग तुम्हें हानि पहुंचाते हैं उन्हें पीड़ित करने के लिए किसी समय बुरा व्यवहार करने की योजना मत बनाओ। वे उन वृक्षों की भांति जो नदी के तटों पर उगते हैं स्वयं ही किसी दिन गिर जायेंगे।)

गुणवान लोगों के अच्छे गुणों का प्रायः वर्णन किया गया है और बुराई कार्य करने वालों के चरित्र से तुलना की गई है। उदाहरण के लिए यह बात इससे सिद्ध होती है कि भर्तृहरि ने उपकार करने वालों के विनय के किस प्रकार उदाहरण दिए हैं—

भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमै —
र्नवाम्बुभि र्दूरविलम्बिनो घनाः ।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ।। नीतिशतक-७१

(वृक्ष अपने फलों के भार से नीचे की ओर को नम्र हो जाते हैं । बादल, जल से भारी होकर जिसको वे गिरायेंगे नीचे को झुक जाते हैं । उदारचरित्र वाले व्यक्ति सम्पत्ति के अभिमान में भरकर अपने सरों को ऊंचा नहीं उठाते । जो लोग एक निष्ठ होकर दूसरों के हित साधन में तत्पर हैं उनका व्यवहार इस प्रकार का होता है ।)

यहां सच्ची कित्रता के विषय में वहुत से अच्छे विचार और अच्छे लोगों से सम्पर्क बढ़ाने के मूल्याकन प्राय: सच्ची कविता के आवरण में सोदाहरण प्राप्त होते हैं । उदाहरण के लिए यह पञ्चतन्त्र से लिया गया है—

महाजनस्य सम्पर्कः कस्य नोन्नतिकारक. ।
पद्मपत्रस्थितं तोयं धत्ते मुक्ताफलश्रियम् ।।

काकोलूकीय-६१

(उच्चकोटि के शानदार मित्रों के सम्पर्क के द्वारा कौन व्यक्ति एक अधिक अच्छा मानव नहीं बना दिया जाता । कमल के पत्ते पर पड़ा एक जल विन्दु एक मुक्तामणि की शोभा को धारण करता हैं ।)

यह सम्भवतः स्वाभाविक ही है जो कविता इतने शक्तिशाली निराशावाद के रंग में रंगी हुई है उसमें स्त्रियों के विषय में और उनके चरित्र के विषय में वहुत से कड़ुए कथन विद्यमान हों । इस प्रकार का एक उदाहरण है कि उनका वर्णन प्रायः किस प्रकार किया गया है—

(स्त्रियों का प्रेम केवल एक क्षण के लिए वर्तमान रहता है—प्रातः कालीन वर्णों के समान या सायंकालीन रक्तिम आभा के समान । नदियों की धारा के समान उनके लक्ष्य कुटिल होते हैं । वे उसी प्रकार अस्थिर और चन्चल होती हैं जिस प्रकार विद्युल्लता का चंचल विलास । सर्पों के समान उन्हें (किसी का) विश्वास प्राप्त करने का कोई अधिकार नहीं होतां ।)

(कथा० ३७.१४३)

साथ ही कुछ ऐसे भी कतिपय परिच्छेद हैं जिनमें स्त्रीचरित्र का कुछ अधिक सहानुभूति के प्रकाश में प्रतिनिधित्व किया गया है और दूसरे लोग पतिव्रता स्त्रियों की प्रशंसा में गाने गाते हैं ।

यहां भी हमें दरिद्रता की दुर्दशा और वेतनभोगी दास वर्ग के अधिकार भ्रंश तथा मान भंग के विषय में बहुत ही सरस-सारगर्भित सूक्तियां मिलती हैं, जबकि गुणहीन व्यक्तियों की धन की शक्ति दिखलाई जाती है जो ऐसा स्वरूप बना लेते हैं मानों उनमें सारी योग्यताएं और सभी गुण विद्यमान हैं। उनके धन व्यय करने की शक्ति का कटुता के साथ व्यङ्ग्य और उपहासों में वर्णन किया जाता है।

जैसी कि आशा की जा सकती है कि सच्चे ज्ञान की बढ़ी-चढ़ी प्रशंसा अनेकशः नीति काव्य में प्राप्त होती हैं। इसकी तुलना एक सम्पन्न धनकोश से की जाती है जो सम्बन्धियों में नहीं बांटी जा सकती जिसको चोर नहीं चुरा सकते और जो दूसरों को बांट देने से भी कभी घटता नहीं।[1] दूसरी ओर पाण्डित्य दम्भ और ज्ञान के मिथ्याभियान पर घृणा डाली गई है। जिन लोगों ने बहुत सी पुस्तकें पढ लीं हैं किन्तु उनके अर्थों को नहीं समझा है उनकी तुलना चन्दन की लकड़ी से लदे गधे से की गई है जो केवल भार को समझता है किन्तु लदे हुए बोझ के मूल्य से परिचित नहीं।[2]

क्योंकि बुद्ध के आविर्भाव के पहले से ही भारतीय विचारधारा पर पुनर्जन्म के विश्वास की छाया छाई हुई थी यह स्वाभाविक ही है कि भाग्य का सिद्धान्त संस्कृत नीति काव्य में प्रमुखता प्राप्त कर लेता।[3] वास्तव में यहां पर प्रायः हमें पढने को मिलता है कि कोई भी व्यक्ति भाग्य के कार्यान्वियन से छुटकारा नहीं पा सकता। किन्तु साथ ही हमें निरन्तर उपदेश मिलता है कि हम इस सिद्धान्त (भाग्यवाद) के सहारे मानवीय प्रयत्नों में जड़ता न

---

१. न चौरहार्यं न च राजहार्यं
न भ्रातृभाज्यं न च भारकारि।
व्यये कृते वर्धत एव नित्यं,
विद्याधनं सर्वधनप्रधानम्॥

२. यथा खरश्चन्दन भारवाही,
भारस्य वेत्ता नतु चन्दनस्य
तथाहि शास्त्राणि बहून्यधीत्य,
चार्थेषु मूढाः खरवद्वहन्ति॥

३. भाग्यं फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषम्।

आने दें।[1] क्योंकि जैसाकि हितोपदेश में तथा अन्यत्र दिखलाया जा चुका है कि भाग्य पुराने जन्म के किए कार्यों के परिणाम के अतिरिक्त और कुछ नही है। अत एव प्रत्येक व्यक्ति ठीक आचरण के द्वारा अपने भविष्य के भाग्य को बना सकता है जिस प्रकार एक कुम्भकार मिट्टी के पिण्ड को बदल कर जैसा चाहता है वैसा स्वरूप दे सकता है। इस प्रकार मानव क्रिया-कलाप भाग्य का एक आवश्यक पूरक है। बाद का (भाग्य) पहले (प्रयत्नों) के बिना उससे अधिक आगे नहीं चल सकता जितना कि एक गाड़ी केवल एक पहिए पर आगे बढ़ सकती है।[2] यह बात हितोपदेश में कही गई है। इस सिद्धान्त का बहुत से उचित उदाहरणों के द्वारा उपदेश देने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार हितोपदेश के एक पद्य में यह निर्देश दिया गया है कि हिरण सोते हुए सिंह के मुख में नहीं घुस जाते,[3] दूसरे पद्य में यह प्रश्न किया गया है कि कौन व्यक्ति बिना प्रयत्न किये सरसों के दानों से तेल निकाल सकता है ?[4] अथवा जैसे महाभारत में एक स्थान पर लिखा है कि बिना मानव-प्रयत्न के भाग्य सफल नहीं बनाया जा सकता—उसी प्रकार जैसे खेत के बाहर बोया हुआ बीज फल नहीं दे सकता।

उन लोगों के लिए दृढता और स्थिरता के बहुत से प्रोत्साहन वाक्य विद्यमान हैं जो विरोधी भाग्य के आक्रमणों से कष्ट पा रहे हैं इस प्रकार का एक निम्नलिखित पद्य पञ्चतन्त्र से लिया गया है—

सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता ।
उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च ॥

(सम्पत्ति अथवा अच्छे भाग्य और विपत्ति में महान लोग सर्वदा एक रूप

---

१. उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः,
दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति ।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या,
यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्रदोषः ॥

२. यथा ह्येकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत् ।
एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिद्धयति ॥ —हितोपदेश

३. नहि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ।

४. तद्दैवमिति संचिन्त्य त्यजेन्नोद्योगमात्मनः ।
अनुद्योगेन कस्तैलं तिलानां प्राप्तुमर्हति ॥ १.३०

ही बने रहते हैं। अपने उदय काल में सूर्य लाल होता है और जब अस्त होने वाला होता है तब भी लाल ही रहता है।

नीति शास्त्रीय उपदेशात्मक कृतियों से जिन सूक्तियों का संकलन कर इस अध्याय में वर्णन किया गया है और जो दूसरे प्रकार के समस्त साहित्य में बिखरी पड़ी हैं उनमें ब्राह्मणों ने सदाचार दर्शन के क्षेत्र में जो मनोगत भाव अपनाए हैं उनको कभी भी व्यवस्थित विवेचन प्राप्त नहीं हुआ जैसाकि पाली साहित्य में बौद्ध धर्म को प्राप्त हुआ। अब हम जिस ओर उन्मुख हो रहे हैं, उसमें रूढिवादी हिन्दू दर्शन पद्धति में, नीति उपदेशों का कोई स्थान नहीं।

अध्याय-१५

दर्शन

भारतीय दार्शनिक विचारधारा के प्रादुर्भावों को ऋग्वेद के सर्वाधिक परवर्ती सूक्तों और अथर्ववेद में प्राप्त किया जा सकता है, इनका सम्बन्ध विश्व की उत्पत्ति की परिकल्पनाओं और उन सार्वकालिक सिद्धान्तों से है जिनके द्वारा इनकी रचना होती है और इसका संरक्षण किया जाता है। आगे बढ़कर यजुर्वेद में विश्वोत्पत्ति विषयक विलक्षण पौराणिक उपाख्यान विद्यमान हैं जिनमें कहा गया है किस प्रकार विश्व की रचना करने वाला सर्वशक्ति सम्पन्न यज्ञों के साधन से वस्तुओं की उत्पत्ति करता है। इन वैदिक विचारों के साथ निकटता से संबद्ध हैं और वस्तुतः अधिकांश रूप में अभिन्न हैं वे विचार जो आदिम उपनिषदों में आए हैं। यह दर्शन मुख्यरूप से सर्वदेववाद और मनः कल्पित बाह्य शून्यवाद वाला है। इसके साथ ही विचारों का नास्तिकवाद और अशास्त्रीय सम्प्रदाय उद्भूत हुआ जिसने छठी शताब्दी बी. सी. में दो बहुत बड़ी अशास्त्रीय धार्मिक पद्धतियों को आधारभूमि प्रदान की। ये सम्प्रदाय हैं—बौद्ध और जैन।

उपनिषदों का दर्शन एक अस्त-व्यस्त दशा में है, किन्तु इसकी तथा दूसरी वैचारिक शाखाओं की परिकल्पनायें घटाकर व्यवस्था में लाई गईं और हमारे सन् संवत् की प्रथम शताब्दी के आसपास से प्रारम्भ कर परवर्ती युग में गुटकाओं (छोटी-छोटी कृतियों) में व्यवस्थित कर दी गईं। सब मिलाकर नौ पद्धतियां पहचानी जा सकती हैं जिनमें कुछ अपने उद्भव में पीछे की ओर कम-से-कम छठी शताब्दी बी. सी. के प्रारम्भ तक निश्चय ही गई हुई होनी चाहिए। ९ पद्धतियों में जिनको शास्त्रानुयायी माना जा सकता है कम से कम चार मौलिक रूप में नास्तिक थे और उनमें एक निरन्तर वैसा ही रहा। इस तथ्य की विचित्रता उस समय दृष्टि से ओझल हो जाती है जब हम विचार करते हैं कि भारत में शास्त्रानुयायी होने की केवल यही शर्तें थीं कि ब्राह्मण जाति को विशेषाधिकार सम्पन्न जाति के रूप में स्वीकार कर लिया जाए और

वेद को नाम से ही भ्रांतिहीन (अप्रमादी) होने की स्वीकृति प्रदान करदी जाए। यह स्वीकृति न तो पूर्णरूप में वैदिक सिद्धान्तों से सहमति के रूप में है और न इसमें परमात्मा की सत्ता में विश्वास की स्वीकृति की आवश्कता होती है।[1] इन दो सीमाओं के साथ ब्राह्मणत्व में विचार की अधिकाधिक स्वाधीनता होती गई। इससे सर्वाधिक साहसपूर्ण परिकल्पनायें और लोकप्रतिष्ठित धर्म का सत्यापन हाथ में हाथ डाले साथ-साथ चलते रहे। यह इस सीमा तक हुआ कि किसी भी दूसरे देश में कभी भी इसकी तुलना नहीं की जा सकी। इन शास्त्र सम्मत पद्धतियों में कहीं अधिक सर्वाधिक यह महत्त्वपूर्ण है—सर्वदेववाद परक वेदान्त दर्शन, क्योंकि इसमें उपनिषदों के सिद्धान्तों की परम्परा को अक्षुण्ण रखा गया है, अतः वैदिककाल के अन्त से लेकर यह ब्राह्मणत्व का अधिकारी दर्शन रहा है और नास्तिक सांख्य जिसने विश्व के इतिहास में पहली बार मानव मस्तिष्क के पूर्ण स्वतन्त्र होने का दावा किया है और केवल तर्क की सहायता से अपनी समस्याओं के हल करने की चेष्टा की।

परम्परा से विरुद्ध विचार वाली दो धार्मिक पद्धतियां बौद्ध और जैन धर्म सांख्य पर आधारित थे। ये धर्म वेद के अधिकार को अस्वीकार करते थे और ब्राह्मणों की जातिप्रथा तथा उनकी आचारविधि का विरोध करते थे। चार्वाक का भौतिक दर्शन इससे भी अधिक परम्परावादी धर्म का विरोधी था जो और अधिक आगे बढ़कर उन सभी मौलिक सिद्धान्तों का भी विरोध करता था जो प्रत्येक भारतीय विचारधारा के सभी दूसरे सम्प्रदायों के लिए सामान्य थे चाहे वे रूढ़िवादी हों चाहे रूढ़ि विरोधी। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है पुर्नजन्म का सिद्धान्त जो कर्मों के फलप्रदान पर आधारित है और मोक्ष में विश्वास या पुर्नजन्म से मुक्ति को मान्यता देता है।

पुर्नजन्म का सिद्धान्त

यह सिद्धान्त है कि प्रत्येक व्यक्ति मृत्यु के वाद नई सत्ताओं की परम्परा से गुजरता है जो स्वर्ग में हो या नरक में या मनुष्य के शरीर में हो अथवा जानवरों के, या पृथ्वी पर पौधे के रूप में हो जहां इन्हें अपने पिछले जन्म में किए कार्यों का पुरुस्कार मिलता है या दण्ड। यह सिद्धान्त ई० पू० छठीं शताब्दी में इतनी दृढता के साथ स्थिर हो ही चुका था कि बुद्ध ने इस पर विना प्रश्न

---

१. आशय यह है कि वेद पूर्णसत्य है इतना मान लेना आस्तिक होने के किए पर्याप्त है—ईश्वर है या नहीं अथवा वेद में क्या लिखा है यह सब विचार करने की इस रूढ़िवाद में आवश्यकता नही होती।

किए इसे स्वीकार कर लिया। और इसे अपनी धार्मिक पद्धति में सन्निविष्ट कर दिया। इसने उन प्रारम्भिक समयों से लेकर आज दिन तक भारतीय विश्वास पर अधिकार जमाए रखा है। सम्भवतः मानव मस्तिष्क के इतिहास में इसकी अपेक्षा इससे अधिक मननीय सत्य और कोई दूसरा नहीं है कि इस विलक्षण सिद्धान्त को कभी भी दार्शनिक दृष्टि से प्रदर्शित नहीं किया गया और २५०० वर्ष पर्यन्त स्वप्रकाश (एवं स्वयं सिद्ध) रूप में स्वीकृत किया जाता रहा जिसको केवल भौतिक वादियों को छोड़कर भारत में प्रत्येक दार्शनिक विचारधारा या धार्मिक सम्प्रदाय में मान्यता प्राप्त रही। वैदिक आनन्दवाद स्वर्ग में ऐसे जीवन की ओर देखता था जिसमें सार्वकालिक आनन्द ही आनन्द हो। पुनर्जन्म के इस सिद्धान्त को मान लेने पर वह आनन्दवाद दुःखात्मक नियति में बदल गया जिसमें दीनतापूर्ण स्थिति की कभी समाप्त न होने वाली परम्परा ने स्थान ले लिया जो एक मृत्यु से दूसरी मृत्यु की ओर ले जाती थी। उपनिषदों के विकसित दृष्टिकोण की ओर संक्रमण शतपथ ब्राह्मण में प्राप्त किया जा सकता है। (दे० प्रथम खण्ड वैदिक युग पृ० २०८)।

जिस उच्चकोटि के सिद्धान्त ने यह परिवर्तन उपस्थित किया उसका प्रादुर्भाव किन कारणों से हुआ? ऋग्वेद में अन्तिम मण्डल की दो ऋचाओं के अतिरिक्त इस विषय का कोई चिह्न नहीं मिलता। उन दो ऋचाओं में कहा गया है कि मृत व्यक्ति की आत्मा या तो जल में या पौधो में जाती है। यह बात कठिनाई से सम्भव प्रतीत होती है कि इतने दूरगामी सिद्धान्त का विकास बाद के एक दो वैदिक कवियों के बिखरे हुए विचारों से हो गया हो। यह अधिक सम्भव मालूम पड़ता है कि आकर बसने वाले आर्यों ने इस दिशा में पहली प्रेरणा भारत के आदिवासी निवासियों से प्राप्त की हो जैसाकि भली-भांति ज्ञात है कि अर्धजंगली कबीलों में यह विश्वास अत्यधिक रूप में फैला है कि मृत्यु के बाद आत्मा वृक्षों के तनों में और जानवरों के शरीरों में घूमती है। इस प्रकार भारत में सन्थाल आज भी यह विश्वास करने वाले माने जाते हैं कि अच्छे आदमियों की आत्मा फल देने वाले वृक्षों में प्रवेश करती है। किन्तु इन जातियों में पुनर्जन्म का सिद्धान्त इस विश्वास के आगे नहीं जाता कि मानव अस्तित्व की निरन्तरता जीवों और वृक्षों में होती है। इसलिए यदि आर्य भारतीयों ने आदिवासियों से यह विचार उधार लिया है वे निश्चित रूप से इस श्रेय के अधिकारी हैं कि उन्होंने इस विचार के द्वारा अत्यन्त परिश्रम से सत्ता की न टूटने वाली शृंखला का सिद्धान्त आविष्कृत किया जिससे पाप पुण्य के प्रतिफलन का नैतिक सिद्धान्त सम्बन्धित था। भारतीय विचारधारा

पर इसने जो निश्चल (अपरिवर्तनीय) अधिकार प्राप्त कर लिया उसमें निसन्देह कारण यह है कि इससे जिन कार्यों को इस जीवन में नहीं किया उनके प्रतिफल के रूप में जो विपन्नता या सम्पन्नता प्राप्त होती है उसकी सन्तोषजनक व्याख्या हो जाती है। निश्चय ही पुनर्जन्म का भारतीय सिद्धान्त हम लोगों को यद्यपि विलक्षण मालूम पड़ता है फिर भी इसमें दोहरे गुण विद्यमान हैं। एक तो विश्व की नैतिक सरकार (परमात्मा) की न्यायशीलता के लिये वाञ्छित तत्त्व के प्रति सन्तोष हो जाता है और साथ ही मनुष्य में बहुमूल्य धार्मिक सिद्धान्त अन्तर्निविष्ट कर दिया जाता है जो प्रत्येक मनुष्य को अपने भाग्य का स्वयं विधाता बना देता है। क्योंकि जितने भी बुरे काम वर्तमान जीवन में किए जाते हैं उनका अवश्य प्रायश्चित्त कर दिया जाना चाहिए और इस प्रकार हर अच्छा काम अगले जीवन में पुरस्कृत किया जायेगा। जो कर्म किये ही जा चुके हैं उनके फलों के उपयोग से छुटकारा नहीं। क्योंकि महाभारत के शब्दों में "जैसे हजारों गायों के मध्य में बछड़ा मां को प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार पहले किए हुए कर्म कर्त्ता के पास चले जाते हैं।"[1]

सत्ता की परम्परा (संसार) के विषय में समझा जाता है कि इसका प्रारम्भ कभी नही हुआ, क्योंकि वर्तमान जीवन की प्रत्येक घटना पहले जीवन में किए हुए कर्म का परिणाम है। यही बात प्रत्येक पिछले जीवनों के विषय में भी सत्य समझी जानी चाहिए। यह क्रियाकलाप निस्सीम है। अपराध और सत्कर्म की बाद की प्रभावशीलता जो सामान्य रूप से अदृष्ट या 'न दिखालाई पड़ने वाला' कहलाता है, किन्तु प्रायः सामान्यरूप से कर्म 'चेष्टा या कार्य' कहा जाता है, विश्वास किया जाता है कि कर्म केवल व्यक्ति के जीवन को ही नियन्त्रित नहीं करता किन्तु संसार में प्रत्येक वस्तु के प्रारम्भ और विकास पर नियन्त्रण रखता है। क्योंकि जो कुछ होता है किसी प्राणी को ही प्रभावित नहीं करता और इस प्रकार प्रतिफल के सिद्धान्त के अनुसार उस प्राणी के किसी पुराने कार्य के कारण है। दूसरे शब्दों में प्रकृति के कार्यकलाप भी जीवित व्यक्तियों के अच्छे या बुरे कार्यों का परिणाम होते हैं। इस प्रकार कर्म की शक्ति के सामने किसी मनमाने दैवी नियम का कोई अवसर नहीं है जो कर्म प्रत्येक वस्तु पर लौहशृंखला जैसा नियंत्रण रखता है। इससे जो सिद्धान्त परमात्मा में विश्वास रखते हैं वे भी परमात्मा को इस बात का उत्तर-दायित्व प्रदान करते हैं कि वह प्रतिफल के नियम का दृढ़ता से पालन करते

---

१. यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पुराकृतं कर्म कर्तारमनुगच्छति॥

हुए विश्व का और विश्व के जीवन का पथ-प्रदर्शन करता है। कर्म के सिद्धान्त को वह भी नहीं तोड़ सकता। सामयिक प्रलय और विश्व का नवीनोद्भव एक विशाल स्तर पर इस सिद्धान्त का ही नियोजन है ये (प्रलय और पुनरुद्भव) संसार के सिद्धान्त का एक भाग ही बनाते हैं जिसे सत्ता की परम्परा कहा जाता है।

मोक्ष का सिद्धान्त

दर्शन की सभी पद्धतियों में सामान्य तथा पुनर्जन्म के समान ही पुराना मोक्ष का सिद्धान्त है जो पुनर्जन्म का अन्त कर देता है। सभी कार्य इच्छाशक्ति से ही सम्पन्न किए जाते हैं जो अपने अवसर पर अविद्या या एक प्रकार के 'अज्ञान' पर आधारित होती है, जो वस्तुओं के सच्चे स्वरूप को समझने में गलती करती है और अन्ततः पुनर्जन्म में स्रोत (कारण) बनती है। प्रारम्भ में इसमें निषेधात्मक अविद्या का भाव था किन्तु यहां यह शब्द 'असत्य ज्ञान' का भावात्मक अर्थ देने लगा है। ज्ञान की रक्षा करने से इस प्रकार का अज्ञान समाप्त किया जा सकता है जोकि भारत की प्रत्येक दार्शनिक विचारधारा के अनुसार प्रत्यभिज्ञान के किसी विशेष स्वरूप में अन्तर्निहित रहता है। यह सार्वभौम ज्ञान, जो गुणों का परिणाम नहीं होता, किन्तु जीवन में स्वतन्त्र रूप से टूटकर आ पड़ता है, कार्यों के बाद में आने वाले प्रभाव को नष्ट कर देता है जो (प्रभाव) अन्यथा भविष्य की सत्ता का फल दे सकता था और इस प्रकार पुनर्जन्म का अन्त कर देता है, तो भी उन कार्यों पर प्रभाव नहीं डाल सकता जिनके फलों का पकना पहले से ही प्रारम्भ हो चुका है। इससे वर्तमान जीवन प्रबोधोत्पत्ति के क्षण से निरन्तर तब तक चलता रहता है जब तक मृत्यु होने पर मुक्ति न मिल जाए। यह ऐसे ही होता है जैसे कुम्हार का चाक बर्तन के पूरे हो जाने के बाद कुछ समय तक चलता रहता है। किन्तु प्रबोध के बाद किए हुए कार्यों से (अथवा जैसा कि हमें कहना चाहिए भावान्तर परिणति जन्य पूर्व कर्मों के नष्ट हो जाने से कार्यों के परिणाम) स्वरूप कोई पाप-पुण्य प्राप्त नहीं होता, क्योंकि विश्व के सभी तत्त्वों के प्रति इच्छा समाप्त हो जाती है।

बौद्ध और जैन धर्मों ने और साथ ही रूढिवादी धर्मों ने भी स्वर्ग, नरक, देवता उपदेवता, दैत्य इत्यादि के विषय में लोक सम्मत विश्वास को आत्मसात् कर लिया। किन्तु उच्चकोटि के तथा अधिक भाग्यशाली ये जीव भी पुनर्जन्म के सिद्धान्त का विषय समझे गए और जब तक उन्होंने रक्षक ज्ञान प्राप्त नहीं कर लिया वे उन व्यक्तियों से निम्नस्तर के ही समझे जाते रहे जिनको इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त हो गया था।

सांख्य दर्शन

प्रारम्भिक उपनिषदों के अद्वैतवाद ने जिनमें व्यक्तिगत आत्मा की ब्रह्म से एकरूपता मानी गई, सांख्य पद्धति के हेतुवाद प्रवर्तक कपिल का विरोध किया जो (कपिल) बौद्ध पौराणिक गाथाओं के अनुसार बौद्ध धर्म के प्रवर्तन से पहले हुए थे और जिनके सिद्धान्त का बुद्ध ने अनुसरण किया तथा श्रम पूर्वक उसे विस्तार दिया। उनकी शिक्षा पूर्णरूप से द्वैत वाद परक है जो केवल दो तत्त्व मानता है और यह मानता है कि दोनों का प्रारम्भ या अन्त नहीं होता, किन्तु वे दोनों अनिवार्य रूप में एक-दूसरे से भिन्न हैं-- एक ओर प्रकृति और दूसरी ओर व्यक्तिगत आत्माओं की असंख्य बहुलता। प्रकृति का वर्णन और इन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध इस पद्धति के मुख्य वर्णनीय विषय हैं। निश्चय ही कपिल पहले व्यक्ति थे जिन्होंने प्रकृति और पुरुष के अधिकार क्षेत्र में सूक्ष्म विभाजक रेखा खींची। रक्षक ज्ञान जो पुनर्जन्म के दुःखों से छुटकारा दिलाता है सांख्य दर्शन के अनुसार इस बात पर निर्भर है कि पुरुष और प्रकृति के मध्य में पूर्ण पृथक्करण को पहचाना जाय।

परब्रह्म परमात्मा की सत्ता से जो सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माता और नियन्त्रण करने वाला है सांख्य दर्शन में इन्कार किया जाता है और इस पद्धति में उस मान्यता से समझौता नहीं किया जा सकता। क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति के अचेतन तत्त्व मौलिक रूप में स्वयं अपने में प्रसारण और परिवर्तन की शक्ति लिए हुये है। (इसमें प्रयोजन है आत्माओं का श्रेयस जो पूर्णरूप से इस प्रक्रिया में निष्क्रिय रहता है।) जबकि केवल कर्म परिवर्तन और विस्तार का मार्ग तय करते हैं। इस पद्धति के अनुयायी अपनी नास्तिकता का समर्थन यह कहकर करते हैं कि दुःख की उत्पत्ति आस्तिकों के सामाने एक न हल हो सकने वाली समस्या उत्पन्न कर देती है, क्योंकि जिसने इस संसार को वनाया और इस पर शासन करता है वह परमात्मा सम्भवतः निर्दयता और पक्षपात के दोष से बच नहीं सकता। इस सम्प्रदाय में सामान्यतया इस बात पर बहुत जोर दिया जाता है कि परमात्मा की सत्ता में कोई अकाट्य तर्क नहीं है।

जगत् सत्य होने के रूप में स्वीकृत किया जाता है और वह भी नित्यता के सभी मानदण्डों से। क्योंकि जिस वस्तु की सत्ता हो उसका जन्म सत्ता वाली वस्तु से ही हो सकता है। किसी वस्तु की वास्तविकता सामान्य रूप से इन्द्रिय जन्य उपलब्धि के परिणाम स्वरूप ही मानी जाती है, सर्वदा यही समझा जाता है कि दर्शक की इन्द्रियां अविकल एवं स्वस्थ हैं। जगत् के विषय में वर्णन किया जाता है कि मूलतत्त्व (मूलप्रकृति या प्रधान) से कुछ सिद्धान्तों के आधार पर उसका विकास और अभिवृद्धि होती है। इस पद्धति की सच्ची

दार्शनिक भावना यह है कि अनुभवगम्य ज्ञात तत्त्वों से तार्किक प्रदर्शन के द्वारा अज्ञात का उत्थान इस सीमा तक हो कि अन्तिम कारण का पता चल जाय। यह दार्शनिक भावना विकासवादियों की दृष्टि में इस पद्धति को विशेष रुचि प्रदान करती है—वे विकासवादी जिनका दृष्टिकोण वर्तमान भौतिक विज्ञान के परिणाम पर आधारित है।

जगत् के विकास और उसकी अनेक रूपता की व्याख्या प्राथमिक उपादान द्रव्य के द्वारा की जाती है। यद्यपि ये उपादान द्रव्य एकरूप और अविभाज्य होते हैं फिर भी इनमें तीन तत्त्व सम्मिलित रहते हैं जिन्हें गुण या (रस्सी में प्राक्तन डोरियों की भांति) घटक कहा जाता है। विभिन्न परिमाणों में इनके मिलने से विभिन्न भौतिक वस्तुयें उत्पन्न होने वाली मानी जाती हैं। एक घटक, जिसे सत्त्व की संज्ञा प्राप्त होती है, ग्राह्यवस्तु में अपने भास्वर और प्रकाश रूप गुणों से पहिचाना जाता है, इसी प्रकार गृहीता में दया, उदारता, परोपकर तथा दूसरी आनन्ददायक विशेपताओं से आनन्द की भावना जुड़ जाती है। रजस् क्रियाशीलता और पीड़ादायक गुणों से जाना जाता है और उसमें दु:ख का संयोग रहता है। तमस् एक ओर गुरुता, कठोरता और अन्धकार के द्वारा तथा दूसरी ओर भय, अचेतनता तथा ऐसे ही दूसरे तत्त्वों के साथ उदासीनता से जुड़ जाता है। जगत का समय व्यतीत होने पर सभी वस्तुयें मूलतत्त्व में विलीन हो गई मानी जाती हैं। स्वरूपान्तर प्राप्ति, विकास, स्थिरता और विलीनता का न तो प्रारम्भ होता है न अन्त।

सांख्य पद्धति का मनोविज्ञान विशेषरूप से महत्त्वपूर्ण है। विशेष रूप से इसका यह सिद्धान्त मनोरंजक है कि मानसिक क्रियाकलाप जैसे विभावन, विचार, इच्छा ये सब आत्मा के कार्य नहीं हैं, किन्तु आन्तरिक इन्द्रियों की यान्त्रिक प्रक्रिया हैं जिसका अर्थ यह है कि ये सब प्राकृतिक द्रव्य के विपरिणाम हैं। आत्मा (पुरुष) में स्वयं में कोई घटक या गुण नहीं हैं और उसकी व्याख्या निषेधात्मक रूप में की जा सकती है। क्योंकि आत्माओं में परस्पर गुणात्मक विभेद नहीं होता, अत: व्यक्तित्व और परिचय का सिद्धान्त सूक्ष्म या आन्तरिक कलेवर के द्वारा प्रदान किया जाता है जो प्रमुख रूप में आन्तरिक इन्द्रियों तथा तज्जन्य संवेदन के द्वारा निर्मित किया जाता है। यह सूक्ष्म शरीर स्थूल सत्ता को घेर लेता है और आत्मा द्वारा संवेदन शील बनाया जाता है। यह अन्त: शरीर गुणों और दोषों का वाहक होता है जोकि पुनर्जन्म में आधार बनते हैं। यह अन्त:शरीर एक स्थूल शरीर से दूसरे स्थूल शरीर में भ्रमण करने में आत्मा का साथ देता है, फिर वह स्थूल शरीर देवता का हो, मनुष्य का हो, जानवर का हो, या वृक्ष का हो। सचेतन जीवन कष्ट देने के लिए एक बन्धन

होता है जिसमें इस विचित्र दुःखात्मक व्यवस्था में सुख का संचार हो जाता है। जब मोक्ष प्राप्त कर लिया जाता है जो दुःखों से पूर्णविराम है तब अन्तः शरीर प्रकृतिक तत्त्वों में विलीन हो जाता है और आत्मा अन्तिम रूप में सबसे पृथक् होकर व्यक्तिगतरूप से निरन्तर सत्ता में बनी रहती है, किन्तु उस समय वह पूर्णरूप से अचेतन अवस्था में विद्यमान रहती है।

इस पद्धति का नाम परवर्ती उपनिषदों में केवल उल्लिखित होना प्रारम्भ होता है तथा महाभारत में और अधिक बहुतायत से आता है। इसका नाम संख्या (तादाद) से लिया गया है। फिर भी इस विषय में कुछ सन्देह है कि क्या इसका प्रारम्भ गणना से हुआ जिसमें २५ तत्त्व[1] या सिद्धान्त स्थापित किए गए थे अथवा उन सिद्धान्तों के आधार पर जिनका प्रतिपादन इसमें किया गया है या 'आनुमानिक' अथवा 'विभाजनात्मक' सिद्धान्त पर दिया गया, यह उस पद्धति के आधार पर किया गया जिसका यह सिद्धान्त अनुसरण करता है।

इस पद्धति के प्रवर्तक कपिल हैं जिनकी शिक्षा बौद्धधर्म द्वारा प्राग्वर्ती स्वीकार की गई है और जिनको बौद्धपुराणोपाख्यान बुद्ध के जन्मस्थान कपिल-वस्तु से जोड़ता है। इस प्रकार कपिल ई० पू० ६ठी शताब्दी के मध्य से पहले अवश्य रहे होंगे। यदि उन्होंने कभी अपनी पद्धति के लिखने का कार्य किया होगा तो उनकी कोई कृति सुरक्षित नहीं रह सकी। इस यथार्थता के होते हुए भी कि भारतीय परम्परा इस नाम वाले एक व्यक्ति का इस पद्धति के प्रवर्तक के रूप में सर्वसम्मति से उल्लेख करती है वास्तविकता यह है कि कपिल जैसे नाम वाले इस प्रकार के किसी व्यक्ति की सत्ता में ही अविश्वास किया गया है। सांख्य दर्शन का दूसरा अग्रणी अधिकारी पञ्चशिख था जो हमारी सन् संवत् की गणना के प्रारम्भ में जीवित रहा होगा। सबसे पुरानी व्यवस्थित रचना जो सुरक्षित रखी जा सकी है वह है ईश्वर कृष्ण की सांख्यकारिका। क्योंकि चीनी भाषा में इसका अनुवाद ५५७ और ५८३ के मध्य में हुआ था अतः इसका रचनाकाल ५वीं शताब्दी के बाद का नहीं हो सकता या इससे भी पुराना हो। यह रचना बहुत ही संक्षेप में किन्तु व्यवस्थित रूप में ६९ पद्यों

---

१. सांख्य के द्वारा मान्य २५ तत्त्व ये हैं—(१) प्रकृति (मूल तत्त्व), (२) उससे उत्पन्न महत्तत्त्व, (३) उससे उत्पन्न अहंकार, (४-८) पञ्च तन्मात्रा अर्थात् पृथ्वी, जल, वायु और आकाश के मूलतत्त्व, (९-१३) पृ० इत्यादि ५ महाभूत और (१४-२४) तक ११ इन्द्रियां। इस प्रकार प्रकृति से उद्भूत २४ तत्त्व और एक पुरुष। इस प्रकार सांख्य में २५ तत्त्व माने जाते हैं।

में सांख्यदर्शन का विवरण देती है। (ये पद्य उलझे हुए आर्या छन्द में रचे गए हैं।) इनमें तीन पद्य बाद में जोड़ दिये गए। ऐसा मालूम पड़ता है कि इन पद्यों ने पञ्चशिख के सूत्रों को निरस्त कर दिया जिनके विषय में इसमें उल्लेख है कि यह पुस्तक इस सिद्धान्त का प्रधान विस्तार है। सांख्यकारिका पर दो बहुत ही उच्चकोटि की व्याख्यायें हैं—एक तो ७०० ई० की गौडपाद द्वारा लिखित टीका और दूसरी उसके कुछ ही समय बाद ११०० ई० में लिखी हुई वाचस्पतिमिश्र की व्याख्या।

सांख्य सूत्र जो बहुत समय तक इस सिद्धान्त की सबसे पुरानी कृति मानी जाती रही और जिसकी रचना का श्रेय कपिल को दिया जाता रहा सम्भवतः लगभग १४वीं शताब्दी तक नहीं लिखी गई थी। इस रचना का नाम सांख्य प्रवचन भी है। इस रचना का लेखक व्यर्थ ही यह दिखलाने का प्रयत्न करता है कि सांख्य सिद्धान्त और उपनिषदों के सिद्धान्तों में कोई अन्तर नहीं। उस पर योग के और उसी प्रकार वेदान्त पद्धति के विचारों का बहुत प्रभाव है। १५०० ई० के आस-पास अनिरुद्ध की लिखी हुई इसकी सर्वप्राचीन टीका में विवेचन का उद्देश्य विशेषरूप से उपयोगी है। कहीं अधिक विस्तार के साथ किन्तु कम उद्देश्यपूर्ण टीका विज्ञान भिक्षु की है जिसका नाम है—सांख्यप्रवचनभाष्य और यह १६वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में लिखी गयी थी। लेखक का दृष्टिकोण आस्तिक है, अतः उसने यह दिखलाने का प्रयत्न किया कि ६ रूढ़िवादी दर्शनों की पद्धतियों में पूर्णसत्य विद्यमान है। इस प्रयत्न में उसने विभिन्न वैशिष्ट्य मूलक लक्षणों के स्वरूप को बिगाड़ लिया है।

हम लोगों के ईशा सन् के प्रारम्भ से लेकर सांख्य दर्शन ने भारत की धार्मिक और दार्शनिक पद्धति पर अत्यधिक प्रभाव डाला है, यद्यपि यह प्रभाव, वेदान्त की अपेक्षा बहुत कम सीमा तक रहा है। इसकी कतिपय व्यक्तिगत शिक्षायें जैसे तीन गुणों की मान्यता समस्त संस्कृत साहित्य की एक सामान्य सम्पत्ति बन गई हैं। महान् वेदान्ती शंकर (८०० ई०) के समय में सांख्यदर्शन बहुत अधिक आदर से देखा जाता था। मनु की कानून की पुस्तक इस सिद्धान्त का अनुसरण करती है यद्यपि उसमें मीमांसा और वेदान्त के आस्तिक विचार और साथ ही लोक प्रतिष्ठित पौराणिकता का समावेश हो गया है। महाभारत और विशेषकर उसका १२वां पर्व सांख्य सिद्धान्तों से भरा पड़ा है। वास्तव में इस दर्शन की शिक्षाओं का लगभग प्रत्येक विस्तार महान् महाग्रन्थ (महाभारत) में कहीं न कहीं मिल जाता है। सांख्य की नियमित पाठ्यपुस्तकों से इस (महाग्रन्थ) में अनेक अतिक्रमण केवल दूसरे दरजे के हैं। हालांकि जैसा कि प्रो० गार्वे का विचार है इस पद्धति का सबसे पुराना

वास्तविक स्रोत महाभारत ही है। लगभग आधे पुराण सांख्य के विश्वोत्पत्ति विषयक सिद्धान्त का अनुसरण करते हैं और वे भी जो वेदान्त के कहे जाते हैं इसके सिद्धान्तों से बहुत प्रभावित हैं। फिर भी सांख्य सिद्धान्तों की शुद्धता पुराणों में सर्वत्र वेदान्त सिद्धान्तों से आवृत होकर धूमिल हो गई है। विशेष रूप से विश्वविषयक माया प्रपञ्च में यह बात पाई जाती है। पौराणिक सांख्य की विलक्षणता आत्मा की मान्यता में है अथवा पुरुषतत्त्व को नर और भौतिक पदार्थ या प्रकृति को नारी माना जाता है जो सृष्टि की उत्पत्ति का एक सिद्धान्त है।

बौद्ध और जैन धर्म

दो दार्शनिक धर्म बौद्ध और जैन अपनी समस्त रूप रेखा में सांख्य पद्धति पर आधारित हैं। उनका मूलभूत सिद्धान्त है कि जीवन दुःख भोग के अतिरिक्त और कुछ नहीं। दुःख का कारण है अविद्या पर आधारित जीवित रहने और संसार का उपभोग करने की इच्छा। दोनों (धर्मों) का लक्ष्य है इच्छाओं का उन्मूलन कर मानव जाति को ऐहलौकिक सत्ता के दुःख से छुटकारा दिलाना। इसका साधन है संसार से संन्यास और समस्त प्राणियों के प्रति असीमित दया भाव का अभ्यास। ये दोनों दुःखवादी दर्शन इतनी अधिक सीमा तक समान हैं कि जैन या जिन देव के अनुयायी बहुत समय तक बौद्ध धर्म के एक सम्प्रदाय के रूप में देखे जाते रहे। अनुसन्धान ने निश्चय ही इस निष्कर्ष पर पहुंचाया है कि दोनों पद्धतियों के प्रवर्तक समसामयिक थे। ये दोनों उन बहुत से शिक्षकों में सर्वाधिक प्रतिष्ठित थे जिन्होंने ई० पू० ६ठी शताब्दी में मध्य भारत के उत्तरी भाग वाले ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड और जातिवाद के दिखावे का विरोध किया। दोनों सम्प्रदायों ने जबकि ब्राह्मणों के निम्नकोटि के विनश्वर तथा स्वल्पकालिक देवताओं को स्वीकृति प्रदान की, किन्तु सांख्य के ही समान सार्वकालिक, सर्वोत्कृष्ट परमसत्ता को मानने से इन्कार कर दिया। जब वे बढ़ने लगे तब जिन दार्शनिक सिद्धान्त पद्धतियों के लिए वे आभारी थे उनसे वे विभिन्न दृष्टियों में विचलित हो गए। इसलिए इसका परिणाम यह हुआ कि सांख्य के लेखकों ने उनकी कुछ शिक्षाओं का जोरदार खण्डन किया, विशेष रूप से बौद्धों द्वारा आत्मा की अस्वीकृति, यह सिद्धान्त कि सब वस्तुओं की सत्ता क्षणिक है और यह सिद्धान्त कि मोक्ष का अर्थ आत्मा की पूर्ण समाप्ति है (इन सबका सांख्य लेखकों ने विशेषरूप से खण्डन किया)। यहां निश्चित रूप से यह ध्यान रखना चाहिए कि स्वयं बुद्ध ने इस प्रश्न पर निर्णय देना अस्वीकृत कर दिया कि क्या निर्वाण का अर्थ पूर्ण समाप्ति है या अज्ञात परम सुख की न समाप्त होने वाली स्थिति है। बाद का दृष्टिकोण

निस्सन्देह ब्रह्म विषयक वेदान्त विचारों को एक रियायत देता है जिसमें व्यक्तिगत आत्मा मोक्ष प्राप्त करने पर परमसत्ता में विलीन हो जाती है।

इन पद्धतियों की महत्ता आध्यात्मिक तात्विक विवेचन में नहीं है जो कि इनमें एक अप्रधान (गौण) स्थिति प्राप्त किये हुये हैं, किन्तु इनका महत्त्व नैतिक सिद्धान्तों के उच्चकोटि के विकास में है जो कि लगभग पूर्ण रूप से रूढ़िबद्ध भारतीय दर्शन पद्धतियों में उपेक्षित किये गए हैं। दोनों धर्मों का भाग्य विचित्र रूप से भिन्न रहा है। जैनधर्म केवल भारत में महत्त्वहीन सम्प्रदाय के रूप में जीवित रहा। बौद्धधर्म बहुत समय पहले से ही उस देश में नष्ट हो गया जहां उसका जन्म हुआ था, किन्तु एक विश्वधर्म बन गया जिसके अनुयायी गणना में किसी अन्य धर्म की अपेक्षा अधिक हैं।

योग दर्शन

सांख्य दर्शन मानसिक सन्यास के एक अतिरिक्त विचित्र स्वरूप के साथ बढ़ गया जो कि उद्धारक ज्ञान को प्राप्त करने का एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधन है, ज्ञात होता है इस दर्शन ने किसी भी दूसरी रूढ़िवादी पद्धति की अपेक्षा अधिक पहले एक पुस्तिका रूप में निश्चित स्वरूप प्राप्त कर लिया था। यह योग दर्शन है जिसका प्रवर्तन पतंजलि ने किया था और उसकी व्याख्या योगसूत्र में की गई। उस पाठ्य ग्रन्थ की प्राथमिकता इस वास्तविकता से बहुत अधिक संभव बना दी जाती है कि यही एक ऐसी दार्शनिक सूत्र रचना है जिसमें किसी और से वाद-विवाद विद्यमान नहीं है। दूसरी बात यह है कि इस बात का कोई पर्याप्त आधार नहीं मिलता जिससे स्थानीय परम्परा समर्थक इस सच्चाई पर सन्देह किया जा सके कि योगपद्धति के प्रवर्तक वैयाकरण पतंजलि ही थे। इसलिए योगसूत्र सम्भवतः दूसरी शताब्दी बी० सी० में ही उद्भूत हुए थे। इस रचना का नाम सांख्य प्रवचन भी है, यह वही नाम है जो बाद के सांख्य सूत्रों को दिया गया। यह पर्याप्त स्पष्ट प्रमाण है कि इसका कपिलदर्शन से निकट का सम्बन्ध है। महाभारत में वास्तव में दोनों पद्धतियों को एक ही और वही बतलाया गया है।

अपनी पद्धति को अधिक स्वीकरणीय बनाने के लिए पतंजलि ने इसमें व्यक्तिगत परमात्मा का सिद्धान्त भी शामिल कर दिया, किन्तु इसको इतने ढीले रूप में किया कि उससे सम्पूर्ण पद्धति पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ा। वास्तव में रचना के अन्य भागों से परमात्मा के व्यक्तिरूपका वर्णन करने वाले सूत्र केवल असंबद्ध ही नहीं हैं किन्तु पद्धति की स्थापनाओं के विरोधी भी हैं। क्योंकि मानव का अन्तिम लक्ष्य यहां परमात्मा में विलीनता या मिलन

का सिद्धान्त नहीं अपनाया गया। किन्तु प्रकृति से आत्मा का पूर्ण विच्छेद (कैवल्य) माना गया है ठीक वैसा ही जैसा कि सांख्य दर्शन में है—यहां यह भी नहीं है कि व्यक्तिगत आत्मायें एक विशिष्ट आत्मा (परमात्मा) से निकलती हैं, किन्तु सांख्य के समान उनका आदि नहीं होता।

पतंजलि के समय में सन्यास के विषय में और साधना के द्वारा रहस्यात्मक शक्ति प्राप्त करने के विषय में एक दृष्टिकोण सर्वत्र छाया हुआ था, उस दृष्टिकोण का स्थिरीकरण इस पद्धति का वास्तविक विभाजक भाग है। योग या मस्तिष्क के संयोजन (हल बैल के समान सन्नद्ध करने) का आशय है किसी विशिष्ट वस्तु पर मानसिक एकाग्रता। उपवास और दूसरे कायक्लेश अलौकिक तथा अतिमानव शक्ति को जन्म देते हैं यह विश्वास बहुत पुराने प्रागैतिहासिक युग में प्राक्तन काल की ओर जाता है और आज भी असभ्य लोगों के मध्य में फैला हुआ है। इस प्रकार का शारीरिक सन्यास वेदों में तपस् नाम से प्रसिद्ध है। भारत में बौद्धिक जीवन की अभिवृद्धि के साथ इस विश्वास से मानसिक सन्यास की साधना का विकास हुआ जिसे योग कहा जाता है जो पतञ्जलि से कई शताब्दी पूर्व निश्चय ही ज्ञात रहा होगा और उसका अभ्यास किया जाता होगा। क्योंकि वर्तमान अनुसन्धानों ने सिद्ध कर दिया है कि बौद्धधर्म केवल सैद्धान्तिक सांख्य से ही उद्भूत नहीं हुआ किन्तु प्रायोगिक योग सिद्धान्त से भी इसका जन्म हुआ और बौद्धों में प्रारम्भ से ही परमानन्दमय समाधिदशा को अधिक सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। पतञ्जलि ने इस सिद्धान्त को प्रयत्न पूर्वक केवल विस्तार प्रदान किया और पूरे विस्तार के साथ ध्यान योग को प्राप्त करने और सबसे ऊंची कोटि तक उसे ले जाने के उपायों का वर्णन किया। उनकी पद्धति में योग की व्यवस्थित साधना ने विशेष महत्त्व प्राप्त कर लिया, क्योंकि अतिमानवीय अलौकिक शक्ति प्रदान करने के अतिरिक्त यह यहां मोक्ष का भी प्रधान साधन बन जाता है। उनके सूत्रों में चार पाद हैं—गम्भीर ध्यान योग साधना का वर्णन (समाधि), उसको प्राप्त करने के उपाय (साधना), आश्चर्यजनक शक्ति (विभूति) जो उस साधना से प्राप्त होती है और मुक्त आत्मा का सबसे अलग होना (कैवल्य)। इस ग्रन्थ पर सबसे पुरानी और सबसे अच्छी टीका व्यास की है जिसमें ७वीं शताब्दी ए० डी० की तिथि दी गई है।

बाद के बहुत से उपनिषद् योग सिद्धान्त से अत्यधिक संबद्ध हैं। मनु की कानून की पुस्तक (स्मृति) के छठे अध्याय में योग साधना के विभिन्न विस्तारों का विवरण दिया गया है। उस रचना के आस्तिक दृष्टिकोण के कारण असंन्दिग्ध रूप में यह अधिक सम्भव ज्ञात होता है कि उसके सांख्य सिद्धान्त

योग पद्धति से लिए गए हैं। महाभारत अत्यधिक विस्तार से योग का वर्णन करता है। यह विषय विशेष रूप से १२वें पर्व में आया है। इस विषय का उपादान भगवद्गीता में विशेषता के साथ किया गया है, यहां तक कि उसे योग शास्त्र का नाम दिया गया है। योग की प्रभावशालिता में विश्वास अब तक भारत में प्रबल रूप में छाया हुआ है और उसका अभ्यास अब तक जीवित है। किन्तु इसके अनुयायी योगी लोग अब वर्तमानकाल में प्राय: ऐन्द्रजालिक और हाथ की सफाई दिखलाने वालों से कुछ भी अधिक नहीं हैं।

बाद में टीकाओं में मानसिक एकाग्रता के अभ्यास 'राजयोग' या 'प्रधानयोग' के नाम से जाने जाते हैं। बाह्य योगसाधना 'क्रियायोग' या 'प्रायोगिक योग' कहलाती है। बाद के ग्रन्थों में क्रियायोग के अतिसघन स्वरूप को हठयोग या 'दबाव से किया गया योग' कहा गया और अत्यधिक भाग में श्वास का दबाना बहुश: राजयोग का प्रतिपक्षी हो जाता है।

योग साधना के आठ अंगों में स्थित होने की मुद्रा (आसन) जो कि केवल ध्यान की जनक नहीं होती किन्तु उसका महत्त्व रोगों को नष्ट करना होता है और इसके लिए वह महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। बाद के लेखकों ने विभिन्न स्वरूपों का वर्णन करते हुए निश्चित रूप से उनमें आनन्द लिया; उनकी सामान्य संख्या प्राय: ८४ बतलाई जाती है। हठयोग के अन्तर्गत आसनों की कुछ संख्या ऐसी भी है जिसमें दूसरे प्रकार के आसन बन्ध और अंगों की विकृति रहती है जिसे मुद्रा की संज्ञा दी जाती है। सबसे अधिक प्रसिद्ध मुद्रा खेचरी मुद्रा होती है जिसमें जीभ को पीछे गले की ओर मोड़कर निगाह को त्रिपुटी (भौंहों के मध्य) में स्थिर कर दिया जाता है। इस प्रकार के अभ्यास श्वासावरोध से मिलकर इस योग्य बन जाते हैं कि समाधि की दशा उत्पन्न की जा सके। कम से कम एक योगी का मामला भलीभांति प्रमाणित है। इस योगी का नाम हरिदास था जो इस शताब्दी के चौथे दशक में राजपूताना और लाहौर में चारों ओर घूमता था और पैसे के लिए स्वयं को गाड़ दिए जाने की स्वीकृति दे देता था जबकि शरीर की जकड़न के साथ कम या अधिक पूर्ण अचेतन अवस्था में पहुंच जाता था। प्टीवेंशन के उपन्यास में भारतीय सिकन्दर दास ने वल्लाण्ट्रे के माष्टर को जो गाड़ दिया था निस्सन्देह उसकी प्रेरणा इस सन्यासी के विवरण से मिली थी।

मीमांसा और वेदान्त

दो पुराने और बहुत निकटता से जुड़े हुए सांख्य और योग के द्वैतवादी दर्शनों के विरोध में अपने ईशवी सन् के प्रारम्भ में ६ रूढ़िवादी दर्शनों के

अन्तर्गत भी दो दर्शन उठ खड़े हुए जो जन्मकाल से ही आस्तिक दर्शन थे। उनमें एक वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों पर आधारित होने के कारण वैदिक धर्म की प्रयोगात्मकता से सम्बन्ध रखता है जबकि दूसरा धार्मिक व्यवस्थाओं के मध्य में अकेला ही उपनिषदों की अद्वैतवाद मूलक मौलिक विचारधाराओं के व्यवस्थामूलक विकास का प्रतिनिधित्व करता है। पहला, जो सर्वथा बाद वाले के निकट सम्पर्क के कारण ही एक दार्शनिक सिद्धान्त में गिना गया है, पूर्व मीमांसा या 'पहली जांच पड़ताल' कहलाता है और कर्म मीमांसा या 'कर्मों के सम्बन्ध की जांच पड़ताल' भी कहा जाता है, किन्तु अधिकतर सामान्य रूप से मीमांसा कहलाता है। जैमिनि द्वारा प्रवर्तित और कर्म मीमांसा सूत्र में वर्णित यह दर्शन पवित्र संस्कारों और उनके कार्यकलाप के परिणाम स्वरूप प्राप्त होने वाले पुरस्कारों पर विचार करता है। वेद को अरचित (अपौरुषेय) तथा सर्वाङ्गीण नित्यता से परिपूर्ण मानने वाला यह दर्शन विशेष रूप से इस मान्यता पर जोर देता है कि निश्चित भागों के जोड़ से बनाये गए स्वर और नाद नित्य होते हैं और आनुषङ्गिक सिद्धान्त के आधार पर यह मानते हैं कि शब्द का अपने अर्थ से सम्बन्ध परम्परा के कारण नहीं है किन्तु स्वभावतः शब्द में अर्थ सन्निहित रहता है। इसमें दार्शनिक रुचि कम होने के कारण इस दर्शन ने अभी तक यूरोप के विद्वानों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट नहीं किया है।

मीमांसा पर सबसे पुरानी वर्तमान टीका शवर स्वामी का मीमांसा सूत्र भाष्य है जिस पर अपनी बारी पर लगभग ७०० ए० डी० में महान मीमांसक कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक और श्लोकवार्तिक टीकाओं में व्याख्या लिखी। बाद वाला (श्लोकवार्तिक) पतञ्जलि के पूर्ववर्ती सूत्रों पर शावर की व्याख्या का पद्यवद्ध विवरण है। मीमांसा सूत्र पर बाद की टीकाओं में सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण है माधव (१४वीं शताब्दी का) का जैमिनीय न्याय माला विस्तार ।

वेदान्त दर्शन

ध्यान आकर्षित करने का कहीं अधिक अधिकारी उत्तर मीमांसा या 'दूसरी जांच पड़ताल' की सैद्धान्तिक पद्धति है। क्योंकि यह केवल उपनिषदों के सिद्धान्तों को व्यवस्थित ही नहीं करती जिस कारण इसे प्रायः वेदान्त या वेदों का अन्त कहा जाता है किन्तु आज के भारतीय विचारकों के दार्शनिक दृष्टिकोणों का भी प्रतिनिधित्व करता है। प्रो० ड्यूशन के शब्दों में इसका प्राक्तन उपनिषदों के साथ उसी प्रकार का सम्बन्ध है जैसा ईसाइयों के

प्रज्ञावाद का न्यूटेष्टामेंट के साथ सम्वन्ध है। इसका मूलभूत सिद्धान्त व्यक्तिगत आत्मा की ब्रह्म के रूप में पहिचान (एक रूपता) है जिसका प्रकथन प्रसिद्ध सिद्धान्त महावाक्य तत्त्वमसि 'वह तुम हो' में किया गया है। इसलिए यह ब्रह्म या शारीरिक मीमांसा भी कहलाती है जिसका अर्थ है ब्रह्म विषयक जांच पड़ताल या शरीरधारी आत्मा के विषय में अनुसन्धान। क्योंकि सदा रहने वाला (चिरन्तन) तथा असीम ब्रह्म भागों से नहीं बना है या उसमें परिवर्तनशीलता नहीं है इसलिए इसमें कहा गया है कि व्यक्तिगत आत्मा उसका न तो भाग हो सकती है और न उसका निर्गम स्रोत है, किन्तु यह सम्पूर्ण अविभाज्य ब्रह्म है। क्योंकि ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी की सत्ता नहीं है, अतः वेदान्त को अद्वैतवाद 'दूसरा न होने का सिद्धान्त' कहा जाता है। दूसरे शब्दों में यह आदर्श रूप एकमात्र तत्त्व का सिद्धान्त है। अनुभव का प्रमाण जो गोचर वस्तु की अनेकरूपता सिद्ध करता है और वेदों के वक्तव्य जो आत्माओं की अनेकरूपता का वर्णन करते हैं ये सव मनोमयी सृष्टि (माया) के रूप में अलग कर दिए जाते हैं। यह सृष्टि स्वप्न जैसी होती है जो तव तक सत्य प्रतीत होती है जब तक जागना नहीं हो जाता।

इन सव असत्य प्रभावों का अन्तिम कारण है अविद्या या जन्मजात अज्ञान। अन्य दर्शनों की भांति इस दर्शन में भी अविद्या के विपय में साधारणतया तथ्य स्वीकृत कर लिया गया है किन्तु किसी भी रूप में उसके कारण की खोज करने का प्रयत्न नहीं किया गया है। यह वह अविद्या है जो आत्मा को यह पहचानने से रोकती है कि आनुभविक जगत् केवल माया या भ्रान्ति है। इस प्रकार वेदान्ती के लिए समस्त सृष्टि एक मृग मरीचिका है जिसको आत्मा इच्छा 'तृष्णा या प्यास' के प्रभाव के अन्तर्गत समझती है कि वह उसे देख रही है। यह उसी प्रकार होता है जैसे एक उत्कण्ठित, इच्छा से भरा हांफता हुआ मृग अपने सामने किरणमाला में पानी की एक विशाल चादर देखता है 'इसे कलात्मक चित्रण की भाषा में संस्कृत में मृग तृष्णा या हिरण की प्यास कहा जाता है।' यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो जाने पर माया या भ्रान्ति जादू जैसी उसी प्रकार नष्टहो जाती है जैसे मछली के शरीर पर पड़ी पपड़ी के निकाल लिए जाने पर उसका वास्तविक स्वरूप सामने आ जाता है। तव जीव और ब्रह्म के पृथग्भाव की कोई भी (प्रत्येक) झलक अदृश्य हो जाती है और मनुष्य का मुख्य लक्ष्य मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

संरक्षक (मोक्षदायक) ज्ञान निश्चय ही सांसारिक अनुभवों से प्राप्त नहीं किया जा सकता, किन्तु वेदों के सैद्धान्तिक भाग 'ज्ञानकाण्ड' के अनावृत किया जाता है। ज्ञान काण्ड का अर्थ है उपनिषद्। इस यथार्थ ज्ञान से गोचर वस्तु

की अनेकरूपता का भ्रम समाप्त हो जाता है। यह उसी प्रकार होता है जिस प्रकार सांप का भ्रम हो जाता है जबकि वहां केवल रस्सी ही होती है। फिर भी वेदान्त में ज्ञान की दो विद्याओं का विभक्त रूप में परिचय दिया गया है— एक उच्चकोटि की (परा) विद्या और दूसरी निम्नकोटि की (अपरा) विद्या। पहली का सम्बन्ध उच्चकोटि के सामान्य (नपुंसक लिंग) ब्रह्म से है जो किसी स्वरूप और गुणों से रहित है जबकि बाद वाली (अपराविद्या) निम्नकोटि के व्यक्तिगत (पुलिंङ्ग) ब्रह्मा का वर्णन करती है जोकि विश्व की आत्मा है। वह स्वामी (ईश्वर) है जिसने संसार को उत्पन्न किया है और मोक्ष प्रदान करता है। एक ही और उसी वस्तु में विरोध आता है कि उसका स्वरूप है भी और नहीं भी हैं, उसमें गुण है भी और नहीं भी है। इस विरोध का शमन इस व्याख्या से हो जाता है कि निम्नस्तर के ब्रह्म की कोई वास्तविकता नहीं है किन्तु एकमात्र उच्चतर ब्रह्म का केवल एक भ्रमात्मक स्वरूप है जो अविद्या द्वारा कल्पित किया गया हैं।

वेदान्त के सिद्धान्त बादरायण के ब्रह्मसूत्र में लिखे गए हैं। इसके पाठ्य का अर्थ बिना टीका की सहायता के समझ में नहीं आता। इसकी व्याख्या प्रसिद्ध वेदान्ती दार्शनिक शंकर ने अपने भाष्य में की। शङ्कर का नाम ब्राह्मणत्व को पुनरुज्जीवन देने के साथ अत्यन्त निकटता से जोड़ा जाता है। इनका जन्म ७८८ ए० डी० के हुआ था, ये ८२० में सन्यासी बन गये और सम्भवत: बड़ी उमर तक जीवित रहे। इसकी बहुत अधिक सम्भावना है कि उनकी व्याख्या सभी अत्यावश्यक सारभूत तत्त्वों में ब्रह्मसूत्रों के अर्थो से मेल खाती हो। माया अथवा ब्रह्माण्ड की भ्रान्ति के पूर्ण शक्ति से विवेचन का श्रेय केवल उन्हीं को प्राप्त है। शङ्कर ने वेदान्त की जिन शिक्षाओं की स्थापना की उनका उच्चकोटि का संक्षेप सदानन्द योगीन्द्र के वेदान्तसार में मिलता है। इसका लेखक शंकर के दृष्टिकोण से केवल कतिपय विशेष विधियों में अलग हो जाता है जो सांख्य सिद्धान्त से उसका घोलमेल सिद्ध करता है।

ब्रह्मसूत्र की शंकर के बाद आने वाली अनेक टीकाओं में रामानुज की टीका सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है जो १२वीं शताब्दी के पूर्वार्ध के प्रारम्भिक वर्षों में हुए थे। लेखक ने पञ्चरात्र या भागवतों को अभिव्यक्ति प्रदान की जो एक पुराना वैष्णव सम्प्रदाय है—जिनका सिद्धान्त ईसाई दृष्टिकोण से अत्यधिक निकटता के साथ मेल खाता है, यह सिद्धान्त भगवद्‌गीता और भागवत पुराण में तथा इस सम्प्रदाय की दूसरी पाठ्य पुस्तकों में विस्तार के साथ विवेचित किया गया है। भागवतों (भगवद्‌भक्तों) के सिद्धान्त जिस रूप में रामानुज के द्वारा विवेचित और स्थापित किए गए हैं वे अत्यधिक रूप में उन

ब्रह्मसूत्रों से भिन्न पड़ जाते हैं जिन पर वे टीका लिख रहे हैं। क्योंकि उनके अनुसार व्यक्तिगत आत्मायें ब्रह्म के साथ एक रूप नहीं है। उनको नैसर्गिक अविश्वास से कष्ट मिलता है, अज्ञान से नहीं जबकि भगवान में विश्वास या प्रेम (भक्ति) मोक्ष या ब्रह्म से संयुक्त होने का साधन है—ज्ञान साधन नहीं है।

वैशेषिक और न्याय

दर्शन की अन्तिम दो रूढिवादी पद्धतियां वैशेषिक और न्याय एक-दूसरे से बहुत ही निकटता के साथ जुड़ा हुआ एक जोड़ा बनाते है। क्योंकि विचारों का अकाट्य वर्गीकरण और साथ ही परमाणुओं से संसार की उत्पत्ति का सिद्धान्त दोनों में एक सा ही है। इन दोनों में अधिक पुराना वैशेषिक दर्शन है जिसका ब्रह्मसूत्र में पहले ही खण्डन किया गया है। वहां कहा गया है कि इस पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इसके अनुयायी तो हैं ही नहीं। निश्चित ही यह बात बाद के समयों के विषय में सही नहीं है जब यह दर्शन बहुत अधिक लोक प्रतिष्ठित हो गया। इसने अपना नाम एक पदार्थ 'विशेष' (पार्थक्य या विलक्षणता) से प्राप्त किया जिस पर इसके अनुसिद्धान्त में अधिक जोर दिया गया है। इसके प्रवर्तक की स्मृति केवल उनके उपनाम कणाद (कणभुज या कणभक्ष भी) से सुरक्षित है जिसका अर्थ है अणुओं को खाने वाला।

इस सिद्धान्त का प्रधान महत्त्व इसकी तर्कसंगत श्रेणियों में है जिसका व्यवस्थापन इस पद्धति में किया गया है और जिसके अधीन इसमें गोचर वस्तु का वर्गीकरण किया गया है। छः पदार्थ जिनका इसमें मौलिक रूप में निरूपण किया गया है वे हैं—मूलवस्तु (द्रव्य), विशेषता (गुण), क्रियाशीलता (कर्म), सर्वसाधारणता (सामान्य), विलक्षणता (विशेष), और नित्य सम्बन्ध (समवाय)। इन सबको दृढता और सूक्ष्मता के साथ परिभाषित किया गया है और इनके उपविभाग किए गए हैं। सबसे अधिक मनोरंजक है अन्तर्निहित या पृथक् न किया जाने वाला तत्त्व (समवाय) जिसको स्पष्ट रूप में घटना जन्य या पृथक्करणीय सम्बन्ध (संयोग) से भिन्न बतलाया गया है और इसका (समवाय सम्बन्ध का) इस रूप में वर्णन किया गया है—वस्तु और गुण का संबन्ध सम्पूर्ण का उसके भाग से सम्बन्ध, जाति का उसके अन्दर आने वाले व्यक्ति से सम्बन्ध, गति और गतिमान का सम्बन्ध। बाद में उसमे ७वें तत्त्व अविद्यमानता (अभाव) और जोड़ दिया गया जिसमें अतिसूक्ष्मता के प्रदर्शन की विशेष सुविधा है। अतएव भारतीय तर्क पद्धति पर इसने अत्यधिक प्रभाव

डाला। इस श्रेणी के और भी उपविभाग किए गये—प्राथमिक अभाव (प्रागभाव) और परवर्ती अभाव या प्रध्वंसाभाव (जिसके लिए हमें कहना चाहिए कि क्रमशः भविष्य की सत्ता और भूतकाल की सत्ता), एक-दूसरे में अभाव (अन्योन्याभाव जैसे घड़े और कपड़े में एक-दूसरे का अभाव) और अत्यन्ताभाव (जैसे आग में पानी का अभाव)।

यद्यपि वैशेषिक दर्शन अधिकता के साथ इन्हीं श्रेणियों से संबद्ध है फिर भी वह इन सबके सम्बन्ध में पूर्ण दार्शनिक दृष्टिकोण को प्राप्त करने का लक्ष्य लेकर चलता है। इस प्रकार जब द्रव्य की श्रेणी का वर्णन करने लगता है तब परमाणुओं से जगत् की उत्पत्ति का सिद्धान्त विकसित कर लेता है। जब गुणों के वर्ग पर विचार करता है तब उसी प्रकार मनोविज्ञान के वर्णन की ओर चला जाता है जो कि ध्यान देने योग्य है और सांख्य के साथ समता स्थापित कर लेता है। इसमें आत्मा के विषय में समझा जाता है कि न इसका आदि है न अन्त और यह सर्वत्र व्याप्त है। उसमें शर्त यह है कि यह न तो काल से और न स्थान से सीमित है। आत्मा से निकटवर्ती रूप में सम्बन्धित मस्तिष्क (मनस्) है जो विचार का आन्तरिक अंग है और केवल वही आत्मा को इस योग्य बनाता है कि वह केवल बाहरी वस्तुओं की ही नहीं किन्तु खुद अपनी भी विशेषता समझ सके। क्योंकि यह इन्द्रिय आत्मा से विपरीत रूप में अणुरूप है, यह किसी एक निश्चित क्षण में किसी एक वस्तु को ही ग्रहण कर सकता है। यह इस बात की व्याख्या है कि आत्मा एक ही साथ सभी वस्तुओं के प्रति सज्ञान क्यों नहीं हो सकती।

न्यायदर्शन

न्यायदर्शन केवल कणाद का एक विकास और पूरक है। इसका मूलवस्तु विवेचन और मनोविज्ञान वही है। इसका विशेष लक्षण अत्यन्त विस्तार के साथ नियमित तर्क शास्त्र के सूक्ष्म विचारक होने में है। ऐसा होने के कारण यह भारत में आज दिन तक दार्शनिक अध्ययन का मूल आधार बना रहा। इसमें पूर्ण रूप से ज्ञान के साधनों का वर्णन किया गया है जो ४ प्रकार के होते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और विश्वसनीय शब्द प्रमाण। इसके अतिरिक्त इसमें पूर्णरूप से तर्क पद्धति और हेत्वाभासों का विवेचन किया गया है। इस बात पर ध्यान देना मनोरञ्जक है कि इस विषय में भारतीय मस्तिष्क स्वतन्त्र रूप में (बिना किसी बाह्य सहायता के) उस न्याय पद्धति के प्रकटीकरण पर पहुंच गया जो कि आगमन तर्क की एक पद्धति है। इस पद्धति की मूल रचना गौतम का न्याय सूत्र है। इसमें तर्क पद्धति को जो महत्त्व दिया गया है वह पहले ही सूत्र से दिखलाई पड़ने लगता है जिसमें १६ तार्किक सिद्धान्त गिनाए

गए हैं और साथ में संकेत (उल्लेख) किया गया है कि ठीक उनके ज्ञान पर ही मोक्ष निर्भर है।

सामूहिक निर्वचन

न तो वैशेषिक और न ही न्याय दर्शन प्रारम्भ में भगवान् की सत्ता स्वीकार करते थे और यद्यपि दोनों दर्शन बाद में आस्तिक दर्शन बन गए वे कभी भी इतना आगे तक नहीं बढ़े कि किसी तत्त्व को प्रकृति के उत्पादक के रूप में स्वीकार करते। उनका सिद्धान्त सर्वप्रथम उदयनाचार्य की कुसुमाञ्जलि में परिवृद्ध रूप में प्राप्त होता है जो १२०० ईशवी के आसपास लिखी गई थी और उसी प्रकार उन रचनाओं में भी मिलता है जिनमें दोनों दर्शनों को मिलाकर वर्णन किया गया है। यहां ईश्वर एक विशेष आत्मा माना जाता है जो सभी दूसरी व्यक्तिगत नित्य आत्माओं से इस अर्थ में भिन्न है कि उसमें कोई ऐसे गुण नहीं होते जिनका सम्बन्ध पुनर्जन्म से हो और उसमें वह ज्ञान और शक्ति विद्यमान है जो उसे विशेषित करती है और जिससे वह समस्त सृष्टि को व्यवस्थित रखने में समर्थ हो जाता है।

उद्धारक या संयोजनात्मक आन्दोलन के निष्कर्षों में सांख्य, योग और वेदान्त के सिद्धान्तों को एक में मिलाया गया जिसका सबसे प्राचीन साहित्य प्रतिनिधि श्वेताश्वतर उपनिषद् है। भगवद्गीता अधिक प्रसिद्ध है जिसमें परमसत्ता का अवतार कृष्ण रूप में अर्जुन के सामने इस सिद्धान्त की व्याख्या करता है। इस शिक्षा का जोर इस बात पर है कि सोत्साह कर्तव्य पालन मानव का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य कर्म है फिर उसकी जाति चाहे जो हो। जिसमें इस सिद्धान्त का उपदेश दिया गया है उस भाषा के सौन्दर्य और शक्ति का अतिक्रमण भारतीय साहित्य की कोई रचना नहीं कर सकती।

चार्वाक

रूढ़िवादी दर्शनों और दो ब्राह्मणेतर धर्मों के साथ लोकायत (इन्द्रियार्थ जगत् की ओर प्रेरित) अथवा भौलिकतावादी दर्शन का जन्म हुआ और उसकी अभिवृद्धि हुई। अधिकतर इसके संस्थापक के नाम पर इसे चार्वाक कहा जाता है। इसे विचित्र प्रकार का नास्तिक समझा जाता था, क्योंकि इसने केवल वेदों और ब्राह्मण विधियों के अधिकार का ही प्रत्याख्यान नहीं किया किन्तु दूसरे सभी दर्शनों के माने हुए पुनर्जन्म और मोक्ष के सिद्धान्तों को भी मानने से इन्कार कर दिया। भौतिकतावादी शिक्षाओं की खोज बुद्ध के समय के पहले भी की जा सकती है और उनके बहुत से गुप्त अनुयायी भारत में रहे हैं और यहां तक कि आज भी है। हां ऐसा ज्ञात होता है कि इस दर्शन में एक

से अधिक मूल पुस्तक कभी नहीं रही और वह है वृहस्पति के लिखे सूत्र जो नष्ट हो गए हैं। वृहस्पति इसके काल्पनिक (पौराणिक) प्रवर्तक हैं। इसके विषय में हमारा ज्ञान आंशिक रूप में दूसरे दर्शनों के वाद-विवादों से लिया गया है, किन्तु विशेष रूप से १४वीं शताब्दी के सायण के भाई, अत्यन्त प्रसिद्ध वेदान्ती माधवाचार्य की लिखी पुस्तक सर्वदर्शन संग्रह या 'सभी दार्शनिक व्यवस्थाओं का सार संग्रह' से लिया गया है। दूसरे दर्शनों द्वारा माने गए ज्ञान के प्रत्यक्षातिरिक्त सभी साधनों का परित्याग कर स्वयं चार्वाकों ने अपनी अतिशक्तिशाली अविश्वास की प्रवृत्ति को स्वयं ही प्रकट कर दिया। उनके लिए प्रकृति ही वास्तविक सत्य है। आत्मा को वे बुद्धिचातुर्य के गुण से युक्त शरीर के अतिरिक्त और कुछ नहीं मानते थे। इस आत्मा को वे समझते थे कि जब मूल तत्त्वों के मेल से शरीर की रचना होती है तब उसके साथ ही यह उसी प्रकार उत्पन्न हो जाती है जिस प्रकार कुछ घटकों के मिल जाने से उनमें नशा पैदा करने की शक्ति उत्पन्न होती है। इससे शरीर के क्षय के साथ आत्मा का भी क्षय हो जाता है। वे पुनर्जन्म की पुष्टि नहीं करते, किन्तु मानते हैं कि केवल वस्तुओं की सच्ची प्रकृति कारण है जिससे गोचर वस्तु आगे बढ़ जाती है। उस सभी प्रकार की सत्ता का जो इन्द्रियों का अतिक्रमण करती है कभी-कभी वे व्याजस्तुति के सम्मिश्रण से निषेध करते हैं। इस प्रकार वे कहते हैं कि सबसे बड़ा व्यक्तित्व प्रदेश के बादशाह का है जिसकी सत्ता विश्वभर के प्रत्यक्ष से सिद्ध होती है। नरक भौतिक पीड़ा है जो भौतिक कारणों से उत्पन्न होती है और मोक्ष शरीर का विलय है। अपनी मूल पाठपरक पुस्तक को वृहस्पति नामक देवताओं के गुरु के नाम पर प्रचारित करने में भी व्याजोक्ति के एक स्पर्श की खोज की जा सकती है। ब्राह्मणों का धर्म बहुत ही कठोर व्यवहार प्राप्त करता है। वेदों के विषय में चार्वाक कहते हैं कि वे धूर्तों के असंगत और असंबद्ध प्रलाप हैं और तीन दोषों से कलंकित हैं—असत्यभाषण, स्वयं में परस्पर विरोध और पुनरुक्ति। वैदिक शिक्षक धोखेबाज हैं जिनके सिद्धान्त एक दूसरे का उच्छेद करने वाले हैं और ब्राह्मणों के कर्मकाण्ड का उपयोग केवल आजीविका के साधन के रूप में है। वे कहते हैं—यदि बलिदान किया गया कोई जानवर स्वर्ग को चला जाता है तो बलिदान करने वाला अपने पिता का ही बलिदान क्यों नहीं करता जो अधिक अच्छा हो।[1]

---

१. पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हन्यते॥

इस दर्शन का नैतिक पक्ष सर्वदा सुखपरक है। क्योंकि यहां मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य इन्द्रियोपभोगजन्य आनन्द बतलाया गया है जहां तक सम्भव हो उसके मार्ग में आने वाले उससे संबद्ध कष्टों की उपेक्षा कर उस आनन्द का उपभोग करना चाहिए। जैसे एक व्यक्ति जो मछली को चाहता है सौदे में खाल पर पड़ी पपड़ियों (चोइयों) और हड्डियों को सौदे में ले लेता है। जब तक जीवन विद्यमान है मनुष्य उसका आनन्द के साथ यापन करे। चाहे उसे कर्ज में ही पड़ जाना पड़े किन्तु उसे खूब घी खाना चाहिए। जब एक बार शरीर राख बन जाता है तब फिर दुबारा वह कैसे लौट सकता है?[२]

सर्वदर्शन संग्रह

सर्वदर्शन संग्रह के लेखक ने ध्यान देने योग्य मानसिक पृथक्करण की स्थिति में स्वयं को डालकर और प्रत्येक विषय में स्वयं को अनुयायी मानकर सब मिलकर १६ सिद्धान्तों का विवेचन किया है। उनमें छः ऐसे हैं जिनकी रूपरेखा ऊपर नहीं दी गई। ये सिद्धान्त कम महत्त्वपूर्ण होने के अतिरिक्त शुद्धरूप में दार्शनिक हैं भी नहीं। इनमें ५ साम्प्रदायिक हैं, एक वैष्णव धर्मानुयायी है और चार शैवमतावलम्बी हैं। उनमें प्रत्येक में सांख्य और वैष्णव धर्मों की छाया विद्यमान है। छठा पाणिनि दर्शन माधवाचार्य द्वारा दर्शनों में सम्मिलित किया गया है। इसका साधारण सा कारण यह है कि भारतीय वैयाकरणों ने शब्द की नित्यता का मीमांसकों का मत स्वीकार किया और दार्शनिक दृष्टि से स्फुट के योग के सिद्धान्त (स्फोट) का विकास किया अथवा यह माना कि प्रत्येक शब्द में अर्थ वाहक के रूप में इन्द्रियातीत नित्य तत्त्व विद्यमान है।

---

२. यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

अध्याय-१६

संस्कृत साहित्य और पश्चिम

स्थान की कमी मेरे लिए यह असम्भव बना देती है कि मैं संस्कृत में लिखी संख्यातीत और अनेक विषयों में महत्त्वपूर्ण कानूनी और वैज्ञानिक रचनाओं का सर्वाधिक संक्षिप्त भी विवरण दे सकूं। किन्तु मैं संस्कृत साहित्य के पर्यवेक्षण का, जिसमें भारतीय संस्कृति का शारीरीकरण किया गया है, तब तक उपसंहार नहीं कर सकता जब तक पश्चिम के भारत में पड़े प्रभाव का और जो प्रभाव भारत ने पश्चिम पर डाला है उसका सरसरी तौर से रेखा चित्र प्रस्तुत न कर दूं। इस अत्यधिक मनोरंजक विषय का पूरा विवरण केवल एक विशिष्ट ग्रन्थ में दिया जा सकता है।

भारतीयों और पाश्चात्य लोगों के मध्य प्राचीनतम सम्पर्क सूत्र का अनुसन्धान भारतीय लेखों के इतिहास में प्राप्त किया जा सकता है जो लेख जैसा कि हम पहले देख चुके हैं (पृष्ठ १४) सेमेटिक स्रोत से ८०० बी० सी० जैसी सुदीर्घ प्राचीनता में प्राप्त किए गए।

आर्यों ने प्रागैतिहासिक काल में हिन्दुस्तान पर विजय प्राप्त कर ली थी; फिर शीघ्र बाद में स्वयं विदेशी शासन के नीचे आ गये। सीमावर्ती उत्तर पश्चिम ५०० बी.सी. से ३३१ बी.सी. तक फारस के आर्कमेनिड वंश के शासन का क्षेत्र बन गया। गान्धार और अश्वक जातियों को साइरस प्रथम ने अपना करद बना लिया। वेहिस्तान और पर्सीपोलिस के प्राचीन फारसी शिलालेखों से ज्ञात होता है कि उसके उत्तराधिकारी डेरियस हिष्टेटिसस ने केवल गान्धार वासियों पर ही शासन नहीं किया किन्तु सिन्धु के लोगों पर भी शासन किया। होरोडोटस ने यह भी लिखा है कि इस सम्राट ने उत्तरी भारत को शासन में लिया था। कहा जाता है कि उसी डेरियस की आज्ञा से स्काईलैक्स नामक यूनानी ने भारत में यात्रायें कीं और ५०६ ई० पूर्व में सिन्धु नदी पर नौका भ्रमण किया। उनके वर्णन से विभिन्न यूनानी लेखकों ने जिसमें होरोडोटस भी शामिल है भारत के विषय में सूचनायें खोज निकालीं। जेरक्सेज(xerekes)

ने ४८० बी० सी० में जो सेना यूनान के प्रतिकूल भेजी थी उसमें गान्धार और सिन्धु की टुकड़ियां भी सम्मिलित थीं जिनके वस्त्रों और साधनों का होरोडोटस ने वर्णन किया है। उस इतिहासवेत्ता ने यह वक्तव्य भी दिया है कि भारत के सत्रपी ने फारस के साम्राज्य में सबसे भारी प्रतिदान दिया था। उसने इतना और जोड़ दिया है कि जो सोना दिया गया था वह पूर्व के रेगिस्तान से आया था जहां यह लोमड़ियों से बडी चीटियों द्वारा खोदकर निकाला गया था।

चौथी शताब्दी बी० सी० के प्रारम्भ में यूनानी वैद्य केशियस (Ktesias) ने जो आर्टजरेक्सेज (Artaxerekes) द्वितीय के दरबार में रहता था फारस के लोगों से भारत के विषय में बहुत कुछ सीखा और व्यक्तिगत रूप से भी बुद्धिमान भारतीयों से परिचित था। ३६८ बी० सी० में अपने लौटने के बाद भारत के विषय में उसने जो विवरण दिया है उससे बहुत कम उपयोगी ज्ञान का निष्कर्ष निकाला जा सकता है, क्योंकि यह बहुत ही अपूर्णता के साथ सुरक्षित रखा गया है और उसके अपने देश वालों में उसकी सत्यवादिता की प्रतिष्ठा बहुत ऊंचे रूप में स्थित नहीं है।

सिकन्दर महान के द्वारा पर्शियन साम्राज्य के ध्वस्त कर दिए जाने के बाद भारत पर दूसरा आक्रमण प्रारम्भ हुआ जो भारतीय इतिहास में पहली बार पूर्णरूप से निश्चित तिथि स्थापित कर देता है। ३२७ बी० सी० में सिकन्दर ने १ लाख २० हजार पैदल और ३०००० घुडसवारों को लेकर हिन्दूकुश का दर्रा पार किया। काबुल और सिन्धु नदियों के संगम पर पुष्कलवती (ग्रीक पिउकेल ओटिस) नगर पर अधिकार करने के बाद काबुल नदी के उत्तर में अश्वक लोगों को (ग्रीक लेखक अश्वक शब्द का अस्साकनोई, अस्पसिओई, हिप्पासिओई इत्यादि अनेक रूपों में प्रयोग करते हैं।) और दक्षिण में गान्धार के लोगों को पराजित कर दिया। इसके बाद उसने ३२६ ई० पू० के प्रारम्भिक दिनों में सिन्धु नदी को पार किया। तक्षशिला (ग्रीक टैक्सीलेस) में सिन्धु और झेलम (हाइडाप्सेज) के मध्य में ग्रीक लोगों ने सर्व प्रथम ब्राह्मण योगियों या 'भारतीयों के बुद्धिमान मनुष्यों' को देखा। ग्रीक लोग उन्हें यही कहते थे और उनके सन्यास तथा विचित्र सिद्धान्तों पर आश्चर्य करते थे।

झेलम और चिनाव (आके साइंस) के मध्य में पौरव या पौरस लोगों का राज्य था जिनके राजकुमार को ग्रीक लोग उनके लोगों के नाम पर पोरस कहा करते थे। उस राजकुमार ने ५०००० पैदल, ४००० घुडसवार, २०० हाथी और ४०० रथों को लेकर आक्रान्ता की बढ़त को रोकने का प्रयत्न किया। तब झेलम के तट पर ऐतिहासिक महायुद्ध लड़ा गया जिसमें सिकन्दर

ने एक भयानक संघर्ष के बाद सेना की अधिक अच्छी संख्या और प्रतिभा की शक्ति से उस दिन का युद्ध जीत लिया। उसने अपनी विजयिनी सेना का पूर्व की ओर बढ़ना जारी रखा जब तक वे शतलज (ग्रीक जण्डाड्रेस) तक पहुंच गए। किन्तु यहां गंगा की ओर उनकी प्रगति मैसीडोनियन लोगों के विरोध के कारण रोक दी गई जो प्रसीओई (संस्कृत प्राच्य अथवा पूर्व के लोग) के राजा की बहुत बडी शक्ति का वर्णन सुनकर भयभीत होकर लौटना चाहते थे। इससे पंजाब और सिन्ध में अपने सत्रपों की नियुक्ति कर सिन्धु के मुहाने की ओर नीचे को नावें लेकर वे जेड्रोशिया होते हुए वे पर्शिया की ओर लौट गए। जो लोग सिकन्दर के साथ आये थे उनके लेखों का बाद के लेखकों के वक्तव्य के अतिरिक्त और कुछ सुरक्षित नहीं रखा जा सका।

सिकन्दर की मृत्यु और यूडेमस द्वारा बुड्ढे राजा पोरस की हत्या के बाद पंजाब के सत्रप ने विद्रोह कर दिया जिसमें भारतीयों ने एक साहसिक कार्य करने वाले चन्द्रगुप्त (ग्रीक-सन्द्रकोट्टोस सन्द्रोक्यप्टोस) नामक नवयुवक के नेतृत्व में यूनानी जुआ उतार फेंका। ३१७ बी० सी० में सिन्धु के सीमा क्षेत्र का अधिकार प्राप्त कर और ३१५ बी० सी० में पाटलिपुत्र के राजा को गद्दी से उतार कर वे (चन्द्रगुप्त) समस्त गंगाघाटी के भी स्वामी बन गए। इस प्रकार मौर्यवंश का जो शासन उन्होंने स्थापित किया था वह १३७ वर्ष (३१५ से १७८ बी० सी० तक) बना रहा। अब तक ज्ञात साम्राज्यों में उसका साम्राज्य सबसे बडा था—क्योंकि वह हिमाचल और विन्ध्याचल के मध्य में गंगा के मोहाने से सिन्धु तक, गुजरात को भी शामिल कर सारे क्षेत्र को घेरे हुए था।

सेल्यूकस जिसने मीडिया और पार्सिया में साम्राज्य स्थापित कर लिया था चन्द्रगुप्त को पराजित करने में स्वयं को असमर्थ समझकर मेगस्थनीज नामक एक यूनानी को पाटलिपुत्र में उनके दरबार में रहने के लिए भेज दिया। इस प्रकार यह राजदूत कई वर्ष तक ३११ से ३०२ बी० सी० तक हिन्दुस्तान के हृदय में रहता रहा। उसने 'टा इण्डिया' नामक एक पुस्तक लिखी जो इस अर्थ में विशेष रूप से बहुमूल्य है कि यह सबसे पहला एक विदेशी द्वारा लिखा गया सीधा विवरण है जिसने स्वयं देखा था, जो स्वयं इस देश को जानता था। मेगस्थनीज ने चन्द्रगुप्त की सेना की शक्ति और देश के प्रशासन के विषय में हमें बहुत से विवरण प्रदान किए हैं। उन्होंने जंगल के सन्यासियों (हाइलोबिओई) के विषय में वर्णन किया है और ब्रचमान और सरमानई इन दो दार्शनिक सम्प्रदायों का परिचय दिया है इसमें सन्देह नहीं कि इनसे उनका आशय है ब्राह्मण और बौद्ध (श्रमण)। वे हमें बतलाते हैं कि भारतीय

लोग वर्षा लाने वाले ज्यूज (इन्द्र) की और उसी प्रकार गंगा जी की पूजा करते थे जो इसलिए निश्चय ही पवित्र नदी बन चुकी होगी। उनके विवरण से ज्ञात होता है कि वे (भारतीय) लोग पर्वत पर देव डायोनिसस की पूजा करते थे—इससे उनका मन्तव्य शिव ही रहा होगा और हेराकिल्स का अर्थ विष्णु और उनके अवतार कृष्ण के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा जिनकी आराधना मैदान में, विशेषकर यमुना के किनारे शूरसेन के लोगों में और मथुरा शहर में की जाती थी जिनकी (यादव सम्प्रदाय की) प्रधान नगरी मथुरा (मुट्रा) थी। ये वक्तव्य इस निष्कर्ष को प्रमाणित करते हैं कि उस समय तक शिव और विष्णु प्रधान सर्वोत्कृष्ट देवता के रूप में बन ही चुके थे जिनमें पहले पर्वतों के और दूसरे गंगाघाटी के देवता थे। कृष्ण भी विष्णु के अवतार समझे जाने वाले प्रतीत होते हैं, यद्यपि यह बात ध्यान देने योग्य है कि अब तक पुराने बौद्ध सूत्रों में कृष्ण का उल्लेख नहीं हुआ था। हम मेगस्थनीज से यह भी अध्ययन करते हैं कि विश्व की चार अवस्थाओं (युगों) का सिद्धान्त इस समय तक भारत में पूर्ण रूप से स्थापित हो चुका था।

चन्द्रगुप्त के पौत्र प्रसिद्ध अशोक ने केवल अपना भारतीय राष्ट्रीय साम्राज्य ही सुरक्षित नहीं रखा किन्तु इसे प्रत्येक दिशा में विस्तारित किया। बौद्ध धर्म को एक राष्ट्रीय धर्म के रूप में स्वीकार कर उन्होंने उसके सिद्धांतों को फैलाने की दिशा में बहुत कुछ किया और विशेष रूप से लंका में प्रसारित करने का प्रयत्न किया जो उसी समय से बौद्ध परम्परा के सबसे बड़े सच्चे अभिभावक के रूप में सर्वदा बना रहा।

अशोक की मृत्यु के बाद ग्रीको बैक्ट्रियन राजकुमारों ने लगभग २०० बी० सी० में पश्चिम भारत पर विजय प्राप्त करना प्रारम्भ कर दिया और वहां लगभग ८० वर्ष राज्य किया। यूथीडेमस ने अपना साम्राज्य झेलम तक बढ़ा लिया। उनका पुत्र डेमेट्रियस (२री शताब्दी बी० सी० प्रारम्भिक दिनों में) सिन्धु के निचले भागों मालवा, गुजरात और सम्भवत: कश्मीर तक अपना अधिकार रखते हुए ज्ञात होता है। वह हिन्दुस्तान का राजा कहलाता है और पहला ही व्यक्ति था जिसने दो भाषाओं के सिक्कों का प्रचलन प्रारम्भ किया। इन सिक्कों में खरोष्ट्री लिपि में पीछे की ओर भारतीय लेख जोड दिया गया और दूसरी ओर सामने की दिशा में ग्रीक भाषा का ही लेख रखा गया। यूक्राटाइड्स ने (१९०-१६० बी० सी०) जिसने डेमेट्रियस के प्रतिकूल विद्रोह किया पंजाब को व्यास की सीमा तक अपने आधीन बना लिया। हेलिओक्लेस (१६०-१२० बी० सी०) के शासन के बाद भारत में ग्रीक राजकुमारों का बैक्ट्रिया से सम्बन्धित होना समाप्त हो गया। इन यूनानी भारतीय लोगों

में सबसे अधिक प्रतिष्ठित मिनेण्डर (१५० बी.सी.) था, वह मिलिन्द के नाम पर बौद्ध लेखों में बहुत अधिक प्रसिद्ध है। भारत पर ग्रीक शासन का अन्तिम चिन्ह २० बी० सी० में लगभग २०० वर्ष रहकर समाप्त हो गया। यह ध्यान देने योग्य वास्तविकता है कि भारत में कभी भी यूनानी कीर्तिस्तम्भ रूप स्मारक खुदाई प्राप्त नहीं हुई।

यूनान भारतीयकाल के प्रारम्भ के साथ सीथियनवर्ग के लोगों के भी आक्रमण प्रारम्भ हो गए जिनको यूनानी लोग इण्डोसीथियन और भारतीय लोग शक कहा करते थे। फारस के लोग सामान्य रूप से सीथियन लोगों को यही उपाधि प्रदान करते थे। निश्चय ही इस प्रकार फारस के लोगों द्वारा सीथियन कहे जाने वाले लोगों में उनके वंशज पंजाब के जाट लोग समझे जाते हैं। इन शासकों में सबसे पहला माओस(Maucs)या मोआ (लगभग १२० बी. सी०) हैं, इनका शासन १७८ ए० डी० तक या लगभग ३०० वर्ष तक दृढता के साथ साथ चलता रहा। उनकी स्मृति भारत में शक संवत के रूप में सुरक्षित रखी गई है जो अब भी प्रयोग में आती है और ७८ ए० डी० से प्रारम्भ होती है जो कनिष्क का अभिषेक वर्ष था। इस जाति का वही एक सर्वप्रतिष्ठित राजा था। उसका शासन जिसमें गंगातट पर स्थित कान्यकुब्ज (कन्नौज) भी शामिल था भारत की सीमा के बाहर मध्य एशिया के भागों तक फैला हुआ था। बुद्ध के उत्साही अनुयायी के रूप में उसने गान्धार और काश्मीर को इस धर्म का एक प्रधान केन्द्र बना दिया और बाद वाले प्रदेश में बौद्धों की चौथी संगीति का भी आयोजन किया।

लगभग २० बी० सी० में शकों के भारत प्रवेश का अनुसरण कुषाण लोगों ने किया जो मध्य एशिया के यू० ची० के ५ कबीलों में एक थे और जिन्होंने बाद में समस्त उत्तर भारत को जीत लिया।

गुप्त साम्राज्य

भारतीय साम्राज्य एक बार पुनः एक साम्राज्य के रूप में सयुक्त होकर इतना महान बन गया जितना चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में था। अबकी बार वे गुप्तवंश के साम्राज्य में सङ्गठित हुए थे और उनका शासन ३१९ से ४८० ए० डी० तक रहा। उत्तर भारत कुछ तो हूणों के आक्रमण के कारण विभिन्न राज्यों में विभाजित हो गया जिनमें बाद के कतिपय गुप्तवंशीय शासक थे। यह शासन ६०६ ए० डी० तक चला जबकि कन्नौज के हर्षवर्धन ने समस्त उत्तर भारत पर सर्वातिशायी शक्ति प्राप्त कर ली। उनके शासनकाल में बाण कवि फले फूले और ख्यात नामा चीनी यात्री ह्वेनसांग ने भारत की यात्रा की।

बाद के आक्रान्ता

लगभग १००० ए० डी० में मुसलमानों की विजय के साथ देश दूसरी वार विदेशी जुये के नीचे आ गया जैसाकि सिकन्दर के आक्रमण के बाद हुआ था। हमारा सौभाग्य है कि हमें इसकाल की भी अल्वरूनी की बहुमूल्य रचना इण्डिया (लगभग १०३० ए० डी०) मिलती है जिसमें उच्चशिक्षित प्रबुद्ध विदेशी ने अपने इतिहास ग्रन्थ में भारतीय सभ्यता के इस नए युग का विस्तृत विवरण दिया है।

भारतीयों का पश्चिम से आने वाले विदेशी आक्रान्ताओं के साथ यह वार बार का सम्पर्क स्वाभाविक रूप में हमें साहित्य की विभिन्न शाखाओं में एक दूसरे पर प्रभाव की ओर ले जाता है।

महाभारत एवं रामायण पर प्रभाव

पौराणिक महाकाव्यों (महाभारत और रामायण) के विषय में हमें ग्रीक अलंकार शास्त्रज्ञ डिओ क्राइष्टोटोमस (५०-११७ ए० डी०) का एक वक्तव्य मिलता है कि भारतीय अपनी भाषा में होमर की कविता प्रियम के दुःख, एण्ड्रोमैक और हेकुवा के विलाप, एकिलिस और हेक्टर के साहसपूर्ण कार्यों के विषय में गीत गाते हैं। ग्रीक लेखक स्पष्ट रूप से महाभारत के कतिपय प्रधान पात्रों को लक्ष्य बनाकर चला है। उन कतिपय प्रधान पात्रों की कुछ समानता ने ही उसे यह समझा दिया कि भारतीय महाकाव्य इलियड का अनुवाद है। फिर भी दोनों महाकाव्यों के मध्य में किसी प्रकार का कोई सम्वन्ध नहीं है और न ही प्रो० वेवर (पृ० ३०७) के यह स्वीकार करने में कि रामायण पर ग्रीक प्रभाव है कोई भी पूर्ण प्रमाण अधिगत होता है।

यह दृष्टिकोण बनाया गया है जैसा कि हम देख चुके हैं कि महाभारत की कथा में कृष्ण का महत्वपूर्ण योगदान है। इन कृष्ण के विषय में धारणा बनाई गई है कि इनकी पूजा का उद्गम ईसाई प्रभाव के अन्तर्गत हुआ है जिसके साथ निश्चय ही समानता के कतिपय चिन्ताकर्षक विन्दु प्राप्त होते हैं। चाहे जो हो यह सिद्धान्त कम से कम उस सीमा तक अविश्वसनीय मान लिया गया है जिसमें कृष्ण युग के प्रारम्भ का सम्बन्ध है—यह उन निष्कर्षों के आधार पर हुआ है जिनमें हम महाभारत की आयु के विषय में निष्कर्षों पर पहुंचे थे (पृ० २६८-२६९) और उसी प्रकार मेगस्थनीज के वक्तव्य से भी यही निष्कर्ष निकलता है जिसमें यह संकेत दिया गया है कि हमारे सन् संवत् के प्रारम्भ के कतिपय शताब्दियों पूर्व कृष्ण देवता बन गए थे और उनकी पूजा होने लगी थी। इसके अतिरिक्त महाभाष्य से हम यह भी जानते हैं कि ईशा के जन्म से

दूसरी शताब्दी पूर्व या कम से कम प्रथम शताब्दी पूर्व कृष्ण नाटकीय अभिनयों का विषय बन गये थे।

यह एक मनोरंजक प्रश्न है कि क्या भारतीय नाटक का ग्रीक नाटक के साथ कोई उत्पत्ति का सम्बन्ध है। यह निश्चय के साथ स्वीकार कर लेना चाहिए कि हमारे सन् संवत् के प्रारम्भ होने के पहले प्रथम तीन शताब्दियों में इस प्रकार के सम्बन्ध के अवसर सम्भवतः विद्यमान रहे होंगे। भारत पर आक्रमण करने के समय सिकन्दर के साथ बहुत बड़ी संख्या में कलाकार आये थे जिनमें कतिपय अभिनेता भी रहे होंगे। सेल्यूकस ने अपनी पुत्री विवाह में चन्द्रगुप्त को प्रदान कर दी और वह शासक तथा प्टोलेमी द्वितीय दोनों ही राजदूत के साधन के द्वारा पाटलिपुत्र के दरबार से सम्बन्ध बनाये रहे। ग्रीक वंश परम्परा पश्चिम भारत पर लगभग दो शताब्दियों तक शासन करती रही। अलेक्जेण्ड्रिया भारत के एक शहर के साथ जिसे ग्रीक लोग बेरीगजा (अब ब्रोच) कहा करते थे एक आनन्दमय व्यापारिक सम्बन्ध रखता था। यह शहर गुजरात में नर्मदा के मुहाने पर बसा हुआ था। व्यापारिक मार्ग के द्वारा बाद वाले (ब्रोच) शहर के साथ उज्जयिनी (ग्रीक उजेने) का सम्बन्ध था जो कि परिणाम स्वरूप सम्पन्नता की ऊंची कोटि पर पहुंच गया था। फिलोष्ट्रे-टस (द्वितीय शताब्दी ए० डी०) ने टयाना के अपोलोनियस का जीवनचरित्र लिखा है जो ५० ए० डी० में भारत यात्रा पर आया था। उसने उस पुस्तक में उल्लेख किया है कि उस समय ब्राह्मण लोग यूनानी साहित्य को बहुत ऊंची दृष्टि से देखते थे। यह सच है कि यह कोई विश्वसनीय प्रमाण नहीं है। भारतीय लेखों में वर्णन किया गया है कि यवन या यूनानी लड़कियां भेंट के रूप में भारत में भेजी जाती थीं और संस्कृत के लेखकों विशेपरूप मे कालिदास ने वर्णन किया है कि वे लड़कियां भारतीय राजाओं की सेवा किया करतीं थीं। प्रो० वेवर ने यहां तक अनुमान लगाया है कि प्रेम के देवता काम की पताका पर मकर का चिन्ह बना रहता है; यह उसी प्रकार है जिस प्रकार यूनानी इरोस यूनानी गणिकाओं के माध्यम से किया करता था।

इस प्रकार की दशाओं की विद्यमानता ने प्रो० वेवर को यह विश्वास करने के लिए फुसला दिया कि यूनानी नाटकों का उपस्थापन बैक्टीरिया, पंजाब और गुजरात के राजाओं के दरबारों में प्रस्तुत किया जाता था और उसी ने भारतीयों द्वारा अनुकरण के एक विषय के रूप में नाटक का सुझाव दे दिया। इस सिद्धान्त का समर्थन इस वास्तविकता से होता है कि भारतीय रंगमंच का परदा यवनिका या 'यूनानी विभाजक' कहलाता है। साथ ही वेवर यह भी

स्वीकार करता है कि भारतीय और यूनानी नाटकों में किसी प्रकार का आन्तरिक सम्बन्ध नहीं है।

प्रो० विण्डिश सचमुच और आगे बढ़ गये और इस प्रकार के आन्तरिक सम्बन्ध का समर्थन किया। निश्चय ही उनके लिए यूनानी दुःखान्तिका की समानता दिखलाना असम्भव था, किन्तु उसने विचार व्यक्त किया कि मृच्छकटिक में वे नयी एटिक सुखान्तिका का प्रभाव ढूढ़ निकाल सकते हैं। यह वात ३०० वी० सी० के लगभग मिनिण्डेर में पराकाष्ठा पर पहुंच गई। जिन बिन्दुओं पर वह नाटक यूनानी सुखान्तिका से मेल खाता है वे अन्य संस्कृत नाटकों में वहुत कम और अपेक्षाकृत तुच्छ हैं और आसानी से सिद्ध किया जा सकता है कि उनका स्वतन्त्र विकास भारत में ही हुआ। इस सिद्धान्त की असम्भवनीयता पर इस वात से अधिक जोर डाला जा सकता है कि भारतीय नाटको की सेक्सपियर के नाटकों से समानता उसकी आपेक्षा अधिक है। यह सन्देहास्पद है कि क्या कभी भारत में वास्तव में यूनानी नाटक मञ्च पर दिखलाए गये थे। किसी भी कीमत पर इस प्रकार के प्रदर्शन का कोई भी विवरण सुरक्षित नहीं रखा जा सका। दूसरी वात यह है कि सबसे पुराने संस्कृत नाटकों की विद्यमानता में यूनानीकाल से चार सौ वर्ष व्यवधान है। भारतीय नाटक का पूर्णरूप से स्वरास्ट्रीय विकास ही हुआ है और यद्यपि उस का प्रारम्भ अन्धकार के आवरण में ढका है फिर भी उसकी अपने देश में ही उत्पत्ति की व्याख्या सरलता से स्वीकार की जा सकती है। परदे का नाम 'यवनिका' वास्तव में यूनानी नाटकों के भारत में देखे जाने का स्मारक हो सकता है, किन्तु यह निश्चय नहीं है कि क्या यूनानी नाटकों में किसी प्रकार का परदा होता भी था या नहीं। किसी भी दृष्टि से देखे यह रंगमंच की पृष्ठ भूमि नहीं बनाता।

यह ध्यान देने योग्य वास्तविकता है कि सर्वाधिक प्रतिष्ठित वर्तमान यूरोपीय नाटकों में एक के प्रारंभ की रचना लव्धप्रतिष्ठ संस्कृत नाटक के नमूने पर हुई है। शकुन्तला की प्रस्तावना ने गेटे को अपने फाष्ट लिखने में रंगमंच पर प्रस्तावना की योजना बनाने की प्रेरणा प्रदान की जहां रंगमंच का सूत्रधार विदूषक और कवि अभिनेय नाटक के विषय में वातचीत करते हैं (दे० पृ०-३१५)। कालिदास की कला की सर्वोत्तम रचना का अनुवाद जर्मन भाषा में फ्रोष्टर ने १७९१ में प्रकाशित किया था और इसने गेटे पर पूर्ण प्रभाव जमाया यह वात इससे सिद्ध होती है कि उसने उसी वर्ष शकुन्तला पर एक छोटे जाने-माने काव्य की रचना की। प्रभाव अधिक स्थायी था क्योंकि फाष्ट की रंग-मंचीय प्रस्तावना १७९७ तक नहीं लिखी गई थी और वहुत बाद में १८३०

में कवि ने वीमर रंगमंच के लिये भारतीय नाटक विद्या के नियोजन पर विचार किया।

यदि पौराणिक महाकाव्य और नाटकीय कविता के विषय में भारत और पश्चिम के मध्य कोई भी निश्चित प्रभाव कठिनाई से तलाश किया जा सकता है किन्तु लघुकथा और परिकथा के क्षेत्र के विषय में यह कितना भिन्न है ? इनकी भारत से विदेश प्रव्रजन की कथा विश्वसाहित्य के इतिहास में सर्वाधिक विचित्र अध्याय का निर्माण करती है।

हम जानते हैं कि छठीं शताब्दी ए० डी० में बौद्ध लघुकथाओं का एक संग्रह भारत में विद्यमान था जिसमें पशु, पक्षी, मनुष्यों के कार्यकलाप करते हैं। (दे० पृ० ३५५) सस्सानियन राजा खुशरू अनुशीर्वान (५३१-५७६) के निर्देश पर वरजोई नामक एक फारसी वैद्य ने इसका अनुवाद पहलवी में किया। यह भाषान्तर और अपरिष्कृत मूल दोनों ही नष्ट हो गए। लेकिन पहलवी से किए गए पुराने और ध्यान देने योग्य दो अनुवाद सुरक्षित रखे गए हैं—एक अनुवाद ५७० ए० डी० में सीरिया में किया गया था जो कलिलग और दमनग कहलाता था। इसकी एक पाण्डुलिपि १८७० में संयोगवश प्राप्त हुई; भाग्यशाली घटनाओं के एक आश्चर्यजनक प्रकरण द्वारा विद्वानों को उसका परिचय प्राप्त हुआ और वह १८७६ में प्रकाशित हुआ। पहलवी से अरबी में अनुवाद जिसका शीर्षक था कलिलह और दिमनह या 'पिल्पे की कहानी' ८वीं शताब्दी में इस्लाम धर्म को स्वीकृत करने वाले एक फारस निवासी द्वारा किया गया था जिसका ७६० ए० डी० के लगभग देहान्त हो गया। इस अनुवाद में एक दुष्ट राजा का प्रतिनिधित्व है जो विडवह नामक एक दार्शनिक ब्राह्मण द्वारा गुणों में पुनः प्रतिष्ठापित किया गया। विडवह एक ऐसा शब्द है जिसका पहलवी के माध्यम से संस्कृत विद्यापति के रूप में सफल अनुसंधान किया गया। विद्यापति का अर्थ है 'विद्याओं या विज्ञानों का स्वामी' या 'प्रधान विद्वान'। विडवह शब्द से ही वर्तमान विडपई या पिल्पे शब्द निकाला गया है। इस प्रकार यह शब्द बिल्कुल ही किसी एक व्यक्ति का नाम नहीं है।

यह अरबी भाषान्तर बहुत उपयोगी है, क्योंकि यह दूसरे भाषान्तरणों का एक ऐसा साधन है जिसने यूरोप में मध्यकालीन साहित्य के स्वरूप प्रदान करने में अत्यधिक प्रभावशाली योगदान दिया। इसके भाषान्तरण के बाद में सीरिया (लगभग १००० ए० डी०) ग्रीक (११८०) पर्शियन (लगभग ११३०) दुवारा

फिर 'अनवरी सुहिली' या 'कैनोपस का प्रकाश' शीर्षक से संशोधित (लगभग-१४६४) पुरानी स्पेन भाषा (१२५१) और हिब्रू १२५० में भाषान्तरण किया गया।

अनुवादों के चौथे स्तर का प्रतिनिधित्व हेब्र्यू भाषान्तरण से लैटिन में जान आफ कपुआ द्वारा (लगभग १२७० ई०) में किया गया जिसका नाम रखा गया 'डाइरेक्टोरियम ह्यूमेनिया वीटिया' जो १४८० में प्रकाशित हुआ।

वर्टेमवर्ग के डयूक एवर हाइट के निर्देश पर जान आफ कपुआ की पुस्तक से 'डास वुच डर विस्पेल डर आल्टेन विशन' अथवा पुराने सन्तों की उपकथा की पुस्तक' नामक प्रसिद्ध जर्मन भाषान्तरण किया गया जो पहली बार १४८१ में प्रकाशित हुआ। यह वास्तविकता कि चार विभिन्न तिथियों के संस्करण १४८३ और १४८५ के मध्य में उल्म में तथा १३ और संस्करण १५९२ तक की निचिली तिथियों तक प्रकाशित हुए यह पर्याप्त मुखर प्रमाण है जो १५वीं १६वीं शताब्दी में शिक्षा के साधन और मनोरंजन के उपयोगी के रूप में इस पुस्तक की महत्ता को सिद्ध करता है। निर्देशिका इटली के भाषान्तरण की भी साधिका बनी जो १५५२ में वेनिस में प्रकाशित हुई जिससे सर टामस नार्थ (१५७०) का अंग्रेजी अनुवाद सामने आया। इस प्रकार बाद वाला (अंग्रेजी-संस्करण) भारतीय मूल से ५ मध्यवर्ती अनुवादों और एक हजार वर्षों के समय से व्यवहित हो गया।

इस वात पर ध्यान देना मनोरंजक है कि इस प्रकार भ्रमणकाल में कहानियों में किस प्रकार के परिवर्तन उपस्थित हुये। अपनी लघुकथाओं के द्वितीय संस्करण (१६७८) में लाफाण्टेन ने अपनी पुस्तक के अधिकांश भाग के लिए भारतीय सन्त पिल्पे (विद्यापति) का ऋण स्वीकार किया। फ्रांस के लेखक की लिखी एक वहुत ही प्रसिद्ध कहानी है—एक गोप कन्या अपने सर पर दूध का एक पात्र वाजार को लिए जा रही थी और दूध वेचने से भविष्य में होने वाली सम्पत्ति के सभी प्रकार के हवाई किले वना रही थी, अकस्मात् निकट भविष्य में आने वाले अपने भविष्य की सम्भावनाओं के आनन्द में उछल पड़ी और उससे उसका दूध का वर्तन जमीन पर गिरकर चूर-चूर हो गया। यह पञ्चतन्त्र में अव तक सुरक्षित एक कहानी का परिवर्तित रूप है। यहां एक ब्राह्मण है जो भिक्षा में मांग कर लाये हुए चावल के कतिपय कणों के अवशेष को एक भिक्षापात्र में भरकर उसको अपने बिस्तर के ऊपर दीवाल पर खूंटी से लटका देता है। वह स्वप्न देखता है कि जब अकाल पड़ेगा तब वह चावलों को वेचकर वहुत अधिक पैसा प्राप्त कर लेगा। तव वह धीरे-धीरे जानवर खरीदेगा, एक सुन्दर मकान खरीदेगा और कीमती दहेज लेकर एक खूबसूरत

लड़की से शादी करेगा। एक दिन जब वह अपनी पत्नी को बुलाता है और कहता है कि उसका पुत्र इधर-उधर खेल रहा है—उसे ले जाय और वह सुनती नहीं, तब वह उठेगा और उसके एक लात मारेगा। जैसे ही यह विचार उसके मस्तिष्क में कौंधता है उसका पैर भिक्षा पात्र को तोड़ देता है और उस में रखी वस्तुएं सब उसके ऊपर बिखर जाती हैं।

ला फाण्टेन की पुस्तक में आई दूसरी भी पंचतन्त्र की कहानी एक लोभी सियार के विषय में है। उसे एक सूकर और शिकारी के शवों के साथ शिकारी का धनुप भी मिलता है। वह पहले धनुप की डोरी खाने का निश्चय करता है। जैसे ही वह उसे चवाना शुरू करता है धनुप अलग होकर बढ़ना प्रारम्भ कर देता है, उसके सर को छेद देता है और उसे मार डालता है। ला फाण्टेन की पुस्तक में सियार भेडि़या बन गया है और छोड़े हुए तीर से मर जाता है जब वह धनुप का स्पर्श करता है।

भारतीय कहानियों के प्रदेशान्तरण जन्य रूपान्तरण के इतिहास में सम्भवतः बरलम और जोसाफेट की कहानियों से अधिक ध्यान को आकर्षित करने वाला और कुछ नहीं है। खलीफ आल्सन्सूर (७५३-७७४) के दरबार में जहां कलिलह और दिमनह अरबी में अनूदित किए गए थे एक ईसाई रहता था जो जान आफ डैमस्कस के रूप में जाता जाता था। उसने यूनानी भाषा में बरलम और जोसाफेट कहानी ईसाई धर्म के एक सार संग्रह के रूप में लिखी। यह मध्यकाल की अत्यधिक प्रतिष्ठित पुस्तकों में एक बन गई। अनेक प्राच्य-भाषाओं और उसी प्रकार यूरोपीय भाषाओं में इसका अनुवाद किया गया। अनेक लघु कथाओं और दृष्टान्तरूप कथाओं द्वारा इस पुस्तक को जीवन दिया गया और आह्लादजनक बनाया गया। इनमें अधिकांश कहानियों का भारतीय उद्गम तलाश कर लिया गया। स्वयं कथानायक जोशाफेट का भी उद्गम भारतीय ही है। वस्तुतः वे बुद्ध के अतिरिक्त कोई और नहीं है। यह नाम (जोसाफेट) बोधिसत्त्व का विकृत रूप दिखलाया गया है जो कि भारतीय सुधारक की एक सुप्रसिद्ध उपाधि है। ग्रीक और रोमन दोनों चर्चों में जोसाफेट बढ़कर सन्त की कोटि में पहुंच गए—पहले में उनकी तिथि २६ अगस्त है और बाद वाले में २७ नवम्बर है। धर्म के इतिहास में यह सत्य एक आश्चर्य जनक घटना है कि प्राच्य नास्तिक धर्म का एक प्रवर्तक ईसाई सन्त के रूप में विकसित हो गया।

यद्यपि इसमें कोई सन्देह नहीं कि अपने मध्यकालीन साहित्य के लघुकथा और परीकथा के क्षेत्र में यूरोप भारत का ऋणी था, किन्तु भारत का प्राचीन काल में प्रारंभ करने की प्रथमिकता का दावा कुछ-कुछ सन्दिग्ध है। उपकथाओं

की कुछ संख्या जो ईशप और बैब्रियस के संकलनों में पाई जाती हैं निश्चित रूप में भारत की उपकथाओं से संबद्ध है। भारतीय दावा का इस आधार पर समर्थन किया जाता है कि सिंह और सियार का सम्बन्ध एक स्वाभाविक सम्बन्ध है जो कि भारतीय उपकथाओं में आया है जबकि यूनानी साहित्य में आया लोमड़ी और शेर का सम्बन्ध वास्तविकता का कोई आधार नहीं रखता दूसरी ओर यह साग्रह कहा गया है कि जो पशु-पक्षी भारत के लिये विशिष्ट हैं भारतीय उपकथाओं में बहुत ही साधारण छोटा-मोटा भाग लेते हैं जबकि ईशपकी लघुकथाओं का यूनानी प्रतिनिधित्त्व लोमड़ी और द्रोणकाक (बड़े कौये की-एक जाति) के कथानक रूप में छठी शताब्दी ईसवी पूर्व से ही विद्यमान है। वेवर और बेन्फे दोनों ने निष्कर्ष निकाला है कि भारतीयों ने यूनानियों से कतिपय लघुकथायें उधार लीं, साथ ही उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि भारतीयों के पास पहले से ही अपनी स्वतन्त्र उपकथायें विद्यमान थीं। मौलिक प्रारम्भिक उपकथायें छान्दोग्योपनिषद् में मिलती हैं और पुनर्जन्म (रूपान्तरण) के सिद्धान्त ने कहानी के इस स्वरूप किकास लिए अनुकूल परिस्थिति उत्पन्न की। वास्तव में स्वयं बुद्ध पुरानी जातक कथाओं में विभिन्न जानवरों के रूप में दिखलाई पड़ते हैं।

शतरंज चस का पश्चिय की ओर विचरण

लघुकथा साहित्य के समसामयिक रूप में विश्व के जाने हुए खेलों में सर्वाधिक बुद्धिमत्तापूर्ण खेल भारत से पश्चिम की ओर को गया। संस्कृत में शतरंज को चतुरंग या 'चार अंगों की सेना' कहा जाता है। क्योंकि यह एक युद्ध का खेल है जो अधिकारियों को शिक्षा देने के लिए विसात पर खेल का प्रतिनिधित्व करता है। इसमें दो सेनाओं में प्रत्येक का जिनमें पैदल, घुड़सवार रथ और हाथी होते हैं, नेतृत्व बादशाह और उसके दरबार के दूसरे अधिकारी करते हैं, ये दोनों सेनायें एक दूसरे का विरोध करती हैं। इस खेल का संस्कृत साहित्य में सबसे पहला सीधा उल्लेख बाण की रचनाओं में मिलता है और नवीं शताब्दी के एक काश्मीरी कवि रुद्रट के काव्यालंकार में छन्दों की पहेली के लिए उदाहरण दिया गया है कि इस खेल में रथ, हाथी और घोड़े किस प्रकार आगे बढ़ते हैं। फारस में इस खेल का प्रवर्तन छठी शताब्दी में हुआ और अरब के लोगों द्वारा यह यूरोप ले जाया गया जहां यह ११०० ई० में जाना माना खेल था। इसने अपने चिन्ह मध्यकालीन कविता पर छोड़े हैं। यूरोपीय भाषा के मुहावरों पर भी इसका प्रभाव दृष्टिगत होता है। (उदाहरण के लिए 'चेक' फारसी के शाह से लिया गया है जो राजा का अर्थ देता है।)

अंकगणित के विज्ञान पर जिसमें चेस बोर्ड के द्वारा समानान्तर श्रेढ़ियों की गणना करने का अंकगणित शास्त्र आ जाता है और अग्रदूत के कार्य में भी जहां वञ्चक अन्य कंचुक के प्राय: प्रयोग में महत्त्व प्राप्त करता है इस खेल का प्रभाव पड़ा है। भारतीय लघुकथा के साहित्य के अतिरिक्त भारत के इस खेल ने भी मध्यकाल में घर से दूरवर्ती यूरोप के अयुत संख्यक व्यक्तियों के जोवन की नीरसता को दूर करने में उनकी सेवा की।

भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन

दार्शनिक साहित्य की ओर उन्मुख होने में हमें ज्ञात होता है कि प्रारम्भिक ग्रीक और भारतीय दार्शनिक अनेक तत्त्वों में एकरूपता रखते हैं। इलियाटिक्स (इटली के इलिया शहर के दार्शनिकों) के कतिपय प्रमुख सिद्धान्त जैसे ईश्वर और विश्व एक ही है, अनेकता में विद्यमान प्रत्येक वस्तु में कोई वास्तविकता नहीं है, विचार और सत्ता एक ही हैं—ये सभी तत्त्व उपनिषदों के दर्शन में तथा वेदान्त में जो उन्हीं का परिणाम हैं हमें प्राप्त होते हैं। और भी एम्पीडोकिल्स का सिद्धान्त कि जो वस्तु पहले वर्तमान नहीं थी ऐसी कोई नई वस्तु नहीं बन सकती और जो वस्तु विद्यमान है उसका अभाव नहीं हो सकता इन सिद्धान्तों की ठीक समानता हमें सांख्य दर्शन की प्रकृति की सार्वकालिकता और अनश्वरता के विषय में प्राप्त होती है। यूनानी परम्परा के अनुसार थेलस, इम्पेडोकिल्स, अनेग्जागोरस, डेमोक्रिटिस तथा और दार्शनिकों ने दर्शन का अध्ययन करने के लिए पूर्व के देशों की यात्रायें कीं। इससे कम से कम ऐतिहासिक सम्भावनायें सिद्ध होतीं हैं कि यूनानी लोग फारस के माध्यम से भारतीय विचारों से परिचित हुए थे।

अभी जिन विषयों का वर्णन किया गया है उनमें कोई सच्चाई हो या न हो किन्तु पैथागोरस की भारतीय दर्शन और विज्ञान पर निर्भरता में निश्चय ही उच्चकोटि की सम्भावना दृष्टिगत होती है। जिनका श्रेय उन्हें दिया जाता है उनमें लगभग सभी धार्मिक, दार्शनिक और गणित सम्बन्धी सिद्धान्त भारत में ई०पू० ६ठी शताब्दी में ज्ञात थे। एकरूपताओं के संयोग संख्या में इतने अधिक हैं कि उनकी एकीकृत (संचित) शक्ति बहुत अधिक हो जाती है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त, ५ तत्त्वों की स्वीकृति, रेखागणित के पैथागोरियन प्रमेय, कतिपय फलियों (लहसुन इत्यादि) के खाने का निषेध, पैथागोरियन बन्धुता के विषय में धार्मिक दार्शनिक स्वरूप और पैथागोरियन सम्प्रदाय के रहस्यात्मक लक्षण इन सबकी प्राचीन भारत में निकटवर्ती समानता पाई जाती है। पैथागोरस के विषय में देहान्तर प्राप्ति (पुनर्जन्म) का सिद्धान्त किसी सम्बन्ध या व्याख्येय पृष्ठभूमि के बिना ही प्रतीत होता है और यनानी लोगों द्वारा विदेशी उद्भव

के रूप में स्वीकार किया जाता रहा। उसने यह मिश्र से तो लिया नहीं होगा क्योंकि इसका ज्ञान प्राचीन मिश्रवासियों को नहीं था। बाद की परम्परा के होतें हुए भी यह असम्भव मालूम पड़ता है कि इतने आदिमकाल में पैथागोरस ने भारत की यात्रा की हो। किन्तु यह बहुत सम्भव है कि वह पर्सिया में भारतीयों से मिला हो।

वाद की शताब्दियों तक आते हुए हमें ऐसे संकेत मिलते हैं कि प्लेटो के अनुयायिओं के नव्यदर्शन पर सांख्य दर्शन का प्रभाव पड़ा है जो कि हमारे सन् संवत् के प्रथम शताब्दी के प्रारम्भ में पनप रहा था और आसानी से अलेग्जेण्ड्रिया में ज्ञात हो सकता था, क्योंकि उस समय उस शहर के साथ भारतीयों के प्रमोद पूर्ण सम्मिलन और संवाद होते रहते थे। इस स्रोत से नवप्लेटोवादियों के प्रधान प्लोटिनस (२०४-२६९ ए० डी०) ने इस सिद्धान्त का निष्कर्ष निकाला हो कि आत्मा दुःख से पृथक् तथा स्वतन्त्र है, दुःख का सम्बन्ध केवल प्रकृति से है, उनका प्रकाश के साथ आत्मा की एकरूपता और उनका दर्पण का उदाहरण जिसमें वस्तुओं की प्रतिच्छाया प्रतिभासित होती है (इन सबका वही स्रोत हो सकता है।) इस मान्यता का उद्देश्य इस बात की व्याख्या करना है कि प्राकृतिक वातावरण में चेतना की प्रतीति क्यों होती है। प्लाटिनस पर योगदर्शन का प्रभाव इस आवश्यकता के निर्देश से प्रतीत होता है कि मनुष्य को चेतन इन्द्रियों के संसार का परित्याग कर ध्यान योग के द्वारा सत्य की खोज करनी चाहिए। प्लाटिनस के सबसे अधिक प्रतिष्ठित शिष्य पोरफिरी (२३३-३०४ ए० डी०) के विषय में सांख्य के विचारों का सम्बन्ध और अधिक सम्भव मालूम पड़ता है जो इस बात पर विशेष बल देता है कि आत्मा और प्रकृति दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं, जब आत्मा प्रकृति के बन्धन से मुक्त हो जाता है तब वह सर्वव्यापक बन जाता है और यह सिद्धान्त कि सृष्टि का आदि है ही नहीं (वह इस मान्यता पर अधिक बल देता है) यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि उसने यज्ञ के परित्याग का उपदेश दिया और जानवरों के मारने (बलिदान करने) का निषेध करता है।

दूसरी तीसरी शताब्दियों में ईसायियों के समन्वयात्मक दृष्टिकोण पर जिसमें ज्ञानयोग के द्वारा आत्मा को प्रकृति से पृथक् कर उद्धार प्राप्त किया जा सकता है किसी भी दृष्टि से भारतीय दर्शन का प्रभाव असन्दिग्ध प्रतीत होता है। ज्ञानात्मक तत्त्व जिसमें पुरुष और प्रकृति में विरोधात्मकता, बुद्धि और इच्छा की व्यक्तिगत स्थिति इसी प्रकार की और बहुत सी बातें जैसे आत्मा और प्रकाश की एकरूपता ये सब सिद्धान्त सांख्य दर्शन से लिए गए हैं। कतिपय ज्ञानवादियों ने मानव के तीन विचित्र विभाग किए हैं—वायवीय,

आध्यात्मिक और आधिभौतिक। यह विभाजन भी सांख्य सिद्धान्तों के तीन गुणों पर आधारित है। और भी सीरियन सम्प्रदाय के ज्ञानवादी बर्दसेनों ने भारत और भारतीय दर्शन के विषय में सूचनाएं प्राप्त की थीं। उसने सूक्ष्म, आकाशी (या वायवी) शरीर की सत्ता स्वीकार की जो कि सांख्य दर्शन के लिङ्ग शरीर से निर्विशेष है। अन्त में ज्ञानवादियों के अनेक स्वर्ग, बौद्धों के विलक्षण विश्वोत्पत्ति के सिद्धान्त से सुस्पष्ट रूप में लिए गए हैं।

जहां तक वर्तमान शताब्दी का सम्बन्ध है शोपेनहावर और वान हर्टमैन के दुःखवादी दर्शन पर भारतीय विचारों का प्रभाव भलीभांति विदित है। पूर्ववर्ती (शापेन हावर) का (भारतीय साहित्य का) ज्ञान लैटिन में अनुवाद के रूप में दूसरे दर्जे का ही था तथापि उपनिषदों ने उन पर कितना बड़ा प्रभाव डाला इसका अनुमान उनके इस लेख से ही लगाया जा सकता है कि वे (उपनिषद) उनके जीवन काल में सन्तोष और आनन्द का साधन थे और मृत्यु में भी ऐसे ही बने रहेंगे।

भारतीय और यूनानी विज्ञान

विज्ञान के क्षेत्र में भी भारत के प्रति यूरोप का ऋण परिमाण में अत्यधिक है। सबसे पहले तो एक बहुत बड़ा सत्य यह है कि भारत ने अंकात्मक स्वरूप का आविष्कार किया जिसका प्रयोग समस्त विश्व में होता है। उन अंकों की दशमलव की गणना पर निर्भर पद्धति ने केवल गणित पर ही प्रभाव नहीं जमाया किन्तु सामान्य रूप से सभ्यता के विकास पर जो प्रभाव डाला, कठिनाई से ही उसका सीमातीत मूल्याङ्कन किया जा सकता है। ८वीं और नवीं शताब्दियों में भारतीय लोग अरब देशों में अंकगणित और बीजगणित के अध्यापक बन गए और उनके माध्यम से पश्चिम के देशों के भी शिक्षण का कार्य किया। इस प्रकार यद्यपि हम बाद के विज्ञान को अरबी नामों से पुकारते हैं फिर भी यह एक भेंट है जिसके लिए हम भारत के ऋणी हैं।

रेखागणित में शुल्वसूत्र और यूनानियों की तद्विषयककृति में सम्पर्क बिन्दु इतने अधिक हैं कि गणित शास्त्र के इतिहास विशेषज्ञ कैण्टर के अनुसार गणित के इतिहास ने एक पक्ष से या दूसरे पक्ष से उपादान अवश्य किया होगा। उस अधिकारी की सम्मति में शुल्व सूत्रकार पर हीरो (२१५ बी० सी०) के अलेग्जेण्ड्रिया के रेखागणित का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा जिसके विषय में उसका विचार है कि वह भारत में १०० बी० सी० के बांद आया होगा। चाहे जो हो शुल्व सूत्र सम्भवतः इस तिथि से कही अधिक पुराने हैं, क्योंकि वे श्रौत सूत्रों का एक अभिन्न अंग

बनाते हैं और उनका रेखागणित ब्राह्मण धर्म का एक भाग है। क्योंकि इनका उद्‌गम भारत में प्रायोगिक उद्देश्य के साथ उसी रूप में उतना हुआ जिस रूप में जितना व्याकरण विज्ञान का हुआ। यजुर्वेद के गद्यभाग और ब्राह्मण ग्रन्थ निरन्तर यज्ञभूमि व्यवस्थापन के विषय में वाद-विवाद करते हैं जिनमें वेदी का निर्माण बहुत ही कठोर नियमों के आधीन होता है जिनसे स्वल्पतम मात्रा में पृथक् हो जाना बहुत अधिक विनाश का कारण बन जाता है। यह सम्भव नहीं है कि निषेध का स्वभाव रखने वाले ब्राह्मण बहुत निकटता से अपने धर्म से सम्बन्धित कोई भी तत्त्व विदेशियों से लेने के लिए उत्सुक रहे हों।

गणित ज्योतिष के विषय में प्राचीन भारतीयों को स्वतन्त्र ज्ञान बहुत कम था। यह सम्भव है कि चन्द्रमा के ग्रह पथ के २८ विभागो का परिचय उन्होंने फोयेनिसियंस के साथ वाणिज्य सम्बन्ध के माध्यम से चैल्डियन लोगों से प्राप्त किया हो। भारतीय ज्योतिष विद्या तब तक नहीं फली फूली जब तक उनका सम्पर्क यूनानियों से नहीं हो गया। निश्चय ही यह एक विज्ञान है जिसमें यूनान का बढ़ा-चढ़ा प्रभाव असन्दिग्ध रूप में सिद्ध किया जा सकता हैं। इस देश में उत्पन्न हुए गणित ज्योतिषी सर्वथा ऋणी होना स्वीकार करते हैं कि उन पर यूनानियो का ऋण है। यह बात पर्याप्त मात्रा में इस बात से स्पष्ट है कि भारतीयों के लेखों में अनेक यूनानी पारिभाषिक शब्द पाए जाते हैं। इस प्रकार बाराहमिहिर के होरा शास्त्र में राशिचक्र के चिन्ह या तो यूनानी शब्दों के संस्कृत अनुवाद द्वारा परिगणित किए गए या मूल यूनानी नाम ही लिखे गए हैं जैसे आरेस के लिए आर, हेलिओस के सिए हेली, जियुस के लिए ज्यो। अनेक पारिभाषिक शब्द सीधे यूनानी रचनाओं से लिए गए हैं जैसे केन्ट्रोन के लिए केन्द्र, डायामेट्रोन के लिए जामित्र। भारत की सबसे पुरानी ज्योतिष पुस्तकों में कुछ नाम पश्चिमी मूल की ओर संकेत करते हैं। इस प्रकार रोमक सिद्धान्त का अर्थ है रोमन पुस्तिका। बाराहमिहिर के होराशास्त्र के शीर्षक में ग्रीक होरा शब्द है।

कुछ विषयों में स्वयं ग्रीक लोगों की अपेक्षा भी भारतीयों ने स्वतन्त्र रूप में गणित ज्योतिष शास्त्र को और अधिक आगे बढ़ाया और बाद के समय में उन लोगों ने अपने अवसर पर गणित ज्योतिष के मामले में भी पाश्चात्यों को प्रभावित किया। क्योंकि ८वीं और नवीं शताब्दियों में वे अरब वालों के इस विज्ञान के भी शिक्षक बन गए। सिद्धान्त (अरबी में सिन्ध हिन्द), आर्य भट्ट के लेख (जो अर्जेहीर कहलाते हैं) और अहर्गण (अर्कन्द) जो ब्रह्मगुप्त के नाम पर प्रचलित हैं—अरबों द्वारा इन सबका अनुवाद भी किया गया और सिद्धान्तों को स्वीकृत भी किया गया। बगदाद के खलीफा बार-बार भारतीय

ज्योतिषियों को अपने कार्य की देख रेख करने के लिए अपने दरबार में बुलाया करते थे। अरबों के माध्यम से भारतीय गणित ज्योतिष् यूरोप में स्थानान्तरित हुई जो केवल इसी विषय में दुबारा फिर घूम फिर कर लौटकर वही प्राप्त कर लिया गया जो बहुत पहले प्रदान किया गया था। इस प्रकार संस्कृत शब्द उच्च "ग्रहचक्र परिधि का शीर्षस्थान" आक्स के रूप से (जिसका सामान्य आग इस) उधार लिया गया, अरब के ज्योतिषियों से लैटिन में अनुवाद कर अपनाया गया।

भास्कर (१२वीं शताब्दी) के बाद हिन्दू गणित ज्योतिष ने और अधिक प्रगति करना समाप्त कर दिया और एक बार फिर अष्ट्रालोजी (फलित ज्योतिष) में समा गई जिससे इसका उद्गम हुआ था। अब अरब लोगों की बारी आई और यह वस्तु स्थिति का एक विचित्र विपर्यास था कि नवीं शताब्दी में अरबी के एक लेखक ने भारतीय गणित ज्योतिष और अंकगणित पर जो लिखा था आज के युग में वह हिन्दुओं के अध्ययन का विषय बन गया। पुराने यूनानी शब्द वैसे ही प्रचलित रहे किन्तु जैसी उनकी आवश्यकता उत्पन्न हुई नए अरबी शब्द और जोड़ दिए गए।

भारतीय आयुर्विज्ञान

क्या भारतीय आयुर्विज्ञान अपनी प्रारम्भिक अवस्था में यूनानी आयुर्विज्ञान से प्रभावित हुआ था ? इस प्रश्न का अब तक कोई भी निश्चयात्मक उत्तर नहीं दिया जा सकता। दोनों पद्धतियों पर पूरा ध्यान देकर तुलना अब तक नहीं की गई। तो भी हाल में हिप्पोक्रेट और चरक की रचनाओं के मध्य कुछ बहुत ही निकट समानता की खोज की गई। (एक चीनी अधिकारी विद्वान् के अनुसार चरक कनिष्क के राजकीय वैद्य थे)। यह बात हमारे सन् संवत् के प्रारम्भ के पहले यूनानी प्रभाव को सम्भव सिद्ध कर देती है।

दूसरी ओर अरबों पर हिन्दू आयुर्विज्ञान का ७०० ए० डी० के बाद प्रभाव अत्यधिक था। क्योंकि बगदाद के खलीफाओं ने इस विषय पर कई पुस्तकों के अनुवाद करवाये थे। ८वीं शताब्दी की समाप्ति के लगभग चरक और सुश्रुत का अनुवाद अरबी में किया गया। (सुश्रुत का समय चौथी शताब्दी के बाद का नहीं हो सकता।) इन पुस्तकों का प्रमाण के रूप में उल्लेख अरबी के एक अत्यन्त प्रतिष्ठित वैद्य अल रजी द्वारा किया गया है जिसकी मृत्यु ६३२ ई० में हो गई थी। अपना अवसर आने पर अरब की चिकित्सा १७वीं शताब्दी तक यूरोपीय वैद्यों की प्रधान अधिकारी (प्रामाणिक) बनी रही। बाद में भारतीय आयुर्विज्ञान लेखकों को बहुत ऊंची निगाह से देखा जाने लगा। क्योंकि

अरब लेखकों अविषेन्न (इब्न सीना) राजेन (अलरजी) और शेरापियन (इब्न सराफ़ून) के लैटिन अनुवादों में चरक का उल्लेख बार-बार किया गया है। आधुनिक काल में यूरोप की शल्य क्रिया ने नासिका प्रत्यारोपण, शल्य क्रिया या बनावटी नाक की रचना का विज्ञान भारत से लिया जिस विषय में उस काल के अंग्रेज़ पिछली शताब्दी से परिचित हुए थे।

दो नये विज्ञान एवं अन्य दिशाएं

हम देख ही चुके हैं कि संस्कृत भाषा और साहित्य के अध्ययन और अनुसन्धान ने वर्तमान शताब्दी में दो नये विज्ञानों तुलनात्मक पुराण विद्या और तुलनात्मक भाषा विज्ञान की आधारशिला रखी। बाद के (भाषा विज्ञान) द्वारा यूरोप की शास्त्रीय भाषाओं की प्रायोगिक स्कूल शिक्षा पर भी प्रभाव पड़ा। बौद्धधर्म के प्रति रुचि ने यूरोप में बहुत बड़ी साहित्य राशि उत्पन्न कर ही दी है। केवल कतिपय उदाहरणों का उल्लेख करने के लिए हीन की सबसे सुन्दर वैणिक कविता और एडविन अर्नाल्ड की 'लाइट आफ एशिया' जैसी रचनाओं ने संस्कृत कविता से प्रेरणा प्राप्त की। इस प्रकार संस्कृत साहित्य के प्रति यूरोप का बौद्धिक ऋण असन्दिग्ध रूप में बहुत विशाल है। सम्भवतः आने वाले वर्षों में यह और अधिक बढ़ जाय।

तकनीकी साहित्य विषयक परिशिष्ट

विधि साहित्य

संस्कृत के सामान्य विधि साहित्य के लिए देखिये—

जोली की वहुमूल्य रचना 'रेक्ट एण्ड सिट्टे' बुहलर की इन्साइक्लोपीडिया १८९६ (सम्पूर्ण सन्दर्भ ग्रन्थ सूची) में संकलित।

वेदोत्तर काल के कतिपय मध्यकोटि के धर्म सूत्र विद्यमान है। इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं **वैष्णव धर्मसूत्र या विष्णु स्मृति**(जो काठक गृह्यसूत्र से निकटता के साथ सम्बन्धित है।) इसका अन्तिम संस्करण २०० ई. सन् से पहले का नहीं है। इसका अन्तिम सम्पादन जोली द्वारा १८८१ में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था अनुवाद उन्हीं के द्वारा आक्सफोर्ड से **सेक्रेड बुक्स** आफ ईष्ट के अन्तर्गत १८८० में प्रकासित हुआ था।

वेदोत्तर नियमित विधि पुस्तकें छन्दोवद्ध हैं (अधिकतर श्लोकों में) धर्म सूत्रों की अपेक्षा उनका क्षेत्र अधिक विस्तीर्ण है, धर्मसूत्र तो धार्मिक विषयों तक ही सीमित हैं।

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और छन्दोवद्ध स्मृतियों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा सर्वप्राचीन **'मानव धर्मशास्त्र'** या **'मनु स्मृति'** है जिसका मानव धर्म सूत्र पर आधारित होना अप्रत्याशित नहीं हैं। यह महाभारत से निकटता से जुड़ी हुई है जिसके केवल ३ पर्वों (तीसरा, बारहवां और सोलहवां) में ही इसके २६८४ पद्यों में २६० विद्यमान है। इसने अपना वर्तमान स्वरूप संभवत: २०० ई० के बाद प्राप्त नहीं किया। इसका सम्पादन जोली लन्दन ने १८८७ में किया।

बुहलर ने वहुमूल्य प्रस्तावना के साथ आक्सफोर्ड की पवित्र पुस्तक १८८६ के अन्तर्गत इसका अनुवाद प्रकाशित किया।

बर्नेल द्वारा भी १८८४ में लन्दन में (हापकिंस के संस्करण का) अनुवाद प्रकाशित किया गया।

माण्डलिक बाम्बे ने ७ टीकाओं के साथ मूल संस्करण १८८६ में प्रकाशित किया।

वम्बई से १८८८ में कुल्लूक की टीका के साथ मूलग्रंथ प्रकाशित हुआ जो १८८७ के निर्णय सागर संस्करण से अधिक अच्छा है।

इसके अनन्तर **याज्ञवल्क्य धर्मशास्त्र** आता है जो अधिक संक्षिप्त है (श्लोक सं० १००६) यह सम्भवतः शुक्ल यजुर्वेद के धर्म सूत्र पर आधारित था। इसका तीसरा अध्याय पारासर गृह्यसूत्र से मेल खाता है : किन्तु इसमें कोई मिथ्या बात नहीं है कि इसका सम्बन्ध कृष्ण यजुर्वेद के मानव गृह्य सूत्र से है। इसकी अनुमानित तिथि ३५० ई० के आसपास है। सम्भवतः इसका लेखक मिथिला निवासी था जो विदेह (तिरहुत) की राजधानी थी।

याज्ञवल्क्य का संस्करण और अनुवाद स्टेंजलर द्वारा वर्लिन में १८४६ में प्रकाशित किया गया।

मिताक्षरा के साथ तीसरा संस्करण बम्बई से १८६२ में निकला।

धर्म से कानून को उसके कठोर अर्थ में सीमित करने वाली पहली स्मृति है **नारद स्मृति**। इसमें १२००० से अधिक श्लोक हैं और यह प्रधान रूप से मनु का मूल लेकर वनाई गई मालूम पड़ती है।

बाण नारदीय धर्म शास्त्र का उल्लेख करता है और नारद पर ८वीं शताब्दी के एक सर्वाधिक प्रक्तन कानूनी व्याख्याकार द्वारा टीका लिखी गई। सम्भवतः उनका समय ५०० ई० के आसपास है।

नारद का संस्करण जोली द्वारा कलकत्ता १८८५ में और इसका अनुवाद उन्हीं के द्वारा सैक्रेड वुक्स भाग ३३ सन् १८८६ ई० में।

एक परवर्ती विधि पुस्तक **पारासर स्मृति** (सन् १३०० ई० से पूर्ववर्ती) बाम्बे संस्कृत सीरीज १८६३ अनुवाद बिब्लिओं थेके इण्डियाना १८८७ (संदर्भ ग्रन्थ सूची, संस्कृत)।

वेदोत्तर कानूनी साहित्य की दूसरी विकास अवस्था टीकाओं द्वारा निर्मित की गई है।

सबसे पुरानी टीका जो सुरक्षित रखी गई है मनु पर **मेधातिथि** की टीका है। इनका समय लगभग ६०० ई० है।

मनु पर सर्वाधिक प्रसिद्ध टीका **कुल्लूकभट्ट** की है जिसकी रचना १५वीं शताब्दी में बनारस में की गई थी किन्तु यह १२वीं शताब्दी के एक टीकाकार **गोबिन्दराज** की साहित्यिक चोरी के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

याज्ञवल्क्य पर सबसे अधिक प्रतिष्ठित टीका **विज्ञनेश्वर** की सन् ११०० ई० में लिखी मिताक्षरा टीका है। इसने केवल दक्षिण में ही नहीं किन्तु बनारस में भी और उत्तर भारत के एक विशाल क्षेत्र में शीघ्र ही एक उच्चस्तर की रचना की प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली। वर्तमान शताब्दी में कोलब्रुक के उस भाग के अनुवाद के द्वारा जिसमें दायभाग के कानन का वर्णन किया गया है

इसने आङ्ग्ल भारतीय न्यायालयों में वकालत के क्षेत्र में सर्वाधिक महत्त्व प्राप्त कर लिया।

लगभग सन् १००० ई० से लेकर बाद में भारत में धर्म निबन्धन के नाम से कानूनी सार सङ्ग्रह का संख्यातीत समूह उत्पन्न किया गया।

इनमें सर्वाधिक प्रभावशाली ५ खण्डों में विभाजित विशालकाय रचना हेमाद्रि की लिखी हुई है जिसका नाम चतुर्वर्गचिन्तामणि है। इसकी रचना १३०० ई० के लगभग हुई थी। यह कानूनी विषयों का सर्वथा बिल्कुल ही वर्णन नहीं करती किन्तु स्मृतियों और पुराणों से संगृहीत मनोरंजक उद्धरणों की एक पूरी खानि है। इसका बिब्लिओ थेके इण्डियाना संस्कृत (संस्कृत सन्दर्भ ग्रन्थ सूची) में सम्पादन किया गया है।

यहाँ जीमतवाहन (सम्भवयः १५वीं शताब्दी) के धर्मरत्न का उल्लेख किया जा सकता है क्योंकि इसका एक भाग दायभाग नामक उत्तराधिकार के कानून पर एक प्रसिद्ध आलेख है। इस विषय पर दायभाग बंगाल शाखा की प्रधान रचना है और इसका अनुवाद कोलब्रुक ने किया था।

यह ध्यान देना चाहिए कि भारतीय स्मृति ग्रन्थ उस समता के नहीं हैं जैसी कि अन्य राष्ट्रों की कानून की पुस्तकें, किन्तु असार्वजनिक एकाकी व्यक्तियों की कृतियां हैं। वे ब्राह्मणों द्वारा ब्राह्मणों के लिए भी लिखी गई हैं तदनुसार उन ब्राह्मणों की जातीय महत्त्वाकांक्षा का वे अत्युक्तिपूर्ण वर्णन करते हैं। इसलिए बाह्य प्रमाणों के द्वारा उनके वक्तव्यों पर अंकुश लगाना आवश्यक है।

इतिहास

संस्कृत साहित्य में सीधे ऐतिहासिक लक्षणों वाली कोई भी पुस्तक मुसलमानों के विजय के बाद तक नहीं मिलती। यह राजतरङ्गिणी या 'राजाओं की धारा' है जो काश्मीरी राजाओं का अभिलेख है। इसे इसके लेखक कल्हण ने ई० सन् ११४८ में प्रारम्भ किया था इसमें लगभग ८००० श्लोक हैं। इस रचना का प्रारम्भिक भाग पौराणिक विशेषताओं वाला है। कवि तब तक ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं बनता जब तक अपने निजी समय तक पहुंच नहीं जाता। यह रचना (१८९१ का एम० ए० स्टीन का बम्बई संस्करण' अनुवाद १८९८ में कलकत्ता में वाई० मी० दत्त द्वारा किया गया) पुरातत्त्व एवं काश्मीर के घटना कालक्रम के लिए अत्यधिक मूल्यवान् है।

व्याकरण

स्वदेशोद्भव व्याकरण साहित्य पर विशेषरूप से देखिये **वेकर नागेल** की **एल्टिनडिस्क ग्रैमेटिक** भाग १ अनुक्रम से पृ० ५६ ।

सुरक्षित रखी हुई प्राचीनतम व्याकरण **पाणिनि** की है। सच है कि वे अपने पूर्ववर्तियों में ६४ से कम का उल्लेख नहीं करते । वे भारत के धुर उत्तर पश्चिम भाग से सम्बन्धित थे और सम्भवतः ई० पू० ३०० में सुस्थित थे। उनकी रचना में ४००० के लगभग सूत्र हैं जो ८ अध्यायों में विभाजित हैं।

बोर्थलिंग्क लीपजिक, के जर्मनी अनुवाद के साथ मूलपाठ का संस्करण १८८७ में प्रकासित हुआ ।

पाणिनि के सामने अनियमित रूप से बने शब्दों की सूची थी जो अब तक कुछ संशोधित रूप में विद्यमान है जैसे **उणादि** इसका सम्पादन **औरफ्रेट** ने **उज्ज्वलदत्त** की टिप्पणी के साथ बौन में १८५९ में किया ।

दो परिशिष्ट भी हैं जिनका उल्लेख पाणिनि ने किया है—एक है **धातुपाठ** या 'क्रिया के मूल की सूची' जिसमें २००० से कुछ अधिक धातुएं हैं जिनमें लगभग केवल ८०० संस्कृत साहित्य में पाई गई हैं और जिनमें लगभग ५० वैदिक क्रियायें छोड़ दी गई हैं।

दूसरा **नणपाठ** या '**शब्द समूह की सूची**' जिसमें कुछ नियम लागू होते हैं। इन गणों को छन्दोबद्ध रूप में **गणरत्न महोदधि** ११४० ई० में व्यवस्थित किया गया जिनकी छन्दों में रचना **वर्धमान** द्वारा की गई थी। (इसका सम्पादन **एग्लिंग्** ने लन्दन में १८७९ में किया ।

पाणिनि की व्याख्या करने के सर्वप्राचीन प्रयत्नों में नियमों के अर्थ बोधन का सैद्धान्तिक रूप या **परिभाषायें** थीं। **नागोजि भट्ट** ने पिछली शताब्दी में **परिभाषेन्दु शेखर** में इनका संग्रह किया। (सम्पादन कीलहोर्न द्वारा बम्बई संस्कृत सीरीज १८६८ और १८७१ ।)

इसके वाद हमारे पास पाणिनि के १२४५ नियमों पर **कात्यायन** को **वार्तिकें** या 'टिप्पणियां' हैं (सम्भवतः तीसरी शताब्दी बी० सी०) ।

और इसके कुछ वाद बहुसंख्यक वैयाकरण कारिकायें या छन्दोबद्ध रूप में विचारात्मक टिप्पणियां ।

यह सब समीक्षात्मक कार्य **पतंजलि** के **महाभाष्य** या 'विशाल व्याख्या' में सङ्कलित किया गया साथ ही अपनी अनुपूरक टिप्पणियां भी सम्मिलित की गई (संपादन कीलहोर्न द्वारा ३ खण्डों में, बम्बई) । इन्होंने पाणिनि के१७१३ नियमों पर विचार किया। ये सम्भवतः बी० सी० दूसरी शताब्दी के उत्तरार्ध

में हुए थे और किसी भी रूप में हमारे ईसवी सन् के प्रारम्भ के बाद के तो नहीं हैं।

भर्तृहरि ने सातवीं शताब्दी में **महाभाष्य की व्याख्या** अपने **वाक्यपदीय** में लिखी (सम्पादन—बनारस संस्कृत सीरीज) जिसका सम्बन्ध व्याकरण दर्शन से हैं।

और **कैयट** द्वारा (सम्भवतः १३वीं शताब्दी में) (महाभाष्य की व्याख्या लिखी गई)।

लगभग सन् ६५० ईशवी में **जयादित्य** और **वामन** द्वारा पाणिनि की पूर्ण व्याख्या **काशिकावृत्ति** या 'बनारस की टीका' की रचना की गई (दूसरा-संस्करण बनारस १८६८)।

१५वीं शताब्दी में **रामचन्द्र** ने अपनी **प्रक्रिया कौमुदी** या 'कार्यविधि की चांदनी' में वस्तुतत्त्व का अधिक प्रायोगिक विन्यास कर पाणिनीय व्याकरण को अधिक आसान बनाने का प्रयत्न किया।

भट्टो जी की **सिद्धान्त कौमुदी** (१७वीं शताब्दी) का उद्देश्य भी ऐसा ही है (संस्करण निर्णय सागर प्रेस बाम्बे १८९४)।

इस रचना का संक्षेप **वरदराज** द्वारा **लघु कौमुदी** (संस्करण बल्लन्टाइन द्वारा अंग्रेजी अनुवाद के साथ चौथा संस्करण बनारस १८९१) यह सामान्य रूप से व्याकरण की स्वदेशी पद्धति के उपक्रम के रूप में प्रयोग की जाती है।

अपाणिनीय वैयाकरणों में **चन्द्र** (लगभग ६०० ई०) का उल्लेख किया जा सकता है।

(अन्य अपाणिनीय व्याकरण)—

कल्पित नाम वाले **शाकाटयन** (काशिका की अपेक्षा बाद के)।

अत्यधिक महत्त्वपूर्ण **हेमचन्द्र** (१२वीं शताब्दी) प्राकृत व्याकरण के लेखक (**पिशेल** द्वारा संस्करण और अनुवाद, दो खण्डों में हाल १८७७-८०) और **उणादिगण सूत्र** (संकरण **किर्स्टे** वियना १८९५) के लेखक।

शर्ववर्मा का **कातन्त्र** (संस्करण एग्लिंग बिब्लिओ थेके इण्डियाना) बाद की व्याकरणों में सर्वाधिक प्रभावशाली ज्ञात होता है।

वररुचि का **प्राकृत प्रकाश** एक प्राकृत व्याकरण (सम्पादन **कावेल** द्वारा दूसरा संस्करण १८६८)।

वोपदेव का **मुग्धबोध** (१३वीं शताब्दी) यह संस्कृत व्याकरण है जो प्रधानतया बंगाल में उपयोग में लाया जाता है।

फिट् सूत्र (पतंजलि की अपेक्षा बाद के) इसमें संज्ञाओं के स्वराघात का विवरण दिया गया है (सम्पादन कीलहोर्न १८६६)।

हेमचन्द्र का लिङ्गानुशासन व्याकरण पर एक आलेख (संस्करण-फ्रैंक गोटिंगेन १८८६)।

यूरोप के व्याकरणों में भिट्ने का व्याकरण प्रथम है जिसने वैदिक और संस्कृत भाषाओं का ऐतिहासिक विवरण देने का प्रयत्न किया।

तुलनात्मक दृष्टि से लिखा गया पहला संस्कृत व्याकरण जो उच्चकोटि का है वह है वेकर नागेल का, हां अभी तक उसका केवल प्रथमभाग (वर्णोच्चारण) प्रकाशित हुआ है।

वर्तमान लेखक का **मैक्समूलर** के संस्कृत व्याकरण का संक्षेपण (लन्दन १८८६) एक प्रायोगिक रचना है जो शास्त्रीय संस्कृत का अध्ययन प्रारम्भ करने वालों के लिए उपयोगी है।

कोश ग्रन्थ

ज़कारिया का **'डाई इण्डिशेन वार्टर वुचर'** (वुहलर की इन्साइक्लोपोडिया १८९७ में) विषय का पूर्णरूप से विवेचन करता है। (सम्पूर्ण सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची)।

संस्कृत के कोश ग्रन्थ या तो दुर्लभ विरल शब्दों के या कवियों के प्रयोग के लिए महत्त्व देने के निमित्त शब्दों के सङ्कलन हैं। उन सबको पद्य बद्ध कर दिया गया है, वर्णानुक्रम समानार्थक शब्दों में सर्वथा अनुपस्थित है और भिन्नार्थक शब्दों में उसका केवल प्रारम्भ हुआ है।

अमरकोश (महेश्वर की टीका के साथ बाम्बे संस्करण) का वही आधिपत्यपूर्ण स्थान कोश ग्रन्थों के क्षेत्र में है जैसा पाणिनि का व्याकरण में है। यह असम्भव नहीं है कि इसकी रचना ५०० ई० के लगभग हुई हो।

उसका एक अनुपूरक **त्रिकाण्डशेष** है जो **पुरुषोत्तम देव** का लिखा है (सम्भवतः इतना बाद का जितना १३०० ई०)।

शाश्वत का **अनेकार्थ समुच्चय** (सम्पादक ज़कारिया १८८२) सम्भवतः अमर से पुराना है।

हलायुध की **अभिधानरत्नमाला** का समय ९५० ई० के लगभग है (सम्पादन औफ्रेच्ट लन्दन १८६१)।

लगभग एक शताब्दी वाद **यादव प्रकाश** की **वैजयन्ती** (सम्पादन ओपर्ट, मद्रास १८९३)।

महेश्वर कवि के **विश्व प्रकाश** का समय ११११ ई० सन् है।

मङ्खकोश (सम्पादन जकारिया बाम्बे १८९७) काश्मीर में ११५० ई० सन् के लगभग लिखा गया।

हेमचन्द (ई० सन् १०८८-११७२) ने चार कोशों की रचना की **अभिधान चिन्तामणि** समानार्थक कोश (सम्पादन बोथलिंग्क और रिपू, स्ट्रीट पेटर्सवर्ग १८४७) **अनेकार्थ संग्रह**, अनेकार्थ शब्दकोश (सम्पादन, जकारिया, वियना, १८९३); **देशीनाम माला**, एक प्राकृत कोश (सम्पादन, पिशेल, बाम्बे १८८०) और **निघण्टु शेष**, एक वनस्पति विज्ञान कोश है जो कि उनके समानार्थक कोश के परिशिष्ट का स्थान लेता है।

काव्यशास्त्र

विवरण के लिए देखें—

१. **सिल्वन लेवी—थियेटर इण्डियन** पृ० १-२१।

२. **रेडनाड-ल रिटोरिक संस्कृत**, पैरिस १८८४।

३. **जैकब-नोट्स आन संस्कृत लिटरेचर** राय की पत्रिका एशियाटिक सोसाइटी १८९७- १८९८।

काव्यशास्त्र पर सबसे पुरानी और सबसे महत्त्वपूर्ण रचना है **भरत** का **नाट्य शास्त्र** जो सम्भवतः ई० सन् की ६ठी शताब्दी पीछे तक जाती है (संस्करण-काव्यमाला में सं० ४२, बाम्बे १८९४ सम्पादन—**ग्रोसेट**, ल्योन्स १८९७)।

दण्डी का **काव्यादर्श** (छठी शताब्दी का अन्त) इसमें लगभग ६५० श्लोक हैं (संस्करण-अनुवाद के साथ, **बोथलिंग्क** लीपजिक द्वारा, १८९०)।

वामन की **काव्यालंकारवृत्ति** सम्भवतः ८वीं शताब्दी (**संस्करण-चेपलर** जेन, १८७५)।

शृंगार तिलक या 'कामुकों का आभूषण'; द्वारा-**रुद्रभट्ट** (९वीं शताब्दी) सम्पादन पिशेल, कील १८८६ (देखें जर्नल आफ जर्मन, ओरियण्टल सोसाइटी १८८८, पृ० २९६ फोलियो ४२५ फोलिओ, वीना ओरियण्टल जर्नल, ii पृ० १५१ फोलिओ)।

रुद्रट शतानन्द का **काव्यालंकार** (प्रकाशन काव्यमाला में नवीं शताब्दी की रचना)।

धनञ्जय का दशरूपक, नाटक के दस भेदों पर; १०वीं शताब्दी की रचना (सम्पादन-हाल १८६५, टीका के साथ निर्णय सागर प्रेस बाम्बे, १८९७)।

काव्य प्रकाश रचित द्वारा **मम्मट** और अल्लट; रचना काल लगभग ११०० ई० (सम्पादन-पण्डित में १८९७)।

साहित्य दर्पण पूर्व बंगाल में सन् १४५० ई० के आसपास **विश्वनाथ कवि-राज** द्वारा रचा गया। सम्पादन—जे० विद्यासागर, कलकत्ता १८९५, अनुवाद बल्लनटाइन द्वारा—बिब्लिओ थेके इण्डियाना में प्रकाशित)।

गणित एवं गणित ज्योतिष

इस विषय का पूर्णरूप से वर्णन करने वाली केवल एक ही रचना है—**थिबोट की अष्ट्रोनोमी, अष्ट्रोलोजी एण्ड मैथमेटिक्स** अर्थात् 'गणित ज्योतिष, फलित ज्योतिष और गणित' यह बुहलर कीलहोर्न के विश्वकोष सन् १८९९ में है (पूर्ण ग्रन्थ सूची)।

कैण्टर की गेशचिच्टे डर मैथेमेटिक पृ० ५०५-५६२ लीपजिग १८८० भी देखें।

प्रारम्भिक भारतीय गणित ज्योतिषयों की कृतियों में विशेष अध्याय में गणित का भी विवेचन किया गया है।

बीज गणित में इन लोगों ने ग्रीक लोगों द्वारा अधिगत की हुई किसी भी उपलब्धि से कहीं अधिक आगे बढ़कर उच्चकोटि की प्रमुखता प्राप्त कर ली।

भारतीय गणित ज्योतिषियों की सर्वप्राचीन वैज्ञानिक कृतियों में (लगभग ३०० ई० के बाद के चार प्रबन्ध हैं जिन्हें सिद्धान्त कहा जाता है उनमें केवल एक **सूर्य सिद्धान्त** (**भिट्ने** द्वारा सम्पादन और अनुवाद-जर्नल, अमेरिकन ओरि-यण्टल सोसाइटी छठा खण्ड) शेष बचा है।

इस प्रकार की प्रारम्भिक कृतियों के सिद्धान्तों को **आर्य भट्ट** ने घटाकर अधिक संक्षिप्त रूप में प्रयोग योग्य स्वरूप प्रदान कर दिया। जैसाकि इन्होंने स्वयं कहा है इनका जन्म ४७६ ई० में पाटलिपुत्र में हुआ था। इन्होंने पृथ्वी के अपनी धुरी पर चारो ओर घूमने के सिद्धान्त की स्थापना की (यह एक ऐसा सिद्धान्त है जो ग्रीक लोगों के लिए अपरिचत नहीं था) इन्होंने सूर्य और चन्द्र ग्रहणों के कारणों की व्याख्या की। उनकी रचना 'आर्यभटीय' के तीसरे खण्ड में गणित का विवेचन किया गया है (सम्पादन-टीका के साथ **कर्न**, लेडेन १८७४ द्वारा, गणित खण्ड का अनुवाद रोडेट द्वारा, प्रकाशन जर्नल एशियाटिक १८७९)।

वाराह मिहिर उज्जैन में पैदा हुए थे; उन्होंने अपना गणना कार्य लगभग ५०५ ई० सन् के लगभग प्रारम्भ किया था और उनके टीकाकारों में एक के अनुसार उनकी मृत्यु ५८७ ई० सन् में हुई थी। इन्होंने चार पुस्तकें लिखीं जिनका अधिकांश भाग आर्या छन्द में लिखा गया। तीन पुस्तकें फलित ज्योतिष परक हैं।

१. **बृहत्संहिता** (सम्पादन कर्न, विब्लिओ थेके इण्डियाना १८६४: १८६५, अनुवाद जर्नल एशियाटिक सोसाइटी, भाग चतुर्थ, टीका के साथ **भट्टोत्पल** का नया संस्करण द्वारा **एस० द्विवेदी**, बनारण १८९५.९७।

२. **बृहज्जातक** (अथवा **होराशास्त्र**; अनुवाद श्री अय्यर द्वारा मद्रास १८८५)।

३. **लघुजातक** (वेवर द्वारा आंशिक अनुवाद इण्डियन स्टडीज द्वितीय भाग और जैकावी द्वारा, सन् १८७२)।

इनकी **पञ्चसिद्धान्तिका** (सम्पादन और. थिबौट एवं एस० द्विवेदी द्वारा अधिकांश भाग का अनुवाद, वनारस १८८९)[1] ५ सिद्धान्तों पर आधारित है; यह करण या गणित ज्योतिष की एक प्रायोगिक पुस्तिका है।

गणित ज्योतिष के एक दूसरे प्रतिष्ठित आचार्य **ब्रह्मगुप्त थे**। ये ५९८ ई० सन् में उत्पन्न हुए थे। जव ये ३० एर्प के थे इन्होंने करण के अतिरिक्त **ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त** की रचना की (अध्याय १२ और १८ गणित विपयक हैं)।

भारत के अन्तिम विश्रुत गणित ज्योतिपी **भाष्कराचार्य** थे जिनका जन्म १११४ ई० में हुआ था। उनकी रचना **सिद्धान्तशिरोमणि** ने भारत में सूर्य सिद्धान्त को छोड़कर गणित ज्योतिष के किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा अधिक अधिकार का उपभोग किया।

औषध विज्ञान

भारतीय औपध विज्ञान के विकास का प्रारम्भ निश्चय ही हमारे ईशवी सन के प्रारम्भ से पहले ही हो चुका होगा, क्योंकि प्रधान अधिकारी लेखकों में एक **चरक**, बौद्ध त्रिपिटक के चीनी अनुवाद के अनुसार, प्रथम शताब्दी में राजा कनिष्क के अधिकार प्राप्त वैद्य थे। उनकी रचना **चरक संहिता** के संस्करण कई बार प्रकाशित हो चुके—**जे० विद्यासागर** द्वारा दूसरा संस्करण १८९६ में; कलकत्ता से १८९७ में गुप्ता द्वारा कलकत्ता से १८९७ **सी० दत्ता** द्वारा टीका के साथ १८९२-९३ में, कलकत्ता से ए० **सी० कविरत्न** द्वारा अनुवाद कलकत्ता से १८९७ में।

दूसरे अधिकारी आचार्य **सुश्रुत** का समय चौथी शताब्दी ईशवी के वाद का नहीं है ऐसा ज्ञात होता है। क्योंकि वावर पाण्डुलिपि (सम्भवतः ५वीं शताब्दी

ए० डी०) में इस प्रकार के अनुच्छेद आये हैं जो केवल समरूप ही नहीं है अपितु चरक और सुश्रुत की पुस्तकों से शब्दशः मेल खा जाते हैं। (सुश्रुत संहिता सम्पादन **जे० विद्यासागर** द्वारा, कलकत्ता में तीसरा संस्करण १८८९; **ए० सी कविरत्न** द्वारा कलकत्ता १८८८-९५; **दत्ता** द्वारा अनुवाद १८८३; **चट्टोपाध्याय** १८९१, **होर्नल** १८९७ कलकत्ता से।

एक अन्य सर्वोत्तम आयुर्वेद लेखक है **वागभट्ट** जो **अष्टाङ्ग हृदय** के प्रणेता हैं (संस्करण अरुणदत्त की टीका के साथ, ए० एम० कुन्टे द्वारा निर्णय सागर प्रेस बम्बई से १८९१)।

निम्न लिखित पुस्तकों को भी देखें—

१. **हास** के लेख खण्ड ३०-३१।

२ **ए० मुलर** खण्ड ३४।

(ये दोनों जर्मनी के जर्नल आफ ओटियण्टल सोसाइटी में)।

३. पी० कोर्डियर एटयूड्स सर ला मेडेसिन हिन्डौ पैरिस १८९४।

४. वाग्भट एट० एल० अष्टाङ्गहृदयसंहिता। वेसन्शन १८९६।

५. ली टार्ड—ले मेडेसिन चरक,   वुल, डे एल एसी डे मेडेसिन मई ११, १८९७।

कला साहित्य

संगीत

भारतीय संगीत पर देखिये—

१. राजा सर सुरेन्द्र मोहन टैगोर : हिन्दू म्यूजिक फ्राम वेरियस आथर्स, कलकत्ता १८७५।

२. एम्ब्रोज : जेश्चिस्टे डेर म्यूजिक खण्ड प्रथम पृ० ४१-८०।

३. डे : द म्यूजिक एण्ड म्यूजिकल इन्स्ट्रुमेण्ट आफ सोदर्न इण्डिया ऐण्ड द डकेन, एडिन्बरो १८९१।

४. शार्ङ्गदेव का संगीत रत्नाकर, सम्पादन तेलग, आनन्द, संस्कृत सीरीज १८९७।

५. सोमनाथ का राग विबोध—टीका के साथ सम्पादन द्वारा पी० जी० धारपुरे (खण्ड १-५) पूना १८९५।

चित्रकला और मूर्तिकला

चित्रकला और मूर्तिकला पर देखिए—

१. ई० मूर : द हिन्दू पैन्थियन, लन्दन १७१०।

२. बरगेस : नोट्स आन बौद्ध राक टेम्पिल आफ अजन्ता, बाम्बे १८७९।

३. ग्रिफिथस : पेंटिंग्स आफ द बुद्धिष्ट केवटेम्पिल आफ अजन्ता, २ खन्ड, लन्दन १८९६-९७।

४. बरगेस : द गान्धार स्कल्पचर (१०० पत्रक) लन्दन १८९५।

५. फर्गुसन : ट्री एण्ड सर्पेण्ट वरशिप (ईशामसीह की पहली और चौथी शताब्दियों में भारत में पुराण कला की निर्देशिका चित्रावली) लन्दन १८६८।

६. कनिन्घम की रिपोर्ट १ और ३ (बुद्ध गया से प्राप्त अवशेष)।

७. ग्रुन् वेडल : बुद्धिष्टिक कुंस्ट इन इंडिएन, वर्लिन १८९३।

८. कर्न : मैनुअल आफ बद्धिज्म, बुहलर के विश्वकोश में पृ० ९०-९३ ष्ट्रेसवर्ग १८९६।

९. एच० एच० विल्सन : अरियाना एन्टीक लन्दन १८४१।

वास्तुकला

भारतीय वास्तुकला पर देखिए—

१. फर्गुशन : हिष्ट्री आफ इण्डियन एण्ड ईष्टर्न आर्कीटेक्चर, लन्दन १८७६।

२. द राककट टेम्पिल्स आफ इण्डिया १८६४ ।

३. कनिङ्घम : द भिल्सा टोप्स या बुद्धिष्ट मोन्यूमेण्टस आफ सेण्ट्रल इण्डिया।, लन्दन १८५४ ।

४. भारतीय पुरातत्त्व के सर्वेक्षण के १८७१ के बाद के सर्वेक्षण ।

५.महाबोधि या बुद्ध गया में बोधिवृक्ष के नीचे विशाल बौद्ध मन्दिर, लन्दन १८६२ ।

६. बर्गेस : पश्चिम भारत और दक्षिण भारत के पुरातत्त्व विभाग का प्रतिवेदन । (Archaelogical survey of west India and south India) ।

७. डेनियल : एण्टीक्वेटीज आफ इण्डिया (भारत के पुरावशेष) १८०० ई० ।

८. इलोरा पर्वत में हिन्दुओं द्वारा खुदाई (Hindoo excavations in the Mauntain of ellora) लन्दन १८१६ ।

९. आर० मित्र : द एण्टीक्वेटीज आफ उड़ीसा, कलकत्ता १८७५ ।

तकनीकी कलाओं पर देखिए—'जर्नल आफ इण्डियन आर्ट एण्ड इण्डष्ट्री' (लन्दन, १८८४ में प्रारम्भ) ।

सन्दर्भग्रन्थ सूची

अध्याय-१

संस्कृत अध्ययन के इतिहास पर विशेषरूप से देखें—

१. बेन्फे—गेशिष्टे डेर स्प्रैक विज़ेनशाफ्ट (म्यूनिक १८६९)।

२. संस्कृत ग्रन्थ सूची के लिए अत्यधिक बहुमूल्य 'ओरियण्टा लिशे बिब्लिओग्राफी' का वार्षिक प्रकाशन (प्रारम्भ १८८८)।

पृष्ठ १

ब्राह्मण धर्म के धार्मिक विचारों के विषय में—

१. पुरुचेस के 'हिज पिलग्रिमेज आर द वर्ल्ड एण्ड द रिलीजन आब्जर्व्ड इन आल एजेज' लन्दन से १८१४ में प्रकाशित दूसरे संस्करण से कतिपय अतात्विक सूचनायें प्राप्त की जा सकती हैं।

२. लार्ड : ए डिस्कवरी आफ द सेक्ट आफ बनियाज् (हिन्दूज) लन्दन १६३० में प्रकाशित।

३. अब्राहीम रोगर लिखित 'ओपन देउरे' (इसमें भर्तृहरि के दो शतकों का अनुवाद है)।

पृष्ठ २

१. डुगाल्ड स्टीवर्ट—'फिलासफी आफ ह्यूम्यन माइण्ड' द्वितीय भाग, अध्याय १ अनुच्छेद ६ (इसमें संस्कृत के उद्‌भव के विषय में कतिपय अनुमान दिए हुए हैं।)

२. नी० डब्ल्यू० वाल डी० डी०—ऐन एसे आन दि नेचर, एज ऐण्ड ओरीजन आफ संस्कृत राइटिंग ऐण्ड लैंग्वेज (डब्लिन १८३८)।

३. हेलहेड—'ए कोड आफ गेण्टू (हिन्दू) ला' अथवा आर्डिनेशन्स आफ पण्डितस् यह मूल संस्कृत भाषा से फारसी में अनूदित किया गया और उससे अंग्रेजी में उसका अनुवाद किया गया समय १७७६।

मूल पृ० ४ अनु० पृ० ३

१. एफ० श्लैगल : 'यूबेर डाइ स्प्रे कि उण्ड विजहाइट डेर इण्डेर' (हीडेलबर्ग १८१८)।

२. वाप्प : 'कंजुगेशंससिष्टम' (फ्रैंकफर्ट १८१६)।

३. कोलब्रुक : आन द वेदाज' (एशियाटिक रिसर्चेज कलकत्ता १८०५ में सङ्कलित।)

मूल पृ० ५ अनु पृ० ४

१. राथ : जुर लिटरेटुर उण्ट गेशिख्टे वेज वेद' (स्टुगर्ट १८४६)।

२. बोह्‌लिंग ऐण्ड राथ : संस्कृत जर्मनी डिक्शनरी, खण्ड ७ (सेंटपीटसवर्ग (१८५२-७५)।

३. बुहलर : 'इन्साइक्लोपीडिया आफ इण्डोजर्मन रिसर्च' (ष्ट्रासवर्ग—इसके भाग कुछ जर्मन में और कुछ अंग्रेजी में १८३६ से निकलने लगे)।

मूल पृ० ६ अनु० पृ० ५

विशेषरूप से देखें—

१. आफ्रेक्ट रचित 'कैटेलागस कैटेलागोरम' (लीपज़िग १८९१ पूरक भाग १८९६) इसमें संस्कृत पाण्डुलिपियों की सूची ग्रन्थों और लेखकों का वर्णानुक्रम से संकलन किया गया है।

२. एडल्वर्ट कुहन : 'हिरेव कुंष्ट देस फियेर्स' १८४९ दूसरा संस्करण म्यूटेरसलोह १८८६।

मूल पृ० ११ अनु पृ० १०

भारतीय पुरातत्त्वविषयक काल गणना पर बहुमूल्य पुस्तक जो पुरातत्त्व लेख और मुद्रालेख के आधार पर लिखी गई थी—

डफ : 'क्रोनालोजी आफ इण्डिया' (लन्दन १८९९)।

बुद्ध की मृत्युकाल के विषय में देखो—

ओल्डेनवर्ग : 'बुद्ध' (वर्लिन तृतीय संस्करण १८९७)।

मूल पृ० १३ अनु पृ० ११

१. 'फाह्यान' लेग्गि द्वारा अनुवाद (आक्सफोर्ड १८८६)।

२. 'ह्वेनसाँग' वील द्वारा अनुवाद (लन्दन १८८४)।

३. 'इत्सिंग' ताकाकुसू द्वारा अनुवाद (आक्सफोर्ड १८९६)।

४. फ्योहरर : 'मोनोग्राफ आफ बुद्ध-शाक्यमुनीज़ बर्थ प्लेस')आर्कियालोजिकल सर्वे आफ इण्डिया भाग २६, इलाहाबाद १८९७)।

५. अल्बेरूनी : 'इण्डिया' अनुवाद अंग्रेजी मेंसचाउ द्वारा (लन्दन १८८५)

मूल पृ० १४ अनु पृ० १२

१. 'कार्पस इण्डिस्क्रिप्सनम् इण्डिकारम्' भाग १, १८७७।

२. भाग ३ (कलकत्ता १८८८)।

३. 'एपीग्राफिया इण्डिया' (कलकत्ता से १८८८)।

महत्त्वपूर्ण सामयिक पौरस्त्य पत्रिकायें—

१. **'इण्डियन एण्टीक्वेरी'** (वम्बई)।

२. **झेटश्रिफ्ट देर डायशेन मौर्गेन लैण्डिशेन गेसेलसशाफ्ट** (लायफजि़ग)।

३. **जर्नल आफ द रायल एशियाटिक सोसाइटी** (लन्दन जिसकी वंगाली शाखा कलकत्ता में है और एक दूसरी वम्वई में है।)

४. **'जर्नल एशियाटिक'** (पैरिस)।

५. **'वियना ओरियण्टल जनरल'** (वियना)।

६. **'जर्नल आफ द अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी'** न्यू हेवेन (कॉन)।

मूल पृ० १२ से २० अनु० पृ० ११-१८

लिपि के उद्गम पर देखें—

१. वुहलर : **'इण्डिशे पेलियोग्राफी'** (स्ट्रैसवर्ग १८९३)।

२. **'आन द ओरीजन आफ इण्डियन ब्राह्म अल्फावेट'** (स्ट्रैसवर्ग १८९८)

मू० १८ अनु० १५. १६

सबसे पुरानी ज्ञात पाण्डुलिपि जो अव वाडलियन पुस्तकालय में है और डा० आर् होयर्नल द्वारा प्रतिलिपि में रूपान्तरित की गई।

२. **द वाअर मैन्युस्क्रिप्ट,** (कलकत्ता १८९७)।

३. **'द पाली खरोष्ठी'** पाण्डुलिपि जो धम्मपद का प्राकृत संस्करण है और खोटान के निकट पाया गया है। देखो सेनार्ट : **जर्नल एशियाटिक'** १८९३ पृ० १९३-३०४।

मूल पृ० २७ अनुवाद पृ० २३

प्राकृत वोलियों का जो विवरण यहां पर दिया गया है वह प्रधानरूप से डा० जी० ए० **'द जियाग्राफिकल डिस्ट्रीब्यूशन एण्ड म्यूचुअल एफिनिटीज़ आफ द इण्डो एर्यन बर्नाक्यूलर्स'** पर आधारित है। (डा० ग्रियर्सन आजकल भारतीय भाषाओं के सर्वेक्षण में संलग्न हैं।)

२. पाली साहित्य पर दे०—रायस डेविस की **'बुद्धिज्म-इट्स हिष्ट्री एण्ड लिटरेचर'** (लन्दन १८९६)।

प्राकृत साहित्य पर देखें—

३. ग्रियर्सन : **'द मिडियवल वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान'** ७वीं ओरियण्टल कांग्रेस वीना १८८८ का अनुवाद।

४. **'द माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिन्दुस्तान'** (कलकत्ता १८८९)।

तीसरा अध्याय

ऋग्वेद के पाठ और छन्द पर विशेषरूप से देखिए—

१. ओल्डेनवर्ग : **'दीए हिम्नेन देस ऋग्वेद'** (प्रोलिगोमिना वर्लिन १८८८)

स्वर प्रक्रिया पर—

वेकरनागेल : **एल्टिण्डिशेग्रामेटिक,** खण्ड १ पृ० २८१-३०० (पूर्णग्रन्थ सूची) गोटिंगेन १८९६ ।

ऋग्वेद पर सामान्य रूप से—

कायगी : **'द ऋग्वेद'** एरोस्मिथ द्वारा अंग्रेजी अनुवाद, (बोष्टन १८८६) ।

संस्करण—

१. **संहितापाठ** मैक्समूलर द्वारा सम्पादित, (लन्दन १८७३) ।

२. **पदपाठ**—१८७७ ।

३. **संहितापाठ** (रोमन लिपि में) सम्पादन औफ्रेट बोन १८७७ (दूसरा संस्करण) ।

४. **संहिता और पदपाठ**—सायण भाष्य के साथ सम्पादित, दूसरा संस्करण, चार खण्ड सम्पादक मैक्समूलर (लन्दन १८९०-९२) ।

५. लैनमैन् के **'संस्कृत रीडर'** में संकलन (पूरी व्याख्या और शब्द संग्रह)

६. पैटर्सन : **'हिम्स फ्राम ऋग्वेद'** (बाम्वे संस्कृत सीरीज) ।

७. ए० बरगैन और वी० हेनरी : **मैनुअल पोर ईटुडियर ले संस्कृत वेदीक** (पेरिस १८९० ई०) ।

८. विंडिश : **झ्विल्फहिम्ने**न देस ऋग्वेद (संपादित) (लीपजिग १८८३) ।

९. हिलीबृण्ट : **वेद स्क्रिप्टोमाटी** (वर्लिन १८८५) ।

१०. बोहलिङ्क : **संस्कृत स्क्रिप्टोमाटी** (तीसरा संस्करण लीपजिग १८९७)

अनुवाद—

आ० एच० टी० ग्रिफिथ : **ऋग्वेद का अंग्रेजी पद्यानुवाद** २ खण्ड (बनारस १८९६-९७) ।

२. मैक्समूलर : **वेदिक हिम्स** (मरुत्, रुद्र, वायु, वात के प्रति गद्यानुवाद) (सैक्रेड बुक्स आफ ईष्ट खण्ड ३२ में सङ्कलित, (आक्सफोर्ड १८९१)

३. ओल्डेनवर्ग : **वेदिक हिम्स** (अग्नि के प्रति भाग १ से ५ गद्यानुवाद) ।

४. वही (खण्ड ४६, १८९७) ।

५. ए० लुडविग : **जर्मन गद्यानुवाद** ६ खण्ड (प्राग १८७६-८८) (भूमिका, टीका और अनुक्रमणी सहित ।)

कोश रचना—

१. ग्रासमन : **वोर्टेरबुक झुम ऋग्वेद** (लीपजिग १८७३) ।

२. बोहलिङ्क और राथ : शब्दसंग्रह ।

३. बोहलिङ्क : **स्मालर सेंटपीटर्सवर्ग डिक्शनरी** (लीपज़िग १८७९-८९) ।

४. मोनियर विलियम्स : **संस्कृत इंगलिश डिक्शरी** द्वितीय संस्करण (आक्सफोर्ड १८९९) ।

५. मैक्डानल : **संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी**—(चुने हुए सूक्तों के विषय में) (लन्दन १८९३) ।

व्याकरण—

१. ह्विटने : **संस्कृत ग्रामर** तीसरा संस्करण (लीपजिग १८९०)।

२. वेकरनागेल : पूर्वोक्त खण्ड १ शिक्षा।

३. डेलब्रुक : **ओल्टेन डिशे सिन्टेक्स** (भाग ५ सिन्टेक्टिशे वोर शुंगेन) (हालि १८८८)।

४. स्पेइजेर। **वेदिशे उण्ट संस्कृत सिंटेक्स** व्यूहलर प्रणीत एन्साइक्लोपीडिया के अन्तर्गत (ष्ट्रासवर्ग, १८९६)।

चौथा और पांचवा अध्याय

विशेषरूप से देखें—

१. मैक्डानल : **वेदिक मैथालोजी** (वुहलर रचित इन्साइक्लोपीडिया खण्ड ३ भाग १) (सम्पूर्ण ग्रन्थ सूची १८९० में तथा वही केगी के पूर्वोक्त ग्रन्थ में सङ्कलित।)

२. म्यूर : **'ओरीजनल संस्कृत टेक्स्ट'** (खण्ड ५संस्करण तीसरा), (लन्दन १८८४।)

३. वार्थ : **'द रिलीजन आफ इण्डिया'** अंग्रेजी अनुवाद (लन्दन १८८८)।

४. हापकिंस : **'द रिलीजन आफ इण्डिया'** (बोष्टन १८९५)।

५. ओल्डेन वर्ग : **'दीए रिलीजन देस वेद'** (वर्लिन १८९४)।

६. वरगैन : **'ला रिलीजन बेदिक'** तीन खण्ड (पैरिस १८७८-८३)।

७. पिशेल और गेल्डनर : **वेदिशे ष्टूडियेन** २ खण्ड (ष्टुटगार्ट १८८९-९२)

८. डयूशन : **एल्गेमिनि देर गेशिक्टे फिलासोफी** भाग १, अंश एक।

९. **'फिलासोफी देस वेद'** (लीपज़िग १८९४)।

व्याख्यापद्धति के विषय में—

मू० प० ५९ से ६४ तक और अनुवाद पृ० ५२ से ५७ तक देखो-

१. म्यूर : **'द इण्टर प्रेटेशन आफ वेद'** १८६६ (जर्नल रायल एशियाटिक सोसाइटी में सङ्कलित)।

मू० पृ० ६८ अनु पृ० ६०

ग्रीक जनता में प्रचलित 'विश्व के त्रितय विभाग का पुनः समीक्षण' देखो केगी : पूर्वोक्त पुस्तक टिप्पणी ११८।

मू० पृ० १२८ अनु० पृ० १२०

भारत में जुये का खेल, पाशे और बहेड़ा वृक्ष—देखो—राथ की गुरुपूजा कौमुदी पृ० १-४ (लिपिनिग १८९६)।

छठा अध्याय

विशेषरूप से देखें—

जिमर : **एल्टिण्डिशे लिबेन** (वर्लिन १८७९)।

ऋग्वेद के आर्यों के निवास स्थान के विषय में देखें—

हापकिंस : द पंजाब एण्ड द ऋग्वेद जर्नल, अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी १८६८ पृ० १६ से।

मू० पृ० १५० अनु० पृ० १४३ हंस पर—

'द मिल्क ड्रिंकिंग हंसाज आफ संस्कृत प्वेंटरी' वही पृ० १५१ फोलिओ।

वैदिक जातियों के विषय में—

मू० पृ० १५३-१५७ अनु पृ० १४५-१५० देखें—

'एक्सकर्सेज I' ओल्डेनवर्ग के 'वुद्ध' में संकलित (वर्लिन १८६७)।

जातिप्रथा के उद्भव पर—मू० पृ० १६० अनु० पृ० १५२।

१. ओल्डेनवर्ग : **जर्नल आफ द जर्नन ओरियण्टल सोसाइटी** (१८६७) पृ० २६७-२६०।

२. आर० फिक् : **दिये शोशियले ग्लीडेरूङ् इम० नारडिष्टिलेशन इण्डियेन झु बुद्धज झेट** (कील १८६७)।

सप्तम अध्याय

सामवेद—

८. मूलपाठ जर्मन अनुवाद और शब्द संग्रह के साथ संपादन वेनफे द्वारा (लीपजिग १८४८)।

२. सत्यव्रत सामश्रमी द्वारा, (कलकत्ता १८७३ बिब्लोथिका इण्डिका)।

३. ग्रिफिथ : अनुवाद (अंग्रेजी में) (बनारस १८६३)।

यजुर्वेद

(क) वाजसनेयी संहिता

१. वेवर द्वारा सम्पादित (महीधर भाष्य सहित, (लन्दन वर्लिन १८५२)।

२. ग्रिफिथ द्वारा अनुवाद (बनारस १८६६)।

(ख) तैत्तिरीय संहिता

१. वेवर द्वारा रोमन लिपि में सम्पादित इण्डिशे ष्टूडियेन के खण्ड ११, १२) (बर्लिन १८७१-७२)।

२. माधव भाष्य सहित बिब्लोथिका इण्डिका में सम्पादित।

(ग) मैत्रायणी संहिता

१. एल० वी० श्रेडर द्वारा भूमिका के साथ सम्पादित (लीपज़िग १८८१-८६)।

(घ) काठक संहिता

उसी विद्वान द्वारा सम्पादन की प्रक्रिया में।

अथर्ववेद

१. राथ और ह्विटने द्वारा मूल पाठ का संपादन(वर्लिन १८५६) (अमेरि-

कन जर्नल आफ द ओरियण्टल सोसाइटी में प्रत्येक शब्द की सूची, खण्ड १२)

२. ग्रिफिथ द्वारा अंग्रेजी पद्यानुवाद २ खण्ड (बनारस १८९७)।

३. ब्लूमफील्ड : अंग्रेजी गद्य में अनुवाद (कम महत्व के सूत्रों को छोड़कर) प्रचुर टिप्पणियों के साथ, (सैक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट भाग ४२ में सङ्कलित)।

विषय सूची

ब्लूमफील्ड : द अथर्ववेद (बुहलर की इन्साइक्लोपीडिया ष्ट्रैसबर्ग १८९९ में संकलित)।

अष्टम अध्याय

(१) ब्राह्मण एवं आरण्यक ग्रन्थ

१. ऐतरेय ब्राह्मण—(अ) औफ्रेट द्वारा सम्पादित (सर्वोत्तम संस्करण) बोन १८७९।

(आ) हॉग : अनुवाद के साथ सम्पादन २ खण्ड (बाम्बे १८६३)।

२. कौशीतकी उपनाम शाङ्खायन ब्राह्मण—सम्पादन लिंडनर द्वारा (जेना १८८७)।

३. ऐतरेय आरण्यक—सम्पादन-आर० मित्र (कलकत्ता १८७६ बिब्लिोथिका इण्डिका)।

४. कौशीतकी आरण्यक—सम्पादित नहीं।

५. ताण्ड्य महाब्राह्मण उपनाम पञ्चविंश ब्राह्मण—सम्पादन ए० वेदान्त वर्गीश (बिब्लोथिका इण्डिका कलकत्ता १८६९-७४।

६. षड्विंश ब्राह्मण—(अ) सम्पादन जे० विद्यासागर १८८१। तथा (आ) क्लेम द्वारा सम्पादन सहित अनुवाद (ग्यूटर्संलोह १८९४)।

७. सामविधान ब्राह्मण—(अ) सम्पादन-बरनैल द्वारा (लन्दन १८७३) (आ) कोनो द्वारा अनुवाद (हाली १८९३)।

८. वंश ब्राह्मण—(अ) वेवर द्वारा सम्पादन (इण्डिशे ष्टूडियेन भाग चतुर्थ पृष्ठ ३७१ से (आ) बरनैल द्वारा सम्पादन, मंगलोर १८७३।

९. देवताध्याय ब्राह्मण—सम्पादन-बरनैल १८७३।

१०. आर्षेय ब्राह्मण—सम्पादन बरनैल १८७६।

११. संहितोपनिषद् ब्राह्मण—सम्पादन बरनैल १८७७।

१२. मन्त्र ब्राह्मण—एस० सामश्रमी द्वारा सम्पादित (कलकत्ता १८९०)

१३. जैमिनीय या तलवकार ब्राह्मण—एक भाग का सम्पादन बरनैल ने १८७८ में किया और एक भाग का सम्पादन अनुवाद और टिप्पणियों के साथ ओअरटेल ने किया। (इसका प्रकाशन जर्नल आफ अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी भाग १६पृ० ७९ से २६० तक हुआ।)

१४. **तैत्तिरीय ब्राह्मण**— (अ) आर० मित्रा द्वारा सम्पादन १८५५-७० (बिब्लोथिका इण्डिका (आ) एन० गोडबोले द्वारा सम्पादन, (आनन्दाश्रम सीरीज, १८९८)।

१५. **तैत्तिरीय आरण्यक**—एच० एन० आप्टे द्वारा सम्पादित (आनन्दाश्रम सीरीज, पूना १८९८)।

१६. **शतपथ ब्राह्मण**—(अ) वेवर द्वारा सम्पादन (र्वलिन, लन्दन १८५९) (आ) अनुवाद एगर्लिग द्वारा (सैक्रेड बुक्स में ५ खण्ड)।

१७. **गोपथ ब्राह्मण**—आर० मित्र और एच्० विद्याभूषण द्वारा सम्पादित १८७२ (बिब्लोथिका इण्डिका)।

बुह्लर की इंसाइल्कोपीडिया पृ० १०१-१२४ के अन्तर्गत ब्लूमफील्ड के अथर्ववेद में इस उपनिषद् का पूरा विवरण दिया गया है।

(२) उपनिषद्

सामान्य उपनिषदों पर—

(१) सर्वाधिक उपयोगी पुस्तक—'**फिलासोफी देर उपनिषद्स्** (लायपझिग १८९९)।

(२) मैक्समूलर द्वारा '**सैक्रेड बुक्स**' भाग १ से १५ में उपनिषदों का अनुवाद।

(३) ड्यूशन द्वारा '**सेग्जिग उपनिषद्स**' (बहुमूल्य प्रस्तावना के साथ अनुवाद, (लीपझिग १८९७)।

(४) जैकव की '**ए कंकार्डेंस टु द प्रिंसिपल उपनिषद्स एण्ड भगवद्गीता**' (बाम्बे संस्कृत सीरीज १८९१) पृ० सं० २२६ यह एक अत्यधिक उपयोगी पुस्तक है।

(५) **टीका के साथ** ३२ उपनिषदों का सम्पादन (आनन्दाश्रम सीरीज पूना १८९५)।

विभिन्न उपनिषदों पर—

१. **ऐतरेय उपनिषद्**—(अ) सम्पादन रोअर द्वारा १८५० (बिब्लोथिका इण्डिका) (आ) आनन्दाश्रम सीरीज में भी सम्पादित १८८९।

२. **कौशीतकी ब्राह्मण उपनिषद्** सम्पादन काउवेल (कलकत्ता १८६१ बिब्लोथिका इण्डिका)।

३. **छान्दोग्योपनिषद्**—(अ) बोह्लिंग द्वारा अनुवाद के साथ सम्पादन (लीपजिग १८८९) (आ) आनन्दाश्रम सीरीज में १८९० में प्रकाशित पृ० सं० २२९।

४. **केन या तलव्कार उपनिषद्** (अ) रोअर द्वारा सम्पादन (कलकत्ता

१८५०) (आ) आनन्दाश्रम सीरीज में भी प्रकाशित ।

५. **मैत्री उपनिषद्**—सम्पादन काउवेल १८७० (बिब्लोथिका इण्डिका) ।

६. **श्वेताश्वतर उपनिषद्**—(अ) रोअर द्वारा सम्पादन १८५०) (आ) आप्टे द्वारा टीका के साथ सम्पादित (पूना १८८६) (इ) जैकब द्वारा १८११ ।

७. **तैत्तिरीय उपनिषद्**—(अ) सम्पादन रोअर १८५० (आ) आनन्दाश्रम सीरीज १८८६ ।

८. **बृहदारण्यक उपनिषद्** (अ) बोहलिंग द्वारा सम्पादन और अनुवाद (लीपज़िग १८८६) (आ) आनन्दाश्रम सीरीज में भी सम्पादन १८९१ ।

९. **ईशोपनिषद्** सम्पादन आनन्दाश्रम सीरीज १८९८ ।

१०. **मुण्डक उपनिषद्**—(अ) सम्पादन रोअर १८५०, (आ) आप्टे आनन्दाश्रम सीरीज १८८६, (इ) जैकब-१८९१ ।

११. **माण्डूक्य उपनिषद्**—(अ) आनन्दाश्रम सीरीज १८९० (आ) जैकब १८९१ (इ) अंग्रेजी अनुवाद के साथ सम्पादन तथा टिप्पणियां (बाम्बे १८९५)

१२. **महानारायण उपनिषद्**—जैकब द्वारा टीका के साथ सम्पादित (बाम्बे संस्कृत सीरीज १८८८) ।

१३. **नृसिंहतापनीय उपनिषद्**—आनन्दाश्रम सीरीज १८९५ पृ० सृ० २४२ । इसमें शंकर और प्लेटो की समानता वस्तुतः अत्युक्तिपूर्ण है क्योंकि एक ओर प्लेटो द्वित्वभाव से छुटकारा नहीं पा सका और दूसरी ओर उसने केवल इतना ही कहा कि भौतिकसत्ता वास्तविक सत्ता नहीं है ।

नवां अध्याय

सामान्य सूत्रों के विषय में पढ़िए—हिलब्राण्ट का **रिचुअल लिटरेचर** (बुहलर की इंसाइक्लोपीडिया १८९७ में प्रकाशित) ।

(१) श्रौतसूत्र

१. **आश्वलायन श्रौतसूत्र**—सम्पादन आर्० विद्यारत्न (कलकत्ता, बिब्लोथिका इण्डिका १८६४-७४) ।

२. **शाङ्खायन श्रौतसूत्र** हिलीब्राण्ट द्वारा सम्पादित (बिब्लोथिका इण्डिका १८८५-९९)

३. **लाट्यायन श्रौतसूत्र**—सम्पादन ए० वागीश द्वारा (बिब्लोथिका इण्डिका कलकत्ता १८७०-७२) ।

४. **मशक और द्राह्यायण श्रौतसूत्र**—जिसका अब तक सम्पादन नहीं हुआ

५. **कात्यायन श्रौतसूत्र**—वेबर द्वारा सम्पादन (लन्दन, बर्लिन १८५५) ।

६. **आपस्तम्ब श्रौतसूत्र**—हिलीब्राण्ट द्वारा आंशिक रूप में सम्पादित (बिब्लोथिका इण्डिका, कलकत्ता १८८२-९७) ।

७. **वैतान सूत्र**—(अ) गार्वे द्वारा सम्पादन (लन्दन १८७८) (आ) गार्वे द्वारा अनुवाद (ष्ट्रैसवर्ग १८७८)।

(२) गृह्यसूत्र

१. **आश्वालायन गृह्यसूत्र**—(आ) स्टेन्जलर द्वारा अनुवाद के साथ सम्पादन (लीपजिग १८६४-६५) (आ) टीका और टिप्पणी से साथ सम्पादन (वाम्वे १८९५) (इ) सैक्रेड बुक्स में अनुवाद मात्र भाग २९वां।

२. **शाङ्खायन गृह्यसूत्र**—(अ) ओल्डेनवर्ग द्वारा सम्पादन और जर्मन में अनुवाद (इण्डिशे स्टूडियेन भाग १५) (आ) सैक्रेड बुक्स में अंग्रेजी में अनुवाद भाग २९।

३. **गोभिल गृह्यसूत्र**—तर्कालंकार द्वारा टीका सहित सम्पादित (विब्लोथिका इण्डिका, कलकत्ता १८८०) (आ) कौअर द्वारा सम्पादन (दोरपत १८८४) (इ) कौअर द्वारा अनुवाद (दोरपत १८८७) (ई) सैक्रेड बुक्स में अनुवाद खण्ड ३०।

४. **पारस्कर गृह्यसूत्र**— (अ) स्टेन्जर द्वारा सानुवाद सम्पादित (लीपजिग १८७६) (आ) सैक्रेड बुक्स में अंग्रेजी अनुवाद भाग २९।

५. **आपस्तम्ब गृह्यसूत्र**—(अ) सम्पादन विण्टरनित्ज द्वारा (वियना १८८७) (आ) अंग्रेजी में अनुवाद (सैक्रेड बुक्स भाग ३०।)

६. **हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र**—(आ) किर्स्ते द्वारा सम्पादित (वियना १८८९) (आ) अंग्रेजी में अनुवाद सैक्रेड बुक्स भाग ३०।)

७. **मन्त्रपाठ**—विण्टरनित्ज द्वारा सम्पादित (आक्सफोर्ड १८९७)।

८. **मानव गृह्यसूत्र**—नेवर द्वारा सम्पादित (लायपजिग १८९७)।

९. **कौशिक गृह्यसूत्र**—सम्पादन ब्लूमफील्ड द्वारा (न्यू हेवेन १८९०)।

१०. वौधायन का **पितृमेधसूत्र**—हिरण्यकेशी गौतम प्रणीत केलण्ड द्वारा सम्पादित (लायपजिग १८९६)।

(३) धर्मसूत्र

१. **आपस्तम्ब धर्मसूत्र**—बुहलर द्वारा सम्पादित (वाम्वे संस्कृत सीरीज, दो भाग, १८९२ और १८९४)।

२. **बौधायन धर्मसूत्र**—हुल्टज द्वारा सम्पादित (लीपझिग १८८४)।

३. **गौतम धर्म शास्त्र** स्टेन्ज़लर द्वारा सम्पादित (लन्दन १८७६)।

४. **वशिष्ठ धर्मशास्त्र**—फ्यूहरर द्वारा सम्पादित (बाम्वे ५८८३)।

५. **हिरण्यकेशी धर्मसूत्र** - अभी तक सम्पादित नहीं हुआ।

६. **वैखानस धर्मसूत्र**—ब्लौक द्वारा वर्णित।

सैक्रेड वुक्स द्वितीय संस्करण आक्सफोर्ड १८९७ में ब्यूहलर द्वारा **आपस्तम्ब, गौतम, वशिष्ठ और बौधायन** के धर्मसूत्रों के अनुवाद।

(४) प्रतिशाख्य

१. **ऋग्वेद प्रतिशाख्य**—(अ) मैक्समूलर द्वारा जर्मन अनुवाद और सम्पादन (लीपझिग १८५६-६९) (आ) उव्वट की टीका के साथ सम्पादन (बनारस संस्करण १८९४)।

२. **ऋक्प्रातिशाख्य**—(साम० प्रा०) बर्नेलद्वारा अनुवाद (मंगलौर १८७९)

३. **तैत्तिरीय प्रातिशाख्य** = ह्विटने द्वारा सम्पादन, जर्नल आफ अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी भाग ९, १८७१ में प्रकाशित।

४. **वाजसनेयी प्रातिशाख्य**—उव्वट की टीका के साथ प्रकाशित (बनारस संस्कृत सीरीज १८८८)।

५. **अथर्ववेद प्रतिशाख्य**—ह्विटने द्वारा सम्पादित (जर्नल आफ द अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी खण्ड ७ और १० में प्रकाशित)।

(५) विविध

१. **शुल्वसूत्र**—बौधायन रचित, थिबौट द्वारा अनुवाद एवं संपादन पंडित भाग ९ में प्रकाशित (शुल्वसूत्र पर थिबौट का लेख भी देखिए जो जर्नल आफ एशियाटिक सोसाइटी बंगाल भाग ४४ (कलकत्ता १८७५) में प्रकाशित हुआ था।)

२. **षड् वेदाङ्ग**—संस्कृत मूलपाठ (बाम्बे १८९२)।

३. **निरुक्त**-यास्करचित (अ) आर० राथ द्वारा सम्पादित (गोटिंगेन १८५२) (२) एस० सामश्रमी द्वारा टीका के साथ सम्पादित (बिब्लोथिका इण्डिका)।

४. **सर्वानुक्रमणी**—मैकडानल द्वारा सम्पादन (आक्सफोर्ड १८८६) (इसमें अनुवाकानुक्रमणी और षड्गुरुशिष्य की टीका भी सम्मिलित हैं।)

५. **आर्षानुक्रमणी, छन्दोनुक्रमणी और बृहद्देवता** (तीनों एक ही कलेवर में) आर० मित्र द्वारा सम्पादित १८९२ (बिब्लोथिका इण्डिका)।

६. **छन्दः सूत्र**-पिङ्गल रचित—(अ) बिब्लोथिका इण्डिका में १८७४ में सम्पादित एवं प्रकाशित। (आ) वेबर की इण्डिशे स्टूडियेन भाग ८ में प्रकाशित (इसमें सामान्य रूप से संस्कृत छन्दों का विवेचन किया गया है, अतएव यह एक महत्त्वपूर्ण कृति है।)

७. **निदान सूत्र**—उसी (इण्डिशे स्टूडियेन भाग ८) में आंशिक रूप में सम्पादित एवं प्रकाशित।

८. **सर्वानुक्रमणी सूत्र**—(अ) यह शुक्लयजुर्वेद विषयक है। वेबर ने शुक्ल यजुर्वेद का जो सम्पादन किया था उसी के साथ इसे भी सम्मिलित कर दिया। (आ) टीका के साथ सम्पादित (बनारस संस्कृत सीरीज १८९३-९४)।

९. **चरणव्यूह**—वेबर द्वारा सम्पादित (इण्डिशे स्टूडियेन भाग ९)।

१०. माधव पर देखिये—क्लेम्म् (गुरुपूजा कौमुदी में) लीपजिग १९९६।

अध्याय १०

महाभारत-सामान्य पर विशेष रूप से देखें—

१. होल्टजमन: डस महाभारत, ४ खण्ड (कील १८९२-९५)।

२. बुहलर : इण्डियन स्टडीज सं० २ (विशिष्ट स्थलों के अनुवाद, वियना एकेडमी १८९२)।

इन्हें भी देखें—

३. जैकोवी : **न्योर्टिबेर गेले ह्लिट एन्जिगेन,** खण्ड ८, फोलियो ६५६ में।

४. विण्टरनित्ज : **जर्नल आफ दि राय** (एशियाटिक सोसाइटी १८९७ पृ० ७१३ फोलिओ)।

५. **इण्डियन एण्टीक्वेरी खण्ड** २७वां (संस्करण-५ खण्ड बम्बई १८८८, कलकत्ता १८९४) प्रतापचन्द्र राय के व्ययभार पर अंग्रेजी गद्य में अनुवाद, कलकत्ता १८९६।

६. एम० एन० दत्त द्वारा अंग्रेजी में शब्दानुवाद, ५ खण्ड, कलकत्ता १८९६)।

सावित्री की कथा

सम्पादन-केलनर द्वारा, प्रस्तावना और टिप्पणी के साथ (लायपज्रिक-१८८८)।

नलोपाख्यान

१. बुहलर की **वर्ड बुक आफ संस्कृत** में मूलपाठ बाम्बे १८७७।

२. केलनर द्वारा मूलपाठ, टिप्पणी और शब्दावली (१८८५)।

३. मोनियर विलियम्स द्वारा मूलपाठ, अनुवाद और शब्दावली (आक्सफोर्ड १८७६)।

सामान्य रूप से पुराणों पर अध्ययन करें—

१. एच० एच० विलसन द्वारा विष्णु पुराण ५ खण्डों की प्रस्तावना (सम्पादन फिट्ज वर्डहाल १८६४-७०)।

२. **होल्ट्ज़मन** (नागरिक नाट्यशाला खण्ड ४ पृ० २९-५८)।

३. **गरुड पुराण,** (सम्पादन बम्बई १८८८, विद्यासागर कलकत्ता १८९१)।

४. **अग्नि पुराण,** (अ) (सम्पादन आर० मित्र बिब्लिओ थेका इण्डियाना १८७०-७९)। (आ) जे० विद्यासागर, कलकत्ता १८८२।

५. **वायु पुराण**—(अ) सम्पादन-भारतीय ग्रन्थागार १८८८, (आ) बाम्बे १८९५।

६. **मत्स्यपुराण** (बम्वई १८९५)।

७ **कूर्म पुराण** (बिब्लिओ थेका इण्डियाना १८९०)।

८. **मार्कण्डेय पुराण** (अ) सम्पादन बिब्लिओ थेका इण्डियाना १८५५-६२ (आ) पर्जिटर द्वारा अनुवाद, बिब्लिओ थेका इण्डियाना १८८८-९९ (इ) सी. सी. मुखर्जी द्वारा अनुवाद, कलकत्ता १८९४।

९. **पद्म पुराण** (सम्पादन वी० एन० माण्डलिक ४ खण्ड, आनन्द सीरीज, १८९४)।

१०. **विष्णु पुराण** (टीका के साथ सम्पादन बम्बई १८८७ कलकत्ता से ५ खण्ड-१८८८, एम० एन० दत्त द्वारा गद्य में अनुवाद, कलकत्ता १८९४, विल्सन द्वारा नागरिक नाटयशाला में प्रकाशित।

११. **भागवत** (तीन टीकाओं के साथ सम्पादन, तीन भाग बम्बई १८८७, दो भाग निर्णय सागर प्रेस बम्बई १८९४, सम्पादन एवं अनुवाद वर्नफ द्वारा, ४ खण्ड, पैरिस, १८४०-४७, १८८४)।

१२. **ब्राह्म पुराण** (सम्पादन, आनन्द सीरीज १८९५)।

१३. **वाराह पूराण**, (बिब्लिओ थेके इण्डियाना १८८७-९३)।

रामायण पर साहित्य

सामान्य रूप से रामायण पर देखें—

१. **डस रामायण** (जैकोबी द्वारा सम्पादन, ब्रोन १८९३)।

२. **जर्मन ओरियण्टल सीरीज का जर्नल भी**, (खण्ड ४८ पृ० ४०७ फोलिओ खण्ड ५१ पृ० ६०५ फोलियो)।

३. **लुडविक यूवेर डस रामायण**, प्राग० १८९४।

४. **बौमगार्टेनर : डस रामायण**, (फ्रीवर्ग आई० बी., १८९४)।

५. **बम्वई समीक्षात्मक संस्करण** (सम्पादन गोरेशियो टयूरिन १८४३-६७)।

६. तीन व्याख्याओं के साथ ३ भाग (बम्बई १८९५)।

७. बंगाल संस्करण, (कलकत्ता १८५९-६०)।

८. ग्रिफिथ द्वारा अंग्रेजी पद्य में अनुवाद (बनारस १८९५)।

९. एम० एन० दत्त द्वारा अंग्रेजी गद्य में अनुवाद (कलकत्ता १८९४)।

अध्याय ११

काव्य कविता युग पर विशेषरूप से अध्ययन करें—

१. बुहलर : **डाई इण्डिस्किेन, इंसक्रिफ्टेन अण्ड डास आल्टर डेर इण्डिस्केन कुंस्ट ब्वाइसी** अनुवाद में (इम्पीरियल वीना अकादमी, वीना १८९०)।

२. फलीट : **कार्पस इंस्क्रिप्सनम् इण्डिकारम** भाग ३ (कलकत्ता १८८८)।

विक्रम काल काल पर देखिये—कीलहोर्न : **गोटिंगेर नखरिस्टेन** (१८९१ पृ० १७९-१८२ तक) और मालवाकाल पर **इण्डियाना एन्टीक्वेरीज** भाग १९

पृ० ३१६ कालिदास की तँथिकी पर हुथ-डाईजीट डे स कालिदास (बर्लिन १८९०) बुद्धचरित सम्पादन—काउवेल (आक्सफोर्ड १८९३) अनुवाद—काउ-वेल द्वारा (सैक्रेड बुक्स खण्ड ४९)।

रघुवंश पर

१. सम्पादन—स्टॅंज़लर द्वारा लैटिन अनुवाद के साथ (लन्दन १८३२)।

२. एस० पी० पण्डित द्वारा मल्लिनाथ की टीका के साथ सम्पादन (बाम्बे संस्कृत सीरीज)।

३. मूलपाठ—अंग्रेजी अनुवाद के साथ, अनुवादकार ज्वाला प्रसाद, (बाम्बे १८९५)।

४. सम्पादन के० पी० परव, मल्लिनाथ की टीका के साथ (निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १८९२)।

५. एक से सात सर्ग तक, अंग्रेजी अनुवाद, टिप्पणी, मल्लिनाथ की टीका, भट्ट हेमाद्रि, चरित्रवर्धन, वल्लभ की टीकाओं के उद्धरणों के साथ, सम्पादक—जी० आर० नागरिक (पूना १८९६)।

कुमार सम्भव पर

१. सम्पादन—लैटिन अनुवाद के साथ, सम्पादक स्टेंजलर (लन्दन-१८३८)।

२. सर्ग १ से ६ तक, अंग्रेजी अनुवाद और मल्लिनाथ की टीका के साथ, सम्पादक - एस० जी० देश पाण्डे (पूना १८८७)।

३. दूसरा भाग—पूर्ण व्याख्या के साथ, व्याख्याकार विद्यासागर, चौथा संस्करण, (कलकत्ता १८८७)।

४.मल्लिनाथ की टीका के साथ सर्ग १ से ७ तक और सीताराम की टीका के साथ सर्ग ८ से १७ तक तीसरा संस्करण (निर्णय सागर प्रेस बाम्बे-१८९३)।

५. तीन टीकाओं के साथ सम्पादित (बम्वई १८९८)।

६. अनुवाद ग्रिफिथ के द्वारा (लन्दन १८७९)।

भट्टि काव्य

१. सम्पादन (कलकत्ता १६२८)।

२. सर्ग १ से ५ तक—जयमंगला टीका, अंग्रेजी अनुवाद टिप्पणियों और शब्दावली के साथ, सम्पादक एम० आर० काले (बम्बई १८९७)।

३. मल्लिनाथ की टीका और के० पी० त्रिवेदी की टिप्पणियों के साथ, (बाम्बे संस्कृत सीरीज, २ भाग १८९८)।

४. जर्मन अनुवाद सर्ग १८ से २२ तक, अनुवादक स्कुट्ज फील्डवली (१८३७)।

किरातार्जुनीय

१. सम्पादन—जे विद्यासागर द्वारा (कलकत्ता १८७५)।

२. मल्लिनाथ की टीका के साथ (निर्णय सागर प्रेस बम्बई १८८५)।

३. सर्ग १, २, अनुवादक स्कुट्ज बीलफील्ड (१८४३)।

शिशुपाल वध

१. सम्पादन मल्लिनाथ की टीका के साथ, सम्पादक विद्यासागर (१८८४, बनारस से भी प्रकाशित १८८३)।

२. सर्ग १ से ९ स्कुट्ज द्वारा जर्मन में अनुवाद (बीलफील्ड १८४३)।

नैषधीय चरित—नारायणीय टीका के साथ पण्डित शिवदत्त द्वारा सम्पादित (बम्बई १८९४)।

नलोदय

१. विद्यासागर द्वारा सम्पादित (कलकत्ता १८७३)।

२. शैक द्वारा स्टीमेन वान गैंजेज में जर्मन में अनूदित (दूसरा संस्करण १८७७)।

राघवपाण्डवीय टीका के साथ काव्यमाला में सम्पादित सं० ६२।

(धनञ्जय का राघवपाण्डवीय जिसके उद्धरण ११४० ई० के संस्करण में गणरत्न महोदधि में दिए गए हैं कविराज की रचना का अनुकरण है। बुहलर के विश्वकोश पृ० २७-२८ पर जकारिया की टिप्पणी को भी देखें)। इसी दिशा निर्देश पर लिखे गए आधुनिक संस्कृत नाटक के लिए स्करमैन का ओरियण्टालिशे बिब्लिओग्राफी को भी देखें (भाग ९, १८९६ ई० पृ० २५८ संख्या ४९०५)।

हरविजय—काव्यमाला में सन् १८९० ई० में सम्पादित।

(बुहलर की डिटेल्ड रिपोर्ट पृ० ४३ बाम्बे १८७७ को भी देखें)।

नवसाहसांकचरित—सम्पादन बाम्बे संस्कृत सीरीज १८९५ (बुहलर और जकारिया द्वारा ट्रांस आफ विअना अकादमी १८८८ भी देखें)।

सेतुबन्ध

१. (महाराष्ट्री भाषा में) एस० गोल्डस्किमिट द्वारा अनुवाद के साथ १८८४ में सम्पादित।

२. काव्य माला सं० ४७ बाम्बे १८९५ में सम्पादित।

वासवदत्ता

१. भूमिका के साथ फिट्जएडवर्ड हाल द्वारा सम्पादित (बिब्लिओ थेका इण्डियाना १८५९)।

२. जे. विद्यासागर की टीका के साथ सम्पादित (कलकत्ता १८७४)।

कादम्बरी

१. सम्पादन, पी० पेटर्सन (बाम्बे संस्कृत सीरीज १८८९)।

२. टीका के साथ सम्पादन (निर्णय सागर प्रेस बम्बई १८९६)।

३. एम० आर० काले द्वारा टीका और टिप्पणी सहित (पूना १८९६)।

४. जहां तहां के कुछ भागों को छोड़कर, सी० एम० रिडिंग द्वारा अनुवाद (रायल एशियाटिक सोसाइटी, लन्दन १८९६)।

हर्षचरित

१. सम्पादन, जे० विद्यासागर द्वारा, (कलकत्ता १८८३)।

२. टीका के साथ सम्पादन (जम्मू १८७९)।

३. सम्पादन, (बम्बई १८९२)।

४. अनुवाद द्वारा कावेल और टामस (रायल एशियाटिक सोसाइटी लन्दन १८९७)।

दशकुमार चरित प्रथम भाग, सम्पादन, बुहलर, (बाम्बे संस्कृत सीरीज, द्वितीय संस्करण १८८८)।

द्वितीय भाग १. पी० पेटर्सन, उसी स्थान से १८९१।

२. सम्पादन, पी० वनर्जी (कलकत्ता १८८८)।

अध्याय १२

मेघदूत

१. ष्टेञ्जलार द्वारा शब्द संग्रह के साथ सम्पादन, (ब्रेस्लो १८७४)।

२. मल्लिनाथ की टीका सहित (निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १८९४)।

३. के० बी० पाठक द्वारा सम्पादन (पूना १८९४)।

४. विल्सन द्वारा अंग्रेजी पद्यानुवाद, तीसरा संस्करण, (लन्दन १८६७)।

५. टी० क्लार्क द्वारा (लन्दन १८८२)।

६. जर्मन में मैक्समूलर द्वारा (कोनिंगस वर्ग १८४७)।

७ स्किट्ज वीलफील्ड द्वारा १८५९।

८. फिट्जकेमनिट्ज द्वारा १८७९।

ऋतुसंहार

१. सम्पादन लैटिन और जर्मन अनुवाद के साथ—द्वारा पी० वी० बोह्लिन, लायपज़िग १८४०।

२. सीताराम अय्यर द्वारा टिप्पणी और अंग्रेजी अनुवाद के साथ, (वम्बई १८९७)।

घट कर्पर

१. सम्पादन, (ब्रोखाउस १८४१)।

२. जर्मन में अनुवाद, अनुवादक—होफर (इंडिस्शे गेडिक्टे भाग २ में)।

चौर पंचाशिका

१. सोल्फ द्वारा संपादन और जर्मन में अनुवाद (कील १८८६)।

२. एडविन अर्नाल्ड द्वारा अनुवाद, (लन्दन १८९६)।

भर्तृहरि शतक

१. टीका के साथ संपादन (बंबई १८८४)।

२. टानी द्वारा अंग्रेजी पद्य में अनुवाद (कलकत्ता १८७७)।

शृङ्गार शतक—संपादन (कलकत्ता १८८८)।

शृङ्गार तिलक—गिल्डेमिस्टर द्वारा संपादन (बोन १८४१)।

अमरु शतक—आर० सीमन द्वारा संपादन (कील १८९३)।

हालका सप्तशतक – वेवर द्वारा जर्मन गद्य में अनुवाद (लायपजिग १८८१) (अभण्डलुंगेन फुट डी कुण्डे डेस मार्गेन लैण्डेस भाग ८ सं० ४)।

मयूर का सूर्य शतक या सूर्य की प्रशंसा में १०० पद्य—संपादन (काव्य-माला के अन्तर्गत १८८९)।

गीत गोबिन्द

१. जे० विद्यासागर द्वारा संपादित (कलकत्ता १८८२)।

२. बाम्वे निर्णय सागर प्रेस १८९९)।

३. रुकर्ट द्वारा जर्मन में अनुवाद (आभण्ड लुंगेन फुर डी कुण्डे डेस मोर्गेन लैण्डेस, लायपजिक का प्रथम खण्ड)।

अध्याय १३

सामान्यत: संस्कृत नाटक के विषय में विशेपरूप से देखें।

१. एच० एच० विल्सन : सेलेक्ट स्पेसीमेंन्स आफ द थियेटर आप हिन्दूज दो भाग (तीसरा संस्करण, लन्दन १८७१)।

२. सिल्वन लेवी : ले थियेटर इन्डेन (पैरिस १८९०)।

शकुन्तला

१. बंगाली संस्करण, पिशेल द्वारा संपादित, (कील १८७७)।

२. देवनागरी संस्करण, संपादक मोनियर विलियम्स दूसरा संस्करण (आक्स-फोर्ड १८७६)।

३. एम० आर० काले द्वारा संपादित (बंबई १८९८)।

४. मोनियर विलियम्स द्वारा अनूदित, छठा संस्करण (लन्दन १८९४)।

५. रुकर्ट द्वारा जर्मन में अनूदित, (लायपजिक १८७६)।

६. फिट्ज द्वारा (१८७६)।

७. लोवेडाञ्ज द्वारा, सातवां संस्करण (लायपज़िक १८८४) दक्षिण भारतीय और कश्मीरी संस्करण भी विद्यमान हैं। (बुहलर की रिपोर्ट P ८५वां भी देखें।

विक्रमोर्वशीय

१. संपादन—एस० पी० पण्डित, (बंबई १८७९)।

२. संपादन वैद्य (१८९५)।

३. दक्षिण भारतीय संस्करण, पिशेल द्वारा संपादित (१८७५)।

४. विल्सन द्वारा अनुवाद (नागरिक नाटयशाला)।

५. काउवेल द्वारा (हर्टफोर्ड १८५१)।

६. फिट्ज़ द्वारा (लायपज़िक १८८०)।

मालविकाग्निमित्र

१. संस्करण, बोलेन्सेन द्वारा (लायपज़िक १८७९)।

२. एस० पी० पण्डित द्वारा (बंबई १८६९)।

३. एस० एस० अय्यर द्वारा (पूना १८९६)।

४. टानी द्वारा अनुवाद, द्वितीय संस्करण (कलकत्ता १८९१)।

५. वेवर द्वारा जर्मन में अनुवाद (वर्लिन १८५६)।

६. फिट्ज द्वारा (लायपज़िक १८८१)।

मृच्छ कटिक

१. संपादन-ष्टेन्जलर द्वारा (बोन १८४७)।

२. जे० विद्यासागर द्वारा, द्वितीय संस्करण, (कलकत्ता १८९१)।

३. विल्सन द्वारा अनुवाद (नागरिक नाटच मंच)।

४. वोहथ लिड्क द्वारा जर्मन में अनुवाद (सेंट पीटर्स वर्ग १८७७)।

५. फिट्ज द्वारा (केमनिट्ज, १८७९)।

रत्नावली

१. कैपलर द्वारा संपादित (वोहट्लिङ्क संस्कृत संकलन में संकलित, १८९७)।

२. टीका के साथ (निर्णय सागर प्रेस बांबे १८९५)।

३. विल्सन द्वारा अनूदित (नागरिक नाटच मंच)।

४. फिट्ज द्वारा जर्मन में अनुवाद (केमनिट्ज १८७८)।

नागानन्द

१. संपादक—जे० विद्यासागर (कलकत्ता १८७३)।

२. पूना संस्करण १८६३।

३. पाल्मर ब्वायड द्वारा अनुवाद, काउवेल द्वारा प्रस्तावना के साथ सम्पादन (लन्दन-१८७२)।

बाण का पार्वती परिणय

१. अनुवाद के साथ संपादन, संपादक टी० आर० आर०, अय्यर (कुंबक्कोनम्-१८६८)।

२. ग्लासर द्वारा जर्मन में (ट्रीस्टे १८८६)।

मालती माधव

१. संपादक, आर० जी० भण्डारकर (बंबई १८७६)।

२. विल्सन द्वारा अनुवाद (नागरिक संगीत नाट्य मंच)।

३. फिट्ज द्वारा (लायपजिक १८८४)।

महावीर चरित

१. संपादन ट्रिथेन (लन्दन १८४८)।

२. के० पी० परव (बम्बई १८६२)।

३. जे० पिकफोर्ड द्वारा अनुवाद (लन्दन १८७१)।

उत्तर रामचरित

१. टीका के साथ सम्पादन और अनुवाद (नागपुर १८६५)।

२. ऐय्यर और परव द्वारा टीका के साथ संपादन, (निर्णय सागर प्रेस-१८६६)।

३. विल्सन द्वारा अनुवाद (नागरिक संगीत नाट्य मंच)।

मुद्रा राक्षस

१. संपादन, तेलंग, (बंबई १८६३)।

२. विल्सन द्वारा अनुवाद (नागरिक संगीत नाट्य मंच)।

३. फिट्ज द्वारा जर्मन में अनुवाद (लायपजिक १८८७)।

वेणी संहार

१. संपादन, के० पी० परव (निर्णय सागर प्रेस, बांबे १८६८)।

२. एन० बी० गोडबले (पूना १८६५)।

३. ग्रिल (लायपजिक १८७१)।

४. एस० एम० टैगौर द्वारा अंग्रेजी में अनुवाद (कलकत्ता १८८०)।

विद्धशालभञ्जिका—सम्पादक, जे० विद्यासागर (कलकत्ता १८८३)।

कर्पूरमञ्जरी—पण्डित के सातवें भाग में सम्पादित (बनारस)।

बालरामायण

१. संपादक—गोविन्द देव शास्त्री (बनारस १८६९)।

२. जे० विद्यासागर (कलकत्ता १८८४)।

प्रचण्ड पाण्डव—संपादक-कैप्लर (स्ट्रैसवर्ग १८८५)।

राजशेखर के विषय में देखिए—

१. कीलहोर्न : एपीग्रैफिया इण्डिया, चतुर्थ भाग १८८९।

२. फ्लीट : भारतीय पुरातनता (Indian antiqniry) भाग १६, पृ० १७५-१७८।

३. जैकोवी : वियना ओरियण्टल जनरल भाग ७, पृ० २१२-२१६।

चण्ड कौशिक

१. सम्पादक—जे० विद्यासागर (कलकत्ता १८८४)।

२. फ़िट्ज द्वारा अनुवाद (कौशिक का जर्नल)।

प्रबोधचन्द्रोदय

१. सम्पादन (निर्णय सागर प्रेस बम्बई १८९८)।

२. गोल्ड स्टकर द्वारा जर्मन में अनुवाद, भूमिका लेखक-रोजेनक्रांज (कोनिङसवर्ग १८४२)।

३. हिर्जेल द्वारा अनुवाद भी (ज्यूरिच १८४६)।

४. टायलर द्वारा (बम्बई १८८६)।

अध्याय १४

पञ्चतन्त्र

१. कोजेगार्टेन द्वारा सम्पादन (बोन १८४८)।

२. कीलहार्न और बुहलर द्वारा (बाम्वे संस्कृत सीरीज में)।

ये दो संस्करण अत्यन्त विभिन्न दो संस्करणों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

३. बेन्फे द्वारा बहुत अधिक बहुमूल्य प्रस्तावना के साथ अनुवाद, दो खण्ड (लायपज़िक १८५९)।

४. अंग्रेजी अनुवाद, (त्रिचनापल्ली १८८७)।

५. फ़िट्ज द्वारा जर्मन अनुवाद (लायपज़िक १८८४)।

६. क्षेमेन्द्र की वृहत्कथामञ्जरी में पञ्चतन्त्र के सारसंग्रह का मैंकोवस्की द्वारा प्रस्तावना, मूलपाठ, अनुवाद और टिप्पणियी के साथ सम्पादन (लायपजिक १८९२)।

हितोपदेश

१. सम्पादक—एफ़० जान्सन (लन्दन १८८४)।

२. पी० पेटर्सन (बाम्वे संस्कृत सीरीज)।

कामन्दकीय नीतिसार

१. अनुवाद के साथ सम्पादन और टिप्पणियां (मद्रास १८९५)।

२. आर० मित्रा द्वारा मूलपाठ का सम्पादन (भारतीय पुस्तकालय, कल-कत्ता १८८४)।

शिवदास की वेताल पञ्चविंशतिका

१. सण्पादक—एच० उहले (अवहाण्डलुंगेन डेर डायचेन मोर्गनलं, गेज़ल, भाग ८ सं० १ मे) (लायपज़िक १८८१)।

२. सर० आर० एफ० वर्टन—'विक्रम एण्ड द वम्पायर' (नया संस्करन लन्दन १८९३)।

सिंहासनद्वात्रिंशिका—(द्वात्रिंशत् पुत्तलिका) सम्पादक—जे० विद्या सागर (कलकत्ता १८८१)।

शुकसप्तति

१. सम्पादस —आर० श्मिट द्वारा लायपज़िग १८९३।

२. अवहाण्डलुंगेन एफ० डी० कुण्डे डेस मॉर्गेनलैण्डस, म्यूनिक १८९८।

३. अनुवाद, कील १८९४।

४. श्टुटगार्ट द्वारा अनुवाद १८९८।

कथासत्सिागर

१. व्रोकहाउस, लीपजिग द्वारा सम्पादन एवं अनुवाद खण्ड १-५ सन् १८३९, खण्ड ६-१८ सन् १८६२ से ६६ तक।

२. सम्पादन—बाम्बे १८८९।

३. टॉनी द्वारा बिब्लिओग्रफिया इण्डिका में १८८०-८७ के मध्य सम्पादित।

बृहत्कथामञ्जरी

सित्क्ल्वनलेवी द्वारा १८८६ में जर्नल एशियाटिक में सम्पादित और अनूदित अध्याय १ से ८ तक।

जातकमाला

१. कर्न द्वारा वोस्टन में १८९१ में सम्पादित।

२. स्पाइयर द्वारा सैक्रेडबुक्स आफ दि बुद्धिष्ट में अनूदित और लन्दन में १८९५ में प्रकाशित, केवल प्रथम खण्ड।

कथाकोश

सी० एच० टानी द्वारा संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट. रायल एशियाटिक सोसाइटी लन्दन से अनुवाद, १८९५ में प्रकाशित।

पालीजातक

१. फाउसब्योल, लन्दन द्वारा १८९७ में सम्पादित (सम्पूर्ण) अनुवाद के ३ खण्ड काव्वेल के तत्त्वावधान में प्रकाशित हुए हैं—पहला खण्ड चाल्मर्स द्वारा कैम्ब्रिज से १८९५ में, दूसरा खण्ड राउस द्वारा १८९५ में और तीसरा खण्ड फैंसिज और नील द्वारा १८९७ में।

२. १८९६ वैरेन द्वारा 'अनुवाद में बौद्धधर्म' हर्वर्ड से प्रकाशित।

भर्तृहरि के नीति और वैराग्यशतक

सम्पादन और अनुवाद बम्वई से १८९८ में।

(भर्तृहरि और कुमारिल इस विषय में देखिये रायल एशियाटिक सोसाइटी की बम्वई शाखा के १८वें जर्नल में पाठक का लेख पृ० २१३ से ३३८)

मोहमुद्गर

यू० के० वनर्जी द्वारा अनुवाद भवानीपुर बंगाल से १८९२ में प्रकाशित।

चाणक्य शतक

क्लाट्ट द्वारा १८७३ में सम्पादन।

१. नीतिमञ्जरी पर देखो—कीलहोर्न, ग्योटिंगेर नाखरिख्टेन १८९१ पृ० १८२ से १८६।

२. ए० बी० कीथ द्वारा जर्नल, रायल एशियाटिक सोसाइटी १९००।

शार्ङ्गधर पद्धति

पेटर्सन द्वारा सम्पादित बम्वई से १८८८ में प्रकाशित।

सुभाषितावली

१. पेडर्सन और दुर्गाप्रसाद द्वारा सम्पादित, बम्वई से १८८६ में प्रकाशित

२. ब्योहटलिंक द्वारा इण्डिशे स्प्रियूखे दूसरा संस्करण दो खण्ड सेंटपीटर्सवर्ग १८७०-१८७३।

३. क्लाउ लायपज़िग की १८९२ की अनुक्रमणिका।

धम्मपद

मैक्समूलर द्वारा सैकेड बुक्स आफ ईष्ट खण्ड १०वां दूसरा संशोधित संस्करण, आक्स फोर्ड १८९८।

अध्याय १५

सर्व सामान्य भारतीय दर्शन के विषय में देखिये—

१. गार्वे की उपयोगी लघुपुस्तिका 'फिलासोफी आफ एंशेण्ट इण्डिया' शिकागो १८९७।

२. एफ० मैक्समूलर—'सिक्स शिष्टम्स आफ इण्डियन फिलासफी लन्दन १८९९।

साँख्य और योग

१ गार्वे—सांख्य फिलासफी लायपज़िग १८९४।

२. बुहलर की इन्साइक्लोपीडिया-स्ट्रैस्वर्ग १८९६ में सांख्य और योग स्ट्रैसवर्ग १८९६ (सम्पूर्ण सन्दर्भ ग्रन्थ सूची।)

३. **सांख्यकारिका**—मूलपाठ, गौडपाद की टीका के साथ कोलब्रुक और विल्सन द्वारा सम्पादन और अनुवाद आक्सफोर्ड, १८३७, द्वितीय संस्करण वाम्बे १८८७।

४. साँख्यकारिका का सपादन--वनारस सस्कृत सीरीज सीरियल १८८३

५. वल्लेन्टाइन द्वारा अनुवाद (विब्लिओग्राफी, इण्डिका)।

६. गार्वे द्वारा **सांख्य प्रवचन भाष्य** का सम्पादन हर्वर्ड १८९५।

७. जर्मन में अनुवाद—लायपजिक १८८९।

८. **साँख्यसूत्र** पर अनिरुद्ध की टीका—गार्वे द्वारा अनुवाद—विब्लिओ-ग्राफिका इण्डिका, कलकत्ता १८८८-१८९२।

सांख्यतत्त्व कौमुदी

१. संपादन एवं अंग्रेजी अनुवाद, वम्बई १८९६।

२. गार्वे द्वारा अनुवाद, म्यूनिक १८९२।

शंकर का राजयोगभाष्य

१. अनुवाद, मद्रास १८९६।

२. स्वात्माराम का हठयोग प्रदीप - वाल्टर द्वारा अनुवाद म्यूनिक १८९३

हठयोग घेरण्डसंहिता .

अनुवाद, वम्बई १८९५।

पंचशिख के खण्डों पर देखें--'फेष्टग्रूस आन राथ' में गार्वे पृ० ७४ से फोलिओ ष्टुटगर्ट १८९३।

बौद्धधर्म के मूल आधार के रूप में सांख्यदर्शन पर देखिये जैकोवी का जर्नल आफ जर्मन आफ ओरियण्टल सोसाइटी १८९८ पृ० १-१५।

ओल्डेन वर्ग का बुद्ध तृतीय संस्करण।

मीमांसा दर्शन

१. सम्पादन—शवरस्वामी की टीका के साथ (विब्लिओग्राफी इण्डिया कलकत्ता १८८७।)

२. **तन्त्रवार्तिक** वनारस का संस्करण १८९०।

३. **श्लोकवार्तिक** भाग १, २ टीका के साथ संपादित बनारस १८८९।

४. जैमिनीय **न्यायमालाविस्तार**— सम्पादित—आनन्द सीरीज १८९२।

५. अर्थसंग्रह—मीमांसा की भूमिका के रूप में—थिबौट द्वारा सम्पादन और अनुवाद, बनारस १८८२ ।

वेदान्त पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पुस्पकें

१. डिउसन—सिष्टम डेस वेदान्त (लायपज़िग १८८३) ।

२. डिउशन—'डी सूत्राज डेस वेदान्त' सूत्रों के अनुवाद के साथ मूलपाठ और शंकर की सम्पूर्ण टीका (लायपजिंग १८८७) ।

३. ब्रह्मसूत्र—शंकर की टीका के साथ (संपादन आनन्द सीरीज १८९०-९१ ।)

४. थिबौट द्वारा सैकेड बुक्स ३४वें खण्ड में वेदान्त सूत्र का अनुवाद आक्सफोर्ड १८९० और ३८वां खण्ड १८९६ ।

५. पञ्चदशी-–अंग्रेजी अनुवाद के साथ सम्पादित बम्बई १८९५ ।

शंकर के समय के विषय में देखो

१. फ्लीट का इण्डियन एण्टीक्वेरीज—भाग सोलहवां ४१-४२ ।

२. वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली—अंग्रेजी अनुवाद के साथ सम्पादित (बनारस १८९०) ।

३. वेदान्त सार—जैकब द्वारा टीका और टिप्पणियों के साथ संपादित (बम्बई १८९४), अनुवाद तीसरा संस्करण (लन्दन १८९२) ।

४. भगवद्गीता—शंकर की टीका के साथ आनन्द सीरीज १८९७, सैकेड बुक्स आठवें खण्ड में अनुवाद, दूसरा संस्करण आक्सफोर्ड १८९८, डैविस द्वारा तीसरा संस्करण १८९४ ।

न्याय सूत्र

१. विजयानगरम् संस्कृत सीरीज खण्ड ९ में (बनारस १८९६ ।)

२. श्रीधर की न्यायकन्दली वहीं से प्रकाशित खण्ड ४, १८९५ .

३. न्यायकुसुमाञ्जलि (बिब्लिओग्राफिया इण्डिका) कलकत्ता १८९५ ।

वैशेषिक नर्शन

१. टीका के साथ सम्पादन, कलकत्ता १८८७ ।

२. सप्तपदार्थी—टीका के साथ संपादन (बनारस १८९३) ।

३. लैटिन में अनुवाद के साथ मूलपाठ—अगुवादक विण्टर (लायपज़िग १८९३) ।

४. तर्क संग्रह—जे० विद्यासागर द्वारा सम्पादित कलकत्ता १८९७ ।

५. टीका के साथ सम्पादन बाम्बे संस्कृत सीरीण १८९७ ।

६. बल्लेनटाइन द्वारा मूलपाठ और अनुवाद, इलाहाबाद १८५० ।

सर्वदर्शद संग्रह

१. टी० तर्कवाचस्पति द्वारा संपादित, कलकत्ता १८७२।

२. कावेल और गफ द्वारा अनुवाद, द्वितीय संस्करण, लन्दन १८६४।

अध्याय १६

१. (अ) एम० क्राइण्डले की 'एंशेण्ट इण्डिया जैसा कि शास्त्रीय लेखकों द्वारा वर्णन किया गया है' ५ खण्ड विशेषरूप से ५वां खण्ड, (आ) अलेक्जेण्डर द्वारा भारत पर आक्रमण (लन्दन १८६६)।

२. वेवर : डी ग्रिखेन इन इण्डिएन—(सिट्जुंग्स वेरिख्टे) राय० प्रूशेन अकादमी वर्लिन १८६० के कार्यकलाप में।

३. सिल्वन लेवी : क्वीड डे ग्रेशिश, वेटरम, इण्डोरम, मोन्यूमेण्टा ट्रे डी-डेरिट, पैरिस १८६०।

४. ला ग्रेस डेंस एल-इण्डे (रिव्यूडेस एट्रडेस ग्रीक्वीस) पैरिस १८६१ भी।

५. गोब्लेट, डी' अलवील्ला : शे क्यू० एल' इण्डे और डेश। इन्फ्लूऐंसेज, क्वासिक्स, डैंस ला कल्चर, साइण्टीफिक एट, लिटरेरी डे इण्डे, ३३वें और चौंतसिवें खण्ड में १८६७, जोकि बुलैटिन डे० एल एकेडमी रायल डे वेल्जिक के अन्तर्गत है।

६. एल० डेंला वेली पाउशिन : ला ग्रे ग्रेकी एट एल इण्डे म्यूज़ीक वेल्जे खण्ड दूसरा पृष्ठ १२६-१५२।

७. विन्शेण्ट, ए स्मिथ : बंगाल की जर्नल आफ एशियाटिक सोसाइटी १८८६-६२ में ग्रीको रोमन इन्ल्फूयेंस आन सिविलिजेशन आफ एंशेण्ट इण्डिया।

८. ओ० फ्रेंके, वेत्सीहुंगेन डेर इण्डेर त्सूम वेंष्टेन, जर्नल आफ जर्मन ओरियण्टल सोसाइटी, १८६३ पृ० ५६५-६०६।

६. एम० ए० ष्टीन : इण्डियन, इण्टीक्वेटी खण्ड १७ पृ० ८६ में।

भारतीय कला में विदेशी तत्त्व के लिए देखिये—

१. कनिंघम—आर्कियालोजिकल सर्वे आफ इण्डिया खण्ड ५ पृ० १८५ फोलियो।

२. ग्र्यूवेडेल : बुद्धिष्टिषे कुंष्ट, वर्लिन १८६३।

३. ई० कूरटियुस, ग्रीरिवशे कुंष्ट इन इंडीयन पृ० २३५-२४३ गेजाम्मलटे अवहण्डलुंगेन, वर्लिन १६६४ के द्वितीय खण्ड में।

४. डब्लू० सिम्पसन : 'सिन्धु प्रदेश और अफगानिस्तान की वास्तुकला में शास्त्रीय प्रभाव' यह अंग्रेजी वास्तुकला के राजकीय जर्नल खण्ड प्रथम (१८६४) पृ० ६२-११५ तथा पृ० ४१३ में प्रकाशित हुआ।

शक और कुशाणों पर

बुहलर के विश्वकोश स्ट्रैसवर्ग १८९८ में रैप्सन के इण्डियन क्वाइंस में पृ० ७ और १६ पर देखिये।

भारतीय और ग्रीक लघुकथाओं का सम्बन्ध

देखो वेवर का इण्डिशे स्टूडियेन खण्ड ३ पृ० ३२७ फोलिओ।

भारतीय लघु कथाओं और परी कथाओं के माध्यम से, जो मध्यकाल में में इतना अधिक प्रचलित थीं—जादुई शीशा और जादुई मरहम, सात वंधानों वाले जूते, न दिखलाई पड़ने वाली टोपी, भाग्यविषयक भविष्य कथन की सम्पत्ति (देखो सामविधान ब्राह्मण, प्रस्तावना पृ० ३५) इन सबने पाश्चात्य साहित्य में अपना मार्ग प्राप्त कर लिया।

भारतीय नाटक पर सम्भावित ग्रीक प्रभाव के विषय में देखिए—विंडिश के पांचवीं प्राच्यसभा भाग २ वर्लिन १८८२ के अनुवाद में।

संस्कृत साहित्य में शतरंज पर देखिए—

रायल एशियाटिक सोसायटी के जर्नल १८९८ में मैक्डानल 'ओरीजन एण्ड अर्ली हिष्ट्री आफ चेस'।

यूनानी दर्शन पर भारतीय प्रभाव पर देखिए—

१. गार्वे—सांख्य अण्ड योग पृ० ४।

२. एल० फॉन श्र्योडर: बुद्धिस्मुस अण्ड रिव्रष्टेण्टुम् रेवल द्वितीय संस्करण १८९८ पृ० ४२२-२३।

बिना भारतीय प्रभाव को स्वीकार किये हुए शुद्धरूप में हेलेनिक मूल से न्योप्लेटोनिष्ट विचारों के हेतु की व्याख्या करना सर्वथा सम्भव प्रतीत होता है। शकुन्तला का स्किलर (आल्पेन यैंगर) और गेटे (फाउष्ट) सम्बन्ध, देखो जाउयेर—कोरेस्पोण्डेन्त्स ब्लाट फ्यूर डी गेलेहस्टेन उण्ड रेआल् शूलेन व्यूरटेम्-वर्गस खण्ड ४० पृ० २९७-३०४।

डब्लू० आन विडरमन—ग्योठेफोरशुंगेन फ्रैंकफर्ट ए/एम १८७९ पृ० ५४ फोलिओ (शकुन्तला और फाउष्ट) संस्कृत साहित्य और आधुनिक कवियों पर (हीन० मैथ्यू अर्नाल्ड) देखो मैक्समूलर का 'क्वींसीडेंसेज' पाक्षिक समीक्षा के अन्तर्गत नई सीरीज खण्ड ६४ (जुलाई १८९८) पृ० १५७-१६२।

अनुबन्ध

ललित साहित्य की नूतन विधा के अरुणोदय काल में दो महान् कलाकार दृष्टिगत होते हैं -अश्वघोष और भास। इनके परिचय के बिना कोई भी संस्कृत साहित्य का इतिहास अधूरा रह जाएगा। मॅक्डानल को इनके नाम का पता था किन्तु उस समय तक इनका साहित्य प्रकाश में नहीं आया था। अतः ग्रन्थ की पूर्ति के लिए इन दोनों महाकलाकारों का परिचय अनुबन्ध रूप में अग्रिम पृष्ठों पर दिया जा रहा है।

संस्कृत साहित्य का जितना महत्त्वपूर्ण ललित साहित्य हैं उतना ही शास्त्रीय साहित्य भी है। मॅक्डानल ने कतिपय शास्त्रीय साहित्यों की रूपरेखा (Outlines) दे दी है जो आवश्यकता की पूर्ति करने में सर्वथा अक्षम है। अतः विभिन्न अनुबन्धों के रूप में यहाँ शास्त्रीय साहित्यों का उपयोगी परिचय दिया जा रहा है।

यहाँ काव्यशास्त्र और दर्शनशास्त्र पर अनुबन्ध नहीं लिखे गए हैं। ये विषय स्वयं में इतने विस्तृत हैं कि संक्षेप में विवेचन अभीष्ट सिद्धि में सहायक नहीं होता और विस्तार से ग्रन्थ कलेवर के अत्यधिक बढ़ जाने की सम्भावना थी।

आशा है कि परिशीलकों को सन्तोष होगा।

अनुबन्ध

१. अश्वघोष
२. भास
३. शास्त्रीय साहित्य
व्याकरण शास्त्र
व्याकरण के सहयोगी विषय
अ. शिक्षा
आ. निघण्टु और निरुक्त
इ. कोश ग्रन्थ
४. छन्दः शास्त्र
५. संगीत शास्त्र
६. रत्नशास्त्र
७. चौर्यशास्त्र
८. धर्मशास्त्र
९. अर्थशास्त्र
१०. राजशास्त्र के आनुषङ्गिक विषय
(अ) अश्वशास्त्र
(आ) गजशास्त्र
(इ) समरशास्त्र
(ई) शिल्पशास्त्र या वास्तुविद्या
(उ) मूर्तिविद्या
११. कामशास्त्र
१२. आयुर्वेद
१३. खगोल विज्ञान
१४. फलित ज्योतिष
१५. गणित

अनुबन्ध-प्रथम

अश्वघोष

बहुमुखी प्रतिभा के धनी अश्वघोष साहित्य जगत के सामने अनेक रूपों में आते हैं—वे महाकाव्यकार हैं, नाट्यकार हैं, संगीतकार हैं, प्रगीतकार हैं, संगीतज्ञ हैं, शास्त्रार्थी विद्वान् हैं और प्रतिष्ठित दार्शनिक हैं। वाल्मीकि ने जिस स्वरतालमयी भावनाप्रवण कविता को जन्म दिया था और महाकवि कालिदास ने जिसे चरमोत्कर्ष पर पहुंचाया उसके मध्य में अश्वघोष स्थित हैं। वस्तुतः संस्कृत साहित्य में जिस शास्त्रीय दरबारी महाकाव्य पद्धति का सतत प्रवाह महाकवि कालिदास से प्रवृत्त हुआ उपलब्ध साहित्य के अनुसार उसके प्रथम प्रस्तोता अश्वघोष ही थे।

अश्वघोष का व्यक्तित्व

संस्कृत के अनेक अन्य कवियों के समान अश्वघोष का जीवन भी तमसावृत है। परम्परा इन्हें कनिष्क का दरबारी कवि (अथवा कनिष्क कालीन कवि) मानती है और पार्श्व अथवा उनके शिष्य पुण्ययशस का शिष्य स्वीकार करती है। ये महायान शाखा के प्रतिष्ठापकों में एक माने जाते हैं क्योंकि कहा जाता है महायानश्रद्धोत्पाद नामक ग्रन्थ इन्हीं का लिखा हुआ है। इनके एक नाटक की पुष्पिका सुरक्षित है जिससे ज्ञात होता है कि इनकी माता का नाम सुवर्णाक्षी और जन्म स्थान अवध था।

चीनी और तिब्बती परम्परा में उनके साथ कई किंवदन्तियां जुड़ गई हैं। कहा जाता है वे ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए थे और ब्राह्मण धर्म का उन्होंने पूर्ण रूप से अध्ययन कर रक्खा था। उन्होंने अपने गृहनगर में एक घण्टा बांध रखा था और घोषणा कर रक्खी थी कि उसे बजाने का किसी बौद्ध को तब तक अधिकार नहीं है जब तक वह शास्त्रार्थ में उन्हें पराजित न कर दे। वहां एक बार पार्श्व नामक आचार्य आ गये। उन्होंने एक बहुत साधारण सा प्रश्न रक्खा : 'ऐसी किस वस्तु की आकांक्षा की जा सकती है जिससे विश्व को स्थायी शान्ति की अनुभूति हो सके, अधिकारमय दीर्घजीवन प्राप्त हो, देश

धन धान्य से भरे-पूरे हो जायें और अब अधिक दारिद्रय का सामना न करना पड़े ?' अश्वघोष इस प्रश्न पर चकरा गये और इसका उत्तर नहीं दे सके; तब उन्होंने पार्श्व का शिष्यत्व स्वीकार कर लिया और वे बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गये ।[1] पहले वे सर्वास्तिवादी[2] बौद्ध थे । बाद में महायान शाखा के प्रमुख प्रवर्तकों नागार्जुन और आर्यदेव के साथ में उनका भी नाम लिया जाता है क्योंकि चीनी परम्परा के अनुसार महायानश्रद्धोत्पाद ग्रन्थ उन्हीं का लिखा हुआ है ।

कहा जाता है अश्वघोष उनका वास्तविक नाम नहीं था; उनका वास्तविक नाम क्या था इसका साहित्य जगत को पता नहीं है कुछ लोग इन्हें मातृचेता और आर्यसूर से अभिन्न मानते हैं । किन्तु तीनों व्यक्तित्व अलग-अलग हैं; इनके एकत्व में कोई प्रमाण नहीं । किंवदन्ती के अनुसार उत्तर भारत के एक छोटे से राज्य यू ची ई के शासक कनिष्क ने जब मगध पर आक्रमण किया तब दो वस्तुओं का दावा किया—बुद्ध का स्वर्णपात्र और अश्वघोष कवि । मगध का राजा अश्वघोष को प्रदान करने के लिए राजी नहीं हुआ । जब मन्त्रियों ने राज्य से भी बढ़कर एक कवि को महत्व देने का कारण पूछा तब राजा ने अश्वशाला के घोड़ों को दो रोज भूखा रक्खा और तब उन्हें खाने के लिए चारा दिया तथा साथ ही कवि को संसार की नश्वरता पर व्याख्यान देने का आदेश दिया । घोड़े उनके व्याख्यान पर इतने मुग्ध हो गये कि भूख की परवाह न कर व्याख्यान सुनते रहे और आंसू बहाते रहे तभी से उनका नाम अश्वघोष पड़ गया ।[3]

---

१. एम. कृष्णमाचार्य—हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर ।

२. पदार्थ तत्त्व मीमांसा की दृष्टि से बौद्धों के चार प्रमुख वर्ग बनाए जाते हैं—(१) शून्यवाद अथवा माध्यमिक वाद जिसमें आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार की सत्ताओं का निषेध किया जाता है (२) योगाचार अथवा विज्ञानवाद जिसमें अन्तः सत्ता को स्वीकार किया जाता है और बाह्यार्थ का निषेध किया जाता है (३) सौत्रान्तिक जो दोनों प्रकार की सत्ता को स्वीकार करते हैं; परन्तु बाह्यार्थ को अनुमान गम्य मानते हैं (४) वैभाषिक --जो दोनों प्रकार की सत्ताओं को स्वीकार करते हैं । इनमें सौत्रान्तिक को सर्वास्तिवादी कहा जाता है । माध्यमिक और योगाचार महायानी हैं; शेष दोनों हीनयानी ।

३. एम. कृष्णमाचार्य —हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर ।

अश्वघोष का समय

जैसी कि प्रसिद्धि है अश्वघोष कनिष्क के दरबारी कवि थे। कुछ लोगों का विचार है कि ई० सन् ७८ से प्रारम्भ होने वाला शक संवत् कनिष्क ने ही चलाया था। अनेक शताब्दियों तक यही संवत् व्यवहार में आता रहा। यद्यपि कनिष्क शक नहीं कुशाणवंशीय थे। किन्तु बाद में तत्कालीन सभी विदेशी आक्रान्ताओं को शक ही कहा जाने लगा था। इस प्रकार कनिष्क का समय ईशा की प्रथम शताब्दी सिद्ध होता है।

इस विषय में कीथ ने एक अनुपपत्ति उठाई है और उसके समाधान की चेष्टा की है कि सूत्रालंकार के विषय में कहा जाता है कि वह अश्वघोष की रचना है। उसमें कतिपय ऐसी कथायें आती हैं जिनमें कनिष्क के राज्य काल के लिए भूतकाल का प्रयोग किया गया है। इससे प्रतीत होने लगता है कि अश्वघोष का समय कनिष्क के बाद का है। इस विषय में सम्भावना व्यक्त की जा सकती है कि हो सकता है जब अश्वघोष ने ये कथायें लिखी हों उसके पहले ही कनिष्क का देहान्त हो गया हो। किन्तु अनुश्रुति इस सम्भावना को प्रमाणित नहीं करती। हो सकता है ये कथायें प्रक्षिप्त हों; अथवा अतीत-कालीन कोई दूसरे कनिष्क हुए हों अथवा कनिष्क के बाद कोई दूसरे अश्वघोष हुए हों। कनिष्क कालीन होने की मान्यता प्राप्त अभिलेख में किन्हीं अश्वघोष राज का उल्लेख मिलता है जिन्हे महाकवि अश्वघोष से अभिन्न माना जाता है। इससे अश्वघोष के कनिष्क कालीन होने की सम्भावना अधिक बढ़ जाती है। चीनी साहित्य में बौद्ध स्थविरों के परिगणन में पुण्ययशस् और पार्श्व का नाम अश्वघोष से पहले आता है और नागार्जुन एवं आर्यदेव का नाम उनके बाद में आता है। इससे अश्वघोष का समथ ईशा की प्रथम शताब्दी सिद्ध होता है क्योंकि नागार्जुन का समय दूसरी शताब्दी स्वीकृत किया गया है।

अश्वघोष का महत्त्व

अश्वघोष के तिब्बती जीवनीलेखकों ने लिखा है कि 'ऐसा कोई प्रश्न नहीं था जिसका वे उत्तर नहीं दे सकते थे, ऐसी कोई समस्या नहीं थी जिसका वे समाधान नहीं कर सकते थे। ऐसा कोई दोषारोपण नहीं था जिसका वे खण्डन नहीं कर सकते थे। उन्होंने अपने प्रतिद्वन्दियों पर अनेक बार विजय प्राप्त की थी और वे विरोधियों पर इसी प्रकार अधिकार जमा लेते थे जैसे तेज वायु घुने हुए पेड़ों को तोड़-फोड़ डालता है।' वे एक उच्चकोटि के कवि थे, उच्चकोटि के गीतकार थे, उच्चकोटि के संगीतज्ञ थे और एक अच्छे शास्त्रार्थ महारथी थे। वे अपनी मण्डली के साथ अपने ही बनाए हुए गीत

गाते बजाते हुए इधर-उधर भ्रमण करते थे, गानों के साथ अभिनय करते थे। उनके गान विश्व की नश्वरता के विषय में करुणापूर्ण होते थे जिनका श्रोताओं और दर्शकों पर अच्छा प्रभाव पड़ता था। उनके उद्योग से बौद्ध धर्म का अच्छा प्रचार हुआ था।

इत्सिंग ने सातवीं शताब्दी के अन्त में (सन् ६७१ से ६९५ तक) भारत भ्रमण किया था। उन्होंने लिखा है कि प्रायः सारे भारत में जिन महान् लेखकों की रचनायें सर्वाधिक रूप में पढ़ी जाती थीं उनमें नागार्जुन, आर्यदेव और अश्वघोष की रचनायें अधिक प्रतिष्ठित थीं, विशेष रूप से बौद्ध मठों में जो गीत गाये जाते थे उनमें अधिकांश अश्वघोष के गीत होते थे। अश्वघोष द्वारा सम्पादित कई संग्रह भी इत्सिंग के यात्रा काल में प्रचलित थे जिनका बड़े सम्मान के साथ अध्ययन किया जाता था। इत्सिंग के अनुसार इन विचारकों का सम्मान मानवों से ही नहीं देवताओं से भी अधिक था। "इस प्रकार के महापुरुष प्रत्येक युग में एक ही दो उत्पन्न होते हैं।"

अश्वघोष की रचनायें

अश्वघोष का अध्ययन जितना बौद्ध धर्म का था उससे कम ब्राह्मण धर्म का भी नहीं था। वे प्रारम्भ में ब्राह्मण धर्म के अनुयायी ही थे। किन्तु बाद में बौद्ध धर्म के प्रचारक बन गये। अतः उन्हें एकमात्र बौद्ध कवि एवं आचार्य मान लिया गया। अतएव बौद्धधर्म के साथ ही उनका साहित्य भी भारतीय क्षेत्र से लगभग तिरोहित हो गया। इस साहित्य का उद्धार चीनी और तिब्बती स्रोत से किया गया।

अश्वघोष के दो महाकाव्य प्रकाश में आए हैं—बुद्धचरित और सौन्दरनन्द। इनके अतिरिक्त इनकी कतिपय नाट्यकृतियां भी प्राप्त हुई हैं—जिनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण है शारिपुत्र प्रकरण। इसके अतिरिक्त एक प्रतीक नाटक (allegorical play) और एक गणिका विषयक रूपक।

उक्त कृतियां निश्चित रूप से अश्वघोष कृत मानी जाती हैं। इनके अतिरिक्त कुछ रचनायें अश्वघोष कृत मानी जाती हैं, किन्तु निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि ये अश्वघोष की ही रचनायें हैं। ये हैं—महायान श्रद्धोत्पाद गण्डीस्तोत्रगाथा, वज्रसूची और सूत्रालंकार।

अश्वघोष के महाकाव्य

वाल्मीकि ने मानव भावना को स्वरतालबद्ध छन्दोयोजना के द्वारा जिस कविता को जन्म देकर आदिकवि की पदवी प्राप्त की थी उसी विधा को अश्वघोष ने नई विधा प्रदान कर जिस काव्य पद्धति को जन्म दिया था

वही आगे चलकर शास्त्रीय महाकाव्य के रूप में प्रतिष्ठित हुआ और महाकवि कालिदास इत्यादि अनेक महाकवियों द्वारा अपनाया गया। कीथ इन्हें प्रथम शास्त्रीय महाकाव्यकार और नाटककार मानते हैं, यद्यपि उनका कहना यह भी है 'अनेक मध्यवर्ती कवि भी हुए होंगे जिनकी कवितायें हम तक आ नहीं सकी हैं। अश्व घोष की परिष्कृत शैली को देखकर इस मान्यता पर विश्वास भी होता है, क्योंकि इस प्रकार की शैली तक आते-आते परिष्कार की आवश्यकता तो हुई ही होगी।

इत्सिंग के अनुसार उनके भारत यात्रा के समय में पांचों उपखण्डों में इनके महाकाव्य गौरव के साथ पढ़े और गाए जाते थे। इसके अतिरिक्त दक्षिण सिन्धु पारीण देशों (सम्भवत: मलाया इत्यादि) में भी इनका प्रचलन था। थोड़े से शब्दों में बहुत से अर्थों और विचारों को भर देने की इनमें अपूर्व क्षमता है। इस गुण के कारण पाठक का हृदय आनन्द से भर जाता है और इस कविता के पढ़ने में वह कभी भी ऊब का अनुभव नहीं करता। इनमें सामासिक पद्धति पर उच्च विचारों को भर देने की शक्ति है, अतः इस काव्य का अध्ययन स्वयं अपना पुरस्कार है। हमें सच्चे कवि की सच्ची कविता का प्रथम बार दर्शन होता है जो एक ऐसा कवि है जिसका हृदय महान् व्यक्तित्व के प्रति श्रद्धा भावना से पूर्ण रूप से आप्लावित है। यह हृदयानुभूति ही किसी भी कविता को स्वाभाविक उत्कर्ष देने में समर्थ होती है। इनकी भाषा उदात्त एवं कलात्मक है, किन्तु कृत्रिम नहीं है। यद्यपि पाणिनि के नियमों का कहीं-कहीं उल्लंघन हुआ है किन्तु फिर भी भाषा सदोष नहीं कही जा सकती। कालिदास और वाल्मीकि के समान ही अलंकार प्रयोग में ये कभी भी मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करते जैसा कि परवर्ती अनेक अन्य कवि अलंकार के मोह में काव्य को बिगाड़ लेते हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि ये उस प्रलोभन में कभी नहीं पड़ते जो संस्कृत साहित्य में पूज्यों की शक्ति के अत्युक्ति पूर्ण अविश्वसनीय वर्णन में प्रायः दृष्टिगत होता है। बुद्ध के पौराणिक उपाख्यानों के वर्णन में ये स्वयं पर पूरा नियन्त्रण रखते हैं। बौद्ध साहित्य अनेक अन्य ग्रन्थों की भांति इनमें अव्यवस्था और विखराव नहीं होता अपितु घटनाओं की संजोजना में पूर्ण रूप से व्यवस्था पाई जाती है। यद्यपि इन्होंने परम्परागत कथा साहित्य का पूरा आश्रय लिया किन्तु कल्पना द्वारा उसे परिवर्तित करने में भी कुण्ठित नहीं रहे। साथ ही पुरातन कथानक के मूलरूप को कहीं उच्छिन्न नहीं होने दिया है। उनमें प्राचीन प्रतिष्ठित कथानक को कवित्व के आवरण में प्रस्तुत करने की अपूर्व कला है। विण्टरनित्ज के शब्दों में वे धार्मिक महात्मा होने की अपेक्षा कवि अधिक हैं।

बुद्ध के धार्मिक सिद्धान्तो को उन्होंने कवित्व के आवरण में क्यों प्रस्तुत किया इसका कारण उन्होंने सौन्दरनन्द के अन्तिम भाग में स्पष्ट किया है। इस विषय में वे कुछ ऐसे ही तर्क देते हैं जैसे परवर्ती साहित्यकारों (अभिनव गुप्त इत्यादि) ने दिए हैं। उनका कहना है कि मनुष्य की यह सामान्य प्रवृत्ति है कि वह सुखों में ही आनन्दित होता है। स्वर्ग साधना या मोक्ष साधना की ओर सामान्यजन की सामान्यतः प्रवृत्ति नहीं होती। अतः कवि का विचार है कि वही सत्य ग्राह्य होता है जो आकर्षक रूप में प्रस्तुत किया जाता है। जिस प्रकार कटु औषधि भी शहद के साथ प्रसन्नता पूर्वक ग्रहण कर ली जाती है—शहद के स्वाद में लोग औषधि का बिना ननु नच सेवन कर लेते हैं और उसके साथ सेवन की हुई औषधि रोगनाशक हो जाती है इसी प्रकार कला की ओर आकर्षित होकर व्यक्ति उसका रसास्वादन करता है और उससे सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर आप्त काम हो जाता है। इसी ध्येय को लेकर बुद्धविषयक काव्य लिखने में कवि प्रवृत्त हुआ है।

कीथ ने अनेक दृष्टियों से सौन्दरनन्द को कवि की पहली रचना और बुद्धचरित को उसके बाद की रचना बतलाया है।

सौन्दरनन्द

यह अश्वघोष का ही नहीं सम्भवतः भारतीय-साहित्य का पहला शास्त्रानुमत १८ सर्गों का महाकाव्य है। इसमें बुद्ध द्वारा सौतेले भाई नन्द के धर्म परिवर्तन की कथा को काव्यबद्ध किया गया है। सर्वप्रथम कपिल वस्तु की स्थापना, शुद्धोदन, सर्वार्थ सिद्ध और नन्द का वर्णन आता है। फिर बुद्ध का विस्तृत वर्णन है; इसके बाद सुन्दरी का सौन्दर्य वर्णन, नन्द से उनका संयोग, विलास इत्यादि का वर्णन किया गया है। बुद्ध अपने सौतेले भाई नन्द को कल्याण मार्ग की ओर उन्मुख करना चाहते हैं; किन्तु नन्द सुन्दरी के रूप जाल में ऐसा फंसा है कि गृहस्थ को छोड़ना नहीं चाहता। फिर भी बुद्ध के आग्रह पर वह गृहस्थ धर्म को छोड़कर चला जाता है। सुन्दरी वियोग व्यथा से अत्यन्त पीड़ित है। उधर नन्द भी सुन्दरी की सुन्दरता से आहत है और उसे भूल वहीं पाता। दूसरे भिक्षु उसके मन में विराग उत्पन्न करना चाहते हैं; पर वह अनेक दृष्टान्तों से सिद्ध करता है कि प्राचीन अनेक साधक साधना को छोड़ कर भोग विलास की ओर उन्मुख हुए थे। उन्हें समझाया जाता था कि स्त्रियों का अधर मधु, मधुर वाणी इत्यादि सभी कुछ एक धोखा है, असत्य है, स्त्रियों का हृदय भावुकता से भरा रहता है; उनके प्रेम में सच्चाई नहीं होती। इसके लिए अनेक उदाहरण दिए जाते हैं; प्राचीन वीरों के

दुर्भाग्य का वर्णन किया जाता है किन्तु नन्द की समझ में कुछ नहीं आता। वह केवल अपनी प्राण प्रिया का सान्निध्य चाहता है।

अब बुद्ध अपनी एक नई योजना पर कार्य करते हैं—वे नन्द को स्वर्ग की यात्रा पर ले जाते हैं। मार्ग में हिमालय पर एक कानी वानरी दिखलाई पड़ती है। बुद्ध पूछते हैं कि 'क्या तुम्हारी सुन्दरी इस वानरी से अधिक सुन्दर है।' नन्द उत्साह के साथ स्वीकार करते हैं कि दोनों के सौन्दर्य में बहुत अधिक अन्तर है। तब बुद्ध स्वर्ग की अप्सराओं के मध्य नन्द को ले जाते हैं और तब अप्सराओं के साथ सुन्दरी की तुलना के विषय में प्रश्न करते हैं। तब नन्द कहते हैं कि जितना अन्तर वानरी और उसकी सुन्दरी के सौन्दर्य में है उतना ही अन्तर सुन्दरी और अप्सराओं में है। नन्द किसी एक अप्सरा के उपभोग के लिए उत्सुक है। बुद्ध कहते हैं कि जब तक तपस्या के द्वारा स्वर्ग विजय नहीं कर लिया जाता अप्सरा का उपभोग प्राप्त नहीं किया जा सकता। नन्द लौट कर साधना में तल्लीन हो जाता है। उसका लक्ष्य केवल स्वर्ग की अप्सरा को प्राप्त करना है। तब आनन्द (बुद्ध के शिष्य) आकर स्वर्ग सुख की अनित्यता समझाते हैं और बुद्ध से उपदेश लेने के लिए तैयार करते हैं। वह बुद्ध के पास जाकर निवेदित करता है कि मुझे स्वर्ग की अप्सरायें नहीं चाहिए।' वह निर्वाण प्राप्ति को लक्ष्य बनाता है। बुद्ध उसे सात सर्गों में उपदेश देते हैं और वह स्वयं के लिए ही नहीं समस्त मानवता के लिए उद्धार का लक्ष्य बनाता है। वह साधना से अर्हत बन जाता है; बुद्ध की भक्ति करने लगता है। अब उसने लक्ष्य प्राप्त कर लिया है; वह करुणा से प्रेरित होकर दूसरों को उपदेश देने लगता है जिससे और सब लोग भी निर्वाण पदवी पर आरूढ़ हो सकें।

यह कथानक विनयपिटक के महावग्ग ३.५४ से लिया गया है और उस में उदान III.२ में आई हुई स्वर्ग जाने और अप्सराओं से तुलना करने की कथा और जोड़ दी गई है। श्री जान्सन के अनुसार तार्किक पद्धति पर बौद्ध सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने की यह पहली सुविचारित व्यवस्थित रचना है जो निर्वाण मार्ग का शक्तिशाली शैली में उद्घाटन करती है। बौद्ध धर्म की पारिभाषिक शब्दावली जो प्राक्तन साहित्य में सन्देह और भ्रम उत्पन्न कर सकती थी इस कृति में पूर्ण रूप से स्पष्ट हो सकी है। इसमें ध्यान योग और साधना का हीनयान की दृष्टि से विवेचन किया गया है जबकि उसका परिणमन महायान के भक्ति सिद्धान्त और लोकोद्धारक रूप में हुआ है।

(२) बुद्धचरित

बुद्धचरित अश्वघोष की सर्वोत्तम रचना है। मूलरूप में इसमें २८ सर्ग

थे जिनका अनुवाद सन् ४१४ से ४२१ के मध्य धर्मरक्ष ने चीनी भाषा में किया था। जिसका अनुवाद अंग्रेजी में सैमुअल वील ने किया। रायस डैविड के मत में यह चीनी अनुवाद अश्वघोष के बुद्धचरित का अनुवाद बिल्कुल नहीं है। किन्तु अन्य विद्वानों का मत है कि चीनी अनुवाद अश्वघोष की रचना (बुद्धचरित) पर ही आधारित है यद्यपि इसमें कुछ भाग जोड़ दिए गए हैं और कुछ निकाल दिए गए हैं। ७वीं ८वीं शताब्दी में तिब्बती भाषा में इसका अनुवाद किया गया था जो कि मूल के निकट अपेक्षाकृत अधिक है। इत्सिंग ने लिखा है कि इसमें तथागत के प्रमुख सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है और जब वे राजभवन में रहते थे उस समय से लेकर शालवृक्ष समूह की वीथिका में उनके अन्तिम दिन तक उनके जीवन चरित को भी काव्य विषय बनाया गया है। इससे ज्ञात होता है कि इत्सिंग के सामने बुद्धचरित की पूरी पुस्तक विद्यमान थी। किन्तु संस्कृत में केवल १७ सर्ग उपलब्ध होते हैं जिनमें मूलरूप में तो केवल १३ सर्ग ही प्राचीन प्रामाणिक रचनायें हैं। बाद के ४ सर्ग अमृतानन्द योगी ने १९वीं शती के प्रारम्भ पूरे कर दिए। अमृतानन्द ने लिखा है कि उन्हें पूरी पुस्तक प्राप्त नहीं हो सकी थी अतएव उन्होंने अपनी रचना के द्वारा इसे पूरा करने का प्रयत्न किया। अब यह संस्कृत रचना बनारस में धर्म-परिवर्तन के प्रकरण तक ही प्राप्त होती है। हरप्रसाद शास्त्री ने भी खोज में एक प्रति प्राप्त की थी। किन्तु यह प्रति केवल १५वें सर्ग तक ही जाती है। शेष भाग अभी उपलब्ध नहीं हो सका है। जो भाग उपलब्ध भी है वह सम्पूर्ण रचना का संक्षिप्तीकृत रूप ही है।

ललित विस्तर में भी बुद्ध के जीवन पर प्रकाश डाला गया हैं किन्तु वह व्यवस्थित नहीं है और रूक्ष गद्य में होने के कारण यथेष्ट प्रभाव नहीं डालता। अश्वघोष ने कलात्मकता का आश्रय लेकर जीवन गाथा को प्रभावशाली बना दिया है। बुद्ध जब सारथी के साथ नगर के बाहर जाने लगते हैं तब किस प्रकार नगर की ललनाओं में उन्हें देखने की त्वरा जागृत हो जाती है इसका इतना सुन्दर वर्णन किया गया है कि महाकवि कालिदास तक उसका अनुकरण करने के प्रलोभन का संवरण नहीं कर सके। रघुवंश ७वें सर्ग में अज को देखने के लिए इसी प्रकार स्त्रियों में भगदड़ मच जाती है। नगर की नारियां देखने की उत्कण्ठा में अपने आवासों को छोड़कर भवनों की छतों और झरोखों में एकत्र हो जाती हैं। उस समय पहुंचने की शीघ्रता में उनके शरीर परस्पर टकराते हैं, वे एक दूसरे को ठेलते हुए आगे बढ़ती हैं उनके नूपुरों और तगड़ियों के शोर से पक्षी उड़ते लगते हैं। खिड़कियों से झांकते

हुए उनके कमल जैसे चेहरे भ्रम उत्पन्न करते हैं मानों खिड़कियों को कमल-पुष्पों से सजा दिया गया हो ।

वृद्धावस्था इत्यादि चार पूर्वनिमित्तों से जब कुमार विरक्त हो जाता है तब राजा की आज्ञा से राजपुरोहित उच्च कोटि की सुन्दरियों को राजकुमार के चारों ओर एकत्र कर देता है जो अपनी हाव, भाव, चेष्टाओं प्रेमपूर्णसंगीतादि विभिन्न कलाओं और प्रेम प्रसंगों द्वारा कुमार का मन मोहित करने की चेष्टा करती हैं; किन्तु सब व्यर्थ जाता है । कुमार को इन चेष्टाओं पर केवल आश्चर्य ही होता है । वह कह उठता है—'अपने पड़ोसी को रुग्ण, वृद्ध और मृत देखकर भी जीवन में आनन्द की अनुभूति करता है वह निस्सन्देह उसी प्रकार अचेतन है जिस प्रकार पड़ोस के पेड़ को काटे, चीरे और पुष्पहीन होते हुए देख करके भी दूसरा पेड़ अप्रभावित बना रहता है ।

शास्त्रीय महाकाव्य के लिए शृंगार रस अनिवार्य है । इसकी पूर्ति अन्तःपुर में कामिनियों की चेष्टा द्वारा की गई है । जो कमी रह गई थी उसे उस वर्णन द्वारा पूरा किया गया है जब कुमार सोती हुई सुन्ददियों को निहारते हुए महाभिनिष्क्रमण में प्रवृत्त होता है । कवि ने यहां पर अपना पूरा कामशास्त्र का ज्ञान प्रदर्शित किया है । एक दृश्य देखिए—

बिबभौ कललग्नवेणुरन्या स्तनविस्रस्तसितांशुका शयाना ।
ऋजुषट्पदपङ्क्तिजुष्टपद्मा जलफेनप्रहसत्तटा नदीव ॥

'कोई रमणी हाथ में वंशी लिए हुए सो रही थी, उसकी सफेद साड़ी उसके स्तनों पर से खिसक गई थी । (उसकी खुली छाती पर केशकलाप विखर रहा था) तब ऐसा मालूम पड़ रहा था मानों वह तरुणी नदी है, खिसकी हुई साड़ी नदी के तटों पर फैली हुई फेन राशि है, उसके स्तन खिले कमल हैं और उन पर बिखरी हुई केश राशि कमलों पर बिखरी भैंरों की सरल पक्ति है । मानों साड़ी रूपी फेन से नदी हंस रही है ।

कामशास्त्र के अतिरिक्त राजनीति और तर्कशास्त्र के ज्ञान का भी परिचय कवि ने राजपुरोंहितों के उपदेश के माध्यम से दिया है। महाकाव्य की पूर्ति बिना संघर्ष के नहीं होती । इसकी पूर्ति भी कवि ने बुद्ध और मार (कामदेव) के संघर्ष के द्वारा कर दी है । इस प्रकार शास्त्रीय महाकाव्य की सारी पृष्ठ-भूमि अश्वघोप ने ही पूरी कर दी थी ।

आलोचकों ने विस्तार पूर्वक रामायण की प्रतिच्छाया बुद्ध चरित में वेखने का प्रयत्न किया है । राम के समान सिद्धार्थ के वन से न लौटने पर नागरिकों का दुःखी होना, शुद्धोदन का दशरथ की दशा से अपनी तुलना करना और उनकी मृत्यु से ईर्ष्या करना इत्यादि अनेक विषय ऐसे हैं जिनमें

रामायण और बुद्ध चरित के प्रकरण एक दूसरे से मेल खाते हैं। रामायण के अनेक अप्रस्तुत विधान तथा दूसरे अलंकार भी बुद्धचरित में दृष्टिगत होते हैं। इनके सूत्रालंकार में रामायण का उल्लेख है। अतः अश्वघोष का रामायण का ज्ञान प्रमाणित होता है।

अश्वघोष की नाटयकृतियां

अश्वघोष का लिखा हुआ शारिपुत्रप्रकरण नाटक बहुत समय तक छिपा पड़ा रहा। प्रो० लूडर्स को तुर्फान में पाण्डुलिपियों की खोज में पाड़पत्रों पर लिखा यह नाटक उच्छिन्न अवस्था में प्राप्त हुआ। इस नाटक में नौ अंक हैं अन्तिम अंक की पुष्पिका से ज्ञात होता है कि यह सुवर्णाक्षी पुत्र अश्वघोष का का लिखा हुआ नाटक है। इसमें ६ अंक हैं जिनमें शारिपुव और मौद्गल्यायन का मन परिवर्तन दिखलाया गया है।

शारिपुत्र और मौद्गल्यायन दोनों मित्र हैं। शारिपुत्र अश्वजित से मिलता है और वातचीत करता है। तब वह अपने मित्र मौद्गल्यायन से मिलने जाता है; वहीं विदूषक भी विद्यमान है। वह अपने मित्र से बुद्ध के शिक्षक होने के दावे पर विचार करने की वात कहता है। विदूषक को आपत्ति है कि एक क्षत्रिय से मेरे ब्राह्मण स्वामो' (मौद्गल्यायन) शिक्षा किस प्रकार ग्रहण कर सकते हैं। शारिपुत्र का तर्क है कि निम्नजाति के व्यक्ति की दी हुई औषधि भी लाभ करती है और उसके दिये हुये पानी से भी प्यास वुझती है। मौद्गल्यायन शारिपुत्र का सत्कार करता है और आने का कारण पूछता है।

जव शारिपुत्र आने का कारण बतलाता है तब दोनों मिलकर बुद्ध के पास जाते हैं। वुद्ध दोनों का स्वागत करते हैं और भविष्य वाणी करते हैं दोनों ज्ञान एवं रहस्यात्मक शक्ति में उनके शिष्यों में सर्वोत्कृष्ट होंगे। अन्त में शारिपुत्र और बुद्ध के मध्य में दार्शनिक संवाद चलता है जिसमें नित्य आत्मा की सत्ता के विरुद्ध शास्त्रार्थ है। बुद्ध दोनों नवीन शिष्यों की प्रशंसा करते हैं और भरत वाक्य में दोनों को आशीर्वाद देते हैं। इसके साथ ही नाटक समाप्त हो जाता है।

एक ही जिल्द में उक्त नाटक के अतिरिक्त दो और नाटकों के कुछ पन्ने बुड़े हुए हैं एक है प्रतीक (allegorical) नाटक जिसमें कृष्णमिश्र मे प्रबोध-चन्द्रोदय के समान अमूर्तपात्रों का मूर्तीकरण किया गया है। ये पात्र हैं—बुद्धि, कीर्ति धृति इत्यादि

दूसरा नाटक जिसके पन्ने उसी जिल्द में प्राप्त हुये हैं परिणाम में तो सम्भवतः धार्मिक ही है किन्तु उसकी प्रवृत्ति शृङ्गार प्रधान है। उसकी

नायिका मगधवती वेश्या है। पुरुष पात्र दो है धनञ्जय जो सम्भवतः एक राजकुमार है और सोमदत्त जो एक धूर्तव्यक्ति है। किन्तु खण्डित प्रतियां प्राप्त होने के कारण इन नाटकों के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

महाकाव्य के समान नाटकों के विषय में ये कालिदास के योग्य पथ प्रदर्शक है यद्यपि सम्भवतः बौद्ध होने के कारण कालिदास ने इनका नाम नहीं लिया है।

अश्वघोष के नाम पर प्रसिद्ध अन्य कृतियां

वज्र सूची

वज्रसूची की रचना का श्रेय कतिपय विचारकों द्वारा अश्वघोष को दिया जाता है। इस शब्द का अर्थ है रत्नों की सुई अर्थात् कुतर्कों और कुसिद्धान्तों का वेध करने वाला बहुमूल्य ग्रन्थ। यदि यह वस्तुतः अश्वघोष का लिखा हुआ है तो यह इस लेखक की बहुशास्त्रज्ञता प्रमाणित करने वाली बहुमूल्य रचना है। लेखक की पद्धति अत्यन्त प्रभावशालिनी है। यह पूर्वपक्ष के रूप में पहले किसी ब्राह्मण धर्मानुयायी सिद्धान्त की स्थापना करता है और ब्राह्मण धर्मानु-मत ग्रन्थों के ही उद्धरण देकर उन तत्त्वों की हीनता को प्रमाणित करता है। ब्राह्मण धर्म की जाति प्रथा के विषय में यह तर्क कितना महत्वपूर्ण है—"सभी जातियों के लोग आनन्द, शोक, जीवन, विचारशक्ति, व्यवसाय और उद्यम, जन्म और मरण, भय और यौन प्रेम इन सब बातों में एक रूप हैं फिर जातियों में भेद कैसा ?" यह विचार निस्सन्देह जनतन्त्र की भावना को व्यक्त करता है। इह ग्रन्थ से एक बहुत बड़ा लाभ यह है कि इसमें जहां कहीं उद्धरणों के पते भी दिए गए हैं उनसे उनकी ऐतिहासिकता पर प्रकाश पड़ता है। उससे इस बात के समझने में सहायता मिलती है कि अमुक कवि या काव्य किस काल से सम्बन्ध रखता है।

अश्वघोष को इस ग्रन्थ का कर्ता मानने में कतिपय सबल विप्रतिपत्तियां सामने आती हैं—इत्सिंग को इसका ज्ञान नहीं था, तिब्बती साहित्य में अश्व-घोष की रचनाओं में इसका उल्लेख नहीं किया गया है; चीनी त्रिपिटक पुस्तक सूची में एक वज्र सूची का उल्लेख है जिसके विषय में कहा गया है कि इसमें चारों वेदों का खण्डन है और उसका चीनी भाषा में अनुवाद सन् ९७३ और ९८१ में किया गया था। उसके रचयिता का नाम धर्मकीर्ति दिया हुआ है। हो सकता है यह कोई दूसरी वज्रसूची हो।

महायान श्रद्धोत्पाद

यह एक दार्शनिक रचना है। इसमें शून्यवाद (माध्यमिक सम्प्रदाय) और विज्ञानवाद (योगाचार सम्प्रदाय) के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन किया गया है। पुस्तक के नाम से ही प्रकट है कि महायान सम्प्रदाय के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करना इसका लक्ष्य है। इसमें महायान सम्प्रदाय के अत्यधिक विकसित विचारों का विवेचन किया गया है। ह्वेनसांग ने इस पुस्तक का संस्कृत में अनुवाद किया था और भारत के पांचों खण्डों में इसका प्रचार भी उन्हीं ने किया था। आज भी यह रचना जापान के विद्यालयों और मठों मे अत्यन्त प्रतिष्ठित है और पढ़ाई जाती है।

इस रचना का कर्तृत्व अत्यन्त उलझा हुआ है। ह्वेनसांग की जीवनी में लिखा है कि महायान श्रद्धोत्पाद अश्वघोष की रचना है। किन्तु यह भी वहीं लिखा है कि ह्वेनसांग ने इसका अनुवाद चीनी भाषा से किया था। यह सच है कि अश्वघोष की रचनाओं में महायान की प्रतिच्छाया पाई जाती है, किन्तु उनके समय तक महायान शाखा सत्ता में आ गई थी इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। महायान के प्रवर्तक नागार्जुन का समय अश्वघोष के बाद का है। जो रचना चीन और जापान में इतनी अधिक प्रतिष्ठित है उसका किसी प्राचीन कृति में कहीं उल्लेख न किया जाय न ही संस्कृत के अनुवादों की शृंखला में चीनी या तिब्बती अनुवादों में इसका उल्लेख हो यह एक आश्चर्य-जनक बात मालूम पड़ती है। पुस्तक की समीक्षा करने पर ज्ञात होता है कि इसकी रचना लंकावतार के बाद और असंग एवं वसु बन्धु के पहले हुई होगी। क्योंकि उनका कहीं भी पुस्तक में उल्लेख नहीं किया गया है। यदि इसकी रचना असंग और वसुबन्धु के बाद हुई होती तो उनका इसमें उल्लेख न करना असम्भव हो जाता। इसके दो चीनी संस्करण प्रकाश में आए हैं—एक परमार्थ (लगभग ५५३ ई०) कृत और दूसरा शिक्षानन्द (७०० ई०) का लिखा हुआ। इन सब बातों पर विचार करने से इसका रचना काल ईशा की ५वी शताब्दी सिद्ध होता है। इसके अश्वघोष—कर्तृत्व के विषय में दो ही बातें सम्भव हो सकती हैं—या तो किसी लेखक ने अपनी कृति और महायान सम्प्रदाय को अधिक मान्यता देने के लिए एक प्राचीन महान व्यक्तित्व के नाम पर इसे प्रचारित कर दिया हो या पांचवीं शताब्दी में कोई अश्वघोष हुए हों। बुद्ध-चरित लेखक अश्वघोष का लिखा यह ग्रन्थ किसी प्रकार भी नहीं हो सकता।

गण्डी स्तोत्र गाथा

अश्वघोष के नाम पर प्रसिद्ध प्रगीत रचनाओं का यही एकमात्र संग्रह उपलब्ध है। ये अत्यन्त रमणीय रचनायें हैं जो स्वरूप और वस्तु दोनों दृष्टियों

से अश्वघोष की रचना होने की अधिकारिणी हो सकती हैं। इसका चीनी अनुवाद उपलब्ध हो रहा था जिसे ए वान स्टील होल्स्टीन ने संस्कृत में पुनः परिवर्तित करने का प्रयत्न किया।

सूत्रालंकार

चीनी लेखक सूत्रालंकार की रचना का श्रेय अश्वघोष को प्रदान करते हैं। इस पुस्तक का चीनी भाषा में अनुवाद ४०५ ई० के आसपास कुमारजीव ने किया था। किन्तु तुर्फान में की गई लूडर्स की खोजों में एक अन्य पुस्तक प्राप्त हुई जिसकी पुष्पिकाओं से ज्ञात हुआ कि यह पुस्तक कुमार लात की लिखी कल्पनामण्डितिका या कल्पनालंकृतिका है जो विषय वस्तु इत्यादि अनेक दृष्टियों से सूत्रालंकार से अभिन्न है। तब सूत्रालंकार की रचना के विषय में एक उलझन उत्पन्न हो गई। अभी तक इस उलझन का कोई सर्वसम्मत समाधान प्राप्त नहीं हो सका है। इस विषय में कई मत व्यक्त किए गए हैं और इसके अश्वघोष कृति होने में सन्देह बना हुआ है। कल्पनामण्डितिका के कुछ ही भाग प्राप्त हुए हैं। शेष भागों के लिए अनुवादों पर निर्भर रहना पड़ता है।

इस पुस्तक में जातक और अवदान की शैली पर अनेक कथायें दी हुई हैं। इनमें कुछ कथायें प्राचीन हैं तथा कुछ ऐसी भी हैं जो त्रिपिटक में आई हैं। इनमें गद्य और ललित पद्यों का प्रयोग किया गया है। ह्वेनसांग के अनुसार कुमार लात सौत्रान्तिक सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे और उनका मूल स्थान तक्षशिला था क्योंकि कल्पनामण्डितिका की अनेक कथायें सौत्रान्तिक सम्प्रदाय के धर्मग्रन्थों से ली गई हैं। हमें ज्ञात है कि जब पहले पहल अश्वघोष बौद्धधर्म में दीक्षित हुए तब सर्वास्तिवादी ही थे बाद में उन्होंने महायान के शून्यवाद को स्वीकार किया था। इस पुस्तक की रचना शुद्ध संस्कृत में हुई है और इसमें व्याकरण के नियमों का अतिक्रमण बहुत ही कम किया गया है। इसमें संस्कृत के साथ कतिपय प्राकृत पद्य भी सम्मिलित हैं। रामायण और महाभारत का उल्लेख सांख्य और वैशेषिक का खण्डन इसे साहित्य के इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण बना देते हैं। इसमें लिपि, चित्रकला इत्यादि का समावेश इसकी गौरव गाथा कहने वाले तत्त्व हैं।

जिस प्रकार चीनी लोग कुमार लात की रचनाओं को अश्वघोष की रचना मानते हैं। उसी प्रकार तिब्बती लोग मातृचेता और अश्वघोष का अभेद मानने के पक्ष में हैं। दोनों का एक ही सम्प्रदाय था और काव्य प्रवृत्ति भी एक जैसी थी। इसीलिए दोनों को एक रूप माना जाने लगा।

अनुबन्ध-द्वितीय

भास

रस सिद्ध महाकवियों की प्रशस्तियों के आधार पर साहित्य जगत् को इस बात का ज्ञान तो था कि भास एक प्रथितयशा सफल नाटककार थे किन्तु इस शताब्दी के प्रथम दशक पर्यन्त उनकी कोई रचना साहित्य जगत् के सामने नहीं आई थी। वैसे इनकी प्रशस्तियां इनके महत्व का अन्वाख्यान करने में पर्याप्त रूप में सक्षम थीं। कालिदास जैसे महनीय महाकवि ने सन्देह व्यक्त किया था कि भास जैसे प्रतिष्ठित कवियों के प्रवन्धों के होते हुए वर्तमान कवि कालिदास का सम्मान कैसे हो सकेगा।[1] जयदेव ने उन्हें कविता कामिनी का हास बतलाया था।[2] वाणभट्ट ने उनके नाटकों की तुलना पताकाओं से विभूषित देवमन्दिरों से की थी और नाटकों की एक दो व्यावर्तक विशेषताओं की ओर भी संकेत किया था।[3] दण्डी ने भी भास के नाटकों की कतिपय विशेषतायें बतलाई थीं।[4] राजशेखर और अभिनव गुप्त इनके स्वप्नवासवदत्ता नाटक का उल्लेख किया था।[5] राजशेखर ने तो यहीं तक कहा था कि भास के स्वप्नवासवदत्ता को आग भी नहीं जला सकी। क्या यह इस ओर तो संकेत नहीं कि विदेशी आक्रान्ताओं ने यहां के साहित्य निधान को अग्निसात् कर दिया

---

१. प्रथितयशसां भाससौमिल्लककविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य कथं वर्तमानस्य कवेः कालिदासस्य कृतेः बहुमानः ? मालविकाग्निमित्र

२. भासो हासः—प्रसन्नराघव

३. सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः ।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव ॥ हर्षचरित

४. सुविभक्तमुखाद्यङ्गैर्व्यक्तलक्षणवृत्तिभिः ।
परेतोऽपि स्थितो भासः शरीरैरिव नाटकैः ॥ अवन्तिसुन्दरीकथा।

५. (अ) भासनाटकचक्रेऽस्मिञ्छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम् ।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः ॥

(आ) क्वचित्क्रीडा । यथावासवदत्तायाम् । अभिनव भारती।

था, स्वप्नवासवदत्ता की प्रतिष्ठा को वे भी नहीं जला सके। इसका समन्वय इस बात से भी हो जाता है कि स्वप्नवासवदत्ता के कथानक का आधार उसके जल जाने का प्रचार ही है जबकि वस्तुतः वासवदत्ता जली नहीं थी। नाट्यदर्पण में स्वप्नवासवदत्ता के एक कथानक का भी निर्देश किया गया है।[1] शृंगार प्रकाश में भोजराज ने भी इस नाटक की प्रमुख घटना का उल्लेख किया है।[2] इस प्रकार वे और भी विवरणों के होते हुए भी साहित्य जगत् १९१० ई० तक भास की किसी रचना से वंचित अवश्य था।

भास के नाटकों का अनुसन्धान

सन् १९०९-१० में दक्षिण भारत के राजपुस्तकालयों में पाण्डुलिपियों की खोज करने के अवसर पर कतिपय ऐसी प्रतियां प्राप्त हुई जो प्रविधि शैली, भाषा इत्यादि अनेक दृष्टियों से एक ही लेखक की कृतियां प्रतीत हुई। सबसे बड़ी बात यह थी कि उनमें बाण और दण्डी द्वारा बतलाई हुई भास नाटकों की विशेषतायें मिल जाती थीं। एक यह भी थी कि उन कृतियों में स्वप्नवासवदत्ता भी था जिसका भास के नाम पर अनेक आचार्यों ने उल्लेख किया था। साथ ही आचार्यों ने स्वप्नवासवदत्ता की जिन परिस्थितियों का विवरण दिया था वैसी परिस्थितियां भी स्वप्नवासवदत्ता में विद्यमान थीं।[2] अतः इसमें कोई सन्देह नहीं रह गया कि प्राप्त हुई स्वप्नवासवदत्ता की प्रति भास की ही रचना थी

---

१. यथा भासकृते स्वप्नवासवदत्ते शेफालिकाशिलातलमवलोक्य वत्सराजः—नाट्यदर्पण (अर्थात् जैसे भास के लिखे हुए स्वप्नवासवदत्त में शेफालिका शिलातल को देखकर वत्सराज) यह परिस्थिति उपलब्ध नाटक में विद्यमान है।

२. स्वप्नवासवदत्ता का नामकरण जिस घटना के आधार पर हुआ है वह यह है कि राजा ने पद्मावती को बीमार सुना है; वह उन्हें देखने समुद्रगृहक में जाता है। वहां चारपाई बिछी हुई थी पद्मावती नहीं थी। राजा चारपाई पर लेट गए और सोने लगे। वहां वासवदत्ता आ गई। राजा की स्वप्न की बड़बड़ाहट के साथ वासवदत्ता का उत्तर प्रत्युत्तर होने लगा। इस घटना का परिचय भोजराज ने इन शब्दों में दिया है—'स्वप्नो यथा स्वप्नवासवदत्ते पद्मावतीम् अस्वस्थां द्रष्टुं राजा समुद्रगृहकं गतः। पद्मावती रहितं च तदवलोक्य तस्या एव शयने सुष्वाप। वासवदत्तां च स्वप्नवदस्वप्ने ददर्श, स्वप्नायमानश्च वादसवदत्तामावभाषे।'

और जब सभी कृतियां स्वप्नवासमदत्ता की प्रविधि से मेल खाती हुई प्रतीत हुई तब इसमें सन्देह नहीं रह गया कि ए सारी रचनायें भास की ही हैं ! इन समस्त कृतियों की संख्या १३ है जिनमें ७ नाट्यकृतियां कृष्ण एवं महाभारत विषयक हैं दो रामायण के कथानक से सम्बन्ध रखती है, दो उदयन के चरित्र पर आधारित हैं और दो सर्वथा काल्पनिक हैं। यदि घटनाओं के पौर्वापर्य क्रम से इन्हें व्यवस्थित किया जाय तो इनकी क्रम व्यवस्था इस प्रकार होगी—(राम विषयक) प्रतिमा और अभिषेक, कृष्णविषयक बालचरित, मध्यमव्यायोग, पञ्चरात्र, दूतवाक्यम्, दूतघटोत्कच, कर्णभार और उरूभङ्ग। (उदयन विषयक) प्रतिज्ञयौगन्धरायण और स्वप्रवासवदत्तम्। (काल्पनिक) अविमारक एवं चारुदत्त।

इन नाटकों में न तो ठीक रूप में पुष्पिका ही दी गई है और न प्रस्तावना में लेखक का नामोल्लेख किया गया है। अतः पता नहीं चलता कि ये नाटक किस की रचनायें हैं। इन नाटकों की नाट्य प्रविधि और भाषा शैली से केवल इतना पता चलता है कि ये नाटक एक ही कवि की कृति हैं। साथ ही वाण और दण्डी ने भास के नाटकों की जो विशेपतायें बतलाई है वे इनमें मिल जाती हैं तथा इनमें उन्हीं विशेषताओं से युक्त स्वप्नवासवदत्तम् भी विद्यमान है; साथ ही स्वप्नवासवदत्तम् की अन्य विशेषतायें भी इन नाटकों में मिल जाती हैं, अतः स्वभावतः समझ लिया जाता है कि ये सभी नाटक भास की ही रचनायें है। सन् १९१२ में 'भासनाटकचक्रम्' नाम से इन नाटकों का प्रकाशन करवा दिया गया था।

इन नाटकों की सामान्य विशेषतायें

वाणभट्ट ने भास के नाटकों की तीन विशेषतायें बतलाई हैं—(१) इन नाटकों का प्रारम्भ सूत्रधार द्वारा किया जाता है (२) इन नाटकों में अनेक भूमिकायें होती हैं और (३) ये पताकाओं से सुशोभित होते हैं।

१. नाटकों के प्रारम्भ के विषय में भरत मुनि ने पूर्व रंग का विधान किया है। नाट्य शास्त्र में इसके १८ अंग बतलाए गए हैं जिनमें नाच-गान और देव पूजन की प्रधानता होती है। पूर्व रंग का आयोजन मुख्य नाटक के प्रारम्भ होने के पहले किया जाता था। भरत ने यह व्यवस्था भी बना दी थी कि यदि पूरे पूर्व रंग का आयोजन सम्भव न हो तो उसके एक अंग केवल नान्दी पाठ का आयोजन अवश्य कर लेना चाहिए। धीरे-धीरे विस्तृत पूर्व रंग की परम्परा समाप्त हो गई और केवल नान्दी पाठ शेष रह गया। पर्दा उठने के पहले नान्दीपूजन कर लिया जाता था। तब पर्दा उठता था और सूत्रधार

प्रविष्ट होकर काव्य की स्थापना करता था। धीरे-धीरे यह परम्परा भी समाप्त हो गई। अब पर्दा उठने के बाद रंगमञ्च पर ही मङ्गलाचरण के पद्य पढ़े जाते थे और उन्हें नान्दी पाठ मान लिया जाता था। आजकल जितने प्राचीन नाटक उपलब्ध होते हैं उन सबमें पहले मङ्गलाचरण का पद्य पढ़ा जाता है और उसके बाद यह शब्द लिखा होता है ;नान्द्यन्ते'। तब सूत्रधार काव्य की स्थापना करता है। आशय यह है कि परवर्ती नाटकों में पर्दा उठने के बाद नान्दी पाठ से नाटक का प्रारम्भ होता है जबकि प्राचीन नाटकों में नान्दीपूजन पर्दा उठने के पहले ही पूरा कर लिया जाता है पर्दा उठने के बाद सूत्रधार ही नाटक का प्रारम्भ करता है और वह पृथक् रूप में अपना मङ्गलाचरण करके नाटक का प्रारम्भ करता है। भास के नाटकों में प्राचीन परम्परा अपनाई गई है जिसमें नान्दीपाठ नाटक का भाग नहीं माना जाता। सूत्रधार नाटक का प्रारम्भ करता है। इन सभी नाटकों में यही पद्धति पाई जाती है।

२. इन नाटकों में अनेक भूमिकायें होती हैं। इसके दोनों आशय हैं—इन नाटकों में विभिन्न विरोधी चरित्र वाले अनेक पात्र होते हैं और इनके पात्र जीवन के बहुमुखी क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करने वाले होते हैं। निस्सन्देह भास को अनेक भूमिकाओं में सफल चित्रण की ख्याति प्राप्त हुई है।

३. भास के नाटक पताकाओं से विभूषित थे। यहां पताका का आशय अर्थ-प्रकृति पताका (व्यापक प्रासंगिक वृत्त) या पताका स्थानक नहीं हो सकता क्योंकि ये दोनों भास नाटकों के व्यावर्तक धर्म नहीं है। नाट्य शास्त्र के सिद्धि अध्याय में बतलाया गया है कि उस समय राजा लोग सभायें आयोजित कर नाटकों की प्रतियोगतायें कराया करते थे और विजयी नाटक को पताका प्रदान किया करते थे। वाण का आशय यही ज्ञात होता है कि भास को अपनी कृतियों पर पताकायें प्राप्त हुई होंगी।

दण्डी ने भास के नाटकों में मुख इत्यादि अंगों के स्पष्ट विभाजन, काव्य-लक्षण और वृत्तियों के स्पष्ट प्रयोग होने की बात कही है। किन्तु ये विशेषतायें तो और नाटकों में भी मिलती हैं। इन्हें भास नाटकों का विभाजक लक्षण नहीं कहा जा सकता।

भास नाटकों की व्यतिरेकी विशेषतायें

इन नाटकों में न तो प्रस्तावना में कवि तथा नाट्य-कृति का परिचय दिया जाता है और न कलात्मक निपुणता के साथ पात्र-प्रवेश कराया जाता है। प्राय: सभी नाटकों में एक से शब्दों का प्रयोग किया जाता है—'एवमार्यं मिश्रान् विज्ञापयामि। अये किन्नु खलु मयि विज्ञापनव्यग्रे शब्द इव श्रूयते। अङ्ग-पश्यामि। (नेपथ्ये) इसके बाद नाटक प्रारम्भ हो जाता है।

जिस प्रकार प्रारम्भ में एकरूपता है उसी प्रकार अधिकांश नाटकों में समाप्ति भी एक ही प्रकार से की गई है। राजा (विशेषरूप से राजसिंह) के लिए आशंसा की गई है कि वह समस्त भारत पर एकच्छत्र राज्य करे—

इमां सागरपर्यन्तां हिमवद्विन्ध्यकुण्डलाम् ।
महीमेकातपत्राङ्कां राजसिंहः प्रशास्तु नः ॥

यह या इसी आशय का श्लोक दो एक नाटकों को छोड़कर प्रायः सभी नाटकों में भरतवाक्य के रूप में दिया गया है। किसी भी नाटक की समाप्ति पर परम्परानुमोदित पुष्पिका कहीं नहीं दी गई है। केवल अन्त में '(निष्क्रान्ताः सर्वे)···अङ्कः। इति···नाटकं समाप्तम्।' इसी प्रकार की समाप्ति सर्वत्र पाई जाती है।

सभी नाटकों में समान रूप से व्याकरण और नाट्यशास्त्र के निर्देशों की स्थान-स्थान पर अवहेलना, सभी नाटकों की एक सी भाषा शैली, पात्रों के चरित्रों की एकरूपता, कहीं-कहीं नामों में भी एकरूपता, एक जैसी परिस्थिति में एक जैसे शब्दों का प्रयोग, नाट्यनिर्देशों की न्यूनता इत्यादि अनेक तत्त्व ऐसे हैं जो सभी नाटकों का एक कर्तृत्व सिद्ध करते हैं। स्वप्नवासवदत्तम् की प्राप्ति और उससे इन सभी नाटकों की अनेक दृष्टियों से समानता इन नाटकों को भासकृत सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। यद्यपि कुछ विचारकों ने इनके भासकृत होने में सन्देह उठाया है; किन्तु विरोधी वर्गों में कोई विशेष दम नहीं है। यह कोई विशेष महत्त्व की बात नहीं है कि भास के नाम पर उद्धृत किया हुआ निम्नलिखित श्लोक स्वप्नवासवदत्तम् में नहीं पाया जाता—

पदाक्रान्तानि पुष्पाणि सोष्म चेदं शिलातलम् ।
नूनं काचिदिहासीना मां दृष्ट्वा सहसा गता ॥

इस श्लोक की जैसी परिस्थिति स्वप्नवासवदत्तम् में पाई जाती है। अतः इसके उच्छिन्न हो जाने की सम्भावना सर्वथा अप्रत्याशित नहीं कही जा सकती।

भास का देशकाल एवं व्यक्तित्व

संस्कृत के दूसरे लेखकों के समान भास का देशकाल और व्यक्तित्व सभी कुछ अज्ञात है। इस विषय में कोई भी प्रमाण असन्दिग्ध रूप में निर्णायक नहीं हो सकता। इन नाटकों की उपलब्धि दक्षिण भारत के पुस्तकालयों में हुई है; अतः कुछ लोग इन्हें दक्षिण भारतीय मानते हैं जबकि इनके नाटकों से इनका दक्षिण भारत का ज्ञान बहुत ही कम प्रतीत होता है। इन्होंने अपने नाटकों में जिन प्रदेशों का उल्लेख किया है उनमें दक्षिण भारत के केवल तीन

प्रदेश हैं जनस्थान, दक्षिणापथ और सीलोन। किसी भी रामचरित्र पर रचना करने वाले कवि के लिए इन प्रदेशों का ज्ञान अनिवार्य है और इनका पता रामायण के कथानक से ही चल जाता है। दूसरी ओर वत्स, मगध, काशी, मत्स्य, सूरसेन, कुरु, अवन्ती विराट, कम्बोज, सौवीर, गांधार, मद्र, मिथिला, अंग, वंग इत्यादि अनेक उत्तर भारतीय प्रदेशों और नगरों का उल्लेख पाया जाता है। यद्यपि इनमें भी अनेक इस प्रकार के हैं जिनका परिचय ऐतिहासिक-पौराणिक परम्परा से सुगमता से ज्ञात हो जाता है, फिर भी यह ज्ञान सामान्य ज्ञान की अपेक्षा कुछ अधिक है। किन्तु इस आधार पर भी इन्हें उत्तर भारतीय कहना असन्दिग्ध नहीं है। जिन कथानकों का इन नाटकों के लिए उपादान किया गया है वे भारतीय साहित्य की सर्वोत्कृष्ट कथायें हैं और उनके क्षेत्र उत्तर भारतीय प्रदेश ही हैं। अतएव इन नाटकों में उत्तरभारतीय क्षेत्रों का उपादान कथानकों की आवश्यकता ही है। इस दिशा में भरत वाक्य से निस्सन्देह कुछ अधिक प्रकाश पड़ता है। इसमें राजसिंह के एक छत्र साम्राज्य की अभिशंसा की गई है जिनका साम्राज्य समुद्र पर्यन्त विस्तृत है और जिस साम्राज्य के कुण्डल हिमालय और विन्ध्याचल हैं। इससे स्पष्ट व्यञ्जना होती है कि भास जिस साम्राज्य की अभिशंसा कर रहे हैं वह हिमालय और विन्ध्याचल की मध्यभूमि है तथा उसका विस्तार पश्चिम समुद्र से लेकर पूर्व समुद्र पर्यन्त है। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि भास जिस स्थान से इस प्रदेश का निर्देश कर रहे हैं वह समुद्र से दूर स्थित है। इससे यही सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण उत्तर भारत की ओर कवि का संकेत है जो प्रदेश सम्भवतः कवि का अपना ही होगा।

स्थान की अपेक्षा भास के काल के विषय में अधिक मतभेद हैं। ई० पू० ५वीं शताब्दी से लेकर ईशा की १०वीं शताब्दी पर्यन्त लगभग १५०० वर्ष के विस्तार में विचारकों द्वारा भास के समय के विषय में अनेक मान्यतायें स्थिर की गई हैं। साहित्य के इतिहास के अभाव एवं कवियों द्वारा अपने विषय में कुछ भी न कहने के कारण विभिन्न लेखकों या शिलालेखों के आधार पर किसी कवि की पूर्वी और उत्तरी सीमायें भर निश्चित की जा सकती हैं; किन्तु भास के विषय में कठिनाई यह है कि उनका उल्लेख तो अन्य कवियों और शास्त्रकारों ने किया है किन्तु भास ने किसी कवि का (वाल्मीकि और व्यास) का भी) उल्लेख नहीं किया है। अतः जैसे तैसे उनकी उत्तरी सीमा तो निश्चित की जा सकती है; किन्तु पूर्वी सीमा फिर भी सन्दिग्ध ही रह जाती है।

भास के उद्भव की उत्तरवर्ती सीमा कालिदास का समय है। वाण, दण्डी, वामन, अभिनवगुप्त, राजशेखर, भोजराज प्रभृति जिन अन्य कवियों एवं शास्त्रकारों ने इनका उल्लेख किया है वे सब कालिदास के बाद के हैं। किन्तु स्वयं कालिदास का समय प्रथम शताब्दी से ५वीं शताब्दी तक लगभग ५०० वर्षों के अन्तराल में विकीर्ण है। अधिकांश विचारक कालिदास का समय ५वीं शताब्दी में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के राज्यकाल में मानने के पक्ष में है। अतः यह निश्चित है कि भास का समय ५वीं शताब्दी के बाद का नहीं हो सकता। अश्वघोष के साहित्य से ऐसा प्रतीत नहीं होता कि उन्हें भास का ज्ञान था। अतः भास का समय अश्वघोष और कालिदास के मध्य में होना चाहिए। भास की रचनाओं से ज्ञात होता है कि इन्हें कामसूत्रकार वात्स्यायन और नाट्य सूत्रकार का ज्ञान नहीं था। अतः भास का समय इनसे पहले ही होना चाहिए। वात्स्यायन और भरत का समय ईशा की दूसरी शताब्दी माना जाता है। भास ने प्रतिभा नाटक में मनु के धर्मशास्त्र का उल्लेख किया है। इस प्रकार भास का समय दूसरी तीसरी शताब्दी में किसी ऐसे समय पड़ता है जो मनु के बाद और भरत तथा वात्स्यायन के पहले आता है। इसी आधार पर ए० पी० बनर्जी, कोनो, लेस्ली, प्रिण्टज, लिण्डेन्यू, भण्डारकर, जैकोबी, कीथ जौली, प्रभृति विद्वानों ने भास का समय ईशा की दूसरी-तीसरी शताब्दी माना है। लिस्ने, विण्टरनित्ज, शंकर चौथी-पांचवी शताब्दी मानने के पक्ष में हैं।

यदि कालिदास का समय ईशा पू० की प्रथम शताब्दी माना जाय तो भास का समय और भी पहले सिद्ध होगा। पाणिनीय निर्देशों का अतिक्रमण देखकर कुछ विद्वानों ने इन्हें ई० पू० ४थी शताब्दी का नाटककार माना है। भास ने रामायण, महाभारत, बृहत्कथा इत्यादि महाग्रन्थों का आश्रय लिया है और उदयन प्रद्योत, दर्शक इत्यादि राजाओं का उल्लेख किया है। इन सबका समय ई० पू० ५वीं शती के आसपास है। इस सबसे सिद्ध होता है कि भास का समय रामायण, महाभारत के बाद और पाणिनि से पहले है। इस प्रकार गणपति शास्त्री, हरप्रसाद शास्त्री प्रभृति विद्वान् भास का समय ई० पू० ५वीं छटी शताब्दी मानते है। जायसवाल ने इनका समय ई० पू० तीसरी शताब्दी माना है।

बर्नेट, हीरानन्दशास्त्री इत्यादि विचारक इन नाटकों का समय ईशा की ७वीं शताब्दी, काणे नौवीं शताब्दी, रामावतार शर्मा दशवीं शताब्दी और और रेड्डी शास्त्री ग्यारहवीं शताब्दी मानते हैं। ये सभी समय कलिदासोत्तर

हैं। इन विचारकों के मत मे ये नाटक उन भास के नहीं हैं जिनका उल्लेख कालिदास ने किया है। ये कोई दूसरे भास हैं जैसाकि इनकी भाषा के विशेष अध्ययन से सिद्ध होता है।

भाषा का प्रमाण सर्वथा अप्रतिषेधनीय नहीं कहा जा सकता। लेखक के प्रमाद, प्रवाह, प्रादेशिक विशेषता इत्यादि कारणों से भी भाषा में परिवर्तन आ जाता है। भाषा का अनुकरण भी किया जाता है। अतः इसी आधार पर भास को इतना उत्तरवर्ती सिद्ध करना प्रमाण प्रतिपन्न नहीं हो सकता। भास द्वारा भरत के निर्देशों का अतिक्रमण, परवर्त्ती व्यक्तित्वों का अनुल्लेख आदि कुछ ऐसे प्रमाण हैं जो भास की प्राचीनता को प्रमाणित करते हैं। कालिदास ने भास का उल्लेख किया है; शूद्रक ने भासकृत 'चारुदत्त' के आधार पर मृच्छकटिक की रचना की है, सभी नाटकों की प्रविधि एवं भाषा में एकरूपता है; बाण द्वारा निर्दिष्ट विशेषतायें प्रायः इन सभी नाटकों में मिल जाती हैं, स्वप्न वासवदत्तम्' भी इन नाटकों में एक है जो उन विशेषताओं से ओतपोत है। इन सब दृष्टियों से इन सभी नाटकों का एक कर्तृत्व, भासकर्तृत्व और ईशवीशती प्रारम्भ होने के सौ दो सौ वर्ष इधर-उधर इनके रचना काल में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

नाटकों का संक्षिप्त परिचय

भास के तेरह नाटकों में दो रामविषयक (प्रतिमा एवं अभिषेक) सात कृष्णा और महाभारत विषयक (बालचरित, मध्यमव्यायोग, पञ्चरात्र, दूतवाक्यम्, दूतघटोत्कच, कर्णभार और उरुभंग) दो बृहत्कथा पर आधारित (प्रतिज्ञायौगन्धरायण तथा स्वप्नवासवदत्तम्) और दो काल्पनिक (अविमारकम्, चारुदत्तम्)।

रामविषयक नाटक

(१) प्रतिमा

सात अंकों के इस नाटक में रामकथा और विशेषरूप से अयोध्या और अरण्य काण्डों की कथा का आधार ग्रहण किया गया है। किंतु भास की कल्पना ने अनेक मौलिक उद्भावनायें की हैं। नाटक के प्रारम्भ में राम के राज्याभिषेक की तैयारी चल रही है। सीता की दासी मुनियों के वस्त्र ले आती है और सीता मजाक में ही कौतूहलवश उन्हें पहन लेती है। इसी समय राम के राज्याभिषेक की और कुछ ही देर बाद राजतिलक टल जाने की सूचना मिलती है। अब उन्हें १४ वर्ष के लिए वनवास के निमित्त प्रस्थान करना है। घटनायें तेजी से आगे बढ़ती हैं सीता और लक्ष्मण के साथ राम वन को चले जाते हैं।

दशरथ अर्धविक्षिप्त अवस्था में रंगमञ्च पर आते हैं, उन्हें मानों उनके पूर्वजों के दर्शन हो रहे हैं; वे उनका आवाहन और पूजन करते हैं तथा इसी विक्षिप्त अवस्था में उनका देहान्त हो जाता है। राजघराने के नियम के अनुसार उनकी प्रतिमा उनके पूर्वजों के साथ प्रतिमागृह में लगा दी जाती है। यही इस नाटक के नामकरण का कारण है। जब भरत ननसाल से वापस आते हैं तब प्रतिमागृह में पिता की प्रतिमा देखकर समझ जाते हैं कि उनके पिता का देहान्त हो गया है। जब उन्हें मन्दिर के पुरोहित से वास्तविकता ज्ञात होती है तब वे मूर्छित हो जाते हैं। उसी समय मातायें प्रतिमागृह में पूर्वजों के दर्शन करने आती हैं, भरत कौशल्या और सुमित्रा का अभिवादन करते हैं और कैकेयी को बुरा-भला कहते हैं। इसके बाद राम को मनाने के लिए उनके वनवास आश्रम को जाने का वर्णन आता है। राम लौटना स्वीकार नहीं करते, भरत चरण पादुका लेकर लौट आते हैं। इसके बाद की वनवास यात्रा का वर्णन आता है। राम पिता का श्राद्ध करना चाहते हैं, रावण सन्यासी के रूप में आता है और राम को परामर्श देता है कि श्राद्ध में विशिष्ट प्रकार का कृष्णसार प्रदान किया जाना शास्त्रीय विधि है। इस प्रकार का कृष्णसार हिमालय पर मिलता है। संयोगवश वहां एक कृष्णसार दिखलाई पड़ जाता है जो कि रावण की माया के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। राम उसका पीछा करते हैं लक्ष्मण तीर्थ से लौटे कुलपति के स्वागतार्थ पहिले ही चले गये थे' रावण अवसर पाकर रोती कलपती सीता का अपहरण कर लेता है। रोकने की चेष्टा में जटायु मारा जाता है। दो ऋषि कुमार इस घटना की सूचना देने के लिए राम का अन्वेषण करने चल देते हैं। सुमन्त्र भरत को सीताहरण की सूचना देते हैं जिस पर भरत सारा आक्रोश कैकेयी पर उतारते हैं। कैकेयी सफाई में शाप कथा भरत को सुनाती है और सुमन्त्र के साक्ष्य पर भरत उस पर विश्वास कर लेते हैं। वे सेना और माताओं को लेकर राम की सहायता के लिए चल पड़ते हैं। जिस समय रावण का वध कर सीता और लक्ष्मण के साथ राम जनस्थान तक लौट आते हैं और पूवं परिचित प्रदेशों को देख रहे होते हैं भरत सदल-बल वहां पहुंच जाते हैं और वहीं राम के राज्याभिषेक का प्रस्ताव करते हैं। कैकेयी के आदेश से राम राज्यभार स्वीकार कर लेते हैं।

कवि ने इस कथानक में अनेक परिवर्तन किये हैं। कौतूहलवश सीता द्वारा वल्कल धारण की कल्पना और परिचारकों तथा राम के साथ बातचीत में सीता और राम के जीवन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इसी प्रकार प्रतिमागृह की कवि की अपनी कल्पना है। इससे भी राज घराने के व्यक्तिगत जीवन पर प्रकाश पड़ता है। वातावरण के बनाने में भी इससे सहायता मिलती है।

रामायण में भरत के चरित्र पर आरोप लगाया जा सकता था कि भरत ने चित्रकूट से लौटकर राम की याद भी नहीं की। यहां पर सुमन्त्र राम की खोज-खबर लेने जनस्थान को जाते हैं और लौटकर सीताहरण की सूचना भरत को देते हैं। भरत सेना और परिवार सहित राम की सहायता के लिए वन को जाते हैं और वहीं राम का राजतिलक करते हैं। राम के राज्य स्वीकार कर लेने का भी दोष नहीं आता क्योंकि कैकेयी अपने वचन वापस लेकर राज्य स्वीकार करने का स्वयं आदेश देती है। आधुनिक कवि मैथिलीशरण गुप्त ने भी साकेत में राम की सहायता के लिए भरत की तैयारी का वर्णन किया है। इस नाटक में कैकेयी के चरित्र के परिमार्जन का भी यथेष्ट प्रयत्न किया गया है। कैकेयी को शाप मिला था जिसके प्रतिफल स्वरूप उससे यह अपराध हुआ था। कैकेयी १४ दिन का वनवास देना चाहती थी, धोखे से उसके मुख से १४ वर्ष निकल गया था। सीताहरण की पूर्वपीठिका तैयार करने के लिए राम और लक्ष्मण को हटाए जाने की प्रक्रिया भी नवीन और अधिक चमत्कारपूर्ण तथा अधिक संगत है। इससे रामायण में आये सीता के मर्मवेधी शब्दों की आवश्यकता नहीं पड़ती और सीता के चरित्र का भी परिमार्जन हो जाता है।

इस नाटक में नाट्यरचना की समस्त प्रक्रिया की व्याख्या की जा सकती है। समस्त अर्थ प्रकृतियों, कार्यावस्थाओं और सन्धियों का रामकथा में पहले से ही अवसर विद्यमान है। चरित्र चित्रण का भी उपयुक्त निर्वाह हुआ है। अलंकारों की स्वाभाविक योजना प्रकृति चित्रण और रसयोजना में भी कवि पर्याप्त सफल हुआ है।

(२) अभिषेक नाटक

यह ६ अंकों का रामविषयक दूसरा नाटक है। प्रतिमा नाटक में कवि ने राम के पारिवारिक जीवन को विशेष महत्त्व प्रदान किया है और उन्हें मानव रूप में देखने की चेष्टा की है, इसके प्रतिकूल इस नाटक में राम को पूर्ण ब्रह्म-रूपता प्रदान की गई है। इसमें किष्किन्धा, सुन्दर और लंका काण्डों की कथा-वस्तु को आधार बनाया गया है। प्रतिमा की अपेक्षा इस नाटक में कवि ने वाल्मीकि का अधिक पदानुसरण किया है। फिर भी इसमें यत्र-तत्र कवि ने परिवर्तन भी किया है। यहां राम सेतु पर पुल नहीं बांधते, किन्तु वरुणदेव राम के क्रोध से भयभीत होकर राम की प्रार्थना करते हैं— उन्हें पूर्ण विष्णु बतलाते हैं और सेना को पार ले जाने के लिए समुद्र को दो भागों में विभाजित कर देते हैं जिससे बीच में मार्ग निकल आता है और उससे सेना सहित

राम लंका में क्षणमात्र में पहुंच जाते हैं। इसी प्रकार के कतिपय छोटे-मोटे परिवर्तन किए गए हैं जिनमें मायिकता का समावेश है। इसकी भाषा साधारण तथा प्रसाद गुणपूर्ण है, उदात्त कल्पनायें और चित्रण की विशेषतायें इस रचना को अधिक मनोरम बना देती हैं। राम तो विष्णु के अवतार हैं ही अन्तिम अंक में अग्निदेव सीता को भी लक्ष्मी का अवतार बतलाते हैं। सब मिलाकर यह नाटक साधारण कोटि का ही कहा जाएगा।

कृष्ण विषयक नाटक

(३) बालचरित

यह ५ अंकों का कृष्णविषयक नाटक है जिसमें कृष्ण की बाल लीलाओं का वर्णन किया गया है। इसके स्रोत का पता नहीं चलता। जिन पुराणों में कृष्ण की बाल लीला का वर्णन किया गया है वे भास के बाद की रचनायें मानी जाती हैं और भास से पूर्ववर्ती रचनाओं में कृष्ण की बाल लीलाओं का वर्णन नहीं है। कृष्ण के बाल चरित को लेकर लिखा गया यह सम्भवतः सबसे पुराना नाटक है। इस विषय में जो उपाख्यान जन समाज में प्रचलित थे उन्हीं नाट्योपयोगी अंशों में अपनी कल्पना मिलाकर कवि ने इस नाटक की विषय वस्तु का निर्माण किया है।

देवत्व सम्पन्न नायक की आश्चर्यजनक लोकोत्तर लीलाओं को इसमें या तो अभिनय के माध्यम से दिखलाया गया है या मनोरम शैली में उनकी सूचना दी गई है। कृष्णविषयक दोनों नाटकों (बालचरित और दूतवाक्य) में कृष्ण की लोकोत्तरता का पूर्ण मनोयोग के साथ चित्रण किया गया है।

कवि कल्पना ने प्रचलित कृष्ण कथानक को सर्वथा नया रूप दे दिया है। कंस ने वसुदेव के ६ पुत्रों की हत्या कर दी है—सातवीं सन्तान कृष्ण का जन्म होता है। (वस्तुतः कृष्ण ८वीं सन्तान थे ७वीं सन्तान बलराम का रोहिणी के गर्भ में प्रत्यारोपण कर दिया गया था) कृष्ण के माता-पिता देवकी-वसुदेव अपनी इस सन्तान के लिए चिन्तित हैं। वसुदेव नवजात शिशु को कहीं छिपाने के लिए चल देते हैं। घुप अंधेरा है किन्तु कृष्ण से एक अद्भुत ज्योति निकलती है और पार जाने के लिए यमुना एक सूखा मार्ग बना देती है। वसुदेव पार जाकर एक वृक्ष के नीचे चिन्तातुर होकर बैठ जाते हैं। संयोग की बात है कि उसी समय यशोदा के एक मरी हुई लड़की पैदा होती है। यशोदा प्रसव वेदना के कारण मूर्छित हैं, उन्हें यह पता नहीं चलता कि उनके लड़की हुई है या लड़का। नन्दगोप मरी लड़की को लेकर उसे विसर्जित करने निकलते हैं और उसी वृक्ष के पास पहुंच जाते है जहां वसुदेव नवजात शिशु को लेकर चिन्तित

बैठे हैं । नन्द पर वसुदेव के कतिपय पुराने उपकार हैं । अतः नन्द अनिच्छा से ही सही बालक को छिपाना स्वीकार कर लेते हैं । किन्तु समस्या यह है कि उन्होंने मृत बालिका का स्पर्श किया है । अतः बिना स्नान किए वे बालक का स्पर्श नहीं कर सकते । उसी समय जल का एक प्राकृतिक स्रोत फ़ूट पड़ता है । वे स्नान करते हैं और बालक को ले जाना चाहते हैं । किन्तु एक दूसरी समस्या खड़ी होती है । बालक मन्दराचल जैसा भारी है । उसको उठाकर ले जाना सम्भव प्रतीत नहीं होता । उसी समय विष्णु भगवान के आयुध और वाहन गरुड गोप वेश में उपस्थित होकर अपना परिचय देते हैं । आयुध चक्र की प्रार्थना पर बालक हल्का हो जाता है और नन्द गोप उसे लेकर चले जाते हैं । मृत वलिका वसुदेव की गोद में आते ही जी उठती है और यमुना से एक बार फिर मार्ग प्राप्त कर वसुदेव बालिका को लेकर वापस आ जाते हैं ।

दूसरे अंक में कृष्ण के शयनकक्ष का दृश्य उपस्थित होता है । कंस को दिया गया मण्डूक ऋषि का शाप मुण्डमाल पहने भयानक चाण्डाल वेश में आता है । चाण्डाल युवतियां उसके साथ हैं । वह शयनकक्ष में प्रविष्ट होना चाहता है किन्तु राज्यश्री उसे रोकती है । जब राज्यश्री को विष्णु का आदेश बतलाया जाता है तब वह उन्हें मार्ग दे देती है । शाप कंस को ग्रस लेता है । उसे अनेक अपशकुन दिखलाई पड़ते हैं । मन्त्री और ज्योतिषी के अनुसार यह किसी देवता के जन्म लेने की सूचना है । कंस वसुदेव से पुत्री जन्म की बात सुनकर वसुदेव की प्रार्थना ठुकराकर कन्या को पत्थर पर पटक देता है । कन्या का एक अंश पृथ्वी पर गिरता है और शेष स्वर्ग को चला जाता है । कात्यायनी सपरिवार प्रकट होती है और कंस विनाश के संकल्प की घोषणा करती है ।

तीसरे अंक के प्रवेशक में बालकृष्ण के अद्भुत कार्यों की सूचना मिलती है कि कृष्ण ने पूतना, शकट, यमलासुर, प्रलम्ब, धेनुक, केशी इत्यादि अनेक दानवों को मार डाला है । अंक में कृष्ण गोप गोपियों के साथ हल्लीसक नृत्य में संलग्न हैं । अरिष्टासुर आता है, कृष्ण के साथ भयानक युद्ध होता है; वह मारा जाता है फिर कालिया नाग प्रकट होता है ।

चौथे अंक में कृष्ण कालिया का दमन करने यमुनाह्रद में कूद पड़ते हैं और उसे पराजित कर बाहर लाते हैं तथा उसके बतलाने पर कि वह गरुड़ के भय से यमुनाह्रद में कूद पड़ा था कृष्ण उससे गो ब्राह्मण की रक्षा का वचन लेते हैं और उसके सर पर पैर का चिह्न बनाकर यह कहकर उसे छोड़ देते हैं कि उस चिह्न को देखकर गरुड़ उस पर आक्रमण नहीं करेगा । उसी समय कंस के यहां से बलराम और कृष्ण का बुलावा आ जाता है ।

पांचवें अंक में कंस कुमारों के घात का कपटोपाय करता है। एक भाट कृष्ण के आगमन और उन पर छोड़े गये हाथी के मारे जाने और कुब्जा के कूबड़ को मिटाने जैसे लोकोत्तर कार्यों की सूचना देता है। कृष्ण मुष्टि प्रहार में राजा के नियुक्त भाटो को पछाड़ देते हैं और आकस्मिक आक्रमण द्वारा कंस को यमलोक भेजकर उग्रसेन को बन्दीगृह से छुड़ाकर उन्हें गद्दी पर बैठा देते हैं। नारद अप्सराओं और गन्धर्वों के साथ आकर कृष्ण की स्तुति करते हैं। इसके बाद भरत वाक्य के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

यह वीर रस प्रधान नाटक है। कृष्ण वीरता का अवतार हैं जो अनायास ही सारी विपत्तियों पर विजय प्राप्त कर लेते हैं और कभी हारते नहीं। वीर रस के अङ्ग रूप में भयानक और अद्‌भुत रसों की अभिव्यक्ति हुई है। शाप का चाण्डाल रूप और उसकी सहचरियां, कात्यायनी देवी का परिवार, अरिष्टासुर, कालिया नाग ये सब भयानक दृश्य उपस्थित करते हैं। इसी प्रकार कृष्ण की ज्योति से अन्धकार का नाश, मृत बालिका और उसका पुनरुज्जीवन, यमुना का दोनों ओर से मार्ग देना ये सब चमत्कारपूर्ण घटनायें हैं जो कृष्ण के विष्णु रूप को प्रमाणित करती हैं और अद्‌भुत रस की व्यञ्जक हैं। इस नाटक में शृंगार का अभाव है, केवल हल्लीस नृत्य में इसकी हल्की सी छाया दृष्टिगत होती है।

महाभारत पर आधारित नाटक

दूत वाक्य

(४) यह कृष्ण विषयक दूसरा नाटक है जिसमें महाभारत के एक कथानक का आश्रय लिया गया है। युद्ध टालने के अन्तिम प्रयास के रूप में युधिष्ठिर के दूत बनकर कृष्ण दुर्योधन की सभा में जाते हैं। कृष्ण आगमन की घोषणा की जाती है—दुर्योधन आदेश देता है कि कृष्ण के आने पर जो भी सभासद उनके स्वागत में खड़ा होगा उसे दण्ड दिया जाएगा। स्वयं उस ओर से विमुख रहने के लिए उस चित्रपटल को देखने लगता है जिसमें द्यूतक्रीडा के बाद केश पकड़कर खींची जाती हुई द्रौपदी की घटना दिखलाई गई है। कृष्ण अपनी महिमा का प्रभाव डालते हुए जैसे ही प्रवेश करते हैं सभी सभासद भरभराकर उठ खड़े होते हैं यहां तक कि दुर्योधन भी आसन से विचलित हो जाता है। कृष्ण सन्धि का प्रस्ताव रखते हैं, किन्तु दुर्योधन यह कहकर सन्धि का प्रस्ताव ठुकरा देता है कि पाण्डव लोग मेरे चाचा पाण्डु से पैदा नहीं हुए थे, अतः उन्हें उत्तराधिकार प्राप्त ही नहीं है। कृष्ण पुरानी बात की याद दिलाते हैं कि 'तुम्हारी विधवा दादी से तुम्हारे पिता का जन्म हुआ था उन्हें राज्य कैसे मिला?' वे महाविनाश का भय दिखलाकर दुर्योधन के

मन में कोमलता जागृत करना चाहते हैं; किन्तु दुर्योधन सन्धि के प्रस्ताव को पूर्णरूप से अस्वीकृत कर देता है तथा कृष्ण को बन्दी बनाने का आदेश देता है। कृष्ण अपना विश्वरूप प्रदर्शित करते हैं। उनके अनेक रूपों के दर्शन होने लगते हैं—कभी बहुत छोटे, कभी बहुत विशाल, कभी एक, कभी अनेक, कभी सारी सभा में कृष्ण ही कृष्ण ! इस सारी स्थिति से आतंक फैल जाता है। क्रोध में वे अपने भयानक अस्त्रों का आह्वान करते हैं जो मानवीकृत रूप में रंगमञ्च पर आते हैं और अन्त में विष्णु-वाहन गरुड़ भी उपस्थित होता है। धृतराष्ट्र की प्रार्थना कृष्ण को शान्त कर देती है।

यह एक एकाङ्की रूपक है। इसमें कवि ने अपने उपास्य कृष्ण की महिमा का अभूतपूर्व चित्रण किया है। इसका काव्य सौन्दर्य और कथोपकथन अत्यन्त उच्चकोटि का है। दुर्योधन तर्क द्वारा कृष्ण को पराजित करना चाहता है और कृष्ण दूनी उच्चकोटि की तर्कों के द्वारा उसे पराजित कर देते हैं। राजनीति विषयक सूक्तियां भी अत्यन्त प्रशस्त हैं। यह वीर रस प्रधान नाटक है साथ ही कृष्ण के चमत्कारपूर्ण अनेक स्वरूपों और अस्त्रों की मानव रूप में उपस्थिति में अद्भुत रस अभिव्यक्त होता है। आरभटी वृत्ति की प्रधानता होने से इसे व्यायोग कहा जा सकता है। पता नहीं कृष्ण के अनेक रूपों का अभिनय किस प्रकार किया जाता होगा। क्या यह सब दर्शकों की कल्पना पर छोड़ दिया जाता होगा ?

(४) मध्यम व्यायोग

इसका आधार महाभारत है यह इसी अर्थ में कहा जा सकता है कि इसमें पात्र महाभारत से लिये गये हैं। कथानक सर्वथा नवीन और काल्पनिक है। यह एकाङ्की रूपक है और जैसा कि इसके नाम से ही प्रकट होता है यह एक व्यायोग है। लाक्षागृह के षड्यन्त्र से छुटकारा पाकर जब पाण्डव जंगल में घूम रहे थे तब हिडिम्बा नामक राक्षसी के गर्भ से भीमसेन का पुत्र घटोत्कच उत्पन्न हुआ था। इन्हीं पात्रों को लेकर इस व्यायोग की रचना हुई है। पुत्रोत्पत्ति के बाद भीमसेन हिडिम्बा को छोड़कर चले गये थे। पुत्र पिता को पहिचानता भी नहीं है। हिडिम्बा वियोग वेदना से पीड़ित है। उसने सुन रक्खा है कि भीमसेन आसपस ही कहीं हैं। वह भीमसेन को अपने पास बुलाने के लिए एक युक्ति निकालती है—वह पुत्र से कहती है कि 'मुझे मनुष्य का मांस खाने की इच्छा है।' वह सोचती है कि मनुष्य मांस लाने के लिए यदि मेरा पुत्र किसी पुरुष का वध करने की चेष्टा करेगा तो उसकी रक्षा के लिए भीमसेन यहां अवश्य आ जायेंगे और इस प्रकार उनकी आकांक्षा अवश्य पूरी हो

जाएगी। पुत्र मनुष्य मांस की खोज में निकलता है, वह एक ब्राह्मण परिवार का पीछा करता है जिसमें पति पत्नी और पुत्र हैं। घटोत्कच एक को मारना चाहता है और उनके सामने प्रस्ताव रखता हैं कि यदि वे लोग स्वेच्छा से उसके साथ एक व्यक्ति को जाने दें तो वह और सबको छोड़ देगा। परस्पर विचार-विमर्श करने के बाद वे लोग मझले पुत्र को घटोत्कच के साथ जाने देने का निश्चय करते हैं। घटोत्कच मध्यम पुत्र को स्नानादि नित्यकर्म से निवृत्त होने का आदेश दे देता है। जब स्नान करके लौटने में उसे देर लगती है तब घटोत्कच मध्यम कहकर उसे पुकारता है। भीमसेन भी मध्यम ही हैं। अतः वे स्वयं को आहूत समझकर वहां उपस्थित हो जाते हैं। जब उन्हें सारी घटना का पता चलता है तब वे उस बालक के स्थान पर स्वयं जाने के लिए इस शर्त पर तैयार हो जाते हैं कि उन्हें शक्ति के साथ ले जाया जाय। इस पर पिता पुत्र में युद्ध प्रारम्भ हो जाता है। पुत्र पराजित हो जाता है, फिर भीमसेन साथ चले जाते हैं। हिडिम्बा पति को देखकर हर्षोत्फुल्ल हो जाती है। वह पुत्र को पिता का अभिनन्दन करने और युद्ध करने पर पश्चात्ताप करने का आदेश देती है। वह बतलाती है कि 'मैंने तुम्हें अपने पास बुलाने के लिए पुत्र को यह आदेश दिया था।' अन्त में भीम के कहने से वे सब वृद्ध ब्राह्मण के कुटुम्ब के साथ उनके निवास स्थान तक चले जाते हैं। यहां विष्णु स्तुति के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

नाटक का कथानक कल्पना प्रसूत है। घटोत्कच की मातृभक्ति का यह एक अच्छा उदाहरण है। हिडिम्बा की कोमल भावना भी दर्शनीय है। ब्राह्मण परिवार की दयनीय दशा दर्शकों में करुण भावना को जागृत करती है। घटोत्कच माया से ही शिलातल से जल धारा को प्रवाहित कर देता है। जिसमें अद्भुत रस की अनुभूति होती है। यह माया से ही भीमसेन को बांध लेता है, भीमसेन मन्त्रशक्ति से छुटकारा पा जाते हैं। इसमें श्लोकों की भरमार है। यह मातृपितृभक्ति, कोमल रतिभाव, करुणा, युद्धवीर, रौद्र, विस्मयादि भावों का अच्छा सम्मिश्रण है।

(६) दूतघटोत्कच

इस एकाङ्की नाटक की पृष्ठभूमि महाभारत की कथा है किन्तु कवि ने केवल पात्रों का उपादान महाभारत से किया है। कथानक कवि कल्पना प्रसूत है। युद्ध में अभिमन्यु मारा जा चुका है जिसमें कौरवों की अनैतिकता ही कारण है। कौरवदल हर्षोन्मत्त है। किन्तु धृतराष्ट्र, गांधारी और दुश्शला इस कार्य को अनुचित समझते है और भविष्य के लिए चिन्तित हैं। घटोत्कच कृष्ण का सन्देश लेकर कौरव शिविर में जाता है और उन सबको भावी

विपत्ति के प्रति आगाह करता है। दुर्योधन के साथ उसका क्रोधपूर्ण वार्तालाप चलता है। धृतराष्ट्र के प्रयत्न से दोनों शांत हो जाते हैं। अन्त में अर्जुन की प्रतिशोध लेने की प्रतिज्ञा की सूचना देकर घटोत्कच वापस आ जाता है और कृष्ण के आदेश के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

यह नाटक अभिमन्यु के अनैतिक वध की प्रतिक्रिया दिखलाने के लिए लिखा गया है। संवाद में वीर भाव की अभिव्यक्ति हुई है। आधा नाटक चिन्ता भाव की अभिव्यक्ति से व्याप्त है और कौरवों के हर्षभाव का भी इसमें अभिव्यञ्जन हुआ है। घटोत्कच के चरित्र का इसमें अच्छा विकास हुआ है। वीर भाव एवं निर्भीकता के साथ उसमें शालीनता भी पर्याप्त मात्रा में है। भावों की अभिव्यक्ति के कारण इसे कुछ लोगों ने व्यायोग कहा है। किन्तु इसमें करुण रस की पृष्ठभूमि भी कम नहीं है। अतः कुछ अन्य लोग इसे उत्सृष्टिकांक विधा में रखने के पक्षपाती हैं।

(७) कर्णभार

यह महाभारत पर आधारित एकाङ्की नाटक है। इसमें केवल पात्र का ही नहीं कथानक का भी आश्रय लिया गया है। किन्तु लेखक ने इसमें कल्पना से कुछ परिवर्तन भी किए हैं। कर्ण को सूर्य से कुण्डल और कवच मिले थे जो उनके शरीर के अभेद्य अंग बन गये थे और उनके होते हुए कर्ण अजेय बन गया था। महाभारत का युद्ध प्रारम्भ होने के पहले इन्द्र याचक बनकर आते हैं और कर्ण से कुण्डल कवच मांग लेते हैं। बदले में कर्ण इन्द्र से शक्ति मांगते हैं जो इन्द्र का अमोघ अस्त्र है। महाभारत के इसी कथानक को लेकर इस नाटक की रचना हुई हैं। किन्तु भास ने इस कथानक में यथेष्ट परिमार्जन कर कर्ण के चरित्र को अधिक उदार बना दिया है। महाभारत में युद्धारम्भ के बहुत पहले इन्द्र कुण्डल कवच मांगकर ले जाते हैं किन्तु इस नाटक में जब कर्ण युद्ध के लिए प्रस्थान कर चुके हैं तब इन्द्र कुण्डल कवच मांगने आते हैं। इससे कर्ण की दानशीलता का महत्त्व बढ़ जाता है क्योंकि जब कर्ण के सामने जीवन-मरण का प्रश्न उपस्थित हो चुका है उस समय वह दानशीलता को जीवन से भी बढ़कर महत्त्व देता है। महाभारत में इन्द्र कुण्डल कवच की याचना करते हैं किन्तु यहां कर्ण अनेक उच्चकोटि की वस्तुओं को देने का स्वयं प्रस्ताव करता है। वह अपना सर भी प्रदान करने को तैयार है, किन्तु इन्द्र सभी वस्तुओं को अस्वीकृत करता जाता है तब कर्ण सबसे मूल्यवान वस्तु कुण्डल कवच देने का प्रस्ताव करते हैं और इन्द्र इसे स्वीकार कर लेता है। इससे दान का महत्त्व अधिक बढ़ गया है। महाभारत में कर्ण स्वयं एवज में

इन्द्र की शक्ति मांगता है, किन्तु यहां पुनः लौट आकर इन्द्र ही शक्ति प्रदान करने का प्रस्ताव करता है। कर्ण उसे स्वीकार नहीं करता, क्योंकि वह दान का प्रतिदान अपनी महत्ता और दानशीलता के प्रतिकूल समझता है। किन्तु जब ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र ब्राह्मण का आदेश कहकर स्वीकार कर लेने का आग्रह करते हैं तब वह यह कहकर कि 'मैंने कभी ब्राह्मण का आदेश टाला नहीं है' उसे स्वीकार कर लेता है।

महाभारत के शल्य की अपेक्षा इस नाटक के शल्य का चरित्र भी अधिक उच्चकोटि का है। महाभारत का शल्य कर्ण का विरोधी है और कदम-कदम पर उसे हतोत्साहित कर पराजित करने में सहायक होता है। यह कपटपूर्ण व्यवहार है और उसके स्वीकृत किए हुए कर्तव्य के सर्वथा प्रतिकूल है। इसके प्रतिकूल नाटक में वह कर्ण का मित्र है और परशुराम से अस्त्र प्राप्ति और अवसर आने पर उन अस्त्रों के वैफल्य के शाप को सहानुभूतिपूर्वक सुनता है। केवल इतना ही नहीं अपितु वह कुण्डल कवच न देने का परामर्श भी देता है जो कर्ण का उपकारक है।

नाटक में कर्ण की कमजोरियां भी दिखलाई गई हैं जब वह युद्ध के लिए प्रस्थान कर चुका है अपशकुनों को देखकर उसका मन दोलायमान हो जाता हैं। उसे अपनी दशा पर तरस आता है। कहां वह कौन्तेय के स्थान पर राधेय बन गया और आज एक ओर उसके भाई हैं, जिन पर अवाञ्छनीय शस्त्र प्रहार इसलिए करना पड़ रहा है कि उसे मित्र का ऋण चुकाना है।

इस नाटक के नामकरण में भी एक चमत्कार है। कर्ण अपने सर्वाधिक रक्षक और शरीर के साथ उत्पन्न हुए कुण्डल कवच को ऐसे ही प्रदान कर देता है मानों वे उसके शरीर का भार हों।

भास के नाटकों में यह एक उच्चकोटि का नाटक है। अपने छोटे से कलेवर में एक साधारण सी घटना पर आधारित यह नाटक एक परिपूर्ण नाटक बन गया है। इसमें दृश्य और सूच्य का ठीक रूप में समावेश है। दानवीर इसका अङ्गीरस है ही; युद्धवीर की झलक भी इसके महत्त्व को बढ़ा देती है। कर्ण की करुण परिस्थिति करुण रस की सीमा तक भले ही न जाती हो विषाद सञ्चारी का परिपाक सुचारु रूप में सम्पन्न हुआ ही है। अलंकारों के प्रयोग में सन्तुलन और प्रभावशालिता है। सबसे बड़ी बात यह है कि इसमें भास की नाटचकला का विकास देखा जा सकता है। भाषा के प्रयोग में नाटचशास्त्रीय नियमों का पालन किया गया है। उच्चपात्रों की भाषा मागधी रखी गई है, शैली मार्मिक और कलात्मक है। निस्सन्देह यह एक अच्छी कलाकृति है।

(८) पञ्चरात्र

महाभारत पर आधारित अन्यतम नाटक है। पात्र तो महाभारत के ही हैं और उनकी चरित्रगत प्रवृत्तियां भी सुरक्षित रखी गई हैं किन्तु कवि ने कल्पना का आश्रय लेकर कथानक को सर्वथा नया रूप दे दिया है। वस्तुतः इसका केन्द्रीय भाव पांच दिनों के राज्य का दान—कवि कल्पना पर ही आधारित है और उसी आधार पर नाटक का नामकरण किया गया है। यह तीन अंकों का नाटक है।

दुर्योधन यज्ञ कर रहा है जिसकी समाप्ति पर वह शालीनता के साथ गुरुद्रोण से यज्ञ-दक्षिणा में वह कुछ भी मांगने की अभ्यर्थना करता है। द्रोण को संकोच है कि क्या उसका मांगा हुआ उसे मिलेगा भी या नहीं। जब दुर्योधन पवित्र जल छोड़कर वादा करता है कि द्रोण जो कुछ मांगेगा वह उसे मिलेगा तब द्रोणाचार्य पाण्डवों को उनका प्राप्य राज्य दे देने की याचना करता है। दुर्योधन अपने शुभचिन्तकों शकुनि और कर्ण से परामर्श कर राज्य दे देने का वादा इस शर्त पर करता है कि पांच दिनों के अन्दर (५ रात्रियां व्यतीत होने तक) पाण्डवों का पता चल जाना चाहिए। अब समस्या यह है कि पाण्डवों का पता कैसे चले क्योंकि वे कही अज्ञातवास में हैं। इसी समय दूत समाचार लाता है कि यज्ञ में विराट्राज उपस्थित नहीं हो सकेंगे क्योंकि वे सौ कीचकों के मारे जाने का शोक मना रहे हैं। यह समाचार सुनकर भीष्म पितामह को सन्देह हो जाता है कि कीचकों के वध के पीछे भीमसेन का हाथ अवश्य होगा। अतः भीष्म पितामह विराट् की गोशाला पर आक्रमण करने का परामर्श देते हैं।

दूसरे अंक में महल के गोशाला पर आक्रमण होता है। विराट् पुत्र उत्तर कुमार युद्ध में आता है और जीत लेता है; क्योंकि वह युद्ध बृहन्नला के रूप में अर्जुन ने लड़ा है जो कि कुमार उत्तर के सारथी बनकर आए थे। विजय की सूचना एक सन्देश वाहक देता है जो कि दूसरी बार यह सन्देश देता है कि भीमसेन अभिमन्यु को पकड़ कर और बन्दी बनाकर ला रहे हैं। पाण्डव लोग अपनी वास्तविकता प्रकट कर देते हैं। विराट गौरव का अनुभव करते हैं और विजय के उपलक्ष्य में पुत्री उत्तरा को अर्जुन को प्रदान करने का प्रस्ताव करते हैं अर्जुन जिसे पुत्र अभिमन्यु के लिए स्वीकार करता है।

तीसरे अंक में कौरवों में यह खबर फैल जाती है कि युद्ध में अभिमन्यु का अपहरण हो गया है। इससे भीष्म अनुमान लगा लेते हैं कि निश्चय ही

भीमसेन ने अभिमन्यु का अपहरण किया होगा। इस पर शकुनि इत्यादि विश्वास नहीं करते और भीष्म के कथन का मज़ाक उड़ाते हैं। इसी समय कुमार उत्तर आकर भीष्मादि को अभिमन्यु के विवाह की अनुमति के लिए भीष्मादि से प्रार्थना करता है। अब पाण्डव प्रकट हो गए और पांच रात्रियां बीत भी नहीं पाई थीं। हार कर दुर्योधन ने आधा राज्य देने के वचनपालन का आश्वासन दे दिया। भरत वाक्य के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

विद्वानों ने इस रचना को समवकार की कोटि में रखा है। कुछ लोगों ने इसे व्यायोग भी कहा है। भास के नाटक किसी भी विधा में पूर्ण रूप से नहीं बंधते; फिर भी कतिपय प्रमुख विशेषताओं को लेकर उनका कोई प्रकार निश्चित कर दिया जाता है। एक तो यह तीन अंकों का नाटक है और धार्मिक कृत्य (यज्ञ) को प्रमुख अधार मानकर चला है। अतः इसे समवकार कहना अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें दुर्योधन के चरित्र की उच्चता पर प्रकाश डाला गया है। वह गुरुभक्त है; यज्ञ करता है और गुरु को प्रतिश्रुत दक्षिणा पर आरूढ़ रहता है। द्रोणाचार्य का चरित्र भी स्तुत्य है। वह स्वार्थ की अपेक्षा न्याय और धर्म को अधिक महत्त्व देता है तथा अपने शिष्य के प्रति किए हुए अन्याय का जैसे भी हो प्रतिकार करना चाहता है। सामान्यतः भास की यह एक सफल कृति है।

(६) ऊरुभङ्गः

यह एकाङ्की नाटक है। इसका मुख्य विषय है भीम द्वारा दुर्योधन की जंघाओं का तोड़ा जाना। महासमर महाविनाश का दृश्य उपस्थित कर लगभग समाप्त हो चुका है। कौरव पक्ष में केवल दुर्योधन बच रहा है। भीम और दुर्योधन का गदायुद्ध होता है। दर्शकों में बलराम भी हैं। एक बार तो दुर्योधन के गदा प्रहार से भीम मूछित हो जाते हैं जिससे बलराम को अपने शिष्य के रणकौशल पर गर्व की अनुभूति होती है। फिर जब भीमसेन होश में आते हैं कृष्ण उन्हें कुछ संकेत देते हैं। तब भीमसेन दुर्योधन की जंघाओं पर प्रहार कर उन्हें तोड़ देते हैं। जंघाओं पर प्रहार धर्मयुद्ध के विरुद्ध है। इसे बलराम अपना अपमान समझते हैं और भीम को इस अधर्म का दण्ड देना चाहते हैं। कृष्ण पाण्डवों को लेकर वहां से चल देते हैं। बलराम उनका पीछा करना चाहते हैं। किन्तु दुर्योधन उन्हें मना करते हैं और कहते हैं कि हमारे सभी भाई मारे गए। अब जलाञ्जलि देने के लिए पांडवों को तो बचा ही रखना चाहिए। इसी समय धृतराष्ट्र और गान्धारी के साथ दुर्योधन का

परिवार आ जाता है। चारों ओर करुणा छा जाती है विशेष रूप से उस समय जब दुर्योधन का पुत्र गोद में बैठना चाहता है; किन्तु जंघायें टूटी होने के कारण दुर्योधन उसे गोद में नहीं बैठा सकता। शोक की स्थिति पराकाष्ठा पर पहुंच जाती है जब दुर्योधन की रानियां विलाप करती हैं और दुर्योधन को सबसे बड़ी वेदना इस बात की होती है कि आज उनकी रानियों को भी रोना पड़ रहा है।

इसी समय गुरुपुत्र अश्वत्थामा आ जाता है जो पाण्डवों से बदला लेने और दुर्योधन को कृष्ण सहित उन सबका विनाश करने का आश्वासन देता है। किन्तु दुर्योधन आश्चर्यजनक रूप में प्रकृतिस्थ है। उसका कहना है जब सारा वर्ग ही समाप्त हो गया और मैं भी उसी मार्ग पर जा रहा हूं तब आप भी अपना अस्त्र छोड़ दीजिए। जब अश्वत्थामा कहता है कि 'राजन मालूम पड़ता है भीमसेन ने गदायुद्ध में जांघों के साथ तुम्हारे स्वाभिमान को भी तोड़ दिया तब वह शान्ति के साथ कहता है कि जिसने सभा भवन में द्रौपदी की वह दशा की, जिसने अभिमन्यु जैसे पुत्र का युद्ध में वध किया, जिसने बारह वर्ष के लिए उन्हें मृगों के साथ रहने के लिए बाध्य किया उसके प्रति उनका यह कोई दर्प पूर्ण कार्य नहीं है। इस पर अश्वत्थामा रात्रि युद्ध में सभी पाण्डवों के नाश की प्रतिज्ञा करता है और बिना अभिषेक के पुत्र दुर्जय को राजा घोषित कर देता है। दुर्योधन को पूर्वज दिखलाई पड़ने लगते हैं और वह स्वर्ग सिधार जाता है। धृतराष्ट्र भी निर्विण्ण होकर वन को चले जाते हैं। अश्वत्थामा पाण्डुपुत्रों को प्रसुप्त अवस्था में मार डालने के उद्देश्य से प्रस्थान करता है। यहीं पर भरत वाक्य के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

यह एक अत्यन्त प्रशस्त रूपक है। करुण और वीर रसों का इसमें सफल समन्वय दृष्टिगत होता है। यह तो स्पष्ट ही है कि कवि भरत द्वारा लगाए गए प्रतिबन्धों को मानकर नहीं चलता। इसमें रंगमंच पर मृत्यु दिखलाई गई है और यह नाटक त्रासदी का रूप ले लेता है; किन्तु पूर्ण रूप से इसे त्रासदी नहीं कहा जा सकता। करुणापूर्ण परिस्थिति में भी दर्शकों के मन में त्रास उत्पन्न नहीं होता। दुर्योधन की उदात्त भावनायें अन्त में प्रस्फुटित होती हैं और वह बलराम तथा अश्वत्थामा दोनों को अब आगे युद्ध करने से रोकता है। उसे उन अन्यायों का ज्ञान है जो उसने पाण्डवों के साथ किए हैं और वह समझता है कि पाण्डवों ने उसके साथ जो कुछ किया वह उचित ही था।

लोककथा पर आधारित नाटक

(१०) प्रतिज्ञायौगन्धरायण

यह चार अंकों का रूपक है। प्रस्तावना में इसे प्रकरण कहा गया है। वत्सराज उदयन का चरित्र अत्यन्त प्रसिद्ध था। कालिदास ने लिखा है कि उज्जैन में जो यात्री आया करते थे उन्हें नगर दर्शक उदयन कथा से सम्बन्ध रखने वाले स्थानों का परिचय दिया करते थे। उदयन कथा को लेकर अनेक पुस्तकें लिखी गईं जिनमें सुवन्धु की वासवदत्ता, सोमदेव का कथा सरित्सागर क्षेमेन्द्र की वृहत्कथामञ्जरी इत्यादि प्रसिद्ध हैं। भास के उदयन विषयक दो नाटक प्राप्त हुए हैं प्रतिज्ञायौगग्धरायण और स्वप्नवासवदत्तम्। प्रतिज्ञा यौगन्धरायण में प्राक्तन कथा है और स्वप्नवासवदत्तम् में पश्चात्तन।

उज्जैन का राजा प्रद्योत अपनी विशाल सेना के आधार पर महासेन नाम से प्रसिद्ध हो गया है। उसकी प्राप्त यौवना वासवदत्ता नामक एक पुत्री है। राजा उसके विवाह के लिए चिन्तित हैं। अनेक राजाओं के सन्देश प्राप्त हो रहे हैं। उधर वत्सदेश का राजा उदयन अपने सौन्दर्य और वीणावादन के लिए प्रसिद्ध था। उसे शिकार का भी वहुत शौक था। प्रद्योत का विचार अपनी पुत्री का विवाह उदयन से करने का है। अत: एक योजना वनाई जाती है वेणु वन में नीले रंग का हाथी वनाकर खड़ा कर दिया जाता है। उदयन हाथी का शिकार करने के लिए वेणु वन में जाने का विचार करता है। उसका मन्त्री यौगन्धरायण सालक को रक्षःसूत्र देकर उदयन ले पहले ही वहां पहुंच जाने का निर्देश देता है। किन्तु उदयन पहले ही पहुंच जाता है और जव वह वीणा वादन के द्वारा कृत्रिम हाथी को सच्चा समझ कर पकड़ने की चेष्टा कर रहा है और उसके सैनिक एक कृत्रिम शेर से राजा के वचाव के लिए चले जाते हैं राजा हाथी के निकट तक पहुंच जाता है। उसी समय उस कृत्रिम हाथी के पेट से निकल कर सैनिक राजा को बन्दी बना लेते हैं और प्रद्योत पुत्री को वीणा सिखाने के लिए राजा को महल में रख लेता है। वीणा वादन की शिक्षा देने के प्रसंग में राजा और वांसवदत्ता का परस्पर प्रम हो जाता है। जब मन्त्री यौगन्धरायण राजा के वन्दी बना लिए जाने का समाचार सुनता है तब वह राजा को मुक्त करा लेने की प्रतिज्ञा करता है।

वत्सराज के तीनों मन्त्री वेष बदल कर उज्जैन में रहने के लिए चले जाते हैं। यौगन्धरायण उन्मत्तक का वेष धारण करता है वसन्तक डिण्डिक का और रुमण्वान श्रमण का। किन्तु उन्हें पता चलता है कि वत्सराज कामासक्त हो गया है और वह वासवदत्ता को छोड़कर ज़ाना नहीं चाहता। यौगन्ध-

रायण दूसरी बार घोषवती वीणा, नला गिरि हाथी और वासवदत्ता के साथ राजा को निकाल ले जाने की प्रतिज्ञा करता है।

यौगन्धरायण नलागिरि हाथी को चतुराई से उन्मत्त कर देता है; अतः उसको वश में करने के लिए उदयन को मुक्त कर दिया जाता है। इस अवसर का लाभ उठाकर वासवदत्ता के साथ उदयन भद्रावती नामक हथिनी पर सवार होकर भाग जाता है। किन्तु संघर्ष में यौगन्धरायण बन्दी बना लिया जाता है। उसे शस्त्रागार में ठहराया जाता है। अन्त में राजा की ओर से एक भृङ्गार (स्वर्णपात्र) भेंट में दिया जाता है और उसे बतलाया जाता है कि महासेन ने उदयन और वासवदत्ता के विवाह को स्वीकृति प्रदान कर दी है तथा वैवाहिक विधि चित्रों द्वारा पूरी की गई है। इसके बाद भरत वाक्य के साथ नाटक समाप्त होता है।

यह नाटक भास की सफलतम कृतियों में एक है। चरित्र चित्रण, कथानक विन्यास, संवाद, प्रभावान्विति, कलात्मकता, व्यापार में कार्यान्विति इत्यादि सभी दृष्टियों से यह नाटक सफल कहा जा सकता है। मनोविकारों के याथातथ्य चित्रण में कवि को पूरी सफलता मिली है।

(११) स्वप्नवासवदत्तम्

भास का उदयन विषयक यह दूसरा नाटक है जो भास की कृतियों में सर्वोत्तम माना जाता है। इसका कथानक प्रतिज्ञा यौगन्धरायण के कथानक के बाद की घटना है। उदयन का वासवदत्ता से विवाह हो चुका है; यौगन्धरायण सम्मानित होकर उज्जैन से वापस आ चुके हैं। किसी भविष्य वक्ता ने भविष्यवाणी की थी कि राजा पर आपत्ति आएगी और राजा का विवाह मगध राजकुमारी से हो जाएगा। तब मगध के सहयोग से राजा की विपत्ति टल जाएगी। दैववश आरुणि के नियन्त्रण में शत्रु सेना उठ खड़ी होती है और दैवज्ञ ने जिस विपत्ति के आने की बात कही थी वह आ ही जाती है। अब उस विपत्ति को दूर करने के लिए मगध नरेश की सहायता अपेक्षित है। किन्तु यदि दैवज्ञ की दूसरी भविष्यवाणी सफल हो जाए और मगध की राजकुमारी पद्मावती का विवाह उदयन से हो जाए तो मगध नरेश की सहायता आसानी से मिल सकती है। पद्मावती से विवाह करने में सबसे बड़ी बाधा वासवदत्ता है जिनसे राजा प्राणों से अधिक प्रेम करते हैं। यौगन्धरायण इत्यादि मन्त्रीगण विचार विमर्श कर वासवदत्ता को विश्वास में लेते हैं और आई हुई विपत्ति को दूर करने के लिए कुछ समय तक अज्ञातवास करने के निमित्त उस को राजी कर लेते हैं। राजा शिकार खेलने लावाणक नगर को जाते हैं; साथ में वासवदत्ता भी है। वासवदत्ता को खेमे में छोड़कर

राजा शिकार खेलते चले जाते हैं। तब यौगन्धरायण वासवदत्ता को निकाल ले जाते हैं; खेमे में आग लगा दी जाती है और प्रसिद्ध कर दिया जाता है कि उस आग में वासवदत्ता और यौगन्धरायण जल मरे हैं। जब राजा लौटकर आते हैं तब वासवदत्ता के वियोग में उसी आग में खूद कर आत्म हत्या करने के लिए तैयार हो जाते हैं। मन्त्री लोग बड़ी कठिनाई से राजा की जीवन-रक्षा करते हैं। राजा रात दिन वासवदत्ता की वियोग व्यथा में सारे कर्तव्य छोड़ बैठते हैं।

इधर यौगन्धरायण वासवदत्ता को लेकर उस वन में पहुंचते है जहां मगध नरेश दर्शक की माता आश्रम में साधना में निरत है। संयोगवश उसी समय राजा दर्शक की बहन पद्मावती अपनी माता के दर्शन करने उसी वन में आती है और घोषणा करती है कि तपस्वियों में जिसको जिस बात की कमी हो वह मांग ले उसे सब कुछ दिया जाएगा। यौगन्धरायण को अवसर मिल जाता है और वह वासवदत्ता को अपनी प्रोषितपतिका बहन बताकर पद्मावती के पास कुछ दिनों के लिए धरोहर के रूप में रख देता है।

दोनों प्रेमपूर्वक रहने लगती हैं। पद्मावती से राजा का विवाह हो जाता है। कई बार अवसर आता है जब वास्तविकता प्रकट हो जाने वाली होती है किन्तु विवेक के साथ वह अवसर टलता है। किन्तु एक बार विचित्र स्थिति उत्पन्न हो जाती है—पद्मावती बीमार है यह सुनकर राजा समुद्र-गृहक में उसे देखने जाता है; किन्तु वहां पद्मावती नहीं है। खाली चारपाई पर राजा सोने लगता है। तभी पद्मावती को देखने वासवदत्ता आ जाती है वह राजा को पद्मावती समझकर उसके पास लेट जाती है। राजा स्वप्न की बड़बड़ाहट में वासवदत्ता को मनाने की चेष्टा करता है और वासवदत्ता जागृत अवस्था में उसे उत्तर देती है। कुछ देर उत्तर प्रत्युत्तर चलता है किन्तु इस भय से कि कहीं कोई देख न ले वासवदत्ता जाने लगती है। वह राजा की लटकती बांह को चारपाई पर रख देती हैं; राजा जाग जाता है और वासवदत्ता को पकड़ने दौड़ता है। वासवदत्ता शीघ्रता के साथ भाग जाती है। राजा को वासवदत्ता के जीवित होने का शक हो जाता है। (स्वप्न में वासवदत्ता को देखने की घटना के आधार पर ही इस नाटक का नाम स्वप्नवासवदत्तम् पड़ा है।)

मगध की सहायता से शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर ली जाती है और राजा का शासन यथावत् चलने लगता है। उधर वासवदत्ता की धाय विवाह में प्रयुक्त चित्र लेकर उज्जैन से कौशाम्बी आती है। चित्र को देखकर

पद्मावती वासवदत्ता को पहचान लेती है। सभी प्रकट हो जाते हैं और भरत-वाक्य के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

भास की कलाकृतियों में ही नहीं सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में यह रचना अत्यन्त सम्मान की दृष्टि से देखी जाती है। यहां भास की कला का पूरा विकास देखा जा सकता है। इसीलिए आलोचकों ने कहा है कि वासवदत्ता की रसमयता को आग नहीं जला सकी।

कल्पना प्रसूत नाटक

(१२) अविमारकम्

यह ६ अंकों का एक काल्पनिक नाटक है। दीर्घतपस ऋषि के शाप से सौवीरराज का पुत्र विष्णुसेन एक वर्ष के लिये सपरिवार चाण्डाल बन जाता है। वह गुप्तरूप से कुन्तिभोज के नगर में रहने लगता है। वहां वह अविमारक असुर का वध करता है। अतः उसका नाम अविमारक पड़ जाता है। एक दिन वह अपनी भाञ्जी कुरंगी की एक बिगड़े हाथी से रक्षा करता है। जब राजा यह समाचार सुनता है तब अविमारक से ही पुत्री कुरंगी का विवाह कर देना चाहता है। किन्तु अविमारक इतना निम्नवंश का है कि यह सम्बन्ध सम्भव नहीं हो पाता। उधर कुरंगी और अविमारक एक दूसरे के वियोग में तड़पते हैं। उनका प्रेम सीमातीत हो गया है। एक बार धात्री की सहायता से अविमारक कुरंगी के कक्ष में पहुंच जाता है किन्तु पकड़ लिया जाता है और उसकी आकांक्षा पूरी नहीं हो पाती। वह आग में जलकर आत्महत्या करना चाहता है किन्तु बच जाता है। तब पर्वत से गिर कर आत्महत्या की चेष्टा करता है, किन्तु वहीं उसे एक विद्याधर मिल जाता है। वह उसे एक अंगूठी देता है जो जादुई है और उससे वह गुप्त रूप से कुरंगी के कक्ष में पहुंचकर प्रत्येक रात में उसका उपभोग कर सकता है। इस कार्य में उसे विदूषक की सहायता भी मिल जाती है। इसके पहले कुरंगी भी आत्म हत्या की असफल चेष्टा कर चुकी थी। जब राजा कुन्तिभोज को इनके प्रच्छन्न विहार की सूचना मिलती है वह परेशान हो जाता है और कुरंगी का विवाह अपने दूसरे भाञ्जे जयवर्मा से कर देने का विचार करता है। इसी समय नारद आ जाते हैं और बतलाते हैं कि विष्णुसेन वस्तुतः काशी नरेश की पत्नी सुदर्शना में अग्नि के द्वारा उत्पन्न किया हुआ पुत्र है और उसका केवल पालन पोषण सौवीर राज्य में हुआ है। वास्तविकता जान कर राजा कुरंगी का विवाह विष्णुसेन (अविमारक) के साथ कर देता है। यहां नाटक समाप्त हो जाता है।

यह एक शृङ्गार प्रधान नाटक है। भावना की तीव्रता को व्यक्त करने में भास को अच्छी सफलता मिली है। घटनाओं और कार्य व्यापारों की क्षिप्रता और आवृत्ति जो भास की शैली की विशेषता है इस नाटक में भी देखी जा सकती है। विदूषक के चित्रण में कवि ने अधिक निपुणता दिखलाई है। वह स्वामिभक्त सेवक की भूमिका भली-भांति निभाता है। स्वयं नायक भी उसकी प्रशंसा करता है। पात्रों की भरमार इसमें भी हैं। भाषा विषयानुकूल है और चरित्र-चित्रण सशक्त। संवाद रोचकता लाने वाले हैं। कल्पित कथा पर आधारित होने के कारण इसे प्रकरण विधा के अन्तर्गत रखा जा सकता है। नाटकीयता, कथोपकथन, स्वाभाविकता, रसनिष्पत्ति और कलात्मकता में यह रचना कालिदास की कृतियों से होड़ लेती है। प्रकृति चित्रण एवं सूक्तियों की दृष्टि से भी कवि को अभूततूर्व सफलता मिली है।

(१३) चारुदत्त

यह एक अपूर्ण नाटक है। इसके केवल चार अंक उपलब्ध होते हैं जिनके साथ न प्रस्तावना है न भरत वाक्य। कहा नहीं जा सकता यह कृति भास के अन्तिम जीवन की रचना है और भास इसे पूरा नहीं कर सके थे अथवा नाटक का अधिकांश भाग उच्छिन्न हो गया है। कीथ के अनुसार इसमें दो मत नहीं हो सकते कि स्वप्नवासवदत्तम् भास की सर्वोत्तम कृति है; किन्तु यह धारणा इसीलिए सत्य है कि चारुदत्त पूरा उपलब्ध नहीं होता। इस नाटक का गौरव इसी बात से सिद्ध है कि यह प्रसिद्ध नाटक मृच्छकटिक की आधार भूमि तैयार करता है। चारुदत्त के जो अंक उपलब्ध हैं उनके कथानक का पूरा आधार मृच्छकटिक में ग्रहण किया गया है। हो सकता है शेष मृच्छकटिक भी चारुदत्त के अनुपलब्ध भाग पर आधारित हो।

चारुदत्त एक सार्थवाह है जो दानशीलता के कारण दरिद्र हो गया है। वह एक वेश्या वासवदत्ता के प्रेमपाश में फंस जाता है। एक बार जब वासवदत्ता का पीछा राजा का साला संस्थान कर रहा होता है वासवदत्ता चारुदत्त के यहां शरण लेती है और जाते समय अपने आभूषण चारुदत्त के पास छोड़ देती है। रात में सज्जलक नामक चोर उन आभूषणों को चुरा ले जाता है क्योंकि उसे अपनी प्रेमिका को दास्य कर्म से छुड़ाने के लिए धन चाहिए। उसकी प्रेमिका वसन्तसेना की दासी है। प्रातःकाल जब चारुदत्त को पता चलता है कि उसके घर से जेवर चोरी हो गए हैं तब वह अपनी पत्नी की रत्नावली विदूषक के हाथ वसन्तसेना के पास भेज देता है। इसमें चारुदत्त की पत्नी की उदारता भी सम्मिलित है जो निस्सङ्कोच भाव से रत्नावली का

उत्सर्ग कर देती है। वसन्तसेना को चोरी का पता चल चुका है किन्तु चारुदत्त को पुनः मिलने की आशा से वह रत्नावली को स्वीकार कर लेती है। वसन्तसेना सज्जलक की प्रेमिका को मुक्त कर देती है। वह उदारतापूर्वक चारुदत्त के एक पुराने सेवक का उसके महाजन से उद्धार भी कराती है और बाद में चारुदत्त के पास चली जाती है। यहीं पर नाटक की समाप्ति हो जाती है। समाप्ति पर प्रतीत होता रहता है कि चोरी का आरोप चारुदत्त पर लग रहा है और वसन्तसेना अभी संकटापन्न अवस्था में है यदि कभी इस पूरे नाटक का अनुसन्धान किया जा सका तो साहित्य जगत् का यह बहुत बड़ा उपकार होगा। अभिनवगुप्त ने दरिद्रचारुदत्त का जो उल्लेख किया है वह सम्भवतः यही रचना है।

कतिपय अन्य नाटक

उक्त १३ नाटकों के अतिरिक्त तीन और नाटकों का उल्लेख भास के नाम पर किया जाता है जिनकी शैली न्यूनाधिक रूप में भास से मिलती है। ये नाटक हैं (१) **दमक**—यह कर्णभार का पूरक प्रतीत होता है। इसमें कर्ण द्वारा परशुराम से अस्त्रविद्या प्राप्त करने का कथानक गृहीत किया गया है। दमक विदूषक है जो अस्त्र विद्या सीखने के अवसर पर कर्ण के साथ था। इसके पद्य अन्यत्र भी पाए जाते हैं। इसका प्रकाशन लाहौर से हो गया था। (२) **त्रैविक्रम** इसमें वामक द्वारा तीन कदमों में तीन लोकों को नाप लेने का वर्णन है। यह संवाद नाटक है और नान्दी, सूत्रधार, नटी इत्यादि शब्दों के प्रयोग से इसकी नाटकरूपता का परिचय मिलता है। इसके कुछ संकेत प्रकट करते हैं कि सूत्रधार और नटी पर्दे पर चित्रों को देखकर उनका वर्णन करते हैं। चित्रपटों पर चित्र आते जाते हैं; नटी पूँछती जाती है और सूत्रधार उत्तर देता जाता है। कुछ लोग इसे भास की रचना न मानकर किसी पल्लव नरेश की रचना मानते है जो महेन्द्रविक्रम या नरसिंह विष्णु में कोई हो सकता है। मद्रास पुस्तकालय में सुरक्षित चर्चन नामक शकुन्तला की टीका में भास के अन्य नाटकों के साथ इस नाटक की भी समीक्षा की गई है। (३) सन् १९४१ में यज्ञफल नामक एक और नाटक प्रकाशित हुआ जिसे भाषा शैली के आधार पर कुछ लोगों ने भासकृत सिद्ध किया। इसमें बालकाण्ड की कथा है। यज्ञफल से ही दशरथ को पुत्र प्राप्ति, विश्वामित्र को ब्रह्मर्षि पद प्राप्ति और राम का सीता से विवाह, ये सब कार्य सम्पन्न हुए। इसीलिए इस नाटक का नामकरण यज्ञफल रखा गया। इन तीनों नाटकों की प्रामाणिकता सन्दिग्ध है।

भास—एक नाटककार

नाटचकारों में भास को अनन्यसामान्य स्थान प्राप्त है इस विषय में दो मत नहीं हो सकते। इन्होंने मूर्धन्य नाटककार कालिदास के लिए मार्ग प्रशस्त किया और कालिदास ने इनका गौरव के साथ स्मरण किया। इनके नाटकों की सबसे बड़ी विशेषता है इनका विस्तृत परिवेश। रामायण, महाभारत, लोककथा इत्यादि कनेक क्षेत्रों से इन्होंने नाटकों के लिए विषयवस्तु का उपादान किया है किन्तु आवद्ध किसी में नहीं रहे और किसी मूलभूत चरित्र की विशेषता का अपलाप भी नहीं किया। इन्होंने जीवन के प्रायः प्रत्येक क्षेत्र से पात्रों का उपादान किया है। इनके नाटकों में रानियां है, राजकुमारियां हैं, राक्षसियां हैं; राजा, राजकुमार, अमात्य तो हैं हीं वीर, विद्वान्, मल्ल, धात्री इत्यादि मध्यश्रेणी के पात्र हैं और चोर जुआरी, दुष्ट और वेश्यायें भी हैं तथा कलिया नाग, गरुड़, जटायु इत्यादि पशु भी हैं। इनकी एक बहुत बड़ी विशेषता है इनकी कल्पनाशक्ति जिससे प्रतिष्ठित कथानक का उपादान कर ये उसे सर्वथा स्पृहणीय रूप दे देते हैं। इन्होंने किसी पात्र को गिराया नहीं है किन्तु गिरे पात्रों के प्रति भी इन्होंने पूरा न्याय किया है। कैकेयी, दुर्योधन इत्यादि इसके निदर्शन हैं। कथानकों और पात्रों की विविधता की भांति इनके नाटच प्रकार भी अनेक रूप हैं। एकाङ्की, तथा ३, ४, ५, ६, ७ अंकों वाले बहुविध नाटक हैं जिनमें व्यायोग है उत्सृष्टिकाङ्क है, प्रकरण है और भाषा प्रसाद गुण पूर्ण एवं सर्वजन संवेद्य है जिसमें छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग किया गया है। यह सरल एवं भावों के अभिव्यञ्जन में सक्षम है। यह भाषा अभिजात एवं कलात्मक है किन्तु कृत्रिम नहीं है। समासों का प्रयोग या तो नहीं किया गया या बहुत छोटे समासों का प्रयोग हुआ है। कथोपकथन वस्तु के विकास और भाव की अभिव्यक्ति के अनुकूल है। वर्ण्य विषयों को सूक्ष्मता के साथ प्रस्तुत किया गया है रसपेशलता, मनोरंजकता, गम्भीरता, औदात्य, माधुर्य भावों की सम्यक् अभिव्यक्ति, पात्रानुकूल भाषा इनके नाटकों की कतिपय विशेषताएं है। इनकी शैली में कृत्रिमता नहीं स्वाभाविकता है। हल्के स्पर्श से दर्शक और पाठक आनन्द की मधुमती भूमिका में पहुंच जाता है। परिस्थितियों के वर्णन में ये सिद्धहस्त हैं। सन्ध्या, रात्रि, मध्याह्न इत्यादि का वर्णन अवसरानुकूल किया गया है। प्राकृतिक वर्णन में बिम्बग्राही चित्रों की दृष्टि से ये कालिदास के निकट पहुंच जाते हैं। अलंकारों के प्रयोग में भी सिद्धहस्त हैं। इनके उद्धरण शास्त्रीय ग्रन्थों में अपनी इसी स्वाभाविकता के कारण स्थान पा सके हैं।

भास को कठोर रसों के लिखने में जो महारत प्राप्त हुई है वही कोमल रसों में भी दृष्टिगत होती है। वीर, भयानक, रौद्र के साथ करुण का समावेश भी बहुत ही सफलता के साथ किया गया है। इसके साथ ही रसराज शृङ्गार को भी उचित अवसर प्राप्त हुआ है। संभोग और विप्रलम्भ दोनों के अभिव्यञ्जन में कवि को सफलता मिली है। भास प्रेम के कवि हैं; किन्तु यह प्रेम दाम्पत्य प्रणय तक ही सीमित नहीं है। भाई-भाई, पिता-पुत्र, मित्र, गुरु शिष्य इत्यादि प्रेम के अनेक क्षेत्रों में इनकी वाणी सफलतापूर्वक मुखर हुई है। आदर्श वाक्यों और सुधारक उपदेशों तथा सूक्तियों की भी इनमें कमी नहीं है।

यह सच है कि इन नाटकों में संकलनत्रय के निर्वाह पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। किन्तु यह कमी तो प्रायः सभी भारतीय नाटकों में पाई जाती जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि भास मूर्धन्य नाटककारों में एक है तथा इनके नाटकों को सर्वाङ्गीण सफलता प्राप्त हुई है।

भास का देशकाल

भास के समय में वर्णाश्रम व्यवस्था अपने पूरे यौवन पर थी। समाज में ब्राह्मणों का स्थान सर्वोपरि था राजा लोग भी आसन से उठकर ब्राह्मणों का सम्मान करते थे और जन समाज तो उनकी कही हुई बात को पूरा करने चेष्टा करता था। सामान्यतः ब्राह्मण सदाचारी थे किन्तु उनमें कुछ सज्जलक जैसे लोग चोरी जैसे कुकृत्य भी करते थे। दूसरी ओर चाण्डाल जैसे पात्र-बहिष्कृत लोग भी थे जिन्हें समाज के साथ रहने का अधिकार भी नहीं था। आश्रम व्यवस्था का भी कड़ाई के साथ पालन किया जाता था विवाह के अनेक प्रकार विद्यमान थे। जहां उदयन का पद्मावती से विवाह सामान्य विधि से होता है वहां वासवदत्ता को भगाकर लाया जाता है जो राक्षस विवाह की श्रेणी में आता है। कभी-कभी पत्नी प्राप्त करने के लिए पैसा भी देना पड़ता था। प्रेम विवाह भी प्रचलित थे और लड़कों के माता पिता कन्याओं की अभ्यर्थना भी करते थे। पुरुषों के लिए बहुविवाह वर्जित नहीं था वानप्रस्थ आश्रम व्यवस्था प्रचलित थी जिसमें स्त्रियों को भी वानप्रस्थ में साथ में रहने का अधिकार था और अन्तिम सन्यास आश्रम के लोग परिव्राजक का जीवन विताते थे। पर्दा-प्रथा प्रचलित थी किन्तु लड़के-लड़कियों के परस्पर मिलने में रुकावट नहीं थी। लोगों में कला के प्रति अनुराग था और उसकी शिक्षा की व्यवस्था की जाती थी। गेंद का खेल लड़कियों में प्रचलित था। किन्तु विवाह के बाद वे इस मनोरंजन से वञ्चित कर दी जाती थीं।

लोगों का चरित्रबल बहुत ऊंचा था। कही हुई बात का पूर्ण रूप से पालन करना वे अपना कर्तव्य समझते थे। किन्तु साथ ही द्यूत, चोरी, वेश्यावृत्ति, इत्यादि दुर्गुणों की भी कमी नहीं थी। दासप्रथा प्रचलित थी और दासों का क्रय-विक्रय भी होता था। वसन्तसेना की मदनिका खरीदी हुई ही थी।

वास्तुकला उच्चकोटि की थी। राजमहल विशाल थे जिनके अन्दर उद्यान, सरोवर इत्यादि आमोद-प्रमोद के साधन उपलब्ध रहते थे। मन्दिरों, मूर्तियों की प्रचुरता थी। भास के नाटकों से तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था का ठीक रूप में अध्ययन किया जा सकता है। भास ने उत्तरभारत का चित्रण विशेष रूप से किया है। सम्भवतः उन्हें दक्षिण भारत का ज्ञान अधिक नहीं था।

अनुबन्ध-३

शास्त्रीय-साहित्य[1]

भारतीय दृष्टिकोण से समस्त ज्ञान विज्ञान, रीति नीति, आचार व्यवहार का एकमात्र आधार वेद ही है। आंशिक रूप में इस मान्यता में कुछ सच्चाई भी है। इसी मान्यता के आधार पर वैज्ञानिक (शास्त्रीय) साहित्य का उद्‌गम भी वेद को ही स्वीकार किया जाता है।

विचारकों के सामने सर्वप्रथम वेद की रक्षा का प्रश्न था, शब्दों का ठीक रूप में उच्चारण, गायन में एकरूपता, शब्दों के स्वरूप और उनके अर्थ का यथासम्भव ठीक रूप में अनुसन्धान जिसके लिये शब्दों के मूल अर्थ के साथ ही शब्दों की रचनाप्रक्रिया इन सभी तत्त्वों में एक रूपता लाने और परिशीलकों को सहायता पहुंचाने के उद्देश्य से पृथक्-पृथक् विचार प्रारम्भ हुये और परिणाम स्वरूप वर्णोच्चारण 'शिक्षा' संगीत शास्त्र, कोश, निरुक्त, व्याकरण इत्यादि अनेक शास्त्रों की दिशा में ग्रन्थ रचना का सूत्रपात हुआ।

कुछ आगे चलकर यजुर्वेद का युग आया जिसमें ऋचाओं का विनियोजन यज्ञ विधियों के लिये किया जाने लगा। तब यज्ञों के लिये उपयुक्त समय के निर्धारण की आवश्यकता पड़ी और उसके लिये आकाशीय ग्रहों की स्थिति का अध्ययन आवश्यक हो गया जिसके लिये गणित और ज्योतिष पर विचार करना प्रारम्भ हुआ। गणित की जटिल प्रक्रिया में प्रायः उपयुक्त उत्तर नहीं मिलता था। अतः संक्षिप्तीकरण की प्रक्रिया में बीजगणित तथा यज्ञों की वेदी के बनाने में नापजोख की उपयुक्तता पर विचार करने के लिये रेखागणित का प्रवर्तन हुआ।

अथर्ववेद में मोहन, आकर्षण, वशींकरण मारण इत्यादि अभिचार मन्त्र आये हैं और वनस्पतियों की रोग निवारक शक्ति का वर्णन किया गया है जिससे तन्त्रशास्त्र और आयुर्वेद का उत्थान हुआ। कल्प साहित्य से धर्मशास्त्र

---

१. मैक्डानूल ने शास्त्रीय साहित्य पर संक्षिप्त टिप्पणियां दी हैं। ग्रन्थ-कलेवर की पूर्ति के लिये उन पर कुछ अधिक विस्तार से प्रकाश डाला जा रहा है।

और उससे नीति, राजनीति, और विधि साहित्य का जन्म हुआ । आयुर्वेद के साथ ही रसायन शास्त्र, भौतिक शास्त्र, शरीर विज्ञान सत्ता में आये और प्रकृति के तत्त्वों की अन्तर्निहित शक्ति का अध्ययन करने कारण तथा अभिचारादि अनेक रहस्यों की ओर प्रवृत्ति होने से यन्त्रादि विज्ञान सत्ता में आये । इस प्रकार इन सभी शास्त्रों का उदय वैदिक काल में ही हो गया था ।

वेद के छात्र को इन सभी तत्त्वों का थोड़ा बहुत ज्ञान प्राप्त करना पड़ता था । जब इनका कुछ विस्तार हो गया और सभी का ज्ञान प्राप्त करना व्यक्तिगत मानव के लिये असम्भव प्रतीत होने लगा तब सभी शास्त्रों का पृथक्-पृथक् अध्ययन चल पड़ा । जिस प्रकार वैदिक साहित्य से पृथक् होकर लौकिक साहित्य सत्ता में आया उसी प्रकार विज्ञान की ये धारायें भी वेदाध्ययन से सर्वथा पृथग्भूत होकर स्वतन्त्र रूप से विकसित होने लगीं । इनके साथ ही काव्यशास्त्र, नाटच शास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र इत्यादि भी सत्ता में आ गये ।

सर्वप्रथम शास्त्रीय विचारधारा के लिये सूत्र वार्तिका और भाष्य शैली काम में लाई गई । विज्ञानों और विचारधाराओं का विकास राजाओं और श्रीमानों के संरक्षण में वाद-विवादों, सभाओं और विचार गोष्ठियों में होने लगा । इस प्रकार वेदाध्ययन को लक्ष्य बनाकर प्रारम्भ हुआ ज्ञान विज्ञान स्वतन्त्र रूप में विकसित हो चला । व्याकरण का ज्ञान सभी का मूल था—"व्याकरण मूलत्वात् सर्वविद्यानाम्" क्योंकि उसके बिना किसी भी शास्त्र का अध्ययन किया ही नहीं जा सकता था । संस्कृत व्याकरण सामान्य व्याकरण (Grammar) नहीं है अपितु भाषा का वैज्ञानिक अध्ययन है जिससे भाषा विज्ञान (Philology) का उद्भव हुआ है । इसका प्रभुत्व विश्व की समस्त भाषाओं ने नतमस्तक होकर स्वीकार कर लिया है ।

व्याकरण शास्त्र

यद्यपि वैदिक काल का कोई प्रामाणिक व्याकरण ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो सका है फिर भी ब्राह्मण ग्रन्थों, प्रातिशाख्यों, आरण्यकों और उपनिषदों में इस प्रकार के संकेत प्राप्त होते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि तत्कालीन विचारक व्याकरण के पारिभाषिक शब्दों से परिचित थे । वृहद्देवता में संज्ञादि शब्द-विधाओं के साथ संज्ञा, क्रिया इत्यादि की परिभाषायें दी हुई हैं साथ ही उनमें वाक्य विचार के अन्तर्गत लिंग, वचन, कारक पर भी विचार किया गया है । यास्क के निरुक्त से भी व्याकरण सम्बन्धी गतिविधि का यत्किञ्चित्परिज्ञान होता है । कुछ विचारकों ने व्याकरण की दैवी उत्पत्ति का भी प्रतिपादन

किया है। इस शास्त्र के प्रवर्तक ब्रह्माजी ने यह शास्त्र बृहस्पति को और बृहस्पति ने इन्द्र को प्रदान किया जिनका उल्लेख पतञ्जलि ने भी किया है। इन्द्र से भरद्वाज इत्यादि में संचरित होते हुए यह शास्त्र पाणिनि तक आया है। यह सब कहां तक प्रामाणिक है कहा नहीं जा सकता।

पाणिनि

व्याकरण की सर्वप्राचीन उपलब्ध रचना पाणिनि की अष्टाध्यायी है जिसके विषय में विद्वानों का कहना है कि यह सबसे बड़े मस्तिष्क की सर्वोत्कृष्ट रचना है। विण्टरनित्ज के शब्दों में सभी युगों में पाणिनि की रचना ने केवल भारत में ही अत्यधिक उच्चकोटि का बहुमान प्राप्त नहीं किया अपितु यूरोप के उन विद्वानों द्वारा भी जिन्होंने इसको समझने के लिए प्रयत्नपूर्वक गहरा गोता लगाया आश्चर्यजनक रूप में इस कृति की प्रशंसा की है।

पाणिनि का व्याकरण वैदिक नहीं है। किन्तु वैदिक भाषा के कतिपय अपवादों का इसमें यत्र तत्र उल्लेख कर दिया गया है। पाणिनि ने शाकल्य, शाकटायन, स्फोटायन आपिशल इत्यादि लगभग १ दर्जन पूर्ववर्ती वैयाकरणों का उल्लेख किया है। इससे ज्ञात होता है कि इनके पहले व्याकरण की कतिपय रचनायें विद्यमान रही होंगी। पाणिनि की इतनी गौरवशालिनी रचना के आ जाने से वे सब नामशेष हो गईं।

पाणिनि का व्यक्तित्व अन्धकाराच्छन्न है। इनके विषय में जो अनुसन्धान किए गये हैं उनके आधार पर यत्किञ्चित्प्रकाश पड़ता है—किन्तु निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। ७वीं शताब्दी के एक शिलालेख में इन्हें शालातुरीय कहा गया है जिससे ज्ञात होता है ये वर्तमान लाहौर के निकट शालातुर नामक स्थान के निवासी थे जो अब पाकिस्तान में है। ह्वेनसांग ने भी लिखा है कि शालातुर में ऋषि पाणिनि की एक मूर्ति और उनकी चर्चा उनके समय तक विद्यमान थी। अनेकशः उन्हें दाक्षीपुत्र कहा गया है जिससे ज्ञात होता है कि उनकी माता का नाम दाक्षी था। कथासरित्सागर में उनके गुरु का नाम 'वर्ष' लिखा है। कहा जाता है कि ये कात्यायन, व्याडि, इन्द्रदत्त इत्यादि के समसामयिक थे। षड्गुरुशिष्य की वेदान्तदीपिका के अनुसार पिंगल इनके कनिष्ठ भ्राता थे, व्याडि इनके ममेरे भाई थे और महाभाष्य से प्रमाणित होता है कि कौत्स ऋषि इनके शिष्य थे। कुछ लोग इन्हें बुद्धोत्तरवर्ती सम्भवतः ई० पू० चौथी शताब्दी का मानते है। किन्तु बुद्ध के विषय में किसी भी संकेत के अभाव में वी. ए. स्मिथ इन्हें बुद्ध-पूर्व ई० पू० छठी शताब्दी का स्वीकार करते हैं। अनेक विद्वानों ने इनका समय ई० पू० ८वीं शताब्दी माना है जो अधिक युक्ति युक्त प्रतीत होता है।

कहा नहीं जा सकता पाणिनि ने अपने पूर्ववर्तियों से कितनी सामग्री प्राप्त की थी। इन्होंने लगभग १०-१२ पूर्ववर्तियों का नामोल्लेख किया है। हो सकता है कुछ प्रचलित संज्ञायें, धातुपाठ, गणपाठ इत्यादि सामग्री इन्हें अपने पूर्ववर्तियों से प्राप्त हुई हो। कात्यायन के वाजसनेयी प्रातिशाख्य में पाणिनि के कुछ सूत्र प्राप्त होते हैं। लीबिच का विचार है कि हो सकता है पाणिनि ने अपना व्याकरण प्रातिशाख्यों के आधार पर लिखा हो। यह भी सम्भव है कि कात्यायन ने ही उन सूत्रों को पाणिनि से प्राप्त किया हो। यह भी असम्भव नहीं है कि दोनों ने किसी एक स्रोत से उन सूत्रों का उपादान किया हो।

एक प्रवाद प्रसिद्ध है कि यदि कोई विचारक संक्षिप्तीकरण की प्रक्रिया में पाणिनि की एक मात्रा को भी कम कर सके तो उसे इतना आनन्द आता है मानो उसके यहां पुत्र जन्म हुआ हो। केवल ४००० सूत्रों में समस्त भाषा को बांध लेना कोई हंसी खेल नहीं है। संक्षिप्तीकरण के लिए इन्होंने 'घ' 'घु' इत्यादि संज्ञायें बना लीं औ 'ण' 'क' इत्यादि अनुबंधों के आधार पर नियमोंकी शृंखला स्थापित कर दी जिससे प्रकृति-प्रत्यय के माध्यम से हजारों शब्दों का अनायास निर्माण कर सकने का साधन प्राप्त हो गया। छोटे से छोटे सूत्र में कल्पनातीत सार भरा हुआ है जिसका कहीं प्रतिरोध नहीं, कहीं सन्देह नहीं, कहीं भ्रम नहीं। भाषा का स्वभाव है कि सौ दो सौ वर्ष में इतनी बदल जाती है कि उसका समझना कठिन हो जाता है। आज हम चार-छः सौ वर्ष की भाषा को सरलता से समझ नहीं पाते। किन्तु यह पाणिनि की ही कृपा है कि हजारों वर्ष पुरानी वाल्मीकि इत्यादि की भाषा को भी साधारण संस्कृतज्ञ भी उसी प्रकार समझता है मानो वह आज ही लिखी गई हो। उत्तरवर्ती युगों को विचार देना और उन्हें सातत्य प्रदान करना संस्कृत भाषा की सबसे बड़ी विशेषता है जो पाणिनि की कृपा से ही सम्पन्न हुई है। पाणिनि ने शब्दों, वाक्यों और अर्थों पर पूरा विचार कर भाषा को इतना परिपूर्ण बना दिया हैं कि नये विचारों और नये तत्त्वों को अभिव्यक्त करने के लिए नये शब्दों के निर्माण में अधिक कठिनाई नहीं होती। प्रादेशिक विभेद पर इसमें ध्यान रक्खा गया है और वैदिक साहित्य को भी आंखों से ओझल नहीं होने दिया गया है यहां तक कि स्वर प्रक्रिया भी इस विचारधारा से छूटने नहीं पाई है। यही कारण है किसी शास्त्र का कोई भी विद्वान् पाणिनि का आभार अस्वीकृत नहीं कर सकता। यूरोप को वे सूत्र ही नहीं मिल रहे जिनके आधार पर पाणिनि की शैली पर भाषाओं का अध्ययन किया जा सके।

कात्यायन

ये व्याकरण के दूसरे मुनि हैं। इनका समय ई० पू० चौथी शताब्दी माना जाता है। इनके लिखे वार्तिक गद्य के छोटे-छोटे वाक्य हैं जिनमें सूत्र शैली अपनाने की चेष्टा की गई है किन्तु वे इतने संक्षिप्त नहीं हैं कि उनको और संक्षिप्त न किया जा सके। ये वार्तिक पाणिनि के लगभग १२२५ सूत्रों पर लिखे गये हैं जिनका लक्ष्य पाणिनि सूत्रों की आलोचनात्मक व्याख्या करना है। वार्तिक कार ने सूत्रकार के प्रति पूर्ण निष्ठा के साथ सूत्रों और उन पर उठने वाली आपत्तियों की निष्पक्ष समीक्षा की— कहीं उन आपत्तियों को स्वीकार कर संशोधन प्रस्तुत कर दिया और कहीं उन आपत्तियों का निराकरण कर दिया। पाणिनि के बाद उनके समय के अन्तराल में भाषा में जो परिवर्तन आ गये थे उनकी भी समीक्षा कर सिद्धान्तों की स्थापना की। उनके कुछ समय बाद श्लोकवार्तिक की रचना हुई जिसमें श्लोकों में वार्तिक लिखकर समाहार प्रस्तुत किया गया।

पतञ्जलि

पतंजलि का महाभाष्य भाष्य शैली पर लिखी हुई सबसे पहली और सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण रचना है। यह पाणिनि सूत्रों की अपेक्षा कात्यायन के वार्तिकों की व्याख्या अधिक है। यह समीक्षात्मक व्याख्या है जिसमें कात्यायन का समर्थन भी है और विरोध भी। यह छोटे-छोटे वाक्यों में संवाद शैली की रचना है जिसमें गुरु शिष्य का विचारात्तक संवाद चलता है। कभी-कभी विवाद निर्णय पर नहीं पहुंचता—विचारकों के लिए उलझा छोड़ दिया जाता है, तब आचार्य आकर विवाद ग्रस्त विषय की स्पष्ट व्याख्या कर देता है। मुहावरेदार शैली में लौकिक जीवन से पर्याप्त उदाहरण लिये जाते हैं जिनके आधार पर सिद्धान्त का निर्णय कर दिया जाता है। ये उदाहरण ही लौकिक न्याय के रूप में प्रसिद्ध हो गये हैं।

पतंजलि का समय विवादग्रस्त है। कीलहोर्न के अनुसार कात्यायन और पपंजलि में कई पीढ़ियां बीत गई होंगी। पतंजलि ने व्याडि, पुष्करसादी, गोणिकापुत्र, गोनर्दीय आदि अनेक पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख किया है। इन का समय अशोक के बहुत बाद का नहीं होगा। विद्वान लोग इस विषय में प्राय: एक मत हैं कि पतंजलि का समय ई० पू० दूसरी शताब्दी प्रतीत होता है। किन्तु इन तीनों मुनियों का समय सर्वथा काल्पनिक है। महाभाष्य पर ७वी शताब्दी में भर्तृहरि ने एक टीका लिखी, उसके कुछ अंश ही हमें प्राप्त हुए

हैं। आगे चलकर कैयट ने भर्तृहरि का आश्रय लेकर प्रदीप नाम की टीका लिखी जिस पर नागेश भट्ट की उद्योत टीका प्राप्त होती है। महाभाष्य पर भट्टोजिदीक्षित ने भी शब्दकौस्तुभ नामक व्याख्या लिखनी आरम्भ की थी जो अधूरी प्राप्त होती है।

वररुचि

भारतीय साहित्य में यह नाम इतना अधिक प्रसिद्ध है कि इनके विषय में कई किंवदन्तियां प्रसिद्ध हो गई हैं। बृहत्कथा और कथासरित्सागर में इन्हें पाणिनि का प्रतिद्वन्द्वी बतलाया गया है। इनका लिखा प्राकृत व्याकरण, संस्कृत व्याकरण पर छोटी-छोटी कृतियां और कुछ पद्य प्रसिद्ध हैं। किन्तु यह सामग्री इतनी नहीं है कि इन्हें इतना महान् बना सके। अतः कुछ विद्वानों का मत है कि वस्तुतः ये कात्यायन ही थे और इन्हें वररुचि कात्यायन कहा जाना चाहिए। जैसी सामान्य प्रवृत्ति है परवर्ती लेखकों ने वररुचि के नाम पर अपनी कृतियां प्रसिद्ध कर दीं। इसीलिए ई० पू० ५वीं शताब्दी से लेकर ई० की ५वीं शताब्दी तक इनके अनेक काल माने जाते हैं।

तीनों मुनियों के साथ व्याकरण का विचार पूर्णता तक पहुंच गया। अब पाणिनि के निर्देश अकाटच एवं अनुल्लङ्घ्य स्वीकृत कर लिये गए। व्याकरण के क्षेत्र में केवल उनके विचारों का महाभाष्य के प्रकाश में उपयोगी रूप में पल्लवन और विस्तार होने लगा।

काशिकावृत्ति

इस दिशा में काशिकावृत्ति का अपना पृथक् महत्त्व है। इनका समय ई० की ७वीं शताब्दी है। इसके दो लेखक हैं—सम्भवतः जयादित्य ने ५वें अध्याय तक और वामन ने ६ से ८ अध्याय तक रचना की थी। इत्सिंग ने स्वयं इस का अध्ययन किया था और उनका कहना है कि उस समय १५ वर्ष की आयु से प्रारम्भ कर छात्र इसे ५ वर्ष में समाप्त करते थे। इस कृति में महाभाष्य के साथ सम्भवतः चन्द्र व्याकरण का भी उपयोग हुआ था।

काशिका पर विद्वान् जिनेन्द्र बुद्धि ने न्यास नाम की टीका लिखी। न्यास पर टीका मैत्रेयरक्षित (११०० ई०) की तन्त्रप्रदीप है जिसे काशिका विवरण पञ्जिका भी कहा जाता है। काशिका पर हरदत्त (१३वीं शताब्दी) की टीका पदमञ्जरी महत्त्वपूर्ण रचना है। काशिका के अतिरिक्त पाणिनीय व्याकरण पर बौद्ध शरणदेव की दुर्घट वृत्ति और पुरुषोत्तम देव की भाषा वृत्ति का भी उल्लेख किया जा सकता है।

संक्षिप्तीकरण की अत्यधिक प्रवृत्ति के लिए पाणिनीय सूत्रों का विन्यास प्रक्रिया की आवश्यकता के अनुसार नहीं कार्य को दृष्टिगत रखकर किया गया

है। इससे शब्दों के निर्माण में कठिनाई का सामना करना पड़ता है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए रामचन्द्र ने प्रक्रिया की आवश्यकता को दृष्टिगत रखकर सूत्रों का नये ढंग से विन्यास कर प्रक्रिया कौमुदी की रचना की जो लगभग १६२५ ई० में भट्टोजिदीक्षित की वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी का आदर्श बनी। इस पर अनेक टीकाओं का होना ही इसके महत्त्व का परिचायक है। व्याकरण के क्षेत्र में सिद्धान्त कौमुदी इतनी अधिक महत्त्वपूर्ण बन गई है कि सामान्य छात्र इसे पाणिनि का पर्याय मानने लगा है। पठन-पाठन में इसी पुस्तक की मान्यता है। इस पर टीका ग्रन्थों में स्वयं भट्टोजिदीक्षित की लिखी प्रौढ़मनोरमा और परम वैयाकरण नागेश भट्ट (नागोजिभट्ट) का लिखा शब्देन्दुशेखर ये दोनों ग्रन्थ विद्वत्ता का निकषोपल बन गये हैं। ये दोनों पुस्तकें उत्कृष्ट शिक्षा और परिवृद्ध विद्वत्ता के लिए उपयोगी हैं सामान्य छात्र के लिए जो अनेक टीकायें सिद्धान्त कौमुदी पर लिखी गई हैं उनमें ज्ञानेन्द्र सरस्वती की तत्त्वबोधिनी और वासुदेव दीक्षित की बाल मनोरमा अधिक प्रसिद्ध हैं। सामान्य छात्र के उपयोग के लिए वरदराज ने दो पुस्तकें लिखी थीं—मध्य सिद्धान्त कौमुदी और लघु सिद्धांत कौमुदी। सामान्य छात्र की शिक्षा इन्हीं पुस्तकों से प्रारम्भ होती है। सिद्धांत कौमुदी की ही शैली पर १७वीं शताब्दी में नारायण भट्ट ने प्रक्रिया सर्वस्व लिखा।

व्याकरण के विभिन्न अनुभागों पर भी रचनायें हुई हैं। इस प्रकार के ग्रन्थों में धातु से विशिष्ट प्रकार के प्रत्ययों द्वारा शब्द बनाने की प्रक्रिया को लेकर उणादि सूत्र लिखे गए थे जिनका उल्लेख पाणिनि ने भी किया है। हो सकता है इसकी रचना शाकटायन ने की हो। उणादि सूत्रों पर उज्ज्वल दत्त की टीका सर्वोत्तम है। नागोजिभट्ट का परिभाषेन्दुशेखर परिभाषाओं (विधि-व्यवस्था या फार्मूला) पर लिखी गई प्रतिष्ठित पुस्तक है। धातुपाठ पर लिखी मैत्रेय रक्षित (११०० ई०) की धातु प्रदीप और उसके आधार पर लिखी देव की पंचात्मक दैव पुस्तक धातुओं और धातुरूपों तथा उनके विभिन्न अर्थों का परिचय देती है। दैव पर कृष्णलीलांशुक की टीका की पुरुषकार भी प्रकाश में आई है। धातु पाठ पर क्षीरतरंगिणी का भी उल्लेख किया जा सकता है। गण पाठ पर वर्धमान (११४० ई०) का गणरत्नमहोदधि गण पाठ का विवेचन करने वाली रचना है, किन्तु इसका सम्बन्ध पाणिनीय व्याकरण से नहीं है। वैदिक एवं लौकिक प्रक्रिया पर लिखी गई पुरानी पुस्तक फिटसूत्र का ज्ञान सम्भवतः पतंजलि को भी नहीं है। ये स्वर सिद्धांत शान्तनव के बनाए हुए हैं, स्वर प्रक्रिया पर ही श्रीनिवास यज्वन की लिखी स्वर सिद्धांत चन्द्रिका भी प्रकाशित हुई है जिसमें अष्टाध्यायी के स्वर सूत्रों की व्याख्या की गई है।

प्रक्रिया परक सिद्धांतों के अतिरिक्त व्याकरण दर्शन का भी विकास हुआ है। इसके तत्त्व महाभाष्य में ही विद्यमान थे। इस बिषय की सर्वोत्तम पुस्तक भर्तृहरि की वाक्यपदीय है। तीन काण्डों में विभाजित होने के कारण इसे त्रिकाण्डी की संज्ञा भी दी जाती है। इसके प्रथम काण्ड में सामान्य भाषा की दृष्टि से परा, पश्यन्ती इत्यादि वाणी के उप विभागों और शब्द ब्रह्म का वर्णन किया गया है। जिस प्रकार परब्रह्म से विश्व की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार परा वाणी से समस्त वाङ्मय उद्भूत होता है। उससे अर्थ स्फुटन के कारण उसे पारिभाषिक रूप में अर्थस्फोट की संज्ञा दी गई है जिसकी अभिव्यक्ति ध्वनि से होती है। दूसरे काण्ड में वाक्य विचार और तीसरे काण्ड में शब्द पर विचार किया गया है। इस दिशा में नागेश भट्ट की वैयाकरण सिद्धांत मञ्जूषा और कौण्डिन्य भट्ट का वैयाकरण भूषणसार अत्यन्त प्रौढ़ एवं प्रतिष्ठित रचनायें हैं।

अपाणिनीय व्याकरण

कातन्त्र या कलाप व्याकरण की सबसे पुरानी पुस्तक बौद्ध विद्वान सर्ववर्मा ने छात्रों को सरल पद्धति पर व्याकरण की शिक्षा देने के निमित्त लिखी थी। इसमें पाणिनीय व्याकरण का आश्रय लिया गया है। यह पुस्तक अत्यन्त संक्षिप्त है किन्तु इसका विस्तार ८वीं शताब्दी में दुर्ग सिंह की टीका में किया गया है। इसकी शिक्षा भारत से तिब्बत और मध्य एशिया में ले जाई गई और इस शती के प्रथम चरण तक इसका प्रचार काश्मीर और पूर्व बंगाल में बना रहा। स्थानीय एवं द्रविड़ जाति में इसका सामान्य रूप में प्रयोग इसके बहुल प्रचार की ओर इंगित करता है। इस व्याकरण के प्रमुख लेखक है उग्रभूति, रामकांत इत्यादि।

दूसरी अपाणिनीय व्याकरण ऐन्द्र व्याकरण है। तिब्बती विद्वानों के अनुसार यह कातन्त्र व्याकरण से मेल खाती है। उनके मत में इसके आचार्य हैं इन्द्रगोमिन। इसका उल्लेख पाया जाता है किन्तु यह हम तक नहीं आ सकी है। चान्द्र व्याकरण का प्रचार नेपाल और काश्मीर से लेकर सीलोन तक बौद्ध देशों में हुआ है। इसके अन्यतम खलेक हैं चन्द्र गोमिन। कल्हण के अनुसार इन्होंने महाभाष्य का अध्ययन और प्रचार किया था तथा उन्हें नया व्याकरण लिखने की प्रेरणा प्राप्त हुई थी तथा पाणिनि के अतिरिक्त इन्होंने दूसरे स्रोतों का भी उपयोग किया था। इस व्याकरण में आनुषङ्गिक विषय धातुपाठ, उणादि सूत्र इत्यादि भी पाए जाते हैं। तिब्बती, चीनी स्रोत इनका समय ७०० ई० बतलाते हैं। किन्तु भर्तृहरि ने भी इनका उल्लेख किया है, अतः इनका समय ६०० ई० के आसपास ठहरता है। इसमें सूत्र और वृत्ति की शैली अपनाई गई है।

वृत्तिकार धर्मदास का उल्लेख मिलता है। श्रमण काश्यप लिखित बालावबोधन चान्द्रव्याकरण की ही एक कृति बतलाई जाती है।

जैन धर्मावलम्बियों में पूज्यपाद देवानन्दिन लिखित जैनेन्द्रव्याकरण पाणिनीय व्याकरण का अतिक्रमण करती है। यह इस सम्प्रदाय की सबसे पुरानी व्याकरण कृति है। अमोघ वर्ष के शासन काल (८१४-८७७) में अभिनव शाकटायन ने पाणिनि के अतिरिक्त चान्द्रव्याकरण का भी उपयोग किया तथा जैनेन्द्रव्याकरण से भी सहायता ली, साथ ही इसकी एक विस्तृत व्याख्या, परिभाषापाठ, धातुपाठ, उणादिपाठ, लिंगानुसासूत्र इत्यादि प्रभूत सामग्री भी विद्यमान है। १२वीं शताब्दी के सिद्धराज के सभारत्न हेमचन्द्र का सिद्धहेमचन्द्र या हैम व्याकरण एक उच्चकोटि की अत्यन्त प्रसिद्ध रचना है यद्यपि है यह शाकटायन की रचना का ही परिवर्धित रूप। इसमें पाणिनि, कातन्त्र इत्यादि अनेक व्याकरणों का सहारा लिया गया है। लेखक के धातुपाठ इत्यादि अपने हैं। हेमचन्द्र के निकट सम्प्रदाय में स्वीकृत गणपाठ पर वर्धमान ने गण रत्न महोदधि लिखा।

काशकृत्स्नव्याकरण के अन्तर्गत शब्दकल्प, धातुपाठ निपाताव्ययोपसर्ग वृत्ति इत्यादि कतिपय कृतियां पाई जाती हैं।

कतिपय ऐसी पुस्तकें भी सामने आई हैं जिनका उपयोग केवल प्रदेश विशेष तक सीमित रहा। सम्भवतः ११वीं शताब्दी के आस पास क्रमदीश्वर ने संक्षिप्त सार नामक पुस्तक की रचना की जिसके टीकाकार जूमरनन्दिन के नाम पर इसे जौमर व्याकरण भी कहा जाता है। इसमें सहयोगी विषय पड़िभाषा सूत्र और गणप्रकाश इत्यादि का भी समावेश है। एक दूसरी वोपदेव लिखित मुग्धबोध, नामक पुस्तक भी प्रचलन प्राप्त कर सकी। इन दोनों पुस्तकों का प्रचार बंगाल में हुआ। अनुभूतिस्वरूपाचार्य लिखित सारस्वत व्याकरण[1] का प्रचार बिहार और बंगाल में अधिक हुआ। इसी प्रकार नारायण भट्ट का प्रक्रियासर्वस्व केरल में प्रतितिष्ठित रहा।

लिङ्गानुसासन पर लिखित पुस्तकें कोश ग्रंथों के क्षेत्र में अधिक आती हैं। उनका उपयोग कोशग्रंथ के रूप में करना अधिक युक्तियुक्त है।

प्राकृतव्याकरण

प्राकृत व्याकरणों का प्रणयन पाणिनि व्याकरण के आदर्श पर उसे ही

---

१. कहा जाता है अनुभूतिस्वरूपाचार्य शास्त्रार्थ में एक बार 'पुंसु' के स्थान पर 'पुंक्षु' बोल गए थे जिस पर लोग हंस पड़े। अतः पुंक्षु को सही सिद्ध करने के लिए इस ग्रंथ की रचना की।

आधार बना कर किया गया जिनमें विशेष रूप से संस्कृत से प्राकृत के विभेद दर्शाने की चेष्टा की गई। प्राकृत का सबसे प्राचीन व्याकरण वररुचि का प्राकृतप्रकाश है जिसमें महाराष्ट्री, मागधी, पैशाची और शौरसेनी को अपना लक्ष्य बनाया गया है। इस दिशा में हेमचन्द्र की कृति सिद्ध हेमचन्द्र सर्वाधिक प्रतिष्ठित रचना है जिसमें प्राकृतप्रकाश तथा दूसरी कृतियों का विशेष सहारा लिया गया है। उक्त चार भाषाओं के अतिरिक्त इसमें आर्ष, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश का भी विवेचन किया गया है साथ ही महाराष्ट्री के प्रसंग में जैन महाराष्ट्री पर विशेष दृष्टिपात किया गया है। इसकी महत्ता प्राकृत ग्रंथों के उद्धरणों के कारण और अधिक बढ़ जाती है। त्रिविक्रम का १३वीं शताब्दी का प्राकृत शब्दानुशासन और उस पर उन्हीं की टीका हैम व्याकरण पर सर्वथा आधारित है। १७वीं शताब्दी में लिखी गई दो पुस्तकें—मार्कण्डेय का प्राकृत सर्वस्व और राम तर्कवागीश का प्राकृत कल्पतरु उन भाषाओं की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं जिनका अन्य प्राकृत व्याकरण ग्रंथों में निर्वचन नहीं किया गया है। जैनसिद्धान्तकौमुदी एक अन्य रचना है जो सिद्धान्त कौमुदी के अनुकरण पर लिखी गई है। राम तर्कवागीश का अपभ्रंश स्तवक[1], लक्ष्मीधर की षड्भाषा चन्द्रिका[2] और पुरुषोत्तम देव (सम्भवतः ११वीं १२वीं शताब्दी) का प्राकृतानुशासन ये इस विषय की अन्यतम रचनायें हैं।

पाली व्याकरण

वर्मा और लंका के पाली व्याकरण के लेखकों ने प्राकृत के समान उदाहरणों का उपादान साहित्य ग्रंथों से किया है। इसकी सबसे पुरानी पुस्तक कच्चायनव्याकरण संस्कृत व्याकरण के आधार पर नहीं स्वतन्त्र कृति के रूप में लिखी गई हे। हां इसमें पाणिनि व्याकरण और विशेषकर काशिका का सहारा लिया गया है साथ ही कातन्त्र का भी उपयोग किया गया है। इसमें उणादि प्रत्ययों के (जो पाणिनि से भिन्न हैं) और धातु पाठ के प्रकरण भी संलग्न किए गए हैं। कच्चायन व्याकरण पर अनेक टीकायें लिखी गई जिनमें १३वीं शताब्दी के बुद्धप्पिय दीपंकर की पदरूपसिद्धि और १४वीं शताब्दी के धर्मकीर्ति की वालावतार टीका अधिक प्रसिद्ध हैं। थेर भोग्गलायन की व्याकरण सद्दलक्खन और उसकी वृत्ति में पाणिनि व्याकरण और कातन्त्र का उपयोग

१. यह पद्यों में लिखा गया था।

२. यह कृति वाल्मीकि के नाम से प्रसिद्ध की गई और कभी कभी यह दावा किया गया है कि ये वाल्मीकि और कोई नहीं रामायण के लेखक वाल्मीकि ही हैं। इसकी एक टीका भी है।

किया गया है। इनका समय १२वीं शताब्दी है और इन्होंने पराक्रम बाहु के तत्त्वावधान में इस पुस्तक की रचना की थी। वर्मा के अग्गवंश की सद्दनीति ११५४ ई० में लिखी गई थी जिसका संग्रह लंका में भी किया गया था। लंका और वर्मा के श्रमण ही नहीं राजा, जन साधारण और स्त्रियां भी पाली का व्याकरण पढ़ती हैं तथा उसकी रचना भी करती हैं।

व्याकरण के आनुषङ्गिक विषय

(अ) शिक्षा

व्याकरण का ही यह एक आनुषङ्गिक विषय है; किन्तु सम्भवतः उससे अधिक पुराना है। ज्ञात होता है वेदाध्ययन प्रारम्भ करने वाले छात्र को अर्थ ज्ञान और प्रयोग ज्ञान कराने से पहले मन्त्रों के शुद्ध उच्चारण की शिक्षा दी जाती थी। इसीलिए शिक्षा शब्द से शुद्ध उच्चारण की शिक्षा का ही सीमित अर्थ लिया जाता है। जब आगे चलकर वैदिक संहिताओं को धर्म ग्रंथ रूपता और पवित्र साहित्य रूपता प्राप्त हो गई तब उसमें एक अक्षर की अशुद्धि भी अनर्थकारक मानी जाने लगी। जिस प्रकार श्रौत विधि का स्वल्पतम व्यतिक्रम भी यज्ञ का विपरीत फल देने वाला माना जाता था उसी प्रकार वेदमन्त्र के उच्चारण की एक अशुद्धि अनर्थकारक मानी जाने लगी—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।

धीरे धीरे इस दिशा में नियम बनाए गए और इसे शास्त्ररूपता प्राप्त हो गई। यज्ञविधि इत्यादि विषयक अनेक सिद्धान्त तो शाखाभेद सापेक्ष थे किन्तु वर्णोच्चारण की शिक्षा सभी शाखाओं पर एक समान लागू होती थी। अतएव इसका अन्वर्थ नाम प्रातिशाख्य रखा गया। ये प्रातिशाख्य ही शिक्षा ग्रंथों के पूर्वगामी हैं या यों कहा जा सकता है कि शिक्षा तो शिक्षार्थियों में प्रचलित शब्द था जिसको प्रतिशाख्य की संज्ञा देकर उसे पारिभाषिकता प्रदान कर दी गई। कुछ भी हो इस विषय की पुरानी पुस्तकों का नामकरण प्रतिशाख्य के आधार पर हुआ था, नामकरण में शिक्षा का उपादान बहुत बाद में हुआ यद्यपि उनकी प्राचीनता सिद्ध करने के लिए उन्हें प्राचीन ऋषियों के नाम पर ही प्रसिद्ध किया गया। शिक्षा का सर्वप्रथम उल्लेख ऐतरेय आरण्यक (७.१) और ऐतरेय उपनिषद् (१.२) में किया गया है। इसके अनुसार शिक्षा में ६ तत्त्वों पर विचार किया जाता है—(१) वर्ण अकार इत्यादि और स्वर व्यञ्जनादि भेद; (२) स्वर-उदत्त इत्यादि; (३) मात्रा-ह्रस्व इत्यादि; (४) बल-अन्तर और बाह्य प्रयत्न; (५) साम-समता अर्थात् वर्णों के मध्यम वृत्ति (न अधिक मन्द न अधिक तार) से उच्चारण करने के कारण आने वाली एक-

रूपता और (६) सन्तति-संहिता या सन्धि जिससे विभिन्न शब्दों की लड़ी को जोड़कर उसमें सुश्राव्यता उत्पन्न कर दी जाती है।

ध्वनि विज्ञानी आचार्यों ने संहिताओं के पाठों का सम्पादन कर दिया था। इस प्रकार इन सम्पादकों के हाथों संहिताओं को परिनिष्ठित रूप प्राप्त हो चुका था। वस्तुतः संहिताओं का पाठ हमें उसी रूप में प्राप्त नहीं हुआ जिस रूप में उसकी रचना हुई थी। फिर भी सम्पादक आचार्यों ने मूलपाठ के शब्दों में कोई अन्तर नहीं किया, केवल शिष्यों को शिक्षा देने के निमित्त शब्दों के प्रारम्भ और अन्त की ध्वनियों में ध्वनि विज्ञान के सिद्धान्तों के अनुसार मूल पाठ मे कुछ हटकर लिखने की स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली। इस प्रकार पद पाठ तैयार हो गया जिसमें केवल सन्धियों को ही तोड़कर नहीं दिखलाया गया था अपितु समास में आए शब्दों को भी पृथक् करके दिखलाया गया था और वह इस अवस्था में था कि पाठक ध्वनि सिद्धान्त को लागू कर मूल संहिता पाठ तक पहुंच सकता था। यह पद पाठ से संहिता पाठ की प्रक्रिया तक पहुंचने की शिक्षा देना ध्वनि विज्ञानी सम्पादकों का मुख्य लक्ष्य था। एक उदाहरण—

(संहिता-पाठ) अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्योनूतनैरुत।
स देवाँ एह वक्ष्यति॥
(पद पाठ) अग्निः। पूर्वेभिः। ऋषिभिः। ईड्यः नूतनैः। उत।
सः। देवान्। आ। इह। वक्ष्यति।

वस्तुतः यह वैयाकरणों का काम था जो ध्वनि विज्ञान में निष्णात थे। इन लोगों ने ही पदों को वर्णों इत्यादि में विभाजित कर और प्रकृति प्रत्यय इत्यादि की कल्पना कर व्याकरण शास्त्र को जन्म दिया। पदपाठ और संहिता को पृथक् कर पदपाठ से संहितापाठ तक जाने के नियमों का निर्देश करना शिक्षा का सर्व प्राचीन क्षेत्र है जिसे प्राचीन साहित्य में प्रातिशाख्य की संज्ञा प्रदान की गई जिनमें वर्णों के स्थान प्रयत्न इत्यादि ध्वनि विज्ञान सम्बन्धी नियम दिए गए थे।

ऋग्वेद के संहिता पाठ को पठपाठ में परिवर्तित करने वाले आचार्य शौनक हैं और उन्हीका लिखा ऋक्प्रातिशाख्य भी हम तक आया है। ये शौतक सम्भवतः आश्वलायन के गुरु थे। यह रचना श्लोकों में की गई प्राप्त होती है; किन्तु उन श्लोकों को उद्धरणों में सूत्र कहा जाता है। इससे ज्ञात होता है कि पहले ये सूत्र रूप में ही थे—वाद में उन्हें श्लोकों में बदल दिया गया। यह तीन अध्यायों की एक विशाल रचना है जिसका एक उपलेख

(संक्षिप्त संस्करण) भी विद्यमान है जिसमें कतिपय अतिरिक्त विषय भी जोड़ दिए गए हैं। यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा तैत्तिरीय प्रातिशाख्यसूत्र भी प्राप्त होता है जिसमें लगभग २० गुरुओं का उल्लेख किया गया है। वाजसनेयी शाखा का वाजसनेयी प्रातिशाख्य भी प्राप्त होता है जो कात्यायन का लिखा बतलाया जाता है। यह ऋक्प्रातिशाख्य से परवर्ती है क्योंकि इसमें शौनक का पूर्ववर्ती आचार्यों में नाम दिया हुआ है। अथर्ववेद का भी एक प्रातिशाख्य है जो कि शौनक शाखा से ही सम्बन्धित माना जाता है। अन्य प्रातिशाख्यों की अपेक्षा इसमें व्याकरण की झलक अधिक पाई जाती है। एक सामप्रातिशाख्य और प्रातिशाख्य की ही प्रकृति का एक अन्य पुष्पसूत्र भी पाया जाता है जो सामवेद के उत्तरगान से सम्बन्ध रखता है। यज्ञों में सामगान के विषय में लिखा गया पञ्चविधसूत्र प्राप्त होता है।

यद्यपि ये ग्रंथ व्याकरण के क्षेत्र से नहीं आते फिर भी ये व्याकरण की पृष्ठभूमि अवश्य बनाते हैं और इनसे व्याकरण के ऐतिहासिक अध्ययन में सहायता अवश्य मिलती है। इन पुस्तकों में अनेक वैयाकरणों का नामोल्लेख किया गया है इससे सिद्ध होता है कि उस आदिमकाल में भी अनेक वैयाकरण विद्यमान थे। इन ग्रंथों से इस बात का भी पता चलता है कि उस समय से लेकर जब प्रातिशाख्य लिखे गए थे वैदिक संहिता पाठों में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं आया है। इससे सिद्ध हो जाता है कि ऋक्प्रातिशाख्य के रचनाकाल में ऋग्वेद दस मण्डलों में विभाजित था और उसमें सूत्रों का क्रम उसी प्रकार का था जैसा आज है; उसमें संहिता पाठ का प्रत्येक शब्द विद्यमान है जिससे सिद्ध होता है कि उसमें एक शब्द में भी परिवर्तन नहीं किया गया है। शब्द ही नहीं मुद्रित संस्करण का प्रत्येक अक्षर प्राचीन सिद्ध हो जाता है।

जिस प्रकार धर्मसूत्रों के श्लोक बनाकर धर्मशास्त्रों (स्मृति ग्रंथों) का रूप दिया गया उसी प्रकार प्रातिशाख्यसूत्रों की कारिकायें बनाकर उन्हें नवीन शैली के शिक्षा ग्रंथों में परिणत कर दिया गया। ये शिक्षा ग्रंथ वेदाङ्ग के अन्तर्गत आते हैं। ये छोटी छोटी कृतियां वर्णोच्चारण प्रक्रिया पर प्रकाश डालती हैं। ये सब नवीन ग्रन्थ हैं; किन्तु इनकी विषयवस्तु प्राचीन ही है और जिस प्रकार धर्मशास्त्र के ग्रंथ प्राचीन ऋषियों के नाम पर ही प्रसिद्ध हुए उसी प्रकार शिक्षाग्रंथ भी प्राचीन ऋषियों के नाम पर ही प्रसिद्ध हुए। इस प्रकार की कुछ शिक्षायें प्राचीन हैं और कुछ नवीन। कतिपय शिक्षाओं में प्रातिशाख्यों का सीधा सहारा लिया गया है। उदाहरण के लिए व्यासशिक्षा तैत्तिरीय प्रातिशाख्य का सीधा सहारा लेती है। इसी प्रकार के कति-

पय अन्य शिक्षा ग्रंथ हैं—भरद्वाजशिक्षा, वशिष्ठशिक्षा, याज्ञवल्क्यशिक्षा, नारदीयशिक्षा इत्यादि। इस क्षेत्र में पाणिनिशिक्षा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और प्रतिष्ठित पुस्तक है और भारतीय वैयाकरणों में इसका शिक्षा के रूप में सर्वाधिक अध्ययन किया जाता है।

निघण्टु और निरुक्त

ये दोनों शब्द योगरूढ हैं—निघण्टु शब्द नि उपसर्ग और गत्यर्थक हन् धातु से बनता है; 'नि' का एक अर्थसमूह भी है। अतः इसका यौगिक अर्थ होगा—समूह में आकर एक स्थान पर स्थित होना। प्रस्तुत प्रकरण में इसका रूढ अर्थ होगा--ऐसी रचना जिसमें वेद के अस्पष्ट शब्दों को एक साथ लाकर स्थित किया जाता है। (२) निरुक्त शब्द निर् अथवा 'निस्' उपसर्ग से 'वच्' धातु 'क्त' प्रत्यय होकर बनता है। निर् का अर्थ है दूर या अलग करना तथा निस् का अर्थ है—परिपूर्णता और निश्चय। इस प्रकार निरुक्त शब्द का यौगिक अर्थ होगा—समूह से अलग कर तथा तोड़कर पूर्णरूप से निश्चय के साथ कहना। प्रस्तुत प्रकरण में इसका रूढ अर्थ होगा—निघण्टु में दिए हुए सामूहिक शब्दों में एक एक को निकालकर तथा उन्हें प्रकृति प्रत्यय इत्यादि रूप में तोड़कर व्युत्पत्ति के द्वारा पूर्णरूप से निश्चय के साथ व्याख्या करने वाला वेदाङ्गनिघण्टु में ऐसे वैदिक शब्दों का अर्थनिर्देशपूर्वक परिगणन किया गया है जिनका अर्थ धीरे-धीरे अपनी सुस्पष्टता और सुविज्ञेयता खो रहा था। उन्हीं शब्दों को लेकर निरुक्त में प्रकृति प्रत्यय परक व्युत्पत्ति के द्वारा पूर्ण और निश्चित व्याख्या की गई है।

प्रवृत्ति-निमित्त

भाषा के परिवर्तनशील स्वभाव के कारण जब ऋग्वेदादि के मन्त्रों पर परिशीलकों की पकड़ ढीली पड़ने लगी यहां तक कि कौत्स जैसे प्रबुद्ध ऋषि लोग भी समर्थन करने लगे कि वेद-मन्त्रों का तो कोई अर्थ ही नहीं होता। उनका उपयोग पाठ और यज्ञ-विनियोग से पुण्य लाभ करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस स्थिति में वैदिक ज्ञान के तिरोहित हो जाने की आशंका उत्पन्न हो गई। वेद की महत्ता इस आशंका से छुटकारा पाने के लिए विद्वत्समाज को बाध्य कर रही थी। अतः प्रथम प्रयत्न के रूप में उन शब्दों को सङ्कलित किया गया जिनका अर्थ अस्पष्ट हो चला था। साथ ही हेर-फेर को बचाने के लिए उनकी संख्या दे दी गईऔर साथ ही उनके अर्थ का भी निर्देश कर दिया गया। इस संग्रह को निघण्टु की संज्ञा दी गई। इससे अर्थपरिज्ञान में सुविधा तो प्राप्त हो गई किन्तु एक तो उन अर्थों की सत्यता पर परिशीलकों का विश्वास जमाना आवश्यक था, दूसरे इस जिज्ञासा को भी शान्त करना

उपयोगी था कि अमुक शब्द अमुक अर्थ में क्यों प्रयुक्त होता है इस हेतु से निरुक्त का जन्म हुआ।

निरुक्त के आचार्य

अब तक इस विषय का केवल एक ग्रन्थ यास्क लिखित निरुक्त ही प्राप्त हो सका है। इसमें सन्देह नहीं कि यास्क से पहले भी इस दिशा में कई आचार्य हुए होंगे और बाद में भी उनकी परम्परा का कुछ न कुछ अनुसरण अवश्य किया गया होगा। स्वयं यास्क ने लगभग १७ आचार्यों का उल्लेख किया है। किन्तु अब वे सब रचनायें कालकवलित हो गईं। इस दिशा में शाकटायन, गार्ग्य इत्यादि अनेक वैयाकरणों का उल्लेख पाया जाता है। कहा जाता है कि इन सभी आचार्यों की शास्त्र-रचनाप्रवृत्ति निरुक्त से ही हुई थी, किन्तु बाद में वे सब व्याकरण के क्षेत्र में आ गए। अब न तो यास्क पूर्ववर्ती और न किसी यास्क परवर्ती आचार्य की निरुक्त परक कृति हमें उपलब्ध होती है। अतः हमें एकमात्र यास्क की रचना से सन्तोष करना पड़ता है। क्या निघण्टु भी यास्क की रचना है अर्थात् क्या यास्क ने स्वयं शब्दों का सङ्कलन किया या यास्क से पहले जो निघण्टु विद्यमान था उसी की उन्होंने व्याख्या की ? इस विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। किन्तु इसका निर्णय करना किञ्चित् अशक्य प्रतीत होता है। एक बात ध्यान देने की है कि निरुक्त में कतिपय ऐसे शब्दों का भी प्रवचन किया गया है जो निघण्टु में नहीं आए हैं। यदि निघण्टु स्वयं यास्क की रचना होती तो उन शब्दों को निघण्टु में ही सम्मिलित कर देने में क्या कठिनाई थी। इससे ज्ञात होता है कि यास्क को निघण्टु का पुराना संग्रह उपलब्ध हुआ होगा जिसकी उन्होंने व्याख्या की और निघण्टुकार के समय से अपने समय तक के व्याख्येय शब्दों को उनमें और जोड़ दिया।

यास्क के समय के विषय में पर्याप्त मतभेद है। कतिपय विद्वान् इन्हें पाणिनि पूर्ववर्ती मानते हैं; दूसरे लोग इन्हें पाणिनि से तो उत्तरवर्ती किन्तु कात्यायन से पूर्ववर्ती मानते हैं तथा कुछ और लोग इन्हें कात्यायन के भी बाद का सिद्ध करते हैं। किन्तु एक तो यदि ये पाणिनि के बाद में होते तो कभी भी पाणिनि के अनुशासन का उल्लङ्घन नहीं कर सकते। पाणिनि के बाद ऐसा कोई नहीं कर सका। पतञ्जलि के अनुसार शब्दशास्त्र का अध्ययन करने के लिए प्रतिपद पाठ कोई उपाय नहीं है। इसलिए पाणिनि ने सामान्य और विशेष लक्षण बनाकर समस्त शब्द शास्त्र को आत्मसात् किया जिसकी परिपूर्णता का लोहा सभी लोग मान गए। पाणिनि के बाद किसी आचार्य को प्रतिपद पाठ का न तो साहस हो सकता था और न उसकी प्रवृत्ति हो सकती थी। दूसरी बात यह कि पाणिनि ने 'यस्कादिभ्यो गोत्रे' (२.४.६३)

सूत्र से यह प्रकट भी कर दिया है कि यास्क उनसे पहले हो चुके थे। सामान्यतः यास्क का सम्भव ई. पू. ७०० और ई. पू. ५०० के मध्य किसी समय माना जाता है।

निघण्टु

निघण्टु की रचना तीन काण्डों और पांच अध्यायों में हुई है अथवा हम यह कह सकते हैं कि निघण्टु ५ प्रकार की शब्द-सूचियां हैं जिन्हें ३ खण्डों में विभाजित किया गया है। पहला खण्ड नैघण्टुक काण्ड कहलाता है जिसमें तीन अध्याय हैं — तीनों अध्यायों में शब्द चयन की एक निश्चित व्यवस्था दृष्टिगत होती है। पहले अध्याय में भौतिक वस्तुओं और तत्संबद्ध क्रियाओं के पर्याय वाचक दिए गए हैं; दूसरे अध्याय में मनुष्य, उसके अंगों, उसके उपयोग की वस्तुओं, उसके कर्म, उनकी क्रिया इत्यादि परक शब्दों का चयन किया गया है। तीसरे अध्याय में विशेषणों, भावाभिव्यञ्जक शब्दों इत्यादि का उपादान किया गया है। इस काण्ड में परिगणन करने की एक शैली है—किसी वस्तु के अप्रसिद्ध तथा वेदमन्त्रों में आए पदों का परिगणन किया जाता है और उनकी कुल संख्या देकर कह दिया जाता है कि ये शब्द अमुक (किसी प्रसिद्ध शब्द) के वाचक हैं। उदाहरण के लिए पृथिवी वाचक शब्दों को लीजिए—

द्यौः, ग्मा, ज्मा, क्ष्मा, क्षा, क्षमा, क्षोणी, क्षिति, अवनिः, उर्वी, पृथ्वी, मही, रिपः, अदितिः, इला, निर्ऋति, भूः, भूमिः, पृषा, गातुः, गोत्रेत्येकविंशतिः पृथिवी नामानि।

इसी प्रकार सोने के १५, वायु के १६, जल के १०१ जाना क्रिया के १२२ शब्द दिए गए हैं। दूसरा खण्ड नैगम काण्ड कहलाता है। इसे ऐकपदिक काण्ड भी कहा जाता है। इसकी व्यवस्था भिन्न है—इसमें एकार्थक शब्दों के गिनाए जाने के स्थान पर एक शब्द के अनेक अर्थ दिखलाए जाते हैं। तीसरा दैवत काण्ड है जो कि ५वां अध्याय है। इसमें पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक के देवताओं का वर्गीकरण दिया गया है।

निरुक्त

यह निघण्टु का व्याख्या परक भाग है। निघण्टु के ५ अध्यायों की निरुक्त में १४ अध्यायों में व्याख्या की गई है और प्रत्येक अध्याय को खण्डों में विभाजित किया गया है। इसके दो भाग स्पष्ट रूप में प्रतीति गोचर होते हैं—शब्दों का निर्वचन और देवों के स्वरूप निरूपण के साथ मन्त्रार्थ का पल्लवन। ग्रन्थकार नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात इन चार शब्दप्रवृत्तियों को लेकर चला है। उनमें उपसर्ग और निपात का समावेश तो ग्रन्थ शय्या की पूर्ति

के लिए ही किया गया है। प्रमुखता नाम और आख्यात तथा विशेषकर नाम (प्रातिपदिक) को ही दी गई है। प्रथम ६ अध्यायों में निघण्टु के प्रथम दो काण्डों में आए शब्दों का निर्वचन दिया गया है और अगले ८ अध्यायों में दैवत काण्ड की व्याख्या में देवताओं का स्वरूप निरूपण किया गया है और मन्त्रों के अर्थों पर विचार किया गया है। लेखक ने निघण्टु के गिने चुने शब्दों का ही निर्वचन किया है सभी शब्दों की व्याख्या आवश्यक नहीं समझी है। मन्त्र व्याख्यान में भी लेखक ने प्रत्येक शब्द की व्याख्या नहीं की है। किन्तु पदनिर्वचन और मन्त्र व्याख्यान दोनों में जिन शब्दों का निर्वचन किया गया है उनकी वैकल्पिक कई-कई व्युत्पत्तियां दे दी गई है। जहां स्पष्टीकरण के लिए आवश्यक प्रतीत हुआ है वहां ऐतिहासिक सामाजिक आदि विषयों का भी विवरण दे दिया गया है। लेखक ने दो स्थानों पर विस्तृत उपक्रम भी दिये हैं एक तो नैघण्टुक काण्ड की व्याख्या प्रारम्भ करने के पहले जिसमें निरुक्त प्रतिपादन से सम्बन्धित अनेक प्रश्नों पर प्रकाश डाला गया है और दूसरी बार दैवकाण्ड के प्रारम्भ में। इससे सिद्ध होता है कि शब्द-निर्वचन और देव विद्या दोनों विषयों को पृथक् मानकर ग्रन्थकार रचना में प्रवृत्त हुआ है।

वेदार्थज्ञान के लिए निरुक्त एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन है। प्रायः सभी प्राचीन अर्वाचीन व्याख्याकार वेद का भाष्य करने के लिए इसी पुस्तक का सहारा लेते हैं। यह ग्रन्थ यूरोप के विद्वानों का बहुत बड़ा उपजीव्य है। इसमें सन्देह नहीं कि यदि इस ग्रन्थ की रचना न हुई होती तो वेद का बहुत बड़ा भाग अज्ञात ही रह जाता और जगत् को ज्ञान के इस असीमित भण्डार से वञ्चित ही रह जाना पड़ता। वेद व्याख्या के साथ यह अनेक सामाजिक विषयों पर उपयोगी प्रकाश डालता है। अतः अनेक दृष्टियों से हम इस महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थ के ऋणी हैं।

इ—कोश-ग्रन्थ

अन्य अनेक साहित्य वर्गों की भांति कोश-साहित्य का मूल भी वैदिक साहित्य में है। वैदिक साहित्य युग की सीमा पार कर जब हम किसी भी विधा में लौकिक साहित्य में प्रवेश करते हैं तब प्रवृत्तियां तो पुरानी ही रहती है नाम, रूप और वस्तु में परिवर्तन हो जाता है और नई विधा प्रवर्तित हो जाती है। कोश-साहित्य भी वैदिक निघण्टुओं की परम्परा में आता है। किन्तु आयुर्वेद के औषध शब्द समूह के लिए तो निघण्टु शब्द शेष रह जाता है अन्य शब्दसंग्रहों को कोश की संज्ञा प्राप्त हो जाती है। किन्तु निघण्टु और कोश में

केवल नाम का ही भेद नहीं है शब्द चयन और शैली में भी भेद है। निघण्टु तो विशिष्ट पाठ्यग्रन्थों (वैदिक संहिताओं) के शब्द समूह हैं जबकि कोशग्रन्थ सामान्य शब्द संग्रह हैं जो किसी विशिष्ट पुस्तक को आधार नहीं बनाते। निघण्टुओं में क्रियाओं को भी संगृहीत किया जाता है जबकि कोशों में सत्त्वात्मक (संज्ञा विशेषणादि) शब्दों का ही उपादान किया जाता है।[1] निघण्टु टीकाकारों के उपयोग को दृष्टिगत रखकर लिखे गए हैं जबकि कोशग्रन्थ कविओं और परिशीलकों के उपयोग के लिए लिखे गए हैं। निघण्टु गद्य में लिखे गए जबकि कोशों में अनुष्टुप् और कहीं-कहीं आर्या छन्द का प्रयोग किया गया।

निघण्टु के नैघण्टुक काण्ड की भांति कोशग्रन्थों में दोनों शैलियां अपनाई गईं - समानार्थक शब्दों का संग्रह और एक शब्द में अनेकार्थों का संग्रह। पहली शैली में समानार्थक शब्द एक साथ रख दिए जाते हैं किन्तु दूसरी शैली में किसी एक शब्द को लेकर उसके विभिन्न अर्थ दिए जाते हैं। इस दूसरी शैली में शब्द को प्रथमा विभक्ति में रक्खा जाता है और विभिन्न अर्थों को सप्तमी विभक्ति में। कुछ कोशों में पहली शैली अपनाई जाती है कुछ में दूसरी। कतिपय कोशों में दोनों मिली-जुली शैलियां अपनाई जाती हैं।

शब्दों के संकलन और क्रमयोजना में भी कई पद्धतियां अपनाई जाती हैं, प्रायः विषय के अनुसार विभिन्न प्रकरणों में शब्द रक्खे जाते हैं। कभी शब्दों में वर्णों की संख्या के आधार पर शब्दों को क्रम बद्ध किया जाता है, कभी प्रथम वर्ण के अनुसार और कभी अन्तिम वर्ण के अनुसार शब्दों की क्रम व्यवस्था की जाती है। कभी-कभी कई शैलियां एक साथ जोड़ दी जाती हैं। एक नया तत्त्व लिङ्ग पर विचार करना भी कोशों के प्रमुख विचारणीय विषयों में एक रहा है। कभी शब्दों के साथ उनके लिङ्ग का भी संकेत कर दिया जाता है. कभी लिङ्ग निर्देश के लिए एक प्रकरण ही अलग रख दिया जाता है। किसी-किसी कोश में कई मिली-जुली शैलियां पृथक्-पृथक् प्रकरणों में अपनाई जाती हैं।

निघण्टु की ठीक परम्परा में कोश नहीं आते, क्योंकि मध्य में एक बहुत लम्बा व्यवधान पड़ता है। व्याकरण के गणपाठ, धातुपाठ आदि कतिपय संग्रह पाए जाते हैं; यदि हम चाहें तो उन्हें मध्यवर्ती कोशग्रन्थों की सूची में

---

१. यह नियम प्राचीन संस्कृत कोशों के लिए है। यूरोपीय कोशों के अनुकरण पर लिखे गए कोशों में तो क्रियायें भी आती हैं।

रख सकते हैं; किन्तु कोई भी उन्हें कोश के अन्तर्गत मानता नहीं। वेबर ने पाण्डुलिपियों का जो संग्रह लेह-(लद्दाख) में खरीदा था उसमें कतिपय कोश खण्ड प्राप्त होते हैं जो मध्य एशिया के कशघर प्रान्त में प्राप्त हुए थे। सम्भवत: ये किसी बौद्धकोश के अंश हैं। इसमें किसी प्रकार की क्रम व्यवस्था नहीं पाई जाती। कतिपय कोशों के उद्धरण या उल्लेख पाए जाते हैं जिनमें प्रमुख हैं—कात्यायन की नाममाला, वाचस्पति का शब्दार्णव, विक्रमादित्य का संसारावर्त, और व्याडि की उत्पलिनी इत्यादि। कोशकारों में भागुरि का नाम प्राय: मिल जाता है। कहा जाता है इन्होंने त्रिकाण्ड नामक कोश की रचना की थी। इसी प्रकार आपिशलि, शाकटायन और व्याडि का नाम भी कोशकारों में आता है। किन्तु अब इनकी कृतियां लुप्त हो गई हैं। ये सब वैयाकरण आचार्य हैं। सम्भवत: वैयाकरण ही प्रथम कोशकार थे।

सर्वाधिक प्रतिष्ठित और प्रचलित नामलिंगानुशासन (अमरकोश) अमर सिंह की रचना है जिन्हें विक्रमादित्य का दरबारी ग्रन्थकार माना जाता है; किन्तु इनका समय विद्वानों द्वारा छठी से आठवीं शताब्दी तक किसी समय में सम्भावित माना जाता है। अमरकोश तीन काण्डों में विभाजित है इसलिए इसे त्रिकाण्ड भी कहा जाता है। अमरकोश पर कम से कम ५० टीकायें ज्ञात हैं जिनमें ११वीं शताब्दी के भट्टकृष्णास्वामी, १५वीं शताब्दी के बृहस्पतिराय मुक्तामणि और रामाश्रम की टीकायें अधिक प्रसिद्ध हैं। बृहस्पतिराय मुक्तामणि ने स्वयं कहा है कि उनकी टीका में १६ पुरानी टीकाओं का सार लिया गया है और उन्होंने २७० से भी अधिक रचनाओं और लेखकों के उद्धरण दिए हैं। पुरुषोत्तम देव ने अमरकोश का परिशिष्ट लिखा जिसमें उन शब्दों का उपादान किया गया है जो अमरकोश में सङ्गृहीत नहीं हो पाए थे। इस परिशिष्ट का नाम था त्रिकाण्डशेष। इसमें विशेष रूप से बौद्ध संस्कृत साहित्य के विशिष्ट शब्दों और बुद्ध के अप्रचलित अनेक नामों को सम्मिलित किया गया है। इन्होंने हारावली नामक एक छोटे कोश की भी रचना की जिसके एक भाग में समानार्थक और दूसरे भाग में अनेकार्थक शब्दों का संग्रह है। इसमें वे शब्द सम्मिलित किए गए हैं जो त्रिकाण्डशेष और अमर-कोश में नहीं आए थे। इनके व्यक्तित्व के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है; किन्तु अनुमान है कि वे उसी समय हुए होंगे जब बौद्ध धर्म भारत में जीवित था।

शाश्वत लिखित अनेकार्थ समुच्चय में प्राक्कालीन शब्दों का संग्रह किया गया है। सम्भवतः इसकी रचना ६ठी शताब्दी में की गई थी। हलायुध की अभिधान रत्नमाला अनुमानतः १०वीं शताब्दी के मध्य की रचना है। यह

छोटी पुस्तक है जिसमें केवल ६०० पद्य हैं। रामानुज के समकालीन ११वीं शताब्दी के यादव प्रकाश की वैजयन्ती एक बड़ी पुस्तक है। हलायुद्ध और यादव प्रकाश दोनों दक्षिण भारतीय थे। वैजयन्ती में पहले अक्षरों की संख्या के अनुसार फिर लिङ्ग के अनुसार तथा दोनों अनुभागों में प्रथमाक्षर के अनुसार शब्द सङ्कलन किया गया है। इस कोश में ऐसे बहुत से शब्द हैं जो दूसरे कोशों में नहीं पाए जाते। अतएव यह कोश अत्यन्त उपयोगी है। धनञ्जय की नाममाला की रचना १२वीं शताब्दी में हुई थी। कविमङ्ख ने अनेकार्थकोश की रचना १२वीं शताब्दो में की थी; इस कोश में उन्हीं की टीका भी सम्मिलित है। इन्होंने अपने स्रोत के रूप में हलायुध, अमरसिंह, शाश्वत और धनञ्जय का उल्लेख किया है। इस कोश की विशेषता यह है कि इसमें शब्दों के ऐसे अर्थ दिए गए हैं जो अन्यत्र नहीं पाए जाते। इसमें काश्मीरी कवि भल्लट और हर्षचरित का प्रायः उल्लेख किया गया है।

हेमचन्द्र जैनाचार्य अन्य अनेक क्षेत्रों की भांति कोश के क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण स्थान के अधिकारी हैं। इनके कई कोश प्रकाश में आए हैं—(१) अभिधानचिन्तामणि माला (या संक्षेप में केवल अभिधान चिन्तामणि) के ६ खण्डों में क्रमशः जैन देवताओं, ब्राह्मण-देवताओं, मानवों, पशुओं, पाताल लोक के निवासियों, भाववाचक संज्ञाओं, विशेषण, अव्यय इत्यादि के विषय में शब्दों का संग्रह किया गया है। (२) निघण्टुशेष अभिधानचिन्तामणि का पूरक कोश है। यह आयुर्वेद विषयक बनस्पति परक कोश है। (३) अनेकार्थ संग्रह में प्राक्तन शब्दों का उपादान किया गया है। इसमें प्रारम्भिक अध्यायों एकाक्षरी, द्व्यक्षरी इस क्रम से षडक्षरी पर्यन्त विशेष्य विशेषणों की व्याख्या की गई है। इनके शिष्य महेन्द्र सूरि ने इस कोश की एक टीका का प्रचार किया था। हो सकता है यह उनकी लिखी हुई ही हो। केशव स्वामी का नानार्थार्णव संक्षेप में एक सुसंबद्ध संकलन है। मेदिनीकार का नानार्थ शब्दकोश अत्यन्त प्रसिद्ध है और इसका उपयोग भी अत्यधिक रूप में किया जाता है। इसे संक्षेप में मेदिनीकोश भी कहा जाता है।

क्षेमेन्द का लोक प्रकाश भी प्रकाश में आया है जो कोश तो कम अर्थशास्त्र की पुस्तक अधिक है। लेखक का मन्तव्य यह प्रतीत होता है कि दैनिक जीवन में उपयोगी सभी बातों का ज्ञान पाठक को हो जाए। कोश के भाग में भी साहित्य का तो कम इस दैनिक जीवन की घटनाओं का अधिक उपादान किया गया हैं। यह पुस्तक संस्कृत, फारसी और लोकभाषा तीनों में लिखी गई है। इसमें शाहजहां का भी वर्णन है जिससे ज्ञात होता है कि क्षेमेन्द्रं का लिखा

एक छोटा सा भाग विद्यमान रहा होगा जिसे किसी शाहजहां कालीन लेखक ने यह स्वरूप प्रदान कर दिया।

प्रथमाक्षर के आधार पर क्रम विन्यास की शैली में संस्कृत के कई कोश-ग्रन्थ लिखे गये जिनमें राधाकान्त देव का शब्दकल्पद्रुम और तारानाथ तर्क-वाचस्पति का वाचस्पत्यम् ये दोनों बृहदाकार के महाकोश इन्साइक्लोपीडिया का काम देते हैं। संस्कृत-अंग्रेजी कोशों में आप्टे और मोनियर विलियम्स के कोश अधिक प्रतिष्ठित हुए हैं।

प्राकृत और पाली में भी कई कोश लिखे गये जिनमें धनपाल की पैयालच्छी नाममाला, हेमचन्द्र की देशीनाममाला या देशी शब्द संग्रह, मोग्ग-ल्लायन की अभिधानप्पदीपिका अधिक प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त एक एक विषय को लेकर भी कुछ कोश लिखे गये। कतिपय अन्य छोटे-बड़े नये पुराने कोश प्रकाश में आये हैं। जिनमें कुछ इस प्रकार हैं—

(१) सम्भवतः १४ वीं शताब्दी के राघव की नानार्थमञ्जरी

(२) इरुगप दण्डाधिकारी की नानार्थरत्नमाला। ये विजय नगर के हरिहर द्वितीय (चौदहवीं शताब्दी) के मन्त्री थे। इसमें ६ काण्ड हैं एकाक्षर, द्वयक्षर इत्यादिक्रम से ५ काण्ड और एक अव्यय परक काण्ड।

(३) विश्वनाथ का कल्पतरु—यह एक विशाल कोश है जिसमें नाममाला और नानार्थ की दोनों शैलियां अपनाई गई हैं। १७ वीं शताब्दी के मेवाड़ नरेश जगत् सिंह इनके आश्रयदाता थे। इसमें लिंग और अव्यय पर भी विचार किया गया है।

(४) धारा नरेश भोज के नाम से प्रसिद्ध नाममालिका।

(५) महीप का अनेकार्थतिलक,

(६) सौभरि के नाम पर प्रसिद्ध एकार्थ नाममाला जो एकाक्षरी या द्वयक्षरी कोश है।

(७) सम्भवतः १६वीं शताब्दी के हर्षकीर्ति की लिखी शारदीयाख्य नाम-माला और उनके ही नाम पर प्रसिद्ध शब्दानेकार्थ।

(८) १७वीं शताब्दी के तंजौर नरेश शाह जी का लिखा शब्दरत्न समन्वय।

(९) १७वीं शताब्दी के ही केशव द्वारा लिखित शब्दकल्पद्रुकोश।

छन्दःशास्त्र

इस शास्त्र को वेदाङ्ग की मान्यता प्राप्त है क्योंकि वेदों के अध्ययन के

लिए इस शास्त्र का ज्ञान भी परमावश्यक है। ऋग्वेद की रचना छन्दों में ही हुई है और मन्त्रों में विभिन्न पादों की एकरूपता; गति इत्यादि की समानता को देखकर स्वभावतः अनुमान होता है कि ऋग्वेद का ऋषि रचना करने में किसी निश्चित पद्धति का अनुसरण कर रहा था, क्या उस पद्धति का परिचय देने वाली कुछ पुस्तकें भी विद्यमान थीं या नहीं इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। ऋग्वेद का गहराई से अध्ययन करने पर स्पष्ट रूप में प्रमाणित होता है कि वैदिक ऋषि नई-नई योजनाओं में रचना करने का आदी था। नई-नई पद्धतियों का आविष्कार कर उसमें रचना किया करता था—उसे विश्वास था कि पुरानी पद्धति से रचना की अपेक्षा नई विधि के मन्त्रों द्वारा देवता अधिक प्रसन्न होता है। स्वयं ऋग्वेद के परवर्ती भागों में छन्दों के ज्ञान का आभास मिलता है। ऋषि अपनी कला की तुलना रथकार द्वारा बनाये जाने वाले युद्ध यानों से करता है।

वैदिक छन्द

वैदिक छन्द का इतिहास उतना ही पुराना है जितना स्वयं वेद का। वेदों की रचना छन्दों में ही हुई है। भारतीय परम्परा जिस प्रकार वेदों को अपौरुषेय मानती है उसी प्रकार छन्द की भी दैवी उत्पत्ति स्वीकार करती है। छन्दों पर देवत्व का आधान करती है। देवता के रूप में यज्ञों में उन्हें हवि देने का भी विधान है (वशिष्ठ धर्मसूत्र १३.३)। शतपथ ब्राह्मण (८.१.१-२) में कहा गया है कि अन्य सत्त्वों की भांति प्रजापति ने छन्दों को उत्पन्न किया। गायत्री की असीमित शक्ति मानी जाती है जिसकी विभिन्न लोकों में अप्रतिहत गति है।

पाश्चात्य विद्वान भी वैदिक छन्द की प्राचीनता का समर्थन करते हैं। यद्यपि ग्रीक साहित्य से वैदिक साहित्य मेल नहीं खाता —ग्रीक साहित्य में एक चरण की इकाई मानी जाती है जबकि वैदिक छन्द में चरण का स्वतन्त्र महत्त्व नहीं होता; इसमें पूरे पद्य में चरण अपनी सत्ता खो देता है, किन्तु भारत ईरानी काल से इस साहित्य का सीधा सम्बन्ध ज्ञात होता है। वस्तुतः वैदिक छन्द भारत ईरानी युग और परवर्ती संस्कृत छन्दःशास्त्र की मध्यवर्ती स्थिति लिये हुए है। अवेस्ता में वर्णों की गणना को महत्त्व दिया जाता है। इसमें ८ और ११ वर्णों की पंक्तियां होती हैं जिनमें मात्रा की उपेक्षा कर दी जाती है और वे पंक्तियां पद्यों में सम्मिलित हो जाती हैं। लगभग यही स्थिति वैदिक छन्द की भी है। इसमें भी वर्णों की संख्या को महत्त्व दिया जाता है; मात्राओं पर अधिक विचार नहीं किया जाता।

वैदिक मन्त्रों में प्रत्येक पंक्ति ८, ११ या १२ वर्णों की होती है, कहीं-कहीं ५ अक्षरों का भी एक चरण होता है, किन्तु ऐसे छन्दों की संख्या बहुत कम है। वैदिक छन्द पर तीन दृष्टियों से विचार किया जा सकता है—चरण, पद्य और सूक्त। चरणों में उपादेय मात्राओं पर आंशिक रूप में ही विचार किया जाता है किन्तु संगीतात्मकता के लिए गीत और लय का ध्यान रखा जाता है। प्रथम अक्षरों की मात्राओं पर बिल्कुल विचार नहीं किया जाता—अन्तिम चार या पांच अक्षरों की लय पर विचार किया जाता है, उसमें भी अन्तिम वर्ण की मात्रा उपेक्षणीय होती है।

वेद में सर्वाधिक प्रतिष्ठित छन्द गायत्री है जो आठ वर्णों का होता है जिसमें ५वें; छठे और ७वें वर्ण की स्थिति इस प्रकार होती है—। ऽ। (लघु, गुरु, लघु)। शेष वर्णों पर विचार नहीं किया जाता। इस प्रकार के तीन चरणों की गायत्री होती है और चार चरणों का अनुष्टुप् होता है। परवर्ती साहित्य का अनुष्टुप् वैदिक अनुष्टुप् का ही किञ्चित् परिवर्तन रूप है। पंक्ति में इस प्रकार के ५ चरण होते हैं और महापंक्ति में ६ चरण। इन दोनों छन्दों का विरल प्रयोग हुआ है। ११ वर्णों के छन्द में प्रथम सात वर्णों की मात्रा पर विचार नहीं किया जाता ८, ६ और १० की स्थिति इस प्रकार होती है—ऽ। ऽ ग्यारहवां अक्षर उपेक्षणीय होता है। इसमें चौथे या पांचवें अक्षर पर यति होती है। इस प्रकार के चार चरणों का त्रिष्टुप् छन्द बनता है। यदि इस छन्द में एक अक्षर अधिक हो तो इस प्रकार के ४ चरणों का जगती छन्द बनता है जिसकी योजना में त्रिष्टुप् से यही भेद है कि इसमें ११वां अक्षर लघु रखा जाता है। इस प्रकार ८वें से ११वें तक स्थिति इस प्रकार होती है—ऽ। ऽ। १२वें अक्षर की मात्रा उपेक्षणीय होती है। पांच अक्षरों के छन्द में पहले और पांचवें अक्षर में मात्रा के प्रयोग में छूट है, दूसरे तीसरे, और चौथे अक्षर की स्थिति इस प्रकार होती है—ऽ। ऽ इसके चार चरणों से १० अक्षरों के प्रत्येक चरण वाले द्विपदाविराज छन्द बनते हैं। इसके ८ चरणों वाले छन्द भी मिलते हैं। दो या अधिक छन्दों को मिलाकर दूसरे कई प्रकार के छन्द बना लिए जाते हैं। मिश्रित छन्दों में कतिपय चरण चार अक्षरों के भी होते हैं और कभी-कभी १६ अक्षरों तक के हो जाते हैं। किन्तु ऐसे छन्दों का प्रयोगतुलनात्मक रूप में कम होता है। इन मिश्रित छन्दों में उष्णिक छन्द ८, ८ मात्राओं अथवा ८, ८, ८ और ४ वर्णों का होता है। ककुभ् छन्द (८; १२, ८)का, सतो बृहती (१२-८, १२-८) का और अत्यष्टि (१२, १२, ८, ८, ८, १२, ८ का होता है। सूक्तों में छन्दों (मन्त्रों) की संख्या का कोई नियम

नहीं है। कम से कम तीन और अधिक से अधिक ५८ मन्त्र एक सूक्त में आते हैं। बड़े सूक्तों में एक से अधिक छन्दों का भी योग देखा जाता है।

लौकिक छन्द

लौकिक छन्दों का आधार तो वेद ही है जैसी कि सभी शास्त्रों के विषय में भारतीय धारणा पाई जाती है, किन्तु वैदिक छन्द शास्त्र से लौकिक शास्त्र सर्वथा भिन्न है। अनेक वैदिक छन्द लौकिक संस्कृत काव्य में अपनी सत्ता खो चुके है और सैकड़ों लौकिक छन्दों का मूल रूप वेद में नहीं पाया जाता। जो वैदिक छन्द लोक में आए भी हैं उनकी लय लोक में बिल्कुल भिन्न हो गई है। लौकिक संस्कृत में पाद के केवल उत्तर भाग की लय पर नहीं किन्तु पूरे चरण की लय पर विचार किया जाता है। कुछ छन्द ऐसे हैं जिनमें पूरे चरण की मात्राओं की संख्या दे दी जाती है। इस प्रकार के छन्द मात्रिक छन्द कहलाते हैं। दूसरे प्रकार के छन्द जिनमें प्रत्येक वर्ण का गुरु लघु रूप नियत होता है वर्णिक छन्द कहलाते हैं। लक्षण-निर्माण की सुविधा के लिए तीन-तीन वर्णों के ८ गण बना लिए गए हैं जिनका परिचय सूत्र है —'यमाताराजभानसलगा:'। लघु के लिए 'ल' '१' अथवा '।' का संकेतिक प्रयोग किया जाता है, इसी प्रकार गुरु के लिए 'ग' '२' अथवा 'ऽ' का प्रयोग होता है। संयुक्त वृत्तों का भी प्रयोग होता है जिनमें दो या अधिक छन्दों के लक्षणों का संयुक्त रूप में प्रयोग किया जाया है। इस प्रकार के वृत्तों को उपजाति की संज्ञा दी जाती है। प्रायः चारों चरण समान होते हैं। किन्तु कभी-कभी विषम चरणों को मिलाकर भी एक छन्द बनाया जाता है। विषम वृत्तों में अधिकतर पहला और तीसरा तथा दूसरा और चौथा ये दो चरण एक जैसे होते हैं। इस दृष्टि से छन्दों को तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है —(१) सम छन्द जिनमें चारों चरण एक के होते हैं, (२) अर्ध सम जिनमें कुछ चरण मिलते हैं कुछ नहीं और (३) विषम जिनमें चारों चरण असमान होते हैं। छोटे छन्द दो पंक्तियों में लिखे जाते हैं जिन्हें दल कहा जाता है—इनमें पहली पंक्ति में पहला और दूसरा चरण और दूसरी पंक्ति में तीसरा और चौथा चरण लिखे जाते हैं। बड़े छन्दों में मध्य में विराम का भी नियम है जिसे यति कहा जाता है। लक्षण पूरा होने पर भी कुछ तत्त्व ऐसा होता है जिसके अभाव में पद्य में संगीतात्मकता नहीं आ पाती। इस तत्त्व को गति की संज्ञा दी जाती है। छन्दों के नामकरण में भी कलात्मकता पाई जाती है। इसमें प्रेयसी के विशेषणों की झलक पाई जाती है जैसे कान्तोत्पीड़ा, कुटिल गति, चञ्चलाक्षिका, चारुहासिनी या वसन्ततिलका अथवा पशुचेष्टाओं की झलक पाई जाती है जैसे अश्वललित, कोकिलक, शार्दूलविक्रीडित, भुजंग प्रयात इत्यादि।

छन्दःशास्त्रीय साहित्य का सर्वेक्षण

वैदिक छन्दों के विषय में वैदिक काल का कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रकाश में नहीं आया है। सामवेद के निदान सूत्र; शाङ्खायन श्रौतसूत्र (७.२) और ऋक्प्रातिशाख्य में छन्द रचना के विषय में प्रारम्भिक सूचनायें मिलती हैं। कात्यायन की अनुक्रमणी में भी उनका अनुसरण किया गया है। इस शास्त्र का सर्व प्राचीन उपलब्ध ग्रन्थ पिंगल का वेदांगछन्दस् है। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसकी महत्ता इसी बात से प्रकट है कि छन्द शास्त्र को पिंगल शास्त्र की अभिधा प्राप्त हो गई है। इसका नामकरण तो 'वेदांग' के साथ किया गया है, किन्तु इसमें वैदिक छन्दों के विषय में केवल एक प्रकरण है। इसका प्रधान वर्ण्य विषय लौकिक छन्द हैं। यह दो संस्करणों में हमें प्राप्त होता है। लौकिक या शास्त्रीय छन्दों के विषय में पूर्ववर्ती लेखकों का भी इसमें उल्लेख किया गया है जिनमें प्रमुख हैं—तण्डिन्, यास्क, काश्यप, शैतव, रात, माण्डव्य इत्यादि। इस पुस्तक के टीकाकार हैं—हलायुध, श्रीहर्ष शर्मा (मकरध्वज के पुत्र), लक्ष्मीनाथ, यादवप्रकाश और दामोदर।

पतञ्जलि के महाभाष्य से ज्ञात होता है कि उनके समय में छन्दःशास्त्र परिवृद्ध अवस्था में विद्यमान था। वैदिक और लौकिक दोनों प्रकार के छन्दों का उनके महाग्रंथ से परिचय प्राप्त होता है। निम्नलिखित उद्धरण में वैदिक छन्दों का उल्लेख किया गया है —

'तथा छन्दोग्रन्थोऽप्युपयुज्यते छन्दोविशेषाणां तत्र तत्र विहितत्वात्। तस्मात्सप्तचतुरुत्तराणि छन्दांसि प्रातरनुवाकेऽनूच्यन्ते इति ह्याम्नातम। गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपंक्तित्रिष्टुब्जगतीत्येतानि सप्त छन्दांसि। चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री। ततोऽपि चतुर्भिरक्षरैरधिकाष्टाविंशत्यक्षरोष्णिक्। एवमुत्तरोत्तराधिका अनुष्टुबादयोऽवगन्तव्याः। एवमन्यत्रापि श्रूयते। गायत्रीभिर्ब्राह्मणस्यादध्यात् त्रिष्टुभी राजन्यस्य, जगतीभिर्वैश्यस्येति। तत्र मगणयगणादि साध्यो गायत्र्यादिविवेकश्छन्दोग्रन्थमन्तरेण न सुविज्ञेयः। किञ्च यो ह वा अविदितर्षेयच्छन्दो दैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति × × × पापीयन् भवति। तस्मादेतानि मन्त्रे मन्त्रे विद्यादिति श्रूयते। तस्मात्तद्वेदनाय छन्दोग्रन्थ उपयुज्यते।

वैदिक छन्दों के उल्लेख के अतिरिक्त इसमें लौकिक छन्दों के नमूने पाये जाते हैं और ज्ञात होता है कि मालती, प्रहर्षिणी, प्रमिताक्षरा इत्यादि का भी पतञ्जलि को परिचय था। कभी-कभी पतञ्जलि को पिंगल से भी अभिन्न मान लिया जाता है जो प्रामाणिक नहीं है। परम्परा पतञ्जलि को निदानसूत्र का कर्ता भी मानती है। अग्निपुराण का एक अध्याय भी छन्दःशास्त्र परक है जो वस्तुतः पिंगल का ही उल्था है। नाट्यशास्त्र के दो अध्याय १४

और १५ छन्दःशास्त्र विषयक ही है । ये सब रचनायें पिंगल से परवर्ती प्रतीत होती हैं । वराहमिहिर की बृहत्संहिता में भी इस विषय का एक परिच्छेद प्राप्त होता है ।

ज्ञात होता है कि पिंगल के बाद एक लम्बा अन्तराल पड़ता है जिसमें उक्त स्फुट प्रकरणों के अतिरिक्त कतिपय स्वतन्त्र ग्रंथ अवश्य लिखे गये होंगे। जिनकी ओर पतञ्जलि ने संकेत किया है किन्तु उनमें अभी तक कोई भी उपलब्ध नहीं होता । किन्तु परवर्ती युग में इस विषय पर लिखी गई पुस्तकों की एक बहुत लम्बी सूची है जिनमें श्रुतबोध का विशेष उल्लेख किया जा सकता है यह कालिदास की रचना बतलाई जाती है । इसमें लक्षणों में ही उदाहरण विद्यमान हैं। कुछ इसे वररुचि कृत भी बतलाते हैं । कहा जाता है भामह और दण्डी ने भी छन्दःशास्त्र पर पुस्तकें लिखी थीं । भामह ने तो इस बात का संकेत भी दिया है । क्षेमेन्द्र का सुवृत्ततिलक एक प्रसिद्ध महत्त्वपूर्ण रचना है । इसमें छन्दों के लक्षणों और अपने ही ग्रंथों से लिए गए उदाहरणों के अतिरिक्त छन्दों के दोषों का भी वर्णन किया गया है । इसका महत्त्वपूर्ण विषय है छन्दों का विनियोग । क्षेमेन्द्र की सम्मति में कवि को सभी छन्दों का अभ्यास करना चाहिए; किन्तु किसी एक छन्द में प्रवीणता प्राप्त कर लेनी चाहिए । कालिदास को मन्दाक्रान्ता में, भारवि को वंशस्थ में और भवभूति को शिखरिणी में वरिष्ठता प्राप्त है । विषय के अनुसार भी छन्दों का विनियोजन करने की परम्परा है । कोई छन्द संयोग वर्णन में ही अच्छा लगता है, किसी छन्द का वियोग वर्णन में प्रयोग किया जाता है ।

हेमचन्द्र का छन्दोऽनुशासन, भट्टकेदार का वृत्तरत्नाकर गंगादास की छन्दोमञ्जरी, जयदेव का छन्दःशास्त्र, ये भी छन्दःशास्त्र विषयक प्रतिष्ठित रचनायें हैं ।

संगीत शास्त्र

भारतीय समाज वेदमन्त्रों की भांति संगीतशास्त्र की भी दैवी उत्पत्ति मानने का पक्षपाती है । इसे गन्धर्व-वेद की भी संज्ञा दी जाती है । गन्धर्व-वेद की वैदिक संज्ञा साम है जिसका सामान्य अर्थ है 'मृदुता', 'शांति', 'संतोष', अर्थविस्तार से इसकी वाच्य हो जाती है मृदुता इत्यादि में पर्यवस्तित होने वाली वाणी, इसका अभिप्रेत अर्थ है ऐसी लयात्मक स्वर लहरी जिससे परिशीलक मधुमती भूमिका की आनन्दमयी स्थिति का अनुभव करने लगता है ।

सामगान की सत्ता वेद के संहिता भाग में ही विद्यमान है । इसके लिए सामवेद की पृथक् रचना की गई है । महाभाष्य में लिखा है कि सामवेद की

हजार शाखायें हैं। किन्तु अब केवल तीन शाखायें ही उपलब्ध होती हैं--राणायणीय, कौथुमस और जैमिनीय संहिता। इनमें कौथुमस शाखा ही सर्वाधिक प्रतिष्ठित और प्रचलित है। इस शाखा के दो खण्ड (अचिक)हैं पूर्वाचिक (या केवल अचिक) और उत्तराचिक। किसी भी यज्ञ में उद्गाता बनने के लिए सामगान में प्रवीणता आवश्यक होती है। उसके बिना कोई व्यक्ति उद्गाता बनने का अधिकारी नहीं हो सकता। पूर्वाचिक में गान की शिक्षा दी जाती है और उत्तराचिक में उन मन्त्रों का सङ्कलन है जिन मन्त्रों का यज्ञ में गान किया जाता है। सर्वप्रथम शिक्षार्थी को उत्तराचिक के मन्त्रों की शिक्षा दी जाती है और जब वह पूर्ण रूप से मन्त्रों को ग्रहण कर लेता है तथा उन्हें कण्ठस्थ कर लेता है तब उसे पूर्वाचिक के मन्त्रों की विधि से मन्त्रों के गान की शिक्षा दी जाती है और अभ्यास करा दिया जाता है। दोनों अचिकों में प्रवीण हो जाने पर वह यज्ञ में उद्गाता बनने का अधिकारी हो जाता है।

सामवेद में ऋग्वेद से ही मन्त्र लिए गए हैं और वे भी अधिकांश रूप में अष्टम और नवम मण्डलों के मन्त्र हैं। सामवेद में कुल मन्त्रों की संख्या १८१० है जिनमें २६१ मन्त्रों को दोहराया गया है, यदि उन्हें उक्त संख्या से निकाल दें तो सामवेद के मन्त्रों की संख्या १५४९ रह जाती है जिनमें ७५ मन्त्र ऋग्वेद में नहीं पाये जाते। अधिकांश मन्त्र गायत्री छन्द में हैं या प्रगाथ छन्द में जो गायत्री और जगती की पंक्तियों को मिलाकर बनता है। जो ७५ मन्त्र प्राप्त नहीं होते हैं उनका भी अनुसन्धान किया जा सकता है। यहां मन्त्रों का सङ्कलन किसी वस्तु की दृष्टि से नहीं हुआ है, मन्त्र केवल साधन हैं साध्य है संगीत शिक्षा। वैदिक धर्म शास्त्री राग की उत्पत्ति मन्त्र से मानते हैं। उनके मत में मन्त्र योनि है जिनसे राग प्रसूत होता है। दोनों विधियां पाई जाती हैं—कोई मन्त्र कई रागों पर गाया जा सकता है और किसी राग पर कई मन्त्र गाए जा सकते हैं। फिर भी किसी मंत्र के लिए कोई राग निश्चित होता है; उस राग की योनि वही मंत्र माना जाता है। रागों की संख्या वहुत वड़ी है जिनका नामकरण भी वहुत पहले किया जा चुका था ब्राह्मण इत्यादि कर्मकाण्ड की पुस्तकों में रागों की चर्चा उनके नामों के साथ की गई है और उनका प्रतीकात्मक रूपों में वहुत अधिक महत्त्व है।

सामगान के विषय में कोई स्वतन्त्र पुस्तक उपलब्ध नहीं होती। केवल ब्राह्मण इत्यादि वेद विषयक विचारात्मक ग्रंथों में प्रासङ्गिक रूप में परिचय दिया गया है। इसके वाद एक लम्बा व्यवधान पड़ता है जिस काल में इस शास्त्र की क्या गतिविधि थी इसका कुछ पता नहीं चलता। वाद में संगीत पर नाट्य के एक उपकरण के रूप में विचार का प्रारम्भ हुआ। पाणिनि ने जिन

नटसूत्रों का उल्लेख किया है उनका क्या स्वरूप था इस बात का कोई पता नहीं चलता। हो सकता है नाट्योपकरण के रूप में संगीत शास्त्र पर भी उसमें प्रकाश डाला गया हो। नाट्य शास्त्र के २८ से ३४ अध्यायों में संगीतशास्त्रीय विषयों का प्रतिपादन किया गया है। इसीलिए काव्यमाला संस्करण की पुष्पिका में इस ग्रंथ भाग को नन्दिभरतसंगीत पुस्तक कहा गया है। इसमें दोनों प्रकार के संगीतों—गीत और वाद्य का विस्तृत विवरण दिया गया है। विभिन्न प्रकार के तन्त्री, अनवद्ध, ताल, सुषिर; (वंशी इत्यादि छिद्र युक्त वाद्य यन्त्र) आदि वाद्यों के साथ सप्तस्वर, आरोह-अवरोह, ताल, लय, ध्रुवा इत्यादि का वर्णन है। साथ ही वाद्ययन्त्रों का विनियोग तथा रसानुकूल स्वर साधना का भी विवेचन किया गया है। नृत्य के साथ भी संगीत अपेक्षित होता होता है, जब नर्तकी नृत्य के साथ रंगमञ्च पर प्रवेश करती है वहां गति प्रचार गीत, वाद्य और लय के साथ सम्पन्न होता है, किन्तु जहां स्वर साधना प्रधान संगीत अपेक्षित होता है वहां वाद्य का प्रयोग नहीं होता क्योंकि उससे स्वर साधना में व्याक्षेप उत्पन्न होता है। कामसूत्र और अनेक नाटकों के साक्ष्य से प्रमाणित होता है कि राजाओं और श्रीमानों के अंतःपुर नृत्य संगीत शालाओं से परिपूर्ण थे और उनमें वाद्य यन्त्रों (आतोद्यविधानों) और स्वर साधना का अभ्यास किया जाता था। नाट्यशास्त्र के अनुसार संगीत के तीन तत्त्व होते हैं—स्वर, ताल और पद, पद के अन्तर्गत व्याकरण और छन्दःशास्त्र दोनों आ जाते हैं।

नाट्य शास्त्र के वाद अनेक स्वतंत्र पुस्तकें लिखी गईं जिनमें संगीत के विभिन्न उपकरणों और विशेपताओं का विवरण दिया गया है। उनमें कतिपय निम्नलिखित हैं—

(१) **संगीत मकरंद**—इसकी रचना का श्रेय नारद को दिया जाता है। इसकी रचना सम्भवतः १०वीं शताब्दी में हुई थी।

(२) **संगीत रत्नाकर**—यह १३वीं शताब्दी की रचना है। इसके लेखक हैं कश्मीर के सोथल के पुत्र निश्शङ्क शार्ङ्गदेव। सम्भवतः यह एक पुरानी कृति है जिसका तेरहवीं शताब्दी में उद्धार किया गया है। इस पर १४५० ई० में लिखी कल्लिनाथ की टीका पाई जाती है। यह पुस्तक कब लिखी गई थी इसका पता नहीं चलता। इतना निश्चित है कि इसकी रचना नाट्यशास्त्र के बहुत बाद हुई होगी।

(३) **संगीत दर्पण**—यह लक्ष्मीधर के पुत्र दामोदर की लिखी हुई है। इसमें कल्लिनाथ का उल्लेख किया गया है। अधिकांश रूप में यह संगीत रत्नाकर पर आधारित है। कहीं-कहीं शब्दशः संगीतरत्नाकर को उद्धृत किया

गया है। जहां लेखक हटकर विवेचन करता है वह भी किसी पूर्ववर्ती स्तोत्र पर आधारित है और इसीलिए महत्त्वपूर्ण है।

(४) **दत्तिल अथवा दत्तिलीय** यह छोटी सी पुस्तक भरत के शिष्य दत्तिल की लिखी हुई मानी जाती है।

(५) **संगीत दामोदर** —नाट्य एवं सङ्गीत विषयक इस रचना में संगीत और नृत्य की विभिन्न पद्धतियों का वर्णन किया गया है। इसके लेखक हैं कवि चक्रवर्ती श्रीधर और सुभद्रा के पुत्र शुभंकर। इनका समय १५वीं शताब्दी सिद्ध होता है। ये लाहिड़ी परिवार के बंगाली ब्राह्मण थे।

(६) **औमापत्यम्**—संगीत और नृत्य विषयक पुस्तक, न तो इसके लेखक का और न रचना काल का पता है। यह शिव और पार्वती के संवाद के रूप में लिखी हुई पुस्तक है जिसमें शिव ने पार्वती को नृत्य गीत विषयक शिक्षा दी है।

(७) **सङ्गीतोपनिषत् सारोद्धार**—यह वाचनाचार्य सुधाकलश लिखित सन् १३२४ की रचना है। इसका लेखक जैन था।

(८) **नृत्य सग्रह** - यह अज्ञात लेखक की अज्ञात समय की कृति है।

(९) नन्दिकेश्वर का **अभिनय दर्पण** और (१०) श्री प्रवरदेव लिखित **संगीत समयसार** संगीत विषयक महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हैं।

(११) मातङ्ग लिखित **बृहद्देशी** और (१२) अहोवल लिखित **संगीत पारिजात** की लघुरचनाओं में विद्या और ताल का वर्णन किया गया है।

उक्त कृतियों के अतिरिक्त एकाकी विषयों पर कतिपय निबन्धन (मोनोग्राफ) भी विद्यमान हैं जिनमें सोमनाथ के राधा विनोद का उल्लेख किया जा सकता है। इसकी रचना केवल लय को लेकर हुई है। इसमें ५० ऐसे गीत-खण्ड लिए गए हैं जिनमें प्रत्येक की अपनी स्वतन्त्र लय है। इसके पांचवें खण्ड में संगीत स्वरों के लिए लेखक की रचनाओं का स्वराङ्कन के साथ उल्लेख किया गया है। प्राचीन साहित्य में नाट्य के रस तत्त्व के एक उपकरण के रूप में संगीत का विवेचन किया गया है। नाट्य के लिए यह उपयोगी है भी। किन्तु नाट्य निरपेक्ष रूप में भी इसका महत्त्व है इसमें सन्देह नहीं।

रत्न शास्त्र (रत्न परीक्षा)

रत्न परीक्षा का विज्ञान भी भारत में प्रसिद्ध रहा है जिसे रत्न शास्त्र की प्रतिष्ठा सुविधापूर्वक प्रदान की जा सकती है। यद्यपि इस विषय में साहित्य बहुत कम मिलता है फिर भी उल्लेखों से ज्ञात होता है कि यह शास्त्र भी कुछ पुराना अवश्य है। इस शास्त्र में रत्नों के नाम, उनके प्रकार, उसके विषय में पौराणिक कल्पनायें, उनकी उत्पत्ति की मिथक, उन स्थानों का वर्णन जहां ये

विभिन्न रत्न प्राप्त होते हैं; उनके रंग, उनका मूल्य, महत्त्व, धारण करने के फलाफल इत्यादि का विस्तार पूर्वक प्रकथन किया जाता है। उनके असली होने की पहचानें भी दी हुई हैं। उदाहरण के लिए असली चन्द्रकान्ता मणि पर चन्द्रमा की किरणें पड़ने से उनसे पानी निकलने लगता है, सूर्यकान्ता मणि पर सूर्य की किरणें पड़ने से उसमें लपट निकलने लगती है, सच्ची नीलम मणि वह होती है जिसको दूध में डाल देने पर दूध का रंग नीला हो जाता है। कवियों ने रत्नों की इन पहिचानों का अपने काव्यों में पर्याप्त उपयोग किया है। दिव्यावदान में एक व्यापारी द्वारा रत्न विद्या के अध्ययन का उल्लेख प्राप्त होता है। कामसूत्र में रत्न परीक्षा एक कला मानी गई है। वराहमिहिर की बृहत्संहिता में उनके इस शास्त्रज्ञान का पता चलता हैं। नारायण पण्डित की नवरत्न परीक्षा बुद्धभट्ट, अगस्तिमत ये इस विषय के प्रसिद्ध कृतिकार एवं कृतियां हैं जिनका सानुवाद सम्पादन १८९६ में पैरिस में हुआ था। इनका रचना काल क्या है इस विषय में किसी को कुछ ज्ञात नहीं है।

चौर्य शास्त्र

यह भी एक शास्त्र है जिसका उल्लेख भास के चारुदत्त, शूद्रक के मृच्छकटिक और महाभारत में आया है। मृच्छकटिक में इस शास्त्र के आचार्यों का नाम कार्तिकेय; कनकशक्ति, ब्रह्मण्यदेव, देवव्रत, भास्करनन्दी, और योगाचार्य बतलाए गए हैं। इस शास्त्र में चोरी करने की कुशलता और मार्ग में आने वाली विपत्तियों से बचने के उपाय भी बतलाए गए हैं। इसमें ऐसे मरहम बतलाये जिससे मनुष्य अदृश्य हो जाता है और घाव लगने पर रोग उत्पन्न नहीं होता। इसे षण्मुख शास्त्र भी कहा जाता है जिसके देवता षण्मुख अर्थात स्वामि कार्तिकेय हैं। वे ही चोरों के देवता माने जाते हैं। षण्मुख कल्प नामक पाण्डुलिपि भी प्राप्त हुई है जिसमें इस शास्त्र का विवेचन किया गया है।

धर्मशास्त्र

धर्मशास्त्र का अर्थ प्रायः विधि साहित्य (low literature) कर दिया जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि धर्मशास्त्र के क्षेत्र में कानूनी साहित्य भी आता है किन्तु कानूनी साहित्य की अपेक्षा इसका क्षेत्र कहीं अधिक व्यापक है—यह उस प्रकार का कानूनी साहित्य नहीं है जिस प्रकार की आजकल 'पेनाल कोड आफ इण्डिया' जैसी न्यायालयों के उपयोग की पुस्तकें प्रचलित हैं। पहली बात तो यह है कि इस साहित्य (धर्मसूत्रों) को जन्म ही श्रौत सूत्रों और गृह्यसूत्रों के सम्पर्क में हुआ है। उस समय अनुभव किया गया कि समग्र जनजीवन का पथप्रदर्शन करने के लिए साहित्य रचना की आवश्यकता है और उसका

परिणाम था धर्मसूत्रों का प्रणयन। इन रचनाओं में देवताओं के प्रति भक्ति के विषय में दैनिक कार्यक्रम और कर्तव्य, धार्मिक. परिशुद्धि, प्रायश्चित, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यासी, कृषक, व्यापारी उद्योग परायण इत्यादि सभी वर्गों के व्यक्तियों के अधिकार और कर्तव्य, पारिवारिक विधि व्यवस्था इन सब विषयों का वर्णन है। इनमें भोजन के नियम दिये हुए हैं। सदाचार के नियम, दुराचार के दण्ड, अभिवादन के प्रकार, सामाजिक और नैतिक व्यवस्थायें विधि निषेध इन सबके साथ सामान्य विश्वव्यवस्था, जगदुत्पत्ति की दार्शनिक विचारधारा सारांश यह कि जीवन यापन के समस्त विधि-विधान दिये हुए है। राजधर्म के प्रकरण में शासन व्यवस्था, न्याय व्यवस्था, नागरिक (civil दीवानी) कानून, आपरधिक (Criminal) कानून साक्षी प्रमाणीकरण इत्यादि के नियम भी इन पुस्तकों में दिए गये हैं। सार्वजनिक जीवन के अधिकारों और कर्तव्यों पर इन व्यवस्थाओं का पूरा शासन स्वीकृत किया जाता था। वयोवृद्ध और न्यायाधीश इन्हीं व्यवस्थाओं के अनुसार अपना निर्णय देते थे। यद्यपि ये पुस्तकें आजकल की कानूनी पुस्तकों की शैली में नहीं.लिखी गई फिर भी इनमें कानून की शक्ति विद्यमान थीं। ये ग्रन्थ सूत्रशैली में लिखे गए हैं; किन्तु इसमें स्थान-स्थान पर अनुष्टुप् या त्रिष्टुभ् की कारिकायें भी सम्मिलित कर दी गई हैं उन कारिकाओं को भी सूत्र ही कहा जाता है।

धर्मसूत्र साहित्य

(१)**बौधायन धर्मसूत्र**—बौधायन के सूत्र साहित्य का एक भाग है क्योंकि इनके श्रौत गृह्य और शुल्वसूत्र भी प्राप्त होते हैं किन्तु यह स्पष्ट है कि यह सूत्रग्रन्थ अपने पूर्ण सुरक्षित रूप में हम तक नहीं आया है। इसमें कुछ अंश जोड़े भी गये हैं। किन्तु यह प्रक्षेप बहुत पहले कर दिया गया था। इसका रचनाकाल ५०० बी० सी० से २०० बी० सी० के बीच माना जाता है।

२. **आपस्तम्बीय धर्मसूत्र**—आपस्तम्ब का कृष्ण यजुर्वेद शाखा से सम्बन्धित एक श्रौतसूत्र भी है जिसकी मान्यता दक्षिण भारत है। अतः यह धर्म सूत्र भी आपस्तम्ब के सूत्र साहित्य का एक भाग ही है। यह पूर्ण रूप से सुरक्षित रखा जा सका है। इसका रचनाकाल ई० पू० ५०० के लगभग माना जाता है। बौधायन और आपस्तम्ब की आपेक्षिक पूर्ववर्तिता के विषय में मतभेद है।

३. **गौतम धर्मसूत्र**—बौधायन की अपेक्षा भी प्राचीन है। क्योंकि बौधायन धर्म सूत्र में इसका उल्लेख किया गया है। वस्तुतः यह सबसे प्राचीन धर्मसूत्र है जिसका उल्लेख वसिष्ठ ने भी एक अधिकारी के रूप में किया है।

इसमें परवर्ती अनेक प्रक्षिप्त अंश पाये जाते हैं जिससे ज्ञात होता है कि इसका बाद में दूसरा संस्करण तैयार किया गया। इसका रचनाकाल ६०० बी. सी. से ४०० बी. सी. के मध्य माना जाता है।

४. **हिरण्य केशी धर्मसूत्र**— यह आपस्तम्ब से केवल बाह्य रूप में ही भिन्न है जिसमें कोई महत्व की बात नहीं है। इसका समय ईशा की ५वीं शताब्दी से बहुत पहले रहा होगा।

५. **वशिष्ठ धर्मसूत्र** —सम्भवतः ये वशिष्ठ वही हैं जिन्होंने ऋग्वेद के सप्तम मण्डल की रचना की। किन्तु इनका धर्मसूत्र परवर्ती है। हो सकता है वशिष्ठ लिखित प्राचीन धर्मसूत्र का यह परवर्ती संस्करण हो। यह भी हो सकता है कि इसके लेखक ने अपनी कृति को वशिष्ठ के नाम पर प्रचारित कर दिया हो। वैसे भी इसकी पाण्डुलिपियां अत्यन्त उच्छिन्न अवस्था में प्राप्त हुई हैं जिन्हें देखने से ही उनमें मिलावट की प्रतीति हो जाती है। यह पुस्तक कुछ खण्डों में ही प्राप्त हुई है। इसमें गौतम, यम, प्रजापति हारीत और मनु का उल्लेख पाया जाता है जिससे इसकी परवर्तिता स्वतः सिद्ध हो जाती है। इसका रचनाकाल लगभग ३०० बी० सी० से १०० बी० सी० के मध्य माना जा सकता है। कुमारिल के अनुसार यह धर्मसूत्र सर्वप्रथम ऋग्वेद से सम्बन्धित था, किन्तु बाद में समस्त ब्राह्मणों के लिए अधिकारी रचना बन गई। सम्भवतः यह उत्तर भारत की ऋग्वेद शाखा की रचना है।

६. **मानव धर्मसूत्र**—वशिष्ठ धर्मशास्त्र में मानव धर्मसूत्र के विवरण और उद्धरण दिए गए हैं जो सम्भवतः वर्तमान मनुस्मृति की केन्द्रीय विचार धारा का निर्माण करते हैं। दूसरी ओर मनुस्मृति में वशिष्ठ धर्मशास्त्र का उद्धरण दिया गया है। इसका आशय यह है कि प्राचीन मानव धर्मसूत्र वशिष्ठ धर्मसूत्र से पहले का है और मानव धर्मसूत्र पर आधारित मनुस्मृति की रचना बाद में की गई।

७. **विष्णु धर्मसूत्र** इसे ही वैष्णव धर्मशास्त्र या विष्णु स्मृति के नाम से भी पुकारा जाता है। यह एक विशाल रचना है जिसके उपक्रम और उपसंहार में कहा गया है कि यह विष्णु द्वारा प्रकाशित ज्ञान है। यह पूरी रचना विष्णु और पृथ्वी के संवाद रूप में है। इसका आधारभूत तत्व तो प्राचीन है किन्तु इसमें परिवर्धन बहुत किया गया है। यह कृष्णयजुर्वेद की काठक शाखा से सम्बन्ध रखता है।

८. **हारीत धर्मसूत्र**—वह ३० अध्यायों का अत्यन्त प्राचीन धर्मसूत्र है जिसमें सूत्र शैली के साथ कारिकाओं का भी प्रयोग किया नया है। इसका सम्बन्ध कृष्णयजुर्वेद की मैत्रायणीय शाखा से है।

९. **वैखानस धर्मसूत्र**—यह विखानस ऋषि का लिखा धर्मसूत्र है। जैसा कि नामकरण से सिद्ध होता है इसमें प्रमुख रूप से वनवास कालीन यतियों (वानप्रस्थों) के आचार एवं कर्तव्य कर्मों का उपदेश दिया गया है। सम्भवतः पहले यह एकमात्र इसी विषय को लेकर लिखा गया था और वानप्रस्थों का ही पथ प्रदर्शन करता था किन्तु बाद में इसमें और भी विषय जुड़ गये जिनमें वर्णाश्रम धर्म के इतर विषयों का भी समावेश कर दिया गया और यह सार्वजनिक सामान्य धर्मशास्त्र बन गया।

१०. **उशनस् स्मृति**—यह सूत्र और स्मृति दोनों की विशेषताओं को समाहित किए हुये हैं। इसमें श्लोक भी हैं और सूत्र भी। इसके उद्धरण भी प्रायः दिए जाते हैं।

११. **शंखलिखित धर्मसूत्र**—वाजसनेयी संहिता से सम्बन्धित।

१२. **पैथीनसि धर्मसूत्र**—इसका सम्बन्ध अथर्ववेद से है। पैथीनसि धर्मसूत्र का ज्ञान केवल उद्धरणों से ही होता है।

कतिपय अन्य धर्मसूत्र भी बतलाये जाते हैं जिनमें कुछ का ज्ञान तो केवल उद्धरणों से ही प्राप्त होता है और कुछ अपूर्ण हैं। इन धर्मसूत्रों का उल्लेख काश्यय, अत्रि, शातातप, और बृहस्पति इत्यादि के नाम पर किया जाता है। धर्मसूत्रों का किसी वैदिक शाखा से सम्बद्ध भाग बहुत पुराना है। इनका रचनाकाल ८०० बी० सी० से ३०० बी० सी० तक माना जाता है। इसमें प्रमुखता धार्मिक विधि विधानों की है। बहुत ही स्वल्प मात्रा में लौकिक विषय भी दिए गए हैं। किन्तु इनमें प्रक्षिप्त अंश बहुत अधिक हैं। बहुत बाद तक और सम्भवतः अब तक सूत्रों की रचना कर उन्हें प्राचीन ऋषियों के नाम पर प्रसिद्ध किया जाता रहा और अधिकतर उन्हें प्राचीन रचनाओं में जोड़ा जाता रहा। अतः प्राचीन व्यवस्था का अध्ययन करने और प्राचीन ऋषियों की सम्मति जानने के लिए अध्येता को बहुत अधिक विवेक से काम लेने की आवश्यकता है—अन्यथा वस्तुतत्व को ज्ञात करने में धोखा हो सकता है।

स्मृति साहित्य

धर्म सूत्रों पर आधारित उन्हीं की उत्तरवर्ती रचनायें स्मृति साहित्य में समाहित होती हैं। ये सूत्र रूप नहीं है किन्तु पद्यात्मक हैं, विशेष रूप से महाभारत इत्यादि अनेक ग्रंथों में सामान्यरूप से प्रचलित अनुष्टुप् छन्द में लिखी गई है। ये किसी वैदिक शाखा से सम्बन्धित नहीं है किन्तु सम्प्रदाय निरपेक्ष हैं और सभी वर्णों तथा सभी आश्रमों की आचार विधि (Code of conduct) का निर्देश देती है। कलेवर में ये अधिक विस्तृत हैं और सूत्रों में जिन

विषयों को चलता कर दिया गया है उनका विवरणात्मक सूक्ष्म विवेचन इन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। सूक्ति साहित्य भी इन ग्रन्थों की एक प्रवृत्ति है। धर्म के निर्णायक तत्वों में श्रुति और स्मृति के साथ सामयिक सदाचार और मनोगत भाव को भी सम्मिलित किया गया है।[१] राजधर्म के प्रकरण में व्यवहार विधि और प्रशासन व्यवस्था पर भी प्रकाश डाला गया है। आज भी समस्त भारत में संवैधानिक व्यवस्था के साथ स्मृतियों के पद्यों को भी प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। इन धर्म शास्त्रीय ग्रन्थों को अधिकाधिक मान्यता प्रदान करने के लिए इनका उद्भव किसी देवता या किसी ऋषि से बतलाया गया है। हिन्दुओं से सम्बन्ध रखने वाले कानूनों में इन्हीं धर्म शास्त्रों को अंग्रेजी सरकार ने मान्यता दी थी और सुधारवादी कतिपय संशोधनों के साथ वर्तमान सरकार भी उनको मान्यता प्रदान करती है। समस्त सामाजिक रीतिरिवाजों और संस्कारों में परम्परागत रूप में इन्हें ही मान्यता प्रदान की जाती है। महाभारत शान्ति पर्व में सूक्ति साहित्य के उद्भव के विषय में एक मनोरञ्जक विवरण दिया गया है—ब्रह्मा जी ने एक लाख अध्यायों के एक त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) परक साहित्य की रचना की थी और विश्व को अधिक सम्पन्न वनाने के लिए दण्डनीति का भी निर्माण किया था। शिवजी ने उसका संक्षेपण दस हजार अध्यायों में किया। फिर इन्द्र के दरवारी वाहुदन्तक ने ५००० अध्यायों में उसको संक्षिप्त किया। उसको वृहस्पति ने ३००० अध्ययाओं में संक्षिप्त कर वार्हस्पत्य शास्त्र की रचना की। अन्त में शुक्राचार्य ने १००० अध्यायों में संक्षिप्त कर उसे नीतिशास्त्र का स्वरूप प्रदान कर दिया। प्रमुख स्मृतियों का परिचय नीचे दिया जा रहा है।

१. **मनुस्मृति** मनु आर्य जाति के प्रथम पुरुष माने जाते हैं। आर्य जाति का विश्वास है कि यह सारी मानव जाति मनु से ही उत्पन्न हुई है, इसीलिए सभी व्यक्तियों को मनुष्य या मानव की संज्ञा प्रदान की जाती है। मनु आदि पुरुष ही नहीं समाज के आदि व्यवस्थापक भी है। उन्हीं की बनाई हुई व्यवस्थाओं से यह सारा समाज सन्चालित हो रहा है। वैदिक साहित्य में भी मनु की मान्यता स्वीकार की गई है। तैत्तिरी संहिता (II.१०.२) शतपथ ब्राह्मण (१.५.१.७) निरुक्त (III.४) गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और महाभारत आदि अनेक स्थानों पर अनेकशः 'ऐसा मनु ने कहा है' इन शब्दों के साथ अपनी वात को

---

१. वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

प्रमाणित करने का प्रयत्न किया गया है, यह आवश्यक नहीं है कि उक्त ग्रन्थों में जो बात मनु के साक्ष्य से प्रमाणित की गई है वह वस्तुतः वर्तमान मनुस्मृति में विद्यमान ही हो। बौद्ध अश्वघोष की कृतियों में भी अनेकशः मनु का व्यपदेश प्राप्त होता है।

मानवधर्म सूत्र की दैवी उत्पत्ति का अभिख्यान स्वयं मनुस्मृति में किया गया है। मनुस्तृति के प्रथम अध्याय में लिखा है कि जगत् के सृष्टिकर्ता ब्रह्मा जी ने अपने पुत्र मनु के प्रति इस शास्त्र का प्रकाशन किया था। मनु ने इसकी रचनाकर विद्वज्जनों और विशेषकर भृगु को मानव समाज में प्रचारित करने के निर्देश के साथ प्रदान किया। इसी निर्देश के अनुसार भृगु ने सूत्रों के स्थान पर इसे पद्य बद्ध स्मृति का रूप प्रदान किया। भारतीयों की दृष्टि में ही नहीं पाश्चात्त्य विद्वानों की दृष्टि में भी भारतीय समाज की सर्वाधिक मान्य मनुस्मृति ही है। क्या यह मानव धर्मसूत्र का अविकल अनुवाद है या स्मृतिकार की अपनी भी भावना इसमें स्थान पा सकी है इस विषय में निश्चयात्मक रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

मनुस्मति में १२ अध्याय हैं। सर्वप्रथम ऋषियों द्वारा विभिन्न वर्णों और जातियों के धर्म विषयक प्रश्न करने पर उपक्रम के रूप में मनु ने वेदों पर आधारित सृष्टि रचना पर प्रकाश डाला जिसमें सांख्य दर्शन के सिद्धान्त भी सम्मिलित थे। इसके बाद धर्म का निर्णय करने के चार स्रोतों का विवेचन किया—श्रुति, स्मृति, सदाचार और अपनी अन्तरात्मा[1] जिनमें श्रुति को सर्व प्रमुख प्रमाण स्वीकार किया।[2] मनुस्मृति के प्रमुख विषयों में द्विजातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों) में प्रत्येक द्वारा पालनीय कर्तव्य, ब्रह्मचर्य अवस्था में उपनयन, वेदारम्भ इत्यादि संस्कार और छात्रों द्वारा पालनीय नियम, विवाह गृहस्थ धर्म, पञ्चमहायज्ञ इत्यादि दैनिक कर्तव्य; भोजन के नियम, निषिद्ध भोज्य पदार्थ, अपवित्रतायें और पवित्री करण के नियम, स्त्रियों के लिए पालनीय नियम इन सभी विषयों पर १ से ५ अध्यायों तक प्रकाश डाला गया है। ६ठे अयाय में वानप्रस्थों और सन्यासियों की जीवनचर्या और कर्तव्य कर्मों पर प्रकाश डाला गया है। ७वें अध्याय से राजधर्म का प्रकरण प्रारम्भ होता है। सातवें अध्याय में राजा के कर्तव्यों पर विचार किया गया है जिसमें

---

१. वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्म लक्षणम्॥

२. धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।

शासन व्यवस्था और राजशास्त्र के नियम दिए गए हैं। ८वें और नवें अध्यायों में दीवानी और फौजदारी की न्यायिक निर्णय विधि, साक्ष्य इत्यादि के विषय शपथ परीक्षा इन सबका विवेचन किया गया है। न्यायालय के विचारणीय विषयों को १८ भागों में विभाजित किया गया है जिनमें ऋण, सम्पत्ति इत्यादि के आर्थिक विषय, सीमा विवाद, नौकरीपेशा के विवाद, मारपीट, यौन अपराध इत्यादि सामान्यत: प्रायिक विवाद विषय आ जाते हैं। दसवें अध्याय में वर्ण संकर जातियों तीनों उच्चवर्णों के व्यवसायों और आपद्धर्मों का वर्णन किया गया है। ११वां अध्याय प्रायश्चित प्रकरण हैं। इसमें कर्तव्यों के पालन करने तथा दूसरे प्रकार के पापों इत्यादि पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। १२वें अध्याय में उच्च और नीच कर्मों के आधार पर पुनर्जन्म की प्राप्ति, प्रेत की परलोक यात्रा, मोक्ष इत्यादि विषयों का उपादान किया गया है जिसमें सांख्य योग और वेदान्त का प्रभाव भी द्ष्टिगत होता है। इन छन्दोवद्ध मनुस्मृति इत्यादि धर्मशास्त्रों की एक वहुत बड़ी विशेषता यह है कि इनमें कानूनी पुस्तकों का रूखापन नहीं पाया जाता। इनमें बीच-बीच में प्रकरणानुसार सूक्तियां भी हैं और अलंकारादि के प्रयोग से प्रकरण को रोचकता भी प्रदान की गई है। प्रवाहपूर्णता इनकी अन्यतम विशेषता है।

मनुस्मृति पर समस्त भारत में वहुत-सी टीकायें लिखी गईं। सबसे पुरानी टीका मेधातिथि का मनुभाष्य प्राप्त होता है; यह टीका नवीं शताब्दी की लिखी हुई है। संभवत: ये काश्मीर के रहने वाले थे। इन्होंने पूर्ववर्ती अनेक टीकाकारों का उल्लेख किया है। गोविन्दराज की १२वीं शताब्दी में लिखी टीका एक प्रामाणिक कृति है। सर्वाधिक प्रसिद्ध टीका वनारस के कुल्लूक भट्ट की है जो १५वीं शताब्दी में हुए थे। इस टीका में गोविन्दराज का आश्रय अत्यधिक मात्रा में लिया गया है। मनु के अनुकरण पर वर्मा, श्याम, जावा इत्यादि देशों में भी धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ लिखे गये।

(२) **नारद स्मृति**—इसके गद्यात्मक उपक्रम में लिखा है कि यह पुस्तक मनुस्मृति के नवें अध्याय में वर्णित विधिव्यवस्था (कानूनी विधानों) का निरूपण करती है जिसका प्रणयन देवर्षि नारद ने मनुस्मृति के परिपूर्ण समीक्षात्मक नवीन संस्करण के रूप में किया था। इस स्मृति के नैपाली संस्करण को 'नारद द्वारा प्रकाशित मानव धर्मशास्त्र का एक संस्करण' कहा जाता है। निस्सन्देह यह रचना मनुस्मृति के छन्दोबद्ध संस्करण के बाद की है। मानव धर्मसूत्रों को छन्दोवद्ध करने वाले भृगु हैं और मनुस्मृति को नवीन रूपों में प्रकाशित करने वाले भृगु. नारद और अंगिरा में नारद का नाम

भृगु के बाद आता है। मनु के वर्गीकरण में १८ प्रकार के विवादों का उल्लेख किया गया था। इस स्मृति में उनकी संख्या १३२ कर दी गई। इससे भी इसकी परवर्तिता सिद्ध होती है। इसमें दीनार नामक स्वर्ण मुद्रा का उल्लेख किया गया है जिससे सिद्ध होता है कि इसका रचनाकाल दूसरी शताब्दी बी० सी० से पहले और चौथी शताब्दी ए० डी० के बाद नहीं हो सकता। ८वीं शताब्दी में असहाय ने इसकी एक टीका लिखी थी।

(३) **बृहस्पति स्मृति**—यह स्मृति कुछ भागों में ही विधिवेत्ताओं द्वारा सुरक्षित रखी जा सकी है। यह एक प्रकार से मानव धर्मशास्त्र की वार्तिक जैसी रचना है जो मानव धर्मशास्त्र के विधानों की ही व्याख्या करती है। कहीं यह उन्हें पूरा करती है, कहीं विस्तारित करती है और कहीं पल्लवित करती है। नारदस्मृति की अपेक्षा कहीं-कहीं यह अधिक बढ़े-चढ़े धरातल पर स्थित है और इसमें विधवा के सहमरण का निषेध किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि यह नारद स्मृति से बाद की रचना है। दूसरी ओर कात्यायन ने इन्हें प्रामाणिक आचार्य माना है। अतः बृहस्पति बहुत बाद के ग्रन्थकार नहीं हो सकते सामान्यतः इनका समय २०० से ४०० ई० के मध्य मालूम पड़ता है। यह भी हो सकता है कि कात्यायन ने जिन बृहस्पत्ति का उल्लेख किया है वे कात्यायन पूर्ववर्ती कोई दूसरे बृहस्पति हों।

(४) **याज्ञवल्क्य स्मृति**—याज्ञवल्क्य का यजुर्वेद के साथ अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है। यजुर्वेद के ब्राह्मण के तो ये निर्माता ही माने जाते हैं। इनके आश्रयदाता जनकराज थे। अतएव निश्चित ही इनका आवास पूर्वी प्रदेश था। मनुस्मृति के बाद इसी स्मृति का सर्वोत्कृष्ट स्थान है। इसका भी प्रारम्भ मनु-स्मृति के समान ही हुआ है। याज्ञवल्क्य ने ऋषियों की प्रार्थना पर ही धर्म-शास्त्र का निरूपण किया है। इसकी विषयवस्तु लगभग ३ उपखण्डों में विभाजित की जा सकती है—आचार, व्यवहार और प्रायश्चित्त। व्यवहारा-ध्याय में उन्हीं १८ विषयों का निरूपण किया गया है जो मनुस्मृति में आये हैं किन्तु उनके अतिरिक्त इसमें सेवा शर्तों का प्रकरण भी रखा गया है और एक विषय प्रकीर्णक भी है जिसमें फुटकर विषय सम्मिलित कर दिए गए हैं। साक्षी और शपथ के अतिरिक्त इसमें प्रलेख (दस्तावेजों) के प्रमाण का भी विस्तृत विवेचन किया गया है। इनके नक्षत्रों के उल्लेख तथा दूसरे प्रमाणों की विस्तृत समीक्षा कर काणे महोदय इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि इसका रचना काल ई० पू० प्रथम शताब्दी से ईसा की दूसरी शताब्दी के मध्य किसी समय

माना जा सकता है ।

मनु की अपेक्षा इस स्मृति का दृष्टिकोण अधिक अर्वाचीन अधिक विकसित एवं अधिक व्यवस्थित है । इसके विषयों का वर्गीकरण अधिक व्यवस्थित और अधिक संक्षिप्त है । इसे आदर भी मनु की अपेक्षा कुछ ही घटकर प्राप्त हुआ है । इसकी रचना संश्लिष्ट भी है और प्रभावशाली भी । इस पर कई टीकायें भी लिखी गई हैं जिनमें विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा सर्वाधिक प्रसिद्ध है और मिताक्षरा सहित याज्ञवल्क्य स्मृति को अंग्रेजी सरकार ने हिन्दू ला के रूप में मान्यता प्रदान की थी । विज्ञानेश्वर ११वीं शताब्दी में दक्षिण के निवासी थे किन्तु इनकी टीका का दक्षिण के समान उत्तर में भी पर्याप्त प्रचार हुआ । मिताक्षरा पर भी अनेक टीकायें लिखी गईं ।

वृद्धयाज्ञवल्क्य, योगयाज्ञवल्क्य और बृहत्याज्ञवल्क्य का भी उल्लेख पाया जाता है । मिताक्षरा में वृद्ध याज्ञवल्क्य का प्रायः उल्लेख पाया जाता है जोकि व्यवहार और प्रायश्चित्त उपखण्डों के लेखक माने जाते हैं । वाचस्पति मिश्र ने ८९८ संवत् में न्याय सूची निबन्ध में योगयाज्ञवल्क्य का उल्लेख किया है । अतः इनका समय ८वीं शताब्दी से पहले का ही सिद्ध होता है ।

(५) **कात्यायनस्मृति** यह भी शुक्ल यजुर्वेद से सम्बन्धित है । यह न्यायविदों के उद्धरणों में केवल कुछ भागों में पाई जाती है । इसकी वस्तु बृहस्पति स्मृति से मेल खाती है । इसमें बृहस्पति के उद्धरण भी दिये गए हैं । इससे इसका बृहस्पति की अपेक्षा परवर्तित्व सिद्ध होता है । अतः सम्भव है कि इसका रचना काल ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी हो ।

(६) **पराशर स्मृति**—प्रधानरूप से आचार और प्रायश्चित्त विषयकस्मृति है । कलियुग में इस स्मृति के परिपालन का विशेषरूप से निर्देश दिया गया है -

कृते तु मानवाः धर्मास्त्रेतायां गौतमाः स्मृताः ।
द्वापरे शङ्खलिखिताः कलौ पाराशराः स्मृताः ॥

याज्ञवल्क्य ने पराशर को धर्म के विषय में अधिकारी माना है । सम्भवतः मेधातिथि ने जिन पराशर का उल्लेख किया है वे स्मृतिकार पराशर ही हैं । काणे के अनुसार इनका समय ५वीं शताब्दी के आसपास है । माधव की टीका के साथ इस स्मृति का प्रकाशन हुआ है ।

स्मृति साहित्य का सर्वेक्षण

१८ महापुराण और गीता के १८ अध्यायों के अनुकरण पर स्मृतिकार भी कभी-कभी १८ बतलाये जाते हैं—मनु, याज्ञवल्क्य, अत्रि, विष्णु, हारीत, उशनस्, अंगिरा, यम, कात्यायन, बृहस्पति, पराशर, व्यास, दक्ष, गौतम,

वशिष्ठ, नारद, भृगु और अंगिरा। अल्बरूनी ने लिखा है कि ब्रह्मा के बीस पुत्रों ने स्मृतियों की रचना की। अल्बरूनी के बतलाये हुए २० नामों में उक्त सूची के दो नाम नहीं हैं—नारद और भृगु तथा उसमें चार नाम जोड़ दिए गए हैं—आपस्तम्ब, शातातप, सामवर्त और शंखलिखित। इनमें कतिपय धर्मशास्त्रकारों की कृतियां उपलब्ध होती हैं; कतिपय अन्य ऋषियों के उद्धरण प्राप्त होते हैं और कतिपय का उल्लेख मात्र अधिगत होता है। परवर्ती लेखकों की कृतियां भी प्रामाणिकता सम्पादन के लिए ऋषियों के नाम पर ही प्रसिद्ध की गई हैं। यहां जिन स्मृतिकारों का उल्लेख किया गया है उनमें कई एक के नाम के साथ लघु, वृद्ध, वृहत इत्यादि विशेषण जोड़कर उनके कई-कई व्यक्तित्व बना दिये गए हैं। उदाहरण के लिए लघु हारीत स्मृति, वृद्ध हारीत स्मृति, वृद्धमनुस्मृति, वृहन्मनुस्मृति इत्यादि।

इन रचनाओं के नामकरण में ही इनकी विषयवस्तु का पता चलता है। ये स्मृतियां (संस्मरण) व्यक्तियों की नहीं किसी विशिष्ट काल की सामाजिक व्यवस्था की हैं जिसमें अनुस्यूत चिरन्तन व्यवस्था के साथ विभिन्न जातियों के मेल-मिलाप जन्य सामान्य परिवर्तनों को भी आत्मसात् किए हुए हैं। भारत के उत्तर पश्चिम से विभिन्न जातियां आती रहीं और किसी भी विचारधारा को आत्मसात् कर लेने की भारतीय मनोवृत्ति के कारण वे भारतीय समाज में घुलती-मिलती गईं और भारतीय समाज का अंग बनती रहीं। जातियों की बहुतायत का यही रहस्य है। इस सम्मिलन से समाज में नामपात्र को ही सही जो परिवर्तन उपस्थित होता रहा उस सबका प्रतिनिधित्व इन रचनाओं में पाया जाता है। ये ग्रन्थ भारतीय समाज के सर्वाङ्गीण लेखा-जोखा हैं। सृष्टि उत्पत्ति विषयक भारतीय विचारधारा, धार्मिक और सामाजिक चित्रण के साथ दार्शनिक विचारधारा का संक्षिप्त परिचय, भौगोलिक विभाजन, श्रौत और गृह्य विधियों की वे विशेषतायें जो सामाजिक दैनिक जीवन में अपना घर कर गई हैं उनका विवेचन, भोजनादि विषयक अनुपालनीय आचार, सामान्य नैतिकता, वर्णाश्रम धर्म का सर्वाङ्ग पूर्ण विवेचन, शासन व्यवस्था, दण्डनीति सामाजिक अपराध और उनके प्रायश्चित्त सारांश यह कि धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक इत्यादि जीवन पद्धति का पूर्ण विवेचन और सदाचार का पूरा लेखा-जोखा जितने उच्चकोटि के रूप में इन स्मृतियों में पाया जाता है उतना विश्व साहित्य के किसी अन्य भाग में उपलब्ध नहीं होता इनमें सामाजिक परिवर्तनों का भी पूरा ध्यान दिया गया है। प्राक्तन स्मृति में लोहार, सुनार इत्यादि जो व्यवसाय हैं परवर्ती स्मृतियों में वे जातियां बन गई हैं। वैवाहिक विधि और नियोग प्रथा के नियम निरन्तर बदलते रहे हैं। इस प्रकार

भारतीय समाज के ये गौर व ग्रन्थ हैं और समाज का अध्ययन करने के लिए सबसे बड़े साधन हैं।

धर्मनिबन्ध

जिस प्रकार धर्मसूत्रों का स्थान स्मृतियों ने ले लिया उसी प्रकार स्मृतियों का स्थान धर्मनिवन्धों ने लिया। इन निबन्धों में विवेचनात्मक शैली अपनाई गई है और विभिन्न ग्रन्थों के उद्धरण देकर विवादग्रस्त विषयों का निर्णय किया गया है। ये पुस्तकें अधिकतर राजा लोगों ने न्यायपालिका एवं प्रशासनाधिकारियों से लिखवाये हैं जिनका प्रधान उद्देश्य न्याय व्यवस्था का पथ-प्रदर्शन करना और जनता को सदाचार का उपदेश देना है। इस दिशा में निम्नलिखित कतिपय ग्रन्थों का उल्लेख किया जा सकता है—

(१) **स्मृतिकल्पतरु**—इसे स्मृतिकल्पद्रुम और कृत्यकल्पतरु की भी संज्ञा दी जाती है। इसकी रचना कन्नौज के राजा गोविन्दचन्द्र के निर्देश पर १२वीं शताब्दी में लक्ष्मीधर ने की थी। इसमें विभिन्न धार्मिक विषयों तथा विशेष-रूप से न्यायिक प्रक्रिया पर विचार किया गया है।

(२) **ब्राह्मण सर्वस्व**—बारहवीं शताब्दी बंगाल के राजा लक्ष्मणसिंह का प्रधान न्यायाधीश हलायुधलिखित ब्राह्मणों के कर्तव्य के विषय में ग्रन्थ।

(३) **स्मृतिचन्द्रिका** – १२वीं शताब्दी की एक रचना जिसका केवल एक खण्ड दायभाग प्रकाशित हुआ है।

(४) **चतुर्वर्ग चिन्तामणि**—१३वीं शताब्दी के हेमाद्रि की लिखी अनेक धार्मिक विषयों की विशाल पुस्तक है। हेमाद्रि यादववंश के राजाओं के मन्त्री और अभिलेखाधिकृत थे।

(५) **स्मृतिरत्नाकर** यह एक विशाल संग्रह पुस्तक १३२५ ई० में हरसिंहदेव के मन्त्री चन्द्रेश्वर की लिखी हुई है।

(६) **कृत्य चिन्तामणि** यह भी एक छोटी पुस्तक उन्हीं चन्द्रेश्वर की लिखी हुई है।

(७) **मदन पारिजात**—१४वीं शताब्दी के मदनपाल के संरक्षण में विश्वेश्वर ने धार्मिक प्रयोग तथा उत्तराधिकार एवं प्रायश्चित्त के विषय में इस पुस्तक की रचना की। इसमें विभिन्न स्मृतियों के उद्धरण असाधारण रूप में संकलिक किये गए हैं।

(८) **धर्मरत्न** · सम्भवत: १५वीं शताब्दी के जीमूतवाहन की लिखी व्यवहार (न्याय-व्यवस्था-कानूनी कार्यवाही) परक रचना है।

(९) **दायभाग**— बंगाल के विधिविभाग की एतद्विषयक रचना है।

(१०) स्मृतिरत्न—१६ शताब्दी के रघुनन्दन ने २८ अध्यायों में इस पुस्तक की रचना की थी जिसमें विशेषरूप से दिव्य (शपथ) परीक्षा, दायभाग और विधि व्यवस्था (कानूनी प्रक्रिया) पर बल दिया गया है।

(११) भगवन्तभास्कर - १७वीं शताब्दी के नीलकण्ठ द्वारा लिखी १२ मयूरवों की पुस्तक।

(१२) निर्णयसिन्धु—नीलकण्ठ के छोटे भाई कमलाकर भट्ट की लिखी एक विशालकायपुस्तक जिसका प्रचलन उत्तरप्रदेश, बिहार और महाराष्ट्र में विशेषरूप से हुआ। इन प्रान्तों में यह अधिकृत रचना मानी जाती है।

(१३) धर्मतत्त्व—जिसका उपनाम शूद्रधर्मतत्त्व या शूद्रकमलाकर भी है। इसकी रचना कमलाकर भट्ट ने ही शूद्रों के धर्मनिरूपण के लिए की थी।

(१४) वीरमित्रोदय - इसके लेखक हैं मित्रमिश्र। यह विश्वकोश जैसी विशाल पुस्तक है जिसमें धार्मिक विषयों के अतिरिक्त औषध, ज्योतिष, भक्ति, मोक्ष इत्यादि विषयों का भी समावेश किया गया।

(१५) दत्तक मीमांसा—१७वीं शताब्दी में बनारस के नन्दपण्डित द्वारा दत्तक पुत्र के कानूनी अधिकारों का वर्णन किया गया है।

(१६) दत्तार्क या दत्त पुत्रार्क—दादा खडक जी कोणेरी द्वारा १७६६ में लिखा गया था।

उक्त निबन्ध ग्रन्थों के अतिरिक्त मिथिला के राजा हरिनारायण के दरबार में विधिविशेषज्ञ वाचस्पति मिश्र द्वारा लिखित कतिपय 'चिन्तामणि' शीर्षक ग्रन्थ भी प्रसिद्ध हैं। अंग्रेज शासकों द्वारा भी विधिविषयक कतिपय ग्रन्थों की रचना करवाई गई। इस प्रकार विधिसाहित्य अत्यन्त विस्तृत है। और प्रारम्भ से ही समाज का प्रामाणिक निर्देशक रहा है। ये ग्रन्थ सम्प्रदाय या शाखा विशेष के नहीं अपितु सार्वजनीन रचनायें हैं जिनका परिपालन प्रत्येक हिन्दू परिवार के लिए अनिवार्य माना जाता है।

अर्थशास्त्र

अर्थशास्त्र का क्षेत्र

सामान्य भारतीय छात्र अर्थशास्त्र का अर्थ एकनामिक्स समझता है जिसके लिए संस्कृत में पृथक् शब्द है वार्ताशास्त्र। अर्थशास्त्र का वाच्य राजशास्त्र है जिसके अन्तर्गत लोकजीवन में सफलता प्राप्त करने के प्रायः सभी तत्त्व आ जाते हैं; इसमें घरेलू, प्रशानिक एवं सामाजिक अर्थव्यवस्था भी है तथा इतर प्रशासन व्यवस्था भी है। इसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र राजनीति एवं कूटनीति है। अतः इसे नीतिशास्त्र की संज्ञा भी दी जाती है जिसमें प्रशासन

चलाने की विधियों का पथ-प्रदर्शन किया जाता है; साथ ही दण्डनीति का निर्देश भी रहता है। धर्मशास्त्र में सदाचार का महत्त्व है किन्तु इसमें स्वार्थ-साधन प्रमुख माना जाता है। इसमें यथार्थ जीवन की आवश्यकता पर वल दिया जाता है जवकि धर्मशास्त्र में आदर्श रूप के अनुपालन का विधान किया जाता है। इस प्रकार प्रायः ये दोनों एक-दूसरे के विरोधी हो जाते हैं। एक में जिस बात का महत्त्व है दूसरे में उसकी उपेक्षा कर दी जाती है। धर्मशास्त्र वेद विहित धार्मिक क्रियाकलाप को भी महत्त्व देता है और सामान्य धर्म का पालन करने का तो विधान करता ही है जबकि अर्थशास्त्र धर्म-पालन का उसी सीमा तक विधान करता है जहां तक धर्म लौकिक स्वार्थ पूर्ति में आड़े न आता हो। अर्थ-शास्त्र की सफलता भौतिक सम्पत्ति की वृद्धि का उपाय बतलाने में है।

अर्थशास्त्र का प्रारम्भिक रूप

वेद का प्रधान स्वर धार्मिक है; अतः वैदिक साहित्य में भौतिकता प्रधान अर्थशास्त्र के समावेश की आशा ही नहीं की जा सकती। केवल अथर्ववेद के परिशिष्ट चरण व्यूह में अर्थशास्त्र का उल्लेख पाया जाता है कि अर्थशास्त्र एक उपवेद है। धर्मशास्त्र के समान अर्थशास्त्र पर सूत्रसाहित्य भी उपलब्ध नहीं होता। स्मृतिग्रन्थों में जो सूक्तियां पाई जाती हैं उनमें अनेक इस प्रकार की हैं जिनका वास्तविक धार्मिक परम्परा से सम्बन्ध नहीं हैं और उन्हें धर्म-शास्त्र तमा अर्थशास्त्र दोनों की श्रेणी में रखा जा सकता है। ज्ञात होता है पहले लौकिक साहित्य के अन्तर्गत दोनों का समावेश किया जाता था। दोनों कव एक-दूसरे से पृथक् हो गये इसका कुछ पता नहीं चलता। वैसे कालिदास, माघ, भारवि, भास, कल्हण, सोमदेव इत्यादि अनेक प्रतिष्ठित कवि राजशास्त्र को भी अपनी काव्यपूर्ति के लिए आवश्यक मानते थे। याज्ञवल्क्य और नारद स्मृतिकारों ने धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र की परस्पर पृथक् सत्ता स्वीकार की है और कहा है कि जहां दोनों शास्त्रों का परस्पर विरोध हो वहां वरीयता धर्मशास्त्र को देनी चाहिए। वाल्मीकि रामायण में लिखा है धर्म, अर्थ और काम तीनों के विरोध में जिस कार्य से धर्म की पूर्ति हो वही कार्य करना चाहिए। क्योंकि जो व्यक्ति अर्थ परायण हो जाता है उससे लोग द्वेप करने लगते हैं और कामवासना और कामसेवन में अत्यन्त लिप्त हो जाना बहुत अधिक प्रशस्त नहीं है।[1] इस सबसे इतना तो सिद्ध ही है कि दोनों शास्त्र

---

१. यत्रापिसर्वेस्युरसन्निविष्टा—धर्मों यतः स्यात्तदुपक्रमेत।
द्वेष्यो भवत्यर्थ परोहि लोके, कामात्मता खल्वति न प्रशस्ता ॥

बहुत पहले एक-दूसरे से पृथक हो गये थे। भारतीय परम्परा बृहस्पति को अर्थशास्त्र का प्रणेता मानती है और इस शास्त्र को बार्हस्पत्य की संज्ञा देती है। इस नाम के शास्त्र का महाभारत में तो उल्लेख है ही, भास ने भी प्रतिमा नाटक में रावण के मुख से कहलाया है कि उसने बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र का भलीभांति अध्ययन किया है।[1] किन्तु अब जो बृहस्पतिशास्त्र प्राप्त हुआ है वह अपने पुराने रूप में नहीं है। उसमें परवर्ती विचार गुंथे हुए हैं।

महाभारत और अर्थशास्त्र

अर्थशास्त्र का कुछ अधिक विस्तृत परिचय हमें महाभारत में प्राप्त होता है। इस महाग्रन्थ में कई कई खण्ड सूक्ति साहित्य की छोटी-मोटी रचना प्रतीत होते हैं जिनमें कहीं तो धार्मिक सूक्तितां घूली मिली हैं और कहीं दोनों की पृथक्-पृथक् स्पष्ट प्रतीति होती हैं। आदिपर्व (अ० १४०) में धृतराष्ट्र के मन्त्री कणिक धृतराष्ट्र को निश्शंक होकर अपने विरोधियों के समाप्त करने का उपदेश देते हैं। इसी प्रकार वनपर्व में दरबारियों की कार्य पद्धति का उपदेश दिया गया है। विदुरनीति (उद्योग पर्व अ० ३३-३९) में विदुर ने जिस नीति का उपदेश दिया है उसमें धर्म और अर्थ दोनों घुले-मिले हैं। इसी प्रकार शान्ति और अनुशासन पर्वों में भीष्म पितामह के उपदेशों में अनेकश: अर्थ-शास्त्रीय सूक्तियों का समावेश पाया जाता है। जैसाकि पहले बतलाया जा चुका है महाभारत में त्रिवर्ग साधन रूप सूक्ति साहित्य के उद्‌गम और संक्षिप्ती करण का विवरण दिया गया है। उसी प्रकरण में नीतिशास्त्र के अन्तर्गत आने वाले विषयों की एक सूची भी दी है जिसमें बहुत से विषय अर्थशास्त्र से सम्बन्ध रखते हैं।

इस शास्त्र का जिस सामान्य रूप में अलंकृत ग्रन्थों में उल्लेख किया गया है और कवियों ने कभी-कभी पूरे के पूरे सर्ग इस शास्त्र के ज्ञान पर व्यय किए हैं उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस विषय की छोटी बड़ी रचनायें सत्ता में अवश्य आई होंगी। किन्तु जैसा कि अन्य शास्त्रों के विषय में सामान्य रूप से देखा जाता है किसी एक महान् कृति के सामने आ जाने पर उस विषय की पूर्ववर्ती प्राय: सभी रचनायें लुप्त हो जाती हैं। यही दशा इस शास्त्र की भी हुई। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के सामने आ जाने पर पूर्ववर्ती सभी रचनायें लुप्त हो गईं। अब कौटिल्य के अर्थ शास्त्र से पहले की एतद्विषयक कोई स्वतन्त्र रचना उपलब्ध नहीं होती।

---

१. साङ्गोपाङ्ग वेदमधीये. मानवीयं धर्मशास्त्रं, माहेश्वरं योग शास्त्रं, र्बाहस्पत्यमर्थशास्त्रं, मेधातिथेर्न्यायशास्त्रं प्राचेतसं श्राद्धकल्पं च।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र

प्राचीन भारतीय राजनीति कूटनीति और समाज शास्त्र का जितना परिचय हमें इस पुस्तक से प्राप्त होता है उतना किसी अन्य पुस्तक से नहीं। इसके लेखक प्रसिद्ध विष्णुगुप्त चाणक्य हैं जिन्हें कौटिल्य की उपाधि दी जाती है। ये वही चाणक्य हैं जिन्होंने नन्दवंश का नाश कर चन्द्रगुप्त मौर्य को शासनासीन किया था और स्वयं उनके मन्त्री बने थे। यह पुस्तक सूत्र भाष्य शैली में गद्य में लिखी गई है तथा कहीं-कहीं इसमें छोटी कवितायें भी बिखरी हुई हैं जो बाद में जोड़ी हुई प्रतीत होती है। प्रायः प्रत्येक अध्याय के अन्त में कुछ पद्य दे दिए गए हैं जिनमें गद्यात्मक विवेचन में आई हुई विषय वस्तु का सार दे दिया गया है। इस पुस्तक के प्रारम्भ में ही स्वीकार किया गया है कि अत्यन्त प्रतिष्ठित अर्थशास्त्र की पूर्ववर्ती शिक्षाओं का यह एक छोटा सा संकलन है। इससे भी सिद्ध होता है कि अर्थशास्त्र के विषय में पहले भी अनेक रचनायें विद्यमान रहीं होंगी।[1]

कौटिल्य अर्थशास्त्र का वस्तु परिचय

अर्थशास्त्र में १५ अधिकरण और उनके अन्तर्गत १८० प्रकरण (विषय) हैं। पहला अधिकरण राजाओं की शिक्षा (विनय) के विषय में है। राजाओं को सर्वप्रथम दर्शन, वेदत्रयी, वार्ताशास्त्र और दण्डनीति का अध्ययन करना चाहिए।[2] दर्शन का अध्ययन बुद्धि को क्षिप्रता प्रदान करता है और सदसद्विवेक की निपुणता उत्पन्न करता है। वेदों के अन्तर्गत विद्याओं के सभी स्थान और धर्म के १४ अनुभाग आ जाते हैं। इससे वर्णाश्रम व्यवस्था और विभिन्न जातियों तथा विभिन्न परिस्थितियों के कर्तव्यों का पूरा ज्ञान हो जाता है। वार्ताशास्त्र आर्थिक विषयों से सम्बन्ध रखता है जिसमें कृषि, वाणिज्य पशुपालन और दूसरे व्यवसाय आ जाते हैं। दण्डनीति में समस्त शासन व्यवस्था समाहित हो जाती है। राजा के कर्तव्यों में सर्वाधिक बल अधिकारियों और मन्त्रियों के निर्वाचन पर दिया गया है। कोई भी राजा कितना ही महान् क्यों न हो उसकी सफलता इसी बात पर निर्भर रहती है कि उसे मन्त्रियों और अधिकारियों की टोली में कितने ईमानदार व्यक्ति प्राप्त होते हैं। इस विषय में अर्थशास्त्र में विस्तार के साथ अधिकारियों की विशेषतायें बतलाई गई हैं तथा यह बतलाया गया है कि राजा को किस सीमा

---

१. पृथिव्याः लाभे पालने च यावन्त्य अर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैः प्रतिष्ठापितानि प्रायशस्तानि संगृह्य एकमिदम् अर्थशास्त्रम् कृतम्।

२. आगन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चशाश्वती।

तक उन पर निर्भर रहना चाहिए। इस विषय में गुप्तचरों की विभिन्न संस्थाओं और उनकी कार्यविधि पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। उनमें छात्र, व्यापारी, किसान, भिक्षुक, सन्यासी-सन्यासिनी इत्यादि सभी प्रकार के व्यक्ति हो सकते हैं। रसोइये, नाई, दास, स्नानागार के कर्मचारी, कुबड़े, बौने, गूँगे, गायक, नर्तक, नट और खिलाड़ी जो खेलने के लिए विभिन्न प्रदेशों में जाते हैं अधिकारियों के व्यक्तिगत जीवन की सूचना देने के लिए अधिक उपयोगी हो सकते हैं। गुप्तचरों का जाल बिछा होना चाहिए जिनको परिचय चिह्न, कूट भाषा इत्यादि प्रदान किया जाना चाहिए। इसके साथ ही इस विषय में विशिष्ट नागरिकों की सेवा भी ली जानी चाहिए गुप्तचरों का एक तीक्ष्ण वर्ग भी होना चाहिए जो समय आने पर शत्रुओं और देशद्रोहियों को समाप्त कर देने की भी शक्ति रखते हों। गुप्तचरों की योजना राजकुमारों और रानियों के प्रतिकूल भी की जानी चाहिए, क्योंकि राजा इतना अरक्षित और कहीं नहीं जितना अपने अन्तःपुर में।

दूसरे अध्यक्षप्रचाराधिकरण में विभिन्न विभाग के निरीक्षकों का वर्णन किया गया है। विभिन्न प्रशासकीय विभागों की प्रशासन योजना पर इस अधिकरण में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। ग्राम और नगरों की योजना, सम्पत्ति का विभाजन, औद्योगिक प्रतिष्ठानों की स्थापना, पर्वतीय योजना, जल योजना, बाजारों की व्यवस्था. अनाथ, बीमार, बच्चे, स्त्रियां, वृद्ध इन सबकी कल्याण योजना, जंगलात विभाग, पशु विभाग, खानों के कार्य (आकर कर्मान्तिप्रवर्तनम्), आर्थिक अनुदान, खाद्य पदार्थों का उत्पादन और व्यवसाय मानक परिमाण, मजदूरी, खाद-ऋतु विज्ञान, मदिरा व्यवसाय, विश्रामालय प्रबन्ध, वेश्यावृत्ति, किला का निर्माण उसकी अन्दरूनी सजावट, कर व्यवस्था, आयात निर्यात व्यवस्था, अर्थापराधियों को कठोर दण्ड। इसके साथ ही इस अधिकरण में शासनाधिकरण (अध्यादेश) रत्न परीक्षा, नमक का व्यापार इत्यादि बहुत से विषयों पर प्रकाश डाला गया है। लेखक का कहना है कि सरकारी कर्मचारियों से बढ़कर आर्थिक विषय में कोई दूसरा अविश्वसनीय नहीं होता है। मछली कब जल पी जाती है इसे कोई नहीं जान पाता, इसी प्रकार अर्थाधिकृत राजकीय अधिकारी पैसे में कब घोलमेल कर देता है इसका किसी को पता नहीं चलता।[1] **तृतीय अधिकरण** न्याय व्यवस्था परक है। **चौथा कण्टक शोधन अधिकरण** प्रजा में विद्यमान अवान्छित तत्त्वों के

---

१. मत्स्या यथान्तस्सलिलं चरन्तो। ज्ञातुं न शक्याः सलिलंपिवन्तः॥
गुक्तास्तथा कार्यविधौ नियुक्ताः। ज्ञातुं न शक्याः धनमाददानाः॥

निराकरण का उपदेश देता है। इसमें मजदूरी इत्यादि में धोखा देने, जाली मुद्रा बनाने, अकरुण चिकित्सकों की निर्दयता इत्यादि अनेक दुष्टों का वर्णन किया गया है। लेखक का कहना है कि ऐसे चोर जिनको वास्तविक चोरों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता जब तक देश का एक भयानक रोग न बन जाय उनका उपचार पहले ही कर लेना चाहिए।

पञ्चम अधिकरण में उन देशद्रोहियों, प्रजापीडकों, धोखेबाजों और बहुत बड़े षड्यन्त्रकारियों से निपटने के उपाय बतलाए गए हैं जिनके प्रतिकूल शासक प्रत्यक्ष रूप से कदम नहीं उठा सकता। उनका दमन करने के लिए ऐसे बहुत से उपाय बतलाये गए हैं जिनसे राजा के प्रति जनता में घृणा भी उत्पन्न नहीं होती और उद्देश्य भी पूरा हो जाता है। एक दो उदाहरण लीजिए—मान लीजिए कि राजा को किसी अधिकारी के षड्यन्त्र की सूचना मिलती है, राजा उस अधिकारी को किसी जंगली जाति के दमन का उत्तरदायित्व देकर भेज दे और जब वह उनके दमन में लगा हो तब किसी हत्यारे या डाकू वेषधारी कुछ लोगों के समूह के द्वारा उसकी हत्या करा दे और प्रचारित कर दे कि अमुक व्यक्ति युद्ध करते हुए मारा गया। अथवा किसी मीटिंग में उसे बुला ले और दो पहले से नियुक्त भयानक कर्म करने वालों की तलाशी लिवा दे जिनके पास घातक अस्त्र पकड़े जायें। उन अस्त्र धारियों से बयान दिलवा दे कि अमुक व्यक्ति ने राजा की हत्या के लिए उन्हें नियुक्त किया था तथा इस अपराध में उसे मृत्यु दण्ड दे दें। ध्यान रहे कि इन उपायों से कभी सच्चा व्यक्ति भी हानि उठा सकता है, किन्तु इसकी परवाह नहीं करनी चाहिए। इसी अधिकरण में उन उपायों का भी वर्णन किया गया है जिनसे आवश्यकता पड़ने पर राजा प्रजा से पैसा निकाल कर अपना कोश भर सके। इनमें कराधान की व्यवस्था तो है ही आर्थिक प्रलोभन दिखलाकर प्रजा से पैसा खींचा जा सकता है। विदेशों से व्यापार भी एक उपाय हो सकता है। इन सबके अतिरिक्त धूर्तता और चालाकी के भी कुछ उपाय बतलाये गए हैं। वेतननीति का भी एक अध्याय में वर्णन किया गया है जिसमें ४८००० वेतन सबसे ऊंचा और ६० वेतन सबसे कम बतलाया गया है।

राजशास्त्र का वास्तविक प्रारम्भ ६ठे अधिकरण से होता है। इसमें सर्वप्रथम प्रकृतियों का वर्णन किया गया है। प्रकृति का अर्थ है राजा या राज्य के अंग। ये सात होते हैं—स्वामी, अमात्य, सुहृत्, कोश, राष्ट्र जिसमें भूमि भी आ जाती है, किला और सेना।[1] राजा पर इन सबकी रक्षा का भार होता

१. स्वाम्यमात्य सुहृत्कोशराष्ट्र दुर्गबलानि च। राज्याङ्गानि प्रकृतयः।

है और इसे इन सबकी रक्षा उसी प्रकार करनी चाहिए जैसे वह अपने शरीर की रक्षा करता है।

इसी अधिकरण में मण्डलों पर विचार किया गया है। मण्डल का अर्थ है राजाओं के वर्ग। ये मण्डल हैं—(१) विजिगीषु या विजय की इच्छा से आगे बढ़ने वाले राजा का मण्डल, (२) शत्रु का मण्डल (३) मित्र मण्डल, (४) शत्रु के मित्र का मण्डल, (५) मित्र के मित्र का मण्डल, (६) शत्रु के मित्र के मित्र का मण्डल, (७) पीछे से आक्रमण करने वाले शत्रु का मण्डल जिसे पार्ष्णिग्राह कहा जाता है। (८) पीछे से संरक्षण देने वाले मित्र का मण्डल जिसे आक्रन्द कहा जाता है। (९) शत्रु का मित्र जो पीछे की ओर से आक्रमण करता है उसे पर्ष्णिग्राहासार कहा जाता है। (१०) मित्र का सहचर जो पीठ की ओर सहायता के लिए तैयार रहता है जिसे आक्रन्दासार कहा जाता है (११) मध्य में रहने वाला मण्डल जो मध्यम कहलाता है। (१२) उदासीन; जिसमें प्रकृति के अनुसार शत्रु और मित्र का विभाजन कर लिया जाता है जिसे सहज कहा जाता है। यह दो प्रकार का होता है (१३) शत्रु सहज तथा (१४) मित्र सहज और (१५) कृत्रिम या बनाया हुआ मित्र। इसी प्रसंग में राजनैतिक सफलता की आधार शिला और राज्य रक्षा पर विचार किया गया है।

सातवां षाड्गुण्याधिकरण है। इसमें उन छः वैकल्पिक उपायों का वर्णन किया गया है जो युद्ध की अनिवार्यता उत्पन्न होने पर राजा द्वारा अपनाये जाने चाहिए। वे हैं—१. सन्धि—युद्ध टालने के लिए शत्रु से सन्धि कर लेनी चाहिए। २. विग्रह अर्थात् युद्ध करना। ३. यान अर्थात् आक्रमण—जब शत्रु बेखबर हो और युद्ध की तैयारी कर रहा हो तथा वातावरण बना रहा हो तब मित्र राष्ट्रों की सहायता से विभिन्न स्थानों से एकदम हमला बोल देना जिससे शत्रु हक्का-बक्का रह जाए।[1] ४. आसन अपने किले और राज्य की सीमाओं को मजबूत करना तथा मार्मिक स्थान तक शत्रु को आने देना और

---

१. यान का एक रूप यह भी हो सकता है कि बलवान् शत्रु के सामने से भाग जाना और दुबारा शक्ति संचय के बाद आक्रमण कर शत्रु को पराजित कर देना। ऐसे व्यक्ति को युधिष्ठिर के समान पुनः राज्य मिल जाता है।

> बलवन्तंरिपुं दृष्टवा देशत्यागं करोति यः।
> युधिष्ठिर इवाप्नोति पुनर्जीवन् स मेदिनीम्॥

तब प्रहार करना।[1] ५. संश्रय अर्थात् किसी शक्तिशाली राजा का सहारा लेकर शत्रु को पराजित करने की चेष्टा करना और ६. द्वैधीभाव अर्थात् सन्धि और विग्रह दोनों का संयुक्त रूप में प्रयोग करना - किसी विषय में सन्धिकर लेना और किसी विषय में युद्ध करना। चाणक्य ने इन छः गुणों के उपयोग पर विस्तार पूर्वक विचार किया है और उन परिस्थितियों और रूपों पर भी प्रकाश डाला है जिनमें इनका उपयोग किया जाना चाहिए। उनका निष्कर्ष है—स्वयं को शत्रु से हीन समझने पर सन्धि करनी चाहिए, स्वयं को अधिक समर्थ समझने पर विग्रह करना चाहिए, जब समझे कि न तो शत्रु हमें दबा सकेगा न हम शत्रु को, तब आसन का प्रयोग करना चाहिए, जब स्वयं को बहुत शक्ति शाली समझे तब यान का आश्रय ले और जब देखे कि किसी सहायक की आवश्यकता है तब द्वैधी भाव को अपनाना चाहिए।[2] (द्वैधीभाव का एक रूप यह भी है कि मित्र की अथवा शत्रु के शत्रु की शक्ति को मिलाकर विजय प्राप्त करे अथवा शत्रु को उसकेमित्र के साथ भेद डालकर उसकी सहायता से सफलता प्राप्त करने की चेष्टा करे।) 'जहां सन्धि और विग्रह में एक को चुनना हो वहां सन्धि को प्राथमिकता दे, क्योंकि विग्रह में बहुत हानियां होती हैं, जहां आसन और यान का विकल्प हो वहां आसन को वरीयता प्रदान करे और जहां द्वैधीभाव और संश्रय में चुनाव करना हो वहां द्वैधीभाव को वरीयता प्रदान करे क्योंकि द्वैधीभाव में स्वार्थ साधन होता है जबकि संश्रय में दूसरे को उपकृत करने का साधन मात्र रह जाना पड़ता है।[3] इस विषय में विभिन्न परिस्थितियों और नीतिगतउपदेशों का अत्यन्त विस्तार के साथ विवेचन किया गया है।

---

१. द्वितीय विश्व युद्ध में रूस ने जर्मनी को अपने क्षेत्र में दूर अन्दर तक घुसकर करारी मार दी थी। इस उपाय के अन्तर्गत अपनी शक्ति को बहुत अधिक बढ़ाने का प्रयत्न किया जाता है।

२. परस्माद्धीयमानः सन्दधीत, अभ्युच्चीयमानो विगृह्णीयात्। न मां परोनाहं परमुपहन्तुं शक्तइत्यासीत्, गुणातिशययुक्तो यायात्। शक्तिहीनः सन्दधीत सहायसाध्ये कार्ये द्वैधीभावं गच्छेत्।

३. सन्धिविग्रहयोस्तुल्यायां वृद्धौ सन्धिमुपेयात्। विग्रहे हि क्षयव्ययप्रवासप्रत्यवाया भवन्ति। तेन आसनयानयोरासनं व्याख्यातम्। द्वैधीभावसंश्रययोर्द्वैधीभावं गच्छेत्। द्वैधीभूतो हि स्वकार्यप्रधान आत्मन एवोपकरोति संश्रितस्तु परस्योपकरोति नात्मनः।

आठवें अधिकरण में मृगया, द्यूत, स्त्रियां इत्यादि व्यसनों का वर्णन किया गया है। ये व्यसन दैवी भी होते हैं, मानवजन्य भी। राजविषयक, राज्याङ्ग-विषयक, जनपद विषयक, कोशविषयक इत्यादि अनेक प्रकार के हो सकते हैं। इनका विस्तृत विवेचन कर उनसे छुटकारे के उपाय भी बतलाये गए हैं। ९वां अधिकरण युद्ध की तैयारी और प्रबन्ध व्यवस्था विषयक है। इसमें सैन्य संघ-ठन, सेना के विभिन्न अनुभागों और टुकड़ियों की विशेषतायें; स्कन्धावार (कैम्प) इत्यादि की स्थापना और प्रबन्ध के विषय में विस्तृत प्रकाश डाला गया है। इसी प्रसंग में युद्ध संल्लग्नता के अवसर पर प्रजा विप्लव, राजद्रोह, अर्थ, अनर्थ इत्यादि विषयों पर भी विचार किया है। १०वां अधिकरण युद्ध विषयक है। इसमें उन उपायों की व्याख्या की गई है जिनसे विजिगीषु युद्ध में विजय प्राप्त कर सकता है। विशेष रूप दुर्बल राजा सबल राजा पर कैसे हावी हो इसके उपाय बतलाए गए हैं। युद्ध केवल शस्त्रबल और शस्त्र सामग्री से नहीं जीता जा सकता। यदि शस्त्रबल से युद्ध जीतने की सम्भावना न हो तो दूसरे उपाय काम में लाए जाने चाहिए जिनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है छल कपट और धोखेबाजी का प्रयोग।

११वें अधिकरण का शीर्षक है संघवृत्त। सेना लाभ और मित्र लाभ की अपेक्षा संघलाभ अधिक उपयोगी है। संघात को कोई दूसरा नहीं दबा सकता। संघ को अपने वश में रखना चाहिए। संघ की इकाइयां छोटे-छोटे शस्त्रजीवी अधिनायकों की होती हैं जिन्हें साम और दान से तो वश में रखना ही चाहिए उनमें भेद उत्पन्न कर और अवसर पर हत्या कराकर अपना वर्चस्व बनाए रखना चाहिए। इस विषय में गुप्तचरों की कार्य पद्धति का विशेष विस्तार से वर्णन किया गया है। इसमे स्त्रियों का उपयोग अधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि आवश्यक हो तो संघ के विभिन्न घटकों में कूट उपायों से संघर्ष उत्पन्न कर भी स्वार्थ साधन करना चाहिए। १२वां अधिकरण भी षड्यन्त्रों, कूट उपायों और धोखाधड़ी के माध्यम से शत्रु राजा पर विजय प्राप्त करने के उपाय बतलाता है। इसमें गुप्तचरों छद्म प्रतिनिधियों, साहसिक लोगों और विष-दायकों के क्रिया कलाप का विशेषरूप से परिचय दिया गया है।

१३वें अधिकरण में भी विजय के कूट उपाय बतलाए गए हैं। इसके अनुसार राजा जिस ग्राम समूह पर विजय प्राप्त करना चाहता है उस क्षेत्र में गुप्तचरों के माध्यम से स्वयं को अतिमानव सिद्ध कर दे—'अमुक राजा सर्वज्ञ है उसका देवताओं से सीधा सम्पर्क है' इत्यादि। गुप्तचरों के माध्यम से प्राप्त समाचारों को अपनी ओर से बतलाकर अपनी सर्वज्ञता की धाक जमा

सकता है। किसी मूर्ति में मानव को छिपाकर उससे वार्तालाप के द्वारा अपनी दैवी शक्ति को स्थापित कर सकता है। इसी प्रकार ज्योतिषियों की भविष्य वाणियां भी करा सकता है। इस विजय के लिए अभिलाषित क्षेत्र की जनता अपनी भक्त बन जाएगी और तब उस पर विजय प्राप्ति आसान हो जाएगी। १४वां अधिकरण औपनिषदिक है। इसमें कुछ योगों का वर्णन किया गया है जिनसे मनुष्य हत्या करने, अन्धा कर देने की शक्ति प्राप्त करने के साथ ही स्वयं अदृश्य होने, अन्धकार में देख सकने, अग्नि में चल सकने, अपने वर्ण को बदल सकने, मनुष्यों और पशुओं को सुला सकने इत्यादि अनेक प्रकार की शक्तियां प्राप्त कर सकता है। यह अधिकरण स्पष्ट नहीं है और उसका उपयोग भी वर्तमान समाज में प्रचलन योग्य नहीं है।

अन्तिम अधिकरण १५वां उपसंहारात्मक है, लेखक ने इसे 'तन्त्रयुक्त्यधिकरण' शीर्षक दिया है। इसमें अर्थतंत्र का अर्थ किया गया है— मानव आजीविका के साधनों का निर्णय करने वाले तत्त्व। शब्दार्थ निर्णायक तत्त्वों का विवेचन मीमांसादि शास्त्रों में भी किया गया है। किन्तु उनकी संख्या इस ग्रंथ में बढ़ाकर ३२ कर दी गई है जिनमें तर्क शास्त्रीय और भाषा सम्बन्धी दोनों प्रकार के तत्त्वों का समावेश हो जाता है।

ऊपर अर्थशास्त्र की जो संक्षिप्त रूपरेखा दी गई है उससे स्पष्ट हो जाता है कि अनेक दृष्टियों से यह अद्भुत प्रकार की बहुआयामी रचना है। इसमें सामाजिक जीवन, कला, संस्कृति और उतने प्राचीन काल की हिन्दू रीति नीति का जैसा मनोरम और सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन किया गया है उसकी तुलना भारतीय साहित्य में ही नहीं विश्व साहित्य में भी दुर्लभ है। राज्य की विभिन्न इकाइयां उनकी पृथक्-पृथक् शासन व्यवस्था, वर्णाश्रम व्यवस्था, न्याय व्यवस्था, राज्य के आय के साधन, कर व्यवस्था, राजकीय कर्मचारी, अधिकारी, वेतनमान, राजदूत, शासन की विभिन्न इकाइयां और उनकी प्रबन्ध व्यवस्था, दाय भाग, विवाह इत्यादि सामाजिक विषय, क्रय-विक्रय, विदेशनीति, दण्ड विधान, विभिन्न व्यक्तियों के व्यसन, उनके दुष्परिणाम और उनसे छुटकारा पाने के उपाय इत्यादि विषयों पर सर्वाङ्गीण विचार किया गया है। तत्कालीन राज्यों का भी परिचय दिया गया है और उनके परस्पर सम्बन्ध पर भी विचार किया गया है। वेद, वेदाङ्ग, उपदेशात्मक सूक्तियां, उपाख्यान, रत्नपरीक्षा, कृषि, वास्तु विद्या, पशु चिकित्सा, सैनिक विषय, इस महाग्रंथ के कलेवर में सम्मिलित हुए हैं। ज्ञात होता है कि विभिन्न विषयों में स्वतन्त्र ग्रंथ विद्यमान थे और उनका संक्षिप्त सार इस ग्रंथ में सङ्कलित किया गया है।

अर्थशास्त्र का कर्तृत्व और समय

भारतीय परम्परा इसका कर्तृत्व प्रसिद्ध चाणक्य को प्रदान करती है, चाणक्य का ही उपनाम कौटिल्य है। इस महाग्रंथ की अन्तिम पुष्पिका में स्पष्ट रूप में कहा गया है कि 'जिसने शस्त्र और शास्त्र तथा अमर्ष के अधीन होकर नन्दराज के हाथ में पड़ी हुई भूमि का उद्धार किया। उसी ने इस शास्त्र की रचना की।'[1] पं. शाम शास्त्री ने १९०५ में इण्डियन एण्टीक्वेरी में इस ग्रंथ के कुछ भागों का अनुवाद के साथ प्रकाशन किया। इसके बाद उन्हीं विद्वान् ने १९०९ में सम्पूर्ण ग्रंथ का पूर्ण शुद्धता के साथ प्रकाशन किया, साथ ही उपोद्‌घात में सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि अर्थशास्त्र का यही वास्तविक स्वरूप है और इसकी रचना चन्द्रगुप्त मौर्य के अमात्य आचार्य चाणक्य ने कौटिल्य के नाम से ईशा पूर्व चौथी शताब्दी में की थी। आगे चलकर इसी मान्यता का समर्थन हिलब्रांट, हर्टेल, याकोवी और स्मिथ ने भी किया। इन्हीं का समर्थन जैकोबी, मेयेर, ब्रीलोर ने भी किया। ब्रीलोर मेगस्थनीज और अर्थशास्त्र की 'सम सामयिकता पर बल देताहै स्टीन उनके विरोध को उजागर करता है।

कुछ समय पश्चात् यूरोप में विचारकों का एक ऐसा वर्ग तैयार हुआ जो अर्थशास्त्र को जाली ग्रंथ मानने का पक्षधर बन गया। ओटोस्टाइन महोदय ने मेगस्थनीज और कौटिल्य के परस्पर विरोध दिखलाने की चेष्टा और डा० जौली ने नई उद्‌भावनायें कर यह दिखलाने की चेष्टा की कि कौटिल्य और उनका अर्थशास्त्र दोनों अप्रामाणिक हैं। हिल ब्राण्ड, कीथ, भण्डारकर और विण्टरनित्ज ने भी इसी मत का समर्थन किया। इन लोगों का निष्कर्ष है कि यह कृति ३०० ई० से पहले की नहीं हो सकती। सम्भवतः तीसरी शताब्दी के किसी अधिकारी ने कल्पित नाम पर इस ग्रंथ की रचना की, हो सकता है चाणक्य के कुछ बिखरे हुए सूत्रों को लेकर ही इस ग्रंथ की रचना की गई हो किन्तु इस बात को प्रमाणित करना कुछ कठिन है।

जौली तथा दूसरे विरोधी विचारकों के तर्कों की डा० जायसवाल ने युक्तियुक्त समीक्षा कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि कौटिल्य वास्तविक रूप में चन्द्रगुप्त मौर्य के महामात्य थे और उन्हीं ने ई० पू० चौथी शताब्दी में इस ग्रंथ की रचना की थी। जयचन्द्र विद्यालंकार ने भी कीथ की उक्तियों

---

१. येन शस्त्रं च शास्त्रं च नन्दराजगता च भूः।
अमर्षेणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम्॥

और तर्कों का खण्डन कर कौटिल्य को वास्तविक व्यक्ति और अर्थशास्त्र का कवि प्रमाणित किया। प्राचीन विचारकों द्वारा उल्लेख न होना एक तर्क अवश्य है, किन्तु उसके प्रतिकूल भी बहुत कुछ कहा जा सकता है। अनुपलब्धि एक प्रमाण अवश्य है, किन्तु उसके अनेक कारण हो सकते हैं।

उत्तर कालीन रचनायें

अर्थशास्त्र विषयक वस्तु को लेकर अनेक महत्त्वपूर्ण रचनायें सत्ता में आईं जिनमें निम्नलिखित कतिपय महत्त्वपूर्ण रचनायें हैं जो अब तक उपलब्ध की जा सकी हैं --

(१) कामन्दकीय नीतिसार

इस ग्रंथ के उपक्रम में कौटिल्य की प्रशस्ति गाई गई है और कहा गया है कि विष्णुगुप्त (चाणक्य) ने अपने अभिचार वज्र से ही नन्द पर्वत को धरासात् कर दिया और केवल मन्त्रशक्ति से चन्द्रगुप्त को साम्राज्य प्रदान कर दिया, साथ ही राजशास्त्र के महासागर से राजनीति के अमृत को निकालकर विद्वानों के सामने रक्खा। (उसी के विवेचन के आधार पर) राज विद्या जानने वालों की सम्मति का यत्किञ्चित्परिचय प्रस्तुत रचना में दिया जाएगा इस उपक्रम से स्पष्ट है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र का ही सारभाग इसमें दिया गया है। किन्तु यह अपेक्षाकृत छोटी और कम महत्त्व की पुस्तक है। इसके लम्बे-लम्बे कई वर्णन बिल्कुल छोड़ दिए गए हैं और कई वर्णनों पर विशेष बल दिया गया है जिससे ज्ञात होता है कि इसके लेखक ने कौटिल्य से भिन्न साधनों का भी उपादान किया है। कौटिल्य के विभिन्न परिस्थितियों के विवरणों का इसमें परित्याग कर दिया गया है। केवल विषयवस्तु की दृष्टि से ही नहीं यह शैली की दृष्टि से भी कौटिल्य से सर्वथा भिन्न है। इसमें सूत्रात्मक शैली के स्थान पर पद्यात्मक शैली अपनाई गई है और अधिकरणों के स्थान पर ग्रंथ का सर्गों में विभाजन किया गया है जिससे ज्ञात होता है कि लेखक राजशास्त्र का विषय महाकाव्यात्मक स्वरूप में प्रकट करना चाहता था। कुछ विचारकों ने इसे महाकाव्य की प्रतिष्ठा प्रदान भी की है किन्तु यह ग्रंथ इस प्रतिष्ठा का अधिकारी नहीं है।

नीतिसार की संक्षिप्तवस्तु—नीतिसार में २० सर्ग हैं। प्रथम दो सर्गों में मतिष्क पर नियन्त्रण (इन्द्रियजय) और विद्या विभाग का वर्णन किया गया है। इसमें आन्वीक्षिकी में ही आत्मज्ञान का भी समावेश किया गया है। तीसरे सर्ग में अच्छे शासक (राजा) के गुणों का संक्षिप्त कथन किया गया है और

चतुर्थ सर्ग में सात प्रकृतियां बतलाई गई हैं; ५वां सर्ग राज कर्मचारियों के विषय में है जिसमें अधिकारियों के पथ प्रदर्शन के लिए संक्षिप्त विवरण दिया गया है तथा साथ ही इस बात पर भी प्रकाश डाला गया है कि राजा का उनसे किस प्रकार का सम्बन्ध हो। राजा की अर्थचिन्ता का भी उल्लेख किया गया है और कहा गया है कि जो राजा प्रजा को ५ भयों से मुक्ति दिला देता है प्रजा उनकी अर्थचिन्ता को उसी प्रकार दूर कर देती है जैसे पाली हुई गाय पालक को दूध की चिन्ता से मुक्त कर देती है या जैसे सींचने पर लता पुष्प और फल देने वाली हो जाती हैं। पांच भयदायक हैं अधिकारी, चोर, शत्रु, राजा के निकटवर्ती प्रियजन और स्वयं राजा की लोभ-वृत्ति। इन भयों से त्राण देने वाला राजा धर्म, अर्थ और काम तीनों वर्गों में सफल हो जाता है। न्याय्य दण्डविषयक छठा सर्ग षड्यन्त्रकारियों को ठीक मार्ग पर लाने के विषय में है। ७वां सर्ग राजा की सुरक्षा के विषय में है। सर्ग ८ से ११ तक विदेश नीति परक हैं जिनमें मित्र और शत्रु राजाओं के मण्डल निर्माण का विवेचन किया गया है। १२वें और १३वें में राजदूतों के क्रिया कलाप का वर्णन किया गया है साथ ही गुप्तचरों का भी वर्णन है। १४वें और १५वें सर्गों में शासन में आने वाली बुराइयों का वर्णन है। १६ से २० तक सर्गों में सैनिक संगठनों का वर्णन है जिसमें विजय के लिए कौटिल्य के समान ही छल कपट के प्रयोग पर अधिक बल दिया गया है और उसके प्रयोग को अधार्मिक नहीं बतलाया गया है।

वामन ने (८०० ई० के आसपास) नीतिसार का उल्लेख किया है किन्तु दण्डी ने उसका उल्लेख नहीं किया है। भवभूति के मालतीमाधव नाटक की एक प्रमुख पात्र कामन्दकी है। ज्ञात होता है कामन्दकी यह नामकरण नीतिसार के लेखक के नाम से ही कल्पित किया गया है। इन सब प्रमाणों पर विचार करने से नीतिसार का समय ७०० या ७५० ई० के आसपास ठहरता है। कामन्दकी ने कौटिल्य को अपना गुरु कहा है। यहां गुरु का अर्थ अध्यापक नहीं हो सकता क्योंकि इन आचार्यों के मध्य में कई शताब्दियों का व्यवधान है। अतः गुरु का अर्थ सम्मानित पद प्रदर्शक ही हो सकता है।

(२) **नीति वाक्यामृत**—'यशस्तिलक' के लेखक सोमदेव सूरि का लिखा हुआ अर्थशास्त्र विषयक ग्रंथ है। यद्यपि इसमें वस्तु का उपादान कौटिल्य के अर्थशास्त्र से ही किया गया है फिर भी लेखक ने कौटिल्य का आभार प्रदर्शन

करना उचित नहीं समझा। केवल एक स्थान पर 'श्रूयते हि किल चाणक्यस्ती-क्ष्णदूतप्रयोगेणैकं नन्दं जघान' इन शब्दों में चाणक्य का स्मरण किया गया है।

इस पुस्तक में ३२ समुद्देश हैं। यद्यपि इसमें विषय का उपादान तो अर्थ शास्त्र से ही किया गया है फिर भी यह प्रविधि और उद्देश्य दोनों में सर्वथा एक नई रचना ही प्रतीत होती है। यह न तो सूत्रात्मक है न पद्यात्मक, अधिकतर सारगर्भित वाक्यों का प्रयोग किया गया है। सोमदेव को मुहावरों और मुहावरेदार वाक्यों को लिखने का बहुत अधिक शौक है।

वस्तुविधान में ये कौटिल्य के छलकपट पूर्ण प्रयोगों के पक्षपाती हैं किन्तु जीवन और व्यवहार में नैतिकता के अधिक समर्थक हैं। 'राजा वही है जो प्रजा के लिए इन्द्र और दुष्टों के लिए यम हो, 'जो राजा शास्त्रज्ञ नहीं है वह अन्धा है, अशिक्षित राजा के राज्य में रहने की अपेक्षा राजाविहीन रहना अधिक अच्छा है।' 'जो राजा लोकवृत्त का भलीभांति ज्ञान रखता है वही राज्य के कांटों को उखाड़ फेंकने में समर्थ होता है।' प्रत्येक जाति के लिए धर्मशास्त्रानुकूल स्वधर्म पालन का उपदेश दिया गया है। अगर्हितचरित्र और शरीर शुद्धि आदि गुण शूद्र को भी देवपूजा का अधिकारी बना देते हैं। निर्दयता से दूर रहना, ईमानदारी, दूसरे की सम्पत्ति की इच्छा न करना, इच्छाओं का दमन, जातिप्रथा के नियमों के प्रतिकूल विवाह न करना, स्त्रियों के साथ व्यवहार में ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन ये नियम सर्वसाधारण के लिए पालनीय हैं। अनेकशः उपदेशों को पञ्चतन्त्र की या उसकी जैसी कथाओं से प्रमाणित किया गया है। यद्यपि लेखक जैन है फिर भी ब्राह्मण धर्म के प्रति उसने पूरा न्याय किया है।

(३) लघु-अर्थनीति शास्त्र

यह पुस्तक प्रसिद्ध जैनाचार्य हेमचन्द्र की लिखी हुई है। कुमारपाल के निर्देश पर हेमचन्द्र ने अर्थशास्त्र पर प्राकृतभाषा में एक बड़ी पुस्तक 'बृहदर्हन्नीतिशास्त्र' लिखी थी जो अब उपलब्ध नहीं होती। उसी पुस्तक का संक्षिप्त रूप इस कृति में प्रस्तुत किया गया है। इस पुस्तक की रचना श्लोकों में हुई है जिसमें यथावसर गद्यात्मक व्याख्यापरक टिप्पणियां भी जोड़ दी गई हैं। इस पुस्तक का अधिकांश भाग दण्डनीति और नागरिक कानूनों से आवेष्टित है जिसमें विशेषरूप से धर्मशास्त्र का आधार ग्रहण किया गया है। इसमें राज-शास्त्र पर बहुत कम कहा गया है। राज्यांगों, मण्डलों, मन्त्रिपरिषद् और सेनाधिकारियों जैसे विषयों का विवेचन ग्रन्थ के एक छोटे से भाग में कर दिया गया है। नीति को तीन भागों में विभाजित किया गया है—युद्ध, दण्डनीति

और व्यवहार (Civil law) युद्ध के प्रकरण में लेखक के जैन होने की छाया स्पष्ट दृष्टिगत होती है जिसमें कहा गया है कि अन्य साधन सम्भव हों तो युद्ध को वचाना चाहिये । यदि अन्तिम साधन के रूप में युद्ध को अपनाना ही पड़े तो इस वात का ध्यान रहे कि किसी असहाय व्यक्ति को पीड़ा न पहुंचे और हिंसा कम से कम हो। दण्डनीति का विवेचन जैन आगमों के स्थानांग पर आधारित है जिसमें ६ प्रकार के दण्डों का विधान किया गया है । लगभग मिलता-जुलता विवेचन धर्मसूत्रों और महाभारत इत्यादि में भी मिलता है । व्यवहाराध्याय सबसे लम्बा है जिसमें नागरिक विवादों को १८ प्रकारों में विभाजित किया गया है । एक प्रायश्चित्ताध्याय भी है । प्रायश्चित्तों में जिन-देवों की पूजा का भी विधान है । जैन रचना होते हुए भी प्रमुखता ब्राह्मण धर्म के विधानों को ही दी गई जिससे यह एक वर्ग का नहीं सामान्य विधि शास्त्र वन गया है ।

राजशास्त्र परक स्फुट साहित्य

पुराणों में भी राजनीति विषयक पर्याप्त साहित्य पाया जाता है । विशेष-रूप से अग्नि, गरुड, विष्णु धर्मोत्तर इन पुराणों में इस विषय का निरूपण किया गया है । जैसी कि सामान्य शास्त्रों में भारतीय प्रवृत्ति रही है इस विषय में भी प्रतिष्ठित ऋषियों और आचार्यों के नाम पर रची हुई कतिपय पुस्तकें प्राप्त होती हैं जिनमें कतिपय पुस्तकों का निम्नलिखित रूप में परिचय दिया जा सकता है—

(१) बार्हस्पत्य सूत्राणि—यह नीतिशास्त्र के प्रतिष्ठित आचार्य बृहस्पति के नाम पर लिखा हुआ सूत्र ग्रन्थ वतलाया जाता है । इसका प्रकाशन मैसूर से १९५७ में हो चुका है । कहने को तो यह पुस्तक सूत्रशैली में लिखी गई है किन्तु इसकी भाषाशैली और विषयवस्तु सभी में सोमदेव के नीति वाक्यामृत का अनुकरण किया गया है । सम्पादक के मन में सम्भवत: बृहस्पति नामक कोई व्यक्ति रहा होगा जिसने इस पुस्तक की रचना की जिसका समय सम्भ-वत: ६ठी-७वीं शताब्दी रहा होगा । एफ० डब्लू० टामस के मत में यह १२वीं शताब्दी की भी रचना हो सकती है । इसमें सन्देह नहीं कि इसका लेखक आस्तिकहै और वह चार्वाक दर्शन का प्रवर्तक नहीं हो सकता । यह पुस्तक उससमय लिखी गई होगी जब भारतीय धर्म का शाक्त, शैव और वैष्णव इन तीन उपविभागों में विभाजन हो चुका होगा । इसमें चातुर्वर्ण्य और देवालयों की रक्षा का उपदेश दिया गया है जो कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुकूल नहीं है ।

(२) **शुक्रनीति**—उशनस् या शुक्राचार्य नीतिशास्त्र के दूसरे प्रवर्तक आचार्यों में है। उन्हीं के नाम पर इस पुस्तक की रचना हुई है। इस ग्रन्थ में बारूद का भी उल्लेख आता है जिससे यह बहुत परवर्ती काल का ग्रन्थ सिद्ध हो जाता है। इस पुस्तक के देश-विदेश में कई संस्करण हो चुके हैं और कई अनुवाद प्रकाशित हुए हैं।

(३) **नीति प्रकाशिका**—इसके लेखक वैशम्पायन बतलाये जाते हैं। ये वैशम्पायन महाभारत के प्रवचनकर्ता हैं। टीकाकार के अनुसार वेदव्यास के शिष्य ने यह ग्रन्थ जनमेजय को पढ़ाया था जिसको उसने पौराणिक शैली में ब्रह्मा और पृथु की वार्तालाप का रूप दे दिया था। इसके रचनाकाल के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। इसका विभाजन सर्गों में हुआ है। इसी के अनुसार यह एक विशाल ग्रन्थ का संक्षिप्तकृत रूप है। इसमें अर्थशास्त्र के सामान्य विषयों के अतिरिक्त सैन्य-शास्त्र धनुर्वेद इत्यादि के विषय में पर्याप्त सामग्री विद्यमान है। सैनिक इकाइयों की संख्या का भी इसमें विवेचन किया गया है।

इस अर्थशास्त्रीय नीति विषयक साहित्य का बर्मा, तिब्बत, पूर्वी द्वीप समूह, मध्य एशिया और श्रीलङ्का में भी पर्याप्त प्रसार हुआ। विदेशों में भारतीय रीति नीति की दिशा में नागार्जुन का नाम सर्वप्रमुख है।

अर्थशास्त्र के आनुषङ्गिक विषयों पर साहित्य

अर्थशास्त्र अनेक स्वतन्त्रशास्त्रों को अपने अन्दर समाहित करता है क्योंकि जीवनयापन के प्रत्येक विषय से इसका सम्बन्ध है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार उशना (शुक्राचार्य) के मत से एकमात्र दण्डनीति ही एक विद्या है जिसमें सभी शास्त्र आ जाते हैं। राजकीय उपक्रम के रूप में निम्नलिखित संबद्ध शास्त्रों का विशेषरूप से उल्लेख किया जा सकता है—

(१) **अश्वशास्त्र** इस शास्त्र के प्रवर्तक शालिहोत्र माने जाते हैं। अतः इसे शालिहोत्र शास्त्र की भी संज्ञा दी जाती है। इसमें अश्वों की जाति, उनकी विशेषतायें, उनका प्रशिक्षण इत्यादि विषयों का विवेचन किया जाता है। कतिपय पुस्तकों में अश्वचिकित्सा पर विशेष बल दिया गया है। ऐसी पुस्तकों को अश्वचिकित्सा, अश्ववैद्यक, अश्वायुर्वेद नाम से पुकारा जाता है। वकुल की अश्वायुर्वेद पुस्तक चिकित्सा के अतिरिक्त अश्वसम्बन्धी अन्य बातों का भी उल्लेख करती है। भोज का **शालिहोत्र** (समय ११०० ई०) भी इसी प्रकार की पुस्तक है। इसमें ३५६ श्लोक हैं जो साहित्य सौन्दर्य से रहित नहीं हैं। ईश्वरचन्द्र शास्त्री द्वारा सम्पादित युक्ति कल्पतरु में एक खण्ड **अश्व-**

युक्ति का भी है। इसकी रचना का श्रेय भोज को दिया जाता है। उनके शालिहोत्र के कई पद्य अश्वयुक्ति में आ गए हैं। राघवन के न्यू कैटेलागस कैटेलागोरम और औफ्रेट के कैटेलागस कैटेलागोरम में अश्वशास्त्र पर अनेक पुस्तकों का उल्लेख किया गया है जिसके आधार पर कुलकर्णी ने शालिहोत्र की प्रस्तावना में अश्वशास्त्र पर पुस्तकों की एक लम्बी सूची दी है।

(२) **गजशास्त्र**—इस शास्त्र के प्रवर्तक पालकाप्य हैं। इस शास्त्र को प्रायः पशुशास्त्र में सम्मिलित किया जाता है। किन्तु इस शास्त्र में हाथियों के विषय में ही सभी कुछ विवेचित किया जाता है। इस विषय में हस्त्यायुर्वेद नामक पुस्तक सर्वाङ्गपूर्ण हैं। इसमें पौराणिक शैली में चम्पा के राजा रोमपाद और पालकाप्य के मध्य संवाद का माध्यम अपनाया गया है। नीलकण्ठ की **मातंग लीला** में १२ अध्याय हैं जिसमें पालकाप्य और हाथियों की उत्पत्ति, हाथियों के लम्बे जीवन के परिचायक चिन्ह, उनकी विशेपतायें उनको पकड़ने और शिक्षा देने की विधि इत्यादि विषयों का विवेचन किया गया है।

(३) **समर शास्त्र या सैनिक शास्त्र**—इसके अन्तर्गत धनुर्वेद इत्यादि दूसरे सामरिक विषय भी आ जाते हैं। मधुसूदन के अनुसार **धनुर्वेद** का संकलन विश्वामित्र ने चार खण्डों में किया था जिसमें अस्त्र-शस्त्र, युद्धविधि, सैन्य संचालन इत्यादि का परिचय दिया गया था। इसमें गूढ़ अस्त्रों और दिव्य अस्त्रों का विवेचन भी बतलाया जाता है। प्रसिद्ध ही है कि रामायण में विश्वामित्र ने राम को दिव्य अस्त्र प्रदान किए थे। पाण्डुलिपियों में धनुर्वेद विषयक ग्रन्थ सुरक्षित है जिसकी रचना का श्रेय सदाशिव, विक्रमादित्य, शार्ङ्गदत्त इत्यादि को प्रदान किया जाता है। अग्निपुराण और विष्णुधर्मोत्तर पुराण में भी धनुर्वेद विषयक प्रकरण विद्यमान हैं। कुमाऊं के राजा रुद्रदेव के नाम पर **'श्यैनिक शास्त्र'** नाम से एक युद्ध विषयक शास्त्र १६१० में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था जिसमें बाज के द्वारा तथा उसके जैसे युद्ध का वर्णन किया गया है। वैशम्पायन की **नीति प्रकाशिका** में भी धनुर्वेद एवं सेना के संगठन पर पर्याप्त सामग्री विद्यमान है। कुमारगणक की कृति **रणदीपिका** (प्रकाशित त्रिवेन्द्रम् १६२८) में धनुर्वेद विषय के अतिरिक्त ज्योतिष इत्यादि विषय भी दिये गए हैं और सैन्य सञ्चालन, आक्रमण इत्यादि के अनुकूल मुहूर्तों पर भी विचार किया गया है। सम्भवतः इस पुस्तक का रचनाकाल ११वीं शताब्दी का मध्यभाग था।

४. **शिल्पशास्त्र या वास्तुविद्या** – इस विषय में **मानसार** एक प्रसिद्ध पुस्तक है। इसका सम्पादन पी. के. आचार्य ने किया था। इसमें ५८ अध्याय हैं।

(रिनाउ के अनुसार अध्यायों की संख्या ७० है।) इसके निर्माण के लिए निवेश निश्चय, मन्दिरों और भवनों का निर्माण, ग्राम और नगर योजना (Villege and city planning) जैसे विषय विस्तार पूर्वक दिये गए हैं। इसका महत्त्व इस वास्तविकता में भी है कि इसमें वास्तुविद्या के लगभग ३२ प्रामाणिक आचार्यों का उल्लेख किया गया है। **हयशीर्ष पञ्चरात्र** में मन्दिर निर्माण पर प्रकाश डाला गया है। इसमें मन्दिरों के विस्तार और उनकी निर्माण योजना बतलाई गई है। भुवनदेव की **अपराजिति पृच्छा** वस्तु विद्या की एक महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें पौराणिक शैली में अपराजित प्रश्न करते हैं और विश्वकर्मा उत्तर देते हैं। इस पुस्तक का एक दूसरा नाम 'सूत्र सन्तानगुण प्रकाश' भी है। यह पुस्तक दाक्षिणात्य वास्तुविद्या का परिचय देती है। भोजराज की **'समराङ्गण सूत्रधार'** उत्तर भारतीय वास्तुविद्या विषयक रचना है। मण्डन रचित **'प्रसाद मण्डन'** अथवा 'मण्डन सूत्रधार' एक आधुनिक पुस्तक है जिसमें मौलिकता कुछ नहीं है केवल पुरानी पुस्तकों में आए हुए विषयों का ही सङ्कलन कर दिया गया है।

वास्तुविद्या विषयक कतिपय अन्य पुस्तकें हैं— महेश्वर का **काश्यकल्प, आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प, चित्रलक्षण,** सरस्वती का **चित्रसूत्र, शिवतत्त्वरत्नाकर, नारद शिल्प** अथवा नारदीय शिल्पसूत्र, इत्यादि। इनके अतिरिक्त मत्स्य, स्कन्द, अग्नि एवं विष्णु धर्मोत्तर पुराणों तथा महानिर्वाण तन्त्र, कारणागम, वैखानसागम, सुप्रभेदागम और कामिकागम इन तन्त्र और आगम के ग्रन्थों में वास्तुविद्या पर अध्याय सम्मिलित हैं।

(५) मूर्तिविद्या वास्तुविद्या विषयक अनेक ग्रंथों में मूर्ति विद्या पर भी सामग्री प्राप्त होती है। **मानसार** में मन्दिर निर्माण के साथ मूर्तियों के निर्माण पर भी विचार किया गया है इसी प्रकार वैशम्पायन के नाम से प्रसिद्ध **नीति प्रकाशिका** में भी इस विषय को सम्मिलित किया गया है। **हयशीर्ष पञ्चरात्र** एक अन्य पुस्तक है जिसमें मन्दिरों के भूखण्ड, उनके परिसर, निर्माण के लिए मानचित्र, निर्माण विधि इत्यादि के साथ देव मूर्तियों के विभिन्न स्वरूपों और उनके निर्माण का भी वर्णन किया गया है। यह ग्रन्थ वैष्णव वास्तु कला विषयक है जिसमें मूर्तियों के निर्माण को ही नहीं उनकी प्रतिष्ठा और पूजन विधि को भी विषय वस्तु के रूप में स्वीकार किया गया है। इस ग्रन्थ के रचियता का साहित्य जगत् को ज्ञान नहीं है। **काश्यप शिल्प** सम्पादक के अनुमान के अनुसार नन्द राजाओं के शासन के वाद लिखा गया है। अतः इसका रचना काल ई० पू० ४थी शती ठहरता है। इसमें विभिन्न देवताओं की मूर्तियों के निर्माण सम्बन्धी सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवरण दिए गए हैं। **प्रतिमा लक्षण** नामक

ग्रन्थ का हरिदास मित्र की टीका के साथ १९३३ में वाराणसी से प्रकाशन हुआ था। इसके लेखक का अभी तक पता नहीं चला है। यह पुस्तक तिब्बत में सुरक्षित रही है। इसका प्रारम्भ सूत्र शैली में हुआ है। भगवान बुद्ध सारि-पुत्र से कहते हैं कि मेरे निर्वाण पदवी पर आरूढ़ हो जाने के बाद वट वृक्ष के निकट एक मूर्ति की स्थापना करना जिसका परिणाह मेरे शरीर के बराबर हो। इसके बाद मूर्ति निर्माण की शिक्षा दी गई है जिसमें बोधिसत्व और सुगत की मूर्तियों का विवरण दिया गया है। महाभारत के सभापर्व में शिल्प-शास्त्र की बढ़ी-चढ़ी तकनीक को प्रमाणित किया गया है।

अर्थशास्त्र विषयक अधिनिबन्ध

मिथिला के हरिसिंह देव के आश्रित कवि चन्द्रेश्वर लिखित 'राजनीति-रत्नाकर' १४वीं शताब्दी का एक विशाल ग्रन्थ है जो हिन्दू राजनीति का सार-संग्रह कहा जा सकता है। यह कौटिल्य से इस अर्थ में भिन्न है कि यह धर्म की ओर अधिक झुका हुआ है और इसमें राजशब्द के अन्तर्गत क्षत्रिय जाति के अतिरिक्त अन्य जाति वालों को भी मान्यता दी गई है। मानसोल्लास अथवा 'अभिलषितार्थचिन्तामणि' चालुक्य भूलोकमल्ल सोमेश्वर के नाम पर प्रसिद्ध एक विशाल ग्रन्थ है जो गद्य मिश्रित श्लोक छन्द में लिखा गया है। यह ८००० ग्रन्थों का संग्रह है जो पांच विंशतियों में विभाजित है प्रत्येक में २० अध्याय हैं जिनमें किसी-किसी में उपविभाग भी हैं। इसमें अर्थशास्त्र के प्रायः सभी विषयों का विवेचन किया गया है जिनमें ज्योतिष, रत्न परीक्षा जैसे विषय भी सम्मिलित हैं। शिवाजी के पुत्र शम्भा जी के नाम पर भी राज-नीति शास्त्र की एक पुस्तक प्रसिद्ध है। किन्तु उसका कोई विशेष महत्व नहीं।

कामशास्त्र

काम तीसरा पुरुषार्थ है। काम का सामान्य अर्थ है इच्छा जो किसी प्रकार की हो सकती है किन्तु शास्त्ररूपता यौन सम्बन्ध मूलक इच्छा को ही प्राप्त होती है जो कि काम का पर्याय बन गई है। यह कामोपयोग की प्रवृत्ति सभी प्राणियों में सामान्य रूप से पाई जाती है जिसके लिए शास्त्र की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, किन्तु मानव समाज में कुछ तो बुद्धि के विकास और कुछ सामाजिकता के कारण इस प्रकार के सम्बन्ध में इतनी जटिलतायें उत्पन्न हो गईं हैं कि उसका ठीक रूप में अगर्हणीय उपभोग बिना शास्त्रज्ञान के नहीं हो सकता। इस विषय में मानव और पशु दोनों की प्रवृत्तियों में पर्याप्त अन्तर है। मानव का कामोपयोग पशुओं जैसा अनावृत नहीं हो सकता

न तो उनके अंग ही अनावृत होते हैं और न उनका उपभोग खुले रूप में सम्भव है। मानव में एकाधिकार की भावना होती है, उसे अपने सहयोगी के किसी अन्य से सम्बन्ध को रोकना पड़ता है, सदाचार की रक्षा करनी पड़ती है। किसी भी सम्बन्ध के बनाने में विचार करना पड़ता है कि उससे कल्याण होगा या अकल्याण। सन्तान की वैधता का प्रश्न अलग से आता है और सबसे बड़ी बात यह है समस्त पारिवारिक और उसके साथ ही सामाजिक गतिविधि यौन सम्बन्ध के औचित्य-अनौचित्य पर ही आधारित रहती है। इन सभी जटिलताओं का समाधान शास्त्र से ही प्राप्त होता है। अतः धर्म और अर्थ के समान काम भी एक उपयोगी शास्त्र है। कहा तो यह भी जा सकता है कि सर्वस्पृहणीय होने के कारण तीनों में काम ही प्रधान है, उसी के लिए साधन जुटाने का काम अर्थशास्त्र करता है और धर्मशास्त्र नियन्त्रित करने का उत्तरदायित्व वहन करता है।

कामशास्त्र का ऐतिहासिक लेखा जोखा

कामशास्त्र का उद्गम कब, किन परिस्थितियों में और किनके द्वारा किया गया इसका कोई निश्चित उत्तर साहित्य जगत के पास नहीं है। वैदिक साहित्य में अनेक सूत्र इस प्रकार के हैं जिनसे ज्ञात होता है कि उनमें किसी निश्चित व्यवस्था का परिपालन किया जा रहा था। किन्तु इस शास्त्र की सबसे पुरानी, सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तक मल्लनाग वात्स्यायन का **कामसूत्र** है। इसमें पूर्ववर्ती शास्त्रीय गतिविधि का परिचय दिया गया है जो कितने अंश में प्रामाणिक है और कितने अंश में काल्पनिक इसका निर्णय करना सम्भव प्रतीत नहीं होता। इसमें कहा गया है कि ब्रह्मा जी ने तीनों वर्गों पर एक पुस्तक लिखी थी जिसमें एक लाख अध्याय थे। जिनसे छांटकर मनु ने धर्मशास्त्र का, बृहस्पति ने अर्थशास्त्र का और नन्दी ने काम शास्त्र का उद्धार किया। नन्दी के कामशास्त्र में १००० अध्याय थे। इसके संक्षिप्त संस्करण पहले औद्दालकि श्वेतकेतु ने और फिर बाभ्रव्य पांचाल ने प्रस्तुत किए। बाभ्रव्य का संस्करण भी १५० अध्यायों का एक विशाल ग्रंथ था सामान्य व्यक्ति को उसका पूरा अध्ययन एक समस्या थी। यह संस्करण ७ अधिकरणों में विभाजित था। बाभ्रव्य के निर्देश पर उनके ७ शिष्यों ने एक एक अधिकरण की रचना की। इस कार्य का दिशा निर्देश सर्वप्रथम दत्तक ने किया था जिसने वैशिक अधिकरण की रचना कर पाटलिपुत्र की वेश्याओं का वर्णन किया। यह एक गोद लिया हुआ ब्राह्मण पुत्र था; अतः यह दत्तक कहलाया। संसार को समझने की आकाङ्क्षा में इसने पाटलिपुत्र की वेश्याओं के यहां जाना

प्रारम्भ कर दिया और अन्त में उन्हीं की प्रार्थना पर इस शास्त्र की रचना की। उनके अनुकरण पर जिन अन्य ६ शिष्यों ने विभिन्न अधिकरणों की रचना की उनके नाम हैं–चारायण, सुवर्णनाभ, घोटकमुख, गोनर्दीय, गोणिकपुत्र और कुचिमार। ये सब बाभ्रव्य के शिष्य थे यह इस बात से प्रमाणित होता है कि इनके सामान्य निर्देश के लिए शास्त्रकारों ने 'इति वाभ्रवीयाः' इस विशेषण का प्रयोग किया है। जिन ग्रंथकारों का यहां नाम निर्देश किया गया है उनके नाम अन्यत्र भी मिलते हैं। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में चारायण और घोटकमुखका उल्लेख किया गया है; गोनर्दीय और गोणिका पुत्र का नाम महाभाष्य में भी मिलता है; नन्दिसूत्र में ब्राह्मण धर्मग्रंथों की सूची और जैन अनुयोग द्वार में भी घोटकमुख का उल्लेख आता है। इससे प्रमाणित होता है कि ये नाम काल्पनिक नहीं हैं किन्तु इनकी सत्ता विद्यमान थी और इन्होंने ग्रंथ लिखे थे जो अब उपलब्ध नहीं होते। इनके अतिरिक्त अश्वघोष के सूत्रालंकार के अनुसार बुद्ध की शिक्षा में कामशास्त्र का भी समावेश था। तन्त्राख्यायिका में लिखा है कि राजकुमारों की शिक्षा में धर्म, अर्थ और काम तीनों शास्त्रों की शिक्षा का प्रविधान था।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वात्स्यायन के पहले भी कामशास्त्र प्रतिष्ठित था और अन्य शास्त्रों के समान उसकी भी शिक्षा दी जाती थी। बाभ्रव्य का ग्रंथ अपनी विशालता में सामान्य अध्ययन के लिए अनुपयुक्त था जबकि चारायण इत्यादि के ग्रंथ पृथक्-पृथक् विषय प्रस्तुत करने के कारण शास्त्र का समग्र प्रभाव जमाने में अकिञ्चित्कर थे। अतः वात्स्यायन ने कामसूत्र में समग्र कामशास्त्र को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा की। यह सूत्र शैली में लिखा हुआ ग्रंथ है जिसमें उन्हीं अधिकरणों का विवेचन किया गया है जिनको बाभ्रव्य और उनके शिष्यों ने अपने ग्रंथों में स्थान दिया था। इस प्रकार कामसूत्र ७ अधिकरणों में विभाजित है—(१) साधारण अधिकरण जिसमें कामशास्त्र का महत्त्व और उसकी विशेषतायें, स्वरूप और शिक्षा विधि तथा कामशास्त्र की विधि के अनुसार जीवन पद्धति और नियन्त्रण नागरक वृत्त इन सब पर विचार किया गया है। (२) साम्प्रयोगिक—इसमें इन्द्रियोपभोग सम्बन्धी सभी तत्त्वों का सांगोपाङ्ग वर्णन किया गया है। (३) कन्या साम्प्रयोगिक जिसमें कन्याओं से गुप्त सम्बन्ध स्थापित करना तथा उनमें विश्वास पैदा करना, कन्याओं की शिक्षा और उनके साथ मैत्री सम्बन्ध का निरूपण किया गया है। (४) भार्याधिकारिक इसमें पति पत्नी के व्यवहार पर अनेक दृष्टियों से विचार किया गया है; (५) पारदारिक—इसमें परस्त्री के सम्बन्ध में उनके साथ किए जाने वाले व्यवहार पर प्रकाश डाला गया है और इस

बात का विवेचन किया गया है कि किन अवस्थाओं परस्त्रीगमन उचित होता है किनमें अनुचित; (६) वैशिक इसमें शरीर का व्यवसाय करने वाली सर्व-सामान्य स्त्रियों (वेश्याओं) का वर्णन किया गया है और (७) औपनिषदिक अधिकरण में यौन सम्बन्ध के लिए उपयोगी औषधियों तथा मन्त्र तन्त्र इत्यादि का परिचय दिया गया हैं।

भारतीय शास्त्रकारों की सामान्य प्रवृत्ति है कि वे जिस विषय का वर्णन करते हैं उसके प्रति न्याय करने के लिए सांसारिक मर्यादाओं का विचार बिल्कुल नहीं रखते और उस विषय की सभी बातें निस्संकोच बतलाते चलते हैं। आयुर्वेद में कुत्ते या मनुष्य मांस तक के गुण दोष बतलाए जाते हैं। इसी प्रकार कामशास्त्र में भी किसी विशिष्ट दिशा में जो भी सम्भव है उस सब का कथन कर देते हैं। उसका यह अर्थ नहीं होता कि उन सब विधियों का पालन कर ही लिया जाए। कभी कभी तो उसके बचाने का भी अभिप्राय होता है। अतः कामसूत्र पर व्यभिचार को प्रचारित करने का आरोप नहीं लगाया जा सकता। दूसरी बात यह है कि कामसूत्र में धर्म अर्थ और काम तीनों के समन्वय और अविरोध का उपदेश दिया गया है। कामसूत्र में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि इस शास्त्र का उद्देश्य संभोगेच्छा की तृप्ति नहीं किन्तु लोक यात्रा निर्वाह है। 'जिस व्यक्ति ने इस शास्त्र की वास्तविकता को ठीक रूप में समझ लिया है और इसकी वास्तविकता को हृदयंगम कर लिया है उसका अपने मस्तिष्क पर पूर्ण नियन्त्रण हो जाता है और वह ठीक रूप में धर्म, अर्थ और काम का अनुपालन करते हुए लोक यात्रा का सफलता पूर्वक निर्वाह कर लेता है और प्रेम के मार्ग में भी कभी भी ऐसे कदम नहीं उठाता जिससे उसे जीवन यात्रा में पश्चात्ताप का सामना करना पड़े।

कामशास्त्र का महत्त्व इसी से सिद्ध होता है कि सभी प्रकार के ललित साहित्य में प्रधानता शृङ्गार रस की ही है जिसका मूल आधार कामशास्त्र ही है। काव्य शास्त्र में नायक नायिका भेद उनकी चेष्टाओं इत्यादि के भेद काम शास्त्र के आधार पर ही निरूपित किए गए हैं। कवियों और नाटककारों ने अधिकतर इसके विधानों को काव्यरूपता प्रदान की है।

कामसूत्र यौन सम्बन्ध की एक साधारण रचना नहीं उसकी अपेक्षा और बहुत कुछ है। यह समाज शास्त्र की एक महत्त्वपूर्ण कृति है जिसमें मानव मनोविज्ञान की दिशा में महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध होती है। यह भारतीय नागरिक के आवास का एक बहुत सुन्दर चित्र प्रस्तुत करती है जिसमें उसके आन्तरिक और बाह्य का पूरा विवरण विद्यमान रहता है; समर्पित भारतीय

पत्नी की जीवन पद्धति, उसके त्याग, सदाचार और धर्म परायणता के साथ पति के गृह प्रबन्ध और आर्थिक लेखा जोखा रखने का भी विवरण दिया गया है। कोई शौकीन तरुण, उसके अनेक विध क्रियाकलाप, सांस्कृतिक गति-विधि, उसके मित्र, उसके प्रणय सम्बन्ध उसके चरित्रपतन और अपराध, उसकी शौक के खेल तथा दूसरे प्रकार की लीलायें, मनोरंजन, पार्टियों और क्लबों का जीवन इन सब पर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है। विलासमय जीवन के छलकपट, फुसलाने के मनोरम उपाय, विलासवती रमणियां, बड़े अधिकारियों एवं राजकुमारों में फैले भ्रष्टाचार, बुराइयां और छलकपट, उनके भीड़ भाड़ से भरे अन्त:पुरों की प्रयोजित बुराइयां इन सबका तो वर्णन है ही विभिन्न प्रदेशों के स्थानीय व्यवहार भी पर्याप्त विस्तार के साथ दिख-लाए गए हैं। इसमें कलानिपुण वेश्याओं, कलाकारों, अभिनेताओं, अभिनेत्रियों, नर्तकियों के व्यवसाय और व्यवहार का सांगोपात्र विवेचन किया गया है— उस समय इनका स्थान समाज में उच्च कोटि का माना जाता था। वार्षिक उत्सवों, पानगोष्ठियों और त्यौहारों का भी इसमें पूरा परिचय दिया गया है। प्राचीन भारतीय जीवन पद्धति के अध्ययन का यह एक महत्त्वपूर्ण साधन है। यह विभिन्न दृष्टिकोणों से भारतीय जीवन का यथेष्ट चित्रण करता है।

जैसा कि अन्य शास्त्रों के विषय में सत्य है कामसूत्र के रचना काल के विषय में भी अनुमान पर ही निर्भर रखना पड़ता है। कामसूत्र के विषय में इतना तो सत्य है कि इसकी रचना सूत्रकाल में हुई होगी। कामसूत्रकार ने कुन्तलशातकर्णि शातवाहन का उल्लेख किया है जिसने प्रेम की उन्मत्तता में मलयवती की हत्या कर दी थी। मत्स्यपुराण के अनुसार गणना करने पर शातकर्णि का समय ई० पू० ६१५ के आस पास सिद्ध होता है। कामसूत्रकार का कहना है कि 'ऐसा सुना जाता है' इससे सिद्ध होता है कि यह घटना बहुत पहले की होगी और उसके किंवदन्ती बनने में कम से कम तीन चार सौ वर्ष तो लग ही गए होंगे। अतः अनुमान है कि इन सूत्रों का रचना काल ई० पू० दूसरी या तीसरी शताब्दी रहा होगा। विण्टरनित्ज़ ने कौटिल्य की समानता और प्राचीन आर्ष प्रयोगों के आधार इसका रचना काल ई० की चौथी शताब्दी माना है। कीथ इस काल को और अधिक आगे बढ़ाकर ५वीं शती मानते हैं।

कामसूत्र के टीकाकार

कामसूत्र की सर्वाधिक प्रतिष्ठित टीका **जयमंगला** है जिसमें ग्रन्थ की पूरी व्याख्या की गई है और ग्रन्थ की गुत्थियों को सुलझाने के लिए मनोयोग-पूर्वक प्रयत्न किया गया है। इसके लेखक यशोधर इन्द्रपाद बतलाए जाते हैं।

इस नाम की कतिपय अन्य ग्रन्थों की कई और टीकायें भी प्रसिद्ध हैं जिन सबके लेखक शङ्करार्य या शङ्कराचार्य माने जाते है। अतः कुछ लोगों का विचार है कि इस टीका के रचनाकार भी शंकरार्य या शङ्कराचार्य ही होंगे। यशोधर नामक किसी व्यक्ति ने इस टीका की सम्भवतः हस्तलिपि तैयार की हो और भ्रमवश उसे ही इसका वास्तविक रचनाकार माना जाने लगा हो। यह शङ्कर १३वीं शताब्दी का कोई व्यक्ति रहा होगा क्योंकि इसका समय १३वीं शताब्दी ही माना जाता है। वीरभद्रदेव की **कन्दर्प चूडामणि** भी कामसूत्र पर एक प्रकार से टीका ही है जिसमें सूत्रों को पद्यबद्ध किया गया है। वीरभद्रदेव शातवाहन परम्परा के बघेला वंश के रामचन्द्र के पुत्र थे। इनका समय ईशा की १६वीं शताब्दी का अन्तिम भाग माना जाता है। भास्कर नृसिंह की भी एक टीका प्रसिद्ध है जो १८वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में व्रजलाल के आग्रह पर बनारस में लिखी गई थी। प्रसिद्ध क्षेमेन्द्र की लिखी एक टीका **वात्स्यायन सूत्र संसार** भी प्रकाश में आई है। इनके अतिरिक्त मल्लदेव और अज्ञातनामा किसी व्यक्ति की टीकायें भी प्रसिद्ध हैं।

कामशास्त्र पर अन्य रचनायें

कामसूत्र एक विशाल ग्रन्थ है जिसकी विषयवस्तु यौन-सम्बन्ध तक सीमित नहीं है। यह सामाजिक नागर जीवन का पूरा चित्र प्रस्तुत करता है। अतः विद्वानों के मत में यह एक अनुसन्धानोपयोगी पुस्तक बन गई है। केवल यौन-सम्बन्ध विषयक ज्ञान प्राप्त करने वालों के उपयोग के लिए कतिपय अन्य पुस्तकें लिखी गई हैं जिनमें प्रमुख निम्नलिखित पुस्तकें हैं—

(१) कोकपण्डित का **रतिरहस्य**—यह नवीं १०वीं शताब्दी की रचना है; इनको कोक्कोक नाम से भी याद किया जाता है। १० अध्यायों की यह रचना इतनी प्रसिद्ध हुई कि कामशास्त्र का नाम ही कोकशास्त्र पड़ गया। रतिरहस्य अनेक परवर्ती रचनाओं का उपजीव्य रहा है।

(२) कविशेखर ज्योतिरीश्वर का **पञ्चशायक**—यह १४वीं शताब्दी की रचना है। इसके ५ खण्डों में समस्त शास्त्र को समाहृत कर दिया गया है; स्त्रियों के भेद बतलाए गए हैं आनन्दोपभोग की प्रक्रिया बतलाई गई है, मन्त्र-तन्त्र और औषधियों का वर्णन किया गया है। लेखक ने ग्रन्थ में ५ शास्त्रकारों को याद किया है—वात्स्यायन, गोणीपुत्रक, मूलदेव, बाभ्रव्य और नन्दीश्वर।

(३) पद्मश्री का **नागर सर्वस्व**—यह ११वीं शताब्दी की रचना है। पद्मश्री बौद्ध थे उन्होंने इसके १८ अध्यायों में कामशास्त्र के सभी ज्ञातव्य विषय समाहित कर दिए हैं। इसकी विशेषता यह है कि इसमें एक राजकुमार

के विषय में रचित मनोरम कविता के उदाहरण दिए गए हैं।

(४) इम्मादी प्रौढ देवराय की **रतिरत्नप्रदीपिका**— यह १५वीं शताब्दी की रचना है। इसमें अन्तर्बाह्य अभियोगों का सरल पद्यों में वर्णन किया गया है।

(५) अनन्त का **कामसमूह**—एक अच्छी रचना है जिसमें कामशास्त्रीय अनेक विषयों का वर्णन किया गया है। इसका प्रारम्भ ऋतुवर्णन से होता है। इसमें स्त्रियों के भेदोपभेद, उनके प्रेम स्तर और प्रेम के विकास का वर्णन आ जाता है। इसकी रचना १४५७ में हुई थी। इसमें जो उदाहरण दिए गए हैं उनमें अनेक अन्य कवियों के नाम पर प्राप्त होते हैं। इससे ज्ञात होता है कि यह एक संकलन है।

(६) कल्याणमल्ल का **अनङ्गरंग**—इस शास्त्र की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा अत्यन्त प्रसिद्ध रचना है। कवि ने लोदीवंशीय अहमद के पुत्र लाडखान नामक अपने मित्र के मनोविनोद के लिए इसकी रचना की थी। इसके १० स्थलों में स्त्री-पुरुष भेद, देश भेद, अन्तर्बाह्यकलाओं के अतिरिक्त कतिपय सामाजिक विषयों का भी उपादान किया गया है। कविता मनोरम तथा प्रवाहपूर्ण है।

इस शास्त्र की अन्य भी अनेक पुस्तकें प्रसिद्ध हैं। कहा जाता है महान् शंकराचार्य ने कामशास्त्र विषयक भी एक पुस्तक लिखी थी जो कि मनसिज सूत्र के नाम से प्रसिद्ध है। ज्योतिरीश्वर का कहना है कि उन्होंने शंकराचार्य की उस कृति को देखा था। कुछ पुस्तकें एक-एक विषय को लेकर भी लिखी गई हैं। कुछ वैद्यक विषयक हैं। दामोदर गुप्त का **कुट्टिनीमत** साहित्यिक कृति है जिसमें वेश्याओं को धनोपार्जन के उपाय बतलाए गए हैं। क्षेमेन्द्र की **समयमात्रिका** भी वेश्या विषयक रचना ही है।

आयुर्वेद

आयुर्वेद वह विद्या है जिससे रोग का परिज्ञान और वेदना का निग्रह किया जाता है। आयुर्वेदज्ञ को वैद्य कहा जाता है; यह शब्द विद्या से बना है जिसका अर्थ है विशेषज्ञ। जिस प्रकार पाश्चात्य जगत् में इस शास्त्र के ज्ञाता के लिए विशेषज्ञता वाचक डाक्टर शब्द का प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार भारतीय परम्परा में आयुर्वेदज्ञ को वैद्य (विशेषज्ञ) कहा जाता है।[1]

१. डाक्टर शब्द का मूल (विशेषज्ञ) अर्थ में अब भी प्रयोग होता है किन्तु वैद्य शब्द ने अपना मूल अर्थ खो दिया है। अब इसका प्रयोग केवल चिकित्सक के लिए होता है।

अन्य अनेक शास्त्रों के समान इस शास्त्र का मूल भी वेद ही है और जिस प्रकार अन्य अनेक देशों में प्रारम्भ में रोग का कारण अभिचार, जादू-टोना इत्यादि माना जाता था और उसका प्रतीकार मन्त्र बल पर किया जाता था वही प्रक्रिया इस देश में भी प्रचलित हुई। हमें अथर्ववेद में ऐसे अनेक मन्त्र मिलते हैं जिनमें किसी दुष्ट सत्त्व के कारण रोग की उत्पत्ति बतलाई गई है और मन्त्र तथा झाड़ फूंक के प्रभाव से रोग शान्ति का विधान किया गया है। यद्यपि आज आयुर्वेद-विज्ञान इतना अधिक विकसित हो गया है फिर भी आज भी यह प्रक्रिया अनेकशः अपनाई जाती है।

दुष्ट सत्त्व की कारणता और मन्त्रोपचार के अतिरिक्त पौधों की रोग-निवारक शक्ति से चिकित्सा का निर्देश अथर्ववेद के मन्त्रों में पाया जाता है। वनस्पति से चिकित्सा का विवरण हमें अथर्ववेद से संबन्धित कौशिक सूत्र में भी मिलता है। शरीर रचना, भ्रूण-विज्ञान और स्वास्थ्य विज्ञान का परिचय वैदिक साहित्य में ही प्राप्त होता है। अथर्ववेद (१०.२) और शतपथ ब्राह्मण (१०.५.४.१२ और १२.३ २.३) में नस, नाड़ियों और अस्थियों की जो संख्या और विवरण दिया हुआ है वह आश्चर्यजनक रूप आज की वैज्ञानिक मान्यता से मेल खाता है। इस शास्त्र का मूलाधार तो अथर्ववेद को माना ही जाता है[1] किन्तु ऋग्वेद के दशम मण्डल के कुछ मन्त्रों में भी इसकी प्रतिच्छाया पाई जाती है। केवल इतना ही नहीं अपितु वैदिक साहित्य से ही यह बात भी सिद्ध होती है कि उस समय भी इसका प्रयोग प्रधान व्यवसायों में एक माना जाता था।[2] पतंजलि ने प्रमुख शास्त्रों में इसका उल्लेख किया है। केवल पतंजलि ही नहीं उनसे बहुत पहले पाणिनि के समय में भी इस शास्त्र का ज्ञान था यह बात उन्हीं की कृति से सिद्ध हो जाती है।

आयुर्वेद का उद्भव और उसका प्रारम्भिक रूप

अन्य अनेक शास्त्रों के समान आयुर्वेद की भी दैवी उत्पत्ति का विवेचन किया जाता है। इस शास्त्र का उद्भव ब्रह्मा जी से हुआ था; ब्रह्मा जी से प्रजापति को प्रजापति से अश्विनी कुमारों को अश्विनी कुमारों से यह विज्ञान इन्द्र को प्राप्त हुआ। इस परम्परा से यह ज्ञान ऋषियों को प्रदान किया गया जिनमें प्रमुख थे - आत्रेय, हारीत, कश्यप, भेड़ और अग्निवेश। इन ऋषियों ने पृथक्-पृथक् रचनायें कीं। इनमें सर्वप्रमुख आत्रेय या कृष्णात्रेय थे। किन्तु

---

१. आयुर्वेद के ग्रन्थों में वैद्य का सबसे बड़ा गुण उसका अथर्ववेदज्ञ होना माना जाता था।

२. ऋग्वेद ९.११२.३

अब ये संहितायें उपलब्ध नहीं होतीं। अब इन ऋषियों के नाम पर जो संहितायें उपलब्ध होती हैं वे सब नई कृतियां हैं जो प्राचीन ऋषियों के नाम पर प्रचलित की गई हैं।

त्रिपिटक तथा बौद्ध साहित्य में आयुर्वेद

बौद्ध साहित्य के कथानकों में शिशुचिकित्सक जीवक का नाम विशेष रूप से लिया जाता है। कहा जाता है कि इन्होंने आत्रेय से तक्षशिला में शिक्षा प्राप्त की थी। विनय पिटक में औषधोपचार और वैद्य क्रिया का प्राय: उल्लेख मिलता है। मज्झिमनिकाय में शल्य-चिकित्सक की तुलना की गई है। परवर्ती बौद्ध साहित्य में भी आयुर्वेद की कुछ झलक मिलती है। कतिपय कृतियों की रचना का श्रेय नागार्जुन को दिया जाता है। बाद के समय में भी बौद्ध लोग वैद्यक की शिक्षा को अधिक महत्त्व प्रदान करते थे। इत्सिंग ने यात्रा विवरण में भारत में आयुर्वेद की शिक्षा एवं ग्रन्थ रचना पर संक्षिप्त प्रकाश डाला है और आयुर्वेद-ग्रन्थों के तिब्बती भाषा में अनुवाद की चर्चा की है।

तत्कालीन आयुर्वेद का क्षेत्र

आयुर्वेद का एक नाम अष्टांग योग भी है जिसका आशय यह है कि उस समय आयुर्वेद के आठ अंग थे—(१) **शल्य**—बड़ी सर्जरी; (२) **शालाक्य**—लघुसर्जरी; (३) **कायचिकित्सा**—मेडीसिन; (४) **भूतविद्या**—दुष्ट सत्त्व के आवेश से उत्पन्न होने वाले रोगों की चिकित्सा; (५) **अगदतन्त्र**—विषविद्या जिसमें विषों की चिकित्सा के साथ-साथ विषों द्वारा चिकित्सा, शत्रु पर विषों का प्रयोग इत्यादि का भी वर्णन आता है और ऐसे योगों का विवरण रहता है जिनसे सम्पूर्ण शत्रु सेना को विषों से प्रभावित किया जा सकता है शत्रु द्वारा विष से प्रभावित सेना को उस प्रभाव से मुक्त किया जा सकता है; (६) **कुमारभृत्य** बच्चों की चिकित्सा; (७) **रसायन**—सामान्य शक्तिवर्धक; (८) **वाजीकरण**—सम्भोग शक्तिवर्धक। विनय पिटक में बहुत बड़ी संख्या में औषधियों का परिगणन किया गया है और वाष्पस्नान, रक्तमोक्षण, शल्य-चिकित्सा में प्रयोज्य अस्त्र, वमन विरेचनादि कर्मों का भी विवरण दिया गया है। प्राचीन ग्रन्थों में भ्रूण और गर्भ का भी उल्लेख आता है और तद्विषयक उपचारों की ओर भी संकेत किया गया है।

सन् १८९० में अंग्रेज लेफ्टिनेंट एच वाडवर ने चीनी तुर्किस्तान के कशघर क्षेत्र के कुच स्थान पर अशुद्ध संस्कृत में लिखी कतिपय पाण्डुलिपियों का अनुसन्धान किया था जिनका अध्ययन हार्नले ने किया था। पुरातत्त्व विश्लेषण के अनुसार इन पाण्डुलिपियों का समय चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध के आसपास समझा जाता है। उनमें कतिपय ग्रन्थ चिकित्सापरक भी हैं।

इनमें लसुन की उत्पत्ति और उसके गुण, सौ वर्ष तक जीवित रखने के योग, एक रसायन जो एक सहस्र वर्ष का जीवन दे सकता है, पाचन औषधियां, औषधियों का मिश्रण क्षेत्र रोगों के लिए आश्च्योतन (आईड्राप्स) अंजन मल्हम इत्यादि दिए हुए हैं। एक खण्ड में १४ औषधियों का वर्णन है जो अन्तर और बाह्य दोनों रूपों में प्रयुक्त की जा सकती हैं। एक खण्ड का शीर्षक नवनीतक है। यह सबसे बड़ा अनुभाग है। इनके १६ अनुभागों में चूर्ण, काढ़े, तेल, वस्तिकर्म (एनिमा) रसायन, वाजीकरण इन सबका विवरण दिया हुआ है। साथ ही बच्चों की प्रवृत्तियां, दवाओं के संयोग इन सबका विवरण भी इनमें उपलब्ध होता है। नवनीतक में अनेक अधिकारी लेखकों के उद्धरण दिए गए हैं जिनमें प्रमुख हैं—अग्निवेश, भेड, हारीत, जातुकर्ण, क्षारपाणि और पराशर ये सब पुनर्वसु आत्रेय के शिष्य हो सकते हैं।

तीन मूर्धन्य ग्रन्थ

आयुर्वेदज्ञों में तीन ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं - चरक, सुश्रुत और वाग्भट। इन तीनों को संहिता कहा जाता है। संहिता का अर्थ है विखरी हुई सामग्री का एक व्यवस्था के साथ संकलन। इनकी विषयवस्तु सम्भवतः तन्त्र और कल्पयुग से सम्वन्ध रखती है जो कि प्राचीन दीर्घ निवन्धों के लिए प्रयुक्त होते थे। ज्ञात होता है विभिन्न विषयों को लेकर बड़े अधिनिवन्ध तन्त्र और कल्प नाम से जहां तहां विखरे हुए थे जिनको तत्कालीन प्रतिष्ठित आचार्यों ने संकलित कर एक व्यवस्था के साथ महान् ग्रन्थों के रूप में परिणत कर दिया।

चरक

चिकित्साशास्त्र का यह सर्वाधिक प्रतिष्ठित महान ग्रन्थ है। यह अपने इसी लेखक के नाम से प्रसिद्ध है। अनुश्रुति के अनुसार चरक ने कनिष्क की पत्नी की गर्भावस्था में एक भयानक बीमारी में चिकित्सा की थी। तभी से इनका प्रवेश कनिष्क के दरबार में हो गया था। इस अनुश्रुति से चरक का रचनाकार निश्चित रूप से पहली या दूसरी शताब्दी सिद्ध हो जाता है। यह सर्वथा एक मौलिक रचना नहीं है किन्तु यह आत्रेय के शिष्य पुनर्वसु की एक कृति और अपने सहपाठी भेड (या भेल)[1] की रचनाओं का सम्मिलित

---

१. भेड़ संहिता उच्छिन्न रूप में प्राप्त होती है जो श्लोकों में रची गई है और उसमें कुछ सीमित गद्य भी है। इस कृति को सुश्रुत का भी ज्ञान है। जहां तक चरक से इसकी तुलना सम्भव है यह हीनतर स्तर को ही प्रकट करती है।

संस्करण है जिसका ४०४ ईसवी में चीनी भाषा में अनुवाद किया गया था। इस ग्रन्थ में आठ अधिकरण (स्थान) हैं जिन्हें अध्यायों में विभाजित किया गया है—(१) **सूत्रस्थान** - आयुर्वेद के सामान्य विषयों के साथ रोग विज्ञान, औषधोपचार आयुर्वेदिक निघण्टु और वैद्यों के सामान्य कर्तव्य कर्म। (२) **निदान स्थान** मुख्य रोगों के निदान (कारण)। (३) **विमान स्थान** · रोगों की विभिन्न परीक्षा, पथ्यापथ्य, रोग विज्ञान (Pathology)। (४) **शारीर स्थान** — शरीर रचना, क्रियाविज्ञान और भ्रूणविज्ञान (anatomy, physiology and embryology) (५) **इन्द्रिय-स्थान** — रोगविनिर्णय और फलानुमान (diagnosis and prognosis); (६) **चिकित्सास्थान** —औषधि विवेचन (special therapy) (७) **कल्पस्थान** और (८) **सिद्धिस्थान** में विशिष्ट द्रव्यों और विधियों का वर्णन है।

चरक केवल चिकित्सा की पुस्तक नहीं है—इसमें नीति, धर्म, दर्शन, आचार-विचार, वैद्य के कर्तव्य, सामान्य कर्तव्य इन सबका उपदेश दिया गया है; साथ ही प्राणशक्ति की रक्षा, धनोपार्जन, विश्वशान्ति के भी उपाय बतलाए गए हैं। सांख्य और वैशेषिक दर्शनों का भी परिचय दिया गया है। आशय यह है कि आचार के साथ वैद्य के सामान्य ज्ञातव्य विषयों का भी इस रचना में समावेश किया गया है।

जिस रूप में चरक आज हमें उपलब्ध है उसी रूप में यह अपने रचनाकाल में नहीं था। जो प्राचीन पाण्डुलिपियां उपलब्ध होती हैं वे अत्यन्त उच्छिन्न अवस्था में हैं और प्रकाशित ग्रन्थ से उनमें बहुत अधिक भेद है। ९वीं शताब्दी में दृढबल ने इसका संशोधन किया था। ये एक काश्मीरी पण्डित थे तथा स्वयं पुस्तक से ही यह बात सिद्ध होती है कि इन्होंने इसमें अन्तिम दो स्थान जोड़े थे; साथ ही चिकित्सा स्थान के ३० अध्यायों में १७ इन्होंने जोड़े थे; साथ ही शेष ग्रन्थ का भी संशोधन किया था। एक आलोचक प्रस्तुत कृति को काश्मीरी संस्करण कहता है।

अलबरूनी के अनुसार इसका पहला अनुवाद फारसी में हुआ था और उससे बाद में अरबी में अनुवाद किया गया। इसी क्रम से इस ग्रन्थ का पाश्चात्य देशों में प्रवेश हुआ। लैटिन में इसका अनुवाद १९वीं शताब्दी के मध्य में प्रकाशित हुआ और अंग्रेजी में श्री हार्नले ने १८९७ में अनुवाद प्रकाशित किया। इसकी प्राचीनतम उपलब्ध टीका आयुर्वेद दीपिका या

चरकतात्पर्यटीका नाम से प्रसिद्ध है जिसके लेखक ११वीं शताब्दी के चक्रपाणिदत्त कहे जाते हैं। चरक की रचना का श्रेय कहीं-कहीं अग्निवेश को भी दिया जाता है।

सुश्रुत

यह दूसरा महान ग्रन्थ है जो चरक से इस अर्थ में भिन्न है कि चरक में लगभग पूर्ण रूप से उपेक्षित सर्जरी को इसमें पर्याप्त प्रमुखता प्रदान की गई है। वावर के हस्तलिखित संग्रह में चरक का नाम नहीं है किन्तु सुश्रुत का नाम सम्मिलित है। चरक के समान ही इसका विभाजन भी स्थानों में किया गया है। इसमें ५ स्थान हैं (१) **सूत्रस्थान**--सामान्य विषय और सामान्य समस्यायें; (२) **निदानस्थान**—रोगविज्ञान; (३) **शारीरस्थान**--शरीर रचना विज्ञान एवं भ्रूणविज्ञान; (४) **चिकित्सास्थान**; (५) **कल्पस्थान**—विषचिकित्सा। ५ स्थानों का यह भाग पुरानी रचना है और इसके साथ एक और खण्ड भी जोड़ा गया है जो **उत्तरस्थान** के नाम से प्रसिद्ध है। उत्तर-स्थान में नेत्र चिकित्सा तथा दूसरे अन्य विषय हैं जिनकी पूर्ववर्ती ५ खण्डों में उपेक्षा की गई है। इसमें भी चरक के समान वैद्यों के कर्तव्य उनके व्यवहार तथा स्फुट विषयों को समाविष्ट किया गया है।

उत्तरस्थान इतना प्राचीन अवश्य है जितना चरक और कनिष्क का समय अथवा उनसे कुछ पहले ईस्वी सन् के प्रारम्भ के आसपास की यह रचना है जबकि पूर्ववर्ती ५ स्थानों का भाग उमसे पुराना है। महाभारत (१३.४.५५) में सुश्रुत को विश्वामित्र का पुत्र बतलाया गया है[1] और शतपथ ब्राह्मण को इस रचना की वस्तु का ज्ञान है। इन्हीं तथ्यों के आधार पर इसे प्राचीन रचना माना जाता है। चरक से पहले तो यह अवश्य है। किन्तु विण्टरनित्ज के मत में इस विषय में निश्चयात्मक रूप में कुछ नहीं कहा जा सकता। कहा जाता है कि इसका प्रतिसंस्कार नागार्जुन ने किया था। इसका वास्तविक स्वरूप चक्रपाणिदत्त की भानुमती टीका के पहले सामने नहीं आया था। इस पर जैयट और गणदास की अप्राप्त टीकायें बतलाई जाती हैं और ग्यारहवीं शताब्दी की डल्लन की टीका निबन्ध संग्रह का भी उल्लेख किया जाता है। चरक के समान इस ग्रन्थ का भी विदेशों में प्रचार हुआ है। नवीं दसवीं शताब्दी में कम्बोडिया, इण्डोचाइना, अरब और यूरोपीय देशों में इसका नाम भली-भांति प्रचलित था।

---

१. सूत्रस्थान के अनुसार सुश्रुत के गुरु बनारस के दिवोदास थे जो देवताओं के शल्य चिकित्सक धन्वन्तरि का अवतार माने जाते हैं।

वाग्भट

उक्त त्रिक में वाग्भट्ट को अन्तिम स्थान दिया जाता है । यह संहिता दो रूपों में प्राप्त हुई है—अष्टाङ्गसङ्ग्रह और अष्टाङ्गहृदयसंग्रह जिसे संक्षिप्त रूप में अष्टाङ्गहृदय भी कहा जाता है । अष्टाङ्गसंग्रह प्राचीनतर पुस्तक है; इसके लेखक को वृद्ध वाग्भट कहा जाता है जबकि अष्टाङ्गहृदय के लेखक को सामान्य रूप से वाग्भट की संज्ञा दी जाती है । अष्टाङ्गसंग्रह की रचना गद्य और मिश्रित पद्य शैली में हुई है जबकि वाग्भट की कृति अष्टांगहृदय की रचना केवल पद्य में हुई है अष्टांगहृदय में अष्टाङ्गसंग्रह का उपयोग किया गया है; उसके उद्धरण दिए गए हैं इससे इस बात में सन्देह नहीं रह जाता कि हृदय की अपेक्षा संग्रह पहले लिखी गई थी ।

इत्सिंग ने बिना किसी का नामोल्लेख किए लिखा है कि उनसे पहले एक व्यक्ति ने आयुर्वेद विज्ञान के आठों अंगों का संग्रह कर एक पुस्तक तैयार की थी । क्योंकि वृद्धवाग्भट एक बौद्ध थे अतः इस बात में सन्देह करने का कोई अवसर नहीं रह जाता कि इत्सिंग ने जिस व्यक्ति को उक्त संग्रह करने वाला बतलाया है वह वास्तव में वृद्धवाग्भट ही था । अतएव वृद्ध वाग्भट का समय ७वीं शताब्दी माना जा सकता है । सम्भवतः वाग्भट (कनिष्ठ) भी बौद्ध ही थे । सम्भवतः दोनों वाग्भट एक ही परिवार के थे । इस प्रकार दूसरे वाग्भट का समय आठवीं शताब्दी माना जा सकता है । वृद्ध भाग्भट और वाग्भट दोनों ने चरक और सुश्रुत ग्रन्थों के उद्धरण दिए हैं । अष्टाङ्गहृदय संग्रह का तिब्बती भाषा में अनुवाद कर दिया गया था ।

चरक और सुश्रुत की चिकित्सा पद्धति कुछ कठिन और प्रौढ़ता सापेक्षिणी है जबकि वाग्भट प्रचलित पद्धति पर लिखा गया सामान्य उपयोग का ग्रंथ है । सम्भवतः इसीलिए हारीत ने कहा है—'सत् युग में अत्रि, द्वापर में सुश्रुत और कलियुग में वाग्भट संहिता उपयोगी मानी जाती हैं । इसका एक अर्थ यह भी है कि चरक और सुश्रुत की अपेक्षा वाग्भट की रचना कई शताब्दियों बाद हुई ।

परवर्ती ग्रंथ

माधव निदान आयुर्वेद की अत्यन्त प्रसिद्ध कृति है । इसका वास्तविक नाम रुग्विनिश्चय है और सामान्य रूप से इसे निदान भी कहा जाता है । इस की रचना इन्दुकर के पुत्र माधवकर ने की थी जिनका समय अष्टांग हृदय से अधिक बाद का नहीं है । अतः इसका समय ८वीं ९वीं शती माना जा सकता है । निदान के विषय में यह कृति सभी परवर्ती रचनाओं की मार्गदर्शिका

रही है और सभी महत्त्वपूर्ण रोगों का विस्तारपूर्वक विवेचन करती है। इस पर अनेक टीकाओं का लिखा जाना इसकी प्रतिष्ठा का प्रमाण है। यह वृन्द के सिद्धियोग या वृन्द माधव से पहले की रचना है जिसमें ज्वर से लेकर विष तक सभी रोगों के लिए नुस्खे और योग लिखे हुए हैं। वृन्द की पुस्तक में रोगों के निश्चय के लिए माधव निदान का आधार स्वीकार किया गया है वृन्द का समय माधव से बहुत बाद का नहीं होगा। वैसे हर्नले ने तो माधव का ही दूसरा नाम वृन्द माना है।

सुश्रुत के टीकाकार बंगाल के चक्रपाणिदत्त ने चिकित्सासार संग्रह की रचना की थी जो एक सफल रचना कही जा सकती है। यह विभिन्न योगों का संग्रह है जिसकी रचना १०६० के आस पास हुई थी। अपने रचना स्रोत के विषय में लेखक ने सिद्धियोग का आभार स्वीकार किया है। चक्रदत्त की एक अन्य पुस्तक द्रव्यगुण भी है।

गदाधर के पुत्र वंगसेन ने भी ११वीं १२वीं शताब्दी में चिकित्सा पर एक विशालकाय पुस्तक लिखी थी जिसका नाम भी चक्रदत्त की पुस्तक के समान ही चिकित्सासार संग्रह रखा था। इस पुस्तक में रोग विज्ञान के विषय में माधवनिदान की पूरी प्रतिलिपि ही कर दी गई है और सुश्रुत को भी पूर्णरूप से अपनाया गया है।

चिकित्सा के क्षेत्र में शाङ्‌र्गधर एक विख्यात नाम है और वैद्य इनकी शार्गंधर संहिता का पर्याप्त उपयोग करते हैं इसका समय तेरहवीं शताब्दी के आस पास या उससे कुछ पहले का है क्योंकि इस पर वोपदेव ने १३०० ई० में एक टीका लिखी थी। इस पुस्तक की लोकप्रियता का एक बहुत बड़ा प्रमाण इसकी पाण्डुलिपियों की बहुतायत है। इस ग्रन्थ पर वृन्द का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। अफीम और पारद के योगों का समावेश इस सम्भावना को व्यक्त करते हैं कि इस पर फारसी और अरबी का प्रभाव पड़ा है। वोपदेव की शतश्लोकी में चूर्ण, गोली इत्यादि का वर्णन किया गया है। उस पर उन्हीं की अपनी टीका भी है। वोपदेव बरार के वैद्य केशव के पुत्र और मन्त्री हेमाद्रि के आश्रित थे। ये व्याकरण के क्षेत्र में भी प्रसिद्ध हैं। इसी काल में लिखी हुई दूसरी पुस्तकें हैं—१२२४ में दिल्ली में लिखी २५०० पद्यों की चिकित्सामृत, नागार्जुन की लिखी योगसार और योगशतक, तिसटाचार्य की लिखी चिकित्सा कलिका जिसके उद्धरण चौदहवीं शताब्दी में दिए गए हैं और जिस पर तिसट के पुत्र चन्द्रक ने टीका लिखी।

१५वीं शताब्दी के बाद की कृतियां संख्या में भी अधिक हैं और उनका विस्तार भी अधिक है। १६वीं शताब्दी के भावमिश्र के भावप्रकाश ने इस

दिशा में अधिक प्रतिष्ठा प्राप्त की है। इस पुस्तक में फिरंग (syphilis) रोग काभी वर्णन किया गया है जो यूरोपीय सम्पर्क से भारत में आया है। लोलिम्मराज का वैद्य समाज में अधिक सम्मान रहा है। इनका लिखा वैद्यजीवन अपेक्षाकृत एक छोटी रचना है किन्तु इसके नुस्खे प्रभावशाली हैं और वैद्य समाज में समादृत रहे हैं। इस कृति में योगों का उल्लेख उच्चकोटि के काव्य सौन्दर्य के साथ किया गया है यह अपने में एक अभूतपूर्व वास्तविकता है। इसका समय ईशा की १७वीं शताब्दी माना जाता है।

प्रारम्भिक चरण में एक एक विषय को लेकर कल्प और तन्त्र के नाम पर जो प्रवृत्ति पाई गई थी उसका भी दर्शन इस काल में होता है। बुखार, बच्चों की बीमारी, नेत्र रोग, वाजीकरण नाड़ी ज्ञान इत्यादि पर भी पृथक् पृथक् पुस्तकें लिखी गई इसी प्रकार कई महत्त्वपूर्ण निघण्टु भी लिखे गए जिन में द्रव्यों के पर्यायवाचक शब्द और उनके गुण धर्मों का संक्षिप्त निर्देश किया गया। इस प्रकार के निघण्टुओं में धन्वन्तरि निघण्टु, राजनिघण्टु मदनविनोद निघण्टु, शब्द प्रदीप इत्यादि का उल्लेख किया जा सकता है। इन निघण्टुओं की रचना पद्यों में हुई है। कतिपय ऐसी पुस्तकें भी प्राप्त होती हैं जिनमें धर्म और ज्योतिष से भी आयुर्वेद का सम्बन्ध दिखलाया गया है। उदाहरण के लिए ज्ञानभास्कर नामक पुस्तक में रोगों की उत्पत्ति का कारण पूर्वजन्म के कर्मों या ग्रह दशा के चक्कर को माना गया है और व्रतोपवास यज्ञ जप इत्यादि को उनके निराकरण के रूप में स्वीकार किया गया है।

आयुर्वेद की ही एक उपशाखा औषधियों की शक्ति बढ़ाने और जादूगरी जैसे प्रभाव के विषय में है। इसमें धातुओं की शक्ति बढ़ाने का वर्णन किया है। जिस प्रकार पारस पत्थर को छुआ देने से लोहा सोना बन जाता है उसी प्रकार कुछ औषधियों के संयोग से धातुओं में चमत्कारक शक्ति उत्पन्न हो जाती है जिससे हजारों वर्ष की आयु प्राप्त की जा सकती है, स्थिर यौवन प्राप्त किया जा सकता है मनुष्य अदृश्य हो सकता है, अभेद्य हो सकता है या इसी प्रकार की अनेक चमत्कारपूर्ण शक्तियों को प्राप्त कर लेता है। इस क्रिया में सर्वाधिक महत्त्व पारे का है जिसे रसराज या रसेन्द्र की संज्ञा प्राप्त हुई है। इस विषय में कुछ उल्लेख राजतरंगिणी और सर्वसंग्रह में पाया जाता है। रसार्णव, रस हृदय, रस रत्न समुच्चय इत्यादि अनेक पुस्तकें इस विषय में प्रसिद्ध हैं। इनका समय १३वीं शताब्दी के आस पास का है किन्तु कुछ लोग इन्हें वाग्भट के समय तक ले जाते हैं। अल्बरूनी ने इन पुस्तकों और उनके विषय की मज़ाक उड़ाई है।

बौद्ध और जैन रचनायें

आयुर्वेद के क्षेत्र में बौद्ध और जैन ग्रंथकारों का भी योगदान रहा है। किन्तु इन लेखकों ने अनुसरण ब्राह्मण धर्म वालों की प्रचलित परम्परा का ही किया है। इस प्रकार में लेखकों ने नागार्जुन और वाग्भट का विशेष उल्लेख किया जा सकता है। पाली में लिखी भैषज्य मञ्जूषा का प्रचलन श्रीलंका में अब भी हो रहा है। बौद्ध साहित्य के समान जैन साहित्य में भी रोगोपचार और औषधियों का वर्णन किया गया है। किसी अपरिचित लेखक की लिखी कल्याणकारक नामक पुस्तक आयुर्वेद पर आधारित है। किन्तु इसमें धार्मिक सिद्धान्तों के आधार पर पशुओं के उपयोग पर आधारित चिकित्सा का निषेध किया गया है।

विदेशी प्रभाव

आयुर्वेद के विषय में भारतीयों ने विदेशियों को बहुत कुछ दिया है; चरक इत्यादि ग्रंथों का विदेशी चिकित्सा शास्त्र पर प्रभाव स्वीकृत ही किया जाता है; किन्तु विदेशों से भारत ने भी बहुत कुछ सीखा है। बतलाया ही जा चुका है कि अफीम और पारे का प्रयोग फारस और अरब से भारत को प्राप्त हुआ है अरब में अफीम को एफ्यून कहा जाता है उसी से मिलता जुलता शब्द भारत में अफेन (झागरहित) या अहिफेन (सर्प का झाग) बनाया गया। नब्ज के अध्ययन की प्रक्रिया भारत ने अरब से ही सीखी। अर्क शब्द का संस्कृत में अर्थ है सूर्य; काढ़ा के अर्थ में अर्क शब्द का प्रयोग भारतीयों ने अरबों से ही प्राप्त किया। विदेशियों के सम्पर्क से जो रोग भारत में आए उन रोगों और उनके अधिकांश उपचारों को भारत ने विदेशियों से ही सीखा। उदाहरण के लिए फिरंग (syphilis) रोग का भारत में प्रवेश पुर्तगालियों के सम्पर्क से हुआ। मुसलमानी देशों के माध्यम से ग्रीक प्रभाव भारतीय आयुर्वेद पर पड़ा। इसीलिए मुसलमानी चिकित्सा पद्धति को यूनानी चिकित्सा कहा जाता है।

खगोल, ज्योतिष एवं गणित विज्ञान

खगोल विज्ञान गणित ज्योतिष (फलित ज्योतिष) एवं गणित परस्पर सहयोगी विज्ञान हैं। इनमें खगोल विज्ञान की स्थिति मध्यवर्तिनी है। इसके उद्भव एवं विकास में गणित एक उपकरण है और फलित ज्योतिष इसका फल हैं। खगोल की अधिकांश पुस्तकों में गणिताध्याय विद्यमान रहता है और फलित की पुस्तकों में गणित और खगोल पर भी यत्किंचित प्रकाश डाला जाता है। अनेक लेखकों ने खगोल और ज्योतिष (फलित) दोनों पर पुस्तकें लिखी हैं।

खगोल विज्ञान

प्रारम्भ से ही आर्यजाति आकाशीय प्रकाशपुञ्जों को आश्चर्यचकित होकर देखती रही, उसके सौन्दर्य को वाणी देती रही और साथ ही उसके रहस्य को समझने की चेष्टा भी करती रही। उस रहस्य को खोलने में उनका स्वार्थ भी था। वे विशाल यज्ञों के उपयुक्त समय का पूर्वानुमान लगाने के लिए आतुर थे और कृषि इत्यादि उपयोगी उद्योगों की योजना बनाने के लिए उन्हें शीत, उष्ण, वर्षा इत्यादि का ज्ञान आवश्यक प्रतीत हो रहा था। इस सबमें कारणता सूर्यादि ग्रहनक्षत्रादि की थी यह बात उनकी समझ में बहुत पहले आ गई थी। अतः वे उन आकाशपिण्डों की गतिविधि जानने की ओर अग्रसर हुए जिसका परिणाम खगोल-विज्ञान का प्रवर्तन था। इस दिशा में जो गतिविधि चली उसे हम स्थूल रूप में दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) आदिकाल या शुद्ध भारतीय विज्ञान काल (२) उत्तर काल या विदेशी प्रभावित काल। आदिकाल ईसवी सन् प्रवर्तन के पहले तक रहा और उत्तर काल उसके बाद का समय। प्रथम को भी दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—वैदिक साहित्य में विखरा हुआ उल्लेख और वेदांग रूप में परवर्ती विचारधारा। उत्तर काल को भी दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—अनुसन्धान काल और व्याख्या काल।

आदिकाल

प्रारम्भिक वैदिक काल की कोई स्वतन्त्र कृति उपलब्ध नहीं होती। संहिताओं, ब्राह्मण ग्रंथों आदि वैदिक साहित्य में जगदुत्पत्ति आदि विषयक ऊंचीकल्पनाओं के मध्य कहीं-कहीं सच्ची खगोल विद्या की ओर प्रवृत्ति दृष्टिगत हो जाती है और ग्रह गणों के मार्गक्रमण के विषय में वैज्ञानिक दृष्टि का पता चलता है। उदाहरण के लिए ऐतरेय ब्राह्मण (३.४४) में कहा गया है कि सूर्य न तो उदय होता है न अस्त। पृथ्वी गोल है—सूर्य उसके चारों ओर परिक्रमा करने में विभिन्न कालों में रात दिन का निर्माण करते हैं। इस साहित्य को देखने से पता चलता है कि आर्य लोग चन्द्रमा की विभिन्न स्थितियों, सूर्य के प्रवर्तन, २७ या २८ नक्षत्रों के ज्योतिश्चक्र, ऋतुओं की व्यवस्था इत्यादि के विषय में कुछ ज्ञान प्राप्त कर चुके थे। उन्हें १२ महीनों और मललास के विषय में परिचय प्राप्त हो चुका था वे। उस ज्ञान का यज्ञविधियों और कृषि कार्यों में उपयोग भी करते थे। शुक्ल यजुर्वेद (१०.३०) में नक्षत्रदर्श (नक्षत्रों का ज्ञान रखने वाले) गणित ज्योतिषियों का उल्लेख मिलता है। छान्दोग्योपनिषद् (७.१.३) से ज्ञात होता हैं कि उस समय नक्षत्र विद्या सत्ता

में आ गई थी और उस समय भी खगोल-विद्या-विज्ञों का एक वर्ग विद्यमान था।

वैदिक साहित्य की सीमाबद्धता से बाहर निकलकर जब विभिन्न शास्त्रों का वेदांग रूप में स्वतन्त्र अध्ययन होने लगा तब खगोल विद्या ने भी स्वतन्त्र सत्ता प्राप्त कर ली। यह युग वैदिक साहित्य और प्रधान खगोल विद्या साहित्य का अन्तराल कहा जा सकता है। इस अन्तराल के प्रारम्भ में ही ज्योतिष वेदांग नाम की एक छोटी सी रचना प्राप्त हुई है। यह ऋग्वेद और यजुर्वेद इन दो पाठ्यों में उपलब्ध हुई है जिसमें ऋग्वेद पाठ्य में ३६ और यजुर्वेद पाठ्य में ४३ या ४४ श्लोक हैं। एक तो इन श्लोकों की सूत्रों जैसी संश्लिष्ट शैली है दूसरे प्रति भी उच्छिन्न रूप प्राप्त हुई है; इस कारण इसे समझने में कठिनाई होती है। इसमें पञ्चवर्षीय गणनाचक्र के अनुसार ३६६ दिनों के वर्ष, सूर्य और चन्द्रमा की गति एवं अपने काल के अनुसार काल गणना पर प्रकाश डाला गया है। विद्वानों के अनुसार इसमें १४०० ई० पू० से ८५० ई० पू० तक की कालगणना का विवरण विद्यमान है। इसी काल से सम्बन्ध रखने वाली कतिपय अन्य रचनाओं का उल्लेख पाया जाता है। गार्गी संहिता के उद्धरण पाए जाते हैं जिनका गणित ज्योतिष क्षेत्र में अत्यधिक सम्मान है। वेबर द्वारा हस्तलिखित पौष्करसादी के कतिपय खण्डित भाग, अथर्ववेद के नक्षत्र एवं दूसरे परिशिष्ट, जैन धर्म की सूर्यपन्नदि (सूर्य प्रज्ञप्ति), महाभारत, पुराण; मानव धर्म शास्त्र के गणित ज्योतिष विषयक प्रकरण इस काल के कतिपय खण्ड हैं। माहेश्वर सिद्धान्त का परिचय वराहमिहिर ने दिया है किन्तु अभी तक उसको प्राप्त नहीं किया जा सका है। वृद्ध गर्गसंहिता फलितज्योतिष विषयक ग्रन्थ है जिसमें गणित ज्योतिष के भी कतिपय विषयों का समावेश किया गया है। इस विषय का इस काल का साहित्य विदेशी प्रभाव से पूर्णरूप से मुक्त है।

उत्तरकाल

ई० सन् के साथ उत्तरकाल का प्रारम्भ होता है। इस काल की खगोल विद्या पर ग्रीक पद्धति का पूरा प्रभाव है। इस काल में चार प्रकार का साहित्य पाया जाता है (१) सिद्धान्त साहित्य, (२) करण या प्रक्रिया साहित्य, (३) गणित सम्बन्धी तालिकायें और (४) टीकायें।

इस काल की सर्वप्राचीन और सर्वोत्कृष्ट उपलब्धकृति **सूर्य-सिद्धान्त** है जिसमें श्लोकों में लिखे १४ अध्याय हैं। अल्बरूनी ने इसके रचनाकार का नाम लाट बतलाया है, किन्तु वराहमिहिर के अनुसार लाट पौलिश और रोमक सिद्धान्तों के व्याख्याकार हैं। हो सकता है लाट ने सूर्य सिद्धान्त पर भी टीका

लिखी हो। इस ग्रन्थ में पाश्चात्य प्रभाव को ग्रहण करते हुए भी लेखक ने भारतीय आत्मा को सुरक्षित रक्खा है। खगोल दर्शन की दैवी उत्पत्ति की इसमें सुरक्षा की गई है। उपक्रम में बतलाया गया है कि सूर्य भगवान ने रोमक देश में मयदानव को यह ज्ञान प्रदान किया। रोमक का अर्थ रोमराज्य अथवा अलेक्ज़ेण्ड्रिया और मयदानव का अर्थ टोलेमी (ptolemy) लगाया जाता है जिससे विदेशी प्रभाव सिद्ध हो जाता है। सूर्यसिद्धान्त वस्तुतः ग्रीक सिद्धान्तों की ही व्याख्या करता है, साथ ही कल्प, महायुग, उत्तरी ध्रुव में मेरु की कल्पना जिसके चारों ओर ग्रहचक्र परिक्रमा करता है इन भारतीय मान्यताओं की भी उपेक्षा नहीं की गई है। थिबौट के अनुसार लेखक भारतीय गणना प्रक्रिया और विदेशी सिद्धान्तों को एक में मिलाने में पर्याप्त सफल हुआ है।

वराहमिहिर एक साथ खगोल और दैवज्ञ दोनों विद्याओं के आचार्य माने जाते हैं। खगोल विद्या के विषय में इनका पञ्च सिद्धान्तिका ग्रन्थ प्रसिद्ध है जिसमें पांच सिद्धान्त ग्रन्थों का परिचय दिया गया है—(१) पैतमह सिद्धान्त, (२) सूर्य सिद्धान्त, (३) रोमक सिद्धान्त, (४) पौलिस सिद्धान्त और (५) वशिष्ठ सिद्धान्त। इनमें केवल सूर्य सिद्धान्त प्राप्त होता है किन्तु उसकी विषय वस्तु वराहमिहिर के दिए हुए सारांश से अनेकशः मेल नहीं खाती। इससे सिद्ध होता है कि सूर्य सिद्धान्त में परिवर्तन और परिवर्धन होता रहा है। **पैतामह सिद्धान्त** तो आदिकालीन शुद्ध भारतीय विचारधारा से सम्बन्ध रखता है। दो नाम विदेशी हैं—रोमक और पौलिश। **पौलिश सिद्धान्त** पौलिश अलेक्ज़ेण्ड्रिनस की याद दिलाता है। किन्तु क्योंकि पौलिस अलेक्ज़ेण्ड्रिनस फलितज्योतिष के लेखक के रूप में प्रसिद्ध है अतः थिबौट इनका एकीकरण नहीं मानते। ब्रह्मगुप्त ने पौलिश सिद्धान्त का खण्डन किया है। **रोमक सिद्धान्त** पर कोई पृथक् पुस्तक प्राप्त नहीं होती किन्तु इसका जो परिचय पञ्च सिद्धान्तिका में दिया हुआ है वह सर्वथा ग्रीक विचारधारा ही है और इसमें वर्ष तथा युग इत्यादि की गणना पाश्चात्य विवेचन का अनुसरण करती है। इसमें युग की अवधि २८५० सौर वर्ष मानी गई है जोकि प्राचीन भारतीय गणना से भिन्न है। वराहमिहिर के अनुसार प्राचीन रोमक सिद्धान्त सर्वथा भिन्न था जिसका प्रथम संशोधन श्रीषेण ने किया। ब्रह्मगुप्त के अनुसार यह विकसित सिद्धान्त लाट, आर्यभट्ट तथा दूसरों पर इतना निर्भर है किसी नवीकृत वस्त्र के समान सर्वथा नया ही मालूम पड़ने लगता है। ग्रीक सिद्धान्त से इतना प्रभावित होते हुए भी यह उससे प्रमुख सिद्धान्तों में भिन्न भी है। यह सूर्य

सिद्धान्त से भी भिन्न है जोकि ग्रीक सिद्धान्त से प्रभावित है। वशिष्ठ सिद्धान्त ग्रहचक्र के परिभ्रमण के विषय में कुछ अधिक विकसित विचारधारा को प्रतिफलित करता है। वराहमिहिर ने सिद्धान्त विवेचन के साथ करण (प्रक्रिया) का प्रयोग करते हुए जिस वर्ष से गणना दिखलाई है वह ४२७ शक संवत् (५०५ ई०) है। अतः वराहमिहिर का समय हमें ठीक रूप में ज्ञात हो जाता है। यह पाश्चात्यसम्पर्क कब और किसके द्वारा हुआ इस विषय में निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

आर्यभट

वराहमिहिर ने खगोल विज्ञान के कतिपय अन्य ग्रन्थकारों का भी उल्लेख किया है जिनमें लाट, सिंह, प्रद्युम्न, विजय नन्दिन और आर्यभट्ट प्रमुख हैं। इनमें केवल आर्यभट की ही स्वतन्त्र रचना गणित और खगोल विद्या दोनों में सम्मिलित रूप में पाई जाती है जो आर्यभटीय, लघ्वार्यभटीय या आर्य सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध है। यह चार भागों में विभाजित है—प्रथम दो भाग गणित विषयक है और शेष दो खगोल विज्ञान विषयक। प्रथम भाग दशगीतिसूत्र नाम से प्रसिद्ध है और शेष तीन भाग आर्याष्टशत नामक एक पृथक् रचना है जो इसमें जोड़ दी गई है। आर्याष्टशत के प्रथमभाग में ३३ द्वितीय भाग में २५ और तृतीय भाग में ५० पद्य हैं। सब मिलाकर १०८ पद्य होने से इसे आर्याष्टाशत की संज्ञा दी गई है। गणित और खगोल दोनों में इनका अत्यधिक सम्मान है। इन्होंने पहली बार घोषित किया कि नक्षत्रों का चलना भ्रममात्र है वस्तुतः पृथ्वी अपनी कीली पर घूमती है जिससे दिन-रात और ऋतुयें बनती हैं। ये चारों युगों का परिमाण एक जैसा मानते हैं। ग्रहणों का कारण राहु की क्रिया नहीं पृथ्वी और चन्द्रमा की छाया है। उनकी इन मान्यताओं का वराहमिहिर और ब्रह्मगुप्त ने खण्डन किया है। यूरोप के समान ही इस देश में भी इन परिकल्पनाओं को प्रारम्भ में अत्यधिक विरोध का सामना करना पड़ा। आर्यभट ने स्वयं लिखा है कि उन्होंने कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) में कलियुग वर्ष ३६०० में ग्रन्थ लिखा था जबकि उनकी आयु २३ वर्ष की थी। गणना के अनुसार यह सन् ४९९ पड़ता है।

आर्य सिद्धान्त नाम की एक विशाल पुस्तक प्राप्त हुई है जिसके लेखक आर्यभट बतलाए गए हैं। किन्तु यह पुस्तक बहुत बाद की है। अल्बरूनी दो आर्यभटों का होना स्वीकार करते हैं। अल्बरूनी को प्रथम आर्यभट की रचना प्राप्य नहीं हुई थी। उन्होंने ब्रह्मगुप्त के खण्डन के आधार पर ही आर्यभट की मान्यताओं की धारणा बना ली थी। प्रथम आर्यभट के शिष्य

लल्ला ने 'शिष्यधीवृद्धिदतन्त्र' नामक पुस्तक की रचना की थी जिस पर भास्कर ने टीका लिखी थी।

ब्रह्मगुप्त का समय वराहमिहिर के बाद का है। इनका जन्म मुल्तान के समीप भिल्लमल्ल में सन् ५९८ ई० में हुआ था। उन्होंने अपने ग्रन्थ ब्रह्म-सिद्धांत अथवा स्फुटसिद्धान्त की रचना ६२८में की थी। विष्णु धर्मोत्तर पुराण के एक भाग से इसकी विषयवस्तु मेल खाती है। कहा नहीं जा सकता पहले किसकी रचना हुई थी। इनकी एक पुस्तक खण्ड खाद्यक है जो करण परक रचना है जिसमें आर्यभट के सिद्धान्त की प्रायोगिकता दिखलाई गई है; आर्य-भट का सिद्धान्त सूर्य सिद्धान्त से निकट रूप में संबद्ध है। इसमें शक सं० ५८७ (ई० सं० ६६४) से गणना प्रारम्भ की गई है।

ब्रह्मगुप्त के बाद शकाब्द ८२६ (सन् ९०४) में आनन्दपुर में वटेश्वर ने वटेश्वरसिद्धान्त या स्फुटसिद्धान्त की रचना की थी जिसमें ब्रह्मगुप्त के सिद्धान्त को कुछ विकास प्रदान किया गया था।

भास्कराचार्य का जन्म १११४ ई० में हुआ था ये खगोल विज्ञान के अन्तिम प्रतिष्ठित आचार्य हैं जिन्हें गणितज्ञ का भी उच्चकोटि का यश प्राप्त हुआ है। इन्होंने १०५० ई० में सिद्धान्त शिरोमणि की रचना की थी जो अब तक सूर्य-सिद्धान्त के बाद सर्वाधिक प्रतिष्ठित रचना है। स्वयं भास्कराचार्य ने इस पर पद्यात्मक टीका भी लिखी है। भास्कराचार्य का महत्त्व उनकी स्पष्टता में है। उनकी सिद्धान्तशिरोमणि के प्रथम दो भाग गणितपरक है और अन्तिम दो भाग खगोल विज्ञानपरक जिनमें उनका पूरा ध्यान सूर्य-सिद्धान्त और ब्रह्मगुप्त की ओर है, उनमें मौलिकता बहुत कम है।

करणपरक रचनायें

खगोल विज्ञान के क्षेत्र में सिद्धान्तपरक महान ग्रन्थ तो लिखे जाते रहे किन्तु यह विषय प्रयोग सापेक्ष है और प्रायोगिक (practical) ज्ञान के बिना अधूरा ही रह जाता है। प्रयोग पक्ष को करण संज्ञा दी जाती है। ब्रह्मगुप्त का खण्ड खाद्यक प्रसिद्ध ही है; भास्कराचार्य ने भी सिद्धान्त शिरोमणि के गोला-ध्याय प्रकरण में गणित खगोलीय जटिल समस्याओं को उठाकर उनको हल करके दिखलाया है। उनकी एक अन्य पुस्तक करणकुतूहल भी प्रकाशित हुई है जो करण परक रचना है। इस पुस्तक की रचना ११७८ में की गई थी। भोजराज के नाम पर प्रसिद्ध राजमृगांक नाम की एक करणपरक रचना है जो १०४२ ई० में लिखी गई थी। शतानन्द की करण भास्वती में गणना १०९९ ई० से प्रारम्भ की गई है। केशव के पुत्र गणेश का ग्रहलाघव (रचना १५२०

ई०) करण की एक प्रसिद्ध पुस्तक है जिसका आजकल अत्यधिक उपयोग किया जाता है।

खगोल विज्ञान के क्षेत्र में आजकल अनेक तालिकायें तैयार हैं जो तत्काल गणक (ready reckoner) का काम देती हैं। पहले भी इस प्रकार की तालिकायें तैयार की जाती रही हैं जिनमें मकरन्द के तिथ्यादिपत्रकका उल्लेख किया जा सकता है। इसकी रचना वाराणसी में १४७८ में की गई थी। नई पुरानी व्याख्यात्मक पु:तकों की कुछ संख्या है। मुसलमानों के साथ अरबी फारसी के सम्पर्क का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा है और पाश्चात्य विज्ञान से इसके तदवस्थ सातत्य में परिवर्तन की कोई विशेप सम्भावना उत्पन्न नहीं हुई है।

फलित ज्योतिष

आकाशमण्डल के ग्रहनक्षत्रचक्र की विशिष्ट स्थिति का मानव के व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है, भविष्य की क्या सम्भावनायें हैं और विवाह इत्यादि विशिष्ट आयोजनों का भविष्य कैसा रहेगा इन बातों पर विचार इस शास्त्र का क्षेत्र है। कुछ लोगों के मत में यह एक अवैज्ञानिक विज्ञान है। इस विपय में दो विरोधी मत हैं—कुछ लोग इस विज्ञान को अनिवार्य मानते हैं और इसके अभाव को अन्धकार में भटकने वाला जीवन वतलाते हैं जबकि दूसरे लोग इसे अपवित्र एवं परित्याज्य विषय वतलाते हैं। बौद्ध भिक्षुओं को इससे सर्वथा दूर रहने का उपदेश दिया गया है। चाणक्य के अर्थशास्त्र में इसका अभ्यास करने वालों को निम्न स्तर के व्यवसायियों में स्थान दिया गया है। समाज में इनकी प्रतिष्ठा जादूगरों, भाटों और पुरोहितों के नौकरों जैसी वतलाई गई है जवकि राजा लोगों और शासकों के लिये इनकी अनिवार्यता स्वीकार की गई है। राजा लोग इनका उपयोग अपने पक्ष में उत्साह बढ़ाने और विरोधी पक्ष में निराशा भरने के लिए कर सकते हैं।

यह शास्त्र बहुत पुराना है। वैदिककाल में भी गृह्यसूत्रों और ब्राह्मण-ग्रन्थों में शुभ और अशुभ ग्रहों का उल्लेख पाया जाता है। विवाहादिकृत्यों में इसके विचार की आवश्यकता बतलाई गई है और धर्मशास्त्रों में भी इसका उल्लेख मिलता है। क्योंकि इस शास्त्र का उल्लेख मिलता है अत: निश्चित रूप से इसका अभ्यास करने वाले भी रहे होंगे और इस शास्त्र पर स्वतन्त्र पुस्तकें भी लिखी गई होंगी, किन्तु अन्य भारतीय शास्त्रों के विषय में जो वास्तविकता है वह इस शास्त्र के विषय से भी लागू होती है—सर्वोत्कृष्ट प्रमाणिक कृति के आ जाने से पुरानी छोटी-छोटी कृतियां लुप्त हो जाती हैं।

इस शास्त्र के भी मूर्धन्य आचार्य वराहमिहिर की बृहत्संहित्या के क्षेत्र में आ जाने पर सभी प्राचीन कृतियां लुप्त हो गईं। वराहमिहिर ने असित, देवल, पराशर, नारद, गर्ग, वृद्धगर्ग इत्यादि प्राचीन ज्योतिषियों का उल्लेख किया है, किन्तु उनकी कोई रचना प्राप्त नहीं होती। एक पुरानी संहिता प्राप्त होती है—वृद्धगर्गसंहिता या वृद्धगर्गीय। किन्तु इसमें सन्देह है कि यह अपने प्राचीन रूप में सुरक्षित है। इसमें यवनों का उल्लेख है और ज्योतिष् शास्त्रज्ञ यवनों को ऋषिवत्पूज्य बतलाया गया है।[1] इससे सिद्ध होता है कि यवनों के प्रभाव के बाद यह पुस्तक लिखी गई थी। बृद्धवाशिष्ठसंहिता, हर्षकीर्तिसूरि का जैनग्रन्थ ज्योतिषसारोद्धार और ज्योतिर्विदाभरण ये प्राचीन रचनायें बतलाई जाती हैं। किन्तु इनमें अरबी प्रभाव लक्षित किया जाता है। अतः इनकी प्राचीनता में सन्देह है।

वराहमिहिर के अनुसार ज्योतिःशास्त्र के अध्ययन की तीन शाखायें हैं—(१) तन्त्र या गणित खगोलीय विभाग जिसमें खगोल के अनुसार गणना करके नक्षत्रों की स्थिति का ज्ञान किया जाता है। (२) होरा—जिसमें जन्मपत्र पर विचार किया जाता है (यह शब्द ग्रीक भाषा से आया है) और (३) संहिता—भौतिक फलित ज्योतिष। वराहमिहिर के गणित ज्योतिष की पञ्चसिद्धान्तिका प्रसिद्ध है; बृहत्संहिता में भी उसका कुछ विषय आया है। इस पुस्तक का भारतीय साहित्य में बहुत ऊंचा स्थान है। इसका क्षेत्र बहुत व्यापक है; भौतिक ज्योतिष के अन्तर्गत जीवन का प्रत्येक क्षेत्र आ जाता है अतः भौतिक, सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर इसमें प्रकाश डाला गया है। धार्मिक इतिहास की दृष्टि से भी इसका अत्यधिक महत्त्व है। सबसे बड़ी बात यह है कि इसमें अलंकृत कविता की रमणीतता दृष्टव्य हैं छन्दों का ही लगभग ७० से ऊपर प्रयोग किया गया है।

इस ग्रन्थ में सर्वप्रथम ज्योतिष का महत्त्व समझाया गया है और ज्योतिषी के कर्तव्य कर्मों का उपदेश दिया गया है। 'जैसे रात्रि बिना दीपक के और आकाश बिना सूर्य के उसी प्रकार राजा बिना ज्योतिषी के होता है; उसका उसी प्रकार पतन निश्चित है जिस प्रकार अन्धा व्यक्ति विषम मार्ग पर दौड़ने में गिर जाता है।' (२०९) किन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कम शिक्षित झूठे ज्योतिषियों से हानि भी हो सकती है। प्रारम्भिक अध्यायों में सूर्य की गति और उसके इष्टानिष्ट फल, चन्द्रमा में होने वाले परिवर्तन, ग्रहों

---

१. म्लेच्छा हि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्।
ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्वेदविद्द्विजाः॥

के साथ उनके संयोग, ग्रहण इत्यादि का वर्णन किया गया है। इसके बाद राशि समूह, उनके ग्रह और ग्रहों के संयोगों का मानव के भाग्य पर प्रभाव दिखलाया गया है। १४वें अध्याय में भारत के सम्पूर्ण भूगोल का वर्णन किया गया है और विभिन्न देशों के नामों को लिखकर बतलाया गया है कि उस देश के लोग और वहां की दूसरी बातें किस ग्रह के प्रभाव में आती हैं तथा ग्रहों का परस्पर टकराव किस प्रकार भूमिगत राजाओं के संघर्ष का कारण बनता है। विशिष्ट वर्ष भी ग्रहों के प्रभाव में रहते हैं और ग्रहों के अध्ययन से पता चलता है कि कोई वर्ष शुभ होगा या अशुभ। अग्रिम अध्याय ज्योतिष की दृष्टि से मौसम का वर्णन करते हैं जहां बादलों का चंचल रमणी के रूप में वर्णन किया गया है। कतिपय अध्यायों में फसल और भावों के उतार-चढ़ाव पर विचार किया गया है। ४३वें अध्याय में इन्द्रध्वज महोत्सव का वर्णन है जो यज्ञीय विधि से सम्बन्ध रखता है। फिर वास्तुविद्या का प्रकरण आता है जिसमें भवन, तालाब, कूप इत्यादि का निर्माण, बाग-बगीचों का लगाना, मूर्ति निर्माण इत्यादि का ज्योतिषी की दृष्टि से (५३ से ६० अध्यायों में) वर्णन किया गया है। इसके बाद (६१ से ७३ अध्यायों में) पशुओं और मनुष्यों के शुभाशुभ लक्षण दिए हुए हैं। ७४वें अध्याय में स्त्रियों की प्रशंसा और उसके बाद अन्तःपुर से संबन्धित कामशास्त्र और अर्थशास्त्र के सादृश्य का विषय है। ७९वें अध्याय में शय्या और आस्तरण तथा ८० से ८३ तक दन्तधावन, दीयक इत्यादि के छोटे-छोटे विषय आते हैं। तब ११ अध्यायों का एक लम्बा प्रकरण शकुन विचार परक है। फिर चार अध्यायों (१०० से १०३ तक) में विवाह प्रकरण है और अन्य स्फुट विषयों के बाद १०६ अध्यायों का यह ग्रन्थ समाप्त हो जाता है।

इस ग्रंथ में विवाह प्रकरण का स्पर्श मात्र किया गया है। लेखक ने इसके लिए बृहद् विवाह पटल और स्वल्प विवाह पटल नामक दो पुस्तकें और लिखी हैं। योगयात्रा नामक एक दूसरे ग्रंथ के दो खण्डों में लेखक ने राजाओं के युद्ध, ज्योतिषियों से सम्बन्ध इत्यादि राजविषयक विचार दिए हैं।

ज्योतिष पर यूनानी प्रभाव

भारतीय ज्योतिषियों की परम्परा फलित ज्योतिष की विचारधारा को ऋषियों से जोड़ती है[1] जबकि आधुनिक विद्वान इसे यूनानी मानते हैं। बातें दोनों सही हैं - वराहमिहिर ने जो तीन विभाग बतलाये हैं उनमें दो तन्त्र

---

१. वराहमिहिर ने स्वयं कहा है कि उन्हे यह ज्ञान भारतीय ऋषियों ने प्रदान किया है।

(गणित खगोलीय) और भौतिक (भविष्यवाणी) इन दो विभागों को अभारतीय मानने का कोई कारण नहीं जबकि तीसरे विभाग जातक (जन्मपत्र की विचार पद्धति) सर्वथा ग्रीक परम्परा से प्रभावित है। इस क्षेत्र में प्रयुक्त होने वाले बहुत से शब्द संस्कृत के नहीं ग्रीक या विदेशी भाषा के हैं जिनमें बहुतों को संस्कृत प्रत्यय लगाकर भारतीय बना दिया गया है—होरा, पणफर, आपोक्लिम हिब्रुक, जामित्र, मेषूरण, तावुरी, पायोन, जुक इत्यादि शब्द भारतीय नहीं हैं। साथ ही सिद्धसेन, जीवशर्मा इत्यादि आचार्यों के साथ मणित्थ यवनाचार्य इत्यादि भी हैं जो यूनानी प्रभाव को व्यक्त करते हैं। जन्म के समय गृहचक्र के आधार पर जन्मपत्र बनाकर मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन के विषय में भविष्यवाणी करने की यह प्रक्रिया सम्भवतः बेबीलोन में उद्भूत हुई, वहां से यूनान में गई जिसने इतर विश्व को यह प्रक्रिया प्रदान की। प्रश्न यह है कि भारत को यह ज्ञान कब प्राप्त हुआ। प्रो० जैकोबी का मानना है कि वराहमिहिर ने बृहज्जातक और लघुजातक लिखकर जिस परम्परा को भारत भूमि पर प्रवृत्त किया था वह चौथी शताब्दी के फर्मिकस मैटर्नस की कृति में प्राप्त होने वाले विचारों से मेल खाती है। अतः ज्ञात होता है वराहमिहिर ने यह ज्ञान उन्हीं से लिया था। किन्तु हरप्रसाद शास्त्री को नेपाल में यवन जातक नाम की एक प्रति प्राप्त हुई थी जो भ्रष्ट अवस्था में थी और जो यवनाचार्य द्वारा यूनानी भाषा से १६६ ई० में अनूदित की गई थी जिसे एक सौ वर्ष बाद स्फुरध्वज ने श्लोकवद्ध किया था। इससे सिद्ध होता है कि जैकोबी द्वारा निर्दिष्ट समय से बहुत पहले यह शास्त्र भारत में आ गया था।

दूसरे ज्योतिः शास्त्रकार

वराहमिहिर के पुत्र पृथुयशस् ने होराशतपञ्चाशिका नामक एक पुस्तक प्रणीत की थी जिसकी टीका महोत्पल ने १०वीं शताब्दी में लिखी थी। इस टीका में दूसरी पुस्तकों के अनेक उद्धरण दिये गये हैं। अतः ज्योतिष के अध्येताओं के लिए यह पुस्तक महत्त्वपूर्ण है। महोत्पल ने स्वयं भी होराशास्त्र नामक ७५ पद्यों की एक पुस्तक लिखी थी और इन्होंने वराहमिहिर की सभी पुस्तकों पर टीकायें प्रस्तुत की थीं।

ज्योतिष के विषय में बहुत सी पुस्तकें लिखी गई थीं जिनमें कुछ का परिचय देना पर्याप्त होगा। **वृद्धवशिष्ठसंहिता** एक प्राचीन पुस्तक है जो वशिष्ठ की लिखी बतलाई जाती है जिसमें ज्योतिष के सम्पूर्ण क्षेत्र को समेट लिया गया है। हर्षकीर्तिसूरि का जैन ग्रंथ **ज्योतिःसरोद्धार** एक दूसरी पुस्तक है। २२ अध्यायों और १४३५ पद्यों की पुस्तक **ज्योतिर्विदाभरण** का भी कुछ

महत्त्व है जिसका लेखक स्वयं को कालिदास बतलाता है और उसी की पुस्तक से हमें विक्रमादित्य के नवरत्नों का पता चलता है। इसमें अरब की ज्योतिष का उल्लेख होने से इसका काल इतना पुराना नहीं मालूम पड़ता। १६६१ की एक टीका में इसका उद्धरण पाया जाता है, इससे सिद्ध होता है कि इसका रचना काल १६वीं शताब्दी के पहले होगा। १७७२ में जैन भावरत्न ने इस पर टीका लिखी इससे ज्ञात होता है कि एक समय इसकी प्रतिष्ठा अधिक रही होगी।

वराहमिहिर की कृति में एक भाग मुहूर्त विचार का भी है जिसमें धार्मिक कार्यों, घरेलू यज्ञों और उत्सवों, विवाहादि संस्कारों, यात्राओं तथा दूसरे दैनिक कार्यकलापों के शुभ मुहूर्त दिये हुए हैं। इसी आदर्श पर मुहूर्त चिन्तामणि इत्यादि कई पुस्तकें लिखी गईं जिनके नाम के प्रारम्भ में मुहूर्त शब्द का प्रयोग रहता है। फारसी और अरबी ज्योतिर्विद्या के भारत में प्रवेश के साथ ताजिक नाम की एक नई विचारधारा ने भारत में प्रवेश किया। यह शब्द 'तैजी' इस फारसी शब्द से बना है जिसका अरब में भी प्रयोग किया जाता है। इसी आधार पर ताजिक नीलकण्ठी इत्यादि कई पुस्तकें लिखी गईं। ताजिक नीलकण्ठी की रचना १५८७ में हुई थी।

शकुन विचार एक दूसरा वर्ग है जिसमें सभी प्रकार के शकुनों पर विचार किया जाता है और स्वप्नों की व्याख्या की जाती है। इस विषय में अद्भुत दर्पण नाम की पुस्तक बंगाल के राजा बल्लाल सेन ने अपनी मृत्यु के एक वर्ष पहले ११६८ में प्रारम्भ की थी और उनके पुत्र लक्ष्मण सेन ने पूरी की। समुद्रतिलक नाम की पुस्तक जो भविष्यवाणी विषयक है ११६० ई० में गुजरात के राजा कुमारपाल ने प्रारम्भ की थी और उनके पुत्र जगद्देव ने पूरी की। जगद्देव ने ही स्वप्न विचार पर स्वप्नचिन्तामणि लिखी। इस पुस्तक का साहित्यिक महत्त्व भी है और इसमें लोक कथाओं के साथ स्वप्न अभिप्रायों की समानता दृष्टव्य है। इनके अतिरिक्त रमल, अंकों और रेखाओं द्वारा भावी सूचना इत्यादि विषयों पर भी कई पुस्तकें प्राप्त होती हैं।

गणित

भारतीय गणित के क्षेत्र में पहला नाम आर्यभट का नाम आता है। इनके आर्य सिद्धान्त के प्रथम दो भाग गणित विषयक हैं। प्रथम दशगीतिका सूत्र कहलाता है जिसमें संख्याओं के लिखने की विशेष व्यवस्था का विवेचन किया गया है और उस व्यवस्था के मौलिक तत्व दिखलाये गये हैं। यह सारी व्यवस्था आर्यभट की अपनी है और उन्होंने इसका प्रवर्तन किया था। दूसरा भाग

गणितपाद कहलाता है जिसमें आर्य भट की गणित सम्वन्धी शिक्षा की एक छोटी सी चयनिका दी हुई हैं। तृतीय भाग को कालक्रिया पाद और चतुर्थ को गोलपाद की संज्ञा दी जाती है।

आर्यभट के दशगीतिका सूत्र में संख्याओं की वृद्धि और ह्लास का जो वर्णन किया गया है वह गणित के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान का अधिकारी है। इसमें १० से लेकर परार्ध (१००,००,००,००,००,००,००,००,०० दस करोड़ अरव) संख्या पर्यन्त विकासक्रम और इसी प्रकार दशमलव पद्धति पर मूल्य ह्रासक्रम का परिचय दिया गया है जो कि अधिकांश विचारकों के मत से अंकों की इस पद्धति का सर्वप्रथम उन्मेष है और यह आर्यभट्ट का अपना प्रवर्तन है जिसमें उस विचारक को कहीं से सहायता नहीं मिली है। इसीलिए प्राय: माना जाता है कि अंकों के स्थान कृत मान (place value) का सबसे पहले भारतीयों को ही ज्ञान हुआ और गणित के इतिहास में भारतीयों का यह योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यूरोप के लोगों की गणना प्रक्रिया वास्तव में भारतीय मूलक ही है। इस विषय में थिवौट ने भारतीयों की आश्चर्यजनक साधारण शैली की प्रशंसा की है कि उन विचारकों ने वड़ी से बड़ी संख्या की वृद्धि और ह्रास का और साथ ही भिन्न (fraction) का बड़ी ही सामान्य शैली में विवेचन किया।

आर्यभट का गणित पाद भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। उसमें क्षेत्रफल, आयतन; वर्ग इत्यादि के अनेक सिद्धान्त दिए गए हैं और उदाहरणों से उन्हें समझाया गया है। इसी प्रकार घातमूल क्रिया (evolution) अर्थात् किसी अंक की मूलप्राप्ति, घातक्रिय (involution अर्थात् किसी अंक का किसी शक्ति में संवर्गीकरण) समानुपाती संख्याओं (progressions) के विषय में सिद्धांन्त इत्यादि वहुत कुछ सामग्री प्रदान की गई है। आयतन के क्षेत्र में सूच्यग्रस्तम्भ (pyramid) एवं गोल (sphere) के आयतन (volume) पर भी विचार किया गया है साथ ही छाया प्रश्न की भी उपेक्षा नहीं की गई है। इस रचना में बीजगणित सम्बन्धी भी सामग्री पर्याप्त मात्रा में मिलती है। बीजगणितीय ऐकात्म्य (algebraic identities) समीकरण इत्यादि का समावेश किया गया है। कीथ के अनुसार "उनकी संकेत लिपि भी विलक्षण है यह क् से म् तक के व्यञ्जनों को १ से २५ तक के लिए काम में लाती है और य् से ह् तक का उपयोग ३० से १०० तक के लिए होता है जबकि स्वरों से १०० के घाताङ्कों द्वारा गुणन का अर्थ लिया जाता है। इस प्रकार अ का अर्थ है $१००^{०}$ और औ का अर्थ है $१००^{१६}$"।

आर्यभट्ट के बाद गणित के दूसरे उन्नायक के रूप में ब्रह्मगुप्त सामने आते हैं। गणित ज्योतिष के समान गणित पर भी इनका कार्य अत्यन्त महत्त्व पूर्ण है। इन्होंने यद्यपि अति संक्षेप में विषयों का निरूपण किया है फिर भी इनका विषय विस्तार कम नहीं है। इनके प्रतिपादन के क्षेत्र में अंकगणित की सामान्य क्रियायें आती हैं—संकलन (जोड़), व्यकलन (वाकी), गुणा, भाग, वर्ग बनाना, घन का निर्माण, वर्गमूल और घनमूल। इन विषयों में निरूपण पद्धति पाश्चात्य जगत् की जैसी ही है। इसके बाद भिन्न राशियों का विवेचन आता है और शून्य पर विचार किया जाता है तथा अंकगणित की प्रयोजनीयता वतलाई गई है। इसी प्रकार त्रैराशिक ब्याज पर विचार को स्थान दिया गया है और श्रेढियां (progressions), घात, घातमूल, छाया सम्बन्धी प्रश्न, करणियां इत्यादि अनेक उपयोगी विषयों का समावेश किया गया है। वीज-गणित को भी इन्होंने पर्याप्त महत्त्व प्रदान किया है। इस दिशा में परिचित प्रायोगिक पद्धति का उचित निर्वाह किया गया है। इन्होंने उच्चकोटि के सिद्धान्तों (formulas) और समीकरणों पर विचार किया है। प्रत्येक दृष्टि से भारतीय बीजगणित विश्व की दृष्टि से वहुत अधिक उच्च स्थान का अधि-कारी है और आधुनिक यूरोपीय विद्वानों का प्रतिष्ठाभाजन बना है।

गणित शास्त्र के प्रथमकोटि के आचार्यों में अन्तिम हैं भाष्कराचार्य। इनके सिद्धान्त शिरोमणि के प्रथम दो भाग गणित परक हैं। प्रथम भाग को लीलावती की संज्ञा दी जाती है। इसमें अंकगणित का विवेचन किया गया है। यह एक अत्यन्त प्रतिष्ठित और प्रचलित रचना है जो सम्मान के साथ उपयोग में लाई जाती है। दूसरा भाग बीजगणित विषयक है। इन दोनों भागों में गणित के जटिल प्रश्नों का हल निकाला गया है और अनेक उदा-हरणों से विषय को स्पष्ट किया गया है। वीजगणित के अन्त में लेखक ने लिखा है कि उनकी रचना ब्रह्मगुप्त, श्रीधर और पद्मनाभ की अत्यन्त विस्तृत कृतियों का सार संग्रह लेकर बनाई गई है। अभी तक पद्मनाभ का वीजगणित उपलब्ध नहीं होता। श्रीधर का अंकगणित प्राप्त होता है जिसको गणित सार की संज्ञा दी गई है तथा जिसका नामान्तर त्रिशती भी है। स्वयं श्रीधर पर राष्ट्रकूट के नृपति अमोघवर्ष के आश्रय में रहने वाले जैन महावीराचार्य के ग्रन्थ गणितसारसंग्रह का पर्याप्त प्रभाव है जिसमें अनेक विधाओं पर गणित शास्त्र का प्रभाव दिखलाया गया है। जैसे कामतन्त्र, अर्थशास्त्र, संगीत, नाट्य, कला, पाकशास्त्र, चिकित्सा, वास्तुविद्या, छन्दःशास्त्र, तर्क शास्त्र, व्याकरण इत्यादि। रचना में सौन्दर्य का भी ध्यान रखा गया है। इन्हें ब्राह्म स्फुटसिद्धान्त का ज्ञान है और इसमें वीजगणित के सामान्य विषयों को

स्थान दिया गया है। इस ग्रन्थ का सीधा या श्रीधर के माध्यम से भास्कराचार्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। लीलावती में किसी सुन्दरी को सम्बोधित कर प्रश्न किए गए हैं। बीजगणित पर ब्रह्मगुप्त का अधिक प्रभाव है। भास्कराचार्य के ग्रन्थ में बीजगणित का सर्वाधिक पूर्ण और व्यवस्थित प्रतिपादन है।

भास्कराचार्य के साथ भारतीय गणित का क्रियाशील युग समाप्त हो गया। १२०५ ई० में भास्कर के पौत्र चाङ्गदेव ने उनकी रचनाओं के अध्ययन के लिए एक संस्था संगठित की। सम्भवत: उस संस्था की ओर से 'बखशाली हस्तलेख' प्रकाश में आया इसमें नियम सूत्र शैली में हैं और श्लोकों में दैनिक जीवन के उदाहरण दिए गए हैं। इसके अतिरिक्त व्याख्यायें और प्रश्नों के हल गद्य में दिए गए हैं। इसके लेखक का पता नहीं है किन्तु इसमें जिन गाथाओं का प्रयोग किया गया है उनसे इस रचना की पुरातनता प्रमाणित होती है।

रेखागणित

रेखागणित का इतिहास अत्यन्त प्राचीन काल तक जाता है। इसका प्रारम्भ वैदिक काल में ही हो गया था। इसका उपन्यास शुल्व सूत्रों में ही कर दिया गया था जो कि कल्पसूत्रों का एक भाग है। शुल्व का अर्थ है डोरा, वैदिक यज्ञ विधियों में वेदिका बनाने में नाप जोख करने के लिए डोरे का प्रयोग किया जाता था। इसीलिए इस शास्त्र के लिए शुल्व शास्त्र की संज्ञा प्रदान की गई। इन सूत्रों में बड़े यज्ञों की वेदियां बनाने के नियम दिए गए हैं। ये वेदियां कभी समकोणीय, कभी चतुर्भुज—आयताकार, वर्गाकार, कभी बहुकोणीय, कभी गोलाई के घेरे के रूप में बनाए जाते थे और आवश्यकतानुसार उनमें परिवर्तन भी कर लिया जाता था। एक मूलभूत विशाल वेदी के के साथ कई एक छोटे-छोटे दूसरे परिवेश भी बनाए जाते थे। ब्राह्मण धर्म में यज्ञ विधि का महत्त्व सर्वविदित है। उन यज्ञवेदियों को बनाने में इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता था कि विधि का पूरा पालन हो क्योंकि यदि विधि सम्पादन में कोई त्रुटि रह जाती तो समझा जाता था यज्ञ का पूरा फल नहीं मिलेगा या कुछ विपरीत फल की भी सम्भावना बनी रहती थी। अतः पूरे मनोयोग से शुल्व सूत्र निर्दिष्ट यज्ञ वेदियों की रचना की जाती थी। कोनों पर स्तूप बनाए जाते थे और उनके बीच में डोरा फैलाकर निशान लगाए जाते थे; उन निशानों के आधार पर वेदियां तैयार की जाती थीं। इन वेदियों के बनाने के अभ्यास में ही वैदिक आर्य रेखागणित का बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर चुके थे। यहां तक कि वे तथाकथित पैथागोरियन थ्योरम तक पहुंच गये थे।

वे चतुर्भुजों को वर्गों में और वर्गों को चक्राकार रूप में परिवर्तित करने की क्रिया सीख गये थे। ए. वर्क ने यह सफलतापूर्वक सिद्ध कर दिया है कि प्रयोग परीक्षण और निरीक्षण के आधार पर रेखागणित का ज्ञान वैदिक युग तक जाता है। वैदिक काल के बाद भी आर्यभट, ब्रह्मगुप्त और भास्कर जैसे आचार्यों ने वेद विधि से निरपेक्ष होकर रेखागणित का स्वतन्त्र विज्ञान के रूप में विकास किया था। रेखा, कोण और त्रिभुज के परस्पर सम्बन्ध के विषय में भी विभिन्न सिद्धान्तों का भारतीयों को ज्ञान था और खगोल तथा ज्योतिष के विषय में उनका उपयोग किया जाता था। एक मत यह है कि रेखागणित के परवर्ती सिद्धान्तों पर ग्रीक लोगों का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा है। दूसरी ओर कुछ लोग यह भी मानते हैं कि शुल्व सूत्रों से प्रारम्भ हुआ यह विज्ञान स्वतन्त्र रूप में विकसित हुआ है—इस पर किसी अन्य का प्रभाव नहीं है। फिर भी इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि हैरोन (Heron) की रचनाओं और भारतीयों के इस विज्ञान में समानता बहुत अधिक है।

जयपुर महाराजा जयसिंह ने १८वीं शताब्दी के प्रारम्भ में इयुक्लिड के मूल तत्त्वों का जगन्नाथ सम्राट् के द्वारा अरबी से अनुवाद करवाया था। निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता क्या इस विषय में पाश्चात्त्यों के साथ भारतीयों का आदान-प्रदान हुआ भी है या नहीं और यदि हुआ है तो किस सीमा तक। अमेरिका के प्रो० डी० ई० स्मिथ ने रंगाचार्य के गणित सार की प्रस्तावना में लिखा है कि भारतीय बीजगणित पर ग्रीक अल्जबरा ने कोई ध्यान देने योग्य प्रभाव नहीं जमाया और भारतीय ज्यामिति ग्रीक की अपेक्षा वेबीलोनियन ज्यामिति से अधिक प्रभावित प्रतीत होती है।

पाश्चात्यों की संस्कृत सेवा

(प्रतिनिधि लेखकों का लेखा जोखा)

१६५१—मद्रास के उत्तरी भाग में प्रचारक हालैण्ड निवासी अब्राहीम रोजर द्वारा 'अज्ञात मूर्तिपूजक धर्म का उद्घाटन, नामक ग्रंथ और भर्तृहरि की सूक्तियों का प्रकाशन। प्रथम ग्रंथ में भारतीय ब्राह्मणों के पुराने साहित्य पर प्रकाश डाला गया।

१६९९—जैंसविट फादर जान योहान का भारत आगमन और संस्कृत व्याकरण पर उसका कार्य।

१७७६—से १७८९ तक जे. पी. एच. वैंसडीन ने मालावार तट पर मिशनरी का काम करते हुए भारतीय साहित्य के पश्चिम में प्रवेश की दिशा में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इसने संस्कृत व्याकरण पर दो पुस्तकें तथा साहित्य विषयक कई निबन्ध लिखे, जिनमें ब्राह्मणों की शास्त्र व्यवस्था और 'पूर्वी भारत की यात्रा' ये दो निवन्ध अधिक प्रसिद्ध हैं।

१७७६—हिन्दू विधि शास्त्र (ए कोड आफ जैण्टूला) का प्रकाशन। यह पुस्तक तत्कालीन गवर्नर जनरल वारेन हेर्ष्टिग्ज ने राजकीय न्यायालयों के उपयोग के लिए ब्राह्मणों द्वारा 'विवादार्णव सेतु' नाम से प्रकाशित कराई थी जिसके फ़ारसी अनुवाद से नैथेनियल ब्रैसी हालब्रेड ने अनुवाद कर इस पुस्तक की रचना की।

१७७६—उक्त पुस्तक का जर्मनी अनुवाद हम्वर्ग से प्रकाशित हुआ।

१७७८—यजुर्वेद का फ्रेंच अनुवाद एज़ाउर्वेदम् प्रकाशित हुआ। यह जाली पुस्तक है इसका यजुर्वेद से कुछ लेना-देना नहीं।

१७८४—सर विलियम जोंस ने कलकत्ता में एशियाटिक सोसायटी वंगाल की नींव डाली।

१७८५ चार्ल्स विल्किस का संस्कृत साहित्य विषयक कार्यों में प्रवेश। इसने वारेनहेर्ष्टिग्ज की प्रेरणा से वाराणसी में संस्कृत का अध्ययन किया और कई ग्रंथ प्रकाशित किये जिनमें (१) १७८५ में भगवद्गीता का अंग्रेजी में अनुवाद, (२) १७८७ में हितोपदेश का अनुवाद, (३) १८९५ में

महाभारत के शकुन्तलोपाख्यान का अंग्रेजी में अनुवाद (४) संस्कृत व्याकरण का १८०८ में प्रकाशन। इस दिशा में उनके दूसरे कार्य हैं—(अ) यूरोप में संस्कृत के मुद्रण के लिए टाइप का ढाला जाना। (आ) भारतीय शिलालेखों का अध्ययन और अंग्रेजी में प्रकाशन।

१७८९ विलियम जोंस द्वारा कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ।

१७९१—अभिज्ञान शाकुन्तल के अंग्रेजी अनुवाद का जर्मनी भाषा में अनुवाद जिसने हर्डर और गेटे जैसे महाकवियों को भी संस्कृत साहित्य का अनन्य प्रशंसक बना दिया।

१७९२—विलियम जोंस द्वारा कालिदास के ऋतु संहार का प्रकाशन।

१७९६—जर्मनी भाषा में संस्कृत ग्रंथों के अनेक अनुवाद।

१७९७—मनुस्मृति के विलियम जोंस कृत अनुवाद का वेइमार से प्रकाशन। विलियम जोंस का एक अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य है भाषा विज्ञान की दिशा में सर्वप्रथम चरण न्यास। इसने ग्रीक, लैटिन, जर्मन, केल्टिक और फारसी भाषाओं के संस्कृत के साथ सम्बन्ध पर पहले पहले प्रकाश डाला और रोम तथा यूनान के देवताओं के साथ संस्कृत के देवताओं की समता की ओर साहित्य जगत का ध्यान आकृष्ट किया।

१७९७ से १८३७ तक हेनरी टामस कोलब्रुक का कार्य काल। उसने भारतीय कानून पर अनेक पुस्तकें लिखीं। सर्वप्रथम 'अनुबन्ध तथा उत्तराधिकार के हिन्दू कानून की संहिता'(A Digest of Hindu law on contract and sucession) प्रकाशित हुआ। शास्त्रीय साहित्य उसका विषय था तथा उसने व्याकरण, अंकगणित, ज्योतिर्विज्ञान, धर्म, दर्शन, अर्थशास्त्र इन विषयों पर भारतीय विचारधारा का परिचय देने वाले अनेक निवन्ध लिखे। अमरकोश, दूसरे शब्दकोश, पाणिनि व्याकरण, किरातार्जुनीय इन सबका सम्पादन किया, शिलालेखों का सम्पादन तथा अनुवाद किया। विभिन्न विषयों की संस्कृत पाण्डुलिपियों का संग्रह किया जिसमें १० हजार पौण्ड व्यय किये। उन्होंने यह संग्रह ईस्ट इण्डिया कम्पनी को भेंट कर दिया।

१७९७ मनुस्मृति का जर्मन अनुवाद प्रकाशित।

१८०२—फ्रांस और इंग्लैण्ड के युद्धकाल में अंग्रेज संस्कृत विद्वान अलेग्जैण्डर हैमिल्टन को पैरिस में राजकीय शासन के आधीन रुकना पड़ा जहां उसका परिचय जर्मन विद्वान फ्रेडरिक श्लेगल से हुआ।

१८०५—कोलबुक का 'वेद विषय' (on the vedas) प्रकाशित हुआ जिसमें प्रथम वार वेद का परिचय दिया गया।

१८०८—श्लेगल के 'भारतीयों की भाषा तथा मनीषा-पुरातत्त्व की भित्ति शिला में योगदान' ग्रंथ का प्रकाशन हुआ। इस ग्रंथ ने श्लेगल को भाषा-विज्ञान के प्रवर्तक का सम्मान दिया। इसमें रामायण, महाभारत, गीता, मनु-स्मृति के कुछ अंशों का प्रकाशन किया गया।

१८१६ —फ्रेंञ्ज बॉप के महान ग्रंथ 'ग्रीक, लैटिन, फारसी तथा जर्मन की तुलना में संस्कृत की क्रिया व्यवस्था' का प्रकाशन हुआ। इसी ग्रंथ से भाषा-विज्ञान का सूत्रपात हुआ जो ज्ञान जगत की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि कही जा सकती है। उदाहरणों के रूप में महाभारत के कतिपय उपाख्यानों का पद्यबद्ध अनुवाद भी इसमें सन्निविष्ट किया गया।

१८१६—ब्रह्म समाज के संस्थापक राजा राममोहनराय ने पाश्चात्यों के सामने उपदेशों की शिक्षा रखने का प्रयत्न किया। उनका यह कार्य १८१९ तक चलता रहा।

१८१८ - फ्रैडरिक श्लेगल के भाई आगष्ट विल्हेल्म फान श्लेगल की बॉन विश्वविद्यालय (जर्मनी) में संस्कृत के प्रो. के पद पर नियुक्ति हुई। यह पहला प्रोफेसर का पद था। श्लेगल ने अपने भाई के समान संस्कृतके अनेक ग्रंथों का प्रणयन किया अनुवाद किया और प्रकाशन किया।

१८१९ फान श्लैगल की कृति 'भारतीय भाषा विज्ञान की वर्तमान स्थिति' प्रकाशित हुई। इसमें भाषा विज्ञान की तत्कालीन स्थिति का सर्वेक्षण किया गया। इसमें भाषा विज्ञान की अच्छी खासी झांकी प्रस्तुत की गई है।

१८२२—रायस डैविड ने बौद्ध साहित्य के अनुसन्धान के लिए 'पालि टेक्स्ट सोसाइटी' की स्थापना की।

१८२३—आगस्ट विल्हेमफान श्लैगल ने त्रैमासिक पत्रिका 'भारतीय ग्रन्थागार' का प्रकाशन प्रारम्भ किया। इसी वर्ष श्लैगल ने गीता का मनोरम लैटिन अनुवाद प्रकाशित किया।

१८२६ - युजीन वर्नाफ तथा लैसन ने संयुक्त रूप से दो पुस्तकें बौद्ध साहित्य के बिषय में लिखीं—'पालि पर निबन्ध' और 'बौद्ध धर्म के इतिहास का परिचय'।

१८२७—फ्रैञ्जवाप ने संस्कृत-व्याकरण पर पुस्तक प्रकाशित की। उस की दूसरी संस्कृत व्याकरण पुस्तकें १८३२ और १८३४ में प्रकाशित हुईं। इन पुस्तकों ने जर्मनी संस्कृत अध्ययन में विशेष योगदान दिया।

१८३० —फ्रैञ्जवाप ने संस्कृत शब्दकोश का प्रणयन किया।

१८३०—फ्रैडरिक एडेलिंग ने 'संस्कृत भाषा के साहित्य का अध्ययन'

नामक पुस्तक भाषा विज्ञान पर लिखी। इसका प्रकाशन सेंट पीटर्स वर्ग से हुआ।

१८३८—फ्रैंडरिक रोजेन ने लन्दन से ऋग्वेद के प्रथम अष्टक का प्रकाशन किया। यह वेदों का पहला भाषा वैज्ञानिक अध्ययन था।

१८४३ फान श्लैगल के शिष्य लैसन ने 'भारतीय पुरातत्त्व' नामक पुस्तक का प्रणयन किया जिसमें उसने समस्त भारतीय ज्ञान का समावेश कर दिया। इसके चार खण्ड हैं।

१८४६—युजीन वर्नाफ के शिष्य रुडाल्फ राथ ने 'वेदों का साहित्य तथा इतिहास' नामक पुस्तक लिखी।

१८४९—युजीन के दूसरे शिष्य मैक्समूलर ने ऋग्वेद का प्रकाशन प्रारम्भ किया जिसकी पूर्ति १८५७ में हुई। यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है तथा वेद के विद्यार्थी के लिए इसका अध्ययन अपरिहार्य है।

१८५२=सेंटपीटर्स वर्ग कला विज्ञान अकादमी ने वोहत लिंग और राथ द्वारा रचित 'संस्कृत शब्दकोश' के प्रथम खण्ड का प्रकाशन किया। यह सात खण्डों में प्रकाशित हुआ था जिसका अन्तिम खण्ड १८७५ में प्रकाश में आया।

१८५२—अल्ब्रेख्त वेवर के लिखे 'भारतीय साहित्य के इतिहास पर एकेडेमिक व्याख्यान' शीर्षक पुस्तक प्रकाशित हुई जो बहुत समय तक साहित्य के इतिहास की एक प्रामाणिक कृति मानी जाती रही। साहित्य के इतिहास लेखन का यह प्रथम प्रयास था।

१८६१—आफ्रेक्ट द्वारा र.नस्त ऋग्वेद का प्रकाशन। इसकी पूर्ति १८६३ में हुई।

१८८३—वेबर ने 'जैनों के पवित्र ग्रंथ' की रचना की। यह एक महान् ग्रंथ है और इससे पहले पहल यूरोपीय विद्वानों के सामने बौद्धों के समकक्ष एक और सम्प्रदाय प्रकाश में आया।

१८९१—थियोडोर आफ्रेक्ट की 'पुस्तक सूचियों की पुस्तक सूची' प्रकाशित हुई। इसमें वर्णमालानुक्रम की पद्धति अपनाई गई। इसमें भारत तथा यूरोप में उपलब्ध समस्त पाण्डुलिपियों की सूची है। यह सूची संस्कृत और बौद्ध साहित्य तक ही सीमित है। इसमें हजारों पुस्तकों का उल्लेख है। यह पुस्तक ४० वर्ष के परिश्रम का फल है। इसके खण्डों का प्रकाशन १८९६ और १९०३ में भी हुआ।

१८९७—जार्ज बुहलर ने 'भारत-आर्य भाषा विज्ञान तथा पुरातत्त्व विश्व कोश की योजना बनाई। विभिन्न देशों के लगभग ३० विद्वानों ने इस पर

कार्य किया तथा बुहलर के वाद फ्रैंज कीलहोर्न, एच लुइडर्स, वाकर नेगल इसके सम्पादक वने। यह कार्य निस्सन्देह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है तथा ऐसे ग्रंथ पर किसी साहित्य को गर्व हो सकता है।

विभिन्न ग्रन्थावलियां

(१) १७८४ में एशियाटिक सोसायटी की स्थापना हुई जिसका प्रथम ग्रंथ संग्रह १८०७ में लन्दन से प्रकाशित हुआ जिसको सर विलियम जोंस और लेडी जोंस ने तैयार किया था।

(२) हेनरी टामस कोलब्रुक ने १०००० पौण्ड व्यय कर पाण्डुलिपियों का संग्रह किया जो उसने इण्डिया आफिस को सौंप दिया। इसकी विवरणिकायें महत्त्वपूर्ण हैं।

(३) रायल एशियाटिक सोसाइटी वंगाल की ओर से सात खण्डों में ग्रंथ संग्रह प्रकाशित हुआ जिस पर हरप्रसाद शास्त्री के तत्त्वावधान में अनेक विद्वानों ने कार्य किया था। सात भाग १९३४ तक प्रकाशित हो चुके थे। आठवां भाग १९४० में तथा एक और भाग १९४५ में प्रकाशित हुआ जिसका सम्पादन क्रमशः चिन्ताहरण चक्रवर्ती और चन्द्रसेन गुप्त ने किया था।

(४) वम्बई शोध संस्थान के अध्यक्ष डा. बूलर ने वम्वई संस्कृत सीरीज का प्रकाशन प्रारम्भ किया और लगभग २३०० महत्त्वपूर्ण पुस्तकों को खोज निकाला।

(५) ट्रिनिटी कालेज कैम्ब्रिज का एक संग्रह १८६९ में प्रकाशित हुआ।

(६) इण्डिया आफिस से कई संग्रह प्रकाशित हुए जिनमें प्रमुख हैं—(क) १८७१ में वर्नेल के सम्पादन में लन्दन की ग्रंथसूची (ख) जूलियस एगलिंग की दो सूचियां (लन्दन १८८७ और १८९६) (ग) कीथ और थोम्स की सूची १९३५ (घ) ओल्डेन वर्ग की सूची १९२२।

(७) प्रो. बूलर द्वारा संकलित गुजरात सिंध आदि अंचलों की पुस्तकों का सूचीपत्र (सन् १८७१-७३) प्रो. बूलर की एक दूसरी खोज रिपोर्ट १८७५ में प्रकाशित हुई।

(८) विभिन्न प्रदेशों में ग्रन्थों की खोज का विवरण 'नोटिसेज आफ संस्कृत मैन्युस्क्रिप्टस' नाम से ११ खण्डों में प्रकाशित हुआ। प्रथम ९ खण्ड द्विजेन्द्रलाल मित्रा द्वारा एवं शेष दो खण्ड हरप्रसाद शास्त्री द्वारा सम्पादित किये गये थे। इसी प्रकार मध्यभारत, राजपूताना, काश्मीर, वंगाल इत्यादि प्रदेशों के संस्कृत ग्रंथों की विवरणिकायें भी प्रकाशित की गईं।

(९) ए. सी. वर्नेल ने तंजौर के राज पुस्तकालय की वर्गीकृत सूची भी १८८० में लन्दन से प्रकाशित कराई। पी. एस. शास्त्री ने तंजौर के राजभवन

के सरस्वती पुस्तकालय की सूची भी तैयार की जिसमें १९ खण्ड हैं। इस राजघराने में २५००० पाण्डुलिपियां सुरक्षित हैं। इसी प्रकार बम्बई प्रदेश की पाण्डुलिपियों की खोज रिपोर्ट भी प्रकाशित की गई। खोज रिपोर्टों के तैयार करने में बूलर, कीलहोर्न और पेटर्सन जैसे विद्वानों का विशेष योगदान रहा। इसी प्रकार मैसूर, कुर्ग आदि राज्यों की भी ग्रंथ सूचियां प्रकाशित की गईं। कुछ अन्य प्रमुख सूचियां हैं - भण्डारकर की बम्बई की १८८४-१८९७ की खोज रिपोर्टें; डा. स्टीन की रघुनाथ मन्दिर जम्मू काश्मीर की खोज रिपोर्ट, ई. हुल्टज की दक्षिण भारत की खोज रिपोर्टें; १८९५-९६ की कलकत्ता संस्कृत कालेज की खोज रिपोर्ट।

(१०) १९वीं शताब्दी में भारत के अनेक भागों की ग्रन्थावलियां प्रकाशित हो चुकी थीं। और भी अनेक ग्रंथागारों में असीमित पाण्डुलिपियां पड़ी थीं। उन सबको एकत्र संकलित करने की आवश्यकता का अनुभव किया जाने लगा। इस कार्य को डा. आफ्रेक्ट ने अपने हाथ में लिया और अनेक ग्रन्थावलियों और खोज रिपोर्टों के अतिरिक्त व्यक्तिगत घरों और मठ मन्दिरों में सुरक्षित संग्रहों की पर्यालोचना कर एक बृहत ग्रन्थ संग्रह प्रकाशित किया जिसका नात था कैटेलागस कैटेलागोरम्। इसके तीन भाग हैं जो लिपजिग से १८९१, १८९६ और १९०३ में प्रकाशित हुए। निस्सन्देह साहित्य जगत की यह एक अत्यन्त यह्नीय उपलब्धि थी। इसका परिवर्तित और परिवर्धित संस्करण डा. सी. कुल्हन एवं डा. राघवन, के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुआ।

अभी भी भारत के अनेक राजघरानों, मठों इत्यादि में असंख्यात पाण्डुलिपियां पड़ी हैं। कहा जाता है सरस्वती भवन वाराणसी में ही १ लाख से अधिक पाण्डुलिपियां विद्यमान हैं। भारत की यह एक बहुत बड़ी सम्पत्ति है जिसका उद्धार अत्यन्त आवश्यक है।

संकृत साहित्य पर प्रमुख पाश्चात्त्य लेखक

अटैल
अलेग्जेंडर हम्बोस्ट
अलेग्जेंडर हैमिल्टन
आगस्ट डब्लू श्लैगल
आफ्रेक्ट
एगलिग
ओल्डेनवर्ग
कॉट
कीथ
कैलेण्ड
कोलब्रुक
क्रिष्टे
गार्वे
गार्ष्टी
गेल्डनर
गोल्डस्टकर
ग्रासमन
ग्रिफिथ
जेम्स
जैकोवी
थीवो
नेगलिज
पर्टस
पिशेल
फर्गुसन
फ्रेजर
फ्रैडरिकरुकार्ट
ब्लूमफील्ड
मारिस ह्वार्डी
मार्टिन ह्वाग
मिल
मुइर
मैक्डानल
मैक्समूलर
म्योर
राइस डैविड
राथ
रुडोल्फ
रूटर
रेक्थ
रेनो
रेलेफ्लोरेंस
रोजी
लांगलोआ s. s
लिण्डनर
लुडविग
लैनसन
वर्नेल
बॉप
वालिग
विण्टरनित्ज
विलियम ह्वाइट
विल्सन
वेन्फे
वेवर
वोटलिग
शिलर
शेजी
शेलिग
श्रोडर
श्लैगल
सायमन
सोलोमन
स्टीवेंसन
स्टेनकोनो
स्टेंसलर
स्टैंगवेने
स्पेयर
हम्बोस्ट
हेनरी
हिलेब्राण्ट
ह्विटनी

यह विवरण पूरा नहीं है।

उदाहरण वर्णानुक्रमणिका

अनुक्रमणिका

इ

भ

म

र

श

ष

स

शुद्धिपत्र

(पहला अंक पृष्ठ परक और दूसरा अंक पंक्तिपरक है। उदाहरण के लिए ५.१० का अर्थ होगा ५वें पृष्ठ पर दसवीं पंक्ति)

पृष्ठ-पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४.२४	दवे	वेद
५.१५	१९९९	१८९८
८.१४	कालाधि	कालावधि
१५.४	४०० शताब्दी	चौथी शताब्दी
१६.७	क्रौंटस कंटिपस	क्विटस कर्टियस
१७. २३	वाण यह	वाण भट्ट
२६.१६	भयी विद्या	त्रयी विद्या
३१.१०	सूक्त	सूत्र
३७.३२	ugrain	refrains
४२.१२	'सुभ्रम'''द्युभ्रम	सुम्नम्'''द्युम्नम्
४४.८, १०	प्रतिशाख्य	प्रातिशाख्य
४६.१४	वृतत् धातु	वृत् धातु
६२.३३	पृ० ८८	पृ० ४४
७८.१३	वज्रयहन्	वज्रमहन्
८४.२७	वल	वैल
१०३.४	अहिबुध्न्य	अहिर्बुध्न्य
११२.१०	आसन	आसन्न
१३१.१८	प्रवरूप	प्रवहमान रूप
१३६.८	हषद्वती	दृषद्वती
१६०.९	विवनण	विवरण
१७५.१५	सूक्तों	सूक्तों में
२०९.२५	कहान	महान
२१९.१६	तैत्रिरीय	तैत्तिरीय
२२६.२५	श्वेताश्वर	श्वेताश्वतर
२२९.३३	८	×
२४१.२०	जरामांसी	जटामासी
२४१.२०	दिया है	दिया जाता है
२४५.२५	वणिष्ठ	वशिष्ठ
२५२.९	pronown	pronoun
२५२.१६	वृष्ण	वृषण